दीक्षालोक

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रदत्त दीक्षांत भाषणों एवं सारस्वत व्याख्यानों के संग्रह का नवीन परिष्कृत संग्रह)

संपादक

डॉ. विष्णुदत्त राकेश

पी-एच डी , डी लिट्
आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
अध्यक्ष मानविकी सकाय,
निदेशक श्रद्धानन्द अनुसधान प्रकाशन केन्द्र, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय

सह-सम्पादक

डॉ. जगदीश विद्यालंकार

एम.लिब , पी-एच डी
पुस्तकालयाध्यक्ष
गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय

2002

श्री स्वामी श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशन केंद्र

गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

दीक्षालोक

प्रथम संस्करण : 1997
द्वितीय संस्करण : 2002

मूल्य : 550.00

प्रकाशक
श्री स्वामी श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशन केंद्र
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

मुद्रण-व्यवस्था
क्वालिटी प्रिंटर्स, दिल्ली-93



महात्मा मुंशीराम

दो शब्द

राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति, शुद्धियज्ञ, स्वाधीनता आदोलन, वेद-वेदाग का सागोपाग अध्ययन, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन तथा नवयुवक-युवतियो के चरित्र-निर्माण की दिशा मे स्वामी श्रद्धानन्द ने ऐसी पहल की जिसे देखकर सपूर्ण देश ने दातो तले अगुली दबा ली। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात कर उन्होने नवयुग निर्माण का सकल्प लिया। गुरुकुल ने ऐसे स्नातक और आचार्य पैदा किए जिन पर देश को गर्व है। सस्कृत, सस्कृति और राष्ट्रीय जीवन के सस्कार मे गुरुकुल का अवदान अविस्मरणीय है।

गुरुकुल को स्थापित हुए सौ वर्ष हो रहे है। इस अवधि मे अनेक मूर्धन्य राजनेता, शिक्षाशास्त्री, साहित्यकार, विचारक और उपदेष्टा गुरुकुल मे आए। उन्होने शिक्षाप्रद व्याख्यान दिए तथा गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली की महत्ता पर प्रकाश डाला। यह सारी दुर्लभ सामग्री 'दीक्षालोक' मे सकलित है। इसके प्रथम सस्करण के निकलते ही विद्वानो का ध्यान इस ओर गया। ग्रथ चर्चित और प्रशसित हुआ।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि इस ग्रथ का दूसरा सस्करण प्रकाशित होने जा रहा है। गुरुकुल शताब्दी अतर्राष्ट्रीय महासम्मेलन के अवसर पर इस कृति का पुन प्रकाशन हम सबके लिए प्रसन्नता का विषय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रथ के प्रकाशन से नई पीढी को कुछ कर गुजरने की प्रेरणा मिलेगी। स्वामी श्रद्धानन्द अनुसधान प्रकाशन केद्र के निदेशक तथा इस ग्रथ के यशस्वी सपादक आचार्य डॉ विष्णुदत्त राकेश को मैं बधाई देता हू तथा सुरुचिपूर्ण प्रकाशन की व्यवस्था के लिए डॉ जगदीश विद्यालकार को आशीर्वाद देता हू।

आशा है, यह ग्रथ अपने लक्ष्य मे सफल सिद्ध होगा।

आचार्य प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री
कार्यवाहक कुलपति
गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

संपादकीय

भारतीय आचार्यों ने शरीर, मन और आत्मा के विकास का साधन शिक्षा को माना है। अतः शिक्षा भौतिक उपलब्धियों तक ही सीमित न रहकर आत्मचिंतन तक का लक्ष्य निर्धारित करती है। शिक्षा का संबध बालक के जन्म के पूर्व से लेकर उसके परिपक्व नागरिक बनने तक निरंतर बना रहता है। शिक्षित वह है जो माता, पिता तथा आचार्य से गहराई के साथ जुडा है। माता-पिता के सस्कारों से सतान के प्रारभिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है और फिर उसका परिवेश और वातावरण उसके सस्कारों को जन्म देता है। सस्कारों का क्रमबद्ध निर्माण ही बालक की शिक्षा है। यही कारण है कि गर्भाधान-सस्कार से लेकर उपनयन-संस्कार तक बालक को उद्देश्यनिष्ठ दृष्टि से तैयार किया जाता है। भारतीय शिक्षा केवल परिवेश को ही उपयोगी व्यक्तित्व के निर्माण का घटक नहीं मानती, वह उसके अर्जित सस्कार तथा माता-पिता की शिक्षा को भी उसके निर्माण में प्रमुख कारक स्वीकार करती है। माता-पिता जब संतान को महान् बनाने का सकल्प करते हैं तब इस महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्हे भी महान् बनना पडता है। गर्भावस्था में संतान के उचित भरणपोषण के लिए उन्हे भी सयमित जीवन जीना पडता है तथा प्रसव के पश्चात् शिशु के शारीरिक विकास के लिए जागरूक रहना पडता है। माता-पिता यदि शिक्षित, सदाचारी, सयमी, आध्यात्मिक तथा पूर्णतया स्वस्थ नहीं हैं तो वे अपने शिशु का समुचित और सर्वांगीण विकास नहीं कर सकते। तात्पर्य यह कि माता-पिता अपने सकल्प, आचरण और अनुशासन से सतान का मनचाहा निर्माण कर सकते हैं।

शिक्षा का दूसरा घटक है परिवेश। शिक्षा के लिए उचित परिवेश का होना आवश्यक है। वेद का कथन है कि पर्वतो की तलहटियों, नदियो के सगमस्थल तथा शात रमणीय अरण्य-आश्रम शुद्धबुद्धि के उदय के लिए सर्वथा उपयुक्त होते हैं। खुले-प्रशस्त वनों, मैदानो तथा नदियो के प्रदूषण मुक्त तटों पर जनकोलाहल से दूर शिक्षण-सस्थाओ की स्थापना होनी चाहिए। छादोग्य उपनिषद् धर्म के जिन तीन स्कधों की चर्चा—1. यज्ञ-अध्ययन-दान, 2. कष्ट सहिष्णुता-तप तथा 3. श्रम-सयमपूर्वक—कुलवास के रूप मे करता है, वह ऐसे ही शात, एकांत स्थानों पर सभव है। भोगविलास के वातावरण से दूर रहकर ही बालक आत्मनिर्भर और आत्मसंयमी हो सकता है। आज जिस 'प्रसार शिक्षा' या कार्यक्षेत्र की प्रणाली को शिक्षा का अनिवार्य अंग बनाने पर बल दिया जा रहा है, वह प्राचीन आश्रमप्रणाली

का अनिवार्य भाग थी, क्योंकि आचार्यों के आश्रम या गुरुकुल नगरों से दूर होते थे, अतः प्रत्येक बालक को आत्मनिर्भर बनाने के लिए वहाँ श्रम की अनिवार्यता समझी जाती थी। राजा-रंक के बालक बिना किसी भेदभाव के वहाँ शारीरिक परिश्रम कर जीवन जीने की कला सीखते थे। छांदोग्य उपनिषद् में हारिद्रुमत मुनि ने जावाल सत्यकाम को शिक्षा देने से पूर्व क्षेत्र-सेवा का कार्य ही सौंपा था। क्योंकि वह युग पशुपालन और कृषिजीविका का था, अतः गोसंवर्धन और वन्यरक्षण का कार्य उसकी शिक्षा का अनिवार्य अंग बनाया गया। वनों का संरक्षण न होगा तो मिट्टी, जल, वायु, आकाश सभी प्रदूषित हो जाएँगे। उसका उपनयन संस्कार करके मुनि ने अत्यंत दुर्बल चार सौ गाएँ छाँटकर उससे कहा—सौम्य ! इनकी सेवा करो और जब तक ये बढ़कर एक हजार न हो जाएँ तब तक अपनी पुस्तकीय शिक्षा को अधूरी समझो। सत्यकाम ने कहा—जब तक ये गौएँ बढ़कर एक हजार न हो जाएँगी तब तक मैं नहीं लौटूँगा। वह वर्षों जंगल में रहा और जब वे गाएँ एक हजार हो गईं तब लौटा :

स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रं सम्पेदुः

इस प्रकार पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्य-सम्पादन या फील्डवर्क का प्रमाणपत्र पाना भी तत्कालीन शिक्षासत्र की पूर्ति के लिए आवश्यक था। ऐसा होने से विद्यार्थी अपने क्षेत्र के साथ गहराई से जुड़ता था, वह वहाँ की आवश्यकताओं और उपलब्धियों से परिचय प्राप्त करता था, फिर उस संपदा के संरक्षण-विकास तथा अभावपूर्ति की दिशा में योजनानुसार सचेष्ट होता था। सत्यकाम उन्मुक्त प्रकृति के साहचर्य में रहा। उसने आँधी-पानी, धूप-हिमपात, दिन-रात भूख-प्यास सभी कुछ सहे तथा हिंसक-अहिंसक प्राणियों का संघर्ष भी निकट से देखा। यही कारण है कि सहअस्तित्व के लिए करुणा और मैत्री का पाठ उसने सहज सीख लिया। गाय चराते हुए उसने बैल को देखा, तब उसे पता चला कि सृष्टि कैसे होती है ? वह प्रातःकाल अग्निहोत्र करता फिर आग पर भोजन बनाता और रात को आग जलाकर हिंसक वन-पशुओं से अपनी रक्षा करता या अग्नि तापकर जाड़े की कड़क रातें बिताता। अतः आग उसकी मित्र, गुरु तथा पथप्रदर्शक बनी। वन-वन भटकते हुए उसे अपने साथी सूर्य और चद्रमा दिखाई पड़ते। अँधेरी रातों में बिजलियाँ उसे रास्ता दिखातीं। उसे हंस तथा मद्गु नामक जलचर भी अपनी ओर आकृष्ट करते। इस प्रकार प्रकृति के साहचर्य में रहकर उसने विराट् तत्त्व का साक्षात्कार किया। पुराणों में दत्तात्रेय के जिन चौबीस गुरुओं की शिक्षा का उल्लेख है, उनमे जल, अग्नि, वायु, भूमि, नभ, पतंग, मधुमक्खी, समुद्र आदि अधिकांश प्राकृतिक उपादान ही हैं। ससार के कण-कण में यदि आपने उस परम सत्य का दर्शन नहीं किया तो ससार के प्राणियों में आप बिना किसी भेदभाव के एकता का सूत्र कैसे खोज सकते हैं ? बिना एकत्व समझे राग-द्वेष, शोक-मोह

तथा कटुता के विष से कैसे छुटकारा पा सकते हैं। महाकवि वर्ड्सवर्थ ने जब कहा था :

> *वन इम्पल्स आफ ए वरनल वुड,*
> *मे टीच यू मोर आफ मैन,*
> *आफ मोरल, ईविल एंड आफ गुड*
> *दैन आल दी सेजेज कैन।*

तथा व्यासजी ने जब घोषणा की थी कि *'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं, यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः'*—तब इसी विराट् चेतना के उदय की अवधारणा काम कर रही थी। *परिवेश की शिक्षा में यही अहम् भूमिका है—वह बालक को कष्ट-सहिष्णु,* विचार-सहिष्णु, परिश्रमी, उदार दृष्टिसम्पन्न तथा सयमी बनाती है। इसीलिए सत्यकाम से आचार्य ने *कहा था—प्रकृति के संपर्क में रहकर जो कुछ तूने सीख लिया है* वह मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए पर्याप्त है, अब कुछ शेष नहीं रह गया, कुछ जानने योग्य नहीं रह गया :

> *तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति।*

इस प्रकार प्राचीन शिक्षा-प्रणाली तप, त्याग और श्रम पर आधारित थी। उसमे *विद्यार्थी को आश्रम में रहकर शिक्षा पाना होता था। वह पूर्णतया आवासीय शिक्षा* थी। इसी को गुरुकुलीय शिक्षा कहा गया क्योकि इस आश्रम प्रणाली का मुख्य केंद्र गुरु होता था। अपने परिवार का मुखिया तो स्वार्थी भी हो सकता है पर इस कुल का मुखिया तो उदार और लोकचेता होता था। वह अपने संपर्क मे आए छात्र को उसी ममता और सावधानी से रखता था जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशु को रखती है। शिक्षणालय को 'कुल' की सज्ञा भी सोद्देश्य दी गई। इसका प्रयोजन यह था कि यहाँ बालक को निजी परिवार की सकीर्णता तथा शुद्रता की भावना से निकालकर एक बडे परिवार की सामाजिक चेतना से सम्पृक्त करना है। वह अब किसी विशेष भूखड, गॉव, प्रात, देश, परिवार, जाति, सप्रदाय तथा वर्ग का सदस्य नहीं रहा, वह तो सस्कारित मानवकुल का सदस्य है और भविष्य में इसी मानवतावादी धारणा से उसे सह-भाव से रहना है तथा कार्य करना है। समाज के प्रति दूसरी 'कुलभावना' के कारण उसका दायित्व जुडा है तथा निष्काम भाव से उसे सामाजिक दायित्व की पूर्ति करनी है। इस प्रकार 'गुरुकुल' या 'ब्रह्मचर्याश्रम' राष्ट्रीय रचनाधारा मे विद्यार्थी के समर्पण की एक व्यापक प्रक्रिया को जन्म देनेवाला विचार है, जहाँ उसे एक देश, एक जाति, एक धर्म तथा एक वर्ग की सकीर्णताओ से ऊपर उठाकर प्राणिमात्र के लिए उपयोगी बनाया जाता है। वहाँ आचार्य बिना किसी भेदभाव के जब समस्त बालको को निकट बैठाकर 'सहनाववतु' और 'सह नौ भुवक्तु' का उपदेश करता था तब विघटन, अलगाव

और भेद की भावना स्वतः समाप्त हो जाती थीं। साथ खाना, साथ रहना, एक जैसी शैया, एक जैसी शिक्षा तथा एक जैसा व्यवहार गुरुकुलाश्रित शिक्षा की विशेषता थी। इस 'कुलभावना' से ही राष्ट्रीय समृद्धि का द्वार सबके लिए खुल सकता था। अथर्ववेद में आता है :

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।

बालक जब शिक्षा के लिए गुरुकुल में आता है तब आचार्य उसका उपनयन करने के लिए, अपने समीप बैठने और अपने ध्येय के अनुरूप बनाने के लिए तीन रात उसे उदर में रखता है। यहाँ रात्रि का अर्थ है अज्ञान। तीन रात्रियों का अर्थ हुआ तीन प्रकार का अज्ञान। अर्थात् बालक जिस परिवेश से निकलकर गुरुकुल में आया है उसमें उसका जन्मसंस्कारगत दोष, परिवारगत दोष तथा वातावरण-परिवेशगत दोष और अज्ञान निहित हैं। आचार्य बालक के इन तीनों दोषों को दूर कर अपनी देख-रेख मे रखता है। बालक के देश, जाति तथा कुल-जन्य संकीर्णता के भावों को आचार्य मिटाता है तथा उसे विराट् मानव धर्म की शिक्षा प्रदान करता है। प्रकृति, जीव और ब्रह्म के संबंध को समझाता है तथा समत्वबोध की शिक्षा द्वारा उसकी आत्मा का विकास करता है। पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोकपर्यंत अग्नि, वायु, विद्युत् तथा सूर्य-चंद्र के ब्याज से उसे ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान करता है तथा ब्रह्मांडव्यापिनी विद्याओं के अभ्यास द्वारा भौतिक संपत्तियों के अधिकाधिक अर्जन और अनुसंधान की प्रेरणा प्रदान करता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की विश्वात्मवादी प्रक्रिया की उपयोगिता पर प्रकाश डालता है। शिक्षा को वह केवल ज्ञान-संग्रह तक सीमित नहीं रखता, वह उसके लोकोपयोगी क्रियान्वयन को आवश्यक समझता है। आज शिक्षण-संस्थाओं में ज्ञान-संग्रह पर तो बल दिया जाता है पर उस ज्ञान के लोकहित में उपयोग किए जाने की चर्चा नहीं होती। इसीलिए ज्ञान भी लूट-खसोट का साधन बनता जा रहा है। ज्ञान को भी पेटेंट कराने की व्यावसायिक होड लगी है। प्रतिभाओं का दोहन कर शिक्षा का व्यवसायीकरण किया जा रहा है। गुरु-शिष्य एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा में खडे हैं, दोनों की दृष्टि 'अर्थ पिशाच' के साधन में लगी है, वह केवल इस कारण कि आज शिक्षा ज्ञानपरक है, विज्ञानपरक है पर आत्मचिंतनपरक नहीं। छांदोग्य उपनिषद् के नारदजी ने सनत्कुमारजी के सम्मुख अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहा था—भगवन्, मैं मंत्रवेत्ता हूँ पर आत्मवेत्ता नहीं अर्थात् पुस्तकीय ज्ञान तो मेरे पास है पर आत्मज्ञान मेरे पास नहीं है :

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव।

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—नारदजी, आप केवल नाम की उपासना करें

अर्थात् विचार-यात्रा तो शब्दज्ञान एवं पुस्तकीय ज्ञान से करें पर नाम में निहित नामी के विराट तत्त्व का साक्षात्कार कर स्वय में निहित दिव्यशक्तियों को जाग्रत् करें। सनत्कुमार के साहचर्य से नारदजी में भी शरीर, मन, प्राण, बुद्धि तथा आत्मा का उत्कर्ष हुआ। इसी प्रकार गुरु के संपर्क में आकर शिष्य की सारी जडताएँ समाप्त हो जाती हैं। शारीरिक, मानसिक तथा अनाध्यात्मिक जडताओ के समाप्त हुए बिना शिक्षा अपूर्ण और अप्रासंगिक है। गुरु को उपदेश की अपेक्षा अपने आचरण से शिक्षा देनी चाहिए। कहा भी गया है–*'एग्जेम्पल इज बैटर दैन प्रीसेप्ट।'* आचार्य-शिष्य सबंध का यही रहस्य है।

प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा की एक अन्य विशेषता थी–आत्मनिरीक्षण द्वारा शिक्षा प्रदान करना। बृहदारण्यक उपनिषद् मे आया है कि एक बार देवता, मनुष्य और असुर शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रजापति के आश्रम मे गए। प्रजापति ने उन्हें केवल एक अक्षर 'द' का उपदेश दिया और फिर तीनो से पूछा कि 'द' से उन्होने क्या समझा ? देवता भोग-विलासी थे, उन्होंने आत्मनिरीक्षण कर अपना दोष पहचाना। वे बोले, हम समझ गए देव, 'द' का अर्थ है 'दाम्यत' अर्थात् इद्रियों का दमन करो, सयमी बनो। मनुष्य लोभी थे, सग्रही थे, संग्रह के लिए लूट-खसोट, शोषण और दमन भी कर सकते थे। उन्होने भी अपनी भूल पहचानी और कहा कि हम भी जान गए। आप कहते हैं–'दत्त', दान करो। असुर हिंसक और क्रूर थे, परपीडक और परसंतापी थे। वे बोले–प्रजापते ! हमें भी अपनी कमी समझ मे आ गई। आप कहते हैं–'दयध्वम्', दया करो, जीओ और जीने दो। प्रजापति सतुष्ट हुए और बोले–शिक्षा का यही उद्देश्य है। श्रीकृष्ण ने गीता में इसीलिए कहा–*'यज्ञोदान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।'* इद्रियदमन, दान तथा दया से मनुष्य पशुत्व से ऊपर उठता है। शिक्षा प्राणी के पशुत्व को निकालकर उसके मनुष्यत्व को जगानेवाली शक्ति है। वह सब प्रकार के बधनो से मुक्ति प्रदान करती है–*'सा विद्या या विमुक्तये'।* इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सर्वांगीण विकास ही शिक्षा का लक्ष्य है और यह पुस्तकीय ज्ञान अथवा भाषणो से नहीं होता, यह तो आत्मनिरीक्षण द्वारा चरित्र मे, व्यवहार मे उतारने से होता है। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने गुरुकुलो मे सैद्धांतिक और व्यावहारिक शिक्षा की समेतिक प्रणाली को आदर्श बनाया था। जो छात्र केवल पुस्तकीय ज्ञान के सहारे शिक्षा का लक्ष्य पूरा करते थे उन्हे विद्यास्नातक तथा जो केवल निर्धारित क्षेत्र-कार्य संपन्न करते थे उन्हे व्रतस्नातक कहा जाता था पर जो दोनों में दक्षता प्राप्त कर लेते थे, वे स्नातक 'पारगत' कहलाते थे। विद्या और व्रत दोनों की दीक्षा के बिना शिक्षा अधूरी समझी जाती थी। महाभारत के सभापर्व में कहा गया है–*'शीलवृत्त फल श्रुतम्'* अर्थात् शिक्षा का लक्ष्य चरित्र-गठन और पुण्यकर्म सपादन है। व्यासजी को 'गुरुकुल' शब्द इतना प्रिय है कि वह शिक्षणालय, शाला, विद्याश्रम अथवा विद्यापीठ के स्थान पर 'गुरुकुल' कहा जाना ही उपयुक्त समझते

हैं। श्रीकृष्ण जब सुदामाजी से मिलने पर अपने आचार्य-आश्रम की घटनाओं को स्मरण करते हैं तब वह आश्रम को 'गुरुकुल' कहकर ही आदर प्रदान करते हैं :

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात्।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गुरुकुलों की शिक्षापद्धति सैद्धांतिक होने के साथ-साथ चरित्र-निर्माण मूलक रही है। ब्रह्मचर्यपूर्वक, गुरु के समीप रहकर समान खान-पान, वस्त्राच्छादन सहित निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करना गुरुकुल का आदर्श कहा जा सकता है। इस पद्धति से विद्यार्थी की सामाजिक तथा आध्यात्मिक चेतना का पूर्ण विकास संभव है तथा इस परिपाटी से शिक्षित स्नातक मानवमात्र के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती, महात्मा गाँधी, आचार्य विनोबा भावे, गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर, आचार्य क्षितिमोहन सेन, डॉ. संपूर्णानंद तथा डॉ. जाकिर हुसैन ने बुनियादी तालीम की नींव उक्त विचारधारा से प्रभावित होकर ही डाली। महर्षि दयानंद सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट शिक्षा-प्रणाली के आलोक में इन समस्त शिक्षाशास्त्रियों ने यह निश्चय कर लिया था कि स्वतंत्र देश की शिक्षा मैकाले की शिक्षा-प्रणाली पर आधारित नहीं होनी चाहिए। गुरु-शिष्य का माता-पिता जैसा संबंध ब्रह्मचर्यपालन, समान शिक्षा तथा समान रहन-सहन पर आधारित अनिवार्य शिक्षा ही सच्ची शिक्षा हो सकती है, इसके अभाव में सामाजिक अभ्युत्थान और राष्ट्र-निर्माण की बात करना निर्मूल है। आज शिक्षाशास्त्री सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक न्याय के लिए शिक्षा के आमूलचूल परिवर्तन की बात करने लगे हैं पर यह बात गुरुकुलीय शिक्षा के प्रस्तावकों ने इस सदी के प्रारंभ में ही उठा दी थी। श्री अरविंद ने शिक्षा को एक प्रयोजनमय प्रक्रिया मानते हुए शिक्षा का उद्देश्य आत्मशिक्षा घोषित किया। ऐसी आत्मशिक्षा जिसमें मनुष्य में निहित किंतु सुप्त शक्तियों को अनावृत कर उन्हें विकसित किया जाना अपेक्षित है तब वह गुरुकुल प्रणाली पर ही प्रकाश डालते प्रतीत होते हैं। श्री अरविंद गुरुकुल से प्रभावित थे। स्वामी श्रद्धानद के प्रमुख शिष्य आचार्य अभयदेव श्री अरविंद से प्रभावित होकर पांडेचेरी में रहे थे। आचार्य रामदेवजी के सपादन में गुरुकुल से प्रकाशित 'वैदिक मैगजीन' में श्री अरविंद ने अपना अमूल्य लेख प्रकाशनार्थ भेजकर गुरुकुल आंदोलन को आशीर्वाद प्रदान किया था।

शिक्षा के जिस ग्रामीणीकरण की ओर हमारा ध्यान गाँधीजी, विनोबाजी तथा जयप्रकाशजी नारायण ने आकृष्ट किया, उसकी पूर्ति तो स्वामी श्रद्धानंद ने हरिद्वार में गंगापार सुदूर ग्रामीण अंचल 'कांगड़ी' ग्राम मे गुरुकुल की स्थापना आज से सत्तानवे वर्ष पूर्व करके की थी। श्री जयप्रकाशजी ने लिखा है कि "शिक्षा का ग्रामीणीकरण आवश्यक है। ऐसे ग्रामीण विद्यालय चलें, जहाँ सीमित साधनों से कृषि की, ग्रामीण लघु उद्योगों की, उस क्षेत्रविशेष के युवकों के प्रयोग में

आनेवाले समाजविज्ञान की तथा भाषा और साहित्य की शिक्षा दी जाए। भोजन का प्रश्न है, पोषक तत्त्वों का प्रश्न है, हरी खाद का और पशुओं आदि से मिलने वाली स्वाभाविक खाद के सही उपयोग का प्रश्न है। इन सबकी शिक्षा जिसमें न मिले वह शिक्षा-पद्धति भारत के लिए किस काम की ?"

स्वामी श्रद्धानंदजी ने एक लेख लिखा है—'मेरे कुछ असिद्ध स्वप्न'। उसमें कांगडी ग्राम को ध्यान मे रखते हुए गुरुकुल के छात्रो के लिए योजना बनाई गई थी पर स्थिर कोश के अभाव में वह उस योजना को लागू न करा सके। शिक्षा के ग्रामीणीकरण की यह कदाचित् पहली योजना थी। स्वामीजी ने लिखा है कि मैंने कृषि विभाग इसलिए खोला था कि उस विभाग के ब्रह्मचारी तो कृषि का सारा काम सीखेगे परंतु जो काम (नलाई, कटाई, जुताई इत्यादि) केवल मजदूरी संबंधी होंगे वह गुरुकुल के अन्य ब्रह्मचारियों से, उनके खाली समय मे कराया जाएगा। पैदावार बढाने के लिए ग्राम में एक कूप लगवाया था। विचार था कि दानियों को प्रेरित करके दस-बारह कूप लगवाकर खेती की पैदावार बढाई जाए। मेरा अनुमान था कि यदि चार सौ बीघे और नौतोड हो जाए तो वर्षभर में से नौ महीनों के लिए अनाज यहीं से निकल आया करेगा। ब्रह्मचारियों में जोश भी पैदा कर दिया गया था। कृषि विभाग से विभिन्न ब्रह्मचारी भी आश्रम की वाटिकादि में काम करने लग गए थे परंतु प्रबंधकर्तृ सभा के अधिकारियों की असहानुभूति के कारण यह काम भी न चल सका।

गुरुकुल के स्नातकों के लिए आजीविका का प्रबध करने के विचार से ही नहीं प्रत्युत उनको जाति और राष्ट्र के लिए अधिक से अधिक फलदायक बनाने के लिए गुरुकुल की आरंभिक शिक्षा-प्रणाली में ही आयुर्वेद, कृषि तथा व्यापार शिक्षा का ध्यान रखा गया था।

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामीजी केवल पुस्तकीय ज्ञान को महत्त्व नहीं देते थे, वह विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास के लिए श्रम पर आधारित शिक्षा को आवश्यक मानते थे। वह चाहते थे कि देश के नौनिहाल भोगविलास की इच्छाओं का त्याग कर तप का जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार हो। उन्होंने श्री गोपालकृष्ण गोखले को पत्र लिखकर देश में गुरुकुलीय शिक्षा केंद्रों को खोलने की योजना भी भेजी थी पर गोखलेजी के स्वाधीनता-आंदोलन की व्यस्तता ने सहमति होते हुए भी इस योजना को अमली जामा नहीं पहनाया।

आचार्य नरेंद्रदेवजी ने लिखा है कि विश्वविद्यालयों को केवल अपने छात्रों को विद्यादान करके ही संतुष्ट नहीं होना है वरन् वयस्क शिक्षा तथा इस प्रकार के दूसरे कार्यों में रुचि लेकर समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है। अध्यापकों को विशुद्ध पठन-पाठन के कार्य तक ही अपने को सीमित न रखकर आगे बढ़ना चाहिए और देश की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का हल ढूँढ़ने में योग देना चाहिए। समाज के प्रति अध्यापकों का यह भी

उत्तरदायित्व है कि वे अपने विद्यार्थियों को जनतांत्रिक ढंग से आचरण करने की शिक्षा दें और उनमें दृढ़ नागरिक भावना भरें। राष्ट्रीय साहित्य के विकास का कार्य भी महत्त्वपूर्ण है और इसकी पूर्ति में भी उन्हें हाथ बँटाना चाहिए। इसलिए हमारी शिक्षा-पद्धति में पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता है और इसका ध्येय पुनर्निधारित करना पड़ेगा। इसमें तनिक संदेह नहीं कि किसी शिक्षा-पद्धति की सफलता अंततोगत्वा अध्यापक पर निर्भर करती है।

इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो गुरुकुल की महत्ता स्वतः प्रमाणित हो जाती है। स्वामीजी ने गुरुकुल की स्थापना के समय जो आठ आदर्श रखे थे वे आचार्य नरेंद्रदेवजी की अभिलाषा को पूर्ण करते हैं। गुरुकुल के लिए धन एकत्र करने के सिलसिले में स्वामी श्रद्धानंद ने जनवरी उन्नीस सौ ईसवी में लाहौर के व्याख्यान में गुरुकुल की निम्नलिखित विशेषताओं का प्रतिपादन किया था– 1. ब्रह्मचर्य का पुनरुद्धार, 2. ब्रह्मचारियों तथा उनके गुरुओं में पुत्र-पिता का संबंध, 3. पाश्चात्य परीक्षा-पद्धति के दोषों से मुक्त परीक्षा विधि, 4. पाठविधि में संस्कृत भाषा, वेद-वेदांग, सत्यशास्त्रों तथा आर्यभाषा हिंदी की प्रमुखता, 5. विद्यार्थियों की शारीरिक उन्नति के लिए विशेष प्रयत्न करना, 6. अंग्रेजी भाषा तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को पाठ्यक्रम में समुचित स्थान प्रदान करना, 7. निःशुल्क शिक्षा तथा 8. प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्वेषण तथा पुनर्लेखन की व्यवस्था करना।

इस दृष्टि से देखा जाए तो गुरुकुल के आचार्यों में महात्मा मुंशीरामजी, आचार्य गंगादत्तजी, आचार्य श्री काशीनाथजी शास्त्री, आचार्य रामदेव, श्री जयचंद्र विद्यालंकार, आचार्य अभयदेव, डॉ. सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, श्री इंद्रजी, डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार तथा डॉ. रामनाथ वेदालंकार ने अध्यापन, स्वाधीनता-आंदोलन, समाज-सेवा तथा राष्ट्रीय-साहित्य लेखन के क्षेत्र में अभूतपूर्व यश अर्जित किया। सर्वशास्त्र निष्णात् पंडित काशीनाथ शास्त्री तथा पंडित शिवशंकर काव्यतीर्थ की धाक पूरे संस्कृत संसार में थी। आचार्य पद्मसिंह शर्मा का लोहा हिंदी संसार मान चुका था। श्री जयचंद्र, डॉ. सत्यकेतु तथा पंडित हरिदत्त वेदालंकार के वैदुष्य को इतिहासवेत्ताओं ने सादर स्वीकार किया। गुरुकुल ही भारत की ऐसी प्रथम शिक्षण-संस्था है जहाँ पराधीन भारत में विज्ञान के विषयों पर हिंदी में पुस्तकें तैयार हुईं। इनमें आचार्य गोवर्धन शास्त्री की भौतिकी तथा रसायन, श्री महेशचरण सिन्हा की वनस्पतिशास्त्र तथा हिंदी, कैमिस्ट्री और श्री विनायक साठे की विकासवाद पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। स्वामी श्रद्धानंदजी ने हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेजी में 'सद्धर्म प्रचारक', 'श्रद्धा' तथा 'लिबरेटर' जैसे पत्र निकालकर पत्रकारिता की नींव लगाई। उनसे प्रेरणा लेकर श्री इंद्र विद्यावाचस्पति, श्री सत्यदेव विद्यालंकार, श्री सत्यकाम विद्यालंकार, श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार तथा श्री क्षितीश विद्यालंकार ने हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में अपूर्व यश अर्जित किया। 1930 के सत्याग्रह आंदोलन, 1932 के सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा 1942 के भारत

छोडो आंदोलन में गुरुकुल के अध्यापकों तथा छात्रों ने भाग लेकर यह प्रमाणित कर दिया कि शिक्षा को राष्ट्रीय आवश्यकताओं से अलग-थलग करके नहीं रखा जा सकता। आचार्य अभयदेव, चद्रमणि विद्यालंकार, भीमसेन विद्यालंकार, कृष्णस्वरूप विद्यालकार, दीनदयालु शास्त्री, सत्यव्रत सिद्धातालंकार, दीनानाथ सिद्धांतालकार, सुरेंद्रनाथ विद्यालंकार, सत्यपाल सिद्धांतालंकार, धर्मवीर, पूर्णचंद्र विद्यालकार, अमरनाथ विद्यालंकार आदि अनेक लोगो ने भारतीय स्वाधीनता की लडाई में बढ-चढकर भाग लिया। स्वामीजी के दोनों पुत्रों ने--श्री हरिश्चंद्र विद्यालकार तथा श्री इंद्र विद्यावाचस्पति ने राष्ट्रीय आदोलन में स्वयं को पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया। साहित्य, धर्म, सस्कृति, दर्शन, समाजसेवा तथा राष्ट्रीय उत्थान में गुरुकुल के आचार्यों तथा विद्यार्थियो द्वारा किया जानेवाला कार्य स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा।

स्वामी श्रद्धानंद अदर और बाहर से एक थे। इसीलिए सयुक्त प्रांत के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन तथा भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल एवं वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के गुरुकुल आगमन पर उनका भावपूर्ण आतिथ्य करने के बाद भी स्वामीजी ने उनके द्वारा प्रस्तावित आर्थिक सहायता के अनुरोध को ठुकरा दिया। वह गुरुकुल को सरकारी बधक नहीं बनने देना चाहते थे। डॉ. सत्यकेतु विद्यालकार के शब्दो में--'गुरुकुल सरकार के खिलाफ किसी षड्यंत्र का केंद्र नहीं था पर वहाँ भारत की धार्मिक, सास्कृतिक और राजनीतिक शक्ति की पुनः स्थापना के लिए अवश्य प्रयत्न किया जा रहा था, उन साधनो द्वारा जिनका निरूपण महर्षि दयानद सरस्वती ने अपने ग्रथो मे किया था। अपने जन्म-दिन से अब तक गुरुकुल नौकरशाही के जाल से बचा हुआ अपना काम करता आया है। इसके संचालको को क्या-क्या प्रलोभन नहीं दिए गए ? जिन सुनहरी जजीरो को जातीयता का अभिमान करनेवाले अन्य शिक्षणालयों ने बडी खुशी से पहन लिया, मन लुभानेवाली वे जजीरे न जाने कितनी बार उनके सामने पेश की गईं। परमेश्वर ने उनको ऐसी दासता से बचने की बुद्धि दी। निस्संदेह मुशीरामजी गुरुकुल को एक ऐसे स्वतत्र राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप मे विकसित करने में तत्पर थे जो सरकारी प्रभाव से पूर्णतया मुक्त रहकर महर्षि दयानद सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-प्रणाली को कार्यान्वित करने में तत्पर हो।

गुरुकुल जनता के प्रेम से फला-फूला। उसमें राष्ट्रीयता की मशाल निष्कंप भाव से जलती रही। गुरुकुल की उपाधियों को मान्यता न थी। स्वयं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने 1938 में डॉ. बाबूरामजी सक्सेना को लिखे पत्र में इस बात का संकेत दिया कि राष्ट्रीय संस्थाओ की उपाधियों को गवर्नमेंट की ओर से मान्यता देने का विचार हो रहा है तथा एसेंबली में काशी विद्यापीठ, गुरुकुल तथा जामिया मिलिया के संबंध में प्रश्न भी किए गए हैं। गुरुकुल के विद्यार्थियों ने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह, तिलक स्वराज्य फड तथा खिलाफत आंदोलन

में तन, मन और धन से सहयोग दिया था। गाँधीजी के फिनिक्स आश्रम के विद्यार्थी प्रारंभ में गुरुकुल में ही आकर रहे थे। 1918 में स्वामीजी ने गढवाल के दुर्भिक्ष पीडितों के लिए बहुत बडा कार्य किया था। 1919 में अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष, दिल्ली में रालेट एक्ट के विरुद्ध आंदोलन-नेतृत्व, 1920 में नागपुर कांग्रेस में अछूतोद्धार के कार्यक्रम के प्रस्तावक तथा 1924 में कालीकट वायकोम में दलित जातियों द्वारा किए जानेवाले सत्याग्रह में सहयोगी के रूप में योगदान कर वह बहुचर्चित हो गए थे। 1913 में पंजाब और दिल्ली में हिंदी प्रचार के अभूतपूर्व कार्य, पत्र-संपादन तथा लेखन के लिए उन्हें अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन ने भागलपुर अधिवेशन का अध्यक्ष बनाकर महान् गौरव प्रदान किया था। पंडित मदनमोहन मालवीय, राजर्षि टंडन तथा डॉ. श्यामसुंदर दास उनके हिंदी कार्य के प्रशसक थे। गुरुकुल के प्रथम स्नातक तथा आर्य समाज के शिखरपुरुष पंडित इंद्र विद्यावाचस्पति और हिंदी के सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के उद्योग से ही दिल्ली विश्वविद्यालय ने गुरुकुल की उपाधियों को मान्यता दी। कुछ स्नातकों ने जर्मनी, इटली तथा फ्रांस जाकर अपनी योग्यता से न केवल डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की अपितु गुरुकुल की उपाधियों को मान्यता भी दिलाई। डॉ प्राणनाथ, डॉ सत्यकेतु, डॉ. धर्मानंद केसरवानी, डॉ बलराम तथा डॉ. नारायणदत्त जैसे अनेक स्नातकों ने यूरोप जाकर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। 1948 मई मे बिहार सरकार, जुलाई में उत्तर प्रदेश सरकार तथा नवंबर मे हिमाचल सरकार, 1949 मई में केंद्र सरकार तथा अक्टूबर मे पजाब सरकार ने गुरुकुलीय उपाधियो को मान्यता प्रदान कर दी। 1948 में ही आगरा विश्वविद्यालय ने भी अलकार परीक्षा को मान्यता दे दी। 1962 में भारत सरकार ने गुरुकुल को विश्वविद्यालय के समकक्ष दर्जा देकर उसे पूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान करने का निश्चय किया। तब से लेकर आज तक गुरुकुल ने अनेक उत्थान-पतन तथा सघर्ष के क्षणो मे स्वय को सुरक्षित ही नहीं रखा, अपना विस्तार भी किया। विज्ञान, मानविकी तथा प्रबंधन संकायों के रूप में आज यहाँ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों की शिक्षा का प्रावधान है। वेद, दर्शन, सस्कृत, पुरातत्त्व, इतिहास, हिंदी, अग्रेजी, मनोविज्ञान, योग, भौतिकी, रसायन, जीव-विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, माइक्रोबायोलोजी, कम्प्यूटर तथा बिजिनिस मैनेजमेंट जैसे विषयों में उच्चतर अध्ययन, अनुसधान तथा लेखन की पूर्ण सुविधा प्राप्त है। आशा की जा रही है कि जैसे वेद-वेदांगो तथा प्राचीन विद्याओं के गभीर एवं प्रौढ विद्वान् गुरुकुल से निकले वैसे ही आधुनिक विषयों में भी अधिकारी विद्वान् गुरुकुल से निकलेगे। अस्तु, निस्संकोच रूप से कह सकते हैं कि गुरुकुल एक शिक्षण-सस्था के रूप में न केवल सतोष का अनुभव कराता है अपितु इसकी उपलब्धियों पर हर राष्ट्रभक्त को गर्व भी होता है। किसी भी राष्ट्रीय प्रवृत्ति की शिक्षण-सस्था से इसका योगदान तिलमात्र भी कम नहीं है। यदि गुरुकुल के

वर्तमान स्नातक, ब्रह्मचारी तथा आचार्यगण निष्ठापूर्वक गुरुकुल को एक लक्ष्य मानकर चलते रहे तो निश्चय ही यह ज्योति अखंड रूप से प्रज्वलित होती रहेगी।

गुरुकुल स्वदेशी, स्वभाषा, स्वगौरव, समानता तथा सास्कृतिक स्वतत्रता का पक्षधर आदोलन रहा है। डॉ राम मनोहर लोहिया के शब्दो मे कहना चाहे तो कह सकते है कि लोकभाषा, लोकभूषा, भवन एव भोजन तो सामान्यजन का होता है। और सामान्य जन से भिन्न भाषा, भवन, भूषा और भोजन सामती वर्ग का होता है। इसलिए जब तक सामती भाषाए, भवन, भोजन एव भूषा का सामान्यीकरण नहीं होता तब तक सामाजिक व्यवस्था मे समाजवादी रहन-सहन, चितन-मनन सभव नहीं होगा और न ही लोक का उत्थान हो पाएगा। स्वामी श्रद्धानदजी महाराज ने राष्ट्रीय उत्थान के लिए हिदी के प्रयोग को इसीलिए अनिवार्य माना। हिदी ही प्रशासन और जनता के बीच की खाई भर देनेवाली भाषा है। विदेशी भाषा मौलिक प्रतिभा का हनन करती है,उसमे सर्जनात्मक क्षमता कुठित हो जाती है। इसलिए शासन, प्रशासन, विज्ञान-ज्ञान तथा निर्माण का साधन स्वभाषा को ही होना चाहिए। जिस भाषा मे हमारा शैशव विकसित हुआ, जिस मातृभाषा मे हमारे जीवन के ततु सगठित हुए तथा जिस भाषा मे हमने अपने समाज को जीवत रूप मे अगडाइया लेते देखा, उसी मातृभाषा मे हमारी प्रतिभा का सहज प्रस्फुटन सभव है। अत भारत के सभी शिक्षाविद् इस तथ्य का समर्थन करते है। महर्षि दयानद सरस्वती तथा उनके प्रखर शिष्य स्वामी श्रद्धानद ने स्वदेश, स्वाधीनता, स्वभाषा तथा राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत शिक्षा को देश के लिए आवश्यक बताया तथा अपनी सस्कृति और भाषा के प्रति प्रेम और गौरव की भावना जगाने की प्रेरणा दी। हिदी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित देखने का जो स्वप्न महर्षि दयानद ने देखा, उसे उच्च शिक्षा और शोध का माध्यम बनाकर स्वामी श्रद्धानद ने राष्ट्रीय आदोलन का रूप दे दिया, यह एक ऐतिहासिक कार्य था और गुरुकुल इस आदोलन की कालजयी प्रयोगशाला। १६१६ मे प्रकाशित स्वामी श्रद्धानद का व्याख्यान 'मातृभाषा का उद्धार' आज भी प्रासगिक है।

दीक्षालोक का यह दूसरा सस्करण प्रकाशन-विक्रय की चुस्त-दुरुस्त प्रक्रिया का अग मात्र नही है अपितु इस बात का भी द्योतक है कि अच्छी कृति के पाठक हिंदी समाज मे सक्रिय और जागरूक हैं। गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के शताब्दी वर्ष मे इस कृति का दूसरा सस्करण पाठको के सम्मुख आ रहा है, निस्सदेह यह सुख और सतोष का विषय है। गुरुकुल कभी स्वप्न था, फिर उसने आकार लिया और आज वह युग की सच्चाई है। मिथक एक रोमाचकारी यथार्थ बन सका, इसमे गुरुकुल के आचार्यो, कुलपतियो तथा स्नातको की रचनात्मक भूमिका महत्त्वपूर्ण कारण रही है।

दीक्षालोक के अभिनव सस्करण मे 1996 के बाद के सभी दीक्षात भाषणो का समावेश कर लिया गया है। दीक्षात सबोधनो और सारस्वत संगोष्ठियो में प्रदत्त भाषणो का यह सग्रह शोधार्थियो, इतिहास लेखको, शिक्षाशास्त्रियो तथा

ज्ञानपिपासु पाठको के लिए साहित्य की एक स्थायी प्रेरक सपत्ति बन गया है। आशा है, इस कृति से गुरुकुल के सौ वर्षो के शानदार इतिहास तथा स्वामी श्रद्धानन्द जी के विराट् तेजस्वी कर्तृत्व के प्रति राष्ट्र नायको की असीम श्रद्धा स्वीकृति का परिचय नई पीढी को प्राप्त हो सकेगा।

गुरुकुल के स्थापना काल मे स्वामी जी महाराज को जिन यक्ष प्रश्नो से जूझना पडा वे आज के बदलते सदर्भ और राष्ट्रव्यापी अपसस्कृति के दौर मे मुह बाये खडे है। गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति इन समस्याओ का समाधान करती है। उसमे विद्या ग्रहण और व्रताभ्यास दोनो अनिवार्य है। दीनबधु एन्ड्रूज ने स्वामी जी से गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की विश्वभारती की प्रशसा करते हुए कहा था कि वहां के छात्र रचनात्मक प्रतिभा के धनी हैं, वे कविता करते और कविता गाते है। इस पर स्वामी जी ने कहा था--यदि विश्वभारती मे छात्र कविता गाते है तो गुरुकुल मे छात्र कविता जीते हैं। यहा जीवन-मूल्यो के क्रियान्वयन पर बल दिया जाता है। यह व्रताभ्यास है जो कथनी का करनी के रूप मे प्रायोगिक प्रतिफल है। इन दीक्षात भाषणो मे छात्र के वर्तमान को उदात्त तथा भविष्य को उन्नत एव समृद्ध बनाने की प्रेरणा निहित है। मनुष्य के भीतर निहित देवत्व के उत्थान मे इनके पारायण-चितन से अवश्य लाभ मिलेगा।

इस अवसर पर गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलाधिपति आदरणीय पडित हरवशलाल जी शर्मा प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब, परिद्रष्टा माननीय श्री सदानन्द जी तथा आचार्य एव उपकुलपति श्री वेदप्रकाशजी शास्त्री को विशेष रूप से धन्यवाद देता हू। जो स्वामी जी के इस कीर्ति-स्मारक को सजाने-सवारने तथा आगे बढाने मे सलग्न हैं। कुलसचिव डॉ महावीर अग्रवाल तथा वित्ताधिकारी श्री जयसिह गुप्त ने ग्रंथ के प्रकाशन मे हर सभव सहायता की, एतदर्थ मैं इनका भी आभार व्यक्त करता हू। प्रसिद्ध उर्दू कवि 'फानी' की ये पक्तिया इस अवसर पर मुझे याद आ रही हैं--

कल तक यही गुलशन था, सैयाद भी बिजली भी,
दुनिया ही बदल दी है तामीर-ए-नशेमन ने।

प्रकाशन केद्र के प्रबधक डॉ जगदीश विद्यालकार ने कृति के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन मे विशेष दौड-धूप की, इसके लिए उन्हे हृदय से साधुवाद।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि दीक्षालोक को गुणग्राही पाठको का भरपूर स्नेह पहले से भी अधिक मिलेगा। अत मे इस निवेदन के साथ कि यदि ग्रथ के सयोजन-प्रकाशन मे त्रुटिया दिखाई दे तो सहृदय अध्येता तथा मनस्वी विद्वान् गुणो को ही देखे-परखे, दोषो को नहीं।

सदोषमपि निर्दोषं भवत्यग्रे विपश्चिताम्।

--(डॉ.) विष्णुदत्त राकेश

नव सवत्सर
13-4-2002
गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार

विषय-सूची

खंड-1

खंड-2

परिशिष्ट

खंड-1

कुलपुत्रों को उपदेश

स्वामी श्रद्धानंद

पुत्रो ! आज मुझे इतनी प्रसन्नता है कि तुम उसका अनुभव नहीं कर सकते। मुझे अपने जीवन में जिस बात के देखने की आशा नहीं थी, उसे मैंने देख लिया। यदि आज मेरे प्राण भी चलने को तैयार हो तो मैं बडी खुशी से उन्हे आज्ञा दे सकता हूँ। इस आनद का कारण मैं बताना निरर्थक समझता हूँ, तुममे से प्रत्येक उसे अनुभव कर रहा है। लोग समझा करते थे कि हम दिमागो को परतत्र बनाना चाहते हैं, परतु अब लोग देख रहे हैं कि यदि कोई ऐसा स्थान है जहाँ स्वतत्रता नहीं रुक सकती तो वह यही स्थान है। मेरा अपने ब्रह्मचारियो को केवल एक ही उपदेश है, मत देखो कि लोग तुम्हे क्या कहते हैं, सत्य की दृढता को पकडो। सारे ससार का सत्य ही आधार है। यदि तुम्हारा मन, वचन और कर्म सत्यमय है, तो समझो कि तुम्हारा उद्देश्य पूरा हो गया। प्रसिद्धि के पीछे भागकर कोई काम मत करो। प्रसिद्धि के पीछे भागने से किसी की प्रसिद्धि नहीं हुई। अपने सामने एक उद्देश्य रख लो, उसी मे लग जाओ, फिर गिरावट असभव है। उपदेशक बनो या मत बनो, पर एक बात याद रखो, बनावटी मत बनो। सबको परमात्मा वाणी की शक्ति या उपदेश देने की शक्ति नहीं देता। वाणी न हो न सही, किंतु आचरण सत्यमय हो। नट न बनो, न इस ससार को नाट्यशाला बनाओ। स्वच्छ जीवन रक्खो। यदि इस प्रकार का स्नातको का आचरण होगा तो मेरा पूरा संतोष है।

[सन 1913]

कुलपिता का उपदेश

स्वामी श्रद्धानंद

पुत्रो ! आज मैं तुम्हे उन बधनो से मुक्त करता हूँ, जिनके अनुसार गुरुकुल मे चलना तुम्हारे लिए आवश्यक था। पर यह न समझना कि अब तुम्हारे लिए कोई बधन नहीं है। प्राचीन काल से हमारे ऋषियो ने कुछ बधन बाँध रक्खे हैं, उन्हें मैं आज तुम्हे सुनाना चाहता हूँ। इन बधनों के पालन करने मे किसी का तुम पर दबाव नहीं, इसीलिए ये बधन और भी कडे हैं। ये बधन उन उपनिषद् वाक्यो मे वर्णित हैं, जिन्हे आज से हजारो वर्ष पहले इस पवित्र भूमि मे प्रत्येक आचार्य अपने स्नातको को विद्या-समाप्ति के समय सुनाया करता था। उन्हीं पुराने आचार्यों का प्रतिनिधि होकर मैं तुम्हे वे वाक्य सुनाता हूँ।

पुत्रो ! परमात्मा सत्यस्वरूप है। उसके प्यारे बनने के लिए अपने जीवन को सत्यस्वरूप बनाओ। तुम्हारे मन मे, तुम्हारी वाणी मे, और तुम्हारी क्रिया मे सत्य हो।

धर्म-मर्यादा का उल्लघन मत करो। इस मर्यादा का साक्षी अत करण ही है, बाहर से कोई धर्म बतलानेवाला नहीं है। जो हृदय परमात्मा का आसन है, वही तुम्हे धर्म की मर्यादा बतला देगा। अपने आत्मा की वाणी को सुनो और उसके अनुसार चलो।

स्वाध्याय से कभी मुख न मोडो। वह तुम्हे प्रमाद से बचाएगा।

जिस आचार्य ने तुम्हारी इतने दिनो तक रक्षा की, उसके प्रति तुम्हारा जो कर्तव्य है, उसे अपने हृदय से पूछो। यह कुल तुम्हारा आचार्य है। मैं नहीं जानता कि तुम इसे क्या दक्षिणा देना चाहते हो। मैं तुमसे केवल एक ही दक्षिणा माँगता हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा ऐसा कोई काम न हो, जिससे तुम्हे अपने आत्मा और परमात्मा के सामने लज्जित होना पडे।

तुममे से अब कई गृहस्थ मे प्रवेश करेगे। उनसे मैं कहता हूँ कि पाँचो यज्ञो के करने मे कभी प्रमाद न करना। माता-पिता, आचार्य और अतिथि, ये तुम्हारे देवता हैं, इनकी सदा शुश्रूषा करना धर्म समझो।

पुराने ऋषि बडे उदार और निरभिमान थे। वे कभी पूर्ण या दोषरहित होने का

दावा नहीं करते थे। उन्हीं का प्रतिनिधि होकर मैं तुम्हे कहता हूँ कि हमारे अच्छे गुणों का अनुकरण करो, और दोषों को छोड दो। इस संसार की अँधियारी में किसी को अपना ज्योति-स्तम्भ बनाओ। पढा-पढाया कुछ अंश तक पथ-दर्शक होता है, पर सच्चे पथ-दर्शक वे ही महापुरुष होते हैं, जो अपना नाम संसार में छोड जाते हैं। वे जीवन-समुद्र मे ज्योति-स्तंभ का काम देते हैं। ऐसे आत्मत्यागी-सत्यवादी और पक्षपातरहित महापुरुषो के, चाहे वे जीवित हों या ऐतिहासिक, पीछे चलो।

लेना तो सभी ससार जानता है, तुम इस योग्य हुए हो कि अपनी बुद्धि और विद्या मे से कुछ दे सको। जो तुम्हारे पास है, उसे उदारता से फैलाओ। हाथ खुला रक्खो, मुट्ठी को बद न होने दो। जो सरोवर भरता है वह फैलाता है, यह स्वाभाविक नियम है।

जिस भूमि की मिट्टी से तुम्हारा देह बना है, जिसकी गंगा का तुमने निर्मल जल पिया है, और जिसके गौरव के सामने संसार का कोई देश ठहर नहीं सकता, उस पवित्र भारत-भूमि मे रहते हुए तुम उसके यश को उज्ज्वल करोगे, यह मुझे पूरी आशा है। इसके साथ ही जिस सरस्वती की कोख से तुमने दूसरा जन्म लिया है, उसे मत भूलना। किसी भी काम को करते हुए सावित्री माता की उपासना से विमुख न होना।

यह मैंने संक्षेप से उन वाक्यों का साराश सुना दिया है, जो कि सहस्रों वर्षों से इस पवित्र भूमि मे गूँजते रहे हैं। इन्हें गुरु-मत्र समझो और अपना पथ-दर्शक बनाओ।

इसके अतिरिक्त मेरा भी तुम्हारे साथ कई वर्षों का सबध रहा है। मैं तुमसे गुरुदक्षिणा नहीं माँगता। गुरु-दक्षिणा देना तुम्हारा धर्म है, माँगना मेरा धर्म नहीं। मैं तुमसे यह भी नहीं पूछता कि तुम्हारे राजनैतिक, सामाजिक या मानसिक विचार क्या-क्या हैं। मैं केवल तुमसे यही पूछता हूँ कि क्या तुम्हारे सब काम सत्य पर आश्रित हैं, या नहीं। स्मरण रक्खो, यह संसार सत्य पर आश्रित है। सत्य के बिना राजनीति धिक्कारने योग्य है, सत्य के बिना समाज के नियम पददलित करने योग्य हैं। यदि सत्य तुम्हारे जीवन का अवलबन है तो मुझे न कोई चिता है और नाहीं कुछ माँगना है।

[सन् 1914]

मेरा प्यारा गुरुकुल

महात्मा गाँधी

मैं आर्यसमाज का बहुत आभारी हूँ। मुझे उसके आदोलन से कई बार प्रोत्साहन मिला है। मैंने उसके अनुयायियो मे बहुत त्यागवृत्ति की भावना देखी है। भारत के अपने दौरे में मैं बहुत से आर्यसमाजियों के सपर्क मे आया हूँ। वे देश के लिए अच्छा काम कर रहे हैं। मैं आपके संपर्क में आ सका हूँ, जिसके लिए मैं महात्माजी का आभार मानता हूँ। मैं आपको खुले दिल से यह बता देना चाहता हूं कि मैं सनातनी हूँ। मुझे हिंदू धर्म से पूरा सतोष है। वह धर्म कितना विशाल है कि उसमे हर तरह के विश्वासों का आश्रय मिलता है। आर्यसमाजी, सिक्ख और ब्रह्मसमाजी भले ही अपने को हिंदुओं से अलग समझना चाहें, किंतु मुझे तो इसमे शक नहीं कि आगे चलकर वे सब हिंदू धर्म में मिल जाएँगे और उसी से शाति पाएँगे। दूसरे सब मनुष्य की बनाई हुई सस्थाओं की तरह हिंदू धर्म मे भी कमियाँ और दोष हैं। सुधार के लिए कोई सेवक प्रयत्न करना चाहे, तो उसके लिए यह बडा क्षेत्र है। किंतु हिंदू धर्म से अलग होने के लिए कोई कारण नहीं।

मुझे अपने दौरे मे जगह-जगह पूछा गया है कि भारत को इस समय किस चीज की जरूरत है। जो जवाब मैंने और जगह दिया है, वही जवाब यहाँ देना मुझे ठीक मालूम होता है। मामूली तौर पर कहे तो हमे ज्यादा से ज्यादा जरूरत आज सच्ची धार्मिक भावना की है। किंतु मैं जानता हूँ कि यह उत्तर बहुत व्यापक होने के कारण किसी को इससे सतोष नहीं होगा। यह उत्तर सब समय के लिए सत्य है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि हमारी धार्मिक भावना लगभग मृतप्राय बन चुकी है, इसीलिए हम सदा भयभीत दशा मे रहते हैं। हम राजनीतिक और धार्मिक दोनो सत्ताओ से डरते हैं। ब्राह्मणो और पडितो के सामने हम अपने विचार बता नहीं सकते, और राजनीतिक सत्ता से बहुत ज्यादा डर जाते हैं। मैं जानता हूँ कि जिस तरह का बरताव करने से हम उनका और अपना अहित करते हैं, धर्मगुरुओं और शासको की यह इच्छा तो नहीं होगी कि हम उनके सामने सच्चाइयों को छिपाएँ। कुछ समय पहले बबई की एक सभा मे बोलते हुए लॉर्ड विलिंग्डन ने अपना अनुभव बताया था कि सचमुच 'ना' कहने की इच्छा होते हुए भी हम वैसा कहने मे

हिचकिचाते हैं। इसलिए उन्होंने श्रोताओं को निडर बनने की सलाह दी थी। किंतु निडर होने का यह मतलब कभी नहीं कि हम दूसरे के भावों का खयाल ही न रखें या उनका आदर न करें। चिरस्थायी और सच्चे फल पाना हो तो हमें पहले निडर बनना होगा। यह गुण धार्मिक जागृति के बिना नहीं आ सकता। हम ईश्वर से डरेंगे तो फिर आदमी से नहीं डरेंगे। यदि हम यह समझें कि हममें ईश्वर बसता है, जो हमारे हरेक विचार और काम का साक्षी है, जो हमारी रक्षा करता है और हमें अच्छे रास्ते पर चलाता है, तो हमें तमाम दुनिया में ईश्वर के सिवा और किसी का डर न रहे। अधिकारियों को भी अधिकारी परमात्मा की वफादारी दूसरी सब वफादारियों से बढ़कर है और उसी से दूसरी सब वफादारियाँ सकारण बनती हैं।

जब हममें जितनी चाहिए उतनी निडरता बढ जाएगी, तो हमें मालूम होगा कि सुभीते के अनुसार कभी भी छोडे जा सकनेवाले स्वदेशी के जरिए नहीं, बल्कि सच्चे स्वदेशी से ही हमारा उद्धार हो सकेगा। स्वदेशी में मुझे गहरा रहस्य दिखाई देता है। मैं तो यह चाहता हूँ कि हम अपने धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन मे उसे स्वीकार कर लें। यानी उसकी सफलता मौका पडने पर स्वदेशी कपड़े पहन लेने में ही नहीं है। स्वदेशी का व्रत तो सदा ही पालना है और द्वेष या वैरभाव से नहीं, बल्कि अपने प्यारे देश के प्रति कर्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर पालना है। इसमे शक नहीं कि विलायती कपडा पहनकर हम स्वदेशी भावना की हत्या करते हैं, किंतु विलायती ढंग से सिले हुए कपडों से भी उसकी हत्या होती है। बेशक, हमारे पहनावे का हमारी परिस्थितियों के साथ कुछ हद तक संबंध है। खूबसूरती और अच्छाई में हमारी पोशाक कोट-पतलून से कहीं बढकर है। पाजामा और कमीज पहने हुए हों और उस पर कमर तक का कोट पहने हों, साथ ही नेकटाई बाँध रखी हो, तो यह दृश्य किसी भारतीय के लिए खूबसूरत नहीं कहा जा सकता। स्वदेशी की भावना के कारण हम धर्म के बारे में भव्य भूतकाल की कीमत लगाना और वर्तमान को बनाना सीखते हैं। यूरोप में फैले हुए ऐश-आराम से मालूम होता है कि आज की संस्कृति में राजसी और तामसी सत्ता का जोर है, जबकि पुरानी आर्य संस्कृति में सात्विक सत्ता का जोर है। अर्वाचीन संस्कृति मुख्यतः भोग-प्रधान है, हमारी संस्कृति मुख्यतः धर्मप्रधान है। आज की संस्कृति में जड प्रकृति के नियमों की खोज होती है और मनुष्य की बुद्धिशक्ति चीजें पैदा करने के साधनों और नाश करने के हथियारों की खोज और बनावट में काम आती है, जबकि हमारी संस्कृति की प्रवृत्ति मुख्यतः आध्यात्मिक नियम ढूँढने की है। हमारे शास्त्र साफ तौर पर बताते हैं कि सच्चे जीवन के लिए सत्य का उचित पालन, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, दूसरे का धन लेने में संयम और दैनिक जरूरतों की चीजों के सिवा दूसरी चीजों का अपरिग्रह अनिवार्य है। इसके बिना दिव्य तत्त्व का ज्ञान संभव नहीं। हमारी संस्कृति स्पष्ट कहती है कि जिसमें अहिंसा धर्म का, जिसका क्रियात्मक रूप शुद्ध प्रेम और दया है, पूर्ण विकास हुआ है, उसे सारी दुनिया प्रणाम करती है। ऊपर

बताए हुए विचारों की सत्यता सिद्ध करनेवाले दृष्टांत मिल सकते हैं, जिनसे मन में कोई शक बाकी नहीं रहता।

हम यह देखें कि अहिंसा-धर्म के राजनीतिक परिणाम क्या होंगे। हमारे शास्त्र अभयदान को अमूल्य दान बताते हैं। हम अपने शासकों को पूर्ण अभयदान दे दें, तो हमारा उनके साथ कैसा संबंध होगा, इस पर भी जरा विचार करें। यदि उन्हें विश्वास हो जाए कि हम उनके काम के बारे में कुछ भी खयाल रखते हों, किंतु उनके शरीर पर कभी हमला नहीं करेंगे, तो तुरंत एक-दूसरे के लिए विश्वास का वातावरण पैदा हो जाए और दोनों पक्षों में इतनी शुद्धता आ जाए कि चिंता खड़ी करनेवाले बहुत-से सवालों का सही और उचित हल तुरत निकल जाए। अहिंसा का पालन करते समय यह याद रखना जरूरी है कि जिसके लिए अहिंसावृत्ति रखी जाए, उससे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि वह भी वैसी ही वृत्ति रखेगा। यद्यपि यह नियम जरूर कि जैसे-जैसे एक तरफ से अहिंसा-पालन मे पूर्णता आती जाएगी, वैसे-वैसे सामनेवाला भी उसी तरह की वृत्ति अपनाने लगेगा। हममे से बहुतेरे लोग ऐसा मानते हैं, और उनमे मैं भी एक हूँ, कि हमें अपनी सस्कृति के जरिए दुनिया को एक सदेश पहुँचाना है। ब्रिटिश राज्य के लिए मेरी वफादारी निरा स्वार्थभरी है। अहिंसा का यह महान संदेश तमाम दुनिया तक पहुँचाने मे ब्रिटिश जाति का उपयोग करना चाहता हूँ। किंतु यह तभी हो सकेगा जब हम अपने तथाकथित विजेताओं को जीत लेंगे।

X X X

मैं दो बार गुरुकुल में आ चुका हूँ। अपने आर्यसमाजी भाइयों के साथ कुछ महत्त्वपूर्ण मतभेद होने पर भी उनके लिए मेरे दिल में पक्षपात है। आर्यसमाज के काम का सबसे अच्छा फल गुरुकुल की स्थापना और उसे चलाने मे दिखता है। उसका प्रभाव महात्मा मुंशीरामजी की उत्साह बढ़ानेवाली मौजूदगी के कारण है। फिर भी यह सच्ची राष्ट्रीय, स्वतंत्र और स्वाधीन संस्था है। उसे सरकार की सहायता या सहानुभूति जरा भी नहीं मिलती। उसका खर्च कुछ भाग्यवान आदमियों से मिलनेवाले रुपयों से नहीं चलता, बल्कि बहुत-से ऐसे गरीबों के दिए हुए दान से चलता है, जो हर साल कांगडी की यात्रा करने का निश्चय किए हुए हैं और जो खुशी से इस राष्ट्रीय कॉलेज के गुजारे के लिए अपना हिस्सा देते हैं।... ऐसी बड़ी संस्था के जीवन में चौदह वर्ष तो कुछ भी नहीं हैं। यह अभी देखना है कि पिछले दो-तीन साल में निकले हुए विद्यार्थी क्या कर सकते हैं। जनता किसी मनुष्य या संस्था की कीमत उसके बताए हुए नतीजे से लगाती है। दूसरी किसी तरह कीमत लगाना संभव भी नहीं। जो भूलें हो जाती हैं, उनका यह खयाल नहीं करती। यह कड़ी से कडी परीक्षा लेनेवाली है। गुरुकुल और दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं की कीमत अंत में तो जनता ही तय करती है। इसीलिए जो विद्यार्थी कॉलेज छोड़कर गए हैं और संसार-समुद्र में कूद पडे हैं, उन पर बड़ी जिम्मेदारी

है। उन्हे सावधान रहना चाहिए। अभी तो इस बड़े भारी प्रयोग का भला चाहनेवालो को सृष्टि के इस अटल नियम से सतोष करना चाहिए कि जैसा पेड होता है वैसा ही फल होता है। यह पेड तो सुदर दिखाई देता है। उसे पालने-पोसनेवाली उदात्त आत्मा है, तो फिर इसकी क्या चिंता कि फल कैसा आएगा ?

क्योकि मैं गुरुकुल को चाहता हूँ, इसीलिए सस्था की प्रबधकारिणी समिति को एक-दो बाते सुझाने की इजाजत लेता हूँ। गुरुकुल के विद्यार्थी अपने पर भरोसा रखनेवाले और अपना गुजर चला सकनेवाले बनें, इसके लिए उन्हे पक्की औद्योगिक शिक्षा मिलने की जरूरत है। मुझे मालूम है कि हमारे देश मे 85 फीसदी जनता किसान है और 10 फीसदी लोग किसानो की जरूरते पूरी करने के काम में लगे हुए हैं। इसीलिए हर विद्यार्थी की पढाई मे खेती और बुनाई का मामूली व्यावहारिक ज्ञान शामिल होना चाहिए। औजारो का ठीक उपयोग जानने से, लकडी सीधी फाडना सीखने से और साहुल को कायदे से लगाकर न गिरनेवाली दीवार चुनना जानने से वे कुछ खोएँगे नहीं। इस तरह सुसज्जित हुआ नौजवान दुनिया में अपना रास्ता बनाने में अपने को कभी लाचार नहीं समझेगा और कभी बेरोजगार नहीं रहेगा। इसके सिवा, स्वास्थ्य और सफाई के नियमों और बच्चो के पालन-पोषण का ज्ञान भी गुरुकुल के विद्यार्थियो को जरूर देना चाहिए। मेले के मौके पर सफाई के लिए जो व्यवस्था की जानी चाहिए थी उसमें बहुत दोष थे। हजारो की सख्या मे मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। किसी की भी परवाह न करनेवाले सफाई महकमे के ये अफसर हमे लगातार चेतावनी दे रहे थे कि सफाई रखने पर हमने ठीक-ठीक ध्यान नहीं दिया। वे साफ तौर पर सुझा रहे थे कि जूठन और मैले को अच्छी तरह गाड देना चाहिए। हर साल आनेवाले यात्रियों को सफाई के बारे में व्यावहारिक ज्ञान देने का यह एक सुनहरा मौका होता है। इसे आप हाथ से जाने देते हैं, तो यह देखकर मुझे बडा दुख होता है। असल में इस काम की शुरुआत विद्यार्थी से ही होनी चाहिए। फिर तो हर साल उत्सव या जलसे के मौके पर व्यवस्थापकों के पास सफाई के बारे में व्यावहारिक ज्ञान दे सकनेवाले तीन सौ शिक्षक तैयार रहेंगे। अत मे, माता-पिता और प्रबधकारिणी समिति को चाहिए कि वे विद्यार्थियो को अंग्रेजी पोशाक की या आजकल के मौज-शौक की बदरो की-सी नकल करना सिखाकर न बिगाडे। यह चीज आगे चलकर उनके जीवन में रुकावट डालनेवाली सिद्ध होगी, साथ ही ये सब बाते ब्रह्मचर्य की दुश्मन हैं। हमारे सामने जो दुष्ट-लालसा खडी है, वे विद्यार्थियो मे भी बसी हुई है और उन्हें भी उसके विरुद्ध लडना है, इसीलिए हमे उनके प्रलोभनो को बढाकर उनकी लडाई को ज्यादा मुश्किल नहीं बनाना चाहिए।*

[सन् *1915*]

सच्ची शिक्षा

महात्मा गाँधी

महात्मा मुशीरामजी ने मेरे बच्चो को दो विभिन्न अवसरो पर आश्रय दिया और उनके साथ पितृवत् व्यवहार किया, इसलिए मैंने पहले उन्हे धन्यवाद दिया। फिर इस बात की ओर लोगों का ध्यान खींचा कि भाषणों का समय बीत चुका है और काम का समय आ गया है। मैंने यह भी कहा कि मैं आर्यसमाज के प्रति कृतज्ञ हूँ। मैं प्राय: उसके कामों से प्रेरणा लेता रहा हूँ। समाज के सदस्यों मे मैंने जबरदस्त आत्मत्याग की भावना देखी है। अपनी भारत-यात्रा के दौरान, मैं ऐसे अनेक आर्यसमाजी भाइयों से मिला हूँ जो उत्तम देश-सेवा कर रहे हैं। इसलिए मैं महात्माजी का आभारी हूँ कि उन्होने मुझे आप लोगो के बीच आने का अवसर दिया है। साथ ही यह कह देना भी उचित होगा कि मैं बिलकुल सनातनी हूँ। मेरी दृष्टि में हिंदू धर्म मे सबकुछ आ जाता है। इसकी आदर्श छाया मे सभी तरह के विभिन्न विचारों को आश्रय मिल जाता है और मुझे इसमें कोई सदेह नहीं है कि आर्यसमाज और सिक्ख तथा ब्रह्मसमाज भले ही अपने-आपको हिदुओ से अलग वर्ग मे रखना चाहें, किंतु वे सब बहुत जल्दी हिंदू धर्म में लीन हो जाएँगे और उन्हे अपनी परिपूर्णता भी इसी मे मिलेगी। मानव की अन्य सभी सस्थाओं की तरह हिंदू-धर्म मे भी दोष और कमियाँ हैं। (इसलिए) प्रत्येक कार्यकर्ता के लिए उनके सुधारार्थ जुटने की भरपूर गुजाइश तो यहाँ है, किंतु इससे टूटकर अलग हो जाने का कोई कारण नहीं है।

निर्भयता की भावना

अपनी इस यात्रा के दौरान मुझसे सभी जगह यह पूछा गया है कि भारत की तात्कालिक आवश्यकता कौन-सी है। मैंने जो उत्तर अन्य स्थानों पर दिया है, मेरी समझ में यहाँ भी उसे दोहराना ही सबसे अच्छी बात होगी। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि उचित धार्मिक भावना हमारी सबसे बडी और तात्कालिक आवश्यकता है। वैसे यह ठीक है कि यह उत्तर बहुत स्थूल है और इससे किसी को पूरा संतोष नहीं मिल सकता। और फिर यह ऐसा उत्तर है जो किसी भी परिस्थिति में दिया जा सकता है। इसलिए तो मैं कहना चाहता हूँ कि हमारी धार्मिक भावना सुस्त है,

और हम लोग इसी कारण हमेशा भयभीत बने रहते हैं। हम लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार की सत्ताओं से डरते हैं। अपने पुरोहितों और पंडितों के सामने हम मन की बात खुलकर नहीं कह पाते। राजसत्ता से भी हम थर-थर काँपते रहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हमारा यह आचरण उनके और हमारे, दोनों के लिए अकल्याणकारी है। हमारे आध्यात्मिक, शैक्षणिक अथवा राजनीतिक शिक्षकों या शासकों की यह इच्छा कभी नहीं रही होगी कि हम सत्य को उनसे छिपाते रहें। लॉर्ड विलिंग्डन अभी बंबई की एक सभा में व्याख्यान देते हुए भी 'ना' कहते हुए हिचकिचाते हैं। उन्होंने श्रोताओं से निर्भयता की भावना का विकास करने को कहा। निःसंदेह निर्भयता का अर्थ दूसरों के सम्मान या भावना की उपेक्षा करना नहीं है। मेरी विनम्र राय में यदि हम कोई टिकाऊ और सच्चा काम करना चाहते हैं, तो निर्भयता उसकी सबसे बडी और जरूरी शर्त है। निर्भयता का गुण धार्मिक चेतना के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। हम भगवान से डरना सीखें तो हमारा आदमी से डरना खत्म हो जाए। अगर हम इस तथ्य को समझ लें कि हमारे भीतर दिव्य अंश है और हम जो कुछ करते हैं या सोचते हैं, वह उसका साक्षी है और वही दिव्य अंश हमारी रक्षा करता है, हमें सच्ची राह बतलाता है, तो यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि हम सिवाय भगवान के भय के धरती पर किसी अन्य भय को मानने से इनकार कर देंगे। जो राजाओं का भी राजा है, यदि हमारी निष्ठा उसमें दृढ है तो यह बडी से बडी राजभक्ति से भी ऊँची चीज है और साथ ही यह हर प्रकार की राजभक्ति का एक सुचिंतित आधार भी है।

स्वदेशी का अर्थ

निर्भयता की भावना का भली प्रकार विकास कर चुकने के बाद हम देखेंगे कि सच्ची स्वदेशी की भावना के बिना मुक्ति संभव नहीं है। 'सच्ची स्वदेशी भावना' उस स्वदेशी भावना से भिन्न है, जिसे हम अपनी सुविधा के अनुसार पालना चाहते हैं। मेरे लेखे स्वदेशी का बडा गहरा अर्थ है। मैं तो उसे अपने धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर लागू करना चाहता हूँ। वह अवसर विशेष पर स्वदेशी कपडा पहन लेने तक ही सीमित नहीं है। इतना तो हमें हर समय करना ही है और सो भी ईर्ष्या अथवा बदले की भावना से नहीं, बल्कि इसलिए कि अपने प्रिय देश के प्रति यह हमारा कर्तव्य है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अगर हम विदेश में बना हुआ कपडा पहनते हैं, तो हम स्वदेशी का उल्लंघन करते हैं। किंतु हम देशी कपडे को विलायती ढंग से सिलवा लेते हैं, तो भी हम उसका उल्लघन करते हैं। आखिरकार वातावरण से पहरावे का कुछ न कुछ संबध तो होता ही है। हमारी पोशाक शोभा और सुरुचि में 'कोट' या 'पैंट' से कई गुना बढ़कर है। जब मैं किसी भारतीय को पाजामे के ऊपर कमीज और कमीज पर बिना नेकटाई के वास्कट

पहने हुए देखता हूँ और देखता हूँ कि उसके पल्ले हवा में उड़ते चले आ रहे हैं, तो मुझे अच्छा नहीं लगता। धर्म के क्षेत्र में स्वदेशी हमें अपने गौरवशाली अतीत का मूल्यांकन करना सिखाती है और सिखाती है आधुनिक काल में उसका सुधरा हुआ आचरण। यूरोप में चारों ओर जो अशांति फैली हुई है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक सभ्यता अशिव और अंधकारमय शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। आधुनिक सभ्यता मुख्य रूप में भौतिकतावादी है जबकि हमारी सभ्यता प्रधान रूप से आध्यात्मिक है। आधुनिक सभ्यता भौतिक नियमों की खोज में लगी हुई है और मानवीय प्रतिभा को उत्पादन और विनाश के साधनों की खोज में जुटाए हुए है, और हमारी सभ्यता मुख्य रूप से आध्यात्मिक नियमो की खोज मे लगी हुई है। हमारे शास्त्रो में स्पष्टत यह कहा गया है कि सत्य-जीवन के लिए सत्य का ठीक-ठीक पालन, पवित्र आचरण, प्रत्येक जीवन के प्रति अहिंसा की भावना, किसी और के धन की इच्छा न रखना और दैनिक जीवन के लिए जो आवश्यक है, केवल उसी का संचय नितात आवश्यक बातें हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि इन बातो के बिना आत्म-तत्त्व का ज्ञान असभव है। हमारी सभ्यता ने धृष्टतापूर्वक यह कहने का साहस किया है कि अहिंसा का समुचित और संपूर्ण विकास सारे ससार को हमारे चरणों में लाकर डाल देता है। सक्रिय रूप मे अहिसा का अर्थ है पवित्रतम प्रेम और करुणा। इस वचन का उच्चारण करनेवाले महापुरुष ने अनत उदाहरण देकर इसे प्रमाणित कर दिया है।

अहिंसा का सिद्धांत

राजनीतिक जीवन में इसके परिणामों पर नजर डालिए। हमारे शास्त्रो मे जीवनदान से बडा कोई दान नहीं है। सोचकर देखे कि अगर हम अपने शासको को उनके जीवन की ओर से बिलकुल निश्चित कर दे, तो हमारे और उनके सबध कितने अच्छे हो सकते हैं। अगर उन्हे इस बात का विश्वास हो जाए कि हमारी भावना उनके कामों के प्रति कैसी भी क्यो न हो, हम उनके शरीर को अपने ही शरीर की तरह रक्षणीय मानेगे, तो बहुत जल्दी पारस्परिक विश्वास का वातावरण निर्मित हो जाएगा और दोनो एक-दूसरे से बिलकुल खुलकर बातचीत करेगे और इस तरह जो समस्याएँ हमे आज विचलित कर रही हैं, उनमे से अनेक सम्मानास्पद और न्यायोचित ढग से सुलझ जाएँगी। याद रखना चाहिए कि अहिंसा के आचरण मे दूसरे से भी वैसे ही आचरण की अपेक्षा रखना आवश्यक नहीं है। सच पूछो तो अपनी आखिरी मजिल मे अहिसा की प्रतिक्रिया अहिंसा के सिवा और कुछ होना असभव है। हममे से बहुतों को और मेरा भी यह विश्वास है कि हमें अपनी सभ्यता के जरिए ससार को सदेश देना है। ब्रिटिश सरकार के प्रति मेरी राजनिष्ठा का कारण बिलकुल स्वार्थमय है। मैं ब्रिटिश कौम की मारफत अहिसा का जबरदस्त सदेश सारी दुनिया मे फैलाना चाहता हूँ, किंतु यह तो तभी सभव है जब हम अपने

कथित विजेताओं पर विजय प्राप्त कर लें और मेरे आर्यसमाजी भाइयो, मेरी समझ में इस महान कार्य के लिए आप लोग खास तौर पर उपयुक्त माने गए हैं। आपका दावा है कि आपने शास्त्रों का बारीकी से अध्ययन किया है। आप आँखें बंद करके किसी भी विचार को स्वीकार नहीं करते और अपने विचार के अनुसार आचरण करने में भी आप बिलकुल नहीं डरते। मेरी समझ में अहिंसा के सिद्धात को कम करने या उसकी सीमा निर्धारित करने की कोई जरूरत नहीं है। तब फिर आइए, हम इसके तात्कालिक परिणामों की चिंता न करते हुए इसे अपने आचरण में उतारें। इसके तात्कालिक परिणाम आपकी निष्ठा की शक्ति को कसौटी पर कसेंगे। यदि आप इसका आचरण करें, तो आप भारत को गुलामी से छुड़ा लेंगे, इतना ही नहीं, आप मानव-जाति की बडी से बडी सेवा भी करेंगे और आपका यह कहना भी ठीक होगा कि ऐसी सेवा के लिए ही स्वामी दयानंद ने जन्म लिया था। स्वदेशी एक नितात सक्रिय शक्ति है और इसका उपयोग सतत् जाग्रत रहकर आत्म-निरीक्षण करते हुए निरंतर करते रहना चाहिए। आलसी व्यक्ति इसका आचरण नहीं कर सकता। यह तो उसके आचरण के योग्य है जो सत्य के लिए अपना जीवन खुशी से न्यौछावर कर सकते हैं। स्वदेशी के और भी अनेक पहलुओं पर विस्तार से विचार किया जा सकता है, किंतु अपनी समझ में मैंने जो कुछ कहा है, उससे आप मेरा मतलब समझने में समर्थ हो सकेंगे। मैं यही आशा करता हूँ कि आप लोग जो भारत के एक विशिष्ट सुधारवादी दल के प्रतिनिधि हैं, मेरी बात को अच्छी तरह कसौटी पर कसे बिना त्याज्य नहीं मान लेंगे, और अगर मेरी बात आपको उचित लग गई है तो आपके द्वारा किए हुए कामो को देखते हुए, मैं आशा करता हूँ, कि आप उन शाश्वत तत्त्वो को अपने जीवन मे स्थान देंगे जिनकी मैंने आपसे अभी बात की है, और तदनुसार आप सारे भारतवर्ष में जुट जाएँगे।

मैं अब तक दो बार गुरुकुल जा चुका हूँ। आर्यसमाज के अपने भाइयो से कुछ प्रमुख मतभेद होते हुए भी मन-ही-मन मैं उनकी बडी इज्जत करता हूँ, और आर्यसमाज की गतिविधि का सर्वश्रेष्ठ परिणाम कदाचित् गुरुकुल की स्थापना और उसके परिचालन मे दिखाई पडता है। यह ठीक है कि महात्मा मुशीराम की प्रेरणादायक उपस्थिति ही उसकी शक्ति का अधिष्ठान है, किंतु यह सस्था सच्चे अर्थों मे एक स्वशासित, प्रजातंत्रीय और राष्ट्रीय सस्था है, किसी भी प्रकार की सरकारी सहायता अथवा आश्रय से यह बिलकुल मुक्त है। उसका कोष कुछ लक्ष्मी-पुत्रों के दान के बल पर सम्पन्न नहीं हुआ है। तमाम गरीब लोग साल-दर-साल कागडी की यात्रा करते हैं। वे यथाशक्ति इस राष्ट्रीय महाविद्यालय के सचालन की दिशा मे प्रसन्नतापूर्वक जो कुछ देते हैं, यह कोष उसी से उत्पन्न हुआ है। प्रत्येक वार्षिक उत्सव पर बहुत बडी सख्या मे लोग यहाँ आते हैं और यहाँ उनके रहने और खाने-पीने की जो सुचारु व्यवस्था होती है, वह सगठन की जबरदस्त शक्ति की परिचायक है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि इन आए हुए लोगों

में लगभग 1000 आदमी, स्त्री और बच्चे होते हैं और उनका प्रबंध एक भी पुलिस के सिपाही या फौजी किस्म की किसी शक्ति की सहायता का तमाशा खडा किए बिना हो जाता है। आए हुए लोग और संस्था के प्रबंधकों के बीच काम करनेवाली शक्ति केवल पारस्परिक प्रेम और आदर की शक्ति है। गुरुकुल जैसी बडी संस्था के जीवन में 14 वर्ष की अवधि कोई लबी अवधि नहीं है। पिछले दो या तीन वर्षों मे जो स्नातक यहाँ से निकले हैं, वे क्या-कुछ करके दिखाते हैं, सो तो अभी देखना है। जनता तो व्यक्ति या-संस्थाओ को उनके द्वारा प्रस्तुत परिणामों से ही परखती है। जनता एक सख्त मुनसिफ है और वह अपने मन में असफलताओं की गुंजाइश नहीं रखती। इसलिए अंततोगत्वा सभी सार्वजनिक संस्थाओं की तरह गुरुकुल के काम की जाँच भी जनता ही करेगी। इस प्रकार जो विद्यार्थी इस महाविद्यालय से पढ़कर निकले हैं और जिन्होने जीवन के कंटकाकीर्ण पथ पर पाँव रखा है, उनके कंधो पर बहुत बडी जिम्मेदारी है। उन्हे सावधानी से काम लेना चाहिए। और जो इस जबरदस्त प्रयोग की शुभकामना करते हैं, वे यह बात सोचकर आश्वस्त रह सकते हैं कि फल का वृक्ष के अनुरूप होना जीवन का अकाट्य सिद्धात है। वृक्ष तो सुदर और हरा-भरा है तथा एक महात्मा पुरुष उसे सींच रहा है, इसलिए फल कैसा होगा, यह चिंता करना व्यर्थ है।

औद्योगिक शिक्षण

गुरुकुल का हितेच्छु होने के नाते मैं उसकी समिति और अभिभावको को एक-दो सुझाव देने की धृष्टता करना चाहता हूँ। आत्मनिर्भर और स्वावलंबी बनने के लिए गुरुकुल के बालको को कोई ठोस औद्योगिक शिक्षण दिया जाना चाहिए। मेरे विचार में तो हमारे देश में चूँकि 85 प्रतिशत लोग किसान हैं और 10 प्रतिशत लोग उनकी जरूरतो को पूरा करनेवाले धधो में लगे हुए हैं इसलिए खेती और बुनाई का अच्छा-खासा व्यावहारिक ज्ञान यहाँ के प्रत्येक तरुण के शिक्षण का एक भाग होना चाहिए। अगर उसे औजारो का उचित उपयोग आ जाए, अगर वह एक लकडी का तख्ता सीधा-सीधा चीर सके और गुनिए का सही उपयोग करके ऐसी दीवार उठा सके जो बिलकुल सीधी हो और जो इस कारण गिर नहीं सकती, तो इसमे बुराई की कोई बात नहीं है। जो बालक यह सब काम करने में समर्थ हो जाएगा, वह जीवन सघर्ष मे कभी निराश नहीं होगा और धधे की समस्या उसके लिए कोई समस्या न होगी। इसके सिवाय स्वास्थ्य और सफाई के नियमो तथा शिशु-पालन भी गुरुकुल के विद्यार्थियो की शिक्षा का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। यहाँ मेले में सफाई की जो व्यवस्था होती है, उसमे अभी बहुत कसर है। यह बात मक्खियों की भरमार से स्पष्ट हो जाती है। मक्खियाँ मानो अदम्य स्वास्थ्य निरीक्षिकाएँ हैं। वे हमे लगातार हिदायते देती रहती हैं कि सफाई के मामले मे अभी तक सबकुछ संपूर्ण नहीं किया गया है। उनकी भरमार से यह स्पष्ट हो जाता है कि जूठन और

मल पर ठीक ढंग से मिट्टी नहीं डाली गई है। मुझे यह सोचकर बडा दुख हुआ कि हम इस स्वर्ण अवसर को यों ही खो दिया करते हैं। इस अवसर पर आनेवाले यात्रियों को सफाई के पदार्थ-पाठ पढाए जा सकते हैं। किंतु यह काम शुरू तो गुरुकुल के विद्यार्थियों से ही होना चाहिए। यदि ऐसा हो, तो व्यवस्थापक लोगों के पास वार्षिक उत्सव के समय 300 सीखे-सिखाए स्वास्थ्य शिक्षक मौजूद रहे। अत में एक महत्त्वपूर्ण बात और। बच्चो के माता-पिता और संस्था की समिति अपने बच्चो को यूरोपीय वेश-भूषा और आधुनिक विलास की सामग्री मुहैया करके उन्हे नकल करना न सिखाएँ। अपने परवर्ती जीवन में ये चीजे उनके मार्ग मे बाधा डालनेवाली बनेंगी और ब्रह्मचर्य के विरोध में जाएँगी। यह दुष्ट प्रवृत्ति सभी लोगो में फैल रही है और इन्हे तो इससे लडना ही चाहिए। हम उनकी वासनाओ को बढ़ाकर इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध सघर्ष को और कठिन न बनाएँ।

[सन् 1916]

शिक्षा और स्वभाषा

पंडित मदनमोहन मालवीय

वर्तमान प्रणाली का यह एक बहुत बडा दोष है—यह एक दुख का विषय है कि आजकल विद्यार्थी विद्यालय तथा विश्वविद्यालयों में 20 वर्षों तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी वह अपना, अपनी पत्नी तथा बच्चो और माता-पिता का जीवन-निर्वाह करने के लिए पर्याप्त धन अर्जित नहीं कर पाते हैं। मौलिक रूप मे यह पद्धति गलत है और इसे बदलने की आवश्यकता है। पूरा वातावरण ही बदला जाना चाहिए। बच्चे की शिक्षा माता के गर्भ मे होने के समय से ही शुरू हो जाती है। माता-पिता बनने से पूर्व ही नवयुवक और युवतियो को पूर्ण शिक्षित कर देना चाहिए। हमें इग्लैंड से सीख लेनी चाहिए जहाँ माता-पिता तथा पडोसियो को भी शिक्षित किया जाता है। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा का लाभ उठाता है। प्रत्येक दिशा मे शैक्षणिक सस्थाओं तथा उनके कार्यक्रमो का स्वागत होता है। प्रत्येक व्यक्ति के हाथ मे समाचार-पत्र और पुस्तके होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति मे सीखने, पढने और जानने की इच्छा जाग्रत करनी चाहिए। यह भावना हर व्यक्ति के मन मे आ जानी चाहिए। शिक्षा जीवन का एक आवश्यक अग है। इसके लिए एक प्रयास भी किया गया है जिसमे काफी सफलता भी मिली है। शिक्षा सभी व्यक्तियो को जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत सुलभ होनी चाहिए। अग्रेज बच्चे का जन्म ऐसे ही वातावरण मे होता है। उसे नर्सरी विद्यालय, प्राइमरी विद्यालय, उच्चतर विद्यालय तथा यात्रिक विद्यालय मे अच्छी प्रकार से शिक्षा दी जाती है। अत मे जब वह विद्यालय छोडता है तो वह अच्छा व्यवसाय पा लेता है। यदि वह विश्वविद्यालय मे जाता है तो वह वहाँ उत्साह एव इच्छानुसार शिक्षा प्राप्त करता है। इन्हीं परिस्थितियो मे जब हम भारतीय छात्र को शिक्षा प्राप्त करने का अच्छा अवसर देते हैं तो हम पाते हैं कि वह किसी भी देश के युवक से पीछे नहीं रहता है।

वर्तमान मे भारतीय छात्र के लिए अनत कठिनाइयाँ हैं। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि उनमे से सबसे बडी कठिनाई उनकी शिक्षा का माध्यम उनकी मातृभाषा न होकर विदेशी भाषा का होना है। विश्व का कोई भी सभ्य देश ऐसा नहीं है जहाँ पर जनसपर्क की भाषा विदेशी हो। हमारे ऐग्लो वर्नाकुलर विद्यालयो तथा उच्चतम माध्यमिक विद्यालयो मे सामान्य रूप मे शिक्षा का माध्यम अग्रेजी ही है।

यद्यपि कुछ प्रांतों में शिक्षा स्थानीय भाषा में दी जाती है परंतु फिर भी वहाँ सामान्य रूप में अंग्रेजी का ही प्रयोग होता है। बालक जब मात्र सात साल का होता है तभी से वह अंग्रेजी सीखना प्रारंभ कर देता है। वह अपनी मातृभाषा को द्वितीय स्थान देता है। वह अपनी मातृभाषा को निम्न श्रेणी की मानकर उसकी ओर समुचित ध्यान नहीं देता। परिणाम यह होता है कि छात्र विद्यालय में प्रवेश से लेकर छोड़ने के समय तक अपना बहुमूल्य समय उस कठिन भाषा को सीखने तथा समझने में ही लगा देता है। जैसाकि ग्लेड स्टोन ने एक बार कहा था कि विद्यार्थी इस कठिन भाषा को सीखने के लिए पागल भी हो जाता है। यह अनुमान लगाना कठिन है कि भारतीय व्यक्तियों का इसमें कितना समय, श्रम और धन का अपव्यय होता है। यही कठिनाइयाँ महाविद्यालयों में भी आती हैं। आज कोई भी विद्वान यह कह सकता है कि बहुत ही कम ऐसे छात्र हैं जो सही अंग्रेजी का प्रयोग करने की क्षमता रखते हैं। यदि मैं अपना अनुभव आपसे कहूँ तो मैं आपसे कहूँगा कि मैंने अंग्रेजी उस समय सीखनी आरंभ की थी जब मैं मात्र सात वर्ष का था। मैं अब 61 वर्ष की आयु में भी इस भाषा को सीख रहा हूँ तथा इसका प्रयोग कर रहा हूँ। मैंने इस भाषा का बहुत प्रयोग किया है। लेकिन फिर भी मैं यह स्वीकार करता हूँ कि जितने विश्वास और योग्यतानुसार मैं अपनी मातृभाषा को प्रयोग में ला सकता हूँ, उससे आधा भी विश्वास मुझे अंग्रेजी भाषा के प्रयोग में नहीं है। पिछली अर्द्ध शताब्दी से मुझे भारत के महान विद्वानो एव सार्वजनिक व्यक्तियो से मिलने का अवसर मिला है। उनमे से अनेक व्यक्तियो की अंग्रेजो ने ही अपने समान अंग्रेजी बोलने तथा लिखने की प्रशंसा की है। मेरा अभिप्राय उन लोगो का अपमान करना नहीं है जो यह कहते हैं कि वे भी अंग्रेजों के समान, जिनकी मातृभाषा ही अंग्रेजी है, शुद्ध रूप मे अंग्रेजी बोल सकते हैं। हमारे विद्यालयो, सरकारी दफ्तरों तथा गैर-सरकारी सस्थाओं में इस प्रकार की अंग्रेजी का क्या लाभ है ? इससे व्यक्तियो का समय तथा शक्ति का दुरुपयोग होता है, इससे भी अशोभनीय बात यह है कि इस पर जितना भी खर्चा आता है, उसके अनुपात मे एक सामान्य भारतीय युवक उतनी शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाता है। इससे उसका उद्देश्य भी पूरा नहीं होता है। उसका ज्ञान बहुत निम्न स्तर का होता है। इस तरह से वह इस भाषा के माध्यम से उन विषयो का उतना ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता है जितना कि वह अध्ययन करता है। उसका उस विषय का ज्ञान उतना अच्छा नहीं हो सकता जितना कि उस अंग्रेज लडके का होता है जिसकी मातृभाषा ही अंग्रेजी होती है। इस प्रकार से भारतीय युवक की विचार-शक्ति एव उसे स्वय व्यक्त करने की क्षमता मे अवरोध आ जाता है, इससे उसकी बडी हानि होती है। इस प्रकार राष्ट्रीय भाषा को तब तक उचित स्थान प्राप्त नहीं हो सकेगा जब तक शिक्षा एव व्यवसाय का माध्यम वहाँ की प्रकृत भाषा न हो।

मैं अंग्रेजी भाषा का महत्त्व कम नहीं आँकता हूँ। मैं स्पष्ट रूप से यह स्वीकार

करता हूँ कि इस भाषा का ज्ञान हमारे बहुमुखी विकास के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। समस्त भारत के प्रशासनिक कार्यों में इस भाषा का व्यवहार होता है। इस भाषा ने राष्ट्रीय भावनाओं को सशक्त बनाने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह विश्व की भाषा है। मैं प्रत्येक सभ्य भारतीय व्यक्ति को यह सलाह दूँगा कि जो विश्वविद्यालय तथा विदेश में उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इस भाषा के साथ जर्मन और फ्रैंच भाषा का भी ज्ञान होना चाहिए, लेकिन हमें अंग्रेजी भाषा को द्वितीय स्थान देना चाहिए। हमें इस भाषा को इतना उच्च स्थान नहीं देना चाहिए जितना कि आज की शिक्षा में, प्रशासन में तथा व्यापार में दिया जा रहा है। अपनी प्राकृत भाषाओं को जनता के बीच उचित स्थान न देकर हमने कितनी क्षति उठाई है इसका अनुमान लगाना कठिन है। हमें भारतीय भाषाओ को प्रयोग में लाने के लिए शीघ्र ही प्रयास करने चाहिए। मैं उन व्यक्तियों को यह याद दिलाना चाहता हूँ जिनका विचार है कि उनकी प्राकृत भाषा उच्च शिक्षा तथा जनव्यवसाय की भाषा नहीं बन सकती क्योंकि यह आज इंग्लिश के समान उन्नत भाषा नहीं है। इंग्लिश भाषा की एक उच्च संहिता है जिस पर आज प्रत्येक अंग्रेज गर्व करता है। आरंभ में यह भाषा इंग्लैंड में ही शताब्दियों पूर्व तिरस्कृत रही है। चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक इंग्लैंड में फ्रैंच भाषा पढाई जाती थी और इंग्लिश का विशेष प्रयोग नहीं था। केवल चौदहवीं शताब्दी के अंत में इंग्लैंड के व्यक्तियों ने अपने विद्यालयों, न्यायालयो तथा सरकारी कार्यालयों में इंग्लिश का प्रयोग प्रारंभ किया।

इस परिवर्तन का परिणाम यह निकला कि दो शताब्दियो के अंदर ही शेक्सपीयर, मिल्टन तथा कवियों और लेखको ने उत्तम साहित्य की रचना की। इसमें सर्वोत्तम स्मृतिचिह्न बाइबल का इंग्लिश मे अनुवाद है जिसे सर्वोत्तम कृति माना जाता है। यह कल्पना करो कि यदि इंग्लिश 1382 के समान ही तिरस्कृत रहती तो विश्व में इंग्लिश बोलनेवालो को कितनी क्षति उठानी पडती। इस प्रकार हिंदी तथा अन्य प्राकृत भाषाओं पर समुचित ध्यान न देने पर भारत की अत्यधिक क्षति हुई है। इसी कारण इनका साहित्य उतनी उन्नति नहीं कर पाया जितना कि राष्ट्रीय शिक्षा एव जनसंचार की भाषा होने पर उन्नति कर पाता।

यह कहना उचित है कि भारत में जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है वह हमारे राष्ट्र तथा हमारी सांस्कृतिक आवश्यकताओ के लिए अनुपयुक्त है। हम अंधाधुंध रूप मे एक ऐसी प्रणाली का अनुसरण कर रहे हैं जो दूसरों के लिए बनाई गई थी और जिसे उन्होंने भी युगों पूर्व तिरस्कृत कर दिया था। इसका उदाहरण हमें महिलाओ की शिक्षा में स्पष्ट रूप से मिलता है। हम लडकियों को वे ही कार्यक्रम अपनाने के लिए बाध्य करते हैं जो नवयुवकों के लिए बनाए गए हैं। हम इस बात की चिंता नहीं करते कि इस प्रकार की शिक्षा का क्या परिणाम निकलेगा ?

पुरुषों की शिक्षा से स्त्री-शिक्षा का महत्त्व अधिक है। वे भारत की आगामी

पीढ़ियों की माताएँ हैं। वे भविष्य के राजनीतिज्ञों, विज्ञानों, दार्शनिको, व्यापारियो, उद्योगपतियों तथा अन्य नेताओं की प्रथम महत्त्वपूर्ण शिक्षिकाएँ हैं। उनकी शिक्षा भारत के भविष्य के नागरिकों को प्रभावित करेगी। महाभारत में कहा गया है : 'माँ के समान दूसरा कोई अध्यापक नहीं है,' इसीलिए हमें उनकी शिक्षा के लक्ष्य को परिभाषित करना चाहिए और उनको ऐसी सलाह देनी चाहिए जो उनके लिए उपयुक्त हो। हमे उन्हें अपने देश के प्राचीन साहित्य और सभ्यता का अच्छा ज्ञान देना चाहिए। इसके साथ ही हमें वर्तमान साहित्य, विज्ञान, विशेष रूप से जीवनविज्ञान, चित्रकला, सगीत तथा शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक शिक्षा का भी ज्ञान देना चाहिए। क्या हमे प्राचीन युग की सावित्री, अरुन्धती, मैत्रेयी, गार्गी, लीलावती तथा सुलभा जैसी महिलाओं के समान आध्यात्मिक शिक्षा देनी है अथवा अहिल्याबाई जैसी प्रशासक अथवा झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के समान वीरांगनाओ जैसी शिक्षा देनी है जिसमे वर्तमान एवं प्राचीन महिलाओ के गुण विद्यमान हैं, जो अपनी शिक्षा तथा प्रशिक्षण के द्वारा भविष्य के नए भारत का निर्माण करे। इससे पूर्व कि हम राष्ट्रीय महिला शिक्षा की योजना बनाएँ, हमे इस प्रकार के अनेक प्रश्नो पर विचार करना होगा। राजनेताओ तथा विद्वानो को मिलकर इस पर विचार करना चाहिए कि इस योजना को किस प्रकार सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा सकता है ?*

[सन् 1923]

मालवीयजी का दीक्षान्त भाषण लिखित रूप मे प्रकाशित नहीं हुआ था। उन्होंने मौखिक भाषण दिया था। यहाँ उनके शिक्षा और स्वभाषा विषयक अन्यत्र प्रकाशित लेख को उद्धृत किया गया है। अंग्रेजी में प्रकाशित इस लेख का अनुवाद डॉ. कृष्णावतार अग्रवाल ने किया है।

गुरुकुल : सच्चे शिक्षणालय

श्री चिंतामणि वैद्य

श्री आचार्यजी, महानुभाव एव नवदीक्षित स्नातको !

इस अवसर पर भाषण करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति मैं कदापि नहीं, यह महान आदर मुझसे योग्य किन्हीं महानुभाव को मिलना चाहिए था, तथापि मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपके इस निमत्रण को मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ। क्योकि जो महत्त्वपूर्ण कार्य आप सम्पादित कर रहे हैं, उसके लिए मेरे दिल मे अगाध प्रतिष्ठा है। देश की भावी सतान को प्राचीन धर्म और पुरातन सस्कृति के आधार पर जो शिक्षा दे रहे हैं, उसमे मेरा अटूट विश्वास है। मैं भी वेदो को पूज्य और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता हूँ। मैं भी उन्हे ईश्वरीय ज्ञान मानता हूँ।

वैदिक-विज्ञान पश्चिम के वर्तमान विज्ञान से टक्कर नहीं खाता अपितु आधुनिक विज्ञान का आधार अधिक अश मे वेद मे ही पाया जाता है। Electrons की नवीन स्थापना (Theory) हमे कोई नया ज्ञान नहीं देती, यही बात हमारे प्राचीन वैदिक ऋषियो ने कवितामय ऋचाओ मे प्रथम ही कही हुई है। यथा

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत। (यजु)

जीवन व्यतीत करने की वैदिक-प्रणाली, जिससे मनुष्य विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच सकता है, सर्वोत्तम है। आपने अपनी, प्रारभिक शिक्षा से उच्च श्रेणी की शिक्षा तक, वैदिक सिद्धातो के अनुसार ही जो शिक्षा-क्रम रखा है, वह सर्वथा उपयुक्त है। प्रारभिक कक्षाओ मे भी वैदिक ऋचाओ ही के द्वारा आपके यहाँ शिक्षा दी जाती है, यही ऋचाएँ हमारी प्राचीन आर्य-जाति की वशानुमत सपत्ति हैं।

दौर्भाग्य से भारतवर्ष मे वैदिक स्वाध्याय कुछ परिमित क्षेत्र मे ही रह गया है। वैदिक मत्रो को कठस्थ करनेवाले तो बहुत मिल जाते हैं परतु मत्रो के वास्तविक आशय को जाननेवाले इने-गिने ही हैं। भारतीय विद्वानो ने वेदो के स्वाध्याय को विवेक की दृष्टि से अभी-अभी ही करना आरंभ किया है। उसका सब श्रेय महर्षि दयानंद सरस्वती को है जिन्होंने न केवल अपने-आप अधविश्वास की खाई से निकल विवेक-दृष्टि से वेद का स्वाध्याय किया, अपितु अपने अनुयायियो मे, मुख्यत

हिंदू जाति में, ईश्वरीय ज्ञान, वेद के प्रति अटूट प्रेम और प्रतिष्ठा के भाव को पैदा कर दिया है।

विद्यार्थी को देते हैं, उनको सदा के लिए देश का सच्चा सेवक, अपने पूर्वपुरुषों के पदचिह्न पर चलनेवाला और प्राचीन वैदिक धर्म पर प्रगाढ़ श्रद्धा रखनेवाला बनाएगा। पाश्चात्य प्रदेशों मे, विशेषत जर्मनी में, बडी लगन एवं गहराई के साथ वेदो का स्वाध्याय होता है। वेद का पाश्चात्य विद्वानों का स्वाध्याय कदाचित् भारतवर्ष के लिए स्पृहणीय समझा जा सकता है, तथापि यह बात माननी होगी कि पाश्चात्य विद्वान न तो वेद के वास्तविक गौरव को इतनी अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं, न ही वे उनकी यथार्थ व्याख्या उतनी भली प्रकार कर पाए हैं जितना कि कोई भारतीय विद्वान। यह सतोष और हर्ष का विषय है कि आपने एक ऐसी सस्था को स्थापित कर दिया है जहाँ सच्चे अर्थों मे ब्रह्मचर्य का पालन होता है। इस सस्था को 24 वर्ष व्यतीत हो चुके और आज भी यह बिना रुकावट के फलती-फूलती जा रही है। कन्याओ की शिक्षा के लिए भी कन्या गुरुकुल की नींव रख दी गई है जहाँ वे कम से कम 16 वर्ष तक अविवाहित रहते हुए विद्याध्ययन कर सकेगी।

"सज्जनो ! इस सस्था का फलना-फूलना तो अवश्यभावी है ही, इसके साथ ही सपूर्ण भारत मे उत्तेजना देने के लिए यह एक उत्तम उदाहरण भी है क्योंकि यह शिक्षा के उन सिद्धांतो पर आश्रित है जो न केवल भारत मे ही, अपितु सपूर्ण ससार मे सर्वमान्य हैं जिन्हे प्राचीन ऋषि बतला गए हैं। यही नहीं, यह सस्था तो हमारे ऋषियो की निवास-भूमि ब्रह्मर्षि-देश मे सस्थापित है। वह भूमि जहाँ गगा-जमुना और सरस्वती प्रवाहित होती हैं, जहाँ कुरु और पांचाल निवास करते थे, जो भूमि उपनिषदो के समय भी विख्यात थी, जिसमे एक ओर वेदो के प्रकाड पडित जन्म लेते थे और दूसरी तरफ क्षात्र विद्या मे प्रवीण समर मे दुर्जेय योद्धा। मैं देखता हूँ कि वह सब भिन्न-भिन्न विषय जो विश्वविद्यालय मे पढाए जाने चाहिए, आपके गुरुकुलो की पाठविधि मे रखे गए हैं। आप इतिहास, अर्थशास्त्र, गणित, राजनीति और भारतीय शासन-पद्धति की शिक्षा देते हैं। इसके अतिरिक्त एक विशेषता यह है कि आपके गुरुकुल मे सब विषयो का माध्यम हिदी है जो कि विद्यार्थियों की अपनी मातृभाषा है। मुझे इसमे तनिक भी सदेह नहीं है कि आपकी सस्था का अभ्युदय होगा और ऐसे स्नातको को उत्पन्न करेगी, जो अपने शारीरिक बल, नियत्रण, और मानसिक शक्तियो के द्वारा मातृभूमि के लिए सबसे अधिक देशभक्त और सुयोग्य सिद्ध होगे। महाविद्यालय मे उच्च विषयो की विशेषतः इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र की शिक्षा जिस भाषा को माध्यम बनाकर दी जाए, वह भाषा स्वय तथा उसको व्यवहार मे लानेवाला मानव सप्रदाय बहुत शीघ्र उन्नत होता है। मुझे पूरा निश्चय है कि आपके महाविद्यालय के द्वारा हिंदी- भाषा का बहुत शीघ्र अभ्युदय होगा और वह सपूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनने योग्य

हो सकेगी।

"समाप्त करने से पहले इस विश्वविद्यालय से निकले नवस्नातकों को मैं संबोधन करना चाहता हूँ। मुझे यह बतलाने की जरूरत नहीं कि आप अपनी प्यारी मातृभूमि भारतवर्ष से प्यार करें और उसके उद्धार के लिए बड़ी से बड़ी कठिनाइयों का सामना करें।

"इस संस्था में ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करने से आप इस काम के सर्वथा योग्य भी हैं। मुझे संदेह नहीं कि आप अपने देशी भाइयों से प्यार करेंगे और स्वदेश के लिए स्वराज्य-प्राप्ति में सहायता देंगे। मेरी आपसे प्रार्थना इतनी ही है कि आप अपने संपूर्ण जीवन में विद्यार्थी रहें और किसी एक प्रिय विषय में इतनी उन्नति करें कि जिससे आपकी संस्था की कीर्ति फैल सके। अंत में आपके लिए ऋषियों के शब्दों में प्रार्थना करता हूँ :

"तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

"Powerful may our learning be,
And may we be void of hate."

[सन् 1926]

गुरुकुल की स्वतःसिद्ध विशेषताएँ

साधुवर श्री टी.एल. वास्वानी

इस गुरुकुल विश्वविद्यालय की कई विशेषताएँ हैं जो भारत और सारे ससार के लिए महत्त्वपूर्ण होने के कारण मुझे खासतौर पर प्रभावित करती हैं। गुरुकुल, प्राचीन आर्य सस्कृति के अनुशीलन के लिए प्रेरणा करता है। प्रारभिक ईसाई चर्च की सस्कृति के साथ यूनानी और रोमन सभ्यताओ के योग ने यूरोप मे वर्तमान सभ्यता की नींव रक्खी। यह सभ्यता आज बिलकुल नष्टप्राय हो चुकी है। रोमॉन रोलैंड ने•लिखा था कि यूरोप मे, बहुत से ऐसे सज्जन हैं जिनकी सम्मति मे यूरोपीय सभ्यता अपर्याप्त है। एक दूसरे बडे विचारक कैसर लिग ने जो वर्तमान पश्चिम के सबसे बडे विचारको मे से एक हैं, लिखा है यूरोप अब मुझे बिलकुल आकृष्ट तथा उत्साहित नहीं करता। मेरा विश्वास है कि एक नई जागृति जिसमे वैदिक-बौद्ध-अरबी सस्कृतियो के साथ-साथ वर्तमान युग की वैज्ञानिक उन्नति का मिश्रण हो, आधुनिक जीवन के आधार को विशाल बनाने और भ्रातृभाव तथा मनुष्यमात्र मे प्रेममय सभ्यता के निर्माण मे सहायक होगी जिसकी कि ससार उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा है। वर्तमान शिक्षा मे साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्रो मे पाश्चात्यो के अनुभव को भारतीय अनुभवो के साथ सबद्ध किए बिना, भारतीय विद्यार्थियो पर जबर्दस्ती डाल दिया जाता है। यह भुला दिया जाता है कि अन्य जीवन के क्षेत्रो की तरह शिक्षा मे भी अनुभव ही का नियम लागू है। गुरुकुल प्रणाली भारत के अपने अनुभवो, भारतीय आदर्शों और परपरागत विश्वासो पर जोर देती है। जब परपरागत विश्वास (Tradition) पक्षपात और अधविश्वास का साथी होता है तब यह सकुचित भाव को उत्पन्न करता है। परतु यही जब एक बडे आदर्श को प्रकट करता है और बडी जाति की उत्कृष्ट उन्नति को सूचित करता है, उस समय यह बडा उत्तेजक होता है। मैं भारतीय परपरागत विश्वासो (Traditions) के शिक्षा सबधी महत्त्व का माननेवाला हूँ। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली विद्यार्थियों को उनसे अलग करती है। इस उन्नत प्राचीन जाति के वीरो और मुनियो की स्मृति जागृत करके विद्यार्थी का अपने उज्ज्वल भूत के साथ सबध अवश्य रखना चाहिए।

गुरुकुल नवजीवनप्रद शिक्षासिद्धात का प्रचारक है। आधुनिक शिक्षा में सदा

भय और दबाव का साम्राज्य रहता है, किंतु गुरुकुल तो नियंत्रणमयी स्वतत्रता का कट्टर पोषक है। नियत्रण और स्वतत्रता में संबंध है। नियत्रणमय स्वतंत्रता का आधार पारस्परिक सहानुभूति और विश्वास है। प्राचीन काल में गुरुओं के शिक्षणालयों में विद्यार्थियों को इसी आधार पर शिक्षा दी जाती थी। इस गुरुकुल में भी गुरु लोग अपने शिष्यों को वही शिक्षा और दीक्षा देते हैं। इस प्रकार से गुरुकुल ने उन हजारो स्कूल-मास्टरों और कॉलिज प्रोफेसरों के सामने एक अनुकरणीय उदाहरण पेश किया है जो कि नियत्रण के नाम पर विद्यार्थियों के साथ सहानुभूति और विश्वास करने से इनकार करते हैं और परिणामत शिक्षा को एक मशीन तथा स्कूलो को कारागार बनाते हैं। गुरुकुल में शिक्षकों और विद्यार्थियो का संबंध पिता-पुत्र का संबंध होता है। शिक्षा का प्रेममय सहवास से बहुत अधिक संबंध है। इस सचाई को गुरुकुल ने प्रत्यक्ष कर दिखाया है। वेदों में लिखा है कि 'गुरु शिष्य को अपने गर्भ में रखता है', 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृणुते गर्भमन्त' गुरु अपने शिष्य पर वही कार्य करता है जो कि माता अपने गर्भस्थ बच्चे पर करती है। गुरु का काम सिर्फ किताबें रटाना नहीं है। सच्चा गुरु वही है जो पिता-माता की तरह अपने शिष्यों की रक्षा, पालन और शिक्षण सदा प्रेम और बुद्धिपूर्वक करता है। गुरुकुल विद्यार्थियो के जीवन को अस्वाभाविक भागों में विभक्त नहीं करता किंतु उनके शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सामाजिक आदि हर प्रकार के विकास की पूरी उत्तरदायिता अपने ऊपर लेता है। स्कूल और घर के जीवनों को मिलाकर एक करने के लिए गुरुकुल एक अनुपम और आश्चर्यजनक प्रयत्न कर रहा है।

गुरुकुल में शिक्षा का माध्यम हिंदी है। आजकल सरकारी शिक्षणालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को बनाया गया है, परतु यह बात मनोविज्ञान शास्त्र के सिद्धातों के सर्वथा प्रतिकूल है। जहाँ तक मैं समझता हूँ शिक्षा का मूल सिद्धांत यह है कि 'ज्ञात से अज्ञात की तरफ बढना'। मेरा यह हर्गिज मतलब नहीं कि अंग्रेजी भाषा सर्वथा निकम्मी और अनुपयोगी है। जिस अंग्रेजी भाषा को मिल्टन, शेक्सपीयर, शैली, बर्नार्ड शॉ, बेकन और बर्क आदि विद्वानों ने अपनाया है, वह अवश्य ही सद्‌विचारों और अनुभवों का खजाना है। अंग्रेजी हमें शेष सारे ससार से संबद्ध करती है। अंग्रेजी भाषा द्वारा ही हम आधुनिक विद्वान राजनीति, समाजशास्त्र तथा पाश्चात्य सभ्यता का परिचय प्राप्त करते हैं। किंतु अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाए बिना भी हम यह लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अग्रेजी पढो किंतु उसे एक गौण भाषा की तरह पढ़ो। हमारी मातृभाषा हिंदी है, उसका स्थान अंग्रेजी नहीं ले सकती। गुरुकुल द्वारा हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाना, मेरी समझ में, हिंदुस्तान के शिक्षा संबंधी और सामाजिक जीवनों में बहुत शीघ्र एक मौलिक क्राति पैदा करेगा। जर्मनो ने जब पोलैंड को जीत लिया तो वहाँ के लोगों में से राष्ट्रीयता के भावों को समूल नष्ट करने के लिए उन्होंने यही सर्वोत्तम समझा कि

पोलैंड के स्कूलों में शिक्षा का माध्यम जर्मन भाषा हो। तदनुसार सब स्कूलों में पोलैंड की भाषा को हटाकर जर्मन-भाषा प्रचलित कर दी गई। स्कूलों के उन नन्हे-नन्हे बालकों को जर्मन-मास्टरों ने बहुत ही निर्दयता से पीटा जो कि पोलैंड की भाषा में प्रार्थना के भजन गाते थे। भाषा का मनुष्यों के विचारों और जीवनों के साथ घनिष्ठ संबंध है। अगर एक विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बना दिया जावे तो विद्यार्थियों में से स्वतत्र विचार करने की शक्ति अवश्य नष्ट हो जाएगी। ये विदेशियों के विचारों और रीति-रिवाजों की नकल करने लगेंगे और उनमें से मानसिक और आत्मिक विकास का सर्वथा लोप हो जाएगा। स्वाधीन आयरलैंड के मंत्रिमंडल ने बिना कुछ विचारे ही यों ही गैलिक-भाषा को आयरलैंड की मातृभाषा नहीं बनाया था, न ही 'नवीन यहूदी युवक संग', के नेताओं ने, बिना किसी मसलहत के, हिब्रू-भाषा को अपने प्राथमिक तथा उस श्रेणी के स्कूलों में भी शिक्षा का माध्यम बनाया था। परंतु वे लोग वस्तुतः समझते थे कि उनकी सभ्यता और राष्ट्रीयता की उन्नति उनकी ही मातृभाषा द्वारा हो सकती है।

गुरुकुल ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर विशेष बल देता है। ब्रह्मचर्य ही प्राचीन भारतीय सभ्यता का आधार है। ससार की ऊँची-ऊँची सभ्यताएँ भोगविलास में पडकर तबाह होती रही हैं। परतु हिंदू सभ्यता के आचार्यों ने इस बात को भली प्रकार समझ लिया था कि इंद्रिय संयम ही उन्नतिशील सभ्यता का एक एकमात्र आवश्यक सिद्धांत है। मेरी सम्मति में प्राचीन ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ ही अत्यंत भावपूर्ण है। सस्कृत के अनेक शब्दो में आश्चर्यजनक सौंदर्य होता है। और उनके अंदर अत्यंत गभीर रहस्य भरे हुए होते हैं। 'ब्रह्मचर्य' शब्द के धात्वार्थ पर जरा विचार कीजिए। यह दो शब्दों के मेल से बना है—ब्रह्म और चर्य, जिसका अर्थ है 'ब्रह्म के साथ गति'। ब्रह्म का अर्थ है—वृद्धि या विकास। ब्रह्म शक्ति का स्रोत है। ऐ नवयुवको ! तुममें भी उस प्रजापति की दैवी शक्ति का अंश मौजूद है। क्या तुम उसके साथ सहयोग करते हो, या भोगविलास तथा क्षणिक सुखों और स्वार्थों के लिए उसका दुरुपयोग करते हो। ब्रह्मचर्य ही सभ्यता और सदाचार का मूल है। यही राष्ट्रीयता का मूल-मंत्र है। यही शक्ति का रहस्य है। संसार के सारे डॉक्टरों की सारी दवाएँ स्वास्थ्य की इतनी रक्षा नहीं कर सकतीं जितनी एक ब्रह्मचर्य द्वारा की जा सकती है। पुरुषत्व की शक्ति इंद्रियसंयम से ही प्राप्त होती है। हिंदू समाज और हिंदू सभ्यता का प्राण ब्रह्मचर्य ही था। हिंदू सभ्यता के प्राणस्वरूप ब्रह्मचर्य का हमने अपमान किया है, इसीलिए हमारा हर तरह से अध.पतन हो गया है। मुझे पूरा निश्चय है कि भारत संबंधी सारी समस्याएँ नवीन पुरुषत्व और नवीन शक्ति के संचार से हल हो सकती हैं। जो जाति स्वतंत्र होना चाहती है, उसे पहले बलि बनना चाहिए। सत्य तो यह है कि दौर्भाग्य से आधुनिक प्रचलित शिक्षा-प्रणाली ने ब्रह्मचर्य पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। हमें इस बात पर हैरान नहीं होना चाहिए कि स्कूलों और कॉलिजों से खूब चालाक व्यक्ति

पैदा होते हैं। देश को चालाकों की नहीं, सरल लोगों की आवश्यकता है, जो कि बलिष्ठ हों और देश की सेवा में अपने-आपको बलिदान कर सकें। एक बात मैं साफ-साफ कह देना चाहता हूँ कि पाश्चात्य सभ्यता की नकल करने से हिंदुस्तान का कुछ नहीं बन सकता। भारतमाता को तो उन ब्रह्मचारियों के समूहों से ही आशा है जो कि संसार के कोने-कोने में जाकर धर्मपिपासु लोगों को ऋषियों का पुनीत संदेश सुना सकें।

मैं समझता हूँ कि संस्कृत और पाश्चात्य विज्ञानों को एकसाथ पढ़ते हुए गुरुकुल के ब्रह्मचारियों में आत्मज्ञान और आत्मसम्मान के भाव अवश्य जागृत होंगे। आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से हमारे दिमागों में एक नशा पैदा हो गया है। नकल करना कमजोरी है। विचार तथा जीवन के हर क्षेत्र में एक वस्तु की आवश्यकता है—शक्ति, बल। परंतु बल का रहस्य यही है कि नकल न करके स्वयं अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाए। वैदिक सभ्यता का युग न मालूम कितना पुराना है। एक आधुनिक ऐतिहासिक का कहना है कि 20000 या 25000 वर्ष पहले वैदिक सभ्यता का युग था। इस युग के विषय में मैं जितना अधिक विचार करता हूँ, उतना ही इसकी सरलता पर मुग्ध होता जाता हूँ। आधुनिक सभ्यता की अपेक्षा प्राचीन सभ्यता में अधिक सरलता थी। सरलता ही सभ्यता की कुंजी है। अक्सर हम लोग प्रजातंत्र राज्य पर विचार किया करते हैं। मेरी राय है कि वैदिक प्रजातंत्र राज्य अधिक उच्च था। राजा सदा जनता द्वारा चुना जाता था। प्रजातत्रवाद प्राचीन आर्यों को अज्ञात न था। धर्म का स्थान सदैव राजा के ऊपर रखा जाता था। वैदिक राजव्यवस्था का आधार आत्म-नियंत्रण और आत्मसम्मान था। आजकल दुनियादारी और व्यवहारकुशलता पर अधिक जोर दिया जाता है। पान के पत्तो की तरह चालाक लोगो की सर्वत्र ही अधिकता है। ऐसे आदमी भारत को स्वतत्रता नहीं दिला सकते। आर्यों का जोर सदैव आत्मा की उन्नति पर था। मानसिक चतुरता द्वारा सफलता तथा स्वार्थ साधन मे कुछ सहायता तो मिल सकती है परंतु सफलता की प्राप्ति वस्तुत आत्मा द्वारा ही होती है। जो कुछ स्थायी है उसका निर्माता आत्मा है। आत्मा को ही अपने स्वाध्याय तथा जीवन का वास्तविक निर्माता समझो। आत्मिक शक्ति ही भारत को स्वराज्य दिलाएगी। अगर भारत में आत्मिक शक्ति की न्यूनता होगी तो हम ऊँचे-ऊँचे उद्देश्यों तक नहीं पहुँच सकते। हमारे जातीय आंदोलन यदि आत्मिक शक्ति से शून्य होंगे तो ये गर्व, विषय-सुख, घृणा और झगडों के ही पैदा करनेवाले होगे।

आधुनिक जमाने का खतरा यह है कि आजकल आत्मा को पराधीन कर दिया गया है। दैवी शक्तियों को मशीनरी का गुलाम बनाया जा रहा है। आत्मा के अधिकारों को शक्तिमदोद्धत सभ्यता पर कुर्बान किया जा रहा है।

ऋषियों की बुद्धिमत्ता का अनुसरण करना आपका प्रयत्न होना चाहिए। आजकल की स्पर्धा और पेचीदगियों ने मनुष्यों के जीवनों को बिलकुल पागलों

की तरह बाह्य सुखों के पीछे भागना सिखा दिया है। इसीलिए आंतरिक शक्तियों को विकसित करने की बहुत अधिक आवश्यकता है। आधुनिक शिक्षा सर्वथा असफल रही है क्योंकि इसने विद्यार्थियों की आंतरिक शक्तियों का विकसित नहीं किया। अभी कुछ दिन हुए कि जर्मनी के एक महान विचारक और राजनीतिज्ञ महापुरुष की मृत्यु हुई है, उसका नाम 'रैथिनो' था। उन्होंने अपनी एक किताब में लिखा है कि 'आत्मा को विकसित करो'। यह तो प्राचीन ऋषियों के सिद्धांतों का एक अनुवादमात्र है। मैं आधुनिक स्कूलों, कॉलिजों, यूनिवर्सिटियो और संसार भर की सरकारों से एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि आप अपने नवयुवक विद्यार्थियों के आत्माओ को विकसित करने के लिए क्या यत्न कर रहे हैं, क्योंकि मुझे दृढ निश्चय है कि आत्मा को विकसित करने से ही वास्तविक नवजीवन का विकास होता है।

[सन् 1928]

राष्ट्रीय शिक्षा का पहला प्रयोग

श्री आचार्य नरेन्द्र देव

राष्ट्रीय शिक्षा का यह पहला ही प्रयोग था। जिन लोगों ने गुरुकुल को नहीं देखा है, उनका यह भ्रम हो सकता है कि यहाँ साम्प्रदायिकता का राज्य होगा और यहाँ से निकले स्नातक सकुचित विचार के होगे पर जिन्होंने एक बार भी गुरुकुल को देख लिया है या जो गुरुकुल के स्नातको की मनोवृत्ति से परिचित हो चुके हैं, उनको इस प्रकार का कोई भ्रम नहीं हो सकता।

यहाँ उदार आर्य भाव का वायुमडल सदा प्रवाहित होता रहता है। गुरुकुल अपने विद्यार्थियो को किसी खास साँचे मे नहीं ढालता है। विश्वविद्यालय का भाव सदा उदार और उन्मत्त होता है। विश्वविद्यालय के अध्यापक अपने विद्यार्थियो को इस बात का पूरा मौका देते हैं कि वे सब पक्षों के मत को सुनकर अपना स्वतत्र मत निश्चित करे।

धार्मिक क्षेत्र मे भी गुरुकुल का उदार भाव रहा है। यहाँ केवल वैदिक धर्म की ही शिक्षा नहीं ही जाती है, यहाँ विद्यार्थियो को विविध धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन कराया जाता है। यहाँ नवीन शास्त्रो के अध्ययन की भी व्यवस्था की गई है। इस प्रकार विद्यार्थी प्राचीन तथा अर्वाचीन विचार-पद्धतियो से परिचय प्राप्त करते हैं और उदार आर्य भाव को ग्रहण करते हैं। उनके चरित्र गठन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पडता है। इस प्रकार विद्याचरण सपन्न हो जब विद्यार्थी गुरुकुल से निकलते हैं तो ससार का सग्राम उनके लिए भयावना नहीं मालूम होता और जीवन के जिस किसी क्षेत्र मे भी उनको कार्य करने का अवसर मिलता है, उसी मे वह लोकोपकारक बुद्धि से कार्य करते हैं।

गुरुकुल की स्थापना के कुछ साल बाद राजनैतिक आदोलन के प्रभाव से बगाल में एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हुआ था। पर उस समय शिक्षा क्षेत्र मे गवर्नमेंट से सर्वथा स्वतत्र होना ही राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य था। जिस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र मे केवल पूर्ण स्वतत्रता की प्राप्ति हमारा ध्येय रहा है, हम यह नहीं विचार करते कि स्वतत्र होने पर हमारा सामाजिक तथा आर्थिक सगठन किस प्रकार के राजतत्र से सचालित होगा, उसी प्रकार शिक्षा-क्षेत्र में भी हमारे

राजनैतिक नेताओं ने शिक्षा की स्वतत्रता पर ही विशेष ध्यान दिया और इसका विशेष विचार न किया कि राष्ट्रीय शिक्षा की आत्मा क्या है और इसका सच्चा आंतरिक स्वरूप क्या है। गवर्नमेंट की ओर से जो कड़ा नियंत्रण हो रहा था उसी के विरोध में राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। कलकत्ते के राष्ट्रीय विद्यालय में उस अस्वाभाविकता को दूर करने का भी प्रयत्न किया गया था जो विदेशी सत्ता के कारण हमारी शिक्षा-पद्धति में आ गई थी पर राजनैतिक उथल-पुथल में शिक्षा के लक्ष्य को निश्चित करना, शिक्षा के प्रकारों की परख करना और एक स्थिर आदर्श सामने रखकर एक सुंदर शिक्षा-प्रणाली का निर्माण करना सभव न था। किसी स्थिर लक्ष्य के अभाव में राजनैतिक आंदोलन की गति मद होने पर राष्ट्रीय शिक्षा का आदोलन भी बद हो गया। सन्. 1931 मे असहयोग आदोलन के सिलसिले में काग्रेस का जो कार्यक्रम बनाया गया था उसमें भी राष्ट्रीय शिक्षा को स्थान दिया गया था। आरंभ में राष्ट्रीय शिक्षा के कार्य में बडी सफलता होती नजर आई, पर हमारा लाभ स्थायी न हो सका। इसका भी कारण यही है कि किसी विशेष अच्छाई की दृढ नींव पर हमने राष्ट्रीय शिक्षा की इमारत खड़ी नहीं की थी। अब कुछ राष्ट्रीय विद्यापीठों ने राष्ट्र के लिए अच्छे कार्यकर्ता तैयार करना ही अपना ध्येय बना लिया है। विशेष प्रकार की सस्थाओं का ऐसा ध्येय हो सकता है पर एक विश्वविद्यालय के लिए यह ध्येय सकुचित होगा।

यद्यपि राष्ट्रीय शिक्षा की बुनियाद अभी काफी मजबूत और सही नहीं हुई है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस ओर जो कुछ प्रयत्न हुए हैं, वे सब निष्फल और व्यर्थ हैं। हमारे उद्योग का एक अच्छा नतीजा यह हुआ है कि राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का प्रभाव सरकारी और अर्द्धसरकारी शिक्षा-सस्थाओ पर पड़ा है। इनकी कृत्रिमता बहुत कुछ दूर होती जाती है। उनको भी विवश होकर देशभाषा को शिक्षा का माध्यम कुछ दर्जे तक मानना पडा है। राज्य का नियत्रण भी पहले की अपेक्षा ढीला होता जाता है। जो नई गैर-सरकारी शिक्षा-सस्थाएँ खुलती हैं, वे सरकारी विद्यालयो को अपना आदर्श न मानकर गुरुकुल और राष्ट्रीय विद्यापीठो को ही अपना आदर्श मानती हैं। यह थोडा लाभ नहीं है। जो अस्थिरता आज हम राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में पाते हैं वह राजनैतिक कारणों से है। गुरुकुल जैसी सस्थाओ में यह अस्थिरता नहीं पाई जाती। इसका कारण यह है कि इनका जन्म राजनैतिक कारणों से नहीं हुआ। गुरुकुल का स्थिर लक्ष्य है, यह दूसरी बात है कि सब लोग उससे पूर्णतया सहमत न हो। आर्य संस्कृति की रक्षा और उसके पुनर्जीवन का आदर्श तो ऐसा आदर्श है जिसे सब राष्ट्रीय शिक्षा-सस्थाओ को अपनाना ही चाहिए। गुरुकुल इस आदर्श पर बडा जोर देता है। इसीलिए संस्कृत की शिक्षा यहाँ अनिवार्य रखी गई है। गुरुकुल की यही विशेषता है। जो स्नातक गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त करके निकलते हैं उनसे यह विशेष आशा की जाती है कि वे आर्य संस्कृति का प्रचार करेंगे।

आशा है, जो स्नातक आज यहाँ दीक्षा के लिए आए हैं वे गुरुकुल के आदर्श को सदा अपने सामने रखेंगे। गुरुकुल ने उनके साथ जो उपकार किया है उसके ऋण से वह तभी मुक्त हो सकते हैं जब वह अपने जीवन में गुरुकुल के आदर्श की पूर्ति के लिए विशेष उद्योग करते रहें। आप स्वाध्याय और योग्यता की संपत्ति से विभूषित हैं। आप विद्या और आचरण से संपन्न हैं। आपने ब्रह्मचर्य की अवस्था में रहकर जो साधना की है वह आज समाप्त होती है। आपने गुरुकुल में निवास कर ज्ञान और शक्ति का संचय किया है। अब आपको कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करना है और अपनी शक्तियों से काम लेना है। आपको सदा स्मरण रखना चाहिए कि जो कुछ काम आप करें उसमें उदार आर्य भाव से ही आपको प्रेरित होना चाहिए। सबको मित्रभाव से देखना और सबके साथ एकता का अनुभव करना ही हमारी सभ्यता का मूलमंत्र है। यही सच्चा आर्य भाव है। इसी आर्य बुद्धि से प्रेरित होकर आपको जीवन के सब कार्य संपादित करने हैं, इसी में आपका और समाज का सच्चा कल्याण है और इसी प्रकार आप गुरुकुल के आदर्श को पूरा कर सकेंगे। आप अपनी परंपरा को न भूलें। जिस कार्य को तक्षशिला, नालंदा, और विक्रमीला के विद्वान पंडित और साधुओं ने किया था वही काम आपका सच्चा काम है। आर्य संस्कृति के दीपक को कभी बुझने न दीजिए। आपमें दृढ़ संकल्प, दृढ अध्यवसाय और कष्ट सहन करने की असीम शक्ति होनी चाहिए। जिसमें सच्ची लगन है उसके लिए सबकुंछ सुलभ है। आपने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है। आपके लिए भीष्म के शब्दों में कुछ भी अप्राप्य नहीं है। आपको अपने ऊपर अनेक प्रयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। सुलभ लाभ की इच्छा मत कीजिए। दुर्गम पथ से जाने का अभ्यास कीजिए। अपना मार्ग स्वयं निकालिए। कठिन से कठिन परिस्थिति में पड़कर भी मत घबडाइए। जो बहादुर हैं, जिनमें आत्मविश्वास है और जो सदा कठिनाइयों का मुकाबला करने के लिए तैयार रहते हैं, वही जीवन की कठिनाइयों और सुविधाओं दोनों से लाभ उठा सकते हैं। ईश्वर आपको बल दे कि आप इस पवित्र संकल्प को पूरा कर सकें, जिससे गुरुकुल का जन्म सार्थक हो और भारतमाता का मुख उज्ज्वल हो।

[सन् 1931]

हमारे चार ऋण

श्री विधुशेखर भट्टाचार्य

ऋषिगण कहते हैं और ठीक कहते हैं कि तुमने जन्मकाल से ही चार प्रकार के ऋण ग्रहण कर रखे हैं। तुम पर कुछ देवताओ का उधार है, कुछ ऋषियो का, कुछ पितरो का और कुछ मनुष्यो का। शात मन से विचारो तो सही, इसका क्या अभिप्राय है। तुम्हें उन ऋणो से अपना छुटकारा करना होगा। तुम्हे स्वार्थभावना छोडकर यज्ञो का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, देवताओ के लिए उत्सर्ग करना चाहिए। तुम्हे ज्ञान का उपार्जन अवश्य करना चाहिए, तुम्हे उस विद्या-प्रवाह का पालन अवश्य करना चाहिए, जो परपरा क्रम से उन ऋषियो से प्राप्त हुआ है जिन्होंने सहस्रो वर्ष उसके लिए तप किए। तुम्हें गृहस्थ धर्म का अवश्य पालन करना चाहिए और इस धर्म का पालन करके उत्तम कोटि की सतान उत्पन्न करनी चाहिए। सतान ऐसी होनी चाहिए जिससे सारे भुवन का कल्याण हो। इस प्रकार प्रथम तीन ऋण का शोधन होता है। चौथा ऋण मनुष्यो का है। इसमे भी बहुत कुछ करना है। अधिक करना असभव हो तो कम से कम ये दो काम तो अवश्य करने चाहिए। उन्हे रहने की जगह और अन्न देना चाहिए। ये दो चीजे प्राणधारियो के प्रथम प्रयोजन की हैं। कभी भी किसी भी तरह वे अन्न और वासस्थान से वचित न होने पावें। वे आजकल यह भी तो नहीं पा रहे हैं।

अवश्य ही तुम्हें जीवित रहना है। जीने की इच्छा कौन नहीं रखता। फिर कैसे जिया जाए। ऋषियों ने इसका भी उत्तर दे रखा है। उन्होने ही वह प्रशस्त पथ दिखा दिया है जिससे अच्छा रास्ता न तो किसी ने निकाला ही है न सोचा ही। कह गए हैं ·

कर्म करते-करते ही मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखे। फिर कर्म कैसे किया जाए ? जैसे कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन ने किया। अथवा वहीं पर जैसा भगवान् श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया था। अथवा जैसा श्री कृष्णार्जुन सवाद के मूर्तिमान् स्वरूप स्थितप्रज्ञ जीवित बोधिसत्व पूज्य महात्मा गाँधीजी कर रहे हैं।

कोई-कोई कहते हैं, इस देश मे नैष्कर्म्य का ही उपदेश दिया गया है। यह बिलकुल ठीक है कि भारतवर्ष मे नैष्कर्म्य का उपदेश दिया गया है। किंतु कहनेवाले उसको ठीक नहीं समझते। नैष्कर्म्य का अर्थ कर्म का न करना कदापि नहीं

है। उसका अर्थ है कर्मयोग। नैष्कर्म्य का उपदेश पाकर अर्जुन सग्राम से निवृत्त नहीं हुआ उल्टे प्रवृत्त हुआ। तुम्हारे सामने भी रोज ही प्रतिक्षण महान संग्राम ठना हुआ है। उसमें तुम्हे विजय पाना चाहिए। उसके लिए कर्म के सिवा दूसरा साधन नहीं है।

हम सभी स्रष्टा हैं। कोई छोटा, कोई बडा। यही भेद है। कर्म ही से प्रतिदिन कुछ सृष्टि से वह अपने-आपको प्रकाशित करता है। सूर्य प्रतिदिन ताप देकर अधकार दूर कर ससार को प्रकाशित कर प्रतिदिन कुछ नई सृष्टि करता रहता है। ऐसा करने से वह खुद अपने-आपको प्रकाशित करता है। यदि सूर्य का कर्म बद हो जाए तो वह सविता कहाँ रहा। कर्म से ही इसका प्रकाश है।

यह सृष्टि दो प्रकार की है—दैवी और आसुरी। दैवी सृष्टि संपत्ति की ओर ले जाती है और आसुरी विपत्ति की ओर। आसुरी सृष्टि का करना सहज है। वह क्षण भर में प्रलय भी कर सकती है। दैवी सृष्टि दुष्कर है। या अति दुष्कर है। तप बिना दैवी सृष्टि नहीं होती है। बिना तप के सृष्टि की बात उपनिषदों में कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती। तप करना सरल नहीं है। सृष्टि के दो प्रकार के होने से स्रष्टा भी दो प्रकार के होते हैं—प्रेयस्काम और श्रेयस्काम। प्रेयस्काम स्रष्टा प्रीति मात्र की इच्छा रखता हुआ अपनी सृष्टि में और कुछ नहीं गिनता। श्रेयस्काम अपनी सृष्टि से ससार के श्रेय. की इच्छा रखता है। आयुष्मानो ! गंभीर भाव से अपने चित्त में इसका विचार करो और सृष्टि में प्रवृत्त होओ, आत्मा ही तुम्हारा दीप है। आत्मा ही तुम्हारी शरण है। तुम सभी आत्मदीप और आत्मशरण होकर आगे बढो।

कुछ लोग तमस्तमः परायणं होते हैं, वे तम से तम को जाते हैं। दूसरी तमोज्योति परायण होते हैं, वे तम से ज्योति को जाते हैं। एक दूसरी तरह के वे लोग होते हैं जो ज्योतिस्तम. परायण होते हैं। ये ज्योति से तम को जाते हैं। एक और तरह के वे लोग हैं जो ज्योतिः ज्योतिः परायण होते हैं। वे ज्योति से ज्योति को जाते हैं। आयुष्मानो ! तुम ज्योति. ज्योतिः परायण होओ। ज्योतिः ज्योतिः परायण होओ।

[सन् 1932]

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।

डॉ. कालिदास नाग

अर्थात् सत्य मे और धर्म के अनुष्ठान मे प्रमाद न करना। इसके साथ भगवान् गौतम बुद्ध के उपदेशो के सग्रह रूप धम्मपद के अप्रमादवर्ग की समानता विशेष आश्चर्यजनक है। आर्यपूर्वजो के सतान होने का महात्मा बुद्ध को यथार्थ अभिमान था यद्यपि आर्यत्व के मौलिक नियमों से प्रेरित होकर उन्होंने मध्यकालीन रूढियो और जातियो के विरुद्ध युद्ध किया और उस सार्वभौम मैत्री के प्रगतिशील शक्ति-संपन्न धर्म की घोषणा की जिसको तथागत के अनुरूप भक्त शिष्य सम्राट् अशोक ने विशाल भारत के ऐतिहासिक सत्य मे परिणत कर दिया।

भारत ने पुन एक-यात्रा प्रारंभ की और उसके सहस्रों पुत्र-पुत्रियाँ आध्यात्मिक परिव्राजकता के दिव्य उन्माद से प्रेरित होकर, जो आर्यों के लिए निसर्ग सिद्ध है, अपने प्रिय घरो से निकल पडे, हिमालय, समुद्रो और भौगोलिक तथा सास्कृतिक सीमाओ को पार कर गए इस उद्देश्य से कि आर्यों की आत्मानुभूति के प्राचीन अथवा अर्वाचीन अमरकोषो को जाति और सप्रदाय का भेद किए बिना देश-देशांतरो और द्वीप-द्वीपातरो मे ले जाया जावे। यह विशाल भारत का इतिहास मानवीय इतिहास का सबसे अधिक स्फूर्तिदायक अध्याय है जिससे पता लगता है कि किस तरह मध्य एशिया के भयकर रेगिस्तान मनुष्य समाज के उन सेवको के खून से सींचे गए थे, जिन्होने सस्कृति और आध्यात्मिकता के इन हरे-भरे स्थानो को बनाया जिनको हम खोतान और कुचतुर्फान् और तन् होग के रेत के नीचे दबे हुए खडरातो मे से पुन पता लगा रहे हैं। अभी यह कार्य करना बाकी है कि भारतवर्ष और सुदूर पूर्व के बीच सास्कृतिक और आध्यात्मिक सहयोग की 15 सदियों का इतिहास बनाया जाए और प्रगतिशील आर्यत्व के सामान्य इतिहास मे उसे शामिल कर दिया जाए। चीन और जापान भारत के साथ हजार वर्षों से अधिक समय से सहयोग करते रहे हैं और सकुचित भारत अब भी उस आर्य-बौद्ध सस्कृति के सस्कारो को लिए हुए है जो, जब से चौथी सदी मे बोर्नियो मे वैदिक यज्ञों को करते हुए मूलवर्मन् का यूपशिलालेख उपलब्ध हुआ है, हमारे औपनिवेशिक विस्तार मे निश्चित तौर पर एक नया अध्याय खोलती है। अजता के भवन-निर्माण सबधी चमत्कार और बयॉन् अकोर् वैट और कबोज के मदिर इस बात की जीवित

साक्षी हैं कि हमारे पूर्वज गजब के साहसी थे जिन्होंने अपने आध्यात्मिक विजय के विस्तार के रास्ते पर किसी भी सीमा को स्वीकार करने से इंकार कर दिया।

यद्यपि मुस्लिम और क्रिस्तानी आक्रमणों के भयकर संघर्षों मे आर्य-आत्मा कुछ सदियो के लिए अपने-आपको बाह्य तूफानो के आगे झुकाकर गफलत मे सो गई, यद्यपि अंधकारमय युगो मे हमने अस्पृश्यता, बालविवाह, बालहत्या जैसी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कुरीतियां को अपना लिया, तो भी यह जाति रामानंद और कबीर, नानक और चैतन्य जैसे सतो के दिव्य नेतृत्व से कभी शून्य नहीं रही और जब हम अपने काल की ओर आते हैं तो राममोहनराय और दयानद की दिव्य वाणियाँ सुनकर हमारे हृदयों मे आह्लाद उत्पन्न होता है। प्रभु करे कि उनका उदाहरण और उनका आशीर्वाद हमारी सब अपवित्रताओं और पापो को धो डाले और उस मनुष्य समाज के, जो घृणा और भेदभाव से सदा विक्षुब्ध रहता है, आध्यात्मिक संगीत सम्मेलन में एकता और समता की तान छेड़ने का अपना परपरागत कर्तव्य हम फिर से सँभालें। घोर अँधकार में भी भारतवर्ष ने प्रकाश के लिए प्रार्थना की है और लड़ाई की खून-खराबी मे उसने सार्वभौम कुरुक्षेत्र का विरोध करते हुए प्रवचन का उच्चारण किया है। ईश्वर करे कि वह अविनाशी आर्यावर्त हमारे द्वारा अपना अमर दिव्य सदेश मनुष्य मात्र को दे।

समानी व आकूति. समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथाव सुसहासति।। —ऋग्वेद 10.191.4

[सन् 1934]

हमारी मानसिक स्वाधीनता

श्रीयुत सत निहालसिह

हमारी मानसिक स्वाधीनता को पुन स्थापित करने के लिए अन्य साधनो का भी बडा हाथ है। हमारे देश के अनेक विद्वानो और विचारको ने इस मानसिक स्वाधीनता की स्थापना के लिए बडा भारी कार्य किया है। प्रभाव की दृष्टि से इन भारतीय सुधारो का कार्य यूरोपियन विद्वानो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व एक युवक सन्यासी, जिसका बचपन का नाम मूलशकर था पर जो महर्षि दयानद के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, यमुना के पवित्र तट पर अपने विद्याभ्यास को पूर्ण कर गुरु से दीक्षा ले ससार क्षेत्र मे प्रवेश करता है। इस सन्यासी के हृदय मे भारत का पुनरुत्थान करने की प्रचड अग्नि धधक रही थी। उसने देखा कि भारत मे धर्म के नाम पर अनर्थ होता है। वैदिक धर्म के नाम पर जिन अधविश्वासो और कुरीतियो का अनुसरण हमारे हिदू भाई कर रहे थे, उनके खिलाफ उस युवा सन्यासी ने विद्रोह का झडा खडा किया। हम लोगो मे मेकाले साहिब की कृपा से जो मानसिक दासता आ गई थी, जो हम यह भूल गए थे कि भारत का भी कोई स्वर्णिम युग था, हम लोग जो अपने उज्ज्वल अतीत को सर्वथा भुला बैठे थे, अग्रेजी शिक्षा के इस जादू को तोडकर महर्षि दयानद ने हमे सचेत कर दिया।

इसी प्रकार बगाल मे रामकृष्ण परमहस ने प्राचीन भारतीय सभ्यता और धर्म के पुनरुत्थान के लिए असाधारण कार्य किया। रामकृष्ण परमहस मे उत्कृष्ट कोटि की आध्यात्मिकता विद्यमान थी। उनके शिष्य स्वामी विवेकानद अत्यत प्रतिभाशाली और शक्तिसपन्न थे। इन महानुभावो ने न केवल बगाल अपितु सुदूरवर्ती अमेरिका तक मे भारतीय विचारसरणि की धाक जमाने मे असाधारण सफलता प्राप्त की।

यह स्वाभाविक था कि भारत की इस नवीन जागृति के साथ-साथ शिक्षा की पद्धति मे भी यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो। जिस समय मेकाले ने अपनी नीति का प्रतिपादन किया था तब भी अनेक अग्रेजो का विश्वास था कि मेकाले की नीति अशुद्ध है और आगे चलकर उसमे परिवर्तन करना अवश्यभावी हो जाएगा। उनका यह विचार अब सत्य सिद्ध होता जा रहा है और धीरे-धीरे अंग्रेजी के स्थान पर भारत की विविध लोकभाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप मे स्वीकृत किया जाने

लगा है। बीसवीं सदी के प्रारभ में इस गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्थापना शिक्षा के क्षेत्र मे एक अत्यत महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके सस्थापक महात्मा मुशीरामजी आगे चलकर स्वामी श्रद्धानद से मेरा उस समय से परिचय है जब मैं छोटा बालक था। महात्मा मुशीराम जहाँ वैदिक आदर्शों का पुनरुद्धार करना चाहते थे, वहाँ साथ ही आधुनिक समय की शिक्षा और विद्या के क्षेत्र में हुई उन्नति को वे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते थे। महात्मा मुशीराम के सहकारी एक युवक पजाबी थे, जिनका नाम श्री आचार्य रामदेवजी है। उनका निवासस्थान मेरे घर से कुछ ही मीलो की दूरी पर है। गुरुकुल मे आने से पूर्व आचार्य रामदेवजी ने प्रसिद्ध अग्रेज शिक्षाविज्ञ डॉ वाल्टन के चरणो मे बैठकर शिक्षा-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी। गुरुकुल के वर्तमान आचार्य प चमूपतिजी पजाब यूनिवर्सिटी के एक एम ए हैं और उनके साथ प्राच्य और पाश्चात्य दोनो विद्याओ के अनेक विद्वान् शिक्षा का कार्य कर रहे हैं।

[सन् 1935]

महापुरुषों के चरणचिह्नों पर चलें*

पंडित जवाहरलाल नेहरू

आपने कहा कि मैं इससे पूर्व कई बार गुरुकुल मे आया हूँ। यहाँ विद्यार्थियों में बैठकर मुझे विशेष प्रसन्नता होती है। इन दिनो अध्यक्ष के नाते मुझे सारे देश मे भ्रमण करना है अत. मैं यहाँ अधिक समय न टिक सकूँगा, इसका मुझे खेद है। आप लोग ऐसी उत्तम संस्था में निवास करते हैं, मुझसे क्या संदेश ले सकते हैं। मैं आपमें क्या मंत्र फूँकूँ ? मुझे तो यह विद्या स्वय ही नहीं आती है। आप लोग महापुरुषो के चरणचिह्नो पर चले, यह जाने कि वह कैसे इस महत्ता को प्राप्त हुए। यह जानने से ही आप कर्मकाड की यथार्थ सीढी को जान सकेगे जिसके द्वारा उन्नति हो सकती है। आजकल आपके सामने जो कर्तव्य है उसे आप गुरुजनो से जान सकते हैं। विद्यार्थियों का देश की दशा से परिचय होना चाहिए। प्राचीन इतिहास को आप रोज पढते हैं। एक इतिहास के विद्यार्थी के लिए देश का प्राचीन इतिहास पढना आवश्यक है कितु आज की दुनिया में परिवर्तन बडे वेग से हो रहे हैं। क्राति की चिगारी सर्वत्र दिखाई देती है। बडे-बडे साम्राज्यों के टूटने की सभावनाएँ दिखलाई देती हैं। इन सबको जानने के लिए यह आवश्यक है कि आप लोग वर्तमान इतिहास को, योरप, अमेरिका, एशिया व अफ्रीका मे प्रतिदिन होनेवाले सघर्ष को जानें ताकि भारत के भावी इतिहास की रूपरेखा को तैयार करने मे आप लोग समर्थ हो सकें। इसके साथ ही विचार भेद में आप यह फर्क कर सके कि कौन-सी बात मे सिद्धात का भेद है और कौन-सी वैयक्तिक। सिद्धात सबंधी बडी-बडी बातों मे मतभेद आवश्यक तथा किसी अच्छे परिणाम को लानेवाला है, कितु छोटी-छोटी बातो मे मतभेद देश व राष्ट्र के लिए घातक है। आप यदि यह जानेगे तो अपने कर्तव्य को समझ सकेगे।

---

* —सन् 1935 मे काग्रेस अध्यक्ष पडित जवाहरलाल नेहरू श्री महावीर त्यागी, प दीनदयालु शास्त्री तथा बाबू अजितप्रसाद जैन के साथ गुरुकुल पधारे थे। उस समय आचार्य देवशर्मा की अध्यक्षता में सपन्न स्वागत गोष्ठी में श्री नेहरू ने यह सक्षिप्त भाषण दिया था।

गुरुकुल का एक नया कार्यक्षेत्र

डॉ गोकुलचद नारंग

वर्तमान मे हिदुओ का जीवन सर्वथा धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावनाओ से शून्य हो गया है। परतु मेरे विचार मे अब भी नितात निराश होने का कोई कारण नहीं। उस सविधान का शरीर अब भी विद्यमान है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसमे जीवन सचारित किया जाए और वह सदेश यही है जिसे कि मै आप तक पहुँचाने के लिए आज यहॉं उपस्थित हुआ हूँ। गुरुकुल के विद्यार्थी और स्नातक ही हिदुओ को उस मृतप्राय धार्मिक सविधान के शरीर मे पुनर्जीवन सचार करने के लिए उपयुक्त और समर्थ प्रतीत होते है। आवश्यकता इस बात की है कि इस विविध धर्मोपदेश परिपाटी मे या तो सर्वथा परिवर्तन कर दिया जाए या इसका ऐसा परिष्कार किया जाए जिससे कि यह पूर्ववत् अपने कर्तव्य को भली भॉंति सपादन करने लग जाए। मै गुरुकुल के स्नातको से प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे ग्रामो मे जाएँ, उनको भिन्न-भिन्न पौरोहित्य प्रदेशो मे विभक्त करे, जैसे कि इग्लैंड विविध पौरोहित्य प्रदेशो मे विभक्त है और वहॉं निवास करके उपाध्याय पुरोहित और गुरु के कृत्यो को अपने हाथ मे ले क्योकि यद्यपि कथनमात्र को वहॉं अब भी उपाध्याय आदि विद्यमान है परतु उनकी उपयोगिता अब नष्ट हो चुकी है। यदि एक-एक स्नातक दस-दस, बारह-बारह ग्रामो के सुधार का भार भी अपने कधो पर ले तो कुछ ही समय मे समस्त ग्राम्य प्रदेश पुन धार्मिक जीवन से परिपूर्ण हो सकता है। आप लोग अपने आचरण से तथा वेदशास्त्र के ज्ञान द्वारा ग्राम निवासियो की सारी आवश्यकताओ को पूर्ण कर सकते हैं।

मै इस प्रस्ताव को आपके सम्मुख इसलिए प्रस्तुत कर रहा हूँ कि मैं अपने मन मे यह कल्पना किए हुए हूँ कि आप लोग सरल परोपकार परायण, त्यागमय और सेवायुक्त जीवन व्यतीत करने के लिए उद्यत हैं क्योकि जिस कार्य का मैंने निर्देश किया है उसे वे लोग नहीं कर सकते जिनका उद्देश्य जिस किसी तरह धन उपार्जन करना और ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत करना है। मै अनुभव करता हूँ कि मेरी यह कल्पना झूठी नहीं कि इस सस्था के विद्यार्थी और स्नातक ऐश्वर्य और विलासयुक्त जीवन के प्रलोभनो से ऊपर उठ चुके है। यदि आपका लक्ष्य

धनोपार्जन तथा विलासमय जीवन व्यतीत करना होता तो आप शिक्षा-प्राप्ति के लिए दूसरी संस्थाओं में प्रविष्ट होते जिससे कि आपको सरकारी नौकरी आदि मिलने में सुविधा होती। जिनके लिए कि विश्वविद्यालय के प्रमाणपत्र अपेक्षित होते हैं। इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि इस विश्वविद्यालय से शिक्षा पाकर निकलनेवाले स्नातक अन्य धन एकत्रित करानेवाले कार्यों के योग्य नहीं हैं परतु जैसा कि मैंने पहले कहा है, मैं समझता हूँ कि इस गुरुकुल में शिक्षा के लिए प्रविष्ट होने में आपका उद्देश्य अपने-आपको धन अर्जन करनेवाले व्यवसायों के योग्य बनाना न था किंतु अपने-आपको धर्म, जाति और देश की सेवा के लिए योग्य बनाना ही था। यदि मैंने अपनी इस कल्पना में भूल नहीं की तो मुझे आशा है कि जो कार्य-पद्धति मैंने आपके सम्मुख उपस्थित की है, आप उसका अनुमोदन करेंगे। मैं इस बात को भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार के जीवन का मैंने निर्देश किया है वह ऐसा नहीं जिसमें कि आपको भूखा रहना पडे। इसमें कोई सदेह नहीं कि यद्यपि आप अमित धन एकत्रित न कर सकेगे तथापि आपके जीवन की संपूर्ण आवश्यकताएँ आपके कृतज्ञ शिष्यों तथा यजमानों द्वारा अवश्य पूर्ण की जाएँगी।

ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज के बहुत-से स्नातकों ने ठीक इसी कार्य-पद्धति को ग्रहण किया है, जो कि मैंने अभी आपके सामने प्रस्तुत की है। वे धनाढ्य कभी नहीं बनते, पर साथ ही वे कभी भूखे भी नहीं रहते और उनके पास साधारण भद्र जीवन व्यतीत करने के लिए पर्याप्त साधन होते हैं। इग्लैंड में यह पद्धति निस्सदेह राजकीय नियम के आधीन है और धर्मोपदेशक की आय दशमाश के रूप मे नियत है। जिनके धार्मिक कार्यों का आप संपादन करेगे, वे लोग अपना कर्तव्य समझेगे कि आप सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करें, ऐसा कोई प्रबध हमारे यहॉं सभव नहीं, किंतु मुझे विश्वास है कि आपका विवाह और आपके बच्चों की शिक्षा आदि उत्तम रीति से सपन्न होगी। आप कदाचित् विचार करेगे कि मैं आपको कोई अत्यत कठिन कार्य करने के लिए प्रेरित कर रहा हूँ। यह हो सकता है परतु ऐसे उच्च आदर्श रखनेवाली और अपने-आपको प्राचीन गौरव की प्रतिनिधि माननेवाली इस संस्था के स्नातको से यह आशा करना अयुक्त नहीं। यदि यह निश्चित तथ्य है कि हिदुओ मे धार्मिक शिक्षा के प्रचार का अत्यंत ह्रास हो गया है और वैदिक धर्म का उपदेश तथा प्रचार किया जाना चाहिए तथा प्राचीन आर्य संस्कृति का पुनर्जीवन अवश्य होना चाहिए तो मुझे बताएँ कि इस कार्यपद्धति के अतिरिक्त जिसे कि मैंने अभी प्रस्तुत किया है, और कौन-सी कार्यपद्धति उपयुक्त हो सकती है, यह ऐसा कार्य है जिसे कि साधारण गृहस्थ, सरकारी नौकर तथा अन्य व्यवसायी नहीं कर सकते, न ही निरतर भ्रमणशील उपदेशकों के दल। इसी प्रकार राजकीय तथा दयानंद विद्यालयों मे शिक्षा प्राप्त किए हुए दूसरे विश्वविद्यालयों के स्नातक भी इस कार्य के सपादन करने में समर्थ नहीं, क्योंकि वे दूसरे प्रकार की शिक्षा-प्रणाली के कारण ही साधारणतया इस महान् प्रयत्न के अयोग्य हैं। वे केवल आप तथा दूसरे

गुरुकुलों के स्नातक ही हैं जिन पर कि इस कार्य के संपादन कर सकने का विश्वास किया जा सकता है। दूसरों ने प्रयत्न किया है और कुछ एक व्यक्तियों के अतिरिक्त सब असफल रहे हैं। इसलिए मैं प्रार्थना करूँगा कि आप इस कार्य-पद्धति पर विचार करें जो कि मैंने अभी आपके सम्मुख प्रस्तुत की है। और ध्यानपूर्वक इसके गुण-दोषों का विचार करके निर्धारित करें कि क्या यही पद्धति हमारे धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन के पुनरुत्थान का एकमात्र साधन नहीं है ? और यदि आप मानते हैं कि इष्टसिद्धि का यही एकमात्र साधन है अथवा कम से कम ऐसा साधन है जो विशेष प्रभावजनक हो सकता है तो आप विचार करें कि इस पवित्र कार्य में आप क्या भाग ले सकते हैं। इस पद्धति पर विचार करने में आप इस बात का ध्यान बिलकुल न करें कि यह किसने प्रस्तुत की है। एक प्राचीन कवि के कथनानुसार आप यह समझें कि यह पद्धति आपको किसी भित्ति पर लिखी मिली है और आप इस पर निष्पक्ष पात विचार करें। यदि यह आप अनुभव करते हैं कि मैंने जो निर्देश किया है उसमें आपके लिए अत्यधिक त्याग अपेक्षित है, तो मैं उसके पर्यायरूप में एक दूसरी पद्धति उपस्थित करता हूँ और वह यह है कि यहाँ पर शिक्षा समाप्त करने के अनन्तर आप अपने जीवन के एक-दो वर्ष इस कार्य में लगाएँ। आपके अनंतर जो भी स्नातक बनें, वे एक-दूसरे के बाद इसी क्रम से दो-दो वर्ष इस पवित्र कार्य में लगाते जाएँ। इस प्रकार यह शृखला अविच्छिन्न चलती रहे। इस समय में आप लोग कुल परंपरागत उपाध्यायों और पुरोहितों को शिक्षित बनाकर अपने नियत कर्तव्य के पालन में प्रवीण बना दें। इस प्रकार जो उपाध्याय-पुरोहित आदि की परंपरा सदा से चली आ रही है, किंतु दूषित हो गई है, उसी को सुधारकर उपयुक्त बनाया जा सकता है। यह सम्भव है कि यह सामग्री कच्चे लोहे की भाँति हो, परंतु आप अपने प्रयत्न रूपी अग्नि द्वारा इसके मल को दूर कर सकते हैं और इसको उच्च कोटि का लोहा व इस्पात बना सकते हैं जो कि किसी भी प्रयोग में लाया जा सकता है और किसी भी परीक्षा मे ठीक उतरने के योग्य बनाया जा सकता है।

[सन् 1936]

गुरुकुल की सबसे बड़ी विशेषताएँ

श्री सत्यमूर्त्ति एम.एल.ए

जैसाकि होना चाहिए था, आपकी शिक्षा का माध्यम हिंदी भाषा है। मैं यद्यपि स्वय हिंदी नहीं जानता तो भी मेरी यह हार्दिक और प्रबल मनोकामना है कि जितनी जल्दी हो सके, हिंदी हमारे देश की राष्ट्रीय भाषा के पद पर आसीन हो। मैं आशा करता हूँ कि इस विद्यापीठ से शिक्षा-प्राप्त स्नातक देश के कोने-कोने तक इस सदेश को पहुँचाएँगे।

सस्कृत साहित्य का एक विनम्र विद्यार्थी होने की हैसियत से मैं आपको इस बात पर साधुवाद दिए बिना नहीं रह सकता कि आप अपने पाठ्यक्रम मे सस्कृत को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं, यूरोपियन संस्कृति को, ग्रीक और लैटिन भाषाओ को जो सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है उससे भी अधिक हमारी भारतीय सस्कृति मे सस्कृत को प्राप्त है। संस्कृत को मृत-भाषा कहा जाता है, लेकिन यह आज भी जीवित है। मुझे बडी प्रसन्नता के साथ स्मरण है कि जब पिछली दफा मैं आपके गुरुकुल मे आया था तो मुझे सस्कृत मे आपका वाद-विवाद सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आप फिर एक बार सस्कृत को विद्वानों की बोलचाल की भाषा बनाना चाहते हैं, आपके इस प्रयत्न की जितनी भी सराहना की जाए और इसे जितना भी प्रोत्साहन दिया जाए, वह सब थोडा है। मैं किसी अंधविश्वास या भक्ति के आवेश के कारण सस्कृत की प्रशसा नहीं कर रहा, मेरा तो यह दृढ विश्वास है कि प्रत्येक भारतीय विद्वान को यदि इस देश का सच्चा निवासी बनकर यहाँ रहना है तो सस्कृत का ज्ञान होना अत्यत आवश्यक है। संस्कृत का ज्ञान न होने का अर्थ है अपने पूर्वजो के उत्तराधिकार से वचित रहना। सस्कृत के माध्यम द्वारा ही हम उस साहित्यिक कोष तक पहुँच सकते हैं जिसे हमारे पूर्वज अपने पीछे छोड गए हैं। यह तो एक ऐसा मनोरम उद्यान है जिसमे सुदर, सुगधित और सदाविकसित सुमन लहलहा रहे हैं। इसमे हम युग-युगांतर तक बिना थके, सुख, आह्लाद, रस और शिक्षा ग्रहण करते हुए भ्रमण कर सकते हैं। संस्कृत का थोडा ज्ञान मुझे भी है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि कला के अन्य क्षेत्रों की भाँति संस्कृत मे भी यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है कि 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:' अर्थात् सौंदर्य की सबसे बडी विशेषता यही है कि वह क्षण-क्षण में

परिवर्तन हो जाता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत तो हिंदू मात्र को एक भणिमाला में पिरोनेवाला सूत्र है। इतना ही नहीं, इसे तो हिमालय से लेकर कुमारी अंतरीप तक और कामरूप से लेकर कराची तक समस्त भारतीय जनता की संस्कृति का मेरुदंड होना चाहिए।

आपके जीवन की सादगी, एकरूपता और स्वावलंबन से मैं बहुत अधिक प्रभावित हुआ हूँ। सादगी हिंदू व भारतीय जीवन की एक महान् विशेषता है। लेकिन आज हम आहिस्ता-आहिस्ता इससे दूर होते जा रहे हैं। आज भी समय है कि हम इस पर दृढ रहे और इसका प्रचार करें। आधुनिक सरकारी शिक्षा ने हमारे नवयुवकों और नवयुवतियों को असहाय और पगु बना दिया है। इसलिए यह बहुत प्रसन्नता की बात है कि आपका शिक्षण स्वावलंबन के वातावरण में हो रहा है। इससे आपका आत्मसम्मान बढेगा।

एकरूपता व समान व्यवहार के बारे में मैं इतना ही निवेदन करता हूँ कि इसे मैं व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन का एक बहुत बडा धर्म समझता हूँ। आपकी दैनिक जीवनचर्या का, जिसमे संध्या होम भी शामिल है, मुझ पर बहुत गहरा प्रभाव हुआ है। आजकल का शुष्क और थोथा बुद्धिवाद कहता है कि यह सब आडबर मिथ्या और व्यर्थ है लेकिन बहुत-सी बातें इस तर्क और बुद्धिवाद की पहुँच से बाहर होती हैं। मेरा तो यह विश्वास है कि इन धार्मिक सस्कारों से व्यक्ति, राष्ट्र तथा समाज—सबकी आत्मा उच्च होती है और बल प्राप्त होता है।

मुझे मालूम हुआ है कि आप स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंदजी के नाम पर एक शिल्प विद्यालय खोलना चाहते हैं। लेकिन इसके लिए आवश्यक कोष अभी पूरा नहीं हुआ है। मैं हृदय से कामना करता हूँ कि यह कोष शीघ्र ही पूरा हो जाएगा और आप शिल्प विद्यालय जैसी उपयोगी चीज का प्रारंभ कर सकेंगे। मुझे यह भी मालूम हुआ है कि आप अपनी प्रारंभिक कक्षाओं के छात्रों को कुछ क्रियात्मक और व्यावसायिक शिक्षा देने का प्रयत्न कर रहे हैं। मैं गुरुकुल के अधिकारियों से निवेदन करूँगा कि वे छोटे बालकों के शिक्षा में हाथ और आँख के काम को अधिक महत्त्व दे अर्थात् उनके हाथ से काम करने और निरीक्षण की शक्तियों का अधिक विकास करें। मैं यह भी चाहता हूँ कि इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान को नवीन प्रकाश में पढ़ाने का विशेष प्रबंध किया जाए। आपके विद्यार्थियों को समस्त आधुनिक समस्याओ का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। यह ठीक है कि सत्य सब कालों मे एक रूप ही रहता है लेकिन तो भी आजकल का मनुष्य-जीवन इतना पेचीदा हो गया है, उसकी समस्याएँ इतनी कठिन हो गई हैं कि आपके विद्यार्थियों का शिक्षण तभी पूर्ण हो सकता है जब आप उन्हें उपरिनिर्दिष्ट विषयों में निष्णात कर दें।

लेकिन एक बात ध्यान रखें। जब मैं विज्ञान के अध्ययन पर बल देता हूँ तो इसका यह मतलब नहीं कि मैं इस शोचनीय बात को भूल रहा हूँ कि आजकल विज्ञान मनुष्यता पर भी हावी हो गया है। पचास वर्ष पूर्व एक समय था कि हम

वैज्ञानिकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते थे। क्योंकि वे लोग मनुष्य-समाज के हित-सपादन के लिए और हमारा ज्ञान भंडार भरने के लिए अनेकों कष्ट सहकर और अपने जीवन को खतरे में डालकर भी ज्ञान-विज्ञान की अज्ञात सच्चाइयों के अन्वेषण में अग्रसर हुए थे। लेकिन आज तो हम देख रहे हैं कि विज्ञान के रूप में मनुष्य ने एक ऐसा राक्षस तैयार कर लिया है जो अपने निर्माता को ही खाने को तैयार खडा है। यह विज्ञान हमें उन्नति के बजाय विनाश की ओर ले जा रहा है। सभ्यताभिमानी देश आज जिस निर्दयता और पशुता के साथ एक-दूसरे के विरुद्ध हवाई जहाजों, बमो, विषैली गैसों व अन्य साघातिक आविष्कारों का प्रयोग कर रहे हैं कि उससे मानव प्रेम, विश्व प्रेम के स्वप्न देखनेवालो की समस्त आशाओ पर तुषारपात हो गया है। मेरी यह प्रबल इच्छा है कि भारतवर्ष वैज्ञानिकों का एक ऐसा दल तैयार करे जो विज्ञान को मनुष्यता के अनुकूल और आधीन कर सके। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में मैं आपके गुरुकुल से बहुत बडी आशाएँ रखता हूँ। यह श्रेय और यश आपको ही प्राप्त होना चाहिए। आपको आजकल के वैज्ञानिकों को दिखा देना चाहिए कि ज्ञान और विज्ञान मनुष्य जीवन के उच्च आदर्शों की प्राप्ति मे सहायक साधन है, न कि मनुष्य के संहार के लिए राक्षसी साधन।

बडे अफसोस के साथ कहना पडता है कि भारतवासियो में विशेषकर हिंदुओं मे अपने को हीन व तुच्छ समझने की भावना घर करती जा रही है। आपको अपने समाज को इस हीन भावना से मुक्त करना है। कोई कारण नहीं है कि हम अपने भूतकाल पर लज्जित हों और ससार के सामने सफाइयाँ देते फिरे। यहाँ तक कि हमे अपने वर्तमान काल पर भी ख्वाहमख्वाह लज्जित होने की कोई बात नहीं है। डेढ सदी तक हमारे देश को जिस कुप्रबध और शोषण के मार्ग मे से गुजरना पडा, उसमे से किसी दूसरे देश को गुजरना पडा होता तो उसकी हस्ती आज ससार के तख्ते से मिट चुकी होती। लेकिन, ईश्वर का धन्यवाद है और हमारी वैदिक सस्कृति और पुरातन आदर्शों का धन्यवाद है कि हम आज भी जीवित हैं। केवल जीवित ही नहीं, सामने क्षितिज पर हमारे प्यारे भारतवर्ष देश की स्वाधीनता की सुनहरी आशाकिरण झलक रही है। इसलिए गुरुकुल के नवस्नातक बधुओ ! आप उठो और कटिबद्ध हो जाओ, यह बोझ आपके सिर पर है कि आप अपने देशवासियों के हृदयों में उनकी चेतनाशक्ति के अतरतम में एक बार फिर आत्मसम्मान और आत्मगौरव का भाव सचारित कर दो और प्राणपण से उसकी रक्षा करो। आपके कुलपिता ने यही शिक्षा दी है, आपको उस पर अमल करके अपनी कुलमाता का ऋण चुकता करना है। एक बात की तरफ मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। यूरोप, अमेरिका और जापान एक और प्रलयंकर महासमर की ओर अंधे होकर भागे जा रहे हैं। पश्चिमी देशों ने जिस सभ्यता और मानव कल्पना को जन्म दिया है उसकी चिता आज उस महासमर की प्रलय ज्वालाओं में भुनी जा रही है। उस सकट में मानव-समाज एक ही प्रकार

से बच सकता है, हिंदू संस्कृति के निम्न आदर्श को स्वीकार करके—

लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु।
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग भवेत्।।

लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि पहले हम अपनी स्वाधीनता वापिस प्राप्त करें तभी हम उक्त आदर्श को समस्त मानव-समाज तक पहुँचा सकने में समर्थ हो सकते हैं। इसलिए आप सबको पहले अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करने में सहयोग प्रदान करना चाहिए। स्वराज्य केवल राजनीतिज्ञों द्वारा ही नहीं प्राप्त हो सकता। इसमे विद्वानों, अध्यापकों, समाज-सेवकों, समस्त भारतीयो को सहयोग प्रदान करना होगा। मैं गुरुकुल के सब स्नातकों को राष्ट्रनिर्माण के इस महान् कार्य मे हाथ बटाने का निमंत्रण देता हूँ।

अन्य देशों की भाँति हमारे देश में भी विचारकों का एक ऐसा दल पैदा हो गया है जो आधुनिक भौतिक सभ्यता को ही मनुष्य समाज के लिए स्वर्ग समझता है। मेरा इसमें तीव्र मतभेद है। अपनी आवश्यकताओं को निरंतर बढाते जाने का सिद्धांत प्रशंसनीय नहीं है। एक समय था जब यूरोपीय देश यह समझते थे कि भारतवर्ष, चीन व अ‾‾ पूर्वी देश तो लकड़हारा और कहारों के काम से सतुष्ट हैं हम इन देशों को अपने तैयार माल से पाट सकते हैं लेकिन अब सर्वत्र आर्थिक राष्ट्रीयता का भाव उदय हो रहा है और सब देश आर्थिक दृष्टि से स्वावलबी हो जाना चाहते हैं। विश्व अर्थ सम्मेलन आदि दुःखमय अंत का भी यही रहस्य है। अपने देश भारतवर्ष की आर्थिक समृद्धि के लिए हमें एक नए सिद्धांत का प्रचार करना है। मैं आवश्यकताएँ बढ़ाते चले जाने में विश्वास नहीं करता। यदि हम प्रत्येक भारतवासी की दैनिक आय में एक आने की भी वृद्धि कर सकें तो हम देखेंगे कि देश में तैयार माल की खपत इतनी बढ जाएगी कि क्या छोटे और क्या बडे, सब व्यवसाय मिलकर भी वर्षों तक इसकी पूर्ति नहीं कर सकेंगे। नि:संदेह हमें अपने बडे व्यवसायों का निर्माण करना है। लेकिन इससे भी अधिक छोटे व्यवसायों पर ध्यान देना है। हमें अपने ग्रामीण जीवन का पुनः संगठन करना है। यदि हम प्रत्येक ग्रामीण की आय में थोड़ा-सा भी इजाफा कर दें तो भारतवर्ष की सारी आर्थिक समस्या का खुदबखुद हल हो जाए। मैं आप सब स्नातक बघुओं का आवाहन करता हूँ कि आप इन साधारभूत समस्याओं की ओर ध्यान दें और इनका उचित हल निकालने में सहयोग प्रदान करें।

[सन् 1937]

गुरुकुल एक राष्ट्रीय संस्था है

पंडित गोविंदवल्लभ पंत

हमारी वर्तमान सरकारी शिक्षा-प्रणाली की इन्हीं बातों से खिन्न होकर स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानदजी महाराज ने आपके इस गुरुकुल की स्थापना की थी और इसके द्वारा अपनी पुरातन शिक्षा-प्रणाली को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया था। प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था को मूर्तरूप देने का इस युग में प्रथम प्रयत्न यह आपकी राष्ट्रीय संस्था है। इस संस्था में स्वामीजी ने प्राचीन भारतीय संस्कारों को, उनमे नवीन आत्मा डालकर, प्रचलित किया। इसका परिणाम भी अच्छा हुआ। यहाँ के स्नातको के विवाद चाहे अच्छे न हों, उनमें स्वार्थ त्याग की भावना स्पष्ट रूप से विद्यमान है। इन स्नातकों ने समाज के अंदर नई भावनाएँ जागृत की हैं।

हमारा भारतवर्ष 90 प्रतिशत गाँवों में रहता है। हमारी शिक्षा का वास्तविक विकास वहीं होना चाहिए, अग्रेजी शिक्षा ने गाँवों को बरबाद कर शहरों को आबाद किया है। शिक्षितो में स्वार्थ-त्याग के स्थान पर लोलुपता अधिक पाई जाती है। वे शिक्षा के उन्माद में मस्त रहते हैं। अग्रेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियो में भी ऐसे वीर और महात्मा पुरुष उत्पन्न हुए हैं जिनसे देश आगे बढा है। लेकिन ये इने-गिने हैं। यह दोष अग्रेजी पढने का नहीं है। यह दोष हमारी शिक्षा में चरित्र संगठन का उचित मात्रा में न होने का है। इस शिक्षा में बातें बताई जाती हैं, किंतु काम करने की पद्धति नहीं बताई जाती। मस्तिष्क के साथ हृदय के संस्कारों का परिष्कार कतई नहीं होता। इस शिक्षा में भी कुछ न कुछ हितकर बाते अवश्य हैं, लेकिन इनकी सत्ता काले बादलो में सफेदी की क्षीण रेखा के सदृश है।

प्रश्न यह है कि हमें क्या करना है। मैं यह नहीं चाहता कि हम कूप-मडूक हो जाएँ। हमें ढोंग-ढकोसले नहीं पैदा करने हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि हमारे यहाँ सदा सब अच्छा ही रहा है, और बाहर सब बुरा है। हम इस बात को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते कि आजकल भारी सघर्ष होते हुए भी सब देश एक-दूसरे के निकट आ रहे हैं। रेल, जहाज, वायुयान, तार, टेलीफोन, रेडियो और टेलीविजन के आविष्कारों ने मास्को, न्यूयार्क, टोकियो और लडन को हमारे नजदीक ला दिया है। स्मरण रखना चाहिए कि ज्ञान और विज्ञान सर्वत्र और सर्वदा एक हैं। सत्य और असत्य सब स्थानो पर एक-सा होता है। हमारा

इतिहास बताता है कि हम सकीर्ण नहीं रहे हैं। हम तो 'सर्वं ब्रह्ममय जगत्' के आदर्श को मानते रहे हैं। भगवान् की छटा सर्वत्र एक-सी है। हमे चाहिए कि हम हितकर बातो का अपने जीवन मे समावेश करें, चाहे वे नई ही क्यों न हों। इन सब बातों के समन्वय से हमे एक ऐसी सस्कृति तैयार करनी है, जो, न केवल हमारे लिए अपितु समस्त संसार के लिए हितकर और कल्याणकारी हो। अपने नवयुवको को शिक्षित करने के लिए हमे ऐसी पद्धति निकालनी चाहिए जिसमें पुराने त्याग और सयम के साथ आज की उच्छृखलता समन्वित हो। ये बातें हमारे व्यक्तियो और समाज दोनो मे होनी चाहिए। इस शिक्षा को पाकर हमारे नवयुवक समझे कि हमें अपने दीन और पददलित देश को उठाने का अधिकार है, औरों को भी उठाने का हमें हक है।

हमे तो अपनी विशाल जनता को शिक्षित और सुखी बनाना है। आपको आश्चर्य होगा कि हमारी वर्तमान सरकारी शिक्षा-पद्धति पर 100 वर्ष के अमल का परिणाम यह है कि 90 प्रतिशत से अधिक जनता निरक्षर है। उसे एक समय भी भरपेट खाना नसीब नहीं होता। उसे यह नहीं मालूम कि हैजे से बचने के लिए क्या उपाय किए जाते हैं। उसे जीवन के साधारण नियमो का भी ज्ञान नहीं है। क्या यह शिक्षा देश को उठा सकती है ?

मानव-समाज के दुखों को देखकर ही यह खयाल होता है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि हम दूसरो के दुख को देखकर अपनी बलि दे सके। वास्तविक सुख अपनी इद्रियो की तृष्णाओ को पूर्ण करने में नहीं है। भारतीय जनता के दुखो को हम उस पर तरस खाकर या भीख देकर दूर नहीं कर सकते। हमे उसे स्वावलबी बनाना चाहिए, ताकि वह अपने पैरो पर उठकर अपना इलाज कर सके। निर्बल को बलवान से मोर्चा लेने लायक बनाना शिक्षा का एक आवश्यक प्रयोजन है।

हमे शिक्षा मे अपनी मर्यादा को स्थान देना चाहिए। हमारे यहाँ प्राचीन काल से शिक्षा का धर्म से सबध रहा है। शिक्षा का धर्म से अगागी सबध है। लेकिन साप्रदायिकता से नहीं। शिक्षा और धर्म का विच्छेद वाछनीय नहीं है। हॉ, धर्म के बाह्य रूप को ज्यादा महत्त्व देकर उसके वास्तविक आतरिक रूप को कुचल नहीं देना चाहिए। धर्मशिक्षा के द्वारा मनुष्य के हृदय को सस्कृत करना चाहिए। मस्तिष्क के परिष्कार के लिए विद्या होनी चाहिए। मैं चाहता हूँ कि आपके गुरुकुल मे इजीनियरिंग आदि विभिन्न विद्याओ के केद्र खुले। इनके अध्यापन के लिए समस्त नवीन साधन यहाँ विद्यमान हों। यहाँ के स्नातक स्वय त्यागमय जीवन की दीक्षा लेकर देश को धनवान् बनाएँ। अपने को धनवान् बनाने की झूठी लालसा जन मे न हो। जब बाहर के ससार से अपना सबध बनाएँ तो अपने को उसका अंग समझे और यह सोचे कि उसका हित कैसे कर सकते हैं।

जब आप स्नातक लोग सेवाव्रत लेकर बाहर देश मे विचरण करेंगे तो

स्वतन्त्रता की समस्या भी फौरन सामने आएगी। आपको मालूम है कि आप परतत्र हैं, और परतंत्र ससार मे सिर नहीं उठा सकते। परतंत्र व्यक्ति ससार का क्या हित कर सकता है ? आप स्वतत्रता की उत्कट इच्छा को सदा अपने हृदय मे स्थान दिए रहो और सत्याचरण करते हुए कभी किसी से दबो नहीं। स्वतत्रता के पूर्ण विकास के लिए मैं एक और बात की तरफ भी आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। विचार-स्वातत्र्य के महत्त्व को कभी मत भूलो। अपनी बुद्धि को दूसरों की टकसाल के गुलाम मत बनाओ। उसे किसी के भी पास गिरवी मत रखो। किसी एक व्यक्ति या एक समाचारपत्र को निर्भ्रान्त रूप से अपना पथ-प्रदर्शक मत बनाओ। जो ठीक समझो, उसे करो। 'शिक्षित-अशिक्षित मे यही वास्तविक भेद है। परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि बडी वस्तु दी है। चाहे ससार विरुद्ध हो, प्रत्येक बात को इसी ज्योति की रोशनी मे परखकर और इसी कसौटी पर कसकर करो। गुरुकुल के स्नातको से मैं यही आशा करता हूँ। ससार का हित उन्होने ही किया है जिन्होने अपने स्वातत्र्य से समयानुकूल नई-नई शैलियो को प्रकट किया है। आप स्वय देख रहे हैं कि सन् 1920 मे महात्मा गाँधी ने एक नई शैली का प्रतिपादन किया। तब लोग उनके सत्य, अहिसा, असहयोग और खादी पर हँसते थे। लेकिन उनमे आत्मबल था; उन्होने अपने देश के रुख को बदल दिया और एक नई सस्कृति प्रचारित कर दी, जिसके आज इतने अनुयायी और प्रशसक हैं। ये बाते पुराने लोगो ने भी बताई थीं, लेकिन गाँधीजी ने उनका तत्त्वदर्शन करके एक नया मार्ग निकाल दिया। यह भारत देश 20 वर्ष पहले की अपेक्षा अपने को अधिक बलवान् अनुभव करता है। इसी प्रकार से बुद्ध भगवान् और ईसामसीह आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

अत मे मैं आपसे यही कहूँगा कि दलितो और निर्जीवो को उन्नत करने मे जीवन का सुख समझो। ससार को यह दिखा दो कि स्वामी श्रद्धानदजी ने समाज सेवा का जो व्रत लिया था उसी का पदानुसरण करते हुए इस गुरुकुल के स्नातक भी समाज का उपकार, सेवा और भला कर रहे हैं।

[सन् 1938]

गुरुकुल : एक प्राचीन आदर्श विश्वविद्यालय

डॉ. संपूर्णानंद

आपने गुरुकुल के द्वारा एक नया प्रयोग किया है। वर्तमान काल की व्यवस्था से प्राचीन आदर्शों को सामने रखकर एक विश्वविद्यालय चला रहे हैं। आजकल पाश्चात्य ढंग के विश्वविद्यालय होने चाहिए जैसे कि बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी है; या पुराने ढंग के गुरुकुल। यह एक विवादास्पद प्रश्न है इसीलिए वे सब लोग जो इस देश की शिक्षा में अभिरुचि रखते हैं, आपके इस प्रयोग को जिसके द्वारा आपने प्राची और प्रतीची, दर्शन और विज्ञान, के समन्वय करने का प्रयत्न किया है, उत्सुकता से देखते हैं। इस प्रयोग में कई विशेषताएँ हैं। आपने केवल साधारण बस्तियों से दूर हिंदी के माध्यम से ऊँची शिक्षा देने का आयोजन नहीं किया है। विशेष बात यह है कि आप अपने अंतेवासियों की वेशभूषा और उनकी दिनचर्या भी प्राय. वही रखते हैं जो प्राचीनकाल में थी। यह विचारणीय विषय है। साधारणत. ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम का प्रवेशद्वार होता है। ब्रह्मचारी उस जीवन के लिए अपने को सज्जित करता है जो उसे आगे चलकर बिताना है। प्राय· उसकी वेशभूषा और चर्या, उसको जिस समाज मे रहना और काम करना है, उसके अनुरूप होती है। प्राचीनकाल का ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रायः वानप्रस्थाश्रमियों के बीच में रहता था और उसका रहन-सहन उसी ढंग का था जैसाकि तत्कालीन समाज के भद्र कुलों में प्रचलित था। आज वह अवस्था नहीं। गुरुकुल के बाहर और भीतर के रहने मे बहुत बड़ा अतर है। मैं स्वय कोई सम्मति नहीं देता पर यह विचार्य है कि यह अतर कहाँ तक ठीक है। जहाँ ऐसा अंतर होता है वहाँ दो में से एक बात का डर रहता है। उन लोगों में जो विशिष्ट परिस्थिति में रक्खे जाते हैं, या तो वह मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिसे नम्रभाव (Inferiority Complex) या वह दूसरी वृत्ति जिसे श्रेष्ठभाव (Superiority Complex) कह सकते हैं। दोनो ही हानिकर हैं। पहली अवस्था में यह भ्रम हो जाता है कि लोग मुझे विचित्र, छोटा, असभ्य आदि समझते हैं। इसके परिणामस्वरूप एक विचित्र-सी सतर्कता छोटी-छोटी-सी बात पर अपने अपमान का अनुभव, साधारण आलोचना को अनुचित आक्षेप समझने की कुटेव पड़ जाती है। दूसरी अवस्था में अपने को बडा, औरो से ऊँचा समझने का स्वभाव पड जाता है। मनुष्य की प्रकृति ऐसी है कि ऐसे समाज में रहना अच्छा

लगता है और समाज में रहने के लिए समानता आवश्यक है। विलक्षणता, असमानता, विषमता खलती है, अपने ही चित्त को चुभती है। इसलिए उसके लिए कोई न कोई कारण ढूँढ़ लिया जाता है। तब जाकर शांति होती है। मूर्खों से विलक्षण रहने में ही मेरे जैसे लोगों की शोभा है, या लोग मुझको छोटा समझते हैं, मैं उनको दिखला दूँगा कि मैं उनसे छोटा नहीं हूँ, यह दोनों भाव समाज में मिल-जुलकर रहने में बाधक होते हैं। मैं आशा करता हूँ कि आप इस बात पर ध्यान रखते होंगे।

शिक्षापद्धति और शिक्षणविषय के संबंध में मैं कुछ विशेष नहीं कह सकता। आजकल कई प्रकार के विचारों में संघर्ष चल रहा है। केवल विज्ञान की शिक्षा देना श्रेयस्कर है या विज्ञान के साथ साहित्य और काव्य का भी अध्ययन होना चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को सभी मुख्य विषयों में चंचु प्रवेश कराने का प्रयत्न चाहिए या नहीं ? चुने विषयों का विशेष अध्ययन किस-किस अवस्था में होना चाहिए ? दर्शन के अध्ययन की कोई उपयोगिता है या नहीं ? यह सब उन प्रश्नों में से है जिन पर सर्वत्र विचार हो रहा है। किसी भी शिक्षणसंस्था की शक्ति असीमित नहीं है। प्रत्येक विद्यालय और विश्वविद्यालय को यह सोचना ही पड़ता है कि हम किसको पढ़ाएँ, क्या पढ़ाएँ। मैं समझता हूँ कि आप भी इन प्रश्नों पर विचार करते होंगे। आज हमारे देश में कई नए प्रयोगों की ओर ध्यान गया है। उदाहरण के लिए वर्धा-पद्धति को लीजिए। हम अपने प्रांत में भी इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। अगले वर्ष अर्थात् जुलाई से हम इस ओर आगे बढ़ना चाहते हैं। यह ठीक है कि यह प्रभाव उच्च शिक्षा पर भी पड़ेगा।

इस संबंध में मैं एक बात की ओर संकेत कर देना अनुचित नहीं समझता। यह माँग की जा रही है कि हम गुरुकुल की उपाधियों को स्वीकार कर लें। युक्त प्रांतीय सरकार के सामने यह प्रश्न है, और सारा निर्णय शीघ्र ही प्रकट होगा।

एक बहुत बड़ा प्रश्न आज शिक्षासंस्थाओं के सामने है और प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो शिक्षा के विकास के महत्त्व को समझता है, इस ओर ध्यान देना होगा। यह प्रश्न वह है कि शिक्षा के ऊपर राजनीतिक नियंत्रण कहाँ तक हो; या व्यावहारिक रूप में शिक्षा पर सरकार का कहाँ तक नियंत्रण रहना चाहिए। जहाँ तक नियंत्रण का अर्थ है हिसाब पर देखरेख रखना या यह देखना कि संस्था वही काम कर रही है जिसके लिए यह स्थापित हुई थी, यहाँ तक तो दो सम्मति हो नहीं सकती। देश की सरकार जनता की प्रतिनिधि है और उसे यह देखना ही चाहिए कि सार्वजनिक संपत्ति का अपव्यय तो नहीं होता। जो संस्थाएँ सरकार से आर्थिक सहायता पाती हैं और जो नहीं पातीं, जो रजिस्टर्ड हैं और जो नहीं हैं, जिन शिक्षणालयों की उपाधि सरकार द्वारा स्वीकृत है और जिनकी नहीं है उनको इतना अंकुश तो अपने ऊपर रखना ही होगा। शासन को यह अधिकार तो रहना ही चाहिए कि इस बात को देख सके कि जो संस्थाएँ उसकी सुव्यवस्था से लाभ उठाकर संपन्न होती हैं और अपना काम स्वच्छंदता से कर सकती हैं, वह इस स्वच्छंदता का दुरुपयोग तो

नहीं करतीं। पर आजकल नियंत्रण इसके कहीं आगे जाता है। उदाहरण के लिए आप जर्मनी की ओर दृष्टिपात करें। वहाँ नीचे से लेकर ऊपर तक सारी शिक्षा सरकार के बनाए हुए एक विशेष साँचे में ढली हुई है। सरकार इतना ही निश्चय नहीं करती कि कितने लडके पढ़े, कितने बरस तक पढ़े वरन् क्या पढे, कैसे पढे, कौन पढ़े, कौन पढाए इत्यादि भी उसी के निश्चय के अनुसार होता है। पढ़नेवाले और पढ़ानेवाले आर्य हों अर्थात् वह इतना सिद्ध कर सकें कि उनके प्रपितामह और प्रपितामही, प्रमातामह और प्रमातामही तक में कोई यहूदी नहीं था। फिर दर्शन हो या विज्ञान-साहित्य हो या कला। किसी भी पुस्तक, किसी भी पाठ से यह बात नहीं मिलनी चाहिए कि अनार्यों मुख्यतया यहूदियों से मनुष्य समाज का कभी कोई भला हुआ है। उतना ही नहीं, सारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि पढनेवालों के हृदय में आर्य दूसरे शब्दो मे जर्मनजाति के गौरव और नात्सी विचार-शैली के महत्त्व की अमिट छाप पड जाए। मैंने छोटे बच्चों को पढाने के व्याकरण, भूगोल आदि के पाठों के कुछ अवतरण देखे हैं। सब इस एक लक्ष्य को सामने रखकर लिखे गए हैं, और विश्वविद्यालय तक यही बात चली गई है। इसका कैसा प्रभाव पड सकता है उसका कुछ अनुभव हमको है। जो इतिहास लडको को अब तक पढाया गया है वह दूषित है।

उसका यह तो प्रत्यक्ष प्रभाव पडा है कि हिंदू और मुसलमान अपने को एक-दूसरे से पृथक् मानने लगे। लोगों में यह धारणा जम गई कि भारतवासी दुर्बल हैं, युद्ध मे अकुशल रहे हैं, और विदेशी शासन में ही हमको चैन और शांति प्राप्त हो सकती है, और हुई है। भारतीयो का आत्मविश्वास जाता-सा रहा। फिर जहाँ सरकार खुलकर संगठित प्रयत्न करेगी वहाँ क्या होगा। जर्मनी मे एक नए प्रकार की मनोवृत्तिवाले मनुष्य की सृष्टि हो रही है। सोचने की बात है कि यह कहाँ तक उचित है। जिन देशों मे आज डिक्टेटरशिप है उनमें तो दिन-रात उठते-बैठते यही राग अलापा जाता है कि हमारी जाति सर्वश्रेष्ठ है, उसके नैसर्गिक विशेष अधिकार हैं, हमारी ही सस्कृति जगत् मात्र के लिए कल्याणकारी है। यदि दूसरे राष्ट्र हमारी बातें सीधे से न मान लें तो हमारा कर्तव्य है कि उनसे बलात् मनवाएँ। यह धारा हमको कहाँ ले जाएगी ? इससे तो निरंतर कलह फूट पडेगा। और फिर जब सरकारी नीति के अनुसार पठन-पाठन करना होगा तब तो प्रत्येक देश का एक पृथक् आचारशास्त्र, पृथक् दर्शन, पृथक् समाज, विज्ञान होगा। ऐसी अवस्था मे सत्य का भी कोई रूप माना जाएगा, उसकी भी कोई व्याख्या होगी या नहीं। सत्य, असत्य, अच्छा, बुरा, इन सब बातो की कोई तो कसौटी होनी ही चाहिए, नहीं तो परस्पर का व्यवहार कैसे चलेगा ?

इसी से मिलता-जुलता एक दूसरा प्रश्न है। शिक्षा को कहाँ तक किसी विशेष धार्मिक विचारधारा के अनुकूल चलाना चाहिए। आप लोग यहाँ जो कुछ शिक्षा देते हैं वह सब उन विश्वासों के अधीन ही हो सकती है जो आर्यसमाज के आधारस्तभ हैं। आप श्रुति को आप्त-वाक्य मानते हैं, वह आपके लिए स्वतः प्रमाण है। और सभी

शास्त्र और सभी सिद्धांत परत: प्रमाण हैं, यदि कोई सिद्धांत आपकी श्रुति, व्याख्या के अनुसार नहीं है तो आप उसे असिद्ध और निराधार मानेंगे। ऐसी अव्यवस्था में दो बातें प्राय होती हैं। जो लोग धर्मग्रंथो का आदर, श्रद्धा नहीं वरन् परपरा के कारण करते हैं और ऐसे लोगों की ही सख्या अधिक होती भी है वह तो व्याख्या को तोड-मोडकर यह दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि हमारे धर्मग्रथो मे सभी वैज्ञानिक आविष्कार भरे पडे हैं। जो लोग अंधश्रद्धालु होते हैं या किसी गूढ राजनीतिक या अन्य अर्थ को सिद्ध करने के लिए धार्मिकता का स्वाँग भरते हैं वे विज्ञान को और वैज्ञानिक शिक्षा को ही बहिष्कृत करते हैं। पहली प्रवृत्ति धर्मग्रथों की मिट्टी खराब करती है, दूसरी प्रवृत्ति आविष्कार, खोज ज्ञान के प्रसार पर ताला चढा देती है। दोनो ही बाते बुरी हैं पर दूसरी बात तो बडी ही हानिकर है, इसने वैज्ञानिको के प्राणो की आहुतियाँ दिलवाई हैं। आज भी प्रगतिशील अमेरिका मे कई शिक्षालयो मे विकासवाद नहीं पढाया जा सकता। आश्चर्य नहीं कि हमारे यहाँ भी किसी-किसी प्रख्यात विश्वविद्यालय मे कुछ ऐसा ही प्रयत्न हो और अध्यापकों व छात्रो के धार्मिक विचारो तथा विश्वासो की परीक्षा की जाए। ऐसी बातों से अज्ञान की वृद्धि होती है और दभ तथा झूठ का बोलबाला होता है। मैं तो समझता हूँ कि ऐसा प्रयत्न होता है। विज्ञान को इस प्रकार बाँधना मूर्खता है। वैज्ञानिक के सामने यह विस्तृत जड जगत् है वह इसके दृग्विषयो को देखे, उनके तत्त्व का अन्वेषण करे, अपने सिद्धात निर्धारित करे। अवश्य ही सत्य एक होगा। विज्ञान की प्रयोगशाला का सत्य और धर्मग्रथ के पृष्ठो का सत्य पृथक् और स्वतंत्र नहीं हो सकते यदि वह धर्मग्रंथ सचमुच आप्तवाक्य हैं पर हठात् सामजस्य करना विज्ञान और धर्म दोनो के लिए बुरा है। यह आशा करनी चाहिए कि विस्तृत खोज अतर्हित सत्य को समय पाकर प्रकाशित कर देगी और उस सत्य के ज्ञान से वास्तविक धार्मिकता की पुष्टि ही होगी।

परतु जहाँ मैं यह कहता हूँ कि शिक्षा पर राजसत्ता और साप्रदायिक विचारो का हठात् बोझ न डालना चाहिए वहाँ मैं यह भी समझता हूँ कि उसको लक्ष्यहीन भी न होना चाहिए। आज शिक्षा जहाँ स्वच्छद छोड दी गई है, वहाँ लक्ष्यहीन भी है। इसका कारण यह है कि आज समाज का सारा संगठन, समाज का सारा जीवन लक्ष्यहीन है। व्यक्ति का लक्ष्य है धन कमाना, सपन्न होना। यदि ऐसा करने मे उसे दूसरो के जीवन को छिन्न-भिन्न करना पडे तो वह ऐसा नि सकोच होकर करता है। मनुष्य की उन्नति मनुष्य के शोषण पर, राष्ट्र की राष्ट्र के शोषण पर निर्भर है। प्रतियोगिता वृद्धि का मूल मत्र है। सपत्ति वेतन योग्यता का मापदंड है। इसीलिए युद्ध पर युद्ध होते हैं। सधि पर सधि टूटती है।

यदि मनुष्यो मे सस्कृति का नाम बचा रहना है, यदि हमें सभ्य जीवन बिताना है, यदि आज तक के सहस्रो प्रत्युत लाखो वर्षों के परिश्रम पर पानी नहीं फेरना है तो सामाजिक जीवन का कोई न कोई लक्ष्य स्थिर होना चाहिए। नीति, आचार, व्यापार, शासन सब उस लक्ष्य को ध्यान मे रखकर परिचालित होने चाहिए।

शिक्षा उसी लक्ष्य के अनुकूल होनी चाहिए। आज से बहुत दिन पहले, कितना पहले मैं नहीं कह सकता, आर्यों ने समाज का एक चित्र खींचा था, वह चित्र आजकल के लिए यात्तथ्येन उपयुक्त हो या न हो परंतु तत्कालीन परिस्थिति में सर्वांग सुंदर था। प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्थान था, प्रत्येक स्थान के लिए व्यक्ति था, व्यापार व्यवसाय शासन सभी इस संगठन के अधीन थे, व्यक्ति को बहुत बडी स्वतत्रता दी गई थी। उससे कोई यह नहीं पूछता था कि वह एकेश्वरवादी है, वही ईश्वरवादी है या अनीश्वरवादी है पर उसका सारा जीवन एक परिधि के भीतर था और वह परिधि थी वर्णाश्रम धर्म। आज यूरोप में एक-दूसरे लक्ष्य का उदय हुआ है। यह वह लक्ष्य है जो समाजवाद के आचार्यों, मार्क्स और एगेंल्स और लेनिन ने हमारे सामने रखा है। इसमे भी राष्ट्र की और व्यक्ति की सभी प्रवृत्तियाँ एक परिधि में लाई गई हैं। इन दोनों विचारधाराओं में एक समानता है, और वही समानता उस विजातीयता की द्योतक है जो इनको सब प्रकारों के नात्सी और फासिस्टवादों से पृथक् करती है। न तो वर्णाश्रमधर्म और न समाजवाद किसी राष्ट्र विशेष, किसी जातिविशेष की श्रीवृद्धि को अपना ध्येय मानते हैं। यह दोनो ही सार्वभौम हैं। दोनों ही अपरिग्रह, त्याग, लोक संग्रह को सभ्य जीवन का आधार मानते हैं। इस कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं पर हमको, आपको, और समस्त सभ्य जगत् को सोचना चाहिए कि हम कैसा समाज चाहते हैं, मनुष्य मनुष्य मे कैसा सबंध चाहते हैं, और फिर इस चित्र के आधार पर शिक्षा का स्वरूप होना चाहिए। यदि समाज के सामने कोई व्यापक लक्ष्य होता तो आज ऐसी दुर्व्यवस्था न देख पड़ती, ऐसे-ऐसे आविष्कारों के होते हुए भी पृथ्वी से दरिद्रता, शोषणता और विषमता न उठ सकी। विज्ञान के प्रचड पडित अपनी विद्या को धनिको के स्वार्थसाधन की सामग्री बनाने में लज्जित नहीं होते और ज्ञान तथा धनमयी जो विभूति धरातल को स्वर्गोपम बना सकती है वह नि शक होकर नरसंहार में लुटा दी जाती है। व्यक्ति और समाज का अवयव वयवीभाव किसी के सामने नहीं है। विराट् पुरुष की कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। विज्ञान विशारद् को, जो आजकल का ब्राह्मण है, यह नहीं सिखलाया गया है कि वह शासकों और धनिकों से बडा है, और समाजमात्र का गुरु, त्राता, मार्गदर्शक है। उसे उन लोगो की भाँति आचरण नहीं करना चाहिए जो, वानरमिव वाग्देवी नर्तयंति गृहे-गृहे वरन् भारती का आदर करना चाहिए, उसका सत्कार्य के लिए, जगद्धिताय ही, प्रयोग करना चाहिए अन्यथा वह देश को और समाज को भस्मसात् कर देगी। यह कहने से काम नहीं चल सकता कि व्यक्ति समाज के लिए है। क्योंकि अततोगत्वा समाज व्यक्तियों का समूह है। यह कहना भी अपर्याप्त है कि शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति का पूर्ण विकास है क्योंकि समाज के बिना व्यक्ति का जीवन अपूर्ण रहता है। व्यक्ति को तो समाज में ही अपने जीवन की सार्थकता और पूर्णता मिलती है और शिक्षा के द्वारा पूर्ण व्यक्ति और पूर्ण समाज की सृष्टि होनी चाहिए।

[सन् 1939]

आध्यात्मिक और धार्मिक शिक्षा का लक्ष्य

लोकनायक श्री माधव श्रीहरि अणे एम.एल.ए.

आध्यात्मिक और धार्मिक शिक्षा का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह व्यक्ति की अतरात्मा में व्यापक आत्मा के साथ जो कि चराचर प्रकृति का अनुद्‌भूत आदि कारण है एकत्व की भावना को जगा दे, और जीवन का मार्ग ऐसा बना दे कि वह इस महान् और पवित्र सत्ता के विचारो से सहचरित हो। शिक्षा-प्रणाली के इस भाग को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण और आवश्यक समझता हूँ। उत्पादक शक्ति के साथ मनुष्य का सबंध है और मनुष्य की प्रकृति जगत् में स्थिति का उचित विचार मानव का अपना पार्ट अदा करने के लिए आवश्यक है। यदि इस आध्यात्मिक शक्ति को उचित रूप से विकसित होने के विषय में ध्यान न दिया गया तो मानवसमाज विश्वशांति और विश्वभ्रातृत्व के लिए कोई वास्तविक प्रगति कर सकेगा इसकी बहुत कम संभावना है। शिक्षा-प्रणाली में वास्तविक धार्मिक शिक्षा के लिए उदासीनता इतनी स्पष्ट हो चुकी है कि वह उन बहुत से दोषो के लिए उत्तरदायी ठहराई जा सकती है जिन्होंने मानवीय स्थिति को शोचनीय बना दिया है, और जिनके कारण मानव इतिहास निरंतर लडाइयों और अनवरत संघर्षों से भरा पड़ा है। भारतीय ऋषियों ने मानव प्रगति के इस दृष्टिकोण के अमित मूल्य को ही नहीं आँका था, अपितु इसकी अनिवार्यता और प्रभु की दी हुई विचारो की महान् देन को भी पहचानना था। ब्रह्मचर्याश्रम के पालन के लिए शास्त्रों में लिखे हुए कठोर नियमों के पालन का ध्यान रखते हुए धार्मिक साहित्य और दार्शनिक व्यवस्थाओ के गहरे अध्ययन को वह आवश्यक समझते हैं।

निस्संदेह यह अध्ययनकाल आध्यात्मिक मानव निर्माण मे आवश्यक चरित्र सबधी उच्च तथा सूक्ष्म भावनाओ के विकास में सहायक होता है। इस तरह के मनुष्य सर्वोच्चशक्ति परमात्मा से सीधा सबध स्थापित कर और उससे एकत्व अनुभव कर वैदिक-सस्कृति में श्रद्धा लाते हैं। कम्युनिस्ट विचारक अपनी शिक्षाओं तथा अपनी सस्था द्वारा पिछले वर्षों में परमात्मा की स्थिति तथा परमात्मा के बोधक धार्मिक ज्ञान की आलोचना करते रहे हैं। वह कम्युनिस्ट विचारधारा मानव सस्कृति और सभ्यता की जडों पर कुठाराघात करेगी। परमात्मा की श्रद्धा ही इस लोक में सतत् आनद तथा समृद्धि का अनत स्रोत है, वैदिक सस्कृति यही कहती

है। यह कोरे सिद्धांत ही नहीं हैं किंतु वैदिक तथा दार्शनिक साहित्य के अध्ययन के परिणामरूप तथा ब्रह्मचर्याश्रम के नियमित जीवन व्यापक नियम हैं। वैदिक शिक्षाओं—सत्यवद धर्मचर स्वाध्यायान्मा प्रमद अर्थात् सच बोलो, धर्माचरण करो, वैदिक ज्ञान और वैदिक धर्म के प्रतिपादन करनेवाले वेद तथा शास्त्रों का अध्ययन करो—का सम्यक्तया जब तक परिपालन नहीं किया जाता, मनुष्यों की आध्यात्मिक शिक्षा की समस्या सुलझ नहीं सकती।

सज्जनो ! मैंने इस महान् गुरुकुल विश्वविद्यालय की नियमावली तथा पाठ्यविधि का अनुशीलन किया है। इसमे शिक्षा के इस पहलू पर उचित बल देकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है।

जब तक मैंने उसके अंतर्वर्ती स्थिर चैतन्य की शिक्षा के सबध मे चर्चा की है, इसके आगे मैं उसके नश्वर जड शरीर की शिक्षा के बारे मे निवेदन करूँगा। मनुष्य के शरीर की यही उपयोगिता है कि वह आत्मा का निवासस्थान है। मनुष्य के देह की उपमा उन कपडों से दी जाती है जिन्हे वह परिस्थितियों के अनुसार बदलता या उतार भी देता है। शिक्षा के जो विषय विज्ञान साहित्य या कला के शीर्षको के नीचे आते हैं उन्हे हम भौतिक शिक्षण के दायरे मे ला सकते हैं। यहाँ शिक्षा के पडितो को उन सामयिक दशाओं पर गौर करना चाहिए जिनमे मनुष्य के शरीर को जीवित रहना और उपयोगी बनना पडता है। उसे छात्रो के वैज्ञानिक शिक्षण की समस्या का उसी सावधानता से अनुशीलन करना चाहिए जिस सावधानता से एक सेनापति अपनी सेना की व्यूह-रचना की समस्या का अनुशीलन करता है। सेनापति को उन सब परिवर्तनों पर ध्यान देना पडता है जो युद्ध-प्रणाली में हो रहे हैं। शत्रु को परास्त और नष्ट करने के लिए यत्रों या अस्त्रों मे जो उन्नति हो रही है, सेनापति को उन पर भी दृष्टि रखनी पडती है और उसे बडी सावधानता से सेना के आकार-प्रकार को ऐसे ढंग से रखना पडता है कि जिससे वह जरूरत के समय काम आ सके। इस महकमे मे सिद्धातों की अपेक्षा व्यावहारिक बातो पर ही अधिक ध्यान देना पडता है। भौतिक शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह मनुष्य को उस बडे संगठन की एक अच्छी और उपयोगी इकाई बनाए, जिसका उद्देश्य अपनी जाति और उससे बढकर मनुष्य जाति की उन्नति के लिए शक्ति और युद्ध द्वारा आगे कदम उठाना है। इस कारण शिक्षाविज्ञों का कर्तव्य है कि विज्ञान और कलाओं के शिक्षण मे छात्रो को नए से नए आविष्कार और विचारों से परिचित कराने के लिए प्रत्येक सहूलियत पैदा करे। योरुप और अमरीका ने नए युग में जो आर्थिक और शिल्पसंबंधी अद्भुत उन्नति की है, उसका श्रेय मुख्यत· उन क्रियात्मक विज्ञान के विद्यार्थियों ने बडी तन्मयता और मेहनत से अपने रसक्रियाभवनों में परीक्षणों द्वारा किए हैं। इस दशा में भारतवर्ष अभी अन्य सभ्य देशों से बहुत पीछे है। यह हर्ष की बात है कि गत 25 वर्षों मे भारत के विज्ञानाचार्यों का ध्यान अपनी पिछडी हुई दशा पर गया है

और हम उन्नति की ओर कदम बढ़ा रहे हैं। परंतु यह बात भूलनी न चाहिए कि अभी हमारी गति बहुत मंद है। इसके कारण भी स्पष्ट हैं। हमारे विश्वविद्यालय के छात्रों को परीक्षण कार्य के लिए आवश्यक सहूलियतें नहीं दे सकते, वहाँ से उन्हें कोरा जवाब मिलता है। जो शिक्षा-प्रणाली अपने पाठ्यक्रम में विज्ञान को आवश्यक स्थान नहीं देती, और उसकी शिक्षा के लिए उत्तम प्रबंध नहीं करती, मैं उसे सर्वथा दोषयुक्त समझता हूँ।

मैं अभी कह चुका हूँ कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों को ऐसी सगठन योग्य और शक्तिसंपन्न इकाइयाँ बनाना है जिन्हें इस संसार के संघर्ष से जीवित रहने के लिए समूह रूप से सोचना और काम करना पडता है। वह संघर्ष कभी आर्थिक प्रतिस्पर्धा के रूप में प्रगट होता है, तो कभी सैनिक बलात्कार की शकल में सामने आता है। कभी-कभी वह मनुष्य-सेवा और धर्म-प्रचार के निर्दोष वेश में भी व्यक्त होता है। रूप कुछ हो परंतु है वह संघर्ष ही, जिससे बलवान् निर्बलों को, शिक्षित अशिक्षितों को, और धनी लोग निर्धनो को, अपने आधीन बनाना और उनके रुधिर से स्वय शक्त बनना चाहते हैं। राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों का यह निश्चित उद्देश्य होना चाहिए कि यह जाति के बालकों को इस योग्य बना दे कि वह ससार के इस प्रकार के सघर्ष में दूसरे से पछाड न खाएँ।

बराबरी की सतह पर किसी विदेशी से मेल-जोल रखना जाति के आत्मसम्मान के विरुद्ध नहीं है परंतु देर तक एक जाति का किसी दूसरी जाति की दासता में रहना नवीन जाति को कमजोर और जलील किए बिना नहीं रह सकता।

गत 50 वर्षों से भारत अपने ही ढंग से आगे बढने की चेष्टा करता रहा है। हमे यह मालूम हो गया है कि हमारी आत्मरक्षा मे असमर्थता ही उसमे वास्तविक रुकावट है। भारत में स्वशासन की स्थापना करने पर उसकी रक्षा कैसे की जा सकती है। जब यह प्रश्न एक अग्रेज द्वारा भारतीयो से पूछा जाता है तो मेरा खून क्रोध से खौल उठता है क्योंकि भारतीयो की पराजय के बाद उन्हें पूर्णतया निहत्था बनानेवाला यही है। फिर यह उसी की जिम्मेदारी, है कि भारत के पुत्र युद्ध की कला नहीं सीख सकते। लाखो-करोडो भारतीयो की क्षात्रभावना को एक शताब्दी पर्यंत निरतर कुचलने की जिम्मेदारी उसी की है। मैं भली प्रकार जानता हूँ कि जब तक भारतीय अपनी रक्षा की जिम्मेदारी स्वयं नहीं ले लेते, स्वतंत्र भारत उस समय तक स्वप्नमात्र ही है। सिद्धाततः मैं यह नहीं मानता कि अहिंसा के शस्त्रों द्वारा सब समयो मे आतरिक तथा ब्राह्य आक्रमणो से देश की रक्षा करना सभव है। कोई आत्मरक्षा के लिए भी व्यष्टि या समष्टि रूप से भी शस्त्रों का प्रयोग न करे, यह एक अव्यावहारिक और आत्महत्याकारी सिद्धांत है। इस तरह का समाज अधिक समय तक जिंदा नहीं रह सकता। बहुत वर्षों से राष्ट्र की रक्षा में समर्थ व्यक्तियों की शिक्षा की महत्ता अनुभव की जाती रही थी। मेरे आदरणीय मित्र तथा देश-गौरव डॉ मुजे द्वारा पूर्ण उत्साह तथा लग्नसम्मेलन कार्य का बीड़ा

उठाने से पहले कोई भी प्रयत्न इस दिशा में नहीं किया गया। सत्य तथा अहिंसा के मूर्तरूप से गाँव के सत श्रद्धेय महात्मा गाँधी के अनुयायी बनने का दावा करनेवाले कुछ ऐसे लोग भी हैं जो नासिक के भोंसला सैनिक विद्यालय की स्थापना पर अविश्वास की दृष्टि डालते हैं। मुझे विश्वास है कि सैनिक शिक्षणालय की स्थापना द्वारा इस देश के निवासियों की जो सेवा डॉ. मुंजे ने की है, गंभीर निरीक्षण के अनंतर देश उसे कभी अस्वीकार नहीं करेगा। भोंसला सैनिक विद्यालय की स्थापना से आधुनिक भारत के इतिहास में एक नवीन युग का प्रारंभ हुआ है। जिससे अभी से आशा भरे परिणाम प्रकट होने लगे हैं। इस समय तो हम कुछ बिखरे रूप में यह आंदोलन देखते हैं किंतु कुछ ही वर्षों में यह आदोलन शक्ति तथा सफलता प्राप्त कर लेगा।

मुझे पूर्ण आशा है कि इस महान् शिक्षा केंद्र के शिक्षाशास्त्री जो यहाँ पर वैदिक परंपराओं द्वारा नवयुवकों को उन पुरातन महान् आर्यों के योग्य उत्तराधिकारी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिन्होंने कभी समस्त विश्व में वैदिक संस्कृति की पताका फहराई थी, युवकों की सैनिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल देंगे।

गुरु द्रोणाचार्य के इस आदर्श को नवयुवकों को अपने समक्ष रखना चाहिए।

[सन् 1940]

शिक्षा में मानव-प्रेम

गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मनुष्य के मानव-प्रेम में स्वभावतः ही ज्ञान की क्षुधा रहती है। यदि हममे राजनैतिक वादप्रतिवादों के अतिरिक्त इस क्षुधा का सर्वथा अभाव हो तो भी कम से कम निष्काम ज्ञान-पिपासा ही हमें एक-दूसरे के निकट ला सकती थी। परतु, इसमें भी हम असफल ही रहे और हमें हानि उठानी पडी क्योकि ज्ञान की दुर्बलता, शक्ति की दुर्बलता की भित्ति है। जब तक हमारे मन मे भारतवर्ष का पूर्णरूप से स्पष्ट बोध नहीं हो जाता तब तक हम भारतवर्ष को उसके सत्यस्वरूप में नहीं प्राप्त कर सकते। और, जहाँ सत्य ही अपूर्ण है, वहाँ प्रेम का पूर्ण राज्य हो नहीं सकता। हमारे शिक्षण केद्रो का वरिष्ठ कार्य हमें आत्मानुशीलन में सहायता देना है, और तभी इसके साथ ही साथ, आत्म-निवेदन के लिए प्रेरणा उत्पन्न करने का दूसरा उद्देश्य भी पूर्ण हो जाएगा।

योरोप की इतनी विशाल बौद्धिकशक्ति का कारण उसकी मानसिक शक्तियों का सहयोग है। योरोप ने एक ऐसे साधन का विकास कर लिया है जिसकी सहायता से उस महाद्वीप के सब राष्ट्र एक साथ मिलकर सोच सकते हैं। विचारों की इतनी बडी संघटना अपनी गति के प्रचड प्रवाह से स्वभावत. योरोप के विचारो के सब वैयक्तिक विकारो तथा अयौक्तिकता के आतिशय्य को मिटा देती है। यह योरोप की कल्पना की उडानो को उद्दाम नहीं होने देती, और उसे उपयुक्त सीमा में रखकर शात किए रहती है। योरोप की विभिन्न विचारकिरणें एक सामान्य सस्कृति में केद्रित हो गई हैं, और यह सस्कृति योरोप के सभी विश्वविद्यालयों में पूर्णरूप से अभिव्यक्त होती है।

दूसरी ओर, भारत का चित्त विभक्त और विकीर्ण है। यहॉं कोई सामान्य मार्ग नहीं जिस पर चलकर हम इस तक पहुँच सकें। हमे बडे दुख से देखना पडता है कि हमारी मानसिक शक्तियो का निर्माण करनेवाली शास्त्रीय शिक्षा में सजीवनी-शक्ति की न्यूनता है। इन मनों द्वारा ज्ञान और सहानुभूति के सहयोग से देश के बृहत्तर मन को समुपलब्ध किया जा सकता है। हमारी शिक्षण सस्थाओ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य प्रत्येक विद्यार्थी को उसके व्यक्तित्व की उपलब्धि करने मे सहायता देना है। यह उपलब्धि ऐसी होनी चाहिए कि प्रत्येक

विद्यार्थी यह उदारतापूर्वक अनुभव कर सके कि वह व्यक्ति रूप में समूची जाति का प्रतिनिधित्व कर रहा है, और यह जानने में भी समर्थ हो सके कि इस विशाल मानव-जगत् में उत्पन्न होना उसके जीवन का महत्तम तथ्य है।

भारत में यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे भीतर जो कुछ श्रेष्ठ है उसकी अभिव्यक्ति का वह अवसर हमें नहीं मिलता जिससे संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों के साथ घनिष्ट संबध स्थापित किया जा सके। आजकल राष्ट्रों की संबंध शृंखला पारस्परिक आशंकाओं की कड़ियों से बनी होती है। इस शृंखला की दृढ़ता आतंक पर आश्रित है। परिणामत: भृकुटिविलास, भर्त्सना, तथा भयप्रदर्शन की प्रतिस्पर्द्धा में साधनो का असाधारण अपव्यय हो रहा है। राजनीति के दु:स्वप्न के तमसावृत प्रदेश में सत्य के पवित्र प्रकाश को प्रविष्ट करानेवाली कोई महती वाणी श्रुतिगोचर होने की प्रतीक्षा कर रही है। परंतु भारत में हमें अभी अवसर प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि हमारी अपनी मानवीय वाणी है जिसकी सत्य को आकाक्षा है। उस क्षेत्र में भी जहाँ हम कार्य करने के लिए आमंत्रित नहीं हैं, हमारा यह अधिकार है कि हम निर्णय करे और मानवमन का उचित दृष्टिबिंदु की ओर पथप्रदर्शन करें, तथा उसे यथार्थ के हृदय में विद्यमान आदर्शवाद की झाँकी दिलाएँ।

[सन् 1941]

शक्ति स्रोत बनो

•

आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन

विद्या-व्रत-स्नातक तरुण मित्रो,

विशाल है यह सभा। नाना देशों के ज्ञानी और गुणी विद्वजनों का यह महान् सम्मेलन है। आज ज्ञान और तपस्या का महायज्ञ यहाँ अनुष्ठित होगा। इस महायज्ञ के जो अधीश्वर हैं उनके पूर्णाभिषेक के लिए भारत के नाना दिग्देश से यहाँ अर्घ्य उपनीत हुआ है। उत्तर-पूर्व भारत की पूजा इस महायज्ञ मे उपस्थित करने का सौभाग्य लेकर मैं यहाँ आया हूँ। तथापि ऐसे-ऐसे वरेण्य सत्पुरुषों के रहते हुए मेरा जैसा अनभिज्ञ व्यक्ति किसी प्रकार का सत्कार पाने का अधिकारी नहीं है। फिर भी मेरा एक महासौभाग्य है कि मैं अवस्था में ज्येष्ठ, ज्ञान में श्रेष्ठ, भारतमाता के महाप्रतिभाशाली पुत्र महाकवि आश्रमगुरु रवींद्रनाथ का अर्घ्यपात्र वहन करके इस महायज्ञ मे उपस्थित हुआ हूँ।

मैं अपने किसी व्यक्तिगत गुण के लिए यह सम्मान नहीं पा रहा हूँ। मुझे नहीं भूलना चाहिए कि जिस महान् व्यक्ति का अर्घ्यपात्र लेकर मैं यहाँ उपस्थित हुआ हूँ उनके गुणो के कारण ही मैंने यह सम्मान पाने का अधिकार पाया है। प्रिय स्वजनो के गृह से जो दास-दासियाँ सौगात लेकर आती हैं वे अकिंचन होने पर भी सम्मान पाती हैं। प्रियजनों की वाणी ले आनेवाला मामूली कागज का टुकडा भी वरेण्य हो जाता है। फिर भी कागज, कागज ही है और उसकी कीमत उस संदेश के कारण है जो वह लेकर उपस्थित हुआ है। यहाँ रवींद्रनाथ की एक छोटी कविता मुझे याद आ रही है

रथ-यात्रा लोकारण्य महा धूमधाम,
भक्तेरा लुटाए पथे करिछे प्रणाम।
रथ भावे आमि देव, पथ भावे आमि,
मूर्ति भावे आमि देव, हासे अंतर्यामी।

अर्थात् "रथयात्रा के समय लोगो की भीड जमा हुई है, धूमधाम के साथ उत्सव मनाया जा रहा है। भक्तगण भूलुठित होकर प्रणाम कर रहे हैं। रथ सोचता है, मैं ही देवता हूँ, पथ सोचता है मैं देवता हूँ, और मूर्ति सोचती है कि वही असल देवता है। अंतर्यामी देख-देखकर हँस रहे हैं।" तो भी आप लोगो ने अगर मुझे मेरे सदेश

से भी अलग करके सम्मानित किया है तो यह आपकी महिमा और गाढ़ प्रीति का ही परिचायक है, मैं अपने को सचमुच ही उस सत्कार और सम्मान का अधिकारी समझकर उस प्रीति और महिमा को छोटा करना नहीं चाहता।

इस उपलक्ष्य में इस महातीर्थ में आने का अवसर पाकर मैं स्वयमेव धन्य हुआ हूँ। न जाने कितने दिनों से यह हरिद्वार तीर्थ और साधना का क्षेत्र है। नाना पुराणों और नाना शास्त्रों में इस क्षेत्र का माहात्म्य पुनः-पुनः उद्घोषित किया गया है। यह इतिहास आप लोग मुझसे अच्छा ही जानते हैं। बार-बार सुनी हुई उन बातों को नए सिरे से दुहराने की कोई जरूरत नहीं है। आज कार्य बहुत है, समय थोडा है।

इस तीर्थ के माहात्म्य को आपके इस गुरुकुल ने बहुत अधिक बढा दिया है। इतने दिनों से कितने ही साधकों ने यहाँ ज्ञान की साधना की है और प्राचीन साधना पीठ को नई प्राणधारा से और भी पवित्र, और भी प्राणवान तथा और भी महनीय बनाया है। उषा को ऋग्वेद (3.61.1) में 'पुरानी युवती' कहा गया है। उषा का चिरंतन सौंदर्य प्रति रात्रि के अत में मृत्यु के समान घने तिमिर सागर में स्नान करके नित्य नया जन्म धारण करके और भी मनोरम हो उठता है। अक्षय जीवन से जीवंत है, यही कारण है कि वह चिर नवीन है, पुरानी युवती है। वेदो के सनातन संदेश मे वही चिर नवीन महिमा है। आपने इस पुराने साधनापीठ मे शाश्वत वेद-वाणी को नवीन रूप मे उपलब्ध किया है। यह साधना उषा की भाँति ही पुरानी युवती है, चिर नवीनता लिए हुए है।

इस तपस्या के गुरु श्रीमत् स्वामी श्रद्धानंदजी को उनके गार्हस्थ जीवन में भी देखा है और उनकी तापस अवस्था मे भी मैंने देखा है। आज उनकी तपस्या को यहाँ मूर्तिमती देखकर ऐसा जान पड रहा है कि उनको संपूर्ण भाव से उपलब्ध कर रहा हूँ। वे आज परलोक में नहीं हैं, परिचय हुआ था, आपकी इस तपस्या में पहले से कहीं अधिक जीवित हैं। उनके साथ जो परिचय हुआ था, वह परिचय मुझे पूर्ण और सार्थक जान पडता है।

परम सत्य के दो रूप हैं, एक स्थितिशील और दूसरा गतिशील। यूरोप के विचारकों की धारणा है कि हम पूरब के रहनेवाले सत्य के स्थितिशील रूप के उपासक हैं और वे लोग गतिशील रूप के। किंतु जब मैं देखता हूँ कि वे अपने गतिशील विज्ञान की सहायता से अपनी आदिम स्थितिशील मनोवृत्तियो की ही पूजा करते हैं तो मुझे उनका भाग्य हमारी अपेक्षा बहुत आशाजनक नहीं दिखता। आदिम मानव के हाथ में जो काठ-पत्थर वगैरह अस्त्र थे वही कई गुना शक्तिशाली होकर वैज्ञानिक मशीनों के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। आगे के मनुष्यभक्षी एकाध व्यक्ति को खाया करते थे, आज एक पूरा राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को निगल रहा है। इसे 'ग्रुप कैनिबलिज्म' या सामूहिक मनुष्य भक्षण न कहें तो क्या कहें। विद्वेष और रक्तशोषण की प्रवृत्ति ने जातीयता का नाम लेकर अपने को भद्रवेशी सभ्यता के रूप में विज्ञापित किया है। इस समय अचानक उसका रूप उद्घाटित हो गया है। जो, रक्त-तृष्णा दूसरो के रक्त से इतने दिनों तक तृप्त होती रही है वह आज अपना

ही रक्त चूसने के लिए भयंकर मूर्ति धारण कर रही है। कहानियों में कभी-कभी राक्षसी सुंदरी स्त्री का रूप धारण करके राजकुमार के पास जाते सुनी गई है किंतु ज्योंही उस तोते या किसी अन्य पदार्थ पर, जिसमें कि उस (राक्षसी) का प्राण बसता है, किसी का हाथ पड़ता है त्यों ही उसकी वास्तविक राक्षसी मूर्ति अचानक प्रकट हो जाती है। यूरोप की भद्रवेशी सभ्यता का राक्षसी रूप आज विकराल भाव से फूट पड़ा है। उस सभ्यता का प्राण जिस स्वार्थपरता नामक तोते में वास करता था वह आज सुरक्षित नहीं है, इसीलिए यह विकरालता है।

मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि सारा यूरोप ऐसे स्वार्थपर लोगों से ही भरा है। वहाँ की सभ्यता में प्रधान रूप से ऐसे लोगों का बाहुल्य है जो वस्तुतः आदिम वृत्तियों के ही उपासक हैं। वैसे व्यक्तिगत रूप से वहाँ जो बड़े-बड़े साधक और तपस्वी आज भी विद्यमान हैं इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकते। किसी भी देश में सारा देश का देश तपस्या द्वारा आदर्श हो उठा है ऐसा कभी नहीं हुआ है। सर्वत्र अधिकारी भेद होता है और सच पूछिए तो इस महान् भारतवर्ष के आधुनिक अधिवासी हम सचमुच ही सात्विक वृत्ति के हैं या नहीं, इस बात की परीक्षा का मौका इस युग में अभी आया ही नहीं। उपयुक्त अवसर पाने पर हम क्या होते, कौन कह सकता है ! उस परीक्षा का समय आएगा। शीघ्र ही आएगा। उसके लिए तुम्हारे प्रवीण पुरुषो ने कुछ-कुछ तैयारी करना शुरू की है। यह सभा उसी तैयारी का रूप है।

सो इस महाक्षेत्र मे जो सब साधु सज्जन, भक्त और साधकगण पधारे हुए हैं और जिन महात्मा लोगो ने शिक्षा को ही जीवन का व्रत समझकर ग्रहण किया है, उन सबको आज प्रणाम करता हूँ।

किंतु हे स्नातकगण, तुम्हें आज इतनी जल्दी छोडने से तो काम नहीं चलेगा। ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य के संधिक्षण में तुम उपस्थित हो। तुम जब हमसे पथ-निर्देश की आशा करते हो तब तो चुप रहना सभव नहीं है।

दिन की जहाँ समाप्ति है और रात्रि का जहाँ आरभ है या फिर रात्रि की जहाँ समाप्ति है और दिन का आरभ होता है उन पवित्र संधि-क्षणो को भागवत मुहूर्त कहते हैं। तुम्हारे भी छात्र-जीवन का अवसान और उत्तर जीवन का आरंभ होने जा रहा है। इस भागवत पुण्य-क्षण में तुम्हे कुछ बताने के समय बतानेवाले के भीतर तुम्हारे प्रति एक गभीर श्रद्धा की आवश्यकता है।

देश अधकार से समाच्छन्न है और तुम्हारा दीप जल चुका है। अन्यान्य लोगों को मार्ग दिखाने का और बुझे दीपकों को जला देने का भार तुम्हारे ऊपर है। भविष्यत् युग के गुरु तुम्हीं हो। इस प्रकार तुम भी नमस्य हो।

आज की समस्या बडी जटिल है। प्राचीनकाल की समस्या शायद इतनी गुत्थियो से भरी नहीं थी। आज प्राच्य और पाश्चात्य, पुरातन और नूतन, सभी साधनाएँ और सभी समस्याएँ यहाँ आकर उपस्थित हुई हैं। इस तट-हीन, वेला-हीन महासमुद्र में तुम्हें यात्रा करनी है। भूल भ्राति की सभावना पद-पद पर है। इसीलिए

जब तुम हमारी ओर, जिन्होंने कि इन रास्तों की कठिनाई का कुछ परिचय पा लिया है, मार्ग जानने की आशा से देखते हो तो चुप रहना ठीक नहीं।

मुझे केवल अपने बता सकने की योग्यता और अधिकार के संबंध में संदेह होता है। अतीत ही भविष्य के मार्ग को निर्दिष्ट करता है। भारतीय ज्ञान-साधना के क्षेत्र में जो भूतकाल के अधीश्वर हैं वही मध्य की गति निर्देश करें। इसीलिए हम इतिहास से ही रास्ते की बात पूछ सकते हैं। हमारी संकीर्ण बुद्धि उस महा-उपदेश को बाधाग्रस्त कर सकती है। पर इतिहास हमें निश्चित सत्य की ओर इशारा कर सकता है।

जिस प्रकार मिट्टी के नाना स्तरों के जमने से डेल्टा बना करता है उसी प्रकार भारतवर्ष की सभ्यता नाना जाति की साधनाओं के एक-दूसरे पर जमने से बनी है। वैदिक आर्यों की सभ्यता, उसके पूर्व की भी द्रविड जातियों की साधना और उसके भी पूर्व की द्रविड-पूर्व जातियों की बहुत-सी चिंताएँ और साधनाएँ इस भूमि पर एकत्र हुई हैं। आगे चलकर और भी बहुत-बहुत जातियाँ यहाँ आती रही हैं और भारतीय साधना-यज्ञ में अपनी-अपनी आहुति देती रही हैं। अमेरिका और आस्ट्रेलिया में जिस प्रकार समूची की समूची पुरानी जातियों को साफ करके जातीय एकता की प्रतिष्ठा की गई है वैसा कभी इस देश में नहीं हुआ। यहाँ किसी जाति ने दूसरी किसी जाति के उच्छेद की बात नहीं सोची। आज हम जिस रूप में दिखाई दे रहे हैं उसमें उन आर्य-अनार्य बहुविध जातियो की देन है। हमारी सभ्यता नाना जाति की साधनाओं के सम्मिश्रण का फल है।

पुराने आर्य जिनकी शिक्षा का क्षेत्र यज्ञभूमि थी, बीच-बीच में बडे-बडे सम्मेलनों में एकत्र होते। ये ही विशेष-विशेष महायज्ञ कहे जाते थे। महायज्ञ बहुत कुछ आज के कॉन्फरेंसों और कांग्रेसो के समान थे। इन यज्ञो के समय निर्णय को आश्रय करके ही भारतीय ज्योतिष विज्ञान समृद्ध हो उठा था।

यहाँ मैं आपको ऐतरेय महीदास का उपाख्यान स्मरण कराना चाहता हूँ। महीदास के पिता की दो पत्नियाँ थीं—एक ब्राह्मणी, दूसरी इतरा या शूद्रा। यज्ञ के समय उन्होंने अपनी ब्राह्मणी पत्नी से उत्पन्न पुत्र को तो शिक्षा दी, लेकिन शूद्रा गर्भ से उत्पन्न महीदास को नहीं। महीदास ने दुखित होकर माता को अपना दुख बताया। वे बोलीं—हम मही (=पृथ्वी) की सतान हैं, मही के सिवा हमारा कौन है ? माता के स्तव से मही देवी आविर्भूत होकर महीदास को अपने घर ले गईं और जगत् के गंभीरतम ज्ञान की शिक्षा देने लगीं। मही का शिष्य होने के कारण ही मही दास महीदास हुए और चूँकि इतरा या शूद्रा के पुत्र थे इसलिए ऐतरेय कहलाए। इन्हीं का रचित ब्राह्मण ऋग्वेद का सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण है।

अथर्ववेद के बारहवें कांड के आरभ में ही महीसूक्त है। यहॉ ऋषि पृथ्वी की स्तुति करते हैं, स्वर्ग की नहीं। इसी वेद के दसवें कांड का द्वितीय सूक्त और ग्यारहवें काड का अष्टम सूक्त नृसूक्त है जो अपनी अपूर्व महिमा के कारण मनीषियों को मुग्ध किए हुए हैं।

तपोवन प्रकृति और मनुष्य का सच्चा सम्मेलन है। मही के समान दूसरा कोई गुरु नहीं है। प्रकृति के निकट जो शिक्षा मिलती है वही सच्ची और गभीर होती है। प्रकृति माता की गोद में बैठकर जहाँ सचमुच का मनुष्य गुरु के आसन पर आसीन होता है वह तपोवन ही शिक्षा का आदर्श साधना-पीठ है। भारत के इस प्राचीन आदर्श को सामने रखकर कविवर रवींद्रनाथ ने शांति-निकेतन आश्रम की स्थापना की थी। भारत के तपोवन एक दिन मानव-गुरु के ध्यान से और प्रकृति-गुरु के रस से परिपूर्ण होकर शिक्षा के उत्तम क्षेत्र हो सके थे। आज हमारे बालक इस आनंदमय ज्ञान की गोद से परिभ्रष्ट हैं।

प्राचीन भारतीय ऋषियों ने जीवन की सर्वाख्याओं मे सामजस्य विधान करके ही चतुराश्रम की प्रतिष्ठा की थी। गार्हस्थ्य आश्रम के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम शिक्षा काल है और संन्यास आश्रम के लिए है वानप्रस्थ। ब्रह्मचर्य साधना का क्षेत्र ही तपोवन है। इस ब्रह्मचर्य का एक सुदर वर्णन अथर्ववेद के ग्यारहवें काड के सप्तम सूक्त में है। यह कोई सकीर्ण जीवनचर्या नहीं है बल्कि समस्त क्षेत्रो में और समस्त दिशाओं मे इसकी साधना है। इसमें स्त्रियाँ दूर नहीं रखी गई हैं। उनका भी इसमे स्थान है (11.7.18)। कहा गया है कि राजा की राष्ट्र-तपस्या भी ब्रह्मचर्य है, ब्रह्मचारी ही पृथ्वी का चालक है, वही धरती की प्रतिष्ठा है, वही तपस्या से आचार्य को पूर्ण करता है, वही सारे लोक को अपूर्णता से बचाता है।

मध्ययुग के ज्ञान का इतिहास गुरु-शिष्य के सबध का ही इतिहास है। आज जब तुम लोग गुरु और शिष्य के सधिपीठ पर उपविष्ट हो, तुमसे कई भावी युग के गुरु बनोगे, ऐसी हालत मे उन पुरातन गुरुओ का इतिहास तुम्हें जानना चाहिए।

हमारे देश में यह विश्वास किया जाता है कि मानव जन्म अत्यत दुर्लभ है। महान् आदर्शों और विशाल सत्य को उपलब्ध करने के लिए मनुष्य शरीर से बढकर दूसरा साधन नहीं है। इस देह को हमें लापरवाही मे नष्ट नहीं कर देना चाहिए इसीलिए कठोपनिषद् ने कहा है

पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः। (1.3 11)

मनुष्य ही समस्त कर्म तपस्या, ब्रह्म और परम अमृत है, सक्षेप मे मनुष्य ही सारा विश्व है। नाना मिथ्या के जजाल से वह मनुष्य समाच्छन्न है उसे जो पहचान ले सकता है वह अविद्या के बधन से मुक्त होता है

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद् यो वेद निहितं गुहाया सोऽविद्याग्रंथि
विकिरतीह सोम्य।—मुण्डकोपनिषद् 2.1.10

मानव का स्वरूप विराट् है, विश्व ब्रह्मांड इस मनुष्य मे ही मूर्तिमान् हुआ है, सर्व समुद्र का निरतर विराट् आलोड़न इस मानव की नाड़ी में ही नित्य प्रतिस्पदित होता है :

समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेधि समाहिताः ।—अथर्व. 10.7.15

इस मानव में जिसने ब्रह्म को प्रत्यक्ष किया है उसी ने उसके परमोत्तम परमेष्ठी स्वरूप को उपलब्ध किया है :

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।—अथर्व. 10.7.17

मानव के इस विराट् स्वरूप की यथायोग्य उपलब्धि और सम्मान अब भी नहीं हुआ। मैंने सोचा था कि ज्ञान-विज्ञान से दृप्त पाश्चात्य सभ्यता में इस स्वरूप की उपलब्धि होगी। अतत. पश्चिमी विचारकों ने दावा कुछ इसी प्रकार का किया था। निस्सदेह उनमें यह योग्यता भी थी, क्योंकि उनके धर्म मत से मनुष्य ईश्वर का ही रूप है और मानव पुत्र यीशु के द्वारा ही उनकी उपासना होती है। किंतु आज की इस मारामारी और छीनाझपटी को देखता हूँ तो निराश होना पडता है, यह आशा भी धूलिसात् होती दिख रही है। इस महासत्य को व्यक्तिगत भाव से जिन्होंने उपलब्ध किया है ऐसे अनेक मनुष्य यूरोप में आज भी हैं। परतु वहाँ की जनता उन्मत्त है, उनके कान बहरे हो गए हैं। इसलिए इस सत्य की सुनवाई अब उस देश में हो सकेगी ऐसी संभावना नहीं है। हम लोग यद्यपि मुँह से कहते रहते हैं कि 'यत्र जीव तत्र शिव' किंतु तो भी यह सत्य क्या सचमुच हमारे भीतर यथार्थ स्थान पा सका है ? इतनी बडी मारामारी, काटाकाटी की सामर्थ्य हममें नहीं है और इसीलिए हम इस मारामारी में जुट नहीं गए। कौन जानता है उपयुक्त अवसर मिलने पर हमारा कैसा बीभत्स रूप प्रकट हो जाता ! कुछ भी शक्ति न होने पर भी अस्पृश्यता के मामले में हमने अपनी जैसी हिंसा-पटुता प्रदर्शित की है वही सारे जगत् को स्तब्ध कर देने के लिए काफी है।

तो भी मानवगत यह महासत्य हमारे ऋषियों के निकट उद्भासित हुआ था। हम यदि इस मानवोपलब्धि को साक्षात् कर सके तभी भारतवर्ष के प्राचीन सत्य द्रष्टा ऋषिगण प्रसन्न और तृप्त होंगे।

इस महातपस्या का पथ दिखाएगा कौन ? यहाँ भी मनुष्य के माहात्म्य की बात ही स्मरण करना होगी। बुद्धदेव सदा ही कहा करते थे कि दूसरों पर अवलबित मत हो, खुद अपने-आपको दीपक बनाओ—"आत्म-दीपो भव।" उपनिषदे भी यही बात कहती हैं। मनुष्य तो विज्ञानमय है फिर चिंता किस बात की है (बृहदारण्यक 2.1.11) मानव ही तो स्वयज्योति है (बृहदा. 4.3.9)।

तुम्हारे भीतर जो विज्ञानमय परम ज्योति विद्यमान है उसे आवाहन करके उद्बोधित करो। अतरस्थित महागुरु के सिवा ऐसा और कोई दूसरा नहीं है जो यह महा आलोक दे सके। मानव के भीतर जो चिन्मय वेद है एकमात्र उसी के द्वारा परिपूर्ण सत्य की उपलब्धि हो सकती है। विश्व चराचर में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उस अंतर-वेद के लिए अगम्य हो। इतिहास-उपनिषद् में कहा गया है कि ऋक् मंत्र अगर तुमने जाना है तो अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि तुमने

देवताओं का रहस्य जान लिया है, यजुर्वेद अगर तुमने जाना है तो यज्ञों का रहस्य ही समझा, साममंत्र की जानकारी प्राप्त की तो माना कि और भी सबकुछ जान गए हो परंतु मानव की अतरात्मा के अंदर वेद है, उसे तुमने जाना है तभी ब्रह्म को जाना है

ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्
यजूंषि यो वेद स वेद यज्ञम्।
सामानि यो वेद स वेद सर्वम्
यो मानसं वेद स वेद ब्रह्म। —आडियार पब्लिकेशन, पृ 11

साधना के द्वारा अपने अंतःस्थित चिन्मय ज्योति को उद्भासित करके परम सत्य को जानो, जाग्रत् होओ। जाग्रत् न होने से ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता और न उनकी सेवा की जा सकती है। ये जो सब पुरोहित ब्राह्मणो के निद्रा-मग्न दल हैं उनके समान निद्रित होने से काम नहीं चलेगा ·

मोषु ब्रह्मेव तंद्रयुर्भव —ऋग 8.92.30

उद्यमी और जाग्रत् लोग ही धन्य हैं, निद्रालु और अवसादग्रस्त नहीं। अतद्र उत्साहशील लोग ही आनदलोक के अधिकारी हैं। क्योकि ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा गया है कि देवता उसी के साथ-साथ चलते हैं जो अग्रसर होकर चल पड़ा है .

इन्द्र इच्चरत सखा —7.15.1

पाप-पुण्य की समस्याओ को लेकर ही उपदेशको के दल व्यस्त रहते हैं, ऐसे अवसरो के लिए ऐतरेय ब्राह्मण का सदेश है कि बढे चलो, तुम्हारा पाप तुम्हारे चलने के मार्ग मे स्वयमेव हतवीर्य होकर सो रहेगा

शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः। —ऐत 7.15 2

हम कह सकते हैं कि हम दुर्भाग्यग्रस्त हैं, हम क्या इस मत्र की साधना कर सकते हैं ? ऐतरेय ने इस आपत्ति का दृढ कठ से प्रतिवाद किया है। भाग्य है क्या वस्तु ? जो बैठा रहता है उसका भाग्य भी बैठा रहता है, जो उठ खडा होता है उसका भाग्य भी उठ खडा होता है, जो सोया पड़ा रहता है उसका भाग्य भी सोया पडा रहता है। जो अग्रसर होता है उसका भाग्य भी अग्रसर होता है। इसीलिए आगे बढो—आगे बढो

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः।।
चरैवेति–चरैवेति। —ऐत. 7.15.3

यह कहना बेकार है कि इस कलियुग में यह बातें नहीं हो सकतीं। क्योंकि ऐतरेय

ने कहा है कि सो रहने को ही कलियुग कहते हैं। निद्रा छोडकर जग पडना ही द्वापर है, उठ खड़ा होना ही त्रेता है और अग्रसर होना ही सत्युग है। अतः आगे बढ़ो—आगे बढो।

कलि· शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापर·
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्।
चरैवेति—चरैवेति। —ऐत. 7.15.4

शक्ति के अभाव की चिंता कभी न करना। सारे ससार को आलोक वितरण करनेवाले सूर्य को कभी क्या आलोक का अभाव अनुभव हुआ है ? ज्यों-ज्यो वह आलोक वितरित करता हुआ आगे बढता गया है त्यो-त्यो उसका आलोक-भाडार पूर्ण होता गया है।

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्। —ऐत. 7.15.5

मैं नहीं जानता कि ऐतरेय ब्राह्मण के इस 'चरैवेति' मत्र से अधिक गतिशील और शक्तिशाली मत्र जगत् के किसी अन्य जाति के शास्त्र में है या नहीं। हे तरुण मित्रो, जीवन मे जब कभी तुम्हें अवसाद अनुभव हो, तुम इस मत्र को जरूर याद करना, तुम जरूर नई शक्ति अनुभव करोगे।

जब तक हम बैठे रहते हैं तब तक आगे और पीछे का भेद बिलकुल ही नहीं मिटता। चलने के द्वारा ही हम अतीत और अनागत को, भूत और भविष्य को, एक कर सकते हैं। काल के साथ काल का और स्थान के साथ स्थान का यह जो योग है उसे ही अग्रेजी में Synthesis, और हम लोग 'योग' कहते हैं। हमारे देश मे समस्त साधनाओं मे श्रेष्ठ साधना योग की साधना है।

जगत् मे एक बडी भारी सकीर्णता है। प्राचीन वर्तमान को स्वीकार नहीं करता और वर्तमान भी अतीत की उपेक्षा करना चाहता है। कोई नहीं समझता कि एक के बिना दूसरा पगु और अर्थहीन है। आधुनिक लोगो का कहना है कि प्राचीन मे केवल आचार-विचार है, सयम है, Control और डिसिप्लिन है। उसमे गति नहीं है। प्राचीन गण कहते हैं, आधुनिकता मे सिर्फ गति ही गति है, सयम नहीं है। इसीलिए यूरोप ने गतिशील विज्ञान का सहारा लेकर संयमशील धर्म को छोड दिया। किंतु आज जब विज्ञान की हिस्र राक्षसी मूर्ति प्रकट हुई है तब यूरोप को कौन बचाएगा ? हमारे इस देश की दुर्गति दूसरी तरह की है। हमने सयमशील धर्म को पकडकर, गतिशील ज्ञान-विज्ञान को छोडकर अवसादग्रस्त हो मृतप्राय बने हुए हैं। इसका मतलब क्या है ?

असल मे अध-पंगु न्याय से दोनों का योग आवश्यक है। घोडे को छोड देने से लगाम निरर्थक है और लगाम के बिना घोडा भयंकर है। पतवार के बिना कौन समुद्र में डोंगी छोडने का साहस कर सकता है और जहाज को छोडकर पतवार

पकड़े रहने में ही कौन-सी बुद्धिमानी है! संस्कृत के दग्ध रथाश्व न्याय में यही बात कही गई है।

हमारे देश में शास्त्र और आचार में प्राप्त जो संयम है वह हमारे भविष्य के मार्ग में हमारा सहायक हो और चलने के द्वारा हम उस संयम और आचार को सार्थक करें।

साधना के दो महाक्षेत्र हैं—देश और काल। देश (स्थान) में जो चर और अचर है वही काल में भूत और भव्य है। ये दोनों ही एक ही परम देवता के दो रूप हैं। उनमें तो कोई विरोध नहीं है। बृहदारण्यक में इसीलिए कहा गया है—ईशानं भूतभव्यस्य (4.4.15)। कठोपनिषद् (2.4.5) में भी यही बात कही गई है और शतपथ ब्राह्मण (24.72.18) में भी इसी सत्य की प्रतिध्वनि है। अथर्ववेद (13.3.7) में परम देवता को 'भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पति.' कहकर स्मरण किया गया है। वस्तुतः परम देवता के इन दोनों रूपों में कोई विरोध नहीं है। फिर भी हममें से कुछ लोग भूतोपासना पुरातन-पंथी और कुछ लोग भविष्यत् या भव्य के उपासक नूतनपथी बनकर एक अजीब टंटा खडा कर देते हैं। अतीत काल मे जो पुरातन-पथी के स्थाणु या भूतनाथ हैं वही भविष्यत् के नूतन-पथी के भव्य-ईशान या भावी काल के चालक हैं।

हमारे देश में जो उनके एक स्वरूप को छोडकर अन्य स्वरूप की पूजा करते हैं वे पूजा के बहाने उस परम देवता का अपमान करते हैं। अथर्ववेद में कहा गया है कि एक ही यज्ञ से भूत और भव्य ये दोनों रूप दिखाई देते हैं—स यज्ञ. प्रथमो भूतो भव्यो अजायत (13.1.55)। उसी से यह सबकुछ उत्पन्न हुआ है—तस्माद्ध यज्ञ इदं सर्वम्। साधारण जगत् में भी देखते हैं कि कल, आज और आगामी कल में कहीं विरोध नहीं है। गत के ऊपर ही आगत की प्रतिष्ठा है और आगत के ऊपर आगामी की प्रतिष्ठा है ·

> *असति सत् प्रतिष्ठितम्, सति भूत प्रतिष्ठितम्।*
> *भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्।।* —अथर्व. 17.1.19

इसीलिए ऋषि ने कहा है, तुम्हीं भूत हो, तुम्हीं भक्त—भूतमसि भवदसि (कौशिक सूत्र 92-13)। भविष्यत् से वियुक्त करके भूत को वे नहीं देखते। साममत्र ब्राह्मण का कहना है कि भूत को भविष्यत् के साथ जोड़कर देखना चाहिए—भूत भविष्यता सह (2.4.10)। जैमिनीय ब्राह्मण (2.72) में भी यही बात कही गई है। इसीलिए उन्होंने भूत और भविष्यत् को एक साथ आवाहन किया है—'भूताय त्वा भव्याय त्वा' (मैत्रायणी ब्रा. 1.3.35) और भुवे त्वा भव्याय त्वा भविष्यते त्वा (तैत्तिरीय संहिता 7.1.12.1)। शतपथ ब्राह्मण ने भूत और भविष्यत् की स्तुति एक साथ की है—भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि (10.4.1.9)।

भूत और भविष्यत् दोनों के मिलने से जो परम सत्य है उसी की आराधना

यदि कर सकें तभी हमें अभय मिल सकता है।—भूतं भविष्यद्भयं विश्वमस्तु मे (आश्वलायन गृह्यसूत्र 2.4.14)।

इस पूर्णता का जो अंश छोड दिया जाएगा उसी ओर से मृत्युबाण आएगा, जिस प्रकार कहानी के एक ऑखवाले मृग के पास आया था। भारतवर्ष ने जिस दिन भूत की उपासना में संलग्न होकर भव्य की उपेक्षा शुरू की उसी दिन उस भव्य की ओर से ही उसके पास मृत्यु-बाण उपस्थित हुआ। इसीलिए जो साधना परिपूर्ण है उसमें नवीन और पुरातन का कोई द्वंद्व नहीं है, इनमे कहीं विरोध नहीं है। पुरातन की दुहाई देकर हम यदि नूतन को स्वीकार न करें तभी उस साधना का विनिपात होता है। दक्ष-यज्ञ की कथा मे इसी सत्य की घोषणा की गई है। इसी तरह पुरातन को त्यागकर नूतन को भी नहीं ग्रहण किया जा सकता। एक ही देवता के दो स्वरूप हैं। इन दोनो स्वरूपो के साधक यदि परस्पर विवाद करे तो कल्याण कहाँ है ? जहाज जब समुद्र के मझधार मे हो और उसी समय उसके तख्ते आपस मे लडकर अलग-अलग हो जाएँ तो 'महती विनष्टि' के सिवा क्या हाथ आ सकता है ? इसीलिए आश्वलायन गृह्य सूत्र में कहा है कि भूत और भविष्य दोनो मिलकर हमारा कल्याण करे—'भूतं भविष्युतभद्र मस्तु मे। अथर्ववेद मे यह महत्त्वपूर्ण वाक्य कहा गया है कि हम भूत के द्वारा भी रक्षित रहे और भविष्यत् के द्वारा भी—भूतेन गुप्तो भव्येन चाह (17.1.29)। इसीलिए स्थितिशील (Static) और गतिशील (Dynamic) वस्तुओं मे असल मे कोई विरोध नहीं है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। समुद्र में चलता हुआ जहाज जब दिड्मूढ होता है तो चलते हुए बादल उसकी सहायता नहीं करते, उसे अचल ध्रुव नक्षत्र ही मार्ग दिखाता है। तुम्हारी साधना मे शिव और शक्ति का यह योग बराबर बना रहना चाहिए ताकि वह साधना सार्थक हो सके।

यह व्रत विराट् है, दुरूह है। किंतु भय की कोई बात नहीं। तुमने अपने योग्य गुरुओं से योग्य शिक्षा पाई है और समस्त अतीत का ज्ञान भाडार तुम्हारे अतर मे संचालित होकर तुम्हें चालित करेगा। और भी दो गुरु तुम्हारे अत्यत निकट सदा वर्तमान हैं। एक स्थाणु गुरु हिमालय, दूसरा जगम गुरु गगा। इन दोनों गुरुओं की दीक्षा यदि तुम समन्वित कर सको तभी तुम्हारी दीक्षा पूर्ण होगी।

नील नदी जिस प्रकार मिश्र का प्राण है उसी प्रकार गंगा भारतवर्ष का प्राण है। माँ से हमने देह पाया है, प्राण पाए हैं—माता गुरु की भी गुरु है। गगा से हमारे इस देश ने काया पाई है और आज भी इस माता का स्तन्यपान करके जी रहा है। अचल अटल हिमालय ने हमे ध्यान की दीक्षा दी है। और गंगा देती हैं प्रेम और सेवा की दीक्षा। अटल ध्यान के साथ जब नित्य सेवा का मिलन होगा तभी हमारी मुक्ति होगी।

वृक्ष मे इन दो साधनाओं का आश्चर्यजनक समन्वय है। उसका मूल स्तब्ध होकर लोक लोचन के अतस्तल में अतल के रस को आत्मसात् करता है और

उसकी शाखा और पल्लव, फूल और फल, छाया और शीतलता प्रतिदिन प्राणिमात्र की सेवा में लगे हैं। इन दोनों में कहीं भी तो विरोध नहीं है। परम सत्य ने अपने को दो भाव से प्रकाश किया था—द्वेधा पातयत्। इसीलिए साधक को भी परिपूर्ण साधना के लिए इन दोनों भावों को स्वीकार करना होगा।

गंगा के तीर पर बड़े-बड़े नगर, राज्य-साम्राज्य इतिहास, ज्ञानसाधना सब जाग्रत् हो गए हैं। मानव-मानव के बीच गगा ने योग स्थापन किया है, जहाँ प्राण-दैन्य है वहाँ इस गगा ने प्राण संचार किया है। गगा की धारा पकडे हुए समुद्र में जाओ, सारे विश्व के साथ तुम्हारा योग स्थापित हो जाएगा। इसीलिए गगा परम-मुक्तिदात्री हैं। इसके तीर पर ही जितने तीर्थ हैं, देवालय हैं, आश्रम हैं। इस प्रकार की प्राणमयी गतिशील दीक्षा और कौन गुरु दे सकता है।

देवालय का द्वार बंद करके पडे और पुरोहित अपना व्यवसाय चलाते हैं, पर गगा का द्वार कौन बद कर सकता है ? धनी, दरिद्र, ऊँच, नीच सबके लिए इस महागुरु का द्वार सदा उन्मुक्त है। इस गुरु के यहाँ वर्ग-भेद नहीं है। उच्च नीच सभी इसके यहाँ स्थान पाते हैं और इससे प्राणमयी दीक्षा पाते हैं।

गगा से एक और भी अपूर्व शिक्षा लेनी है। सर्व जीव की सेवा मे दिन-रात लगी रहने पर भी गगा एक क्षण के लिए असीम समुद्र की ओर जानेवाली अपनी यात्रा भूलती नहीं। उसका दिन भर का कर्म उसके नित्य कर्तव्य का प्रतिद्वद्वी नहीं होता। उसके प्रात्यहिक और शाश्वत कर्तव्य में कहीं भी विरोध नहीं है। ऐसा हो कि तुम्हारी साधना भी प्रात्यहिक कर्तव्य को तुच्छ न करे और सांसारिक आदर्श तुम्हारे शाश्वत कर्तव्य को उपहास योग्य न समझे। मनुष्य के भीतर ही प्रात्यहिक और शाश्वत साधना में विरोध की बात उठाई जाती है। पर सारी सृष्टि इस बात की साक्षी है कि यह विरोध गलत है। पृथ्वी एक ही साथ अपनी दैनिक और वार्षिक गति से चल रही हैं। कर्म और पूजा मे जो कहीं भी विरोध नहीं है, यह शिक्षा गगा तुम्हें देगी।

समस्त जीव-जंतु और लोकालय को तृप्त करने के बाद जो कुछ बाकी रह जाता है उसे ही लेकर गगा असीम के प्रति अपनी श्रद्धाजलि लेकर चल पडती है। इस अपूर्व पूजा की गुरु गगा है। क्षुद्र गुरु लोग कहा करते हैं, देवता को उच्छिष्ट नहीं देना चाहिए, किंतु महागुरु गगा कहती हैं कि सबको तृप्त कर लेने के बाद जो कुछ बच रहे उसी से अनत की पूजा होती है। इसी बात को रवींद्रनाथ ने कहा है

सबारे बंचित करि, तब पूजा नहे। —नैवेद्य 44

सबको वचित करके तुम्हारी पूजा नहीं हो सकती !

अन्य को अपवित्र और अस्पृश्य बनाकर ही हमारी पवित्रता निभती है, गगा की महिमा यह है कि वे सबको पवित्र करती हैं—इसीलिए तो वे पतितपावनी हैं। जो कोई भी धारा, चाहे वह जितनी भी मलिन क्यो न हो, एक बार गगा मे आकर

मिलते ही पवित्र हो जाती है। हमारी इस सामाजिक दुर्गति के दिनों में हम क्या गंगा की इस महत्त्वपूर्ण शिक्षा को ग्रहण करने में असमर्थ ही रहेंगे ?

सबकी पूजित यह दिव्य धारा गंगा हैं, किंतु सबसे नम्र, सबके निकट विनीत हैं—पैरों के नीचे से ही बही जा रही है। निम्नतम धारा को वहन करके वह चली हैं, इसीलिए प्रत्येक धारा उन्हीं में आकर मिल गई है। और इसका फल यह हुआ है अपनी साधना के मार्ग में गंगा जितनी ही अग्रसर होती गई हैं, उतनी ही पुष्ट होती गई हैं। उतनी ही गंभीर होती गई हैं। तुम भी यह शिक्षा ग्रहण करो। नम्र होओ, निरभिमान बनो सब प्रकार के अहंकार त्याग करो। तभी तुम्हारी साधना दिन-दिन शक्तिशाली होगी। भूल न जाना कि जो सर्व चराचर के गुरु हैं वही पृथ्वी बनकर हम सभी के पैरों तले पडी हुई हैं, हमारी प्रतिष्ठा बनी हुई हैं।

कैसा अपूर्व प्रेम है इस गंगा का। पितृ गृह हिमालय में उनमें जैसी शीतलता थी, वैसी ही निर्मलता भी थी। अधम संतानों के प्रेम में उन्होंने उनका सारा ताप, सारा मालिन्य अंगीकार किया और उन्हें पवित्र बनाया, निर्मल बनाया। कब वह दिन आएगा जब हम लोग यह शिक्षा ग्रहण करेंगे ? जो सात्विकता और शुचिता इस संसार के सर्व जीवों की दुःख दुर्गति मलिनता दूर करने में कुंठित होती हैं वह तो एक आध्यात्मिक विलासिता ही है। इस आदर्शगत विलासिता से गगा हमें मुक्ति-दान करें।

इस प्रकार के जीवंत महागुरु के तीर पर बैठकर तुमने दिन-रात साधना की है, यह तपस्या यदि तुम्हारे जीवन में सत्य नहीं हुई तो फिर कैसे तुम यथार्थ स्नातक हो सकोगे ? तुम्हारी असली गुरु-दक्षिणा ही तो बाकी रह गई।

पहले ऐतरेय ब्राह्मण की कथा सुना आया हूँ। इस ऐतरेय महीदास की शिक्षादात्री गुरु मही या पृथ्वी थीं। मही की शिक्षा पाकर उनकी वाणी में इतनी गंभीरता और शक्ति आई थी। क्योंकि मही (Soil) में ही सारी शक्ति निहित है। जितने विज्ञान हैं; जितने शिल्प हैं सबका आश्रय यह मही या पृथ्वी ही है। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में ऋषि की ध्यानमय तपस्या और मही माता की सेवामयी और शक्तिमयी शिक्षा की दो धाराएँ युक्त वेणी की भाँति प्रवाहित हैं। ईशोपनिषद् में कहा है विद्या और अविद्या दोनों युक्त न होने पर सत्य नहीं होता, इस ऐतरेय में दोनों ही युक्त हो सके थे इसीलिए वे परिपूर्ण संस्कृति की बात कह सके थे। पहले ही 'चरैवेति' मत्र में हमने इसकी गतिशील प्रवृत्ति का अंदाजा पा लिया है। कला या शिल्प के सबंध में इसीलिए वे एक उदार और महती दृष्टि दे सके थे।

शिल्प के मर्म की कहानी ऐतरेय ने इस सुंदरता से विवृत की है कि वह किसी भी काल में और किसी भी देश में पुरानी नहीं हो सकती।

"हमारे शिल्प के द्वारा उस देवशिल्प का ही स्तवगान किया जाता है। उस देवशिल्प के द्वारा हमारे सभी शिल्प Inspired हैं अर्थात् देवशिल्प की ही अनुकृति हैं :

शिल्पानि शंसन्ति देव शिल्पानेतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते।

जिन्होंने यह रहस्य समझा है वे ही शिल्प या कला के वास्तविक मर्म को जानते हैं.

शिल्पं हास्मिन्नधिगम्यते य एवं वेद।

यज्ञ का फल तो हम जानते हैं, किंतु जो पूजा शिल्प के द्वारा होती है उसका फल क्या है ? उसके द्वारा क्या हम स्वर्ग पाते हैं ? ऐतरेय कहते हैं, नहीं, यह बात नहीं है। शिल्प अपने को ही संस्कृत करने के लिए है :

आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि।

जिसने यह संस्कृति पाई है उसने अपने को विश्व के छंद के साथ एक छद में बाँध रखा है अर्थात् उसने अपने को विश्व छंद से छंदोमय बनाया है :

छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते। —ऐत. 6.5.1

शिल्प या कला के संबंध में इससे बड़ी बात कहीं के आधुनिकतम शास्त्र में देखी है, ऐसा याद नहीं आता। इन सब वाणियों को हम आधुनिक नहीं कह सकते क्योंकि आज जो आधुनिक है वह कल जीर्ण और पुरातन हो जाता है। ये वाणियाँ शाश्वत हैं, सनातन हैं, Eternal हैं, जिसे ऋग्वेद में 'युवति' पुराणी' कहा है।

स्नातकगण, तुमने आज तक प्राचीन शास्त्रों में ही ये बातें पढ़ी हैं, इन सब महासत्यों को शास्त्र में ही बद्ध रखने से काम नहीं चलेगा। भगीरथ जिस प्रकार तप्त और मलीन मानव के लिए ब्रह्म कमण्डलु के समान पवित्र स्थान से भी गंगा को बाहर ले आए थे उसी प्रकार तुम लोग भी इन महासत्यों को शास्त्र की पवित्र भूमि से निकालकर जगत् को बचाओ और स्वय भी धन्य होओ।

ज्ञान को यदि मुक्ति दे सको तभी तुम भी मुक्ति पाओगे। ज्ञान ही तो परमा मुक्ति है। जिनका ज्ञान ही बद्ध है उन्हें कौन मुक्ति दे सकता है ! ज्ञान यदि पा सके हो तो युक्ति के विषय में कोई चिता नहीं है। चीनियों ने कहा है कि शुष्क बीज को यदि रस से सींचा जाए तभी उस बीज का आवरण विदीर्ण होगा और तभी अंकुर मुक्ति पा सकेगा। ज्ञान प्रदीप्त होते ही सबकुछ को चुनौती देता है। अग्रेज सरकार ने हमारे इस देश में क्लर्क तैयार करने के लिए कुछ अंग्रेजी विद्यालय खोले थे। उस दिन उन्होंने सोचा भी नहीं था कि भविष्य के लिए वे कितना बडा बखेड़ा खड़ा कर रहे हैं। आज वह सब शिक्षित व्यक्ति मुक्ति की माँग रख रहे हैं। सिदवाद का दैत्य अपने पीपे से निकलकर फिर किसी प्रकार उसमें लौट जा सका था, पर ये शिक्षित किसी प्रकार अपनी पुरानी अवस्था में लौट जाना नहीं चाहते। यही ज्ञान का अवश्यंभावी फल है। दीप जलाया जाएगा और अँधेरा भी बना रहेगा, यह कभी हो ही नहीं सकता। यदि दीप जलाए जाने पर भी अँधेरा दिखाई दे तो समझना चाहिए कि या तो दीप ही चित्र-लिखित और नकली है, या फिर जलानेवाला ही अंधा है। बाइबिल की कथा से जाना जाता है कि ज्ञान-वृक्ष का फल प्राप्त कर आदमी स्वर्ग खो देने को प्रस्तुत है पर वह पुरानी मूढता में रहने पर

राजी नहीं है। तुम लोग इतने दिनों तक इस ज्ञानक्षेत्र में निवास कर चुके हो, भावी जीवन तुम्हारी परीक्षा के लिए तैयार है कि भीतर और बाहर तुमने इस ज्ञानालोक को कितना आत्मसात् किया है।

भारत का प्राचीनतम ज्ञान का रत्न भांडार—उसका 'शेवधि'—वेदविद्या है। तुममें से प्रत्येक ही उस वेद विद्या के जीवित प्रतिनिधि हो। तुम यदि आत्मजीवन के द्वारा इस समय की दुनिया की समस्या न सुलझा सको तो तुम्हारे हाथों वेद विद्या का जो अपमान होगा वैसा अपमान कोई भयंकर वेद-शत्रु भी नहीं कर सकेगा। इसीलिए आज तुम्हारे ऊपर दावा उपस्थित किया जा रहा है कि आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान और शिल्पकला आदि में सब प्रकार अपने-आपको पूर्ण करके सर्व मानव के अभाव मोचन में तुम आत्मोत्सर्ग करो।

हमारे देश में गुरु और शिष्य की सम्मिलित तपस्या में ही ज्ञान की साधना है। उस साधना का पुण्यपीठ तपोवन थे। मानव जीवन की तपस्या को चार भाग करके उसकी चिन्मय संपद की उपलब्धि और परिचय का अवसर तरुण जीवन को दिया गया था। तारुण्य का ब्रह्मचर्य ही चारों आश्रमों की प्रतिष्ठा भूमि थी। गुरु के चरण तले बैठकर तरुण गण जो ज्ञान पाते थे उसी ज्ञान को जीवन में प्रतिष्ठित करने का साधन था गृहस्थाश्रम और अपने जीवन को उस महान् आदर्श की ओर अग्रसर कर देने के लिए ही अंतिम दो आश्रमों की व्यवस्था थी।

इसीलिए तपोवन भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा-भूमि थी। भारतीय सस्कृति का इतिहास तपोवन का इतिहास है। हमारे सिर पर जिस प्रकार चिन्मय आकाश है और नीचे मृण्मय पृथ्वी है उसी प्रकार तपोवन के एक ओर तो सत्यद्रष्टा ध्यान-परायण ऋषिगण गुरु हैं और दूसरी ओर है, स्नेहमयी शोभामयी प्रकृति माता। तपोवन का महत्त्व समझने के लिए कवि गुरु रवींद्रनाथ का तपोवन नामक प्रबंध एक बार पढ़ने का अनुरोध करता हूँ। तुम्हारे जीवन में यह तपोवन सार्थक हो उठे। शायद इससे बड़ी माँग मैं तुम्हारे सामने नहीं उपस्थित कर सकता।

उन्होंने 1800 ई. के आसपास तत्कालीन भारत-सरकार के पास अपनी रिपोर्ट पेश की थी। यह बहुत अनुकूल भाव से नहीं लिखा गया है, तब भी बंगाल और काशी आदि स्थानों में जिन संस्कृत पाठशालाओं और चतुष्पाठियों का विवरण उन्होंने दिया है उससे जो कोई भी सभ्य देश गर्वित हो सकता है उन्होंने इस देश की प्रत्येक चतुष्पाठी को 'कॉलेज' नाम दिया है। ये गुरु और शिष्यगण उन दिनो राजा की सहायता से वंचित थे। तो भी समाज की सहायता से उन दिनों शिक्षा आज की अपेक्षा अधिक फैली हुई थी। गृही गुरुगण एक-एक जगह बैठकर शिक्षा दिया करते थे जबकि संन्यासी गुरुगण उसे एक कोने से दूसरे कोने तक फैला देते थे। इसीलिए एक प्रदेश की विद्या देखते-देखते नाना प्रदेशों में फैल जाती।

उन दिनों तीर्थ ज्ञान प्रचार के एक और साधन थे। एक-एक पुण्य-योग के अवसर पर नाना प्रदेश के लोग एकत्र हुआ करते थे और ज्ञान अपने आप चला

करता। यूरोप का peripatetic अर्थात् जंगम शिक्षा की व्यवस्था हाल की कल्पना है, पर हमारे देश में यह बहुत-बहुत पुरानी है। ज्ञान का क्षेत्र समझकर ही उन दिनों लोग तीर्थ में दान किया करते थे। इस समय दुर्भाग्यवश तीर्थगुरुगण अपनी प्राचीन तपस्या से भ्रष्ट हो गए हैं। उन दिनों तीर्थों में जो दान दिए जाते थे वे नाना भाव से ज्ञान की कल्याण धारा के रूप में सारे देश में संचारित होती थी। इधर तीर्थ में दिया हुआ धन केवल व्यक्तिगत और उद्देश्यहीन संचय के रूप में बदल गया है और नाना दुर्गति अपकर्म में निःशेष हो रहा है। धारा जब चलती होती है तब पवित्र होती है और वह धारा जब बद्ध हो जाती है तो सड़ जाती है। तीर्थ की यह धाराएँ आदर्शच्युत होकर बद्ध हो गई हैं और उसमें सड़ान आ गई है।

प्राचीन काल में तीर्थ में जो दान होता था वह ज्ञान के लिए स्वेच्छा प्रदत्त दान था। देनेवाले टैक्स की तरह उसे देने को बाध्य नहीं थे। वे दाता अपना सर्वस्व दान करके धन्य हुआ करते। वह टैक्स हम आज भी दे रहे हैं किंतु व्यर्थ ही। आज विद्या की बात उठी नहीं कि नए टैक्स का प्रस्ताव आता है।

आजकल के टैक्स से गठित विद्या-दान की व्यवस्था सफेद हाथी पालना है। यह सफेद हाथी किसी काम में नहीं आता पर उसकी भूख का अंत नहीं है।

अकर्मण्य तीर्थ आज हमारे समाज के ऊपर श्वेत हस्ती के समान ही हैं। फिर यह नूतन शिक्षा-व्यवस्था नाम का एक दूसरा सफेद हाथी भी इस समाज की गर्दन पर सवार कराया गया है। दरिद्र देश इन दो भयंकर दबावों से पिसा जा रहा है। इस शिक्षा-व्यवस्था के लिए अधिकारियों की ओर से जो कुछ भी खर्च होता है उसका तीन-चौथाई तो इमारत और लोहा-लक्कड़ में ही लग जाता है। बाकी एक-चौथाई ही असली कार्य में खर्च होता है। यह भी Efficiency के नाम पर बहुत थोड़े स्थानों में खर्च किया जाता है; अर्थात् आज का अधिकारी वर्ग पिरामिड की रचना उसके आधार की ओर से नहीं, उसके सूच्यग्र शिखर की ओर से करने को कटिबद्ध हुए हैं।

अब भी तीर्थगण एकदम शिक्षाहीन नहीं हुए। किंतु वहाँ जो लोग वस्तुतः शिक्षा का कार्य संपादन कर रहे हैं वे अत्यंत दुखी और दरिद्र हैं। काशी आदि तीर्थों में ये निर्धन दुखी गुरुगणों ने कितना कष्ट सहकर हमारी संस्कृति को बचा रखा है, वह कहके समझाया नहीं जा सकता।

गुरु के नाम के लिए देश के सर्वश्रेष्ठ मानवों की जरूरत होती है। यूरोप पैसा देकर ऐसे मनुष्यों को संग्रह करता है। भारतवर्ष ऐसों को श्रद्धाभक्ति देकर संग्रह करता था। इस देश में अध्यापकों के सम्मान की सीमा नहीं थी। आज यूरोप का अनुकरण करके हम श्रद्धा भी नहीं देना चाहते और फिर पैसा देने में भी असमर्थ हैं। इसीलिए शिक्षा के क्षेत्र में हम अच्छे आदमी की आशा नहीं कर सकते। इसके बाद जब देश में एक-एक बार प्रचंड उत्तेजना की सृष्टि होती है, उस समय विद्यार्थियों के भले-बुरे का विचार किए बिना उनकी तपस्या से हम उन्हें खींच लाते

हैं। इस प्रकार नाना दुर्गति से हम अपने देश के भविष्य को नष्ट करने के लिए उद्यत हैं। मूर्ख किसान भी जानता है कि रोपे जानेवाले धान्यांकुरों की रक्षा अपने अंतिम पसीने की बूँद से की जाती है। हम नाना भाव से अपने रोपे जानेवाले धान्यांकुरों को ही मारने चले हैं क्योंकि हमारे तरुण छात्र ही ये अंकुर हैं ! हमसे बड़ा अभागा और कौन है ?

हे स्नातकगण, तुम्हीं भावी भारत के गुरु हो। तुम्हारा व्रत महान् है, पर बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस देश के लोग तुम्हारी योग्य तपस्या का कोई भी सम्मान नहीं कर सकेंगे। पैसा दे सकने की क्षमता भी इनमें नहीं है और श्रद्धा और भक्ति दे सकने योग्य महत्त्व भी इनके हृदय में नहीं रह गया है। तुम्हारी सेवा का महत्त्व कोई समझेगा ही नहीं। खूब संभव है लोग तुम्हारी अवज्ञा ही करेंगे, उपेक्षा ही करेंगे, फिर भी तुम्हें व्रत-भ्रष्ट नहीं होना होगा, क्योंकि तुम भारत की महत्तम परंपरा के इस युग में प्रतिनिधि हो। इस युग के दरबार में तुम पुरातन अतीत युग के राजदूत हो।

यदि तुम गुरु हो तो तुम्हारे पास गौरव होना ही चाहिए। सबको द्विजत्व देनेवाले ही यदि नवजन्म न प्राप्त करें तो कैसे काम चलेगा। इसीलिए आज मैं तुमसे कठिन माँग करूँगा। दुःख-दारिद्र्य, अश्रद्धा और विरुद्धता के होते हुए भी तुम्हें अपने पदोचित महत्त्व की रक्षा करनी होगी और अपने माहात्म्य का प्रमाण देना होगा। इस दरिद्र देश को ज्ञान-विज्ञान से, शिल्प-कला से इस प्रकार दीप्त कर दो कि यह उदात्तकंठ से कह सके :

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां–सर्व मानवाः।। —मनु. 2.20

हमारी शक्ति कम जरूर है पर इसीलिए दूसरों की ओर ताकते रहने से काम नहीं चलेगा। यदि व्यक्तिगत सामर्थ्य से वह संभव नहीं होगा तो सम्मिलित सामर्थ्य से उसे पूरा करना होगा। यह जो तुम्हारी आश्रम-पावनी गंगा बह रही है, इन्हें यदि बिंदु-बिंदु अलग कर दिया जाए तो इन महासमुद्र की यात्रा समाप्त हो जाएगी; सबकुछ रास्ते में ही सूख जाएगा। अगणित बिंदुओं के एकत्र होने से इनकी शक्ति अपराजेय है। भगवान् के निकट प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारी व्यक्तिगत शक्ति परिमित होने पर भी तुम्हारी सम्मिलित शक्ति सकल बाधाओं को पार करके अपने अपार लक्ष्य की ओर अग्रसर हो।

गुरुकुल को किसी स्थान विशेष पर बद्ध देखना एक तरह की भौतिकता ही है। तुम्हीं तो वास्तविक गुरुकुल हो। प्राचीन गुरुओं की भाँति तुममें से प्रत्येक एक-एक जीवंत और चलंत विश्वविद्यालय बनो।

यूरोप में एक बड़ी भारी समस्या व्यक्तित्व और समाज को लेकर खड़ी हुई है। यदि मंडली को बड़ा बनाना है तो व्यक्ति को मरना आवश्यक है और व्यक्ति को

बड़ा हीन देने में, समाज दुर्बल हो जाता है। इसीलिए कई धर्मों में व्यक्तित्व को पीसकर धर्म के संगठन को ही शक्तिशाली बनाया है। हमारी चतुराश्रम व्यवस्था में इन दोनों के सामंजस्य की व्यवस्था है। गृहस्थाश्रम में जहाँ समाज के सभी विधि निषेधों को स्वीकार किया गया है, वहाँ संन्यासाश्रम में उनकी उपेक्षा का अधिकार भी दिया गया है। आज किंतु जीवन को पुराने जमाने के ढंग पर गृहस्थ और संन्यास आश्रम के रूप में बाँटकर देखना ठीक नहीं होगा। हमारा आदर्श इसी जीवन में साथ ही साथ गृहस्थ और संन्यास के आदर्शों का सामजस्य होना चाहिए। तभी हम व्यक्ति और समाज की समस्या का समाधान करेंगे।

यद्यपि मैं जानता हूँ कि तुम्हारे भावी जीवन में कठिनाइयाँ अनेक हैं, दुख-दुर्गति बहुत है फिर भी मैं तुमसे बहुत कुछ आशा कर रहा हूँ; बहुत कुछ माँग पेश कर रहा हूँ। और कहाँ और किसके सामने करें, देश के भावी तो तुम हो।

अंतहीन दुःख का बोझ तुम्हारे सिर पर लाद दिया है, मन में तुम क्षुण्ण न होना। क्योंकि कठिन दुख के सिवा हमारे अंतर्निहित असीम संपद का संधान हमें मिलता कहाँ है ? काठ के भीतर की सुप्त अग्नि को मंथन से जगाया जाता है। इसीलिए जब दुख-दुर्गति के दिन होते हैं तभी देश में बडे-बड़े महापुरुषों का आविर्भाव होता है। इसीलिए बडी-बड़ी समस्याओं का आना देश का सौभाग्य है। पराधीन देशों को ऐसे सौभाग्य सब समय नहीं मिलते और इसीलिए अपनी अतर्निहित शक्ति को जान सकने के सौभाग्य से वंचित रह जाते हैं। फिर भी दुख कम नहीं है, हमारी समस्या भी छोटी नहीं है। तुम्हे इसी के भीतर से अपनी वास्तविक शक्ति खोजनी पड़ेगी।

जब तुमने आलोक पाया है तो जलकर भी तुम्हें दूसरों को आलोक देना पडेगा। आलोक का मूल्य ही सर्वस्व दान है। बिंदु-बिंदु तैल क्षय करके ही दीप प्रति क्षण अपना आलोक पाता है। अपने अंतिम बिंदु तक को जब तक वह निःशेष न कर दे, उसको निष्कृति पाने का अधिकार नहीं है।

इतने बडे महाव्रत के लिए स्वामी दयानंद और स्वामी श्रद्धानदजी ने तुम्हें पुकारा था। अपने चित्त की दीनता के कारण उनकी पुकार को यदि छोटा करके देखोगे तो उनका अपमान करना होगा और यदि तपस्या में अवसन्न हो पडोगे तो अपने अंतरात्मा का अपमान करोगे। आज इस समावर्तन के दिन तुम्हें स्मरण करा देता हूँ कि उस महान् पुकार का जवाब तुम्हें देना होगा, किसी प्रकार की कायरता तुममें न रहे—क्लैव्यं मांस्म गमः पार्थ। तुम्हें कहना होगा कि जगत में जो कुछ घोर है, जो कुछ क्रूर है, जो कुछ पाप है, हमारी तपस्या से वह सब शांत हो, सबका कल्याण हो :

शमयामोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं
तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ।। —अथर्व. 19.9.14

[सन् 1941]

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति : 'राष्ट्रीय चेतना का द्वार'

•

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी

गुरुकुल विश्वविद्यालय के सदस्य वृन्द, देवियो तथा भद्रपुरुषो !

आपने दीक्षान्त अभिभाषण के लिए मुझे निमंत्रित कर मेरी जो प्रतिष्ठा की है उसके लिए मैं हृदय से आपका आभार स्वीकार करता हूँ। इस महान् विद्यापीठ मे जिसे हम अपनी राष्ट्रीय संपत्ति समझने में अभिमान अनुभव करते हैं, यह मेरा प्रथम आगमन है। मैं इस सस्था के सस्थापक स्वनामधन्य अमर शहीद स्वामी श्रद्धानंद जी तथा उनके प्रसिद्ध उत्तराधिकारियों की स्मृति में अपनी श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ। उनमें शिक्षा के नूतन आदर्शों को प्रतिष्ठित करने की क्रान्त दृष्टि एव उत्साह के साथ-साथ अपने आदर्शों को ऐसी सस्थाओं के रूप मे कार्यान्वित करने की योग्यता तथा दृढ निश्चय भी थे।

आज हम इतिहास के चतुष्पथ पर खडे हैं। उच्चकोटि के प्राचीन दाय से सम्पन्न, 'स्वर्गादपि गरीयसी' हमारी मातृभूमि अपने जन्मसिद्ध अधिकार स्वतत्रता पद की प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रही है। भारतीय स्वतत्रता का अतिम युद्ध शिक्षा द्वारा ही जीता जाएगा। सास्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक पुनर्निर्माण का महान् कार्य शिक्षित एव सुनियत्रित भारतीयो के सम्मिलित प्रयत्नो से ही हो सकता है। भारत के अतीत गौरव, महत्ता, उसकी शक्ति एव दुर्बलताओ से परिचित शिक्षित व्यक्ति ही देश के सामने कार्य का ऐसा पुरोगम रख सकते हैं, जो भारतीय सभ्यता की मौलिक परपराओं की रक्षा करता हुआ आधुनिक जगत् की परिवर्तमान परिस्थितियो के अनुसार ढाला जा सके।

कोई भी निष्पक्ष ऐतिहासिक ब्रिटिश भारत मे भारतीय शिक्षा के इतिहास का सिहावलोकन करते हुए उसे हमारे शासकों के लिए गौरव की वस्तु नहीं मान सकता। हम वस्तुत क्षतिग्रस्त रहे, किंतु क्षति का उत्तरदायित्व भारतीयो मे शिक्षा के प्रति उत्साह का अभाव नहीं, किंतु हमारे शासको की वे भयकर भूले जो उन्होने आज से एक शताब्दी पूर्व भारत मे अपनी शिक्षानीति को निर्धारण करते समय की

थीं। वैंटिंक तथा मेकाले के समय की वह नीति भारतीय जनता के कल्याण की दृष्टि से निर्धारित नहीं की गई थी। उसका उद्देश्य शासकों के स्वार्थों की रक्षा तथा वृद्धि करना था। किसी भी देश में शिक्षा का तब तक ठीक विकास नहीं होता जब तक वह अपने राष्ट्रीय जीवन के स्रोत से प्रेरणा प्राप्त नहीं करती। जब शिक्षा को अपने मूल से विच्छिन्न कर उस पर विदेशी सत्ता के आदेशों को आरोपित कर दिया जाता है, तो वह शिक्षा अंततोगत्वा अवश्य असफल होती है। एक ऐसी पराधीन जाति जिसने अपनी ज्ञान-पिपासा तथा ऊर्जस्वलता को बिलकुल नहीं खो दिया है, इस शिक्षा से कुछ पीढ़ियों तक कृत्रिम विकास प्राप्त कर सकती है, वह योग्य नक्काल भी बन सकती है। किंतु ऐसी शिक्षा जनता में नवजीवन का संचार नहीं कर सकती, उसे ऊँचा नहीं उठा सकती और उसके स्थायी कल्याण की भी वृद्धि नहीं कर सकती।

वैंटिंक ने एकमात्र अंग्रेज़ी शिक्षा को राजकीय सहायता देने का निश्चय करके भारतीय संस्कृति को भी पराजित करने का श्रीगणेश किया। मेकाले और उसके साथी सर्वसाधारण जनता में शिक्षा प्रसार के प्रतिकूल परिणामों से डरते थे, इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया था कि यह शिक्षा भारतीयों के एक विशिष्ट वर्ग को ही दी जाए। मेकाले के अपने शब्दों में इस शिक्षा का उद्देश्य आत्म-निर्भर देश-भक्त भारतीय बनाना नहीं था, अपितु एक ऐसा वर्ग देश में तैयार करना था जो रंग में भारतीय होते हुए भी रुचि, विचारों, नैतिक आदर्शों में अंग्रेज हो। उन दिनों के सामयिक उल्लेखों से विदित होता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के सबंध में हमारे अंग्रेज शासकों का ज्ञान अत्यंत शोचनीय था। वे पश्चिमीय शिक्षा के तथाकथित गुणों पर आवश्यकता से अधिक बल देते थे और प्रत्येक भारतीय वस्तु के प्रति खुले रूप से घृणा प्रकट करते थे। हमें इस बात का दुख नहीं कि भारतीयों के लिए पश्चिमीय शिक्षा का द्वार खोल दिया गया, किंतु दुख है इस बात का कि हमें यह ज्ञान हमारे प्राचीन सांस्कृतिक दाय की बलि चढाकर दिया गया है। आवश्यकता इस बात की थी कि दोनों पद्धतियों में उचित सामजस्य स्थापित किया जाए और भारतीय आधार की उपेक्षा या नाश न हो। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब अनेक योरोपीय देश अविद्या और जगली जीवन के गहरे अंधकार में पडे हुए थे, उस समय हमारे देश के ऋषियों और विद्वानों ने राजकीय आश्रय उपलब्ध कर यह बौद्धिक उच्चता पाई थी जिसके लिए कोई भी उच्च सभ्यता से युक्त राष्ट्र ईर्ष्या कर सकता है। इस देश में ऐसा समाज विकसित हुआ जिसने दर्शन, धर्म और शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ कला, स्थापत्य, आयुर्वेद, विज्ञान, ज्योतिष और शिल्पशास्त्र को भी प्रोत्साहन दिया। किसी देश की शिक्षा उस देश की परंपराओं के अनुकूल विचारों से सम्पुष्ट होनी चाहिए।

भारत में पश्चिमीय शिक्षा का आधार राजकीय नौकरी का प्रलोभन था। यह शिक्षा शिक्षा के लिए नहीं थी, अपितु नौकरशाही के शासनयंत्र के सफलतापूर्वक

चलाने के लिए आवश्यक कलपुर्जों का प्रबंध करने के लिए थी। यहाँ भारतीय शिक्षा-पद्धति के विकास के इतिहास को विस्तारपूर्वक बतलाना मेरा उद्देश्य नहीं है। इस शिक्षा-पद्धति को प्रचलित करने से उत्पन्न हुए परिणामों से मेकाले की भविष्यवाणी आंशिक रूप में मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। इस शिक्षा के स्वीकार करने से शिक्षित भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना को नहीं दबाया जा सका। विदेशी शासन के पृष्ठपोषक होने के बदले वे भारतीय क्रांति के अग्रदूत बने। साधारण जनता की शिक्षा के सबंध में यहाँ जिस ढंग से उपेक्षा की गई वह किसी भी शासन के लिए लज्जास्पद है। यह शिक्षा-पद्धति भारत की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल सिद्ध हुई और देश-भक्त भारतीयों को, इसके दोष स्पष्ट दीखने लगे। समय-समय पर शिक्षा-पद्धति मे क्रांतिकारी परिवर्तन करने तथा इसे जनता की आवश्यकताओ तथा आकांक्षाओ के अनुकूल बनाने के प्रयत्न किए गए हैं। यह छिपा नहीं कि उच्च शिक्षा तथा ज्ञान-विज्ञान के अनुसधान के क्षेत्र मे भारतीय विद्वानों की मौलिक विचार की शक्ति अभी तक सर्वथा नष्ट नहीं हुई है, और वे किसी भी विदेशी विद्वान् के मुकाबले मे ठहर सकते हैं। विचार के कुछ क्षेत्रों मे आशिक सफलता प्राप्त हुई है, कितु एक सामान्य असतोष सर्वत्र स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है और वह इस समूची शिक्षा-पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता को प्रकट कर रहा है।

स्वात्माभिमान संपन्न भारतीयों की दृष्टि मे शिक्षा की यह समस्या तब तक हल नहीं हो सकती, जब तक कि उसे विदेशी प्रभाव से सर्वथा मुक्त एक राष्ट्रीय सरकार के हाथों में न सौंप दिया जाए। सच पूछो तो हम एक विचित्र गोरख-धंधे मे फँसे हुए हैं। उचित शिक्षा के बिना हम स्वतत्रता नहीं प्राप्त कर सकते और स्वतत्रता के बिना हम अपनी शिक्षा-पद्धति का पुनर्निर्माण देश की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं कर सकते। वर्तमान स्थिति मे हमे वर्तमान पद्धति का ही सर्वोत्तम उपयोग करना है तथा निरतर प्रयत्न एव आदोलन से, इस पद्धति मे ऐसे परिवर्तन और सुधार करवाने हैं, जिससे हम अपने लक्ष्य की ओर तक यथासभव अधिक से अधिक बढ सकें। हम तो अभी तक मातृभाषा की उच्च शिक्षा तथा परीक्षाओ का माध्यम भी नहीं बना सके जो कि शिक्षा का सर्वप्रथम आधार-भूत सिद्धात है। कितु मुझे प्रसन्नता है कि गुरुकुल ने इस क्षेत्र में उचित मार्ग का अवलबन किया है। प्रत्येक प्रात में उस प्रात की अपनी एक मुख्य भाषा है और शिक्षा मे उस भाषा का माध्यम स्वीकार करना चाहिए।

तो भी यदि वहाँ एक दूसरी भाषा को बोलनेवाले पर्याप्त संख्या मे हों तो उसे भी उपयुक्त शैली के साथ उचित स्थान मिलना चाहिए। (यद्यपि एक प्रातीय क्षेत्र में भाषाओं की अधिकता कुछ जटिल समस्याएँ उत्पन्न कर सकती है) सुशिक्षित विद्वानो की देख-रेख मे तथा सरकार और विश्वविद्यालयों के साथ पूर्ण सहयोग से कार्य करनेवाले एक ऐसे विभाग की प्रत्येक प्रांत में स्थापना की जानी चाहिए जो

प्रातीय भाषा में सब विषयों की पुस्तकें तैयार करवा दे। हमारे सामान्य कार्यों के लिए प्रारंभिक शिक्षा के बाद की श्रेणियों में अंग्रेजी का कामचलाऊ ज्ञान करा देना पर्याप्त है। जो विद्यार्थी अंग्रेजी भाषा और साहित्य का गहरा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके विषय में अपवाद किया जा सकता है। इसी प्रकार हिंदी का भी कामचलाऊ ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि भारत के विभिन्न प्रांतों की जनता के साथ सीधा संबंध रखा जा सके। विभिन्न विषयों के अध्ययन को हमारे देश की अवस्था के अनुकूल पुनः संघटित करने की आवश्यकता है। इतिहास, अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान जैसे विषयों का प्रतिपादन भारतीय परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए होना चाहिए। विज्ञान भौगोलिक सीमाओं से परे है अतः विज्ञान के क्षेत्र में हमें वही परिभाषाएँ रखनी चाहिए जो दूसरे देशों में प्रचलित हैं। इस प्रकार हम विश्व की प्रगति से संबद्ध रह सकेंगे तथा अपने सीमित क्षेत्र से बाहर के सहयोगी कार्यकर्ताओं से भी हमारा संबंध बना रहेगा।

प्रत्येक राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति मे उत्तम पुस्तकालयों, परीक्षणशालाओं और अद्भुतालयो को जितना भी महत्त्व दिया जाए व व्यय किया जाए, वह कम है। किंतु हमें भवनों और छात्रावासों के अनावश्यक व्यय को कम करना चाहिए। भारत जैसे दरिद्र देश मे हमारा यह लक्ष्य होना चाहिए कि प्रत्येक सभव उपाय द्वारा व्यय को अधिक से अधिक कम कर सकें ताकि इस तरह बचे हुए धन का सदुपयोग शिक्षा के प्रसार में किया जा सके। हमारे विद्यार्थियों के रहन-सहन और शिक्षा देने का ढग ऐसा होना चाहिए कि अपनी शिक्षा की समाप्ति के बाद वे बिना किसी सकोच के, अपने को चारों ओर की उन परिस्थितियों के साथ एकाकार कर सकें जिनमें शिक्षा ग्रहण करने से पहले वे पले थे। हमारे देश की उन्नति के लिए इससे अधिक घातक कोई बात नहीं हो सकती कि हम तथाकथित शिक्षित भारतीयो का एक ऐसा पृथक् वर्ग तैयार कर दें जो उन-मदमाग्य लाखों भारतीयों के दृष्टिकोण तथा जीवन बिताने के ढग से सर्वथा अपरिचित हों, जिनकी सेवा करना ही हमारा मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।

किसी भी शिक्षा-पद्धति में जनता की सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियो की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि कोई भी शिक्षा संस्था अपने प्रत्येक विद्यार्थी की जीविका का प्रबंध करने का उत्तरदायित्व अपने पर नहीं ले सकती तथापि उसकी शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि विद्यार्थी को दी गई शिक्षा, जीवनसघर्ष में, उसकी सहायक हो, बाधक न हो। इसलिए शिक्षा बहुमुखी होनी चाहिए और देश की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति के उपयुक्त अनेक व्यवसायो की शिक्षा देनेवाली विभिन्न प्रकार की सस्थाओं का अवश्य विकास होना चाहिए। राष्ट्रीय सरकार इस क्षेत्र में अपना यह परम कर्तव्य समझेगी कि वह शिक्षण संस्थाओं को व्यापार, व्यवसाय, कृषि और उद्योगधंधों से संबद्ध कर सके। इनमें परस्पर कोई संघर्ष नहीं हो सकता यदि सब राष्ट्र-सेवा को ही अपना अंतिम उद्देश्य समझ ले।

गुरु और शिष्य में पिता और पुत्र का-सा संबंध होना चाहिए। इसके द्वारा ही शिक्षा के मानदंड को ऊँचा रखते हुए उसके उद्देश्यों को पूरा किया जा सकता है। आज्ञापालन स्वाभाविक भक्ति से उत्पन्न होता है और यह प्रेम चिरस्थायी होता है। बलपूर्वक आरोपित नियंत्रण क्षणिक होता है और विद्यार्थियों के चरित्र को नहीं ढाल सकता। आपकी संस्था का मूलभूत विचार 'गुरुकुल' अर्थात्—'गुरु का घर'—प्राचीन भारतीय मन की उच्चतम देन है। और यह विचार भारत के विभिन्न विभागों में, पश्चिमी नमूने की नकल पर बने छात्रावास युक्त पाठशालाओं (Residential Schools) के कृत्रिम वातावरण में अभी तक नहीं प्रविष्ट हुआ। एक भारतीय शिक्षा शास्त्री, शिक्षा को, विस्तृत अर्थवाले भारतीय धर्म के स्रोत से पृथक् नहीं रख सकता। वह विरासत जो एक भारतीय युवक को मिली है, उसके मानसिक चक्षुओं के सामने सदा स्पष्ट रूप से रहनी चाहिए। उसे प्राचीन ऋषियों के उपदेश की सनातन महत्ता समझाई जानी चाहिए। इसका उद्देश्य उसकी दृष्टि को संकुचित करना या जिज्ञासा की भावना का दबाना न होकर यह होना चाहिए कि वह स्वयं उन उपदेशों के यथार्थ मूल्यों का निर्णय कर सके। हमारे समाज में सभ्यता का यह आशय रहा है कि हम कुछ सूक्ष्म अनुभूतियों का विकास कर अपने जीवनों का क्रमश: समाजीकरण करें। ये अनुभूतियाँ हमें इस योग्य बनाती हैं कि हम *'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते'।* *ईशावास्योपनिषद्* का यह आदर्श अपने जीवन में चरितार्थ कर सकें। यही कारण है कि हमारा सामाजिक जीवन राजनैतिक चेतना की अपेक्षा नैतिक चेतना से अधिक प्रभावित होता है। यदि आज हम मतभेदों से पीडित हैं तो इसके लिए दोषी वे व्याख्याकार हैं जो तात्कालिक परिस्थितियों के कारण बाह्य आकारों तथा रूढ़ियों के साथ चिपटे रहे और जिन्होंने हमारे समाज के आधार को सकुचित किया और इस प्रकार हमारे प्राचीन ऋषियों के उपदेशों में स्पष्ट रूप से वर्णित सेवा और समानता की शिक्षा पर कुठाराघात किया। अपनी राष्ट्रीय विरासत के लिए ऐसा अभिमान जो कि जाति और मन के बधनों से भी परे है—युवकों के हृदयो में अवश्य उत्पन्न किया जाना चाहिए। इससे हम उस आत्महीनता की भावना तथा आत्मविश्वास के अभाव को दूर कर सकेंगे, जो इस समय हमारी प्रगति में बाधक है। हमारा यह दावा है कि पश्चिम की ओर बिना देखे भी, हम अपने समाज का पुनर्निर्माण भारतीय आदर्श पर कर सकते हैं। विविध मतों तथा धर्मों से परिपूर्ण इस देश में, हमें अपने आंदोलन ऐसे बनाने चाहिए कि उनमें प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक व सांस्कृतिक विकास का पूरा अवसर मिल सके। प्रत्येक व्यक्ति अपने मत के प्रति सच्चा रहता हुआ, दूसरों का सहायक व विश्वासपात्र बने और अंत में सब भारतीय एकता की अविनश्वर भावना के पुजारी हों।

आज विश्व में मानव सभ्यता के इतिहास में अश्रुतपूर्व संकट उपस्थित है। पाश्चात्य सभ्यता विश्व को शांति तथा स्वतंत्रता नहीं प्रदान कर सकी। भौतिक,

वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति के बावजूद योरोप के शासक सत्ता, रोब और अधिकार की लालसा के शिकार बने हुए हैं। विश्व का भावी सुख उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण पर अवलंबित होगा जिनके हाथों में बलवान् राष्ट्रों की बागडोर है। वे लोग समानता, प्रजातंत्र और स्वतंत्रता के सिद्धांतों के प्रति चाहे कितनी मौखिक सहानुभूति दिखाएँ, किंतु यदि वे अपने कार्यों में दलित और हतभाग्य राष्ट्रों को दबाने और शोषण करने की भावनाओं से प्रभावित होते हैं तो उन्हें यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि वे संसार में एक उत्कृष्टतर व्यवस्था को जन्म देनेवाले हैं। विश्व का भविष्य इसी बात पर अवलंबित है कि स्वतंत्र राष्ट्रों का एक संघ बने। इस संघ में प्रत्येक देश को अपने देश की सर्वोत्तम परंपराओं तथा आदर्शों के अनुसार, अपने राष्ट्रीय जीवन के विकास का अवसर प्राप्त हो। यदि यह उद्देश्य सबको मान्य है तो दुनिया के सब भागों में शिक्षा-पद्धति इस ढंग की होनी चाहिए कि वह उचित अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार तथा समझ को प्रोत्साहित करनेवाली हो। आधारभूत नैतिक गुणों में एक यह भी है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने साथियों के उत्तम जीवन की चिंता होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को यह अवसर मिलना चाहिए कि वह अपनी स्वाभाविक शक्तियों का पूरा उपयोग करते हुए अपने मन व शरीर का पूर्ण विकास करे। उसमें सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना होनी चाहिए और सब लोगों की भलाई के सामने, अपने वैयक्तिक स्वार्थ या अपने वर्ग के स्वार्थ को तुच्छ समझने की दृढ़ इच्छा होनी चाहिए। वह स्वतंत्र निर्णय-शक्ति रखनेवाला व्यक्ति होना चाहिए और उसे विवाद में, दूसरे व्यक्तियों की प्रतिष्ठा रखनेवाला तथा दूसरों की सम्मतियों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए। उसे यह समझना चाहिए कि उसका उत्तरदायित्व केवल अपने देश का नागरिक होने के नाते ही नहीं, अपितु विश्व का नागरिक होने के नाते भी है। सबके लिए समान न्याय होना चाहिए। राजशक्ति का आधार पशु-बल न होकर सामान्य सद्भावना और सहायता होनी चाहिए।

हमारी आज की प्रधान समस्याओं में से एक यह है, कि राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति की पुनरायोजना हमारी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुकूल होनी चाहिए। हम नहीं जानते कि हमारी राजनैतिक परिस्थिति कब ऐसी होगी कि हम इस योजना को कार्यान्वित कर सकेंगे, किंतु यह युद्धोत्तर पुनर्निर्माण का मुख्य भाग होना चाहिए। हमें अविलब एक योग्य समिति की स्थापना करनी चाहिए जिसमें सब विचारों का प्रतिनिधित्व हो और जो यह विचार करे, कि हमारी भावी शिक्षा का पुरोगम किस तरह का होना चाहिए। यह कार्य सुगम नहीं होगा। भाषा, इतिहास, विभिन्न समुदायों की आवश्यकताएँ और आजीविका संबंधी समस्याओं की सूक्ष्म परीक्षा की आवश्यकता होगी। स्पष्ट और शुद्ध शब्दों में शिक्षा के उद्देश्य की व्याख्या करनी होगी। संक्षेप में, हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि प्रत्येक भारतीय बालक का यथासंभव इतना विकास हो सके कि वह अपने को स्पष्ट रूप से अपने देश के साथ एक अनुभव करे। वह अपने देश के अतीत की परंपराओं को समझे तथा

उसके वर्तमान के जीवन और कार्यों में तथा भविष्य की आकांक्षाओं और उत्तरदायित्व में अपना अंश प्रदान करे। भारत जैसे विशाल देश में विभिन्न प्रांतों में अपनी-अपनी समस्याएँ होंगी। पर हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम प्रत्येक भारतीय बालक के हृदय पट पर भारतीय एकता की भावना के प्रति गहरी भक्ति के भाव अमिट रूप में अंकित कर दें। उसके दैनिक जीवन को ऐसा नियंत्रित करें कि उसको हमेशा यह ध्यान रहे कि वह जो कुछ कर रहा है, अपने राष्ट्र की उन्नति के लिए कर रहा है और अपने राष्ट्र द्वारा विश्व की उन्नति के लिए कर रहा है।

आपकी महान् संस्था भारतीय शिक्षा-समस्या को हल करने में बहुत सहायक होगी। शिक्षा के क्षेत्र में संकुचित तथा कठोर व्यवस्थाओं और नियमों का अवलंबन शिक्षा का नाश करनेवाला होता है। यह उसके जीवन पर कुठाराघात करता है। आपके गुरुकुल ने परीक्षण द्वारा यह दिखा दिया है कि इस देश में शिक्षा भारतीय सभ्यता के मौलिक अंगों तथा वैज्ञानिक युग की आवश्यकताओं में उचित सामंजस्य स्थापित करके दी जा सकती है। आपने अनेक भयकर बाधाओं के होते हुए भी उन उत्तम विचारों व प्रभावों को अपने हृदयो में निरतर पोषित किया है जो अभिमानी और स्वार्थी प्रकृतिवाद की विनाशक सेनाओं से मानव सभ्यता की रक्षा कर सकते हैं। भारतीय समाज के पुनर्निर्माण के कार्य में आप अवश्यमेव एक बडा भाग लेंगे, और आपके अनुभव इस देश की भावी शिक्षा की नीति एव प्रबंध-पद्धति को बहुत प्रभावित करेंगे। भारतवर्ष में अनेक बाह्य विभिन्नताओ के बीच में विचार की एक विलक्षण समानता दृष्टिगोचर होती है। राजनीतिक पराधीनता के बावजूद भी हम अपना मस्तक ऊँचा कर सके हैं क्योंकि हममें आत्मसात् कर लेने की सहज शक्ति है। हमारी संस्कृति का उद्देश्य जीवन का पूर्ण विकास रहा है। जीवन के सपूर्ण ज्ञान का विषय प्रकृति, मनुष्य और परमात्मा है। परिश्रम और प्रेम मनुष्य को पूर्ण बनाने का उपादान हैं। भारतीय नवोत्थान का कार्य नितात न्यायानुमोदित है। इस दृढ़ विश्वास के साथ, आइए हम हिमालय के चरणों मे तथा स्मरणातीत काल से भारत की दुर्धर्ष सभ्यता की समस्त प्रगति की साक्षिणी भगवती-भगीरथी के तट पर एकत्र होकर अपने उज्ज्वल अतीत से प्रेरणा प्राप्त करें। वर्तमान काल के कष्टो और यातनाओं का सामना करने की शक्ति और धैर्य सचित करें और भावी स्वतत्र तथा अखंड भारत के पुनर्निर्माण में निर्भयतापूर्वक अपना तुच्छ अंश प्रदान कर सके। आइए हम भारत के लाखों त्रस्त प्राणियों की वाणियाँ अपने में केंद्रित करें और कवींद्र-रवींद्र के शब्दों में सत्य और न्याय के मार्ग पर चलने का दृढ निश्चय उद्घोषित करें। मातृभूमि की मुक्ति के लिए बडे से बडा त्याग और बडी से बडी तैयारी करने के लिए कटिबद्ध हों।

चित्त जेथा भय शून्य, उच्च जेथा शिर।
ज्ञान जेथा मुक्त, जेथा गृहेर प्राचीर।।

आपन प्रांगण तले, दिवश शर्व्वरी।
वसुधारे राखे नहिं खंड क्षुद्र करि।।
जेथा वाक्य हृदयेर उत्स मुख हते।
उच्च वसिया उठे जेथा निर्वारित स्रोते।।
देशे देशे दिशे दिशे कर्मधारा धाय।
अजस्र सहस्रविधा चरितार्थ ताय।।
जेथा तुच्छ आचारेर मरु बालुराशि।
विचारेर स्रोत पथ फेले नाइ ग्रासि।।
पौरू शेर करेनि शतधा; नित्य जेथा।
तुमि सर्व कर्म चिंता आनंदेर नेता।।
निज हस्ते निर्दय आघात करि पिता।
भारतेर सेई स्वर्ग करो जागरित।।

"जहाँ चित्त भय शून्य है, जहाँ मस्तक उच्च रहता है, जहाँ ज्ञान मुक्त है, जहाँ जगत् क्षुद्र घराऊ दीवारों से खंड-खंड नहीं कर दिया गया है; जहाँ शब्द सत्यता की गहराई से निकलते हैं, जहाँ अनथक पुरुषार्थ अपनी भुजाओं को पूर्णता की ओर बढाता है; जहाँ विचार के स्रोत ने अपने मार्ग को तुच्छ आचार की भयानक मरु भूमि मे लुप्त नहीं कर दिया है; जहाँ के निवासियो का मन सदा विस्तृत होनेवाले विचारों और कर्मों की ओर अग्रसर रहता है, ऐ मेरे पिता ! स्वतंत्रता के ऐसे दिव्य लोक मे मेरा देश जागृत हो।"

[सन् 1943]

शिक्षा का ध्येय

डॉ. अमरनाथ झा

शिक्षा का ध्येय क्या होना चाहिए ? आपके उपाध्यायवर्ग आपको शिक्षा क्यों देते हैं ? आप यहाँ क्यो आए हैं ? कभी आप इन प्रश्नों का उत्तर सोचते हैं ? आप शिक्षा प्राप्त करके किस योग्य बनते हैं ? हमारे शास्त्रो के अनुसार शिक्षा के ये उद्देश्य थे—श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, आयु, अमृतत्व। आप देखेंगे कि ये उद्देश्य कितने सर्वव्यापी हैं। श्रद्धा माता-पिता के प्रति, गुरुजनो के प्रति, ईश्वर के प्रति—विनय, अपने को अहकार से बचाना, बुद्धि का विकास, बुरे-भले का ज्ञान, विचारशक्ति, पुष्ट और हृस्ट संतान उत्पन्न करना, धनोपार्जन की योग्यता प्राप्त करना, आयुष्मान् होना, शरीर की रक्षा करना, बलवान् होना, अमृतत्व प्राप्त करना—ये शिक्षा के उद्देश्य हैं। विद्या विवाद और वितडा के लिए नहीं, ज्ञान के लिए; धन-विलास और व्यसन के लिए नहीं, दान के लिए, शक्ति औरों को कष्ट देने के लिए नहीं, निर्बलो की सहायता के लिए—यह लक्ष्य होना चाहिए। सदा ध्यान इसका रहना चाहिए कि व्यावहारिक क्षमता से पारमार्थिक उन्नति होनी चाहिए। यदि आप केवल धनोपार्जन के योग्य बनना चाहते हैं तो विद्यापीठ में आना अनावश्यक है। यदि आप केवल परलोक का चिंतन करना चाहते हैं तो समाज को आपसे कोई आशा नहीं हो सकती है। आप यदि केवल अपने शरीर को सुदर और पुष्ट बनाना चाहते हैं तो आप पहलवानो के अखाडों में जाकर रहिए। विद्यापीठ की शिक्षा तो ऐसी है कि यहाँ से जब आप बाहर जाएँ तो आपके मुख पर स्वास्थ्य और सच्चरित्र की झलक हो, आपके मन मे लोकसेवा की भावना हो, आपके मस्तिष्क में सद्‌सद् का विवेक हो, आपके शरीर मे अन्याय-निवारण की शक्ति हो, आपके हृदय में ईश्वर की आराधना हो।

छादोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि नारद ने सनत्कुमार से कहा कि "मुझे आप शिक्षा दीजिए।' सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि "जो कुछ तुम जानते हो सो बताओ। तब मैं उससे आगे की शिक्षा दूँगा।" नारद ने कहा— *"ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं ँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमि तहासपुराणं पंचम वेदानां वेदं पित्र्य ँ राशिं दैव निधिं वाको बाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।"* प्रायः 1200 वर्ष पूर्व की शिक्षा-पद्धति का वर्णन हमें बाण की कादम्बरी में मिलता है। चद्रापीड के अध्ययन की समाप्ति पर

बाण लिखते हैं :

> *"मणिदर्पण इवाति निर्मले तस्मिन् संचकाम सकलः कलाकलापः। तथाहि पदे वाक्ये प्रमाणे धर्मशास्त्रे राजनीतिषु व्यायामविद्यासु चापचक्रचर्मकृपाणशक्तितोमर-परशुगदा प्रभृतिषु सर्वेष्वायुधविशेषेषु रथचर्यासु गजपृष्ठेषु तुरंगमेषु वीणावेणुमुरजकांस्यतालदर्दुरप्रभृतिषु वाद्येषु भरतादिप्रणीतेषु नृत्तशास्त्रेषु नारदीय-प्रभृतिषु गान्धर्वशास्त्रेषु शकुनिरुतज्ञाने ग्रहगणिते रत्नपरीक्षासु वास्तुविद्यासु आयुर्वेदे यंत्रप्रयोगे विषापहरणे सुरंगोपभेदे तरणे लंघने कथासु नाटकेषु आख्यायिकासु काव्येषु महाभारतपुराणे-तिहासरामायणेषु सर्वलिपिषु सर्वदेशभाषासु सर्वसंज्ञासु सर्वशिल्पेषु छन्दःसु अन्येष्वपि कलाविशेषेषु परं कौशलमवाप।"*

x x x

स्नातको ! आप आर्यसतान हैं और आपका कर्त्तव्य है कि आप अपने आचरण से आर्य कहलाने योग्य बनें। अपने ग्रथों से हम जान सकते हैं कि आर्यसंतान से किन बातो की आशा की जाती है। देवव्रत को स्मरण कीजिए। शान्तनुपुत्र राज्य का उत्तराधिकारी, अपने पिता को सुखी करने के कारण, आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करता है। राजा की सेवा मे अपना जीवन व्यतीत करता है। राजा को इष्ट-अनिष्ट का उपदेश देता है। सभा में, रणक्षेत्र में, राजा के हित-साधन मे यथाशक्ति लगा रहता है। कुरुक्षेत्र में इस वीरता और शौर्य और पराक्रम से लड़ता है, पाडव सेना का इस प्रकार से सहार करता है, कौरवो को इतना उत्साहित करता है कि श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा भग करके अपना शस्त्र उठाते हैं, और भीष्म हाथ जोडकर प्रणाम करता है—"एह्येहि देवेश ! जगन्निवास !" रात को जब दोनों सेनाएँ आराम करती हैं तो कौरव और पाडव दोनों पितामह के पास जाकर अपनी भक्ति और श्रद्धा समर्पित करते हैं जो कभी अपने कर्त्तव्य-पथ से भ्रष्ट नहीं हुआ उसका कितना सम्मान है !

रामचंद्र अयोध्या के भावी राजा, अपने पिता के दिए हुए वचन को पालने के लिए बारह वर्ष का बनवास स्वीकार कर, अनेक प्रकार का कष्ट सहते हुए, देश-प्रदेश मे भटकते हुए, कंदमूल का आहार करते हुए, अयोध्या से लंका जाते हैं। उनके कष्ट के वृत्तान्त से "अपिग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"। सीताहरण का दुख सहते हैं, वृक्षो से, आकाश से, पर्वत से, पवन से पूछते हैं "सा सीता केन नीता मम हृदयगता क्वापि केनापि दृष्टा।" रावण को हराकर अयोध्या आते हैं, परतु वहाँ भी क्लेश पीछा नहीं छोडता है। प्रजा को सतुष्ट रखना राजा का धर्म है। दशरथ के संबंध मे राम कहते हैं :

सतां केनापि कार्य्येण लोकस्याराधनं परम्।
यत्पूजित हि तातेन मा च प्राणांश्च मुंचता।।

प्रजा को प्रसन्न रखने के निमित्त सीता का भी परित्याग करते हैं :

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुंचतो नास्ति मे व्यथा।

कर्त्तव्य के पालन में राम ने क्या-क्या दुख नहीं सहा ? यही कारण है कि अब भी वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

भ्रातृवत्सल भरत और लक्ष्मण के उदाहरण आपके सामने हैं। वचन के पालने के लिए सब त्याग करनेवाले हरिश्चंद्र का आदर्श आपके सामने है। अपने कुत्ते को पीछे छोड़कर स्वर्ग में प्रवेश करने से अस्वीकार करनेवाले युधिष्ठिर; माता की आज्ञा शिरोधार्य करके स्वयं अपनी आँखें निकालनेवाले कुणाल, स्वाधीनता के लिए जीवन को न्यौछावर करनेवाले महाराणा प्रताप, कवियों को प्रत्यक्षर लक्ष देनेवाले भोज; इत्यादि अनेक ऐसे आदर्श हैं जिनका अनुकरण कर आप आर्यपद के अधिकारी हो सकते हैं।

x x x

आज ससार मे बड़ा संघर्ष है। सभ्यता के जीवन-मरण का प्रश्न है। शाति कठिन है। अशाति फैली हुई है। असहिष्णुता, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध का प्राधान्य है। ऐसे समय में हमारा कर्त्तव्य क्या है ? एक तो यह कि हम अपने आदर्शों को न भूलें और दूसरा यह कि उनकी रक्षा के लिए हमें जो कुछ भी करना पड़े, हम करें। यदि शस्त्र ग्रहण करना पड़े, रण में जाना पड़े, जान से हाथ धोना पड़े, तब भी अपने देश, अपने आदर्श, अपने धर्म की रक्षा हम करेंगे। हमे विश्वास है कि इनकी रक्षा से ससार का कल्याण होगा, हमारा दृढ मत है कि हमारी संस्कृति में अमर होने की शक्ति है, हमारी सभ्यता के मूल सिद्धांतो के अनुकरण करने से जगत् का हित है। "ओं शांति: शातिः शांतिः"—इस मंत्र से विश्व की भलाई होगी। शांति की सस्थापना के लिए हमे यत्नशील होना चाहिए। आपकी शिक्षा का यह तो फल अवश्य होना चाहिए कि यदि ससार में शांति नहीं है तो कम से कम आपके हृदय में शाति रहे, आपका अत करण भयशून्य रहे, आप क्षमावान् हों। आपमें धैर्य हो, आपका चित्त आपके वश में हो, आपमे संयम हो, आपकी प्रज्ञा सफल हो, सत्य से आपको प्रेम हो, अपकर्म से आप पराङ्मुख रहें, आपमें श्रद्धा और भक्ति तथा दया रहे। एक-दूसरे के प्रति सुहृद्‌भाव रहें। आपका वचन मधुर हो, आपका आचरण सुदर हो, आपकी भावना शुद्ध हो।

समानो मंत्रस्समितिस्समानी
समानं मनस्सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभि मत्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि।।

[सन् 1944]

शिक्षा का प्रधान उद्देश्य

•

डॉ. राजेन्द्रप्रसाद

हमारे गुरुकुलों तथा अन्य राष्ट्रीय विद्यालयों का इसीलिए यह उद्देश्य होना चाहिए कि आवश्यक ज्ञान-विज्ञान की चर्चा और संप्रदान करते हुए भी वे हमें आत्मनिग्रह, त्याग तथा सेवा की दीक्षा दें।

पर इतना ही यथेष्ट नहीं है। यद्यपि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति का चरित्रगठन, उसकी दैहिक और आत्मिक शुद्धि उसका मानसिक विकास है पर इतने से ही उसका काम संसार में नहीं चल सकता। मनुष्य तो अधिकांश में सामाजिक जीव है, वह तो संसार का एक अंग, और वह भी छोटा-सा अंग है। वह अपने इर्द-गिर्द रहनेवालों, अपने समाज और देश के लोगों से किनारे रहकर उन्नति नहीं कर सकता। यही नहीं बल्कि अपनी परिस्थिति के भला या बुरा होने पर अपने सगे-सबधी, अपने हितमित्र, अपने ग्रामवासी, प्रांतवासी या देशवासी के सुख-दुख पर उसका भी अनेकांश में भला, बुरा सुख-दुख निर्भर है। इसीलिए वह जो कुछ जानता है, जो कुछ सीखता है, जो कुछ उपार्जन करता है, जो कुछ भी शक्ति आर्थिक, मानसिक व आत्मिक उसके पास है, सबका उचित उपयोग यही हो सकता है कि उन्हें वह अपने लोगो के हित में लगावे। इस कारण भारत की कोई भी संस्था राष्ट्रीय या भारतीय कहाने की हकदार नहीं हो सकती, जो अपने विद्यार्थियों को भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति का, उसके अभावों का, उसकी आवश्यकताओं का बोध न करावे, जो भारतीयों की हीनता का, उनकी दीनता का, उनके कष्टों का, उनकी कठिनाइयों का, उनकी दुख-दरिद्रता का, तथा उनके गुण-दोष का अनुभव न करा सके, जो उन्हें उनके क्लेशों से मुक्त करने का, उनकी कमियों को पूरा करने का, उनकी दुर्बलता को दूर करने का, उनमें दृढ़ता लाने का, उनमें उमंग-उत्साह भरने का, उनकी बिखरी शक्ति का संचय करने का, साराश उनमें नवजीवन संचार करने का मार्ग न बतावे और उस मार्ग पर संकल्प, साहस, अध्यवसाय और एकाग्रता के साथ चलने की अभिरुचि और योग्यता न उत्पन्न करे। यदि प्राचीन आध्यात्मिक और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समन्वय हमारे विद्यालयो का मूल है तो देश का उद्धार, समाज का सुधार, दुख-दरिद्रता से लोगों का निस्तार उनका एक मधुर फल है, उनकी चरम परिणति है। हम चाहते

हैं कि हमारे सब राष्ट्रीय विद्यालय इस ओर अपना ध्यान दें, और इसी को अपना ध्येय, अपना लक्ष्य बनाकर इसी ओर अपने विद्यार्थियों को प्रवृत्त करावें, इसी की उन्हें दीक्षा दें और इसी की उपयुक्त शिक्षा देने में अपनी सारी शक्तियों को लगावें।

आज की सरकारी शिक्षाप्रणाली इसकी विपरीत दिशा की ओर प्रबल वेग से दौड़ती जा रही है। यदि इन प्रायः डेढ़ सौ वर्षों में इसके इतिहास की समीक्षा की जाए तो पता चलेगा कि यह हमें अपने वास्तविक जीवन केंद्र—देहातों से हटाकर नगर की ओर ही लिए जा रही है। हम इतने दिनों में क्या बने हैं—वकील, इंजीनियर, डॉक्टर और सबसे बढ़कर सरकारी दफ्तरों के नौकर ही बने हैं। जो लोग अपने को स्वाधीन पेशेवर कहते हैं जैसे वकील, डाक्टर, इंजीनियर आदि वे भी नाम के ही स्वाधीन हैं, वास्तव में वे उतने ही पराधीन हैं जितना कि कोई साधारण सरकारी नौकर हो सकता है। वे जहाँ चाहें वहाँ जाकर अपनी विद्या-बुद्धि या कौशल का उपयोग नहीं कर सकते। थोड़े से इने-गिने शहरों में ही उनका जौहर खुलता और खुल सकता है। जिन साधनों, उपकारों के जरिए वे अपना काम करते हैं वे नगरों की ही कृति हैं, वहीं उनकी प्राप्ति सुलभ है, वहीं उनका प्रयोग और उपयोग संभव है।

नौकरी ने तो अफीम की घुट्टी की तरह हमें निर्बल, निश्चेष्ट, निरुद्यम, निरुत्साह बना दिया है। हममें सोचने-समझने की यहाँ तक कि हाथ-पैर चलाने की भी शक्ति बाकी नहीं रह गई है।

तब यदि सरकारी शिक्षणपद्धति सरकार के हित बनी है, तो राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली राष्ट्र के हित होनी चाहिए। और राष्ट्र का केंद्र जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, ग्रामों में है, शहरों में नहीं है। हमारी शिक्षा को उसकी अनुगामिनी होना है, केन्द्रानुग शक्ति की तरह उसे सदा उसी केंद्र की ओर संचालित होना है, उसे सर्वथा ग्रामाभिमुखी बनना है, हम बहुत दिनों तक लक्ष्यभ्रष्ट, पथभ्रष्ट होकर इधर-उधर घूमते रहे हैं। हमें शीघ्र अपने वास्तविक लक्ष्य, अपने सच्चे पथ पर आ जाना चाहिए और गुरुकुल जैसी राष्ट्रीय संस्थाओं को ही इस ओर हमें फेरने का, हमें इस पथ पर ले जाने का श्रेय होना चाहिए। जिससे विद्यार्थियों में सच्चरित्रता और शुद्ध सेवाभाव उत्पन्न करके उनको इस योग्य बनावें कि देशहित और लोक हित के काम उनके द्वारा सम्पादित हो सकें। इसलिए विद्यालयों का मुख्य कर्तव्य विद्यार्थियों का चरित्र गठन ही है पर वहाँ का जीवन भी कुछ ऐसा होना चाहिए जिससे भविष्य के काम का कुछ अनुभव भी छात्रों को हो जाए। इस कारण ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अतिरिक्त शिक्षाक्रम में ऐसे विषयों का समावेश ज्ञान होना चाहिए, जिनसे ग्राम्य जीवन के विविध अंगों से उन्हें पूर्ण परिचय हो जाए और ग्रामीणों की सेवा की पूरी योग्यता उनमें आ जाए।

मनुष्य के सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए दो प्रकार की आवश्यकताएँ

हैं—एक शारीरिक और दूसरी आध्यात्मिक। शारीरिक आवश्यकताओं में अन्न और वस्त्र ही मुख्य हैं। इन दोनों की साधारण रीति से पूर्ति होने पर ही मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक आध्यात्मिक विषयों का चिंतन और मनन कर सकता है। इस सुजला-सुफला शस्यश्यामला भारत भूमि में अन्न पूरी मात्रा में उत्पन्न हो सकता है, और यद्यपि उसमें भी बहुत कुछ सुधार और उन्नति की आवश्यकता है पर इस समय हमें वस्त्र की बड़ी कमी है। इसके लिए हमें विदेशों और विदेशियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है जिसके कारण हमारी आयकर अन्न-धन का भी एक बड़ा भाग बाहर चला जाता है। इस संबंध में मार्के की बात यह है कि प्रायः 60 करोड के कपड़े विदेशों से आते हैं और करीब इतने ही मूल्य के अन्न विदेशों को जाते हैं। इस समय हमारे गरीब किसान अपनी जरूरियात को अन्न बेचकर ही पूरा कर सकते हैं। इसलिए कपडे के बदले उन्हें अन्न ही देना पडता है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि वस्त्र के विषय में वे स्वतंत्र हो जाएँ तो उन्हें जीवन की प्रधानतम आवश्यकता अन्न से वंचित न होना पडे। इस तरह की स्वतत्रता लाभ करना चरखा द्वारा पूर्ण मात्रा में संभव है। मिलों से इतने कपडे बन जाना संभव जरूर है पर इसका लाभ किसानों को नहीं हो सकता और उसके लिए जो स्वतत्रता हम चाहते हैं, उन्हे नहीं मिल सकती। चरखे का यही महत्त्व है कि यह व्यक्तिगत रूप से हर आदमी को स्वतंत्र बना सकता है, और इस प्रकार उनके मार्ग से इस बडी बाधा को दूर कर उन्हें आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर करा सकता है। हमारे शिक्षालयों द्वारा देश का यह बडा काम साधित होना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का वास्तविक कार्यक्षेत्र में यह एक बहुत ही सुंदर और आवश्यक उदाहरण होगा। पर इस काम को उचित रूप से संपन्न करने के लिए तथा जनता की अन्य प्रकार की उन्नति और अभिवृद्धि के लिए अनेकानेक कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है, जो प्राचीन भिक्षुओं और संन्यासियों की तरह शुद्ध लोकहित और सेवाभाव से गाँव-गाँव में फैल जाए और हमारी गिरी हुई जनता की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक जडता से मुक्त करके उसमें सच्चे धार्मिक और स्वतंत्रता के भाव उत्पन्न करें और उसे अपने पैरों पर खडा होने की योग्यता प्राप्त करने में सहायक बने।

गुरुकुल के स्नातको और ब्रह्मचारियो ! आपके सामने यह महान् कार्य पड़ा हुआ है। आपकी शिक्षा-दीक्षा का यही परिणाम होना चाहिए कि आप इस काम को उठावें और इसके संपादित करने में अपनी सारी शक्ति लगावें। आपको इस काम मे उत्साहित और अनुप्राणित करने के लिए आपके सामने आपके आचार्य, इसी गुरुकुल के अधिष्ठाता और प्राणपूज्य स्वामी श्रद्धानदजी का उज्वलंत जीवन और उससे भी अधिक देदीप्यमान मरण उदाहरणस्वरूप वर्तमान है। आप उनके ही प्रदर्शित पथ पर चलने की चेष्टा कीजिए। आप उन्हीं की तरह वीर, धीर और साहसी बनिए। आप उन्हीं का देश-प्रेम, लोकप्रिय सेवाभाव उपार्जन कीजिए, आप

उन्हीं के जैसा सब प्रकार के भेदभाव से दूर रहकर प्रेम, सहानुभूति, और सहिष्णुता से सबकी सेवा करना सीखिए। पूज्य स्वामीजी की गुरुकुल स्थापित करने में यही आंतरिक मनोकामना थी। इसी को पूरा कर आप उनका और उनके कार्यों तथा आदर्शों का सच्चा स्मारक बनिए। ईश्वर से प्रार्थना कीजिए कि वह आपको यह निष्ठा और यह शक्ति प्रदान करे।

[सन् 1945]

गुरुकुल के मूल सिद्धांत

●

प इद्र विद्यावाचस्पति

प्रिय नवस्नातको !

मैं इस वर्ष गुरुकुल विश्वविद्यालय के स्नातक बनन पर आप लोगों को विशेष रूप से बधाई देता हूँ। आप लोगों ने, अपने जीवन के उभरते हुए युग में, एक लबी तपोमयी यात्रा को सफलता से समाप्त किया है, यह बात सामान्यरूप से कुछ कम बधाई के योग्य नहीं है। परतु इस अवसर पर विशेष बधाई देने के दो कारण हैं। एक तो यह कि यह समय उन आदर्शों और सिद्धातो की विजय-घोषणा का है, जिनके आधार पर गुरुकुल की स्थापना की गई थी और दूसरा यह कि इस समय हमारी मातृभूमि को गुरुकुल की शिक्षा और दीक्षा प्रणाली द्वारा सुसस्कृत भारतीय युवको की विशेष आवश्यकता है।

यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत ।

जिस प्रयोजन से इस हमारी क्षत्राणी कुलमाता ने हमे दूसरा जन्म दिया है, उसे पूरा करने का समय आ गया है। हमारी बडी माँ भारत माँ अपनी दासता की जजीरों को तोडकर स्वतत्रता के उज्ज्वल आकाश मे अपना सिर ऊँचा करने जा रही है, यह एक महान् यज्ञ है, जो भारत-पुत्रो की आहुतियो के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। वह भारत-पुत्र धन्य होंगे जिन्हे इस महान् यज्ञ मे आहुति बनने का सौभाग्य प्राप्त हो जाएगा। प्रिय नवस्नातको ! आप लोगो को अवसर मिल रहा है कि आप भारत माँ के धन्य पुत्र बनो। इन दो कारणो से मैं इस वर्ष स्नातक बनने पर आपको विशेष रूप से बधाई देता हूँ।

मैंने कहा है कि यह समय उन आदर्शों और सिद्धातो की विजय-घोषणा का है, जिन पर गुरुकुल की स्थापना की गई थी। भारतवर्ष मे गत 45 वर्षों के शिक्षा की प्रगति के इतिहास पर दृष्टि डाले तो प्रतीत होता है कि वह प्रगति गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की ओर को रही है।

गुरुकुल के वे मूल सिद्धात, जिन्हे हम व्यवच्छेदक कह सकते हैं—जिनके कारण वह अन्य शिक्षण-सस्थाओं से भिन्न किया जा सकता है—निम्नलिखित हैं

1. शिक्षण-सस्था का सरकारी नियत्रण से स्वाधीन होना।

2. शिक्षा में राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय शिक्षा की मुख्यता।

3. गुरु-शिष्य सान्निध्य और आश्रम-प्रणाली द्वारा चरित्र-निर्माण को शिक्षा का आवश्यक और प्रमुख अंग मानना।

गत 45 वर्षों में ऐसे अनेक बड़े-छोटे शिक्षणालय और विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई है, जिनमें पूर्णरूप से अथवा आंशिक रूप में गुरुकुल के मूलतत्त्वों को कार्य-परिणत करने का यत्न किया गया है। हिंदू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया आदि सब संस्थाएँ गुरुकुल के पश्चात् स्थापित हुईं। इसी काल में दर्जनों गुरुकुल और शायद बीसियों राष्ट्रीय शिक्षणालय स्थापित हुए। जिन विचारों को प्रारंभ में केवल एक सनकी की सनक समझा जाता था, गुरुकुल के प्रारंभिक सफल संचालन के पश्चात् देश के बड़े-बड़े विभाग कम-से-कम एक सुहावना स्वप्न समझने लगे, और धीरे-धीरे वे स्थूल सचाइयों के रूप में परिणत होने लगे। किसी संस्था ने गुरुकुल की एक सचाई को अपनाया, और किसी ने ही की—परंतु हम गुरुकुल के समर्थक और स्नातक यह संतोषपूर्वक कह सकते हैं कि आज भी उपर्युक्त तीनों मूलतत्त्वों का एकीकरण केवल गुरुकुल में ही प्राप्त हो सकता है। गत 45 वर्षों में सरकार द्वारा या गैर-सरकारी तौर से शिक्षा-संबंधी जो कमीशन बिठाए गए हैं, उनकी रिपोर्टों के अध्ययन से आप इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि देश के प्रायः सभी शिक्षाविज्ञ लार्ड मेकाले की रिपोर्ट के आधार पर बनाई हुई सरकारी शिक्षापद्धति से असंतुष्ट थे और उसे भारतवासियों के लिए अनुपयुक्त और मनुष्यता की संपूर्ण उन्नति का विरोधी समझते थे। जो सुधारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं, उनका विश्लेषण करने से प्रतीत होगा कि उनका झुकाव उन्हीं मूलतत्त्वों की ओर है, जिनके आधार पर गुरुकुल की स्थापना की गई थी।

बहुत से विचार, जो 45 वर्ष पूर्व हवाई स्वप्न प्रतीत होते थे, आज स्थूल तत्त्व का रूप धारण किए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उस दिन मातृभाषा द्वारा शिक्षा देना एक खयाली पुलाव मालूम होता था, आज सरकारी यूनिवर्सिटियों में भी शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाया जा रहा है, और प्रांतीय धारासभाओं और केंद्रीय धारासभा में देश भाषा की तूती बोल रही है। उस दिन राष्ट्रीय शिक्षणालयों को राजद्रोह के केंद्र माने जाते थे, आज सरकारें उन्हें सहायता देने को उत्सुक हैं।

45 वर्ष अंग्रेजी सरकार के घर में संस्कृत की छाया भी असंभव थी, आज आप केंद्रीय धारासभा के भवन में प्रवेश करके छत की ओर दृष्टि डालिए तो आपको संस्कृत का यह नीति वाक्य लिखा मिलेगा— *'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः'*। उस दिन गुरुकुलीय वेशभूषा को उपहास के योग्य समझा जाता था, आज सरकार के गृह सदस्य सरदार वल्लभभाई पटेल केवल धोती-कुर्ता पहनकर इस महादेश के गोरे और देशी अफसरों पर अपना शासन चक्र चला रहे हैं, और उन शासन चक्र चलानेवालों पर भी आध्यात्मिक शासन कर रहा है, वह फकीर जो नंगे सिर और नंगे पाँव जाते एक ओर से गाँव-गाँव में पर्यटन कर रहा है—वहाँ छलधारियों के

मस्तकों पर भी विचरण कर रहा है। जो रहन-सहन और शोषण के आदर्श 1901 में उपहासास्पद समझे जाते थे, वह 1946 में सर्वोपरि सम्मान योग्य हो गए हैं। मैं यह तो नहीं कहूँगा कि यह संपूर्ण परिवर्तन केवल गुरुकुल के कारण हुए हैं; परंतु इतना कहने का साहस अवश्य करूँगा कि इन परिवर्तनों में गुरुकुल की प्रेरणा और गुरुकुल का दृष्टांत—दोनों ही सहायक हुए हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं हो सकता कि ये सब परिवर्तन गुरुकुल के आधार गूढ तत्त्वों का पूर्णरूप से समर्थन करते हैं। इसी कारण मैंने वर्तमान समय को गुरुकुल के मूल सिद्धांतों की विजय-घोषणा का समय कहा है। यह समय एक दूसरे कारण से भी अपूर्व है। हमारी मातृभूमि सदियों के मायाजाल को छिन्न-भिन्न करके प्रकाशमय स्वतंत्र जीवन में प्रवेश कर रही है, यह बड़ी शुभ घडी है, जब हमारे स्वाधीनता के महायज्ञ की पूर्ति हो रही है—और जैसे प्रत्येक महायज्ञ की पूर्ति में विघ्नकारी उपस्थित हुआ करते हैं वैसी ही इस महायज्ञ की पूर्ति में भी विघ्न-बाधाओं की कमी नहीं है। ज्यों-ज्यों यज्ञ की पूर्ति का समय निकट आता जा रहा है, त्यों-त्यों विघ्नबाधाओं का जोर बढता जा रहा है। ऐसे समय में ऐसे सरक्षकों की आवश्यकता है जिनमें बल हो, साहस हो और मरमिटने की भावना हो। गुरुकुल का जीवन और शिक्षण यदि कुछ सिखाता है—तो यही कुछ। उसने, आप लोगों को अपने देश भारत और उसकी सस्कृति से प्रेम करना सिखाया है, और सिखाया है उनके लिए अपने तन-मन की आहुति देना। आर्यजाति के इस भाग्यपूर्ण समय में जाति के पुत्रों में जिन गुणो की आवश्यकता है, गुरुकुल की दीक्षा का ध्येय उन गुणों से युक्त युवकों को तैयार करना है। आप लोगो ने वह दीक्षा समाप्त कर ली है। इधर आप दीक्षांत के लिए उद्यत हुए हैं, और उधर देश आप जैसे युवको को कर्मभूमि मे उतरने के लिए पुकार रहा है। मैं इस अपूर्व अवसर पर आप लोगों को बधाई देता हूँ। ऐसे ही अवसरो के लिए भगवान् कृष्ण ने कहा है

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्
सुखिन क्षत्रिया पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।

यह अवसर आर्य जाति के लिए बडा आशापूर्ण और साथ ही आशकापूर्ण है। जाति ने कई सदियो से छाती पर पडे हुए दासता के पहाड को उठाकर दूर फेंक दिया है, इसलिए यह अवसर आशापूर्ण है, परतु उठकर खडा होने के पहले आततायी का हाथ हमारे गले तक पहुँचना चाहता है, यह आशका की बात है। ससार बडी उत्सुकता से इस प्रथा का उत्तर पाना चाहता है कि आर्य जाति, आर्य सभ्यता और आर्य सस्कृति, जो सदियों की दारुणता से छूटने लगी है, आततायी के हाथ से अपने गले को बचा सकता है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर क्या हो, यह जाति के पुत्रो पर अवलबित है। यदि उनके हृदयों मे भारत देश, भारतीय सभ्यता और भारतीय सस्कृति के लिए प्रेम और अभिमान विद्यमान है, तो ससार की सब

आततायी शक्तियाँ मिलकर भी उसे स्वाधीन होने से नहीं रोक सकतीं। आप लोगों को गुरुकुल ने जो शिक्षा दी है, वह इस बात की गारंटी है कि आप इस भाग्यपूर्ण समय में देश के वीर प्रसिद्ध होंगे। यह समय युवकों के सुखमय जीवन व्यतीत करने का नहीं है। आप कभी-कभी अपनी आर्थिक समस्याओं पर विचार करते होंगे। मैं आपको विश्वास दिलवाता हूँ कि उन समस्याओं को समय स्वयं सुलझा रहा है, गुरुकुल के स्नातकों के मार्ग में जो सांसारिक बाधाएँ थीं, वह हमारी दासता के नाश के साथ-साथ स्वयं नष्ट हो रही हैं। जो कृत्रिम बाधाएँ थीं, वह दूर हो रही हैं और शीघ्र ही वह समय आ गया जब स्नातक इस जीवन के संघर्ष में अन्य युवकों के बराबर होकर उतर सकेंगे। उस समय सफलता या असफलता उसके अपने प्रयत्न और योग्यता पर अवलंबित होगी, किन्हीं कृत्रिम कारणों पर नहीं।

परंतु मैं इस समय आप लोगों को उनकी बात सुनाकर प्रसन्न नहीं करना चाहता। वह तो स्वयं होनेवाला है—उसमें हमारी क्या प्रशंसा। आप लोगों के सोचने की बात तो यह है कि अब गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करके हम क्या करें ? इस प्रश्न का उत्तर इस समय यही है कि आप इस अलभ्य अवसर से लाभ उठाएँ। आपको अपनी योग्यता और गुणों द्वारा आर्यदेश, आर्य जाति और आर्य संस्कृति की सेवा का जो अपूर्व समय मिला है, उससे पूरा-पूरा लाभ उठाएँ—इसी में आपका कल्याण और गुरुकुल माता का यश है।

[सन् 1947]

स्वतंत्रता की रक्षा

•

नरहरि विष्णु गाडगिल

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति विश्व मे फैली हुई थी। उसकी प्रतिष्ठा इसलिए थी कि हम उसे अपनी संस्कृति समझते थे। लेकिन आज हम संस्कार एवं प्रथा के पीछे पडे हुए हैं। अतः यही हमारी दासता का कारण था। अतः यदि आज पुनः हम संस्कृति को समझने लगें तो हमारी प्रतिष्ठा सारे संसार में पुनः फैल सकती है।

स्वतंत्रता की रक्षा—नवयुवक हमारे देश के उज्ज्वल भविष्य हैं। आज स्वाधीनता का सुअवसर उसके सामने है। हमने अपने स्वप्नों को साकार कर दिया, जिसकी रक्षा करने का उत्तरदायित्व नवयुवकों पर है। यदि आज नवयुवक सामने आकर उसे नहीं समझेंगे तो देश समृद्ध होते हुए भी गरीब रहेगा।

अनुशासन आवश्यक है—इस नवीन स्वाधीनता की रक्षा का उत्तरदायित्व पूर्ण करने के लिए आवश्यक है कि नवयुवक पूर्ण अनुशासन एवं नम्रता से रहें।

पराधीनता के समय हमारा दृष्टिकोण और था। आज निर्माण का अवसर है। प्रत्येक कार्य के लिए कठोर प्रयत्न की आवश्यकता है। इसके लिए कठोर अनुशासन रखने के लिए सतत प्रयत्न करना पडेगा।

सादा जीवन व समृद्धि—सादा जीवन व समृद्धि मे कोई विरोध नहीं है। लौकिक विकास करके देश को समृद्ध किया जाता है। लेकिन प्राचीन आध्यात्मिकता की उपेक्षा करना हानिकारक हो सकता है। इसे समृद्धि के लिए करोडों व्यक्तियो के सहयोग की आवश्यकता है।

विश्व की संस्कृतियों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति महान् हैं। पर कैसी विडबना है कि हमने संस्कृति को भूलकर सस्कार को पकड रखा है। उससे हमारी प्रतिष्ठा को धक्का लगा है इसलिए हमें सस्कार के स्थान पर सस्कृति व सभ्यता का अनुसरण करना चाहिए। युवक अपनी जिज्ञासा की वृत्ति को सदा जागरूक रखे तभी वे सच्चे ज्ञान के अधिकारी बनेंगे।

[सन् 1949]

संस्कृत भाषा के पुनरुद्धार में ही भारत का हित निहित है

•

नरहरि विष्णु गाडगिल

आज इस विश्वविद्यालय के स्वर्णजयती के अवसर पर आयोजित इस संस्कृत सम्मेलन के सभापति के रूप मे मैं आपके समक्ष खडा हूँ। इसमें मेरी योग्यता कारण नहीं है, अपितु आपका ममत्वभाव ही कारण है। गत वर्ष भी इस ममत्व के कारण मुझे बुलाकर इस विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने अपने विचारो को प्रकट करने का अवसर दिया था। उसी प्रसन्नता से पराधीन हुआ-सा आकृष्ट चित्तवाला मैं अधीर जनों के स्वभाव के समान उसी प्रेम को स्थायी करने के लिए वही धृष्टता पुन. कर बैठा हूँ। इस सम्मेलन का समस्त कार्य तो यहाँ के विद्वज्जन ही करेंगे। मैं तो केवल उस भाव से यहाँ बैठा हूँ, जिस भाव से गाँव के अंदर कोई मेहमान रहता है। वास्तव मे तो इस सभा में मेरा मौन ही शोभा देता है, वक्तव्य नहीं।

आज निश्चित ही हम सब लोग सपूर्ण प्रभुतासम्पन्न लोकराज्य मे रह रहे हैं। यह सस्कृत भाषा के पुनर्जीवन की प्रारंभ बेला है, यह बात और भी अधिक आनददायिनी है। इस भारतवर्ष मे जो आद्यभाषा है, जो शिव के डमरू से निकली हुई नाद मधुर और प्रसार से मुक्त भाषा है, वह यही सस्कृत भाषा है। उसी के रत्नो और आभूषणों से जडी हुई और उसकी छत्रच्छाया में चद्रमा की कला के समान उत्तरोत्तर बढनेवाली हिंदी भाषा आज इस महान् देश की राज्यभाषा के पद पर विराजमान है। जैसे एक विशाल जलाशय से नाना दिशाओं को बहनेवाली नदियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस देश के अदर हिंदी, मराठी, गुजराती, बगला आदि भाषाएँ सस्कृत भाषा से ही निकली हैं। नदी प्रवाह की शुद्धता, विस्तार, पवित्रता, निर्मलता आदि वस्तुएँ उसके कारणभूत जलाशय का अवलंब लेकर ही रहती हैं, यह बात सभी को विदित है। इसीलिए इस देश की समस्त भाषाओं की वृद्धि के लिए और राज्यभाषा हिदी की अभिवृद्धि के लिए संस्कृत की अभिवृद्धि, उसकी प्रतिष्ठा और गौरव अत्यावश्यक किया जा रहा है। जिस प्रकार पृष्ठभूमि की अनुरूपता मे वहाँ पर अकित चित्रों का सौंदर्य नयन-मनोहर होता है वही बात यहाँ

भी समझनी चाहिए।

सैकडो वर्षों तक सभी ग्रंथों की रचना इसी भाषा में होती रही। समस्त वेद, समस्त उपनिषदें, समस्त ब्राह्मण ग्रंथ, महाभारत, इतिहास, पुराण, काव्य और नाटक यह सब प्रकार की ग्रंथ संपत्ति इसी भाषा में विद्यमान है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् इसकी ग्रंथ सपत्ति का पश्चिम विदेशों में भी प्रारंभ हुआ। यह सत्य है कि भारतवर्ष की आध्यात्मिक श्रेष्ठता, प्राचीन वैभव, काल का अतिक्रमण करनेवाली संस्कृति विषयक स्निग्धता, और उसका स्वाभिमान, इन सबकी स्पष्टता पाश्चात्य विद्वानों के एतद्विषयक लेखों से हुई। जहाँ एक ओर मेकाले आदि के द्वारा उसकी निंदा की गई, वहीं दूसरी ओर मैक्समूलर, मोनियर विलियम आदि विद्वानों के द्वारा हमारी संस्कृति का यथार्थ स्वरूप भी सबके सामने रखा गया।

प्राचीन काल से लेकर ही सर्वत्र देश मे सस्कृत विद्या के अधिष्ठान विद्यमान थे। विशेषरूप से उत्तरप्रदेश में काशी और दक्षिण में वाई का नाम लिया जा सकता है। काल के बीतने के साथ-साथ इस विद्या का राज्याश्रय क्रम से क्षीण होता गया और यह उपेक्षित होती गई। यही कारण है कि आज पद वाक्य प्रमाणज्ञ ब्राह्मणो के स्थान पर द्रुतलिपि और कीलाक्षर की लेखनकला मे निष्णात् विद्वान ब्राह्मण प्रादुर्भूत हो गए। लोगों ने विद्या का मूल्य उपयोगिता की कसौटी पर चढाकर निश्चित करना प्रारभ कर दिया।

विद्या स्वान्त सुखाय न रही। अपितु 'इसके ग्रहण करने से कितने लौकिक अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं।' इस विषय पर ही सबकी दृष्टि स्थिर हो गई। अनेक युगों से आती हुई शास्त्रज्ञ पंडितो की परपरा शिथिल हो गई। यहाँ पर ही यह बात समाप्त नहीं हुई, अपितु ये शास्त्री और पंडित उपहास के पात्र बन गए। प्राकृत भाषा में, उपनिषद् साहित्य में इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। राज्य का आश्रय न रहने पर भी प्रजाओं के उदासीन हो जाने पर अत्यत गरीबी की दशा में भी तथा अत्यत प्रतिकूल समय में भी जिन्होने सस्कृत विद्या का परिरक्षण किया, वे लोग धन्य हैं और हमारे लिए आदर के पात्र हैं।

यह हमारा अहोभाग्य है कि आधुनिक विद्वानों में भी सस्कृत विद्या मे आदर रखनेवाले न्यायमूर्ति रानाडे, लोकमान्य तिलक, डॉक्टर भडारकर, राममोहनराय जैसे विद्वान हुए हैं। पजाब मे स्वामी दयानद सरस्वती के द्वारा जो वैदिक धर्म की पताका फहराई गई, उसके साथ सस्कृत भाषा का उद्धार फिर से प्रारभ हुआ। जैसा मैं जानता हूँ, बहुत वर्षों से अनेक विश्वविद्यालयो मे, पाठशालाओ मे और महाविद्यालयों में द्वितीय भाषा के रूप मे सस्कृत भाषा को प्रवेश दिया गया है। वहाँ पर यह भाषा नवीन पद्धति के अनुसार, विशेष रूप से कुछ क्रमिक पुस्तको के आधार पर ही चढाई जाती है। रूपावति, समासचक्र, सिद्धात-कौमुदी, पाणिनीय सूत्र आदि ग्रंथो का परिचय अथवा उनमे प्रवेश कहीं-कहीं पर ही दिखाई देता है। फिर भी कहीं-कहीं प्राचीन पद्धति से अध्यापन के स्थान भी विगत पचास वर्षों से

इस देश में बने हुए हैं। जिस संस्था के स्वर्ण महोत्सव का आरंभ आज यहाँ किया जा रहा है, वह संस्था भी उसमें प्रमुख स्थान रखती है।

आजादी की लड़ाई में देशी भाषाओं को प्रोत्साहन दिया गया था। स्वतत्रता के साथ स्वदेशी वस्तुओं का ग्रहण, अपनी भाषा, स्वाभिमान और अपनी संस्कृति आई है। अनेक शताब्दियों से इकट्ठा समस्त अंधकार विलीन हो गया है। इस समय संस्कृत भाषा के सूर्य का उदय हो चुका है। अनंत काल तक तप करके भगीरथ के द्वारा लाई गई गंगा जिस प्रकार हरिद्वार के निकट थोड़ी देर विश्राम करके फिर आगे बढ़कर भारतवर्ष को समृद्ध करती है, उसी प्रकार संस्कृत भाषा के पुनरुद्धार के प्रयत्नों के सफल हो जाने पर क्षणभर ठहरकर यहाँ से आगे बढ़ने के स्वभाववाली संस्कृत भाषा की भगीरथी अवश्य ही समृद्धि को प्राप्त करेगी। इस समय राज्य का आश्रय और प्रजाओं का आश्रय तथा सम्मान इस भाषा के लिए प्राप्त है। स्वभाव से जो सुवर्ण है वह आभूषण के स्वरूप को प्राप्त करके और भी अधिक चमक उठता है। उसी प्रकार यह सब प्रयत्न भी चमकेंगा। आप जैसे कुशल शिल्पी जहाँ पर हों, वहाँ पर संस्कृत भाषा का स्वरूप आभूषण पद को प्राप्त किए बिना कैसे रह सकेगा ? इसके पश्चात् करणीय जो कार्य है वह अत्यत महान् और गुरुतर है। संस्कृत भाषा के विश्वविद्यालय की स्थापना हो, ऐसा अनेक लोगों का जो विचार है, वह सफल हो, ऐसी परिस्थिति इस समय उपस्थित हो गई है। जो भी आप लोग करना चाहते हैं या कर्तव्य का निश्चय करेंगे, उस प्रयत्नरूपी यज्ञ में अपने को समर्पित करने के लिए मैं सब प्रकार से सदा सन्नद्ध हूँ।

आप लोगों ने मेरे इस वक्तव्य को प्रेम से सुना, इसके लिए कृतज्ञ हूँ। इसमे जो कुछ उपादेय है, वह आप लोगों के आशीर्वचनों का फल है। और जो इसमें त्रुटि है, वह मेरी है और मेरे ही कर्मों से उत्पन्न हुई है। निश्चित ही आपकी उदारता असीम है। इसी कारण अपनी अनेक त्रुटियो की संभावना को जानकर भी संस्कृत भाषा में बोलने की धृष्टता मैंने की है। मेरे इन भावों को आप ग्रहण करेगे। 'अर्थ ही ग्राह्य है, शब्द नहीं'—इस विनोदात्मक न्याय के अनुसार मेरे प्रकाशित विचारो के तत्त्वों को ग्रहण करके सारहीन भाग को छोड़ देंगे। ऐसा कहकर मैं विश्राम कर लेता हूँ।*

[सन् 1949]

* मूल संस्कृत भाषण का हिंदी रूपांतरण डॉ. विजयपाल शास्त्री द्वारा किया गया है।

आर्ष शिक्षा-पद्धति गरिमामयी है

डॉ. राजेन्द्रप्रसाद

प्रायः 25 वर्ष हुए होंगे जब मैं पूज्य महात्मा गाँधीजी के साथ गुरुकुल के समावर्तन के अवसर पर एक बार पहले आया था। तब से देश में कितना बडा अंतर हो गया है, यह आप भली भाँति जानते हैं। उस समय हम स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हुए थे और ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ हमारा अहिंसात्मक संग्राम चल रहा था। आज हम स्वतंत्र हैं। अंग्रेज इस देश से चले गए और अपने भाग्य को बनाने और बिगाडने का पूरा अधिकार हम अपने हाथों में ले चुके हैं। इसलिए आज हमारे सामने जितने प्रश्न आते हैं, उनका हमें स्वय ही हल खोज निकालना है। और जिस हद तक हम सफलतापूर्वक प्रश्नों का निपटारा कर सकेंगे, देश उन्नत होगा।

देश की सेवा के लिए अच्छे सुचरित्र, बुद्धिशाली कर्मठ और त्यागी काम करनेवालों की जरूरत है। जो नया विधान देश के लिए बनाया गया है उसमें सभी 21 वर्ष के लोगों को मत देकर प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया है। जो प्रतिनिधि चुने जाएँगे, उनके हाथों में प्रांत अथवा सारे देश के शासन की बागडोर रहेगी और उनके ही निश्चयों के अनुसार देश का सारा काम चलाया जाएगा। उनके अतिरिक्त बहुत बडी संख्या में राजकीय कर्मचारी होंगे जिनको प्रतिनिधियों द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार देश के शासन का काम चलाना होगा। इन सभी स्थानों के लिए, चाहे वह प्रतिनिधियों के हों अथवा कर्मचारियों के, योग्य ईमानदार सेवकों की आवश्यकता होगी। काम भी कितनें प्रकार के होंगे। विद्या प्रचार के लिए ग्रामीण पाठशालाओं से लेकर उच्च से उच्च कोटि की सस्थाओ के लिए शिक्षक और ऐसे विद्वान जो हर प्रकार की विद्या-ज्ञान संबंधी खोज और अनुसंधान करके नित्य नए विचारों का प्रचार कर सकें, बीमारी और अस्वस्थता दूर करने के लिए ऐसे लोगों की जो केवल इन विषयों में निष्णात ही न हों पर सच्ची भावना से काम करनेवाले हों, जरूरत पडेगी। गरीबी दूर करने के लिए संपत्ति बढ़ाने के उपायों के रास्ते ढूँढ़ निकालनेवाले और जो संपत्ति प्रकृति ने देश को दी है, उसको देश और जनता की सेवा में लगा देने की शक्ति रखनेवाले लोगों की भी आवश्यकता होगी जो देश में दरिद्रता के स्थान पर संपन्नता ला सकें, अर्थात् सभी प्रकार के

काम करनेवालो की आवश्यकता देश को है। ऐसे लोगो को तैयार करने का काम हमारे विद्यालयो और दूसरी शिक्षा सबधी सस्थाओ को है।

आपका गुरुकुल एक प्राचीन ढग पर चलनेवाला नए प्रकार का विद्यालय रहा है। सारे देश मे अंग्रेजी का बोलबाला था और सभी विद्यालयो मे अग्रेजी के माध्यम द्वारा ही शिक्षा दी जा रही थी। आपके दूरदर्शी सस्थापक स्वामी श्रद्धानदजी ने हिदी के माध्यम द्वारा उच्चकोटि की शिक्षा देने का निश्चय किया और इस सस्था को आज से 50 वर्ष पूर्व स्थापित किया। इन 50 वर्षों के प्रयोगो से यह प्रमाणित हो गया कि उच्चकोटि की शिक्षा भी हिदी द्वारा दी जा सकती है और जो विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं, वह दूसरे विद्यालयो मे जहाँ अग्रेजी माध्यम है, शिक्षा पाए हुए विद्यार्थियों से किसी बात मे कम नहीं होते। बात तो यह है कि विदेशी भाषा सीखने का भार—विशेष करके जब दूसरे विषयो के जानने और सीखने का विदेशी भाषा ही माध्यम है, वह भार बड़ा होता है और वह मनुष्य के मस्तिष्क के विकास को अवरोधित कर देता है। आपने यही समझकर यह नया काम ऐसे दिनो मे शुरू किया था जब इसमें किसी प्रकार की सहायता का प्रोत्साहन गवर्नमेंट से मिलने की आशा नहीं थी। जो विद्यार्थी यहाँ से शिक्षा पाकर निकलते, उनको किसी सरकारी सस्था मे योग्यता रहते हुए भी कोई स्थान नहीं मिलता और अन्य प्रकार की अनेक बाधाएँ जो किसी भी कमजोर आदमी को हतोत्साह कर सकती थीं, आए दिन सामने आती रहीं। पर किसी की परवाह न कर आपके सचालक गुरुकुल को चलाते रहे और जनता ने सहायता की। आज अब यह मान लिया गया है कि हिदी देश की राजकीय भाषा होगी और यह भी शिक्षाशास्त्री मानने लग गए हैं कि शिक्षा का माध्यम हमारी अपनी भाषा होनी चाहिए न कि विदेशी भाषा। इस दिशा मे शिक्षा पद्धति में परिवर्तन भी आरंभ हो गया है और आशा की जाती है कि थोडे ही दिनो मे हमारे सभी शिक्षालयों में अपनी भाषा द्वारा ही शिक्षा दी जाने लगेगी और देश का सारा कारबार अपनी भाषा में ही होने लगेगा। यह देखकर आपके संचालकों को संतोष होना चाहिए ही और मैं उनको बधाई देना चाहता हूँ कि जो गुरुकुल के सस्थापक ने इतने दिन पहले सोचा था और जिस काम का नन्हा-सा पौधा लगाया था, वह आज एक वृक्ष हो गया है और अब उसमें फूल और फल शीघ्र ही देखने मे आ जाएँगे।

आपकी दूसरी विशेषता यह रही है कि आपने गुरुकुल की प्राचीन प्रथा को पुनर्जीवित किया। उस प्रथा का महत्त्व और विशेषता इसमे है कि गुरु और शिष्य का सबध एक परिवार के लोगों जैसा हो जाता है। शिष्य गुरु को पितातुल्य और गुरु शिष्य को पुत्रवत् मानने लगता है और इस तरह गुरु वात्सल्य प्रेम और शिष्य भक्ति और श्रद्धा करता है। इसका प्रभाव अध्ययन के अलावे चरित्र पर बहुत गहरा पडता है। आधुनिक प्रथा में यह भावना बिल्कुल नहीं होती है और इसका नतीजा यह हुआ है कि आज हमारे विद्यालयों और शिक्षालयों में जो अध्यापक और आचार्य

होते हैं उनका विद्यार्थियों के साथ किसी प्रकार का सपर्क होने ही नहीं पाता है। कॉलेजों का, तो मैं कह सकता हूँ कि इतना ही सपर्क होता है जितना किसी आदमी को एक सार्वजनिक सभा में भाषणकर्ता से होता है। शायद यही कारण है कि अध्यापकों में एक श्रेणी लैक्चरर्स की होती है, अर्थात् जो केवल लैक्चर या भाषण दिया करते हैं। बहुतेरे ऐसे विद्यार्थी बडे-बडे कॉलेजों में मिलेंगे जिनके नाम तक भी अध्यापक नहीं जानते और जिनके साथ उनकी एक बार भी सारी अवधि में जो विद्यार्थी कॉलेज मे बिताता है, अध्यापक से बाते नहीं हो पाती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में अध्यापक के चरित्र का कोई विशेष प्रभाव विद्यार्थी पर नहीं पड सकता और दोनो के बीच गुरु-शिष्य का सबध तो हो ही नहीं सकता। इसलिए यदि विद्यार्थियो को अध्यापक सँभाल मे नहीं रख सकते और दोनो के बीच कई बातो में दो विरोधियो जैसा सबध पैदा हो जाता है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमारी पुरानी पद्धति में जब विद्यार्थी गुरु से भी अधिक विद्वान और योग्य हो जाता था तो भी गुरु के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव बना रहता था और विद्यार्थी मानता था कि यद्यपि वह विद्या प्राप्त करने मे गुरु से बढ गया है तो भी प्रारभ में विद्या तो गुरु ने ही दी है और वह उस अहसान को कभी भूल नहीं सकता। आज एक कारखाने मे मजदूर काम करता है और समझता है उसका सबध कारखाने के मालिक से इतना ही है कि वह काम कर दिया करे और मजदूरी ले लिया करे अथवा जैसे मालिक समझता है कि वह मजदूरी देता है तो मजदूर से काम करा लेने तक का हक है, उसी तरह विद्यार्थी और गुरु समझते हैं कि विद्यार्थी का हक है कि जब वह अपने स्कूल या कॉलेज मे फीस दे देता है तो अध्यापक जो कुछ पढा सकता है वह उसको पढा देना चाहिए और अध्यापक समझता है कि जब विद्यार्थी फीस देता है तो उसका काम है कि समय पर जितने घटे या मिनट उसको पढ़ा देना लाजमी है उतना उसे क्लास में लैक्चर या भाषण दे देना चाहिए और उसके कर्तव्य की इतिश्री वहाँ हो जाती है। ऐसी अवस्था में विशृखलता मनमानापन और उद्दण्डता अगर देखने में आवे तो उसमे आश्चर्य की बात ही क्या है। मनुष्य का स्वभाव कुछ तो जन्म से ही बनता है पर बहुत करके जैसे वातावरण मे वह पलता है और जैसे लोगो के संपर्क में आता है और वह सपर्क जितना घनिष्ट होता है उस पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। यदि यह कहा जाए कि इस वातावरण और संपर्क का प्रभाव मनुष्य के चरित्र पर अधिक पडता है तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसलिए हमारी शिक्षा-पद्धति की यह एक बडी भारी त्रुटि थी जिसको दूर करने का प्रयत्न पुरानी पद्धति को पुनर्जीवित करके किया गया।

चरित्र-गठन में धार्मिक भावना और श्रद्धा बहुत असर डालती है। धार्मिक भावना से अर्थ कट्टरपना नहीं है और श्रद्धा अध भक्ति नहीं है, पर यह ऐसी चीज है जो परोक्ष रीति से मनुष्य के जीवन पर प्रत्येक क्षण बहुत असर डालती रहती

है। और चाहे मनुष्य माने या न माने उसका नैतिक चरित्र उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए यहाँ आपने उस धार्मिक भावना का भी काफी प्रभाव रखा है। मैं मानता हूँ कि हमारे सभी शिक्षालयों का उद्देश्य होना चाहिए कि स्वस्थ, विद्याभ्यासी और सच्चरित्र सेवक देश को दें जो सब प्रकार के काम के लिए अपने को योग्य साबित कर सकें।

स्वास्थ्य के लिए अच्छा स्वस्थकर भोजन, शुद्ध जलवायु, आवश्यक शरीर श्रम और शुद्ध आचरण आवश्यक हैं। गुरुकुल जैसी संस्था में यह सब उपलब्ध हो सकता है। पर ऐसे स्थान में और ऐसे शिक्षालय में इनमें से एक का भी मिलना दुर्लभ है, जहाँ विद्यार्थी किसी न किसी तरह जहाँ कहीं उसे रहने को जगह मिल जाए और जो कुछ खाने-पीने को मिल जाए, वह खा पी-लिया करे और उसका अपने विद्यालय से और शिक्षकों के साथ केवल उतने ही समय तक संपर्क रहे जितने समय में उसे अपने वर्ग में बैठना अनिवार्य हो, इनमें से एक भी उपलब्ध नहीं हो सकता है। विद्याभ्यास से अर्थ केवल रटंत विद्या नहीं है और न वह विद्या जो केवल परीक्षा के समय प्रश्नों के उत्तर देने ही के लिए प्राप्त की जाती है। सच्चा विद्याभ्यास तो वही कहा जा सकता है जिसमें जो कुछ सीखा गया है उसके अतिरिक्त अधिक सीखने की और अधिक जानने की एक ऐसी चाह उत्पन्न हो जाए कि मनुष्य सारे जीवन भर अभ्यासक्रम को जारी रखे और अपने ज्ञान को अंत तक बढ़ाता ही रहे। इस प्रकार का विद्याभ्यास ऐसे विद्यालयों में कहाँ हो सकता है जहाँ परीक्षा पास करना ही मुख्य उद्देश्य हो और जहाँ न विद्यार्थी के सामने और न शिक्षक के सामने कोई भी दूसरा आदर्श रहता हो।

चरित्र के संबंध में एक ऐसी धारणा हो गई है कि इसके लिए हमें कुछ करना नहीं पड़ता है। यह स्वतः बन जाता है। बात यह है कि जो कुछ स्वतः बन सकता है वह स्वतः बिगड़ भी सकता है और यही होता है। इनकी ओर ध्यान नहीं देने का एक प्रत्यक्ष फल यह होता है कि कुछ लोग तो अच्छे वातावरण और सच्चे संपर्क से जो उनको अनायास मिल जाता है बहुत अच्छे हो जाते हैं और कुछ लोग इनके विपरीत होने से बिगड़ भी जाते हैं। इसलिए यदि प्रयत्नपूर्वक चरित्र सुधारने के लिए हमारे शिक्षालयो में कोई प्रबंध किया जाए तो इसमें कोई संदेह नहीं कि इसका परिणाम बहुत अच्छा होगा। मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि विद्यार्थियों को सच्चरित्रता के संबंध में दिन-प्रतिदिन मौखिक पाठ पढ़ाया जाए। मैं मानता हूँ कि इसका भी कुछ असर अवश्य पड़ता है। पर मैं चाहता हूँ कि केवल मौखिक शिक्षा न देकर कुछ ऐसे काम दिये जाएँ और किए जाएँ जिनके द्वारा विद्यार्थियों को कुछ न कुछ इस संबंध में वस्तुपाठ मिला करे। इसके लिए सामूहिक व्यायाम और खेलकूद का भी अच्छा उपयोग हो सकता है। मनोरंजन के साधन भी ऐसे प्रस्तुत किए जा सकते हैं कि जिनका असर चरित्र पर अच्छा पड़ सकता है। पर यही साधन बुरे हों तो उनका बुरा असर भी पड़ सकता है। आजकल मैं देखता हूँ कि

जितने ऐसे स्थान हैं जहाँ विद्यार्थियों की जमघट है, वहाँ सिनेमा के ग्राहकों की बड़ी तादाद विद्यार्थियों की ही हुआ करती है। सिनेमा में यदि अच्छे खेल दिखलाए गए तो उनका अच्छा असर पड सकता है पर बुरे खेल का बुरा असर पड़े बिना रह नहीं सकता। मैं नहीं जानता कि जो खेल शहरों और बाजारों में दिखलाए जाते हैं और जिनको ही अधिक करके विद्यार्थी लोग देखा करते हैं उनका कोई अच्छा असर पड़ता है। इसलिए यदि इस प्रकार के मनोरंजन आवश्यक समझे जाएँ तो उनका प्रबध विद्यालय को स्वयं करना चाहिए जिसमें जाँचे हुए खेल ही दिखलाए जाएँ और विद्यार्थियों को खुले आम टकाही सिनेमा मे जाने की इजाजत न दी जाए, जिनमें, या तो आधुनिक यंत्रों द्वारा किस तरह से चोरी-डकैती की जाती हैं अथवा युवा अवस्था की प्रेम कहानी के खेल, जिनका कोई उच्च आदर्श नहीं, दिखलाए जाते हैं। इस पर भरोसा करना कि केवल अच्छी कहानियाँ ही दिखलाई जाएँगी, ठीक नहीं है। क्योंकि जब तक ग्राहक उस प्रकार के अवांछनीय खेलों को पसद करते रहेगे तब तक वह सामने आते ही रहेंगे और उनका रोकना कठिन ही रहेगा।

मैंने कुछ विषयांतर कर दिया पर शायद यह एक प्रकार से आवश्यक है। सेवा की भावना सेवा करके ही पैदा की जा सकती है और इसलिए यदि देश और समाज के अच्छे सेवक तैयार करने हैं तो उनके सामने क्रियात्मक रूप से सच्ची सेवा के उदाहरण रखने चाहिए और विद्यार्थियों को इसका मौका देना चाहिए कि वह किसी न किसी सेवा-कार्य में कुछ भाग ले सके। केवल मौका ही नहीं, जहाँ तक हो सके प्रोत्साहन भी देना चाहिए। इसलिए कोई भी शिक्षालय तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक उसमे यह सभी सामान जो स्वास्थ्य, विद्याभ्यास, चरित्रगठन, और सेवा के लिए आवश्यक हैं, प्रस्तुत न हों। मैं गुरुकुल जैसी सस्थाओं का इसलिए आदर करता हूँ कि इनमे यह आदर्श रखकर काम किया जाता है और जहाँ अच्छे अध्यापक और आचार्य मिल जाएँगे और यह आदर्श सामने रखे जाएँगे वहाँ सच्ची और उपयोगी शिक्षा जो देश के लिए हितकर होगी, मिलेगी।

जिस समय इस गुरुकुल की स्थापना हुई थी, विदेशी हुकूमत चल रही थी। बहुत बातो में उस हुकूमत का इन आदर्शों के साथ मेल नहीं खाता था। और इसलिए उस हुकूमत की मातहती कबूल करना ऐसी संस्थाओं के लिए न हितकर था और न सभव। पर आज वह स्थिति नहीं रही, कोई कारण अब नहीं रह गया कि इन आदर्शों का राष्ट्रीय विधान और नियंत्रण तथा शासन के साथ पूरा सामजस्य न हो जाए। मेरी इच्छा और प्रार्थना है कि यह सामंजस्य शीघ्र से शीघ्र स्थापित हो पाए और वे शिक्षण संस्थाएँ जो आज तक राष्ट्रीय शिक्षण देने का विशेष प्रयत्न किया करती थीं वह भी सरकारी शिक्षालयो के साथ घुलमिल जाएँ और जो सरकारी शिक्षा संबंधी संस्थाएँ हैं वह भी अपने कार्यक्रम को ऐसा बना लें कि वह भी उन्हीं आदर्शों की पूर्ति कर सकें जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है। मैं

आशा करता हूँ कि इस प्रकार के एकीकरण में सभी संस्थाएँ दत्तचित्त होंगी और जो एक बड़ी खाई देशी और विदेशी भाषा के शिक्षामाध्यम होने के कारण पड़ गई थी वह शीघ्र ही मिट जाएगी और सब संस्थाएँ एक उद्देश्य और एक लक्ष्य से अनुप्राणित होकर ऐसे जनसेवक तैयार करने में लग जाएँगी जो हमारी कठिन से कठिन समस्याओं को हल करने में समर्थ होंगे और जो उन्नति का रास्ता हमारे लिए स्वराज्य-प्राप्ति से खुल गया है उस पर देश आगे बढ़ेगा।

भारत सरकार की ओर से एक लाख

इस मुद्रित भाषण को पढने के बाद राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्र प्रसादजी ने जो मौखिक भाषण दिया वह इस प्रकार है :

> "स्वाधीनता प्राप्ति से पहले गुरुकुल कांगडी ने तत्कालीन सरकार से असहयोग कर रखा था। लेकिन आज तो अपनी सरकार कायम हो चुकी है। इसलिए गुरुकुल और वर्तमान सरकार के बीच सहयोग स्थापित हो जाना चाहिए। मौजूदा सरकार गुरुकुल के लिए अपनी है और सरकार भी गुरुकुल को अपना ही समझती है। अतएव गुरुकुल को सरकारी शिक्षण व्यवस्था का अंग बन जाना चाहिए। मगर किसी भी देश के निर्माण मे स्वतंत्र शिक्षण संस्थाओं का अपना एक विशिष्ट स्थान हुआ करता है। ऐसी ही संस्थाएँ शिक्षा में क्रांति कर सकती हैं। इस अवस्था में यदि गुरुकुल कांगडी अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखना चाहेगा तो सरकार को कोई आपत्ति न होगी। सरकार उसे सब प्रकार की सहायता देती रहेगी। इसी भावना से प्रेरित होकर मैं भारत सरकार की ओर से गुरुकुल कांगडी के लिए एक लाख रुपए के दान की घोषणा करता हूँ।"

[सन् 1950]

राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय शिक्षण

श्री आनन्द स्वामीजी महाराज

दीक्षांत समारोह के इस शुभ अवसर पर आप सब लोग यहाँ पर इकट्ठे हुए हैं। जो नये स्नातक गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगडी से पूरी शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जीवन के नए क्षेत्र में प्रविष्ट हो रहे हैं—उनके लिए तमाम नर-नारी यह शुभ कामना करें कि परमात्मा इन्हें अपने कार्य में सफल बनावे। नए स्नातकों का जीवन के नए क्षेत्र में स्वागत करते हुए कुछ समझ में नहीं आता कि किन शब्दों में स्वागत किया जाए। आज जिस परिस्थिति से गुजर रहे हैं वह बड़ी भयंकर है, चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है और कोई नहीं कह सकता कि कल क्या हो जाएगा। मायावाद और भोगवाद के दावानल में लगभग ससार के प्राणी जल रहे हैं, ऐसी परिस्थिति में आपका स्वागत किन शब्दों में करूँ। परतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आप निराश हो जाएँ। संसार में किसी भी वस्तु के लिए न्यूनता नहीं है और यदि गत दो-तीन सौ वर्षों की अपेक्षा आज की अवस्था देखी जाए तो जीवन को सुखी बनाने की सामग्री बहुत अधिक बढ़ गई है। दुनिया में सोने की मात्रा गत दो सौ वर्षों की अपेक्षा अधिक है। कपडे की ओर देखे तो पहले इतनी मिलें और कारखाने कहाँ थे ? इसी प्रकार अन्न उपजाने के लिए साइबेरिया जैसे स्थानों में भी अन्न पैदा हो चुका है और भारत की बंजर भूमि भी आबाद हो चुकी है परंतु देखा यह जा रहा है, अन्न संकट और वस्त्र सकट बढ ही रहा है। सोना और धन अधिक होते हुए भी संसार के लोग निर्धनता की घोषणा करते रहते हैं, मुझे तो इसका एक मात्र कारण यही प्रतीत होता है कि तृष्णा बहुत अधिक बढ गई है। वेद भगवान के अदर एक मत्र है :

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाऽ
विदज्जरितारं मृड. सक्षत्र मृडय।

इसके अर्थ यह हैं कि पानी के बीचोबीच में खड़ा हूँ और प्यास से मर रहा हूँ। भगवान् मेरी रक्षा करो। ठीक आज संसार की यही अवस्था है। सुख-सपत्ति के सारे साधनों के जलों के बीच खड़े होकर के भी चिल्ला रहे हैं कि हमारे पास कुछ नहीं रहा, तृष्णा की यह आग तो कदापि बुझ नहीं सकती और इस अग्नि को

बढानेवाला आधुनिक काल का भोगवाद और मायावाद है और यह पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता तथा पश्चिमी विचारधारा की देन है। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगडी का दीक्षात समारोह दूसरी यूनिवर्सिटियों के कन्वोकेशन से बहुत भिन्न है• क्योंकि गुरुकुल कांगड़ी और इस जैसी दूसरी संस्थाएँ एक ऐसी विचारधारा अपने विद्यार्थियो में प्रवाहित करती हैं जिससे यह तृष्णा बढ़ने न पाए अपितु कम होती चली जाए। एक व्यक्ति के सुधार या उद्धार तथा किसी जाति के उत्थान या राष्ट्र के निर्माण के लिए सबसे प्रथम साधन यह है कि एक ऐसी विचारधारा चलाई जाए जो उनमें मानवता की भावनाओं को जागृत कर दे। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली मे यही विशेषता है और इसी विशेष विचारधारा का प्रभाव था कि दुनिया ने अपने जन्मकाल से लेकर आज से छ. हजार वर्ष पूर्व तक बडे सुख-चैन से जीवन व्यतीत किया।

महर्षि दयानंदजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि भारतवासियो का पतन महाभारत युद्ध से एक हजार वर्ष पूर्व प्रारंभ हो गया था परतु फिर भी हमारी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के टूटे-फूटे चिह्न इन गुजरे हुए पॉच हजार वर्षों में भी दृष्टिगोचर होते हैं और हमारे अधःपतन की अवस्था में भी दूसरे देशों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति मानवता की ओर अधिक ले जानेवाली है। भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरूजी ने अन्य देशों की अवस्था और आधुनिक काल की नित्य नई बढती हुई समस्याओं को देखकर अहमदाबाद (गुजरात) के विद्यार्थियों के समक्ष 31 जनवरी सन् 1951 को यह भाषण देते हुए कहा कि "मैं समझता हूँ कि प्राचीन भारत में आज की अपेक्षा बहुत अधिक समानता, एकता और खुशहाली थी और लोग ज्यादा सुखी थे।" इसी प्रकार सरदार पटेल ने जो शब्द कहे वह यह थे .

We must follow our culture, our own civilisation. We can not borrow the very element of life from others. Our life is essentially different from that of foreign countries.

अर्थात् हमें अपनी ही संस्कृति को अपनाना चाहिए। हाँ, अपनी ही सभ्यता को। हम अपने जीवन के लिए दूसरों की विचारधारा की भीख नहीं माँग सकते। हमारा जीवन विदेशियो की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है।

अब आप देखिए कि जब प्राचीन भारत अपनी कल्चर और विचारधारा के कारण सुखी था और इसके साथ जब से हम अपनी संस्कृति को भूले हैं तब से हम ही नहीं अपितु सारा संसार ही दुखी हो उठा है। आज कल्चर तथा संस्कृति के संबंध में भी बहुत मतभेद है, परंतु वेद ने इसका निपटारा कर दिया है। वेद में संस्कृत के लिए एक शब्द 'विश्व वारा' आता है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ सपूर्ण दोषों को हटानेवाली और सुंदरता लानेवाली। विश्व वारा को गुण धारण और दोष निवारण में भी प्रकट किया जा सकता है, जिसके द्वारा कोई वस्तु सुदर बनाई जाए और

उसके सारे दोष हटा दिए जाएँ तो वह सुंदर संस्कृति कहलाती है। संसार पर दृष्टि डालकर देखिए कि किस जाति या देश ने ऐसी संस्कृति संसार के सामने रखी जो इस कसौटी पर पूरी उतर सके। भारत के उज्ज्वल भूत को माननेवाले तो यह घोषणा कर सकते हैं कि उनकी वैदिक संस्कृति ने दुनिया को छह हजार वर्ष कम दो अरब वर्षों तक सुखी, सुंदर तथा शांतिमय बनाए रखा और यदि संसार फिर सुखी होना चाहता है तो इसी संस्कृति को अपनाना होगा। हमारी संस्कृति जहाँ भौतिक उन्नति की ओर ले जाती है वहाँ आध्यात्मिक मार्ग पर भी चलाती है। शंका उठाई जा सकती है कि भोगवाद और त्यागवाद साथ-साथ कैसे चल सकते हैं। इसके लिए मैं यह कहना चाहता हूँ कि वेद ने धन, ऐश्वर्य, वैभव प्राप्त करने का आदेश दिया है साथ में यह भी कहा है कि इसमे लिप्त न हो जाना। नदी के किनारे आप जाएँ तो आप देखेंगे कि कुछ नैया तैर रही हैं और कुछ जल में डूबी हुई है। जो डूब गई हैं उनमें छिद्र हो जाने के कारण जल प्रवेश कर गया और वह डूब गईं। जो तैर रही हैं उनमें छिद्र नहीं हुए, जल उनमें घुस नहीं सका। वह आप भी तैरती हैं और यात्रियों को भी पार ले जाती हैं। धन उपार्जन करो। लक्ष्मी के जल में तैरो। परंतु सावधान ! तुम्हारे हृदय मे छिद्र न होने पाएँ। छिद्र हो गया तो धन का जल मन में प्रवेश कर जाएगा तब धन में डूब जाना पडेगा, न आप तैर सकोगे और न अन्य साथियों को पार ले जा सकोगे।

लक्ष्मी के बिना तो कोई कार्य चलता नहीं। नारायण भी लक्ष्मी के बिना पूर्ण नहीं होता क्योंकि पूरा नाम लक्ष्मी नारायण है ? धन कमाओ परतु धन में ऐसे रहो जैसे कमल पुष्प तालाब के जल में रहता है। जल जितना बढता है कमल पुष्प उतना और ऊँचा हो जाता है, जल में डूबता नहीं ? वेद भगवान् ने इस सबध में बहुत सुदर आदेश दिया है। यजुर्वेद के 40 अध्याय के पहले मत्र मे भोगवाद और त्यागवाद का साफ उपदेश है। वेद की स्पष्ट आज्ञा है कि 'त्यक्तेन भुंजीथा' अर्थात् त्याग भाव से भोगो। परमात्मा ने जो यह सुदर सृष्टि बनाई है और इसमे जो सुदर फल और दूध आदि अमृत बनाए हैं, नाना प्रकार का सौंदर्य प्रकट किया है। हे मनुष्य ! यह सब कुछ तेरे भोग के लिए है इनका भोग कर, परतु त्याग भाव से भोग कर। त्याग भाव से भोग करने का प्रयोजन क्या है ? इसको स्पष्ट करने के लिए मैं एक घटना आपको सुनाता हूँ। हैदराबाद रियासत में जब हवन करना, ओ की पताका फहराना, स्कूल तथा पाठशालाएँ खोलना, वेद उपनिषद्, गीता की कथाएँ करना, मंदिरो की मरम्मत करना, मंदिरो पर कलश चढाना कानूनी तौर पर जुर्म हो गया तो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने मीर हुसमान अली खाँ निजाम बहादुर के पास कितने ही मैमोरियल भेजे, कितने ही डेपुटेशन भेजे परतु निजाम टस से मस न हुआ। तब शोलापुर में श्रीयुत अयने के प्रधानत्व मे आर्यसमाज का विराट सम्मेलन हुआ, वहाँ पर निश्चय हुआ कि यदि इस धार्मिक अत्याचार को समाप्त न करे तो अहिंसात्मक सत्याग्रह प्रारभ कर दिया जावे। तब महात्मा

नारायण स्वामीजी ने अपनी आहुति दी और लगभग 25 हजार सत्याग्रही हैदराबाद स्टेट की जेलों में बंद हो गए। जेलों में हर एक सत्याग्रही को 4 चीजें मिली हुई थीं। 1. तसला, 2. चम्पू, 3. टाट, 4. कंबल। भोजन के समय तसले में दाल लेते और सोते समय इसी तसले का सिरहाना बना लेते। प्रातःकाल सब सत्याग्रही अपने तसले, चम्पू खूब माँजते और मैं कहता मेरा तसला और चम्पू अधिक चमक गया है। राजगुरुजी कहते, मेरा चमक गया। इसी प्रकार कंबल और टाट का भी पूरा उपयोग करते और सँभालकर रखते। इसी प्रकार रहते-रहते सात-आठ महीने बीत गए, तब एक दिन निजाम के अधिकारी जेल में पहुँचे और महात्मा नारायण स्वामीजी और मुझे कहने लगे कि जेल से बाहर जाओ। मैंने मनोरंजन के लिए कहा कि क्यों ? कोई भूकंप आनेवाला है। राज अधिकारियों ने कहा—नहीं। अपितु निजाम ने आपकी सब माँगें पूरी कर दी हैं। हवन करो, ओं के झंडे फहराओ, स्कूल तथा पाठशालाएँ खोलो, मंदिर पर कलश चढ़ाओ, मंदिरों की मरम्मत कराओ अर्थात् जो तुम्हारी इच्छा हो, करो। अब आपको जेल से मुक्त किया जाता है। यह सुनकर हम रोने लगे। हे चम्पू, हमने तुम्हें चमकाया था, हे तसले, तुझे माँजा था; हे टूटे हुए टाट और फटे हुए कबल, अब तू हमें कहाँ मिलेगा ? इन सब चीजों को जिन्हे आठ महीने भली भाँति भोग किया, इन्हें अपनी छाती से लगाकर विलाप नहीं करने लगे कि तुम अब हमें कहाँ मिलोगे ? नहीं, अपितु पूरी प्रसन्नता से हमने इन सब वस्तुओं का त्याग कर दिया और जेल अधिकारियों से कहा कि यह पड़े हैं आपके तसले, सँभालो अपने चम्पू और कंबल और टाट। हम हँसते-खेलते जेल से बाहर निकल आए। इसको कहते हैं 'त्यक्तेन भुंजीथाः।' जितना कमा सकते हो कमाओ, धन संग्रह भी करो, मकान भी बनाओ, मोटरें भी रखो और पूरी प्रसन्नता से इनका भोग करो परंतु जब भारतमाता रो उठे, जब गोमाता का करुण क्रदन सुनाई दे कि मेरी रक्षा के लिए तुम्हारे नौजवान बेटे के बलिदान की आवश्यकता है या जब कोई विधवा माई, अनाथ बच्चा पुकार उठे कि मेरी जीवन-रक्षा के लिए तेरे धन की आवश्यकता है तब मैं कहूँ, ले जाओ मेरे बेटे, ले जाओ मेरी धन-सपत्ति, ले जाओ मेरी मोटरें, ले जाओ मेरी जमीन और बंगले, ले जाओ मेरे शरीर के रक्त की एक-एक बिंदु यह है 'त्यक्तेन भुंजीथा'। यह है सस्कृति जिसका वेद आदेश देता है। इसी संस्कृति को पुनर्जीवित करने के लिए ऋषि दयानंद के आदेशानुसार महात्मा मुशीरामजी ने सबसे पूर्व गुजराँवाले और फिर कागडी ग्राम में गुरुकुल की स्थापना की और इस कलिकाल मे प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के वह सुदर दृश्य दिखलाए जिन्हे सच्चा मानव देखने के लिए तरसता रहता है। यही सस्कृति मानवता लानेवाली है, आज संसार इसीलिए दुखी है कि मानव मानव नहीं रहा अपितु दानव बन गया है। गुरुकुल विश्वविद्यालय कागडी के सुंदर वातावरण में रहकर शिक्षा प्राप्त करनेवाले स्नातको ! दुनिया तुम्हारी ओर देख रही है। दूसरी यूनिवर्सिटियों की शिक्षा तो बहुधा भौतिकवाद और भोगवाद की ओर ले जानेवाली

है परंतु गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली जहाँ भौतिक वस्तुओं पर विजय प्राप्त करने का आदेश देती है वहाँ शांति के स्तोत्र ब्रह्मज्ञान का भी आदेश देती है। आज संसार जल रहा है। परिस्थिति भयंकर है। मायावाद के विचारधारा की तरंगें अति तीव्र हो चुकी हैं। इंसान शैतान बन चुका है। ऐसी अवस्था में आप जीवन के नए क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। वीरता इसी में है कि चाहे शत्रु चारों ओर खड़े हों, बिजलियाँ टूट रही हों, आँधियों का घेरा प्रबल हो फिर भी मन इतना बलवान हो कि वह सब इन विघ्न-बाधाओं को दूर करके पार निकल जाए। कवि ने कितना अच्छा कहा है :

वह पथ क्या, पथिक कुशलता क्या,
जिस पथ पर बिखरे शूल न हों।
नाविक की वह धैर्य परीक्षा क्या
जब धारा ही प्रतिकूल न हो।।

मानवता का दृढ सकल्प लेकर आगे आओ और दुखी संसार को सुखी बनाओ। ऋषि दयानद का उदाहरण सामने रखो। जिसने केवल मानवता के लिए अपना बलिदान दे डाला। ऋषि दयानंद ने वेद को इसीलिए अपनाया कि उसमें केवल मानवता के आदेश हैं। उसमे किसी देश विशेष का अथवा किसी एक सप्रदाय या फिरके का वर्णन नहीं, उसमें यह कहीं नहीं लिखा कि—कृश्चियन भव, मुहम्मद भव, रशियन भव, अमेरिकन भव, बल्कि उसमें तो मनुर भव लिखा अर्थात् मनुष्य बन और इसी मानवता का आदेश वेद द्वारा दिया गया है। आपने इस पवित्र गुरुकुल भूमि मे रहकर वही अमृतपान किया है। तुम्हारे हृदय का दीपक जल पडा है। उठो! और मानवता के अधकार को मिटाने के लिए मानवता के दीपक स्थान-स्थान पर जगा दो।

[सन् 1951]

भारतीय शिक्षा क्रांति में गुरुकुल का स्थान

•

न्यायमूर्ति श्री विजन कुमार मुखोपाध्याय

गुरुकुलवासी प्रिय बंधुओ तथा उपस्थित सज्जनो !

इस दीक्षात संस्कार में सम्मिलित होने तथा आज यहाँ उपस्थित स्नातको को अभिभाषण देने के लिए निमंत्रित करके जो सम्मान आपने मुझे प्रदान किया है उसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। निःसंदेह यहाँ आने से मुझे तीर्थयात्रा का आनद अनुभव हो रहा है। वस्तुत यह एक पवित्र भूमि है। सामने ये गंभीर मौनमुद्रा मे स्थित हिमालय की उच्च शिखाएँ एक वनिष्ठ सतरी के समान हमारी मातृभूमि की रक्षा कर रही हैं और इसके अंतस्तल से निर्गत गगा नदी की पवित्र धारा कलकल निनाद करती हुई गिरिशिखर से अगाध सागर तक अविश्रान्त भाव से अपने मार्ग का अनुसरण कर रही है। ऐसी भव्य परिस्थितियों मे अवस्थित तथा व्यस्त ससार के कोलाहल से सुरक्षित यह शिक्षणालय साक्षात् शांति एव पवित्रता के वातावरण में श्वास ले रहा है। यह विद्यामदिर वस्तुत प्राचीन भारत के उन शात ज्ञान-सपन्न तपोवनों का अवशेष है, जिनकी पावन स्मृति अब भी हमारे साहित्य तथा धार्मिक ग्रंथो मे विद्यमान है। आज बीसवीं सदी मे भी यह सपूर्ण प्रदेश वस्तुत वैदिक भावनाओ से पूर्णत: ओतप्रोत है।

यहाँ आपके सम्मुख भाषण देते हुए मेरे मन में दो विचार प्रमुख रूप से उदय हो रहे हैं। सबसे पूर्व मेरा विचार भारतीय सभ्यता के अनुपम स्वरूप, विलक्षण शक्ति तथा भारतीय इतिहास के परिवर्तनशील दृश्यों में अवस्थित सतत प्रवाह की ओर जाता है। कालचक्र के प्रभाव से अनेक विकारों के उत्पन्न होने के बावजूद लाखो वर्षों के बीत जाने के बाद भी भारतीय सभ्यता अपने मुख्य तत्त्वो को यथापूर्व धारण किए हुए है, जबकि विश्व की अन्य सपन्न प्राचीन ऐतिहासिक सभ्यताएँ सर्वथा लुप्त हो चुकी हैं। प्राचीन मिस्र, असीरिया तथा बेबिलोन चिरकाल से विस्मृति के आवरण में विलीन हो चुके हैं। इसमे संदेह नहीं कि प्राचीन यूनान की सभ्यता अपने साहित्य, दर्शन तथा कलारूप मे अभी तक जीवित है। पर यह एक

ऐसा पूर्णतः मृतप्राय प्रवाह है जिसका मानव समाज की जीवनधारा के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं। परंतु भारत आज भी जीवित है और वह केवल भौगोलिक सत्ता रूप से ही नहीं, प्रत्युत वह उसकी आत्मा है जो कालकृत अनेक ऊँच-नीच परिवर्तनों के होते हुए भी अवस्थित है। आज भी विचार तथा भावनाओं की ऐसी सुदृढ़ शृखलाएँ हैं जो हमें प्रागैतिहासिक काल से संबंधित कर रही हैं। मैक्समूलर का कथन है 'प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक के तीन हजार से भी अधिक विस्तृत काल में भारतीय विचारधारा के विविध रूपों में हमें एक सतत प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।' संभव है सामान्य दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता हो कि तथाकथित भारतीय सभ्यता एक अपरिष्कृत पुंजमात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वह केवल जातिगत बाह्यलिंगों, भाषाओं तथा रहन-सहन के विविध शिष्टाचारों या रूढ़ियों का पिंड मात्र है। परंतु सूक्ष्म निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इन बाह्य रूपो की परिदृश्यमान विविधता में भी एकता उपलब्ध करना ही भारतीय सस्कृति की मुख्य विशेषता है। वैदिक ऋषियों का लक्ष्य जीवन का अपने संपूर्ण रूपों में सगतिकरण करते हुए इस विश्व की परस्पर विरोधी विभिन्नताओं मे एक व्यापक सत्यता का अनुसंधान करना था। मैं यह दृढतापूर्वक कह सकता हूँ कि यह समन्वयपूर्ण आदर्श आधुनिक जगत् की संपूर्ण समस्याओं का सुंदर समाधान कर सकता है, बशर्ते कि वर्तमान मानव समाज की परिवर्तित अवस्थाओ के अनुसार इसका उचित प्रयोग किया जाए।

इसके अतिरिक्त जिस दूसरी वस्तु ने मुझ पर प्रभाव डाला है, वह है प्रकृति का वह कार्य जो उसने हमारे देश की सभ्यता तथा विचारधारा के निर्माण में किया है। मानव जीवन की प्रभात वेला के प्रारभ से हमारे पूर्वजों ने प्रकृति के प्रति तीव्र आकर्षण अनुभव किया है। प्रकृति के इन्हीं ध्यानावस्थित पर्वतश्रेणियों से परिवेष्टित एकांत प्रदेशों मे सुकोमल रवि किरणों से सुशोभित वनस्थलियो के चारों ओर इठलाती हुई कलकल निनादिनी चंद्रिका-समुज्ज्वल सरिताओं के तट पर ही मानव मस्तिष्क की महान् विभूतियो का उदय हुआ था।

जीवन-निर्माण की वैदिक योजनानुसार बालक का एकात तपोवन मे विद्वान गुरुजनो के सरक्षण में रहते हुए अपने शारीरिक तथा बौद्धिक शिक्षण के लिए दृढतापूर्वक अनुष्ठान करना परम आवश्यक था, जो उसे अपने जीवन के भावी कार्यक्षेत्र मे अपना उचित भाग लेने के योग्य बना सके। न केवल शैशव काल मे ही, प्रत्युत अपने संघर्षमय सांसारिक जीवन के अवसान काल में भी, वे लोग शक्ति सचय तथा विश्राम उपलब्ध करने के लिए इन्हीं एकात तपोवनो की कामना करते थे।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थ–
मुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात् तरु–
मूलानि गृही भवन्ति तेषाम्।।

यही वे पवित्र एवं शांत तपोवन थे, जहाँ ऋषियों के मस्तिष्क ने लौकिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञानों के लिए साधना की तथा मानव समाज के शाश्वत कल्याण के लिए चिंतनाप्रसूत महान् ग्रंथों की रचना हुई। संसार को त्याज्य एव हेय समझकर उससे पलायन करने की भिक्षावृत्ति वैदिक भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल है। हमारे देश में संघरूपात्मक भिक्षुवृत्ति सम्भवतः किसी धार्मिक आंदोलन का परिणाम थी और बाद में उत्पन्न हुई। अतः इसे हमें प्राचीन मौलिक आदर्शों का अग न समझकर उनका अतिक्रम ही समझना चाहिए।

सभ्यगण !

मेरे हृदय में महात्मा मुशीराम तथा उनके सहयोगियों के प्रति अत्यत आदर तथा सम्मान की भावना है। उन्होंने न केवल वर्तमान शिक्षा संबंधी आदर्शों को पूर्णरूप से प्राचीनता का रूप देने की साहसपूर्ण कल्पना की, प्रत्युत एक ऐसे कठिन समय में, जबकि हम विदेशी शासन में लोहमय शृंखलाओं से आबद्ध थे और शिक्षा नीति के निर्माण अथवा चुनाव में हमारी कोई सुनवाई न थी, उन्होंने अपनी योजना को सफलतापूर्वक क्रिया में परिणत करके दिखा दिया। यह केवल एक सामान्य स्कूल खोलने का प्रश्न न था, प्रत्युत चिरकाल समादृत वैदिक परंपराओ के आधार पर एक ऐसे सास्कृतिक वातावरण का निर्माण करना था जो प्रतिभावान् मनुष्यो के अनुकूल हो तथा विदेशी सस्कृति से सर्वथा मुक्त हो। सन् 1902 ईसवी में एक छोटे-से विद्यालय से प्रारभ हुई-हुई यह सस्था आज आश्रम प्रणाली पर आश्रित एक विशाल विश्वविद्यालय के रूप में विकसित दिखाई देती है। इस समय इसमे वेद महाविद्यालय, साधारण महाविद्यालय, आयुर्वेद महाविद्यालय तथा कन्याओ का महाविद्यालय--ये चार महाविद्यालय सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त फड की कमी दूर होने पर एक शिल्प महाविद्यालय खोलने का भी विचार है। यह सबकुछ ब्रिटिश सरकार की रत्ती भर भी सहायता न मिलने पर हुआ। केवल यही नहीं कि इसे सरकारी सहायता प्राप्त नहीं हुई, प्रत्युत इसके विपरीत इस सस्था के अधिकारियो को समय-समय पर ब्रिटिश सरकार का कोपभाजन बनना पडा।

परमात्मा की कृपा से अब हमारे देश में विदेशी शासन का अंत हो गया है और हम अपने-आपको अपने घर का स्वामी समझ सकते हैं। परंतु यह स्वाधीनता अपने साथ परेशान करनेवाली अनेक जटिल समस्याएँ लाई है और उनमे शिक्षा तथा सस्कृति सबधी समस्याएँ भी कम विषम नहीं। इस समय हम पर चारो ओर से विविध सिद्धातो तथा आदर्शों का आक्रमण हो रहा है। उनमें से कुछ विशुद्ध विजातीय हैं और हमारे राष्ट्रीय चरित्र एव परंपराओं के सर्वथा प्रतिकूल हैं। इन विषयों मे हमारे शासको के कधो पर एक महान् उत्तरदायित्व है। इस बात को कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी सद्यःप्राप्त प्रजातंत्र प्रणाली मे सुख तथा शाति को उपलब्ध करने के लिए उचित प्रकार की शिक्षा का चुनाव करना तथा उसका उचित विधि मे वितरण करना नितात आवश्यक है। मैं अपने-आपको एक

शिक्षाविज्ञ होने का दावा नहीं करता और न ही इस विषय में कोई मत या विचार प्रकट करने का साहस करता हूँ। परंतु इस समय एक नवीन युग में प्रवेश करने के कारण मैं भारत के प्रत्येक नर-नारी से अनुरोध अवश्य करूँगा कि वे भूतकाल का सिंहावलोकन करें तथा भारत में ब्रिटिश काल के उदय से लेकर अब तक के अपने देश में प्रचलित शिक्षाविषयक आंदोलन तथा इतिहास पर दृष्टिपात करें। इससे हम विविध सफलताओं व असफलताओं से परिवेष्टित अपने विचारों तथा आदर्शों का पर्यालोचन कर सकेंगे। हमारे वर्तमान अनुभव तथा भूतकाल की असफलताएँ निःसंदेह इस बात का निर्णय करने में अत्यधिक सहायक होंगी कि स्वतंत्र भारत में अपनी संस्कृति के भावी विकास का सर्वोत्तम मार्ग क्या है। मेरे विचार में, हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढग से शिक्षाविषयक एक स्वस्थ सार्वजनिक विचार उत्पन्न करने में सहयोग दे सकता है और गुरुकुल, जिसने अतीत में हमारे शिक्षा संबंधी आदर्शों को नवीन रूप देने मे इतना अधिक कार्य किया है, इस नई व्यवस्था में भी नि.सदेह विशेष महान् कार्य कर सकता है।

सामान्यत: प्रत्येक शिक्षा-प्रणाली के दो पहलू या दो प्रयोजन बताए जा सकते हैं, उनमें से एक तो सांस्कृतिक आदर्शरूप या सामाजिक पहलू है तथा दूसरा आर्थिक या उपयोगिता का पहलू है। दोनों परस्पर संबद्ध हैं। इसलिए विद्यार्थियो की शिक्षा के लिए विषयो के चुनाव करते समय उक्त दोनो प्रयोजनो को दृष्टि में रखना उचित होगा। जहाँ तक शिक्षा के सांस्कृतिक पक्ष का प्रश्न है, किसी देश में उचित शिक्षा-प्रणाली उस देश के राष्ट्रीय चरित्र के सर्वोत्कृष्ट आदर्शों से अनुप्राणित होनी चाहिए। उसमें इतनी योग्यता तथा शक्ति होनी चाहिए कि वह अपने राष्ट्रीय चरित्र के अनुरूप देश के छात्रों के हृदयो में आध्यात्मिक शक्तियों को अंकित कर सके तथा उन्हें ऐसा परिष्कृत कर दे कि वे अपने राष्ट्रीय जीवन को स्थिर व विकसित करने में सहायक सिद्ध हों। ब्रिटिश शासन की स्थापना से लेकर गत शतक की समाप्ति तथा बीसवीं सदी के प्रारंभ तक शिक्षाविषयक नीति में उक्त राष्ट्रीय तत्त्व की सर्वथा उपेक्षा की जाती रही है। जिस असभावित रूप से हमारे देश में ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई, उसे दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति इसे भली भाँति अनुभव कर सकता है कि शिक्षा का कार्य ब्रिटिश व्यापारियों की—जिन्हें हमारे पारस्परिक विरोध के कारण अकस्मात् इस देश का आधिपत्य प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया था—सुविचारित योजना का कोई विशेष अंग न था। ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन व्यापार की एक ऐसी सकुचित भावना से प्रारभ हुआ था, जिसे वह छोडने के लिए सर्वथा अनिच्छुक थी। यह सत्य है कि 1871 ईसवी में वारन हेस्टिंग द्वारा कलकत्ता मदरसा की स्थापना हुई तथा दस वर्ष पश्चात् जोनथन डन्कन ने बनारस में सस्कृत कॉलिज की स्थापना की। परंतु इन संस्थाओं की स्थापना का वास्तविक उद्देश्य अपने अभिनव अधिकृत प्रदेशों में न्याय-व्यवस्था को चलाने के लिए हिंदू तथा मुस्लिम कानून के कुछ पंडितों को

उत्पन्न करना था। भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात बंगाल में पहले प्रारंभ हुआ। परंतु इस विषय में पहला कदम सरकार की ओर से न होकर कुछ स्वतंत्र व्यक्तियों तथा ईसाई मिशनरियो की ओर से उठाया गया। 1817 मे कलकत्ता नगर में वहाँ के कुछ प्रमुख नागरिको की ओर से पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के आधार पर प्रथम शिक्षणालय के रूप में हिंदू कॉलिज की स्थापना हुई। इस कॉलिज ने पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करने में कोई कसर नहीं छोड़ी और अपने नाम के प्रतिकूल उसका दृष्टिकोण सर्वथा हिंदुत्व शून्य था। इस शिक्षा में संस्कृत तथा अन्य प्राचीन विषयों को कोई स्थान नहीं दिया गया। कुछ ही वर्षों में हिंदू कॉलिज मे ऐसे प्रतिभासंपन्न विद्यार्थी उत्पन्न किए जिन्होंने शीघ्र ही आंग्ल भाषा के गद्य-पद्य में लिखने की प्रवीणता प्राप्त कर ली। इन घटनाओं से मेकाले के लिए शिक्षा-क्षेत्र में आंग्ल भाषा के पक्ष में निर्णय करने का मार्ग प्रशस्त हो गया और शीघ्र ही भविष्य में आंग्ल भाषा को ही देश की राजकीय भाषा का स्थान देने की राज्य की नीति निर्धारित कर दी गई। तब से पाश्चात्य शिक्षा की नई शराब हिंदुत्व की पुरानी बोतलो मे डाली जाने लगी, जिसके दुष्परिणाम आज हमारे सामने हैं। उस समय विशेषतः बगाल मे, पाश्चात्य रग-ढग फैशन तथा स्वाभिमान की वस्तु और अपने देश की प्राचीन शिक्षा, धर्म, संस्कृति तथा परपराएँ सर्वथा गर्हित मानी जाने लगीं। परिणामत: प्रारभ से ही हमारी शिक्षा नीति एकागी तथा राष्ट्रीय भावनाओं से सर्वथा शून्य थी और उसका स्वरूप तथा दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से ही विदेशी था। चिरकाल तक यही रहा, जबकि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध मे इसकी प्रतिक्रिया हुई। बंगाल मे ब्रह्मसमाज ने इस उठती हुई राष्ट्र-विरोधी भावना की लहर को रोकने का प्रयत्न किया। परंतु वह इसमे विशेष सफल न हुई। क्योंकि उसके पास राष्ट्रीय आदर्शों का कोई आधार न था। उसने उपनिषदो के एकेश्वरवाद के आधार पर एक बुद्धिसगत धर्म की स्थापना का कुछ प्रयास किया, यद्यपि उसने उपनिषदो को अपौरुषेय वचन नहीं माना। श्री केशवचद्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज ने ईसाई धर्म के अनेक विचारो तथा कर्मकाड को ग्रहण कर लिया था। जिस समय श्री केशवचद्र सेन बगाल मे ब्रह्मसमाज का नेतृत्व कर रहे थे उस समय उत्तर भारत में स्वामी दयानंदजी सरस्वती ने आर्यसमाज आंदोलन प्रारभ किया। वह एक विशुद्ध राष्ट्रीय भावनाओं को लिए हुए दृढ, साहसपूर्ण तथा महान् आंदोलन था, जिसने उस समय बढती हुई पाश्चात्य मनोवृत्ति की भावना को रोकने में दृढता के साथ विरोध किया। स्वामी दयानद सरस्वती हमारी राष्ट्रीयता के मूल तक पहुँचे। श्री अरविंद के शब्दों में—'ऋषि दयानंद ने वेदों को सदियो पुरानी दृढ चट्टान के रूप में पढ़ा और उस पर राष्ट्रीय पुनरुत्थान की योजना के निर्माण करने के लिए साहसपूर्ण सकल्प किया।' इस आंदोलन का सबसे बडा लाभ यह हुआ कि राष्ट्र ने अपने खोए हुए गौरव, एव आत्मविश्वास को पुन प्राप्त किया तथा सांस्कृतिक आध्यात्मिक पुनरुत्थान को जन्म दिया, जिससे हमारी

राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई। इसके बाद हमें अपने देशवासियों में तात्कालिक पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के लिए असंतोष तथा अपने प्राचीन आदर्शों के प्रति निरतर बढ़ती हुई प्रवृत्ति दिखाई देती है। उस समय भारत के उच्च विद्वान भारतीय शिक्षा-पद्धति में प्राचीन भारतीयता की पुट देखकर प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्याओं का उचित सम्मिश्रण करना चाहते थे। सन् 1883 ईसवी में श्री स्वामी दयानंद सरस्वती का देहावसान हो गया। 1886 ईसवी में लाहौर में दयानंद ऐंग्लो वैदिक हाईस्कूल स्थापित हुआ जो दो वर्ष बाद एक कॉलिज के रूप में परिणत हो गया। कॉलिज की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसके संस्थापकों का वास्तविक उद्देश्य अपने देश की शिक्षा-नीति का भारतीयकरण करके उसे अपने सास्कृतिक आदर्शों तथा परंपराओं पर प्रतिष्ठित करना था। तदनतर इस बात को स्वीकार करते हुए कि पाश्चात्य शिक्षा ने हमारी बौद्धिक गतिविधियों में प्रेरणा दी है तथा कुछ ऐसे विद्वान पुरुषों को जन्म दिया है जिन पर हमारा देश गर्व कर सकता है। रिपोर्ट में बताया गया है कि यह सबकुछ होते हुए इसके अनेक दुष्परिणाम हुए हैं। इसलिए राष्ट्रीय शिक्षा की माँग है कि अन्य विषयों के साथ-साथ अपने देश की भाषा तथा साहित्य का उचित अध्ययन किया जाए और उसमें भी विशेषत: प्राचीन सस्कृत साहित्य को क्योंकि उसमें आत्मा, चरित्र तथा जगत् रचना आदि विविध विषयों के स्वरूप का यथावत् चिंतन करनेवाले ऋषि-मुनियों के परिश्रम का सारवान् फल अतर्निहित है। अपने राष्ट्र की भाषा तथा साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ रिपोर्ट में अग्रेजी भाषा के भी गभीर अध्ययन पर बल दिया गया है और इस बात पर भी आग्रह किया है कि प्राकृतिक विज्ञान तथा उससे सबद्ध अन्य विषयों के ज्ञान का प्रसार करके देश की भौतिक उत्पत्ति को भी प्रोत्साहित किया जाए।

यह सर्वविदित सत्य है कि आर्यसमाज की अधिकांश जनता दयानद ऐंग्लो वैदिक कॉलिज से निर्धारित शिक्षा-प्रणाली से संतुष्ट न थी। यह असतुष्ट दल, जिसके एक प्रमुख सदस्य इस संस्था के आदरणीय संस्थापक भी थे, प्राचीन वैदिक सभ्यता से निकट सबंध रखना चाहते थे। इसलिए पाश्चात्य परंपराओं से सबध विच्छेद करके भारतीय नवयुवकों को शिक्षा देने की प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन करने का पक्षपाती था। यह है 1902 ईसवी में गुरुकुल कांगडी की स्थापना का मूल हेतु। नि:संदेह इस संस्था का उद्देश्य अपनी प्राचीन ब्रह्मचर्य प्रणाली को पुनरुज्जीवित करना तथा शिक्षा को जीवन का वास्तविक पथ-प्रदर्शक एव चरित्र-निर्माण में सहायक बनाना था। इसके संचालकों की अभिलाषा थी कि बालक को शैशवकाल में ही संसार के दूषित वातावरण से हटाकर प्रकृति के शांत तथा सुंदर वातावरण में ऐसे निष्ठावान् तथा सच्चरित्र विद्वान गुरुजनों की संरक्षता में रखा जाए तो उन बालकों के अंदर गुप्त उच्चतम मानसिक व आध्यात्मिक प्रवृत्तियो को विकसित करने में सहायक हो सकें। उनके मानसचक्षु के सम्मुख

प्राचीन भारत के नालंदा, तक्षशिला आदि अनेक विश्वविद्यालयों का चित्र था।

इसमें संदेह नहीं कि दयानंद एंग्लो वैदिक कॉलिज की शिक्षा-प्रणाली गुरुकुल से बहुत विभिन्न है, परंतु वस्तुतः वे दोनो एक ही स्रोत से निकली हुई विभिन्न जलधाराएँ हैं। दोनों का आधारभूत आदर्श एक है। अर्थात् वे दोनों भारतीय तथा पाश्चात्य सभ्यताओ के उत्कृष्ट तत्त्वों का सुदर समन्वय करना चाहते हैं। उनके साधन भिन्न-भिन्न हैं और वे पृथक्-पृथक् होने भी चाहिए। क्योंकि वे भिन्न-भिन्न मस्तिष्कों की विभिन्न कार्य-प्रणालियों पर आश्रित हैं।

इस संबंध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि यह भावना आर्यसमाज में ही न थी प्रत्युत उससे बाहर देश के अन्य भागो विशेषत. बंगाल में भी थी। वहाँ भी बीसवीं सदी के आरंभ में राष्ट्रीय भावना की लहर उठी, जिसने अपने-आपको शिक्षा सबंधी विविध आदोलनो के रूप में प्रकट किया और जिसका लक्ष्य प्राचीन सभ्यता को पुनरुजीवित करना था। जिन दिनों गुरुकुल की स्थापना हुई, लगभग उसी समय श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने शाति निकेतन मे ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना की, जो बाद में विश्व भारती के रूप मे एक विशाल संस्था बन गई। इसका भी उद्देश्य लगभग वही था। इन्हीं योजनाओं के नमूने पर बगाल के खुलना मंडलांतर्गत दौलतपुर नगर में 'हिंदू एकेडमी' नाम से संस्था स्थापित हुई। बंग-भग के आंदोलन के परिणामस्वरूप 1905 ईसवी में श्री अरविंद घोष के आचार्यत्व मे कलकत्ता मे नेशनल कॉलिज की स्थापन हुई। 1911 में पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा मे पले हुए श्री रासबिहारी घोष सदृश एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ने हिदू विश्वविद्यालय की स्थापना का समर्थन करते हुए अपने देशवासियो की भावनाओं को बडे प्रभावपूर्ण शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा था · 'हमारी शिक्षा का मूल आधार राष्ट्रीय भावनाओं तथा परपराओं की गहराई तक पहुँचा हुआ होना चाहिए।. हम एक प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। इसलिए हमारी शिक्षा का मुख्य कार्य उन आदर्शों के क्रमिक तथा अनवरत विकास को प्रोत्साहित करना है, जिन्होंने हमारी सस्कृति और तज्जन्य विविध प्रणालियों को एक निश्चित रूप दिया है।' यही विचार मद्रास मे वार्षिक शिक्षा सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण मे श्रीयुत एस. श्रीनिवास आयगर द्वारा व्यक्त किए गए थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों मे घोषणा की थी कि शिक्षित वर्ग की यह निश्चित धारणा है कि पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली निष्फल सिद्ध हुई है और इसका कारण हमारी शिक्षानीति का उत्तरदायित्व वहन करनेवाले संचालकों की भारतीय मनोवृत्ति, इतिहास, साहित्य तथा धर्म के प्रति उपेक्षावृत्ति की है। इसलिए यदि उन्हीं दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर सर आशुतोष मुखर्जी ने द्वितीय ओरियटल कान्फरेंस में भाषण करते हुए अपने श्रोताओ के सम्मुख गर्व के साथ निम्न शब्द कहे थे तो वह उचित ही था। उन्होंने कहा था कि हमारा विश्वविद्यालय ही भारत में ऐसी सर्वप्रथम संस्था है जिसने प्राच्य विषयो के अध्ययन के गौरव को स्वीकार किया है और विद्यार्थियो को भारतीय लिपि विद्या, ललित

कला, मूर्ति विद्या, वास्तुकला, भारतीय आर्थिक व सामाजिक जीवन, अंकगणित शास्त्र, भारतीय जाति उद्‌गम प्रभृति विषयों का अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया है।

इन सब दृष्टांतों से स्पष्ट है कि किस प्रकार शिक्षा संबंधी विचारों में परिवर्तन हो रहे थे और किस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा दीक्षित विद्वान भी उस प्राचीन भारतीय ज्ञाननिधि की गहराई में जाने के लिए स्वय लालायित हो रहे थे, जिसका कुछ वर्ष पूर्व मेकाले ने तिरस्कारपूर्वक निराकरण कर दिया था। वस्तुतः वे सभी महापुरुष जिन्होंने गत अर्ध शताब्दी में हमारे विचारों तथा आदर्शों पर प्रभाव डाला है, हमारे प्राचीन दर्शन तथा साहित्य से प्रेरणा पाते रहे हैं। ऋषि दयानद ने अपने देश-वासियों को वेदो की ओर लौटने को कहा। महात्मा मुंशीरामजी ने अपने गुरुकुल तथा श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपने शांति निकेतन द्वारा हमे प्राचीन आश्रमों की संस्कृति की ओर उन्मुख किया। श्री तिलक, श्री अरविद घोष तथा महात्मा गाँधी ने अपने-अपने राजनैतिक क्षेत्र में भगवद्‌गीता से प्रेरणाएँ प्राप्त की हैं। स्वामी विवेकानंद ने बिना किसी वर्ण या जाति का भेदभाव किए, अपने देशवासियों के मन को वेदांत के महान् सत्य की ओर आकर्षित किया है। इसी प्रकार रामकृष्ण परमहस ने सब धर्मों के समन्वय का उपदेश दिया, जो हमारे श्रुति प्रतिपादित धर्म का सार है।

भद्र पुरुषो !

अब हमने स्वाधीनता प्राप्त कर ली है और भावी योजनाएँ निर्धारित करने मे स्वतंत्र हैं। शिक्षाविज्ञ अपना कार्य करते रहें, परतु हम सर्वसाधारण जनो को भी अपने शिक्षा के आदर्श के विषय में विचार करना चाहिए। हम अतीत काल की सफलताओं तथा असफलताओं से पूर्णतया परिचित हैं। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि हमें अपनी भूलो को दुहराना नहीं चाहिए और जो कुछ हमने उपलब्ध कर लिया है, उसी तक सीमित रहना भी उचित नहीं। आज से कुछ वर्ष पूर्व श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर ने जो चेतावनी दी थी, उसे आज स्वाधीनता के युग में भी हमें भूलना नहीं चाहिए। उन्होंने कहा था कि 'किसी राष्ट्र को अन्य देश के आदर्श के अनुरूप—चाहे वह कितना ही सपन्न व उन्नत क्यो न हो—अपने इतिहास के निर्माण का निरर्थक प्रयत्न नहीं करना चाहिए।' यह ठीक है कि हमे समय के साथ-साथ चलते हुए वर्तमान जगत् की प्रगतिशील आवश्यकताओं के अनुकूल अपने-आपको टालना चाहिए। अवस्थानुसार अपने-आपको ढालने तथा आत्मसात् करने की शक्ति के कारण ही हमारी संस्कृति ने अतीत काल में विलक्षण शक्ति तथा गौरव प्राप्त किया और जब कुछ ऐतिहासिक एवं राजनैतिक कारणो से वह आत्मसात् करने की शक्ति क्षीण हो गई तो हमारी वास्तविक उन्नति भी रुक गई। वर्तमान वैज्ञानिक युग के आविष्कारो ने देश तथा काल की दूरी को समाप्त कर दिया है और हम विश्व की समस्त सांस्कृतिक प्रगतियों के निकट सपर्क मे आ गए

हैं। हमें उनकी विशेषताओं को ग्रहण करना चाहिए। परंतु जिस संस्कृति का हम निर्माण करें, वह हमारा आंतरिक भाग हो तथा हमारी सभ्यता के आधारभूत तत्त्वों में गहराई तक प्रविष्ट हो और देश की प्रतिभा और आत्मा के अनुरूप हो। इसलिए शिक्षा में इस प्रकार के समन्वय की आवश्यकता है जो वर्तमान जगत् के हितकर तथा उपयोगी तत्त्वों को आत्मसात् कर सके, जिसमें नवीन और प्राचीन तथा सांस्कृतिक एवं आर्थिक दोनों पहलुओं का सुंदर सम्मिश्रण हो सके। इस गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम का भी यही उद्देश्य था। आज भी वर्तमान समाज की परिवर्तित अवस्थाओं के अनुसार उचित संगतिकरण करते हुए उन आदर्शों पर दृढ़ रहना अत्यंत हितकर है।

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति की मुख्य विशेषता जाति के बालको के चरित्र-निर्माण करने की है। निःसंदेह शिक्षा का प्रधान उद्देश्य चरित्र गठन है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल बौद्धिक शिक्षा अपर्याप्त है। हर्बर्ट स्पेंसर का यह कथन उचित है कि हम मनुष्य को जो लाभ पहुँचाना चाहते हैं, वह उसे शिक्षा के माध्यम से पहुँचाना चाहिए। क्योंकि शिक्षा बौद्धिक होने की अपेक्षा भावनाप्रधान अधिक है।

जीवन का वास्तविक लाभ तो तब मिलता है जब शिक्षा के प्रताप से हममे ऐसी मानसिक अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिससे हमारा आचार-व्यवहार स्वाभाविक स्वयस्फूर्त और सहज हो जाता है। इस दृष्टि से गुरुकुल की शिक्षाविधि निस्संदेह अत्युत्तम है। नागरिक जीवन के दूषित प्रभावो से दूर रहना, उदात्त विचार, पवित्र चरित्रवाले व्यक्तियों का सपर्क, श्रद्धा, समादर, स्नेह और भ्रातृप्रेम द्वारा मानव की नैतिक शक्तियो को सुदृढ करना, मन और चरित्र का ऊर्ध्वीकरण आदि शुभकरी प्रवृत्तियों से ही सुसाध्य होता है।

आजकल आश्रमिक जीवन-पद्धति के द्वारा शिक्षण की व्यवस्था को सर्वोत्तम माना जा रहा है। परतु आधुनिक रंग-ढंग पर जो आश्रमिक पद्धति (छात्रावास पद्धति) चल रही है वह बहुत व्ययसाध्य बन गई है। भारत जैसे गरीब देश मे उस पद्धति का लाभ बहुत कम लोग ही उठा सकते हैं। ऐसी दशा में गुरुकुल की सरल और सादी जीवन-प्रणाली को स्वीकार करके उसे विशाल पैमाने पर बढाया जा सकता है। हमारी सरकार इस दिशा में क्या किया चाहती है यह मैं नहीं जानता। मुझे यही समुचित प्रतीत होता है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार गुरुकुल को भरपूर सहायता प्रदान करे। यह आवश्यक है कि इसे अपने राष्ट्रीय जीवन की एक अति मूल्यवान् सपदा समझा जाए। बिना किसी बाह्य शासन और आदेश के इसको अपने ही ढग पर अपना स्वतत्र विकास साधने की छूट दी जाए। यह भी उचित है कि संस्था के संचालक अपने पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार करके यदि उचित समझें तो आधुनिक युग के क्रियात्मक विषयों का समावेश करें जो आर्थिक दृष्टि से उपयोगी हों। मैं नहीं कह सकता कि इस प्रकार की शिक्षण-विधि को माध्यमिक विभाग की कक्षाओं तक, बडे पैमाने पर चालू करना व्यावहारिक होगा या नहीं।

परतु मेरा विचार है कि राज्य की सहायता से इस प्रकार की आदर्श शिक्षा संस्थाएँ, सर्वांश में नहीं तो कुछ अंशों में, गुरुकुल शिक्षणविधि के मुख्य तत्त्वों को स्वीकार करके अवश्य स्थापित होनी चाहिए।

मेरा विश्वास है कि आधारभूत बातों पर सहमत हो जाने पर इस प्रकार की शिक्षाविधि को परिचालित करना कुछ कठिन नहीं होगा। गुरुकुल में शिक्षा पाए हुए ऐसे युवक अच्छी मात्रा में मिल सकते हैं जिनकी सेवाओं के द्वारा देश में इस प्रकार के विद्यालय आयोजित किए जा सकें।

आज इस विद्या निकेतन से दीक्षा प्राप्त करनेवाले छात्रों के प्रति दो-चार शब्द कहना चाहता हूँ। मित्रो ! मैं आपको स्मरण कराना चाहता हूँ कि आप उदात्त और महान् परंपराओं के उत्तराधिकारी हैं। आपके समक्ष उन निस्वार्थ, कर्तव्यपरायण, पवित्रचेता, चरित्रो की परपरा विद्यमान है जिनके द्वारा आपको समस्त जीवन मे प्राण, प्रेरणा और पथ-प्रदर्शकता प्राप्त होती रहेगी।

आर्य सस्कृति के उदात्ततम आदर्शों की छाया में आपने इस शिक्षा निकेतन मे जो शिक्षा प्राप्त की है उससे सुसज्जित होकर आपको ससार में आगे बढना और उस शिक्षा के प्रताप से आपने उन सब वस्तुओं को दूर भगाना है जिनके द्वारा मानव की आत्मा दूषित और अपवित्र बनती है। आपने अपनी शिक्षा से पुरातन ऋषियो की उस पवित्र होमाग्नि को प्राप्त किया है जो समस्त मलिनता को भस्म करके इस विश्व में आपको समृद्धि प्रदान करके परलोक में मुक्ति का आनंद दे सकेगी।

श्रद्धा और भक्ति के साथ इस पवित्र ज्ञानाग्नि को प्रबुद्ध और सुरक्षित रखिए, जिस प्रकार पुराने याज्ञिक लोगों ने इसे सुरक्षित रखा था। आप देखेंगे कि कल्याण और मागल्य आपके साथ हैं।

[सन् 1952]

नवस्नातकों का लक्ष्य स्वावलंबन

श्री चन्द्रभानजी गुप्त

कुलपतिजी ! बहिनो और भाइयो !

मैं नहीं जानता कि इस सभा में मुझे बोलने का क्या अधिकार है। आप सब उपस्थित महानुभाव अपने आगमन को तीर्थयात्रा समझते होंगे। मैं और मेरे भाई भी विद्यार्थी काल में यहाँ तीर्थयात्रा के रूप में आया करते थे और साधु-सतो के व्याख्यानों से प्रोत्साहित होकर वापस जाते थे। परंतु मेरे पास कोई ऐसे विचार नहीं हैं जिनसे आपको प्रोत्साहन दे सकूँ। इसलिए इस समय इस सभा में मैं कुछ कहने का अधिकारी नहीं हूँ, केवल कुलपतिजी की आज्ञा से कुछ कहने आया हूँ।

आर्यसमाज एवं गुरुकुल के कार्य को बताने की आवश्यकता नहीं। ऋषि दयानंद के समय देश की क्या दशा थी, यह भी आप लोग जानते हैं। उन्होने ब्रिटिश काल में विदेशी सभ्यता से हमें किस प्रकार बचाया था, ऐसे समय में उन्होंने आर्यसमाज को जन्म दिया और आर्य संस्थाओं को स्थापित करने का बीज बोया। ऋषि के विचारों को दृष्टि में रखते हुए आर्यसमाज ने अनेक संस्थाएँ स्थापित कीं। आर्यसमाज ने स्वतंत्रता के संग्राम में नवयुवकों को परिवर्तन किया। उन्हें ऋषि दयानंद का यह सिद्धांत बतलाया कि विदेशी शासन अच्छे से अच्छा होता हुआ स्वदेशी राज्य से बुरा है। आर्यसमाज के बाद कांग्रेस के प्रयत्न से देश स्वतंत्र हुआ और अब स्वदेशी राज्य की स्थापना भी हो गई है परंतु कल्पना का भारत नहीं बन पाया।

आज प्रश्न यह है कि उस कल्पना के भारत को बनाने में हम क्या हिस्सा ले सकते हैं और किस प्रकार लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। जिन संस्थाओं द्वारा यह स्वराज्य प्राप्ति का कार्य हुआ वे सराहनीय हैं परंतु अभी हमारी जिम्मेवारियाँ समाप्त नहीं हुई। जिस भारत को हम बनाना चाहते हैं उसके लिए यदि हम खून-पसीना बहाने में असमर्थ हैं तो वह भारत नहीं बन सकता। यदि हम देश की आत्मा को, उसकी संस्कृति को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न नहीं करते तो हम कर्तव्य से विमुख होंगे। आज तो विदेशी शासन के समाप्त होने के बाद उत्तरदायित्व के बढ जाने के कारण हमें अधिक त्याग व परिश्रम की आवश्यकता है। किसी भी क्षेत्र मे कार्य करते हुए उक्त विचारधारा को ध्यान में रखने से ही काम होगा। प्रायः यह

भ्रम फैला हुआ है कि हमने अपना काम कर लिया है, अब सारा काम सरकार का है। यह भ्रम हमें दूर कर देना चाहिए। दुनिया की जातियाँ अपनी जनता के त्याग और बलिदान से ही उठी हैं। यदि हम नेताओं पर ही भरोसा करके बैठ गए तो हम अकर्मण्य हो जाएँगे। आज अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। वह प्रयत्न केवल नेहरू व पंत नहीं कर सकते, सभी के संघठित प्रयत्न की आवश्यकता है।

चिर-काल की पराधीनता के कारण हमारा चरित्र कमजोर हो गया है। जनतत्रात्मक राज्य को सही रूप में चलाने के लिए नागरिकों को अपनी चरित्र परपरा को उत्तम बनाना होगा। इस कार्य को वही संस्थाएँ कर सकती हैं जो अब तक उसे प्रचारित करती रही हैं। छूतछात, असमानता तथा अन्य कुप्रथाओं के होते हुए लोकतन्त्रात्मक राज्य चलना असंभव है।

आर्यसमाज, कांग्रेस तथा महात्मा गाँधी के प्रयत्न के बावजूद आज भी छूतछात आदि कुरीतियाँ विद्यमान हैं। आर्यसमाज के लिए इस दिशा में अब भी क्षेत्र खुला हुआ है। अभी इसे पूरा करने की आवश्यकता है। इसके लिए तन, मन, धन लगाना पडेगा। केवल प्रस्ताव पास करने से काम न चलेगा। प्रायः काग्रेस पर अनेक दोषारोपण किए जाते हैं परतु देखा गया है कि जो लोग दोषारोपण करते हैं वे ही स्वयं इन बुराइयो में फँसे हैं। यदि हम इन बुराइयों में फंसे हों तो वह कैसे दूर होगी ? इसे दूर करने के लिए सद्भावना और सद्विचार की आवश्यकता है। वातावरण को सुधारने के लिए महापुरुषों से प्रेरणा लेने की आवश्यकता है। महात्मा गाँधी तथा ऋषि दयानंद ने अपने आचरण से जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया था, इसी प्रकार हम भी अपने सद्गुणो द्वारा देश को ऊँचा उठा सकते हैं। टीका-टिप्पणी करने या गाली-गलौच देने से यह अवगुण दूर नहीं होंगे बल्कि प्राप्त सुगमता भी छिन जाएगी। जिन कठिनाइयों व परेशानियों से हमें यह आजादी मिली है, उनकी कल्पना भी हमने न की थी। अत अब हमें शक्ति को गँवाकर दलबदी में फँसकर देश को नष्ट नहीं करना। हमें तो सघटित होकर कार्य करना होगा। यदि हम ससार को कोई सदेश देना चाहते हैं तो हमें स्वय पहले बलवान् बनना होगा। देश मे वस्त्र व भोजन की कमी है, उसके दूर करने के साधनो को जुटाना होगा। विभाजन से हमारी अधिकाश अच्छी भूमि पाकिस्तान में चली गई है। विदेशी व्यापार के लिए हमारे पास क्षमता नहीं रही। यदि हम उत्पादन न बढाएँगे और उसके निजी इस्तेमाल में कमी न करेगे तो विदेशों से व्यापार कैसे कर सकते हैं ? आज तो कष्ट उठाना ही पडेगा। रूस के किसानो व मजदूरो ने वर्षों तक सामान उत्पन्न करके भी स्वयं उसका उपभोग नहीं किया, तभी कुछ वर्ष बाद वह खुशहाल बन सके। हमें भी वही मार्ग अपनाना होगा। यदि हम ऐसा नहीं करते तो इससे हमारी अधीरता एव स्वार्थपरता प्रकट होती है। यदि हम कष्ट उठाएँगे तो वह स्वप्नमय भारत मूर्त रूप में दिखाई देगा। यदि हम अपने देश मे अपने भाइयों से दुर्व्यवहार करें तो प्रवासी भाइयों के संबध में अफ्रीका से क्या कह सकते हैं।

देश में अन्नाभाव के होते हुए क्या यह अच्छा होगा कि देश का एक भाग भूखा मरे और शेष भाग में छः छटाँक अन्न खाया जाए ? हमारे लिए सभी प्रांत एक समान हैं। अतः स्वयं कष्ट उठाकर भी भाइयों की सेवा करना हमारा धर्म है। विलगता को. जन्म देनेवाली विचारधारा को अपनाना खतरनाक है। हम ऋषि दयानंद तथा महात्मा गाँधी के ऋणी हैं और उस ऋण से तभी मुक्त हो सकते हैं जबकि हम उनके उपदेशों को अपने आचरण में लावें। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हमने इस दिशा में प्रयत्न किया तो हमारे देश की आध्यत्मिकता समस्त विश्व मे छाप देती दिखाई देगी अन्यथा हम स्वयं भी नष्ट हो जाएँगे।

[सन् 1954]

गुरुकुल विश्वविद्यालय : एक दीप्तिमान ज्योतिःस्तंभ

•

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

श्रीयुत कुलपतिजी तथा मित्रो !

सबसे प्रथम मैं गुरुकुल की ओर से दिए गए स्नेह और सौहार्दपूर्ण अभिनदन-पत्र के लिए आपका कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद करता हूँ।

तत्त्वज्ञानी लोग लौकिक कार्यों में भी अपना योग प्रदान करे—यह परपरा हमारे देश के लिए नवीन नहीं है। इतिहास के अरुणोदय से ही हमारे देश में यह व्यवहार चला आया है। विदेह जनक और श्री कृष्णचद्र की जीवनचर्या इस परंपरा के ज्वलत प्रमाण हैं।

यहाँ आकर मैं बडा आनद अनुभव कर रहा हूँ। इस गुरुकुल की यह मेरी दूसरी यात्रा है। स्वाधीनता प्राप्त होने से पूर्व मैं सन् 1942 में यहाँ पर आ चुका हूँ।

जिन दिनों गुरुकुल की स्थापना हुई थी, उस समय देश में चहुँओर अधकार छाया हुआ था। यह गुरुकुल देश के उन गिने-चुने शिक्षा प्रतिष्ठानो मे से एक था, जिन्होने इस शिक्षण-सस्कृति की यज्ञाग्नि को प्रबुद्ध और सतेज रखा था। आज यह ज्योति और अधिक दीप्तिमान् है। हम यह तो नहीं कह सकते कि इस ज्योति ने इस देश के समस्त क्षेत्रो से अंधकार को दूर भगा दिया है, परतु इतना अवश्य हुआ है कि हम जन-समाज के मनों और हृदयों को आलोकित करने का यह शुभ कार्य अपने हाथ मे लेने में समर्थ हुए हैं। शिक्षातत्त्व के वे अनेक सिद्धांत, जो आज अनेक शिक्षणालयो द्वारा स्वीकार किए जा रहे हैं, सबसे पहले इस गुरुकुल द्वारा प्रवर्तित किए गए थे।

आपने इसे एक आश्रमिक विश्वविद्यालय बनाया है। आपने छात्रों के सख्यातिरेक को नापसद किया है। आप इस देश की पुरातन सस्कृति से प्रेरणा प्राप्त करने मे विश्वास रखते हैं। आपने मातृ-भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया हुआ है। इन समस्त सिद्धातों को आज के शिक्षातत्त्वज्ञ स्वीकार करना चाहते हैं।

कॉलेजो पर यह आक्षेप किया जाता है क्योकि वहाँ छात्र इतनी अधिक सख्या में एकत्र हो जाते हैं, जिनकी वे कॉलेज समुचित व्यवस्था नहीं कर पाते। परिणाम यह होता है कि वहाँ अनुशासनहीनता आती है और गुरु तथा शिष्य के बीच मे निकट सपर्क की भावना पुष्ट नहीं हो पाती।

यहूदी धर्मग्रंथो मे एक प्रसिद्ध वचन है . 'जेरूसेलम का विनाश हो गया, क्योकि वहाँ पर शिक्षकों का सम्मान नहीं होता था।' यह कोई नवीन बात नहीं है। प्राचीन समय से हम इस सचाई को बराबर सुनते आ रहे हैं। जब शिक्षकों का सम्मान नहीं होता और गुरुजनो की शिक्षाएँ श्रद्धापूर्वक नहीं सुनी जातीं, तो समझ लेना चाहिए कि देश का पतन समीप है। यदि गुरुजन अपना सम्मान चाहें तो उन्हे शिष्यो के निकट सपर्क मे आना चाहिए। उन्हे छात्रो के साथ सौहार्द स्थापित करना चाहिए। गुरु-शिष्य का यह सौहार्द और सान्निध्य सार्वजनिक प्रवचन करने मात्र से नहीं हो सकता। सौहार्द और सम्मान की भावना के लिए गुरु-शिष्य का निकट सपर्क होना ही चाहिए।

यहाँ गुरुकुल मे छात्रो का भीड-भडक्का नहीं है। यहाँ आप लोग सख्या-वृद्धि के लोभ से अभिभूत नहीं हैं। यहाँ अतेवासियों की सख्या मर्यादित है। मुझे ज्ञात हुआ है कि आपके यहाँ 400 अतेवासी हैं। आपने उनको आदर्श जीवन जीने की अनुकूलता प्रदान की है। आपके छात्रो को अपनी मातृभूमि के वातावरण को तथा उसकी सस्कृति को हृदयगम करने का पूरा अवसर मिलता है।

प्रश्न उठता है—गुरु और शिष्य के बीच में कैसा सबध होना चाहिए ? इस विषय में ऊँचे मनीषी-जनो का विचार है कि शिष्य को अपना विकास स्वय साधने दीजिए। इस विषय मे अन्य विचारक, व्यक्ति के मानसिक निर्माण के लिए समष्टिवादी (समग्रवादी=टोटेलिटेरियन) पद्धति को अपनाने का आग्रह रखते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अपने हस्तकौशल से हम एक मृत्तिकापिड को वाछित रूप प्रदान कर सकते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति का निर्माण भी किया जा सकता है। परतु हमारे देश की परपरा इस विषय मे उनसे भिन्न है। हम व्यक्ति का सम्मान करते हैं। हम व्यक्ति के गौरव को समझते हैं। श्री कृष्णचद्रजी गीता मे अर्जुन के प्रति अच्छी से अच्छी शिक्षा देने के पश्चात् भी कहते हैं *'यथेच्छसि तथा कुरु'*—अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य करो। वे अपने विचारो को अर्जुन के मन पर थोपने का प्रयत्न नहीं करते। वे कहते हैं 'मुझे सत्य की जैसी प्रतीति हुई है, वैसी तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत कर दी। परतु मेरा काम यह नहीं कि मैं अपने दृष्टिबिंदु को तुम पर थोप डालूँ। अपनी अतरात्मा की सहायता से सत्य को तुम्हे स्वयं खोज निकालना चाहिए। उसके बाद अपनी ही न्यायबुद्धि से तुमने यह निश्चय करना है कि तुम्हारे लिए ठीक मार्ग कौन-सा हो सकता है ?' हमारे देश ने इसी परंपरा को अक्षुण्ण रखा है कि व्यक्ति का सम्मान करो। किसी भी विषय पर जो कुछ भी श्रेष्ठतम विचार किया गया है, उसे व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत कर दो और उस पर

निर्णय करने का संपूर्ण अधिकार उसी को सौंप दो। अभिप्राय यह है कि व्यक्तित्व की पवित्रता और प्रतिष्ठा का आदर किया जाता रहा है। गुरु और शिष्य के व्यवहार का अनुशासन करनेवाली पद्धति यही होनी चाहिए। गुरुजनों को इस प्रकार कदापि नहीं सोचना चाहिए कि इन समस्त व्यक्तियों के मन मे अपने विचार हथौड़े से कूटकर ठूँस दिए जाएँ।

शिष्यो के प्रति इस भावना से दृष्टिपात करना चाहिए कि ये आत्मा-रूपी कोमल कलिकाएँ कुसुमों के रूप में विकसित होने के लिए प्रयत्नशील हैं। गुरुजनों का सही मनोभाव इसी प्रकार का होना चाहिए।

रूस, इग्लैंड, अमेरिका, यूनान, और रोम आदि विभिन्न देशो ने शिक्षा के ध्येय के विषय मे विभिन्न विचार स्वीकार किए हैं। हम भारतीयो का शिक्षा के स्वरूप के विषय मे एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण रहा है। भारतीय मनीषियों ने बताया है कि शिक्षा मानवात्मा की स्वाधीनता के लिए होनी चाहिए—*सा विद्या या विमुक्तये*।

शिक्षा का प्रयोजन यही होना चाहिए कि वह मनुष्य की आत्मा मे इस प्रकार का सामर्थ्य उत्पन्न कर दे कि उसको नया जीवन—द्वितीय जन्म—द्वितीय लोक (स्वाधीनता और आध्यात्मिकता का लोक) प्राप्त हो जाए।

तद् द्वितीय जन्म,
माता सावित्री,
पिता आचार्य।

यद्यपि हम सबका ही जन्म प्राकृतिक परिस्थितियो से सम्भूत तथा भौतिक आवश्यकताओ से भरे हुए ससार मे हुआ करता है तथापि मानव को इन भौतिक शक्तियो की प्रतिक्रिया मात्र नहीं समझ लेना चाहिए। उसकी एक अपनी ही प्रकृति है। हमारे यहाँ कुछ ऐसे विचारक हैं जो यह कहते हैं कि आध्यात्मिक स्वाधीनता के लोक मे मानवीय भावनाओ की उपेक्षा होती है, जो कि मानवीय जीवन का इहलौकिक पहलू है। परतु उनका यह कथन ठीक नहीं।

जब प्रश्न पूछा गया कि अमृत क्या है तो ऋषि द्वारा उत्तर दिया गया

प्राणाना आराम।
मनस आनन्द।
शान्ति समृद्धिः।।

अर्थात्—प्राणों (शरीर) के विश्राम, मन के आनद और आत्मा की शाति—परमशाति—में अमृत समाया हुआ है। मनुष्य तीन तत्त्वो से बना है—शरीर, मन और आत्मा। मानवीय प्रकृति के इन तीन तत्त्वों को विकसित और समृद्ध बनानेवाली शिक्षा को ही हम सर्वांगीण शिक्षा कह सकते हैं।

हमें यह नहीं समझना चाहिए कि विद्या के आदान-प्रदान और दाक्षिण्य के

हस्तांतरण का नाम ही शिक्षा है। उनकी बडी आवश्यकता है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य होना चाहिए कि वह अपनी जानकारी और कार्यपटुता से अपना योगक्षेम (आजीविका) चला सके। कहा भी है—'अर्थकरी विद्या'। परंतु यही सबकुछ नहीं। यदि आप वैज्ञानिक दृष्टि से निपुण हो जाते हैं, यदि आप अपनी आत्मा के अन्य पहलुओं को विकसित नहीं करते, और यदि आप यह नहीं मानते कि विद्या और प्रज्ञा के अतिरिक्त भी कोई उदात्त तत्त्व आपके जीवन मे विद्यमान है तो आप अपने जीवन के स्वामी होने के स्थान पर केवल राक्षस बन जाएँगे। किसी ने ठीक ही कहा है .

साक्षरो विपरीतत्वे—
राक्षसो भवति ध्रुवम्।

अर्थात्—यदि हम अपने जीवन के आध्यात्मिक पार्श्व की उपेक्षा करेंगे तो अवश्य ही हम राक्षस (दानव) बन जाएँगे।

अत· यदि हम वर्तमान जगत् की विपदाओ और यत्रणाओ से बचना चाहे तो हमें केवल विज्ञान की प्रगति आवश्यक नहीं है, अपितु साहित्य, कला, विद्याविनोद और प्रज्ञा की प्रगति मे उन्नति करनी होगी। जब तक हम मानवीय प्रकृति के इस पहलू को विकसित और समुन्नत नहीं करते, विज्ञान की ये त्रासदायक उपलब्धियाँ मानवता के लिए विनाशकारिणी सिद्ध होगी, किसी भी प्रकार सहायक नहीं बनेगी। यह सबकुछ उन व्यक्तियो पर निर्भर है जिन्होने इन वैज्ञानिक आविष्कारो को अपना वशवर्ती बनाया हुआ है। हम आगे से क्या करे, यह अग्नि की प्रकृति के ऊपर निर्भर नहीं है अपितु आग का प्रयोग करनेवाले व्यक्ति के स्वभाव पर आश्रित है। आग से आप अपनी अँगीठी गरम कर सकते हैं, अपना भोजन पका सकते हैं तथा उसे आप अपने पडोसी के मकान को जलाने मे भी प्रयुक्त कर सकते हैं। इसी प्रकार अणु बब एक यत्र है। वह आजकल मनुष्य के हाथ में पकडा दिया गया है। क्या हम उसका उपयोग मानवता, सौंदर्य और जीवन के प्रकर्ष के लिए कर रहे हैं या विनाश के लिए ? मानव-जीवन अणुशक्ति पर आश्रित नहीं है, अपितु उन व्यक्तियो की प्रकृति पर अवलबित है जिन्होने इस शक्ति का पता लगाया है। स्थान की दृष्टि से जगत् सिकुडता जा रहा है। ज्यो-ज्यो वह छोटा होता जाता है, त्यो-त्यो हमारे हृदय विशाल होने चाहिए।

अभी आपको उपदेश देते हुए श्री आचार्यजी ने एक ही वस्तु के आतरिक और बाह्य पार्श्व का निर्देश किया है। इस तत्त्व के अतर्वर्ती भाग को 'सत्य' कहते हैं। वही तत्त्व जब व्यवहार में मूर्तस्वरूप धारण करता है, तब वह धर्म कहाता है।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्।
धर्मान्न प्रमदितव्यम्।
कुशलान्न प्रमदितव्यम्।।

धर्म वही है जो मानवता को एकत्र करता है। अधर्म मानवता को विभक्त करता है। धर्म वह है, जो समाज को धारण किए रखता है—एक सूत्र में पिरोए रखता है। अधर्म हमें विशृंखल (विकीर्ण) कर देता है। धर्म हमारा अवलबन है। अधर्म से हमारा पतन होता है। धर्म के नाम पर हमने अपने देश मे इस प्रकार के अनेक आचरण स्वीकार किए हुए हैं जो वस्तुत अधर्म हैं। सब प्रकार के जाति-पाँति के प्रभेद तथा वे समस्त आचरण जिनके द्वारा हमने अबला नारियों और निम्न श्रेणी के लोगों का दमन और शोषण किया है, हमारे विनाश का कारण सिद्ध हुए हैं।

यज्ञ के नाम पर वृक्ष-वनस्पतियो को काटकर, पशुओं की हत्या कर, उनका रक्त बहाकर, यदि हम स्वर्ग जा सकते हैं तो बताइए, नरक में किस मार्ग से जाएँ ?

यूप छित्त्वा पशून् हत्वा
कृत्वा रुधिर–कर्दमम्।
यद्येव गम्यते स्वर्गे
नरके केन गम्यते।।

सदा स्मरण रखिए, सच्चे धर्म के महान् समर्थक सदा सुधारक वृत्ति के लोग (प्रोटस्टेंट मनोभाव के व्यक्ति) ही रहे हैं। धर्म के क्षेत्र मे वे महान् सुधारक निहित स्वार्थों के विरुद्ध सदा आवाज उठाते रहे हैं। महर्षि दयानद, और स्वामी श्रद्धानद जैसे महाप्राण पुरुषो ने हमारे देश की प्रामाणिक परपराओ का प्रतिनिधित्व किया है। वे अधविश्वासो के विरुद्ध सदा जूझते रहे हैं।

हमारी यह मातृभूमि सदा से महान् रही है। आपको उपदेश करते हुए आपके आचार्यजी ने अभी बताया है कि हमारे ऋषि-मुनियो ने इस पवित्र भूमि को अपने ज्ञान के आलोक से आलोकित किया है। उन्हीं के योगदान से यह देश गौरवशाली बना है। इस देश की सस्कृति की सुदीर्घ परपराएँ इस कारण अक्षुण्ण नहीं रही हैं कि हम लोग अशुद्ध रूप मे उनको दुहराते रहे हैं। उसका प्रधान कारण यह है कि हम परिवर्तन के लिए सदा सन्नद्ध रहे हैं। अपने आचार-व्यवहारो और क्रिया-कलापो को अपने आधारभूत विचारो के अनुसार परिवर्तित करने के लिए हम सदा तैयार रहते आए हैं। जब-जब सच्चे आदर्शों और विकृत आचारो के बीच विसवाद (विरोध) आता था, तब-तब वे विचारक अशुद्ध आचरणों को छोडकर जाति को पुन धर्म के सच्चे पथ पर प्रवर्तित करते रहे हैं।

आज मानव निर्माणमूलक कार्यों की उदात्त उपलब्धियो के लिए अभीप्सा कर रहा है। उसके लिए मेरी समझ मे ध्यान (एकाग्रता) की, चित्त को केंद्रित करने की बडी आवश्यकता है। इस ससार मे जो मनुष्य तुच्छ विषयो के प्रति अपनी शक्तियों का अपव्यय करते रहे हैं, वे जीवन में किसी महान् सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सके हैं।

आज इस विश्वविद्यालय से विदा होनेवाले नवयुवकों का यह कर्तव्य है कि वे समस्त जीवन में स्वाध्याय और प्रवचन को अपना व्रत रखें—आपके आचार्यजी ने भी आपको यही उपदेश दिया है—*स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।*

आजकल हमें इस प्रकार के बहुत कम छात्र दिखाई देते हैं जो किसी एक पुस्तक को पूरी तरह—आद्योपान्त पढते हों। अपने शिक्षको से पूछकर वे नोट्स लिख लेते हैं। परीक्षा के दिनों मे उनको उत्तर-पत्रो पर उगल देते हैं और उसके बाद उन पाठों को वे सदा के लिए भुला देते हैं। इतिहासज्ञ गिब्बन ने कहा है · 'भारत की समृद्धि मिलने पर भी मैं अध्ययन के आनद को नहीं छोड सकता।' प्रत्येक विश्वविद्यालय को चाहिए कि वह अपने तरुणो के मन मे इस भावना को बद्धमूल करे।

प्रिय नवयुवको ! आपने इस शिक्षा-निकेतन मे भारतीय सस्कृति की भावना को हृदयंगम किया है। मैं आशा करता हूँ कि आप उसके प्रभाव और तेज पर विश्वास रखेगे। स्मरण रखिए, सत्य के साथ उस संस्कृति की एकरूपता है। इसी के द्वारा आप जनता के हृदयों और मनों पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। मैं आपसे यह भी कह देना चाहता हूँ कि वह भारतीय-सस्कृति, जिसका सत्य से अभेद है, अपने अदर अद्भुत शक्ति रखती है।

आपको उस संस्कृति का उत्तराधिकारी बनना चाहिए। उसके लिए आपको अभिमान करना चाहिए। आप इस सस्कृति के महत्त्व को अपने हृदयो मे स्थापित करें और उसकी वृद्धि करे। यदि आप ऐसा करेंगे तो आप केवल अपने देश की ही नहीं अपितु सारे विश्व की कुछ सेवा कर सकेंगे। मैं आशा करता हूँ कि आपने इस विद्यामंदिर में जो शिक्षा पाई है, वह आपकी आकाक्षाओ को सफल बनाने में सहायक होगी।

[सन् 1955]

राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक गुरुकुल

श्री अनंतशयनम् आयंगर

गुरुकुल विश्वविद्यालय के सदस्यो, सन्नारियो और भद्रजनो !

गुरुकुल विश्वविद्यालय के दीक्षात-प्रवचन के लिए निमत्रित करके, मुझे आपने जो सम्मान और गौरव प्रदान किया है, उसके लिए मैं आपका अतिशय अनुगृहीत हूँ।

मेरे सन्मुख असीम शाति के साथ यह उत्तुग हिमाचल खडा हुआ दिखाई दे रहा है। सृष्टि के उषाकाल से पतितपावनी भगवती भगीरथी के ये पुण्यजल शात भाव से गिरिमालाओ से नीचे उतर रहे हैं। इस अतिशय मनभावने वातावरण को देखते ही मुझे एकाएक भारत के अतीत गौरव के दिन स्मरण हो आते हैं।

वह युग था जब कि ऋषि-मुनिगण शिक्षा के प्रसार के लिए आश्रम स्थापित किया करते थे और अपने अतेवासियो (छात्रो) को विद्या और ज्ञान के मूलभूत तत्त्वो की शिक्षा दिया करते थे। अपने इस प्रिय ध्येय के लिए वे अनासक्ति और समर्पण का जीवन व्यतीत करते थे। वे आचार्यजन अपने ब्रह्मचारियो के निकट-सान्निध्य मे रहते थे। वे उनको ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा देते थे। आर्यावर्त की शिक्षा-विधि के गौरव का वर्णन करने से पूर्व मैं इस विद्या-निकेतन के प्रशसित प्रतिष्ठापक और उनके सहकर्मियो की स्मृति को अपनी विनम्र श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

19वीं शताब्दी के पिछले दिनो मे भारतवर्ष मे दो प्रकार की शिक्षा-प्रणालियाँ प्रचलित थीं—स्वदेशी ढग पर चलनेवाली पाठशालाएँ और यूनिवर्सिटी की रीति पर चलनेवाले कॉलेज। स्वदेशी ढग से चलनेवाली पाठशालाओ की दशा शोचनीय थी। पश्चिमी शिक्षा के प्रचलन द्वारा देश मे पश्चिमी सस्कृति अपने पैर जमा रही थी। इस नवागत शिक्षा और सस्कृति के सपर्क से हमारे देश का वातावरण प्रभावित होता जा रहा था। देशी पाठशालाओ मे दीक्षित व्यक्ति इस परिवर्तित वातावरण के साथ अपने को ढालने मे समर्थ नहीं थे। लार्ड मेकाले द्वारा भारत मे प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का ध्येय ऐसे व्यक्तियों को पैदा करना था जो आगे जाकर अग्रेज शासको को शासन-कार्य में सहायता दे सके।

शिक्षा की इस प्रणाली मे सास्कृतिक और सामाजिक भावनाओ का सर्वथा

अभाव था। अंग्रेज शासकों द्वारा उस समय जो शिक्षाविधि प्रचलित की गई, उसका उद्देश्य प्रधान रूप से व्यापारिक था। वह शिक्षा और दीक्षा किस काम की जो मानव के आध्यात्मिक उत्थान में सहायक नहीं हो सकतीं ? उस शिक्षा से क्या प्रयोजन जो हमे अपने मानव-बधुओं से स्नेह करना न सिखाए ? जो हमें अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम-भावना को प्रबुद्ध न करे। परंतु अवस्था यह थी कि 19वीं शती के प्रारभ में जो शिक्षा-विधि प्रचलित थी वह भारतीय प्रजा में राष्ट्रीय-चेतना को विकसित नहीं कर रही थी।

ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा बगाल में सन् 1817 के आस-पास कुछ शिक्षा-केंद्र स्थापित किए गए परंतु वे पाश्चात्य सस्कृति के केंद्र के रूप मे परिणत हो गए। उनके द्वारा भारतीयों में पश्चिमी सस्कार प्रविष्ट हुए और वहीं के रीति-रिवाज और फैशन उनकी चेतना मे घर करने लगे। दूसरी ओर उस शिक्षा का प्रभाव यह हुआ कि हम भारतीय अपनी सस्कृति, अपने आचार-विचार, अपने धर्म-कर्म और अपने विद्या वैभव से घृणा करने लगे। यह प्रक्रिया जब अपनी चरम-सीमा को पहुँच गई तब हमारे देश के सुधी-जनो के मन मे एक प्रतिक्रिया प्रबुद्ध हुई। यह स्वाभाविक ही था। भारत मे बढते हुए भौतिकवाद और राष्ट्रीयता-विरोधी तत्त्वो के विरोध मे आवाज बुलद की गई। बगदेश मे ब्रह्म-समाज की प्रवृत्ति द्वारा पश्चिमीपन की इस बाढ को रोकने के लिए उपनिषद् की शिक्षाओ के आधार पर एक बुद्धिसगत धार्मिक आंदोलन का श्रीगणेश हुआ। उसके कुछ समय उपरात ही महर्षि दयानंद सरस्वती ने पश्चिमी भारत में आर्यसमाज के आदोलन का सूत्रपात किया। इस आदोलन द्वारा जनता में राष्ट्रीय चेतना को प्रदीप्त किया गया और बढती हुई पश्चिमी सभ्यता की प्रवृत्ति को जोरदार चुनौती दी गई। महर्षि दयानद ने अपनी शिक्षा-विधि मे भारत के अतीत गौरव की भावना को पुन प्रस्थापित किया। महर्षि की शिक्षा-विधि वेदो की शिक्षाओ पर आधारित थी।

श्रीयुत केशवचद्र सेन और महर्षि दयानद द्वारा प्रारभ किए गए इन दोनो आदोलनो का जनता के मन पर आश्चर्यजनक प्रभाव पडा। हमारी मातृभूमि ने मानो अपनी खोई हुई चेतना को पुन प्राप्त किया। प्रजा के मन मे आत्म-सन्मान और आत्म-विश्वास की भावना जाग उठी। देश ने मानो अपने आध्यात्मिक उत्तराधिकार का साक्षात्कार कर लिया। भारतीय प्रजा अनुभव करने लगी कि प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा-विधि के स्थान पर प्राची की भावना से ओतप्रोत ऐसी शिक्षा-प्रणाली को हमे प्रस्थापित करना चाहिए जिसमे पूर्व और पश्चिम की सस्कृतियो के उदात्त तत्त्वो का सुभग समन्वय विद्यमान हो। महर्षि दयानद सन् 1883 मे दिवगत हो गए। परतु उनके द्वारा सस्थापित सस्थाओं मे उनके चरित्रबल और उनकी शिक्षाओ का तेज, उत्साह और प्राण प्रतिबिंबित हो रहा था। महर्षि दयानंदजी द्वारा प्रबोधित गुरुकुल शिक्षा की भावना को क्रियात्मक रूप प्रदान करने का श्रेय श्री स्वामी श्रद्धानदजी को प्राप्त हुआ।

सन् 1902 में स्वामी श्रद्धानदजी ने एक प्राथमिक शिक्षा-निकेतन के रूप में गुरुकुल की स्थापना की, जो आज एक पूर्ण विकसित आश्रमिक विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो चुका है, जिसमे सप्रति चार महाविद्यालयों का समावेश है। श्री स्वामी श्रद्धानंदजी की अतरात्मा में एक ऋषि जैसी अंतर्दृष्टि विद्यमान थी। उन्होंने अनुभव किया कि आत्मसशोधन और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के आंदोलन केवल शुद्धि की प्रवृत्ति (मतपरिवर्तन=धार्मिक सशोधन) तक ही सीमित नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्तियों के चरित्र मे जीवन की पवित्रता, न्यायप्रियता और नम्रता प्रस्फुटित हो। चरित्र की ये विशेषताएँ साधना और तपस्या के द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। एक ऋषि के अतर्दर्शन के समान उन्होने अनुभव किया कि इस प्रकार का प्रशिक्षण बालकों के प्रारभिक जीवन में ही संभव है, जबकि मनुष्य का जीवनक्रम चरित्र-निर्माण के क्षणो मे से प्रवाहित हो रहा होता है।

श्री स्वामी श्रद्धानदजी का यह विश्वास था कि शिक्षा ही आत्म-सशोधन का एकमात्र आधार है। प्राचीन आर्यावर्त में प्रचलित ब्रह्मचर्य-पालन और गुरु के आश्रम मे रहकर शिक्षा-साधना की पद्धति को पुनर्जीवित करना उनका उद्देश्य था। साथ ही हिंदी-भाषा के माध्यम द्वारा सस्कृत वाङमय के श्रेष्ठ तत्त्वो के साथ पश्चिम के आधुनिक ज्ञान-विज्ञानो के उदात्ततत्त्वो की शिक्षा देते हुए देश के बालको का चरित्र-निर्माण करना और उनमे राष्ट्रप्रेम की भावना को जगाना स्वामीजी का ध्येय था।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आदर्शों और उद्देश्यो से हम सब अच्छी तरह परिचित हैं। सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं

(क) चिरकाल से विस्मृत हुई ब्रह्मचर्य प्रणाली को पुनर्जीवित करना तथा उसे शिक्षा का आधार बनाना।

(ख) नागरिक जीवन के कलुषित प्रभावो से दूर हटाकर छात्रो को नैसर्गिक सौंदर्य के स्वस्थ, प्रोत्साहक और प्रेरणाप्रद वातावरण में रखना तथा उनके तन, मन, और आत्मा के सतुलित विकास के लिए अवसर प्रदान करना।

(ग) छात्रो का चरित्र-निर्माण करते हुए उनमें भारतीय सस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न करना तथा सरल जीवन और उदात्त विचार एव 'ज्ञान के लिए ज्ञान' की भावना को प्रदीप्त करना।

(घ) गुरु और अतेवासी (शिष्य) के बीच मे पिता-पुत्र का-सा स्नेह-संबध स्थापित करना।

(ङ) विश्वविद्यालय के स्तर तक शिक्षा का माध्यम हिंदीभाषा को रखते हुए अपनी शिक्षा-योजना में वैदिक-साहित्य और सस्कृत वाङ्मय के अध्यापन को, उसके गौरव के अनुरूप, समुचित स्थान प्रदान करना।

(च) भारत की प्राचीन विद्याओ के अध्ययन के साथ-साथ आँग्लभाषा और आधुनिक विज्ञानो का अनुशीलन करना।

(छ) देश-भर में प्रचलित परीक्षा-प्रणाली के दूषणों को दूर करना।

(ज) प्राचीन भारतीय आदर्शों के अनुसार बिना शुल्क के शिक्षा प्रदान करना।

(झ) भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन और भारतीय विज्ञानों के विषय मे गवेषणा करना।

(ञ) भारतीय राष्ट्रभाषा हिंदी मे आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों तथा प्राचीन सस्कृत विद्याओ के विषय मे साहित्य निर्माण करना।

इन उद्देश्यो द्वारा हम वैदिक-सस्कृति का पुनरुज्जीवन कर सकते हैं। ये उद्देश्य किसी दल विशेष के नहीं हैं, ना ही ये किन्हीं राजनीतिक सिद्धातो के वशवद हैं। इन उद्देश्यो में धर्म के वे शाश्वत और अपरिवर्तनीय तत्त्व निहित हैं, जो अपने स्वरूप मे दैवी हैं और जो मानव के मन से उत्पन्न नहीं हो सकते।

यह सबकुछ कहते हुए मुझे भारतीय संस्कृति की विशेषताओ का सहज ही स्मरण हो आता है। यह सस्कृति अनेकों क्रांतियों और विरोधों के बावजूद अभी तक जीवित है। सहस्रो सवत्सर बीत गए। सैकडो साम्राज्य खडे हुए और भूमिसात् हो गए, अनेको सभ्यताएँ उठीं और नष्ट-भ्रष्ट हो गईं, परतु भारतवर्ष अभी तक जीवित है। उसकी सस्कृति अभी तक प्रगति कर रही है। इस भारतभूमि के हमारे उन पूर्व-पुरुषो को धन्य है, जिनके अदर अन्यो को आत्मसात् करने की अद्भुत शक्ति विद्यमान थी। नाना रीतियो, नाना रिवाजों, नाना परपराओ और नाना प्रभेदो के बावजूद भी इस सस्कृति के अदर एक ऐसी अमर एकता है, जो देश को शक्ति प्रदान करती है और उसे अक्षुण्ण रखती है।

हमारे वैदिक ऋषियो को ही इस बात का श्रेय है कि उन्होने जीवन के समस्त पार्श्वों का अध्ययन किया और एक समन्वय तक पहुँचे। ऋषियों का यह विश्वास था कि जगत् की अधिकाश समस्याओ का समाधान किया जा सकता है। यदि जीवन की समीक्षा अनासक्त रूप में की जाए, और तभी एक उचित समन्वय पर पहुँच सकते हैं।

हमारे प्राचीन विचारको के मत में शिक्षा भगवान् के साक्षात्कार का एक साधन है। अदूषित ज्ञान ही ब्रह्म (ब्रह्मज्ञान) के साक्षात्कार की कुंजी थी। उनकी सम्मति मे ब्रह्मविचार ही विद्या का उच्चतम स्वरूप था। भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय मे श्रीकृष्णजी कहते हैं

तद्विद्धि प्रणिपातेन
परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान
ज्ञानिनस्तत्वदर्शिन ।। 34 ।।
यज्ज्ञात्त्वा न पुनर्मोहमेवं
यास्यसि पांडव।

येन भूतान्यशेषेण
द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। 35।।

कठोर परिश्रम और सेवा द्वारा ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है और जब ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है तो समस्त अज्ञान नष्ट हो जाता है। गीता के 18वें अध्याय में श्रीकृष्ण जी अपने भक्तों को निर्देश करते हुए सूचित करते हैं कि अपना समस्त ध्यान 'ब्रह्म' में केन्द्रित करो। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि व्यक्ति अपने में भी भगवान् का दर्शन कर सकता है एवं प्रत्येक व्यक्ति में भी, नहीं नहीं, समस्त विश्व में भी भगवान् का दर्शन कर सकता है तथा मानव-जाति की सेवा कर सकता है। मानव-जाति की सेवा ही भगवान् की अर्चना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवद्गीता के समय में आध्यात्मिकता की विचारणा मे परिवर्तन आ गया था। यज्ञ द्वारा भगवान् को सतुष्ट करने के पुराने विचार का स्थान नि.स्वार्थ सेवा ने ले लिया था। हमारे पूर्वजो ने अनुभव कर लिया था कि प्रतिस्पर्धा का नियम जागलिक नियम है। सहकारिता का विचार ही मानवीय सबधो का प्रेरक तत्त्व है। उन्होने प्रेम द्वारा घृणा पर विजय पाई। सामजस्य और सुसवादिता के द्वारा विसवाद पर विजय पाई। उन्होने यह भी अनुभव किया कि सब बुराइयो का मूल आकाक्षा है। कामना की अतिशयता ही हमे प्रतिस्पर्धा की ओर ले जाती है। अतएव उन महर्षियो ने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ को भी सयत करने का प्रयत्न किया। अपने कार्यकलापो मे सवादिता स्थापित करना और प्रतिस्पर्धा के भाव को बहिष्कृत करना ही उनके जीवन का लक्ष्य था।

यह अतिशय परितोष का विषय है कि गुरुकुल विश्वविद्यालय शिक्षा के वैदिक आदर्शों को हृदयगम करता है और समर्पण एव मानवता की नि.स्वार्थ सेवा की भावना से प्रेरित है।

जब मैं इस स्थान पर चहुँओर दृष्टिपात करता हूँ तो मैं बहुत प्रभावित होता हूँ कि हमारे देश की विचार-सपदा और सस्कृति पर प्रकृति ने कैसा कोमल और मगलकारी प्रभाव डाला है। अनादिकाल से भारतीय लोग प्रकृति की ओर आकृष्ट होते रहे हैं। उस प्रकृति के प्रति नहीं, जिसके दॉत और पजे रक्तरजित हैं, अपितु उस प्रकृति के प्रति जो आनद और उल्लास का स्रोत है, जो शाति का धाम है।

पर्वतों की उपत्यकाओं और घाटियों के शांत पावन वातावरण में ऋषि-मुनि-जन जीवन की समस्याओ पर ध्यान और चितन किया करते थे। प्रकृति की शांत एकात गोद मे मेधावी शिक्षको के निरीक्षण मे तपोवन और आश्रम स्थापित किए जाते थे। शिष्यजन व्यावहारिक जीवन की आवश्यक तैयारी उन आश्रमो मे ही करते थे। प्रकृति उनके लिए केवल पृष्ठभूमि ही नहीं थी अपितु एक पूर्णतया जीवित जागरित पदार्थ था। उसकी एक अपनी ही जीवन-लीला थी। वह प्राणों से परिस्पदित होती रहती थी। उन्होंने अनुभव किया था कि समस्त बाह्य वस्तुएँ और विषय दिव्यशक्ति

का ही आविर्भाव-रूप हैं। सभी पार्थिव पदार्थ एक ही सर्वनिष्ठ आत्मा से व्याप्त हैं। दैनिक जीवन के कोलाहल और चहल-पहल से दूर पर्वत की छाया मे किसी वनप्रातर मे वे आश्रमवासी अपनी पर्णशालाएँ बनाकर रहते थे। वे वहाँ पर यही सीखते थे कि प्रकृति एक महान् शिक्षिका है। उसके पास एक सदेश है। यहाँ तक कि एक छोटे से छोटा पदार्थ भी हमे बडी शिक्षा दे सकता है। एक सुकवि ने क्या ही अच्छा कहा है

> 'हे नन्हे प्रसून, काश कि मैं तुम्हारे जीवन रहस्य को जान पाता। आखिर तुम क्या हो ? तुम्हारे मूल की महिमा जानते ही मैं तुम्हारा समग्र रूप जान लेता। और फिर तो मुझे यह भी अवगत हो जाता कि भगवान् क्या है और *मानव क्या है ?'*

विश्व के कुछ चुने हुए उत्तम उपहार प्रकृति की एकात गोद मे ही मानव के मस्तिष्क से निष्पन्न हुए थे।

गुरुकुल हिमालय की गोद मे बसा हुआ है। यहाँ पर यह ससार के कोलाहलो, सरगर्मियो और परेशानियो से मुक्त है। मानसिक शक्तियो के विकास के लिए यहाँ का वातावरण आदर्श है। इस शिक्षा-सदन मे अध्ययन करनेवाले छात्रो को प्रकृति की मगलकारी भावनाएँ प्रभावित करती हैं।

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् अब राष्ट्र का शासन-सूत्र हमारे ही हाथो मे आ गया है। इसके साथ ही स्वाभाविक रूप मे अनेक समस्याएँ भी पैदा हो गई हैं, जिनका संतोषजनक समाधान हमें अभी ढूँढना है। हमे अपने देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाना है, लोगो के पेट भरने हैं, उन्हे रहने के लिए मकान देने हैं और उनके स्वास्थ्य की भी देखभाल करनी है। परतु इस भौतिक कल्याण के साथ-साथ उनके मस्तिष्क को भी हमे पोषण प्रदान करना है। ससार इस समय चौराहे पर खडा है। जाति, रग तथा धर्म के भेद के कारण राष्ट्रो के पारस्परिक विरोध, सघर्ष और तनाव आदि सामान्य-सी बाते हो गई हैं। ससार को इस समय सहिष्णुता और एक-दूसरे को समझनेवाली वैदिक भावना की आवश्यकता है। राष्ट्रवासियो को स्वय ही मोहनिद्रा से जागकर मानवता का नेतृत्व करना है। अब अपने तथा समाज मे से बुराइयो को दूर करने का समय आ पहुँचा है। काल की गति के साथ-साथ हमे भी बदलना है तथा अपने दृष्टिकोणो मे भी परिवर्तन लाना है। हमे अपने अदर सेवा की भावना का विकास करना चाहिए, लेने की प्रवृत्ति ठीक नहीं, हमे तो दान करना चाहिए। इसी प्रकार शासन करने की प्रवृत्ति ठीक नहीं, सेवा की वृत्ति ही प्रशसनीय है। सरकार के कधो पर इस समय भारी उत्तरदायित्व है। अत यह कहने की आवश्यकता नहीं कि समुचित शिक्षा पर ही राष्ट्र की प्रसन्नता तथा शाति निर्भर है। ससार मे इस समय बडी-बडी शक्तियाँ विद्यमान हैं। विनाश के लिए नए-नए अस्त्र शस्त्रादि का आविष्कार हमारी कोमल भावनाओ को

समाप्त कर देगा और हमारी प्राचीन सभ्यता एव सस्कृति की जडे खोखली हो जाएँगी। इसलिए हमें शीघ्रातिशीघ्र ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जो हमारी कोमल भावनाओ का विनाश न करे, प्रत्युत हमारे उदात्त गुणो को जीवित रक्खे तथा हमे मानवता की सेवा करने के योग्य बनाए। प्राचीन और अर्वाचीन का सुभग समन्वय ही हमें वाछित है। नवीन शिक्षा-पद्धति के उत्तम तत्त्वो को वैदिक सस्कृति के अनुकूल बनाकर हमें अभीष्ट की सिद्धि करनी होगी।

यह मानने मे किसी को भी आपत्ति न होगी कि चरित्र-निर्माण ही शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य है। चरित्रहीन बौद्धिक प्रतिभा का कोई मूल्य नहीं। समर्पण, समादर तथा भ्रातृप्रेम की भावनाओ का विकास करके ही मानव की आत्मा तथा चरित्र को उन्नत किया जा सकता है। गुरुकुल शिक्षा-पद्धति इसी कारण वाछनीय है कि वह युवक विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण पर सर्वाधिक बल देती है। गुरुकुल विश्वविद्यालय में विद्यार्थियो के लिए चारित्रिक विकास के प्रभूत अवसर हैं क्योकि वह नगरो की उन शिक्षा-सस्थाओ की भाँति नहीं जहाँ पर समाज का दूषित प्रभाव पडने की सभावना रहती है।

बडी प्रसन्नता का विषय है कि गुरुकुल विश्वविद्यालय की उपाधियो को सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त है और समय-समय पर इसे सरकारी आर्थिक सहायता भी मिलती रहती है। हमे आशा करनी चाहिए कि सरकार को देश के विभिन्न भागो मे ऐसी सस्थाएँ स्थापित करने मे कोई आपत्ति न होगी जिनसे गुरुकुल का प्रेम तथा सेवा का स्पृहणीय सदेश चहुँदिशि फैल जाए। इस समय हमे अपनी मातृभूमि की सास्कृतिक परपरा के प्रति अपने विश्वास को सुदृढ करना चाहिए।

अपना यह प्रवचन समाप्त करते हुए, मैं कुछ एकवचन अपने तरुण स्नातको के प्रति निवेदन करना चाहता हूँ। प्रिय स्नातको, आप आर्य सस्कृति के उत्तराधिकारी है। अधकार मे आपको अपनी मशाल बराबर प्रज्वलित रखनी होगी। आपको ही जनता को सत्पथ का प्रदर्शन करना होगा। जब वे गिर जाएँ तो आपको ही उन्हे उठाना होगा। आपका जीवन मानव जाति की सेवा मे समर्पित है। इसलिए साहस और धीरता का पाथेय लेकर ससार में आगे बढिए। आपकी विद्या-सपदा—जो कि ऋषियो की ज्ञान-सपदा है—आपको शांति और समृद्धि प्रदान करेगी।*

[सन् 1956]

* हिंदी भाषातर—शकरदेव विद्यालकार

राष्ट्र के उत्थान में नवयुवकों का उत्तरदायित्व

•

श्री चिन्तामणि द्वारिकानाथ देशमुख

सौजन्य से परिपूर्ण हे महानुभावो, आपका मुझ पर बडा अनुग्रह है। प्रशसा के भार से मेरे कधे झुक गए हैं। सर्वप्रथम मैं चन्द्रमौलि भगवान शिव को प्रणाम करता हूँ, पुन हसाधिरूढ सरस्वती देवी को प्रणाम करता हूँ।

आप जैसे विशारद (पडितो) के सामने मैं सशारद (शारदा का उपासक) होते हुए भी अत्यत विनम्र भाव से उपस्थित हुआ हूँ। श्री से रहित हूँ किंतु यथावत् कहने की इच्छावाला होकर अपनी रक्षा के लिए सदुर्ग (दुर्गाजी का भक्त) बन गया हूँ।

मेरा संस्कृत भाषा मे मुद्रित दीक्षात भाषण आपके हाथ मे है ही। कुछ दिन पहले कुलपति महोदय ने मुझे आदेश दिया था कि किसी अवसर पर सस्कृत भाषा मे भी आप कुछ कहे। गुरु के आदेश के समान कुलपति का आदेश भी बिना विचार किए ही स्वीकार करना चाहिए, यह बात मनीषी लोगो को विदित ही है। इसलिए कुछ वर्षों तक सस्कृत भाषा मे अपने अभिभाषण के कुछ अश मैं आपको सुनाऊँगा।

आज हिमालय के निकट गगाजी के तट पर गुरुकुल के पावन और प्रसन्न जल स्थल एव पवन मडल मे आपके साथ उपस्थित होकर मुझे महान् हर्ष हो रहा है। इस आनद के कारणभूत पडित वरेण्य, इद्रविद्यावाचस्पति सबसे पहले मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होने मुझे दीक्षात भाषण के लिए आमन्त्रित कर यह शोभन अवसर प्रदान किया।

सवत् 1977 मे विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत यह गुरुकुल आज तक कुछ यशस्वी देशनेताओ के द्वारा अपने-अपने भाषणों से अनुगृहीत किया गया। उन महापुरुषो मे महामना पडित मदनमोहन मालवीय, डॉ भगवानदास, स्वामी श्रद्धानद, डॉ राजेन्द्रप्रसाद, आचार्य नरेन्द्रदेव, गुरुदेव रवींद्रनाथ, डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, राजर्षि टडन आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार के महापुरुषो की पक्ति मे मुझे स्थापित कर सम्मानित करने के लिए मैं कुलपति महोदय को धन्यवाद वितरित करता हूँ।

यह बात तो आपको सुविदित ही है कि साठ वर्ष पहले भारत मे राष्ट्रीय

कांग्रेस की स्थापना हुई थी। तब से लेकर हमारे देश में बडी विचित्र राजनीतिक जागरण की तरंगें उठने लगीं। इस अभिनव जागरण का प्रभाव सबसे पहले विभाजित बंगाल से उठे हुए आंदोलन के रूप में प्रकट हुआ। उसी प्रसंग में नवीन भारत के नेताओं ने राष्ट्र की संस्कृति के अनुरूप शिक्षा-प्रणाली को लेकर विचार करना प्रारंभ कर दिया। उसी के अनुसार इस देश के अनेक स्थानों पर उस प्रकार के कुछ विश्वविद्यालय स्थापित किए गए, जिनका शासन की ओर से प्रतिष्ठापित विश्वविद्यालयों से कोई सबध नहीं था। न ही शासन की ओर से कोई सहायता उन्हे प्राप्त होती थी। वे विश्वविद्यालय स्वातन्त्र्योन्मुख भारत की प्रतिभाओं के अनुरूप शिक्षा-प्रणाली का निर्णय करने के लिए बद्धपरिकर हो गए और उस दिशा मे आगे बढने लगे। उस प्रयास में कुछ विश्वविद्यालय तो अनेक बाधाओ से टकराने के कारण असमय में ही कालकवलित हो गए। किंतु कुछ विश्वविद्यालय के संचालको ने अपनी दुर्दमनीय लक्ष्य प्राप्ति की तत्परता दिखाई। ऐसे विश्वविद्यालय विघ्नो के सामने खडे होने पर भी विकास की ओर बढते रहे। इन राष्ट्रीय संस्थाओ की परपरा बडी उदात्त है जिनमे जादवपुर स्थापत्य विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन का विश्वभारती विश्वविद्यालय, देहली का जामिया मिलिया और हरिद्वार मे स्थापित आपका यह गुरुकुल विश्वविद्यालय प्रमुख है।

पहले मैं उस प्राचीन भारतीय शिक्षाप्रणाली का वर्णन करूँगा, यद्यपि आप पहले से ही उससे परिचित हैं और उसका अभ्यास कर चुके हैं जिसमे समुचित परिवर्तन करके उसे पुनर्जीवित और सरक्षित करने के लिए सस्था के सचालक यत्न कर रहे हैं। वैदिक काल से प्रचलित उस शिक्षा-प्रणाली को सूत्रकारो ने नियमो मे बाँधने का यत्न किया है।

पॉच वर्ष की अवस्थावाला बालक विद्यारम्भ सस्कार द्वारा लिपि, सख्या आदि की शिक्षा मे प्रवेश करता था। आठवे वर्ष मे बालक का उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था। उस समय उपनयन केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो का ही नहीं अपितु शूद्रो का भी माना जाता था। इन संस्कारो का विवरण संस्कृत न जाननेवाले लोगो के लिए डॉ राधाकुमुद मुकर्जी की 'प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली' विषयक पुस्तक मे सकलित विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है।

यह उपनयन सस्कार दूसरे जन्म के रूप में माना जाता था तथा गुरु को पिता के तुल्य समझा जाता था। उस सस्कार के अवसर पर कैसी-कैसी वेशभूषा हो, क्या उचित है और क्या अनुचित है, यह सब तत्सम्बद्ध सुनिश्चित नियमों से निर्धारित किया जाता था। संस्कार के पश्चात् गुरु ब्रह्मचारी को शिष्य के रूप में स्वीकार करता था। शिक्षाकाल मे घर-घर जाकर भिक्षा मॉगना और गुरु के लिए समिधा, जल-पुष्प आदि का चयन ब्रह्मचारी का कर्तव्य होता था। इस प्रकार वह गुरु-पूजा के योग्य होता था। इसके विपरीत गुरु के दुराचारी होने पर विद्यार्थी उसे धिक्कारने के भी अधिकारी थे।

ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी सूर्योदय से पहले ही बिस्तर से उठकर नित्यकर्म से निवृत्त होकर, आलस्य को छोड़कर, प्रणायामादि साधनो से एकाग्रचित्त हो स्वाध्याय में मग्न हो जाता था। अनेक प्रकार के विलास के उपकरण उसके लिए त्याज्य थे, जैसे जूता, छाता, वाहन, जुआ, नृत्य, गीत, सुगधित तेल आदि द्रव्य वर्जित थे।

वितंडावाद, व्यर्थ का वार्तालाप, मिथ्याभाषण और दिन में सोना निषिद्ध था। काम, क्रोध, द्वेष, लोभ आदि विकारो को अवकाश नहीं मिलता था। कर्त्तव्यपरायणता, विनय, आत्मविश्वास, अहंकारशून्य, मनोवृत्ति आदि इष्टगुणो को प्रोत्साहित और विकसित किया जाता था। ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर किसी घर के कोने मे उस ब्रह्मचारी को रोककर रखा जाता था ताकि उसके तेज से भगवान सूर्य लज्जित न हो जाएँ। दोपहर बाद उसके विद्यार्थी दशा के सूचक समस्त चिह्न हटा लिए जाते थे। सुगंधित द्रव्यों से उसे स्नान कराया जाता था। उसके पश्चात् ही वह स्नातक गृहस्थाश्रम मे प्रवेश के लिए उन्मुख होकर अपने घर को लौटता था। समावर्तन संस्कार की यही विधि थी, और इसीलिए आज यहाँ हम सब एकत्र हुए हैं।

इस प्रकार की सनातन उदात्त गुरुकुल परपरा के उत्थान के स्वर्णिम स्वप्न की पूर्ति में महर्षि दयानद सरस्वती महाभाग कृत संकल्प रहे। उसी स्वप्न को साकार करने के लिए स्वामी श्रद्धानद ने जो कि कुलपिता पद के अधिकारी थे, प्रयत्न किया। पुण्यशाली पुरुषों के स्वप्न कभी भी व्यर्थ नहीं जाते, यह बात निरतर इतिहास के क्रम ने सिद्ध कर दी है। इस सदर्भ मे महात्मा गॉधीजी ने भी कहा था—

"मेरे स्वप्न बुलबुले के समान अकिंचित्कर नहीं हैं। मैं अपनी शक्ति के अनुसार उनको साकार करने का प्रयास करता हूँ।"

स्वामी श्रद्धानद ने व्रत धारण करके प्राचीन परिपाटी को स्थापित करना चाहा जिसका अनुसरण करके बालक उपनयन सस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते थे तथा ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिए विद्या की संख्या के आधार पर चौदह वर्ष तक गुरुकुल मे निवास करते थे। इस प्राचीन सस्कृति के पुनरुज्जीवन से वे इस सस्कृति का अर्वाचीन विज्ञान के साथ समन्वय सिद्ध करने की इच्छा रखते थे। और हिंदीभाषी के माध्यम से विद्या प्राप्त करनेवाले अपने शिष्यो मे आत्म-विश्वास और देश-प्रेम जमाना चाहते थे।

1950 मे सवत्सर में गुरुकुल की स्वर्णजयती के अवसर पर बबई के राज्यपाल श्री प्रकाशजी ने कहा था कि "कार्य के आरभ के दिनो मे क्षितिज पर आशा की किरणे कम ही दिखाई दीं।" यह उन स्वामी श्रद्धानद के अदम्य साहस और उत्कृष्ट उत्साह का ही लक्षण है कि उन्होने न केवल हमारी शिक्षा-प्रणाली को यथार्थ रूप से राष्ट्र धर्म के अनुकूल और स्वशासित करने का प्रयास किया अपितु अपने विचारों के अनुसार अरण्य का भी सेवन किया, अपने हाथो को वृक्ष काटने से कर्कश भी बनाया, जगली जानवरो का संत्रास भी सहन किया और इस

विद्यालय की स्थापना की। उनकी प्रधान सहायता उनकी आंतरिक दृढ इच्छाशक्ति ने ही की।

यह बडे आनद, संतोष का विषय है कि उनके द्वारा लगाया गया पौधा आज दृढ और सुदर वृक्ष बन गया है, और इसकी छाया में बैठे हुए कुछ छात्रो ने उचित और उपयुक्त शिक्षा को प्राप्त करके अपने-अपने शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन को समाज और देश की सेवा में लगाने का संकल्प लिया है।

अत मे आज मैं गुरुकुल में आकर अपने नवस्नातकों को लक्ष्य करके कुछ कहना चाहता हूँ जो इस आदर्शमय जल-वायुमडल को छोड़कर व्यवहार और व्यापार के ससार में प्रवेश करने जा रहे हैं।

प्रगति प्रवण इस संसार में यद्यपि वैज्ञानिक और शिल्पनिष्णात लोगो का अत्यत आदर है, फिर भी आज ऐसे मनुष्यो की आवश्यकता है जिनका चरित्र, न्यायप्रियता, कार्यदक्षता लोगों मे विश्वास उत्पन्न करती है। सैकडों वर्षों तक दासता की जंजीरों मे जकडे हुए व्यापारवाले हमारे देश ने अभी-अभी स्वतत्रता प्राप्त की है। एक समय मानव जाति के उन्नति के शिखर पर आरूढ रहनेवाला होकर भी हमारा देश आज भौतिक वस्तुओ में दूसरे देशो से पिछडा हुआ है। अपने उस उच्च स्थान को पुनः प्राप्त करने के लिए राष्ट्रमडल में हमे अत्यत कठोर प्रयत्न की आवश्यकता है। इस उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इतने ही प्रयास आवश्यक हैं जितने प्रयत्न स्वतत्रता की प्राप्ति के लिए किए थे। सैकडो वर्षों की दासता के परिणामस्वरूप हम भारतीयो के अत.करण बहरे हो चुके हैं। बडी श्रद्धा से हम अन्याय, अशिष्टता और असत्य को सह जाते हैं। यह नीति की बधिरता पूर्ण रूप से त्याज्य है। इस कार्य मे अत्यधिक उत्तरदायित्व आप जैसे नवयुवको का है।

इस ससार में आप बडी उत्कठा से प्रवेश करना चाहते हैं जिसमे अभी आपके लिए पर्याप्त सुख-साधन नहीं हैं। वे सुख-साधन बडे कष्ट से सपादनीय दिखाई देते हैं। जीवन की अहम् भूमिका ने नैतिक सरणी को बहुत नीचे गिरा दिया है। और सत्तालोभ, कुटिलता, मिथ्याचार, न्याय-निष्ठा के प्रति उदासीनता आदि दुर्गुण ऊपर उठ गए हैं यह सब आपके सामने स्पष्ट ही है।

सत्वगुण विरोधी इस जलवायुमडल में आपके चरित्र की परीक्षा ली जाएगी। इसी के परिवर्तन के लिए आप जैसे सुसस्कृत दृढ युवक तैयार हो जाएँ। यदि किसी कारणवश युवा वर्ग किसी दु साध्य कार्य को करने मे असमर्थ न हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। किंतु यह स्वाभाविक ही है किंतु समाज की कि वास्तविक प्रगति और यथार्थ चारुशीलता तथा साधारण नागरिक के चरित्र की उदात्तता, उसकी कार्यक्षमता की ही अपेक्षा करती है भले ही सस्कृति का विकास और सभ्यता की परिपुष्टि थोडे से असाधारण दार्शनिको के प्रयत्न पर अविलबित है, आखिर असामान्य तो असामान्य ही होता है।

साधारण लोगों के वश की एक बात तो है, वह है॰अपने चरित्र की स्थिरता।

चरित्र की स्थिरता के माध्यम से सामान्य जन सामाजिक प्रगति के कार्य मे सहायता प्रदान करने मे समर्थ होते हैं। कार्य छोटा-बडा कैसा भी हो, हार्दिक आग्रह के साथ उसका निर्वाह करना चाहिए और पूरी शक्ति के साथ चरित्र की रक्षा करनी चाहिए। ऐसा मैं कह रहा हूँ, मेरा यह अनुभव है कि चरित्र ऊँचे-नीचे पद पर निर्भर नहीं करता इसके विपरीत मैंने यह देखा है कि चरित्र का मूल्य धनवान उतना नहीं समझते जितना निर्धन लोग समझते हैं। आज तक मनुष्यों का यही अनुभव है कि श्रेष्ठ चरित्र से उत्पन्न आनंद आसक्तिजन्य सुखो से कहीं अधिक उत्तम होता है। जीवन में आनद से अधिक भला और क्या अभिलषणीय है। तुम सब व्रत के अभ्यासी हो।

कान देकर सुननेवालो, हे ज्ञान के सागर स्नातको ! यद्यपि आज कर्ण नहीं है फिर भी उदार हो, मेरी इस वाणी को आप आदर के साथ सुनो !

यह सत्य धर्मलोक मे प्रथित है कि तुम बोए हुए बीज से अधिक काटते हो। अपने बोए हुए सदाचरण से तुम शीलस्वभाव को काटो अर्थात् प्राप्त करो। और उस शीलस्वभाव से नियति का निर्धारण करो। वह सुदर नियति आपके लिए शुभ हो ! इतना कहकर मैं विश्राम लेता हूँ।*

[सन् 1957]

* मूल सस्कृत भाषण का यह अनुवाद डॉ विजयपाल शास्त्री द्वारा किया गया।

शिक्षा में क्रांति

•

श्री मेजर वामनदास वसु

गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता महोदय, आचार्यो, स्नातको, तथा विद्यार्थियो !

मैं इस बात को पूरी तरह अनुभव कर रहा हूँ कि आप लोगो ने जो मान मुझे दिया है शारीरिक, मानसिक अथवा नैतिक किसी भी दृष्टि से, मैं उसके योग्य नहीं हूँ। वृद्धावस्था के कारण मेरी शारीरिक और मानसिक शक्तियो का काफी ह्रास हो चुका है और नैतिक दृष्टि से जिस स्थान को स्वर्गीय लाला लाजपतराय, बाबू भगवानदास और महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष सुशोभित कर चुके हैं, उसे ग्रहण करते हुए मैं अपनी तुच्छता को पूरी तरह अनुभव कर रहा हूँ। किंतु आपने जबरदस्ती आज्ञा देकर मुझे यहाँ बुलाया है। आपके प्रेम ने मुझे आने के लिए मजबूर किया है। और आपके इस प्रेम, आपकी सहायता और आपकी उदारता से ही मुझे यह आशा है कि मैं इस पद की ओर थोडा-बहुत अपने कर्तव्य का पालन कर सकूँ।

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व से लेकर अत तक मैं आपकी इस प्रशस्त सस्था के सस्थापक स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानदजी से परिचित रहा। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व मै एक विद्यार्थी की हैसियत से लाहौर मे रहता था। स्वामी श्रद्धानदजी का नाम उस समय लाला मुशीराम था। अपने जीवन के आरभ ही मे उन्होने इस बात को अनुभव कर लिया था कि कोई महान् कार्य बिना कुर्बानी के सिद्ध नही हो सकता। एक आदर्श तथा स्वाधीन गुरुकुल की स्थापना उस समय से ही उनके जीवन का एक स्वप्न था। पजाब मे और आर्यसमाज तक मे अनेक लोगो ने उनकी इस योजना को अव्यवहार्य कहकर उसका उपहास किया। वकालत छोडकर उन्होने अपनी कमाई का समस्त धन अपने इस स्वप्न की पूर्ति मे लगा दिया। इसके बाद वे महात्मा मुशीरामजी के नाम से विख्यात हुए। आज से लगभग दस वर्ष पूर्व उन्होने सन्यास लिया, तभी से उनका नाम स्वामी श्रद्धानद पडा। मुझे इस बात का गर्व है कि उनके जीवन की इन तीनो अवस्थाओ मे मैं उनसे पूरी तरह परिचित रहा। स्वामी श्रद्धानदजी ने अपना सर्वस्व अपने देशवासियो की स्थिति सुधारने के लिए न्यौछावर कर रखा था। शिक्षा का प्रचार, सामाजिक सुधार तथा राजनैतिक स्वाधीनता—तीनो क्षेत्रो मे वे एक सच्चे कर्मी तथा त्यागी की

हैसियत से अंत तक काम करते रहे। मैं स्वय जन्म से पंजाबी हूँ किंतु मेरे पूर्वजो का स्थान बंगाल था और एक पंजाबी की हैसियत से मुझे इस बात का अभिमान है कि बगाल के लोगो ने भी कलकत्ते में श्रद्धानंद पार्क की स्थापना कर उस स्वर्गीय देशभक्त की सेवाओ का आदर किया है जिसका सबसे महान् स्मारक आपका गुरुकुल है। मेरी यह अभिलाषा है कि स्वामी श्रद्धानंदजी की जीवनी हम सबको और विशेषकर आप लोगों को जिन्होंने उनकी कायम की हुई संस्था मे शिक्षा पाई है, देश-सेवा और आत्म-त्याग के लिए प्रोत्साहित करे। मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि जिस प्रकार स्वामी श्रद्धानंदजी ने अपने आदर्श और अपने सिद्धातों के अनुसार जीवन व्यतीत किया और अत मे उन्हीं सिद्धातो के लिए अपने प्राण दिए उसी प्रकार आप लोग भी शाति तथा स्वतंत्रता के साथ अपने आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करे और प्रतिक्षण उनके लिए अपने प्राणों की आहुति देने को तत्पर रहे। निस्सदेह बिना शहीदों के रक्त के किसी महान् कार्य की नींवे पक्की नहीं हो सकतीं।

आपका गुरुकुल अर्वाचीन भारत मे अपनी किस्म की पहली और अपूर्व सस्था है। सन् 1858 में कलकत्ता, बंबई और मद्रास के सरकारी विश्वविद्यालय कायम हुए थे। इन विश्वविद्यालयो की शिक्षा मे हिंदुस्तानी भाषाओ के लिए प्राय कोई स्थान न था। सन् 1865 मे पजाब विश्वविद्यालय की स्थापना का विचार किया गया। सन् 1882 के कानून के अनुसार पजाब का विश्वविद्यालय कायम हुआ। इस विश्वविद्यालय में इनसे पूर्व के तीनो विश्वविद्यालयों से केवल यह अतर था कि इस नए विश्वविद्यालय के साथ एक Oriental Faculty (प्राच्य विद्या भाग) भी कायम की गई जो B.O.L. M.O L और D.O L की डिग्रियाँ देती है। किंतु इससे भी देशी भाषाओ को उन्नति का अधिक अवसर न मिल सका।

तीस वर्ष से ऊपर हुए, मैंने भारतीय भाषाओ को उन्नति देने के विषय पर एक निबध लिखा था। यह निबध वर्षों मेरे दूसरे मसविदो मे दबा पडा रहा। अक्तूबर सन् 1902 मे स्वर्गीय श्री मलाबारी की इच्छानुसार यह निबध उनकी प्रसिद्ध पत्रिका 'East and West' मे प्रकाशित हुआ। उस निबध मे मैंने इस बात पर जोर दिया था कि भारतीय बालको और बालिकाओ को आद्योपात देशी भाषाओ के माध्यम द्वारा ही शिक्षा दी जानी चाहिए और देशी नरेशो तथा देशी रियासतो को अपने यहाँ इस तरह के स्वाधीन विद्यालय तथा विश्वविद्यालय कायम करने चाहिए जिनमे देशी भाषाओ के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाए, उस समय मेरे इन विचारो पर चारो ओर से खूब कटाक्ष हुए।

स्वभावत इस गुरुकुल की स्थापना पर मुझे एक खास हर्ष हुआ। इसके थोडे ही दिनो बाद महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने बोलपुर मे शातिनिकेतन विश्वभारती की स्थापना की।

सन् 1905 का बंग-भग इस देश के लिए कई तरह से बरकत साबित हुआ।

उसी से स्वदेशी और बॉयकॉट आदोलन का जन्म हुआ और बंगाल के अदर National Council of Education की स्थापना हुई। उस समय के लगभग ही राजा महेन्द्र प्रताप की अनुपम उदारता द्वारा प्रेम महाविद्यालय वृदावन की स्थापना हुई। कई वर्ष प्रेम महाविद्यालय की प्रबधकारिणी के एक सदस्य की हैसियत से मेरा उसके साथ सबध रहा। मुझे हर्ष है कि प्रेम महाविद्यालय भी अभी तक एक शुद्ध राष्ट्रीय सस्था है जिसने किसी तरह की स्वीकृति या सहायता वर्तमान सरकार से स्वीकार नहीं की। इसके बाद लगभग दस वर्ष हुए, महात्मा गॉधी के असहयोग आदोलन से राष्ट्रीय शिक्षा को बहुत बडी और अपूर्व उत्तेजना मिली। प्रत्येक प्रात मे अनेक राष्ट्रीय विद्यालय तथा महाविद्यालय कायम हुए जिनमे से अधिकाश द्रव्य की कमी अथवा अन्य कारणो से बद भी हो गए। तथापि अनेक विद्यालयो के अतिरिक्त अहमदाबाद का गुजरात विद्यापीठ, पूना का महाराष्ट्र विद्यापीठ, पटना का बिहार विद्यापीठ, बनारस का काशी विद्यापीठ और दिल्ली का जामिया मिल्लिया अभी तक उस महान् आदोलन के सराहनीय अवशेषो के रूप मे बाकी हैं।

आचार्य करवे का स्त्री विश्वविद्यालय भी इसलिए आदरणीय है क्योकि उसमे शिक्षा तथा परीक्षा दोनो का माध्यम देशी भाषाएँ हैं।

देशी रियासतो मे हैदराबाद और मैसूर केवल दो ही ऐसी रियासते हैं जिन्होने अपने अलग विश्वविद्यालय कायम किए हैं। इस प्रकार मुझे इस बात का अभिमान है कि जो विनम्र सम्मति मैंने अक्तूबर सन् 1902 के 'East and West' मे प्रकट की थी, यह एक दरजे तक मेरे जीवन काल मे ही कार्यरूप मे परिणत हो चली है और राष्ट्रीय शिक्षा के इस क्षेत्र मे सबसे पहले मैदान मे आने का श्रेय आप ही की इस सस्था को प्राप्त है।

अब मै राष्ट्रीय शिक्षा से हटकर भारतीय इतिहास के विषय मे कुछ शब्द आपसे कहना चाहूँगा। इतिहास को मैं स्वय एक अत्यत पवित्र चीज मानता हूँ और इतिहास के अध्ययन को राष्ट्रीय जीवन का एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अग मानता हूँ। Encyclopedea of Religion and Ethics मे एक विद्वान लेखक लिखता है .

Righteousness is the substratum of History. It is the highest good in History The truth of History is the kingdom of God. It helps us to gain guidance for the future.

अर्थात्—सदाचार इतिहास की बुनियाद है। इतिहास का यही सबसे बडा लाभ है। ऐतिहासिक सत्य ही वास्तविक धर्म का राज्य है। उसी से हमे भविष्य के लिए अपना मार्ग दिखाई देता है।

निस्सदेह यदि इतिहास का अध्ययन और उसकी रचना निष्पक्षता और सच्चाई से की जावे तो ऊपर का वाक्य बिलकुल सच्चा साबित होगा। किंतु यदि इतिहास पक्षपात के साथ लिखा जावे तो इसके ठीक विपरीत इतिहास के बराबर

झूठी और विषैली दूसरी कोई वस्तु नहीं।

कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना के समय उसके अधिकारियो ने इतिहास के अध्ययन पर बहुत जोर दिया था। किंतु दुर्भाग्यवश कोई विदेशी शासक अथवा उस शासन से आर्थिक सहायता पानेवाला मनुष्य शासित देश का निष्पक्ष इतिहास न लिख सकता है और न पढा सकता है। तथापि हर्ष की बात है कि पिछले पचास वर्ष के अदर अनेक भारतीय विद्वानों ने इस देश के इतिहास पर कुछ सराहनीय पुस्तके लिखी हैं। प्राचीन भारत के इतिहास पर स्वर्गीय राजा राजेद्रलाल मित्र, सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, डाक्टर भाऊ दाजी, श्री भगवानशरण इद्रजी, श्री रामलालदास बैनरजी तथा अन्य अनेक विद्वानो के प्रयत्न अत्यत सराहनीय हैं। विन्सेट स्मिथ और रैपसन जैसे विदेशी लेखको ने प्राचीन भारतीय इतिहास पर अपनी प्रसिद्ध रचनाओ मे इनमे से अधिकाश भारतीय विद्वानो के ग्रथो का उपयोग किया है।

मोटे तौर पर भारत के इतिहास को तीन हिस्सो मे बॉटा जा सकता है। एक प्राचीन भारत का इतिहास, दूसरा मध्यकालीन भारत का इतिहास और तीसरा अर्वाचीन भारत का इतिहास। इन तीनो कालो के अलग-अलग अध्ययन और अलग-अलग खोज की आवश्यकता है।

प्राचीन भारत के इतिहास की खोज से पता चलता है कि आज से सहस्रो वर्ष पूर्व भारतवासी अपने देश से निकलकर जल तथा स्थल दोनो मार्गो से पृथ्वी के दूर-दूर के देशों की यात्रा करते थे और वहाँ जाकर बसते थे। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, स्याम, मैक्सिको तथा मध्य अमरीका, जापान, फिलिपाइन और कम्बोडिया इत्यादि मे भारतवासियो के बडे-बडे उपनिवेश थे।

मध्य अमरीका के ग्वाटीमाला नामक स्थान मे जमीन के खोदने पर हाल मे भारतीय बौद्ध निर्माण कला के अगणित नमूने मिले हैं, जिनसे मालूम होता है कि ग्वाटीमाला वास्तव मे गौतमालय था और भारतीय बौद्धो का बसाया हुआ था। अमरीका के रेड इडियन्स की मुखाकृति इत्यादि इतनी अधिक तिब्बत के लोगो से मिलती हुई है कि अनेक विद्वानो की राय मे तिब्बत निवासियो ने ही किसी समय उस महाद्वीप को जाकर बसाया था। मिश्र, आरमीनिया, इराक, ईरान, बरमा, चीन, मगोलिया का भी भारतवासियो को विस्तृत ज्ञान था और इनमे से अधिकाश देशो में भारतवासियों की बस्तियाँ आबाद थीं। चीन और जापान के अतिरिक्त अफगानिस्तान से लेकर रोम तक किसी समय मे सहस्रो बौद्धमठ कायम थे। हजरत ईसा के उपदेशो और ईसाई धर्म की बाद की सस्थाओ तथा रूढियो पर जगह-जगह बौद्ध धर्म की अमिट छाप दिखाई देती है। इस विषय को अधिक विस्तार देना मेरे प्रसग से बाहर है। बृहत्तर भारत परिषत् (Greater India Society) ने इस सबध मे थोडा-बहुत काम किया है। हाल ही मे इस परिषत् के मत्री महोदय डॉक्टर कालिदास नाग ने प्रयाग मे व्याख्यान देते हुए कहा था कि कम्बोडिया के 12

शताब्दी के एक राजा जयवर्मन का एक शिलालेख सस्कृत भाषा में मिला है जिसमें उसके राज्य के हस्पतालों आदि की ठीक-ठीक सख्याएँ दी हुई हैं और सबसे मुख्य बात अंत में यह लिखी है कि 'राष्ट्रदुख' के मुकाबले राजा का निजी दुख कोई चीज नहीं। यह सब भारत ही के अध्यात्म का परिणाम था, तथापि मेरी सम्मति में ससार के अन्य देशों और उनकी सभ्यताओं पर भारत के जो-जो प्रभाव पडे और समय-समय पर पडते रहे उसकी खोज और उसके सच्चे इतिहास का लिखा जाना अभी बाकी है। और केवल भारतवासी ही इस महान् तथा आवश्यक कार्य को पूरा कर सकते हैं। इस गुरुकुल के स्नातकों और आचार्यों के लिए इस विषय मे उपयोगिता का बहुत बडा मैदान खुला हुआ है।

यह तो अन्य देशों के साथ प्राचीन भारत के सबध का विषय रहा। किंतु स्वय इस देश की उस समय की अवस्था को ठीक-ठीक जानने के लिए प्राचीन प्रकाशित तथा अप्रकाशित संस्कृत ग्रथों का जबरदस्त अध्ययन आवश्यक है। पिछले साठ वर्ष से भारत सरकार ने सस्कृत की बची-खुची पुरानी हस्तलिखित पुस्तको को एकत्रित करने का कार्य अपने हाथ मे लिया है। इस तरह की कई हजार पुस्तके खोजकर निकाली गई हैं और इस समय पूना, मद्रास, कलकत्ता, बनारस, लाहौर, मैसूर और त्रिवाणकुर में सुरक्षित हैं। मैसूर के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता पंडित शामशास्त्री ने इन्हीं पुस्तको से कौटिल्य के अर्थशास्त्र की वह प्रति प्राप्त की है जिससे प्राचीन भारत की सभ्यता और सगठन पर बहुत बडी रोशनी पडती है। इन्हीं पुस्तको से त्रिवाणकुर के पंडित गणपति शास्त्री ने भास कवि के नाटको का पता लगाया है। इन सब पुस्तकों का परिश्रम के साथ अध्ययन करना, उनका सपादन करना और उनका प्रकाशन करना अत्यत आवश्यक है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्राचीन भारत के इतिहास की रचना मे हमे इनसे बहुत बडी सहायता मिलेगी।

पद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में European Renaissance (यूरोपीय साहित्यिक पुनरुज्जीवन) के दिनों में यूरोप के विद्वान तथा कला विशारद अपने प्रोत्साहन तथा मार्गप्रदर्शन के लिए ग्रीक और रोमन साहित्य की ओर मुडते थे। यदि उस समय यूरोपवालो को सस्कृत का ज्ञान होता तो मेरा अनुमान है कि वे ग्रीक और रोमन साहित्य के स्थान पर सस्कृत साहित्य से अधिक प्रोत्साहन ग्रहण करते। भारत मे इस समय ठीक उसी प्रकार के (Renaissance) साहित्यिक पुनरुज्जीवन का समय है। इसलिए भी आवश्यक है कि इस संस्कृत साहित्य की ओर दृष्टि डाले और उसमें छिपे हुए रत्नो को निकालकर ससार के सामने रखे।

18वीं सदी के उत्तरार्ध मे जबकि यूरोप के विद्वानों ने सस्कृत साहित्य का अध्ययन प्रारंभ किया तो उन्हे आशा थी कि सस्कृत साहित्य द्वारा उन्हे प्राचीन समय के अपरिचित इतिहास का बहुत कुछ पता लगेगा। उनकी आशा इतनी शीघ्र पूरी न हो सकी। उन्होंने नतीजा निकाला कि यूरोप में जिसे इतिहास कहते हैं, सस्कृत साहित्य मे उसका अभाव है। संस्कृत साहित्य मे उन्हे केवल एक

ऐतिहासिक ग्रंथ दिखाई दिया अर्थात् कल्हण की 'राजतरंगिणी'। किंतु सस्कृत के अध्ययन और बगाल की एशियाटिक सोसाइटी के संस्थापन द्वारा ससार के विचारो के इतिहास में एक बहुत बडी क्रांति पैदा हुई। इसी के तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative Philology) और विविध धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Study of Religions)–इन दोनों महत्त्वपूर्ण विषयों की ओर यूरोप के विद्वानो का ध्यान गया। यहाँ तक कि सर हेनरी मैन ने लिखा था .

India may yet give us Comparative Jurisprudence.

अर्थात् हमें आशा है कि भारत ही से हमें न्यायशासन सबधी नियमो के तुलनात्मक अध्ययन का मौका मिलेगा।

यदि मैकियावेली कौटिल्य या चाणक्य के ग्रथों से परिचित होता तो अपने ग्रथ की रचना में उसे उनसे बडी सहायता मिलती। मैकियावेली का ग्रंथ इन भारतीय ग्रथो के मुकाबले मे अपने विषय मे अत्यत कम महत्त्व का है।

सर हेनरी मैन की आशा का पूरा होना अभी बाकी है। उसे पूरा करने का भार भी आप लोगो पर है।

अब मैं सस्कृत साहित्य की एक बहुत बडी कमी की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। संस्कृत साहित्य की कुजी दो चीजें हैं–व्याकरण और कोश। पिछली शताब्दी मे सस्कृत व्याकरण को सरल बनाने के लिए ताकि औसत दिमाग के आदमी भी उसे आसानी से समझ सके, बहुत कुछ सफल प्रयत्न किए जा चुके हैं। किंतु सस्कृत कोश के विषय में अभी तक इस तरह के प्रयत्न नहीं किए गए। अभी तक सस्कृत का कोई अच्छा शब्दकोश मौजूद नहीं है। मैंने सुना है कि इस गुरुकुल में एक वैदिक कोश तैयार किया जा रहा है। यूरोप और अमरीका के सस्कृत विद्वानो ने वेदो के अध्ययन के सबध मे बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण प्रारभिक कार्य किया है। मैक्समूलर ने सायणाचार्य के भाष्यसहित ऋग्वेद का सपादन कर उसे प्रकाशित किया। बीबर ने यजुर्वेद का सपादन किया है। स्टीवेसन ने सामवेद का। एक भारतीय विद्वान पडित सत्यव्रत सामश्रमी ने भी सामवेद का सपादन किया। अथर्ववेद को विद्वत्तापूर्ण टिप्पणी सहित सपादित करने का श्रेय शकर पांडुरग पडित को मिलना चाहिए। किंतु अथर्ववेद के सबध मे हमे पाश्चात्य विद्वानो व्हिटनी और लैनमैन के प्रयत्नो को भी नहीं भूलना चाहिए। एक जर्मन विद्वान ने ही ऋग्वेद के शब्दों का पहला शब्दकोश तैयार किया। और रॉथ तथा विटलिग की तैयार की हुई 'सेटपीटर्सबर्ग डिक्शनरी' से वेदो के अध्ययन में बहुत बडी सुविधा प्राप्त हुई। वेदो का अध्ययन करनेवाले मौरिस ब्लूमफील्ड की प्रशसनीय पुस्तक 'वैदिक कामकारडैन्स' के अत्यत आभारी हैं। आप लोगो को अपने वैदिक कोश के तैयार करने मे सस्कृत के पाश्चात्य विद्वानो के परिश्रमो को नहीं भूलना चाहिए और उनके बताए हुए वैदिक शब्दो के अर्थों पर पूरी तरह विचार करना चाहिए।

वेदात सूत्रो के ऊपर सौ से ऊपर भाष्य और वृत्तियाँ मौजूद हैं। किंतु कोई

ऐसा कोश मौजूद नहीं है जिसमें वेदांत सूत्रों के अंतर्गत समस्त शब्दों के वे सब अर्थ दिए हुए हों जो शंकर से लेकर अब तक के विविध आचार्यों ने उनके किए हैं। इन समस्त भाष्यकारों के अनुसार वेदांतिक शब्दों के एक कोश का तैयार किया जाना आवश्यक है। इसके लिए वेदांत के बहुत से विद्वानों को मिलकर कार्य करना होगा। इसी तरह स्मृतियों के शब्दों के एक कोश की आवश्यकता है। विज्ञानेश्वर ने अपने मिताक्षरा नामक भाष्य में इसी प्रकार शूलपाणी ने और अपुरार्क तथा अन्य आचार्यों ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका की है और इसी स्मृति के आधार पर हिंदू धर्मशास्त्र की पाँच प्रसिद्ध शैलियो की रचना हुई है। मनुस्मृति पर आधे दर्जन से अधिक भाष्य मौजूद हैं। इन समस्त भाष्यो के अनुसार एक बृहत् शब्दकोश तैयार किया जाना चाहिए। एक प्रसिद्ध जर्मन सस्कृत प्रोफेसर ने एक बार मुझसे कहा था कि इस तरह के शब्दकोश के पूरा करने के लिए दो सौ वर्ष के लगातार परिश्रम की आवश्यकता है। इस महान् कार्य को हाथ में लेना और उसे पूरा करना आपकी सस्था के लिए एक अत्यंत उचित कार्य है। प्राचीन भारत के धार्मिक और दार्शनिक इतिहास की रचना मे इससे बहुत बडी सहायता मिलेगी।

विविध भारतीय धर्मों का गहरा और तुलनात्मक अध्ययन करना भी हमारे लिए आवश्यक है। इसके लिए एक विधिवत् सस्था की जरूरत है और ऐसी सस्था के लिए प्रयाग से बढकर स्थान नहीं हो सकता जहाँ प्रतिवर्ष माघ मेले मे लगभग समस्त हिदू सप्रदायो के लोग एकत्रित होते हैं और हर बारह वर्ष के कुभ मे चालीस-चालीस लाख हिदू जनता के अतिरिक्त समस्त सप्रदायो के आचार्य और विद्वान जमा होते हैं। हरिद्वार, उज्जैन, नासिक, वृदावन, बनारस, विध्याचल, नैमिषारण्य (नीमखार) इत्यादि के कुभो और मेलो से भी भारतीय धर्मो के अध्ययन करनेवाले को बहुत बडी सहायता मिल सकती है।

प्राचीन शिलालेखो, मूर्तियो, चित्रो, सिक्को इत्यादि से भी प्राचीन भारत के इतिहास की तैयारी मे बहुत बडी सहायता मिल रही है। सरकार के पुरातत्त्व विभाग से और उन सरकारी विश्वविद्यालयो से भी जिन्होने प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन के लिए विशेष आचार्य नियुक्त किए हैं, हमें इस विषय मे सहायता मिल सकती है।

इसके बाद भारतीय इतिहास का दूसरा हिस्सा मध्यकालीन भारत का इतिहास है। मध्यकालीन इतिहास की जितनी पुस्तके अग्रेजो ने लिखी हैं उनमे से प्राय सबमे मुसलमानों और उनके शासनकाल को काले से काला रँगकर दिखाया जाता है। कहा जाता है कि हिदोस्तान के मुसलमान नरेश सब अत्याचारी थे और उनके जमाने मे मुसलमान हिंदुओ के गलो पर अथवा हिदू मुसलमान एक-दूसरे के गलो पर बराबर छुरी फेरते रहते थे। किंतु यदि हम निष्पक्ष होकर उस समय के इतिहास का अध्ययन करे तो मालूम होता है कि यह बात सर्वथा गलत है।

अग्रेजो ने आयरलैंड को जाकर विजय किया। अंग्रेज प्रोटेस्टैंट और आयरलैंड

के रहनेवाले अधिकतर रोमन कैथलिक थे। शुरू के दिनों में आयरलैंड के रहनेवालों पर बडे-बडे अत्याचार हुए किंतु जब थोडे बहुत अंग्रेज आयरलैंड में बस गए तो उन अत्याचारों का जारी रह सकना असंभव हो गया। इंगलिस्तान और आयरलैंड के पारस्परिक संबंध का रूप बदल गया। हिंदोस्तान के मुसलमान शासकों ने बहुत शुरू में ही इस देश को अपना घर बना लिया। वे यहीं पर बस गए स्वभावतः। उन्हें भारतवासियों के हित मे अपना हित और उनके अहित मे अपना अहित दिखाई देने लगा। लार्ड विलियम बेंटिंक ने लिखा है :

"In many respects the Mohammadans surpassed our rule They settled in the Countries which they conquered. They intermixed and intermarried with the natives. They admitted them to all privileges. The interests and sympathies of the conquerers and the conquered became identified Our policy, on the contrary, has been the reverse of this,—cold, selfish and unfeeling."

अर्थात्—बहुत-सी बातो मे मुसलमानो का शासन हमारे शासन से बढकर था, वे जिन देशों को विजय करते थे उन्हीं मे बस जाते थे, वे देशवासियों के साथ मिल-जुलकर रहते थे और उन्हीं मे शादियाँ करते थे, सब तरह के अधिकार और पद वे उन्हे देते थे, विजेताओं और विजितो दोनो का एक-दूसरे के हित मे हित और दोनों की एक-दूसरे के साथ सवेदना पैदा हो जाती थी। इसके विपरीत हमारी नीति इसके ठीक प्रतिकूल रही है, अर्थात् निर्दय, स्वार्थमय और हृदयशून्य।

मुसलमानो के सैकडो वर्ष के शासन ने न हिदुओ को नामर्द बनाया और न उन्हे कुचला। मुसलमान साम्राज्य के दिनो मे समय-समय पर और देश के विविध भागो मे नए-नए हिदू कुल बराबर उभरते रहे और अपने लिए नई-नई रियासते कायम करते रहे। बहमनी राज्य कहने को मुसलमानी राज्य था किंतु वास्तव मे हिदू राज्य था। मुगल साम्राज्य के दिनो मे बडे-बडे सूबो के शासक और सेनाओ के प्रधान सेनापति तक हिंदू होते थे। साम्राज्य के अर्थ-मत्री अधिकतर हिदू ही होते थे, खजाने के अफसर सब हिंदू ही होते थे। औरगजेब का अर्थसचिव भी एक हिदू था और उस सम्राट् के दरबार मे भी हिदुओ को अनेक उच्च पदवियाँ प्राप्त थीं। कोई भी इतिहास का विद्यार्थी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि सम्राट् शाहजहाँ के शासनकाल से बढकर सुख, शाति और समृद्धि का समय किसी भी देश के इतिहास मे मिलना कठिन है और औरगजेब के अन्यथा सदोष शासन काल मे दूध और घी की इस देश मे अक्षरश नदियॉ बहती थीं। बाबर और अकबर के समय से लेकर अतिम सम्राट् बहादुरशाह के समय तक भारतीय मुगल साम्राज्य के अदर गोवध का कडा निषेध था। यहाँ तक कि पक्षपातपूर्ण औरगजेब ने भी इस मर्यादा का पालन किया। सर्वथा दोषरहित ससार मे कोई भी शासनकाल नहीं हो सकता; मजहबी झगडे भी हर मुल्क मे समय पर होते ही रहे हैं। किंतु मुसलिम

शासनकाल के भारत का पूर्वोक्त वृत्तात यह साबित नहीं करता कि उस समय हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे के गले ही काटते रहते थे। इस विषय में उस समय के भारत की, उस समय के यूरोप से तुलना करते हुए इतिहास लेखक टॉरेस लिखता है

During the reigns of the earlier Emperors of Delhi, to the middle of the seventeenth century, complete tolerance was shown to all religions Shall they who build the tombs of those who at that very time, were busily employed in making Europe one mighty charvel house of persecution, and in colonizing America with fugitives for conscience' sake, rise up in judgment against India, or load the breath of history with the insolent pretence of having then enjoyed a truer civilization ? What if they were taken at their word, and called forth with the Covenanter's blood, and the Catholic's blood, and the Puritan's blood dripping quick from the orthodox hands that all that time were building scaffolds, riveting chains, and penning penal "Acts of Uniformity ?"

Neither Moslem nor Hindu was incapacitated for public employment on account of the belied in which he had been brought up Mohammadan princes gladly confided to learned and astute Brahmans civil trusts of importance, and many a Mosalman rose to honour and won fortune in a Maharaja's camp. The Ministers of Hyder Ali who concealed for a time the event of his death, were Hindus of the highest caste; and when a Chancellor of the Exchequer was to be appointed at Murshidabad, the Nabob-Nazim tried to have Nand Kumar appointed instead of Mohammad Rezakhan, Shivaji was a bigot and Tippoo a Fanatic. But the Government of Southern Asia when we began to meddle in their affairs, were strangers to the system of penal laws, which were then among the cherished institutions of our own and nearly every other European state while no Catholic in Ireland could inherit freehold, command a regiment, or sit on the Judicial bench, while in Fance the Huguenot weaver was driven into exile beyond sea; and while in Sweden none but Lutherans could sit as jurors, and in Spain no heretic was permitted Christian burial; Sunnis and shias, Marathas and Sikhs, competed freely for distinction and profit in almost every city and camp of Hindostan (Empire Asia, How We Came by it A Book of Confessions, by W M Torrens, M P. p 96-97, Panini Office reprint)

मुझे इस लंबे उद्धरण के अनुवाद करने की आवश्यकता नहीं है। किंतु यह स्पष्ट है कि धर्म के नाम पर और साम्प्रदायिक भेदों के कारण जिस तरह के घोर अमानुषिक अत्याचार उस समय यूरोप के लगभग प्रत्येक देश में हो रहे थे, उदार भारत में उनका कहीं नाम भी न था; और जिस प्रकार का उदार तथा परस्पर प्रेमपूर्ण व्यवहार मुसलमानों के अधिकांश शासनकाल मे भारत के अंदर हिंदुओ और मुसलमानों में मौजूद था, यूरोप के अदर कहीं उसकी छाया भी न थी।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास का ठीक-ठीक अध्ययन करने के लिए फारसी भाषा का पूरा-पूरा ज्ञान आवश्यक है। पटना की खुदाबख्श लाइब्रेरी फारसी भाषा की दस्ती किताबो के लिहाज से संसार की सबसे बडी लाइब्रेरी है। कई भारतीय विद्वान अपने ऐतिहासिक ग्रथों की रचना मे इस लाइब्रेरी का उपयोग कर रहे हैं। इनमे सर जदुनाथ सरकार और भागलपुर के प्रोफेसर कमल कृष्णबोस एम.ए. के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

महाराष्ट्र के कुछ विद्वानों ने भी मराठी भाषा की हाथ की लिखी पुस्तको की खोज करने और उन्हे प्रकाशित करने के काफी प्रशसनीय प्रयत्न किए हैं और कर रहे हैं। मेरे स्वर्गीय मित्र पारसनीस, राजवाडे और माओजी ने इस विषय मे बहुत कुछ परिश्रम किया है। मराठी भाषा की ये पुरानी पुस्तके मोडी लिपि में लिखी हुई हैं। मोडी अक्षर आजकल के शार्टहैंड से कुछ मिलते-जुलते हैं। किसी समय महाराष्ट्र के सरकारी दफ्तरो तक मे इसी लिपि का प्रचार था। आज उसका कहीं भी उपयोग नहीं किया जाता। इसीलिए मोडी लिपि के जाननेवालो की सख्या भी दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। इस बात की बडी आवश्यकता है कि जितनी पुस्तकें और दस्तावेजे मोडी लिपि में लिखी हुई हैं उन सबको जितनी शीघ्र हो सके मराठी भाषा की वर्तमान लिपि अर्थात् देव नागरी लिपि मे नकल करा लिया जाए। हिंदोस्तान के सरकारी तथा अन्य सग्रहों में जितने ऐतिहासिक उल्लेख मौजूद हैं उनको सुरक्षित रखने और प्रकाशित करने के काम में 'इडियन हिस्टारिकल रेकर्ड्स कमीशन' के प्रयत्न भी प्रशंसनीय हैं। किंतु जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ यह काम वास्तव में देशप्रेमी, त्यागी, योग्य और परिश्रमी भारतीय विद्वानों ही का काम है।

अब मैं भारतीय इतिहास के तीसरे हिस्से की ओर आता हूँ। भारतीय इतिहास का तीसरा हिस्सा अर्वाचीन भारत का इतिहास है। किंतु दुर्भाग्यवश इस विषय मे अभी तक सबसे कम निष्पक्ष प्रयत्न किए गए हैं। शासक कौम के लोगो अथवा इतिहास लेखको से इस बात की आशा करना ही कि वे इस काल का सच्चा इतिहास हमारे सामने रख सके, मनुष्य स्वभाव को न समझना है। अर्वाचीन भारतीय जीवन की सबसे प्रधान विशेषता जिसका अहितकैर प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन के हर पहलू और हर अग पर स्पष्ट दिखाई दे रहा है 'पराधीनता' है। इसीलिए इस समय भारत के समस्त जीवन संग्राम का मूल मत्र 'स्वराज्य' है। यही हमारे आजकल के राष्ट्रीय आदोलन का सिंहनाद है। लोकमान्य तिलक ने कहा

था—'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।' बात सच है। किंतु लोकमान्य के इस कथन को पूरी तरह समझने के लिए अर्वाचीन भारत के इतिहास और विशेषकर भारत में अंग्रेजी राज्य के इतिहास का ठीक-ठीक अध्ययन करना आवश्यक है। इस अध्ययन से प्रत्येक निष्पक्ष मनुष्य को पहले तो इस बात का विश्वास हो जावेगा कि भारत विजित देश नहीं है, न भारत को कभी विजय किया गया। इसलिए वास्तव मे वे सब अधिकार प्रत्येक भारतवासी के जन्मसिद्ध अधिकार हैं जो ससार के अन्य स्वाधीन राष्ट्रो के नर-नारियो को प्राप्त हैं। सर जान मैलकम ने अपनी `Political History of India' की प्रस्तावना मे स्वीकार किया है

Force and power could not have approached the shores of India without meeting with resistance, but to the unpretending merchant every encouragement was offered;

अर्थात्—जोर और जबरदस्ती से भारत के समुद्रीय तट के निकट आ सकना और विरोध का न होना असमव था। किंतु जो लोग भोले व्यापारियो के रूप मे आए उन्हे देशवासियो ने हर तरह की सहायता दी।

सन् 1793 के पार्लिमेंटरी एक्ट मे लिखा है

To parsue schemes of conquest and extention of dominion in India are measures repugnant to the wish, the honour and the policy of this nation.

अर्थात्—भारत मे देश विजय करने अथवा अपना राज्य बढाने की तदबीरे करना ऐसे काम हैं जो इस कौम (अग्रेज कौम) की इच्छा, उसके मान और उसकी नीति-तीनो के बिलकुल विरुद्ध हैं।

ब्रिटिश पार्लियामेट के इस सारल्य प्रदर्शन मे कहाँ तक सत्य था, यह विषय भी इतिहास का विषय है। अर्वाचीन भारत के इतिहास के अध्ययन से ही हमे इस बात का भी पता चल सकता है कि हम अपना राज्य क्यो और किस तरह खो बैठे। मेरे पास इस विषय की अधिक बहस का समय नहीं है। यह एक मशहूर कहावत है कि 'हिंदुस्तान का सबसे बडा मेवा फूट है' ।

इस विषय मे हिंदुस्तान का इतिहास आयरलैंड के इतिहास से मिलता-जुलता है। इन दोनो अभागे देशों मे इस तरह के देश-घातको की काफी पौध समय-समय पर पैदा होती रही है जिन्होने विदेशियो के साथ मिलकर अपने तुच्छ वैयक्तिक स्वार्थ के बदले ऐन सकट के समय देश तथा देशवासियो के साथ विश्वासघात किया। इस तरह के लोग सदा विदेशियो के हाथो में खेलते रहे। यही आयरलैंड तथा भारत, दोनो की पराधीनता का मूल कारण है और यही रोग कम या अधिक दोनो देशों को अभी तक ग्रसे हुए है। इसी स्थिति को देखकर टामस सूर ने आयरलैंड के विषय में कहा था ·

The future ages wondering ask,

How hands so vile could conquer hearts so brave.

'T was fate, they'll say,

A way ward fate.

Your web of discord wore;

While your tyrants joined in hate,

-You never joined in love.

अर्थात्—भावी नसलें आश्चर्य के साथ पूछेंगी कि इतने दुष्ट हाथ इतने वीर हृदयों पर किस तरह विजय प्राप्त कर सके। वे कहेंगे कि विधि ने, हरजाई विधि ने तुम्हारे अंदर फूट का जाल पूर रक्खा था; जबकि तुम्हारे ऊपर अत्याचार करनेवाले तुमसे द्वेष रखने के कारण आपस मे मिलकर काम करते थे, तुम्हे प्रेम भी कभी एक-दूसरे से न मिला सका।

यदि आयरलैंड के लोग देशप्रेम से प्रेरित होकर एक-दूसरे के साथ मिलकर बहुत दरजे तक अपनी सोई हुई स्वाधीनता फिर से प्राप्त कर सके तो इसमे कोई सदेह नहीं कि भारत के हिंदू और मुसलमान भी इस शर्त पर कि वे भी देशप्रेम द्वारा मिलकर एक हो जावे, अपनी खोई हुई स्वाधीनता फिर से लाभ कर सकते हैं, मैं फिर कह देना चाहता हूँ कि अंग्रेजो के लिखे भारतीय इतिहास और विशेषकर अर्वाचीन भारत के इतिहास न सच्चे हैं और न हो सकते हैं। एक प्रसिद्ध अग्रेज विद्वान का कथन है कि—History is fiction agreed upon. अर्थात् इतिहास वह कल्पना है जिसे हम मिलकर सत्य मान लें। इसीलिए और भी अधिक आवश्यक है कि हम स्वयं अपने देश का इतिहास लिखने मे इस सिद्धात को एक क्षण के लिए भी आँखो से ओझल न होने दे

सत्यान्नास्ति परो धर्मः।

चाहे इसके लिए हमे कष्ट भी क्यो न भोगने पडे। अर्वाचीन भारत के इतिहास से मिलता-जुलता एक विषय 'अर्वाचीन भारत और उसकी समस्याओं' का अध्ययन है। किंतु इस विषय पर कुछ कहने से पहले मैं अपने जीवन के प्रधान विषय डाक्टरी अथवा वैद्यक पर भी दो शब्द कहना चाहता हूँ।

यद्यपि इस जीवन मे समय-समय पर मुझे अनेक खब्त रहे हैं और मैं सस्कृत, भारतीय इतिहास, भारतीय अर्थशास्त्र, भारतीय धर्म इत्यादि अनेक विषयों में दखल देता रहा हूँ तथापि मैं इस बात को नहीं भूल सकता कि इनमें सबसे पहले मेरा सबध मेडीसन अर्थात् वैद्यक से हुआ था। इसलिए मुझे यह सुनकर बडी प्रसन्नता हुई कि आपके विश्वविद्यालय में एक सुव्यवस्थित और सुसज्जित विभाग वैद्यक का भी है।

जिस समय मैं लाहौर में मेडिकल कॉलेज का विद्यार्थी था उसी समय मेरा ध्यान आयुर्वेद की ओर भी आकर्षित हुआ। मैंने लाहौर के प्रसिद्ध वैद्य पडित जनार्दन से आयुर्वेद का अध्ययन किया। इसके बाद के तमाम जीवन मे मैंने

हिदुस्तानी दवाइयों के प्रचार का पूरा प्रयत्न किया। 'इंडियन मेडीसनल प्लाट्स' पर मेरी पुस्तक इस बात की साक्षी है। मेरे मित्र स्वर्गीय, लेफ्टिनेट कर्नल कामताप्रसाद ने पचास हजार रुपए इलाहाबाद विश्वविद्यालय को इसलिए दान दिए ताकि उसके सूद से दो रिसर्च स्कालरशिप इस तरह की कायम की जावें जिनको पानेवाले The Chemistry of Indian Medicinal Plants यानी हिंदुस्तानी जडी-बूटियों के रसायन का अनुसधान कर सके। ये दोनो वजीफे अभी तक कायम हैं। आचार्य सर जगदीशचद्र बोस ने अपने अनुसधान द्वारा साबित कर दिया है कि इन जडी-बूटियो मे जबरदस्त शक्तियाँ छिपी हुई हैं। हिमालय की कुछ बूटियो का रस प्रयोग करके उन्होने ऐसे मेढको को जो जाहिरा मरे हुए मालूम होते थे फिर से जिदा कर दिया। अभी तक उन्होने इन बूटियो के नाम ससार को नहीं बताए, किंतु उन्हे आशाएँ बहुत बडी हैं। आपके आसपास की भूमि इस तरह की जडी-बूटियो-वृक्षो और लताओ से भरी पडी है। आपके यहाँ के वैद्यक विभाग के सदस्यो को उचित है कि ये इन वनस्पतियो के गुणो और उनके उपयोगो का पता लगावे। मेरी तुच्छ सम्मति है कि आपके यहाँ इस तरह की (Laboratories) रसायनशालाएँ होनी चाहिए, जिनमे वनस्पतियो के रासायनिक गुणो और उनके औषधि सबधी गुणो का अर्वाचीन ढग से वैज्ञानिक अनुसधान किया जा सके।

भारत ने ससार को तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative Philology) दिया, भारत ने ससार को विविध धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Theology) करना सिखाया। भारत ने ही ससार को वह विद्या दी जिसे मेन ने झिझकते हुए-(Comparative Jurisprudence) तुलनात्मक धर्मशास्त्र कहा था। इसलिए मेरा यह भविष्यवाणी करना धृष्टता न होगी कि समय आने पर भारत ही ससार को तुलनात्मक वैद्यक विद्या (Comparative Medicine) का ज्ञान कराएगा। हमारी इस भूमि मे हर तरह के वैद्य-डॉक्टर मौजूद हैं, एलोपैथिक, होमियोपैथिक, आयुर्वेदिक, ग्रीको-अरेबिक यानी यूनानी इत्यादि। इन सब पद्धतियो को धैर्य तथा परिश्रम के साथ अध्ययन करना आवश्यक है और इन सबके अलग-अलग गुणो तथा भेदो की निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक ढग से अन्वेषणा करनी होगी और उन सब सचाइयो का पता लगाना होगा जो इनमे से प्रत्येक मे अलग-अलग मौजूद हैं और जिनसे रोगग्रस्त मानव समाज के दुखो को दूर करने मे सहायता मिल सकती है।

अत मे मैं अर्वाचीन भारत की कुछ मुख्य-मुख्य समस्याओ की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। इन समस्याओ मे आजकल की सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक शिक्षा-सबधी और राजनैतिक सब समस्याएँ शामिल हैं। दुर्भाग्यवश इस समय भारत मे कोई ऐसी Institute या सस्था मौजूद नहीं है जहाँ बैठकर इन सब समस्याओ का विधिवत् अध्ययन किया जा सके। समाचार पत्र और पत्रिकाएँ थोडा बहुत इस कमी को अवश्य पूरा करती हैं तथापि इस तरह की एक बाजाप्ता संस्था का होना मेरी राय मे अत्यत आवश्यक है।

अर्वाचीन भारत की समस्याओं में मेरी राय में सबसे पहली समस्या हमारी शारीरिक रक्षा की समस्या है। आत्मरक्षा ही प्रकृति का सबसे पहला नियम है। धर्मपालन के लिए भी हमारा पुराना सिद्धांत है—'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।' इसलिए अपने शरीर की रक्षा और शारीरिक उन्नति की ओर ध्यान देना आप लोगो का सबसे पहला कर्तव्य है। प्रत्येक भारतवासी को कसरत तथा आत्मरक्षा के उपाय सिखाया जाना आवश्यक है। क्रिकेट, टेनिस, हाकी, फुटबाल और पैरलल बार के स्थान पर मैं डड, मुगदर, कबड्डी, लाठी-खेल, अखाडो, हठयोग की प्रक्रियाओं, आसनो, प्राणायाम इत्यादि का कहीं अधिक पक्षपाती हूँ। समस्त भारत मे इनके प्रचार और विस्तार की आवश्यकता है। पिछली शताब्दी में डाक्टर ब्रेट ने, जिन्होने स्वय हिदुस्तानी कसरतो को करके देखा, अग्रेजी कसरतों से उनकी तुलना करते हुए हिदुस्तानी कसरतो की प्रशसा मे लिखा था कि

Nothing is so conducive to a perfect capillary circulation, to the healthy action of the liver and of all the secretions, the tone of the stomach, and the sthenic state of the nervous and mascular system, enabling us to bear up against a long and sultry day

साराश यह है कि हमारी रक्तवाहिनियो, जिगर, अतडियो, मेदा, नसो, और पुट्ठों को कोई दूसरी चीज इतना फायदा नहीं पहुँचा सकती और न इतना स्वस्थ रख सकती है जितना कि भारतीय कसरते। डॉक्टर ब्रेट ने अपने व्यक्तिगत अनुभव से लिखा है कि इग्लिस्तान मे रहकर अग्रेजी कसरते करके वे अपने शरीर को इतना स्वस्थ और फुर्तीला नहीं बना सके जितना भारत मे रहकर और लगातार हिंदुस्तानी कसरते करके।

आत्मरक्षा के लिए इन चीजो का बहुत बडा मूल्य है। निःशस्त्र मनुष्यों के लिए अपने जान, माल और अपने बाल-बच्चो की इज्जत की रक्षा का मेरी नजरो मे इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं।

इसके अतिरिक्त रोगो और रोगजनक आदतो से भी हमे अपने को बचाना होगा। एक डॉक्टर की हैसियत से मैं यह आपसे कह सकता हूँ कि यदि हम शुद्ध जीवन व्यतीत करें तो हमें 50 वर्ष की आयु मे बूढा हो जाने की कोई जरूरत नहीं। आप लोगों को उन रोगो से विशेषकर बचना होगा जो आमतौर पर शिक्षित भारत-वासियो को होते रहते हैं। बदहजमी और उससे पैदा होनेवाला रोग मधुमेह (Diabetes) पढे-लिखो मे बहुत आम है। इसके लिए अपने खानपान का विचार रखना आवश्यक है। हमारे भोजन मे Vitamins की कमी हरगिज नहीं होनी चाहिए। सब्जी यानी हरी तरकारियों हमें खूब खानी चाहिए। वह घी, दूध, आटा आदिक जिसमे दूसरी चीजो का मेल हो, नहीं खाना चाहिए। प्याज, लहसुन, शलजम जैसी उपयोगी चीजो से हमें परहेज नहीं होना चाहिए। मैं आशा करता हूँ कि तंबाकू पीने या खाने का दुर्व्यसन आपमें से किसी मे न होगा। चाय पीना भी

न केवल नैतिक दृष्टि से ही बुरा है वरन् वैद्यक की दृष्टि से भी अत्यत हानिकारक है। मुझे यह देखकर दुख होता है कि पजाब जैसी सुदर भूमि में गॉव के लोग छाछ जैसी उपयोगी चीज को छोडकर चाय जैसी हानिकारक चीज के आदी होते जा रहे हैं। यदि आपमे से कोई अपनी ग्रामीण जनता के इस पतन को रोक सके तो देश का बडा उपकार हो। चाय पीने का व्यसन ही बहुत दर्जे तक बदहजमी और मधुमेह दोनो रोगो के लिए जिम्मेवार है। नैतिक दृष्टि से भी चाय आजकल की मानव दासता (Slave labour) का एक मुख्य कारण है। ससार के अनेक देशों मे चाय उग सकती है, केवल इसलिए नहीं उगाई जाती क्योंकि भारतीय अथवा चीनी गुलामो की तरह सस्ते मजदूर उन्हे नहीं मिल सकते। भारत के चाय के बगीचो मे गोरे मालिको के अत्याचारो और नग्न गुलामी की प्रथा का हाल आप लोगो ने समाचार पत्रो मे पढा होगा। जो चाय हम लोग पीते हैं वह इन्हीं अभागे भारतीय गुलामो का रक्त बहाकर तैयार होती है। वैद्यक और सदाचार दोनों की दृष्टि से हमारे लिए चाय का पीना हानिकर और पाप है।

इसके बाद वर्तमान भारत की समस्याओ मे मुख्य चीज हमारे लिए यह है कि हमे अन्य देशो के लोगो के साथ अपने राजनैतिक, आर्थिक तथा हर प्रकार के सबध को पूरी तरह समझना होगा, और यह देखना होगा कि अपने तथा दूसरो के, दोनो के हित मे इस तरह के सबध में किन-किन परिवर्तनो की आवश्यकता है। इस विषय की अवहेलना करना अपने सच्चे धर्म से पतित होने और आत्महत्या करने के तुल्य है। इसमे सदेह नहीं 'पराधीनता' ससार के समस्त दुखो का मूल कारण है। इस कठिन युग मे— *'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'*—हमारा सिद्धात होना चाहिए। अपने देशवासियो को स्वाधीन करने और उनकी दशा सुधारने मे हममे से किसी को कोई प्रयत्न, कोई परिश्रम उठा नहीं रखना चाहिए। इससे बढकर हमारे लिए इस समय और कोई धर्म नहीं।

किसी भी भारतवासी, भारतीय सस्था या समाज का यह कहना कि हमारा राजनीति से कोई सबध नहीं, कुछ अर्थ नहीं रखता। इस तरह के विचार इस देश के लोगो के लिए आत्महत्या और देशहत्या करने के तुल्य हैं। राष्ट्रीय जीवन के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता आवश्यक है और राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए इस समय प्रत्येक हिदुस्तानी को यह कहना और अनुभव करना होगा

हिंदुस्तान मिल्कीयत मेरी
मैं हूँ मालिक इसका।

यही बात हिदुस्तान के तमाम लडको और लडकियो को स्कूलो और कॉलेजो मे सिखाई जानी चाहिए। ये ही शब्द हमारी राष्ट्रीय पताका पर अकित होने चाहिए।

एक और बात यह है कि भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है। स्वभावत ग्रामो का महत्त्व यहॉं नगरो से कहीं अधिक है। इतिहास से स्पष्ट है कि पिछले सहस्रो वर्षों के भारतीय इतिहास मे, अग्रेजी राज्य के सस्थापन के समय तक प्रत्येक भारतीय

ग्राम मानव जीवन की समस्त आवश्यकताओं और उसके समस्त पहलुओं की दृष्टि से राष्ट्र का एक स्वच्छद स्वावलंबी और आत्मनिर्भर अंग था। राज्य बदले, सल्तनतें मिटीं और नई सल्तनतें कायम हुईं। हिंदुओं, बौद्धों, मराठो, पठानो, और मुगलों का एक-दूसरे के बाद उत्थान और पतन हुआ किंतु हमारे इन लाखो ग्रामो और उनके सुंदर परिपूर्ण जीवन पर कोई अहितकर प्रभाव नहीं पडा। यही कारण था कि लगभग उस समस्त समय में राज्यपरिवर्तनों.के होते हुए भी भारतीय जनता सदा खुशहाल रही और मुगल साम्राज्य का सूर्य अस्त होने के समय तक यह देश धनधान्य से सदा लहलहाता रहा। किंतु आज हमारी दशा उलट गई। आज इस देश में बीस करोड से ऊपर नर-नारी ऐसे हैं जिन्हे जीवन भर चौबीस घटे मे एक समय भी पेट भरकर अन्न मयस्सर नहीं होता। मुझे इस समय की भारतीय जनता की दरिद्रता और भारतीय ग्रामो की उजडी हुई अवस्था पर आपके सामने बहस करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय पर विचार करते हुए मुझे ऐसा अनुभव होता है कि जब तक पहले हम अपने देश को फिर से आजाद और खुशहाल न बना ले, हमे अपने साहित्य, इतिहास, धर्म, कर्म इत्यादि सब चीजों को कुछ दिनो के लिए ताक पर रख देना चाहिए। इसमे सदेह नहीं भारतीय ग्रामो के पुनरुद्धार की लहर कहीं-कहीं देश मे उभरती हुई दिखाई दे रही है। देश के प्रत्येक शुभचिंतक का ध्यान ग्रामो मे स्वास्थ्य सबधी सुधार, उनकी आर्थिक स्थिति को उन्नति देने और उनमे शिक्षा के प्रचार इत्यादि की ओर आकर्षित हो रहा है। किंतु इसका वास्तविक इलाज राजनैतिक स्वाधीनता के बिना और कुछ नहीं। इस विषय में अभी रुपए मे एक पाई काम भी नहीं हुआ है। देश के युवको से इस विषय मे चारो ओर बडी-बडी आशाएँ की जा रही हैं किंतु सरकारी अथवा अर्धसरकारी स्कूलों और कॉलेजो से निकले हुए विद्यार्थियो से मुझे बहुत अधिक आशाएँ नहीं हैं। गत चालीस वर्ष का मेरा व्यक्तिगत अनुभव इस विषय मे अत्यत कड़ुआ है। इन सरकारी विद्यालयो की शिक्षा ही विद्यार्थियो मे से देशप्रेम, देशसेवा अथवा राष्ट्रीयता के सच्चे भावो को कुचलकर बाहर कर देने के लिए काफी जबरदस्त साधन है।

गुरुकुल के स्नातको ! इस विषय मे आप लोगों का उत्तरदायित्व सबसे अधिक होना चाहिए। भारत आपसे इस बात की आशा करता है कि आप इस देश की जनता की दशा सुधारने और उनके मृतप्राय शरीर मे फिर से जान फूँकने के लिए कोई परिश्रम, कोई त्याग उठा न रखेगे। इसके लिए आपको सच्चे कर्मी और सच्चे त्यागी बनना होगा। देश के अन्य युवको को इस विषय मे आप ही से प्रोत्साहन मिलना चाहिए। उनके मार्ग-प्रदर्शन का भार वास्तव मे आप ही पर होना चाहिए। आपको भारतीय जनता के सच्चे सेवक बनना चाहिए। उन्हें अज्ञानान्धकार से बाहर निकालना, उनमे सच्ची शिक्षा का प्रचार करना, उनके मुरझाए हुए हृदयो मे आशा को जन्म देना, अपने को उनके सच्चे सेवक साबित करना और राष्ट्रीय स्वाधीनता के सग्राम मे उन्हे साथ लेकर अग्रसर होना आप लोगों के पवित्रतम

कर्तव्य हैं।

देश की माताओं और उनके कष्टों की ओर भी अपनी-अपनी योग्यता अनुसार आपको विशेष ध्यान देना होगा। अंग्रेजी में स्त्री को पुरुष का better half कहा जाता है। वास्तव में अधिकांश सभ्य देशों के अंदर स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। जिस समाज में स्त्री जाति को स्वतंत्रता न दी जावे और उनकी उचित शिक्षा की ओर से अवहेलना की जावे उस समाज की अवस्था एक ऐसे मनुष्य की-सी है जिसके अंधे शरीर को लकवा मार गया हो। स्त्रियों की पराधीनता अनेक सामाजिक बुराइयों का मूल कारण है। बडे हर्ष की बात है कि देश के अनेक लोगों का ध्यान इस ओर भी आकर्षित हो रहा है। स्त्री शिक्षा की ओर आपके गुरुकुल के प्रयत्न भी सराहनीय हैं। जालंधर के कन्या महाविद्यालय जैसी संस्थाओं से भी हमे इस विषय में बहुत कुछ सुधार की आशा हो सकती है।

एक और प्रश्न जिसकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए, इस देश के साधुओ का प्रश्न है। कहा जाता है कि भारत मे साधु कहलानेवालो की सख्या लगभग पचास लाख है। कम-से-कम दो आने प्रति मनुष्य प्रतिदिन के हिसाब से भारत को इन पर छै या सात लाख रुपए रोजाना अर्थात् लगभग चौबीस करोड रुपए सालाना खर्च करना पडता है। इसके बदले में देश को इनसे क्या मिलता है ?

बर्मा मे बौद्ध भिक्षुओ को फुंगी कहते हैं। वे लोग अधिक्तर गॉवो और शहरो के मदिरो मे रहते और वहॉ के बालको तथा बालिकाओं को शिक्षा देने मे अपना समय व्यतीत करते हैं। यही कारण है कि भारत के किसी भी अन्य प्रात मे शिक्षितो की सख्या आबादी के हिसाब से प्रतिशत इतनी अधिक नहीं है जितनी बर्मा में। क्या हम शेष भारत के ग्रामों और नगरो मे यहॉ के साधुओ का इसी तरह का उपयोग नहीं कर सकते ? कुल भारत के समस्त ग्रामो की सख्या लगभग सात लाख है। यदि ये सब पचास लाख साधू इन सात लाख ग्रामो मे वहॉ के बालको और बालिकाओ को शिक्षा देने के लिए नियुक्त कर दिए जावें तो अशिक्षा का अधकार भारतीय जीवन से कुछ वर्षों के अंदर दूर हो जावे।

यूरोप और अमरीका के लोग अपने यहॉ से पादरियों को भारत मे ईसाई धर्म प्रचार के लिए भेजते हैं, क्या हम अपने यहॉं के साधुओं से राष्ट्रीय धर्म-प्रचार का कार्य नहीं ले सकते ? इस समय भारत में अनेक ईसाई पादरी कॉलेजो मे प्रोफेसरो का कार्य कर रहे हैं। बंबई के सेंट जेबियर कॉलेज मे बौटिनी अर्थात् वनस्पति शास्त्र के प्रोफेसर एक फादर ब्लैटर हैं। इतिहास के प्रोफेसर एक फादर हैरस हैं। सस्कृत के प्रोफेसर जाइमेन्स रह चुके हैं। कलकत्ता सेट जेबियर कॉलेज मे फिजिक्स के प्रोफेसर एक फादर लाफो थे। क्या इसी तरह स्वामी योगानंद सरस्वती और स्वामी कृष्णानद तीर्थ हमारे राष्ट्रीय विद्यालयो मे आचार्यों का कार्य नहीं कर सकते ? वास्तव मे पहले इन साधुओं ही को शिक्षा देने और उन्हे उस प्रकार सगठित करने की आवश्यकता है जिस प्रकार किसी समय स्वामी शंकराचार्य

ने किया था, अथवा जिस प्रकार किसी समय जैजुएट सप्रदाय के ईसाई पादरियो का सगठन हुआ था। अब भी इन लोगो मे तितिक्षा का सर्वथा अभाव नहीं है। कहीं-कहीं उनकी तितिक्षा काफी प्रशसनीय प्रतीत होती है। मुझे विश्वास है कि थोड़े से सगठन और प्रयत्न से इनमे काफी त्यागी, कर्मी और ज्ञानी अर्थात् देश के काफी सच्चे सेवक पैदा किए जा सकते हैं।

गुरुकुल के स्नातको ! इस सब कार्य के लिए आप लोगो को सबसे पहले अपने चरित्र का सगठन करना होगा। इसके लिए मेरी राय मे आप लोगो को आजीवन अपने को विद्यार्थी ही समझना चाहिए। सबसे आवश्यक चीज चरित्र है। चरित्र ही मनुष्य की सबसे अधिक मूल्यवान सपत्ति है। इसके निम्न मुख्य अग है–(1) अपने अधिकारो की ओर अधिक ध्यान न देकर पहले अपने कर्तव्य को ठीक-ठीक समझना और उसका पालन करना, (2) Plain living and high thinking अर्थात् सरल जीवन और उच्च विचार, (3) नम्रता। भर्तृहरि के ये शब्द आपको स्मरण रखने चाहिए

नम्रत्वेनोन्नमन्त परगुणकथनै स्वान् गुणान् ख्यापयत

इसी प्रकार शकर का प्रसिद्ध वाक्य है

'मा कुरु धन जन यौवन गर्वम्' विशेषकर विद्या और ज्ञान के क्षेत्र मे आपको पूरी विनम्रता अपने अदर उत्पन्न करनी होगी। सुकरात कहा करता था–"मै केवल एक बात जानता हूँ और वह यह कि मै कुछ नहीं जानता।" न्यूटन कहा करता था "मै उस बच्चे की तरह हूँ, जो समुद्र के किनारे ककरियाँ जमा कर रहा है।"

जिस ससार मे हम रह रहे है उसका हमे क्या ज्ञान है ? अरब, आस्ट्रेलिया और साइबीरिया के रेगिस्तानो और जगलो के सहस्राश की भी अभी हम सर्वे नही कर पाए। समुद्रो की गहराई मे क्या है ? इसका हमे क्या पता है। पृथ्वी का व्यास आठ हजार मील है, हम इसमे से कितना अभी देख पाए हैं ? हिमालय की सर्वोच्च चोटियो तक अभी कौन पहुँचा है ? हमारा सारा वैज्ञानिक ज्ञान अभी तक कितना ऊपरी और ओछा है ? मेरी तुच्छ सम्मति मे विद्यासागर और विद्यार्णव जैसी अर्थ शून्य उपाधियाँ न किसी सच्चे मनुष्य को किसी अन्य को देनी चाहिए और न किसी भले आदमी को स्वीकार करनी चाहिए।

अपने देशवासियो के सबध मे 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' आप लोगो का आदर्श वाक्य होना चाहिए। उन असख्य अधविश्वासो और अनर्गल रूढियो को देशवासियो के दिमागो से बाहर निकालना होगा, जो पिछली अधकारमय शताब्दियो मे हमारे राष्ट्रीय जीवन के साथ रोगो के समान चिपट गई हैं और जिनका हमारी राष्ट्रीय पराधीनता के साथ भी काफी भीतरी सबध है, विशेषकर हिदुओ का जातिभेद और छुआछूत इस समय उनके लिए सबसे भयकर राजरोग साबित हो रहा है। किसी रूप मे भी हमे इस मध्यकालीन जातिभेद को अपने देश मे जीवित न रहने देना

चाहिए। बाबू रामानद चैटर्जी ने पिछले दिनो लाहौर की जातपॉत तोडक कॉन्फरेंस मे बडी सुदरता के साथ यह दर्शाया था कि चार वर्णों के रूप में भी इस जातिभेद को किसी अंश में भी कायम रखने का प्रयत्न करना निरर्थक और असभव है। मुझे इसमे अणुमात्र भी संदेह नहीं कि हिंदुओं का जातिभेद और मुसलमानो का परदा, ये दोनो भारत के दो सबसे बडे रोग हैं और यदि भारत को जीवित रखना है और उसे सुखी तथा स्वाधीन बनाना है तो इन दोनो को जड से उखाडकर फेकना होगा। मुझे हर्ष है कि स्वामी श्रद्धानंदजी ने अपने कुटुब के अदर इस जातिभेद को तोडकर एक सच्चे समाजसुधारक का आदर्श कायम किया था।

मैं स्वय शिक्षा के लिए यूरोप गया था। कितु लौटने पर मुझे जात से बाहर निकाल दिया गया था और बहुत से छोटे-छोटे अपमान सहने पडे थे। अनेक लोग अपने घरो की बाल-विधवाओ के पुनर्विवाह केवल इसलिए नहीं करते क्योकि उन्हे जाति बहिष्कार कर दिए जाने का डर है। अस्पृश्यता का रोग भी केवल इसी जातिभेद के रोग का एक अग है। भारतवासी मात्र को हमे इस विषय मे एक कौम समझना होगा और खान-पान अथवा विवाह सबध मे सिवाय हाथो की सफाई वा व्यक्तिगत गुणो के और किसी बात की पूछताछ न करनी होगी।

केवल इस तरह के अगणित अधविश्वासो को तोडकर ही आप अपने देशवासियो मे सच्चे शारीरिक, मानसिक और नैतिक बल का सचार कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। उपनिषद् का यह वाक्य बिलकुल सच है

नायमात्मा बलहीनेन लभ्य

लोगो की आर्थिक अवस्था की ओर भी आपको तुरत ध्यान देना होगा और उसके उपाय सोचने होगे। इसके लिए मुख्य कार्य विदेशी माल का बहिष्कार और भारतीय उद्योग-धधो को सहायता देना है। ऐश-आराम के अनावश्यक पदार्थों का उपयोग करना आप लोगो को अधर्म समझना होगा। सबसे बढकर भारत के प्रत्येक घर और झोपडे मे चरखा चलवाना और खद्दर का प्रचार करना होगा। निस्सदेह चरखे और खद्दर से बढकर भारतीय दरिद्रता को दूर करने का इस समय और कोई उपाय नहीं। ब्राउनिग ने कहा है

"Progress is the law of life,
Man is not man as yet,
Nor shall I deem his object served, his end
Attained, his genuine strength
Put fairly forth, while only here and there
A star dispels the darkness,
Here and there a lowering mind
O'erlooks its prostrate fellows ·
When the host is out at once

To the despair of night;
When all mankind alike is perfected,
Equal in full-blown powers—
Then, not till then, I say, begins
Man's general infancy."

--Browning's Paracelsus

ब्राउनिंग के कथन के अनुसार हमें कम से कम 31 करोड़ भारतवासियों के सुख में अपना सुख, उनके दुख में अपना दुख, उनकी अवनति में अपनी अवनति और उनकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी होगी।

अपनी आजकल की मानसिक दासता को हमें सबसे पहले तिलांजलि देनी होगी। मुझे दुख से कहना पड़ता है कि हमारे स्कूलों और कॉलेजों के पढ़े हुए अधिकांश लोगों में केवल दासता का भाव ही नहीं, वरन् एक प्रकार की कुक्कुरवृत्ति भी पाई जाती है। एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को नहीं सह सकता किंतु सब कुत्ते मिलकर अपने मालिक के वफादार रहते हैं। यही आजकल के शिक्षित भारतवासियों की मनोवृत्ति का सच्चा नंगा चित्र है। इस दोष को अपने से तथा दूसरों से दूर करने का आपको भरपूर प्रयत्न करना होगा।

गुरुकुल विश्वविद्यालय के स्नातको ! एक समय था जबकि संसार के विविध देशों के विद्यार्थी इस देश में अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए आया करते थे। ठीक उस तरह जिस तरह कि आज हम शिक्षा प्राप्त करने के लिए यूरोप और अमरीका जाते हैं। आपका कार्य है कि भारत को फिर एक बार इस योग्य बना दे कि संसार भर के विद्यार्थी भारतीय आचार्यों से दर्शन, विज्ञान, कला और सच्चे मानव-प्रेम की शिक्षा ग्रहण करने के लिए भारत आया करें। अब भी आचार्य जगदीशचंद्र बोस की रसायनशाला में काम करने और सीखने के लिए यूरोप के वैज्ञानिक कलकत्ते आते हैं। अनेक संस्कृत पढ़ने के लिए अब भी बनारस पहुँचते हैं। इस समय बुखारेस विश्वविद्यालय का एक प्रोफेसर कलकत्ते में आचार्य सुरेंद्रनाथ दास गुप्त से भारतीय दर्शनशास्त्र की शिक्षा ग्रहण कर रहा है। मेरी यह हार्दिक इच्छा और मेरी यह प्रार्थना है कि आपका गुरुकुल विश्वविद्यालय भी संसार भर के विद्याप्रेमियों के लिए इसी तरह के पठन-पाठन तथा विद्योपार्जन का एक महान् केंद्र हो और संसार भर के विद्यार्थी यहाँ जमा होकर विद्याप्रेम तथा मानव-प्रेम की शिक्षा ग्रहण करें।

[सन् 1959]

शिक्षा की नई दिशाएँ

श्री मोरारजी देसाई

हम अपनी शिक्षा-प्रणाली के उस दोष से ग्रसित हैं जिसके अतर्गत मैकाले ने पाश्चात्य विचारो को हमारी शिक्षा मे आरोपित किया। पाश्चात्य विचारों की छाया हमारी शिक्षा-प्रणाली मे आज भी समाहित है। लेकिन हमे इस दिशा मे परिवर्तन लाना है। मुझे प्रसन्नता है कि आप इन बिदुओ पर विचार कर रहे हैं। लेकिन जब तक शिक्षा की दिशा तय करने मे बुनियादी परिवर्तन नहीं किया जाएगा, मुझे डर है कि आशिक परिवर्तन की धारा से प्रभावी परिणाम की आशा नहीं करनी चाहिए, लेकिन वास्तविक रूप से यही हो रहा है।

शिक्षा का उद्देश्य यह दिखाना है कि मनुष्य अपनी प्रतिभा एव क्षमता का आकलन करके अपने जीवन को समग्र रूप से ऊँचा उठाए और जीवनपर्यंत अपनी इन क्षमताओ का विकास करे। यही शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है। यदि यह नहीं प्राप्त होता तो शिक्षा निरुद्देश्य है। मुझे डर है कि आज की शिक्षा मे हम इस विचार को नहीं पकड पा रहे हैं। शिक्षा से हमारे चरित्र का निर्माण होता है। इसी विचारधारा से जीवन मे निर्भयता एव सत्य का समावेश होता है। क्या ये बातें हमारे जीवन मे हैं ? हम भ्रष्टाचार से पीडित हैं, स्वार्थ मे अधे हैं, दूसरो की भावनाओ को प्राथमिकता देने का क्या हममे साहस है ? क्या हममे किसी को प्रेरणा देने का साहस है ? यदि हममे यह सब नहीं है तो हम जीवन के प्रति क्या कर रहे हैं ? जीवन मे कठिनाइयो का आना स्वाभाविक है लेकिन हमे अपने से ये पैदा नहीं करनी चाहिए। वास्तविक रूप से मैं यह महसूस करता हूँ कि जीवन मे बिना कठिनाइयों का सामना किए हुए न तो आनद प्राप्त हो सकता है और न ही रुचि पैदा हो सकती है। इसलिए सघर्ष को चुनौती के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। जीवन के इसी परिप्रेक्ष्य में शिक्षा हमारी सहायता के लिए साधन बन सकती है। पर आज वास्तविक रूप से शिक्षा की इसी भूमिका का निर्वाह नहीं हो रहा है। महात्मा गाँधी ने इस देश के लोगो को इसी सदर्भ मे सोचने के लिए प्रेरित किया और उन्होने इन विचारों को एक नई दिशा प्रदान की। दुर्भाग्य से इसकी अनुपालना हमारे देश के शिक्षाविदों ने नहीं की जबकि ऐसा किया जाना चाहिए था।

हमे अतीत मे जाने की आवश्यकता नहीं और न ही एक-दूसरे पर हमे दोष लगाना है। मैं सोचता हूँ कि किसी को भी इसके लिए दोषी कहना उचित नहीं है क्योंकि हम सब इस शिक्षा की पैदाइश हैं। इसलिए हम इस दोष से पीडित हैं, लेकिन अब यह हमारा दोष समझा जाएगा कि हम समझ करके भी इन बाधाओ को दूर करने के लिए कोई कदम नहीं उठाते। जब तक हम इनको दूर करने मे स्वय खडे नहीं होते, तब तक समाधान की आशा करना व्यर्थ है।

मुझे अग्रेजी भाषा से कोई शिकायत नहीं है लेकिन उसे भारतीय भाषा का दर्जा नहीं दिया जा सकता है। मेरा अभिमत है कि क्या भारतवर्ष इतना निर्धन है कि वह अपनी भाषा भी नहीं रख सकता ? लेकिन यहाँ भी हमारी शिक्षा इस दोष से प्रभावित है तथा कुछ क्षेत्रो मे इसके सबध मे आपत्तियाँ हैं। मैं किसी के डर को बढाना नहीं चाहता तथा न किसी की आपत्ति को निरस्त करना चाहता हूँ, लोगो पर किसी बात का दबाव नहीं डाला जा सकता। यह प्रजातान्त्रिक तरीका नहीं है, लेकिन क्या सभी को भारतवर्ष के हितो को इस संदर्भ मे नहीं देखना चाहिए ? कौन इस कार्य को करेगा ? यह दायित्व उन लोगो का है जो शिक्षा के क्षेत्र से जुडे हैं। लेकिन पहले उनको स्वय को शिक्षित करना होगा, तभी वे दूसरो को शिक्षित कर सकेगे।

अब शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को ले। क्यो नहीं शिक्षा का माध्यम बच्चे के जन्म से अत तक मातृभाषा हो सकती है ? इस मामले मे विवाद कहाँ ? कौन इस बारे मे अलग मत प्रकट करेगा ? कोई इस बारे मे झगडा नही करेगा ? लेकिन शिक्षाविद् ही इस बात को तूल देते रहते है कि अग्रेजी को मातृभाषा की अपेक्षा अधिक महत्ता दी जाए। वे सामान्यजन की बोलचाल की भाषा की अपेक्षा अग्रेजी को अहमियत देते हैं। क्या यह हीनता नहीं है जिसकी ग्रथि से हमारे शिक्षा दार्शनिक पीडित हैं ? क्या हमे इसे दूर करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होना चाहिए ? भारतवर्ष को बिना विभाजित किए इसे सर्वोत्तम तरीके से दूर किया जाना चाहिए। कोई कारण नही कि यह भ्राति दूर न की जा सकती हो। मैं नही कहता, क्यो नहीं प्राथमिक शिक्षा से लेकर शोध उपाधि तक की उच्चतम शिक्षा सभी राज्यों मे मातृभाषा मे दी जा सकती। इस रास्ते मे क्या रुकावटे है ? यह कहना कि हमारी भाषा विकसित नहीं है, केवल हीनता की ग्रथि को दिग्दर्शित करता है तथा हमारी अपनी भाषा के प्रति इससे निरादर की भावना परिलक्षित होती है।

जब ब्रिटिश शासक यहाँ थे तो भारतीय राज्यो मे भी प्रशासन का समूचा कार्य जनभाषा के अदर किया जाता था। यदि भारतीय भाषाओ मे यह प्रौढता नहीं होती तो यह क्यो किया जाता ? यदि आप सरल स्वाभाविक मातृभाषा का उपयोग नही करते तो ये पुस्तके आपकी सहायता के लिए नहीं आएँगी। और यदि आपकी यह सोच है कि पुस्तके आएँगी तभी भाषा का प्रयोग होगा तो आप निश्चय ही समय की बर्बादी कर रहे है। जब तक आप भाषा का प्रयोग नहीं करेगे तब तक भाषा

का सामर्थ नहीं बढेगा और यही हमें करना है, लेकिन दुर्भाग्य है कि कृषि शिक्षा भी हम अंग्रेजी में देने का प्रयास करते हैं। कितने किसान इसको समझ सकते हैं ? वे इससे क्या लाभ उठा सकते हैं ? और वे अपने ज्ञान को गाँव के अदर किस प्रकार पहुँचा सकते हैं ? यही कारण है कि हम देखते हैं कि जो लोग महाविद्यालयो से आते हैं और जनसेवाओ से जुडे रहते हैं, खेती को उतना समृद्ध नहीं कर पाते जो उन्हे करना चाहिए। ये सब वे तथ्य हैं जिन पर मेरे विचार के अनुसार तर्क की कोई आवश्यकता नहीं है।

हमें यह देखना चाहिए कि प्राथमिक स्तर पर ही पूरा ध्यान केंद्रित होना चाहिए क्योकि यही वह समय है जब शिक्षा की बुनियाद खडी होती है, लेकिन हम इसकी अवहेलना कर रहे हैं। यही वह बच्चा है जो मनुष्य का पिता कहा जा सकता है। क्योंकि वह मनुष्य बनने जा रहा है, वह पिता बनने जा रहा है और जब तक वह ठीक नहीं होगा भविष्य की सतति भी ठीक नहीं हो सकती। लोग जो मेरे जैसे वृद्ध हो गए हैं या आप जैसे मध्य वय के हैं और अन्य लोग हैं उनको सुधारा जाना बहुत कठिन है, क्योकि आप एक चीनी मिट्टी के टूटे हुए कप की मरम्मत नहीं कर सकते। लेकिन जब यह बनाया ही जा रहा हो तो आप अपनी इच्छानुसार आकृति प्रदान कर सकते हैं, इसीलिए ये बच्चे हैं जिन पर सावधानीपूर्वक अपने आदर्शों को आरोपित कर सकते हैं। हमे उन्हे अपने मत के अनुसार अपने ही मत मे ढालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए क्योकि यह कोई वाछनीय ढॉचा नहीं है। यदि मैं यह कहूँ कि हम सबको मिलकर यह विचार करना चाहिए कि प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता मे प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा एव महाविद्यालय शिक्षा मे हम क्या गुणात्मक परिवर्तन कर सकते हैं। हम बच्चो पर अपना समग्र ध्यान केंद्रित नहीं कर रहे हैं। हम उनके शारीरिक स्वास्थ्य पर भी विचार नहीं कर रहे हैं, वास्तविक रूप से मेरे ध्यान मे एक तथ्यात्मक ऑकडा लाया जाए जो यह दिखाता है कि भारतीयो की लबाई निरतर कम होती जा रही है, लेकिन यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वे लबे होते जा रहे हैं या बौने होते जा रहे हैं, मेरी दृष्टि मे यह महत्त्वपूर्ण है कि वे पिछड रहे हैं। यदि तुम स्थिर रहोगे तो तुम पिछड जाओगे या नीचे गिर जाओगे इसीलिए सभी को उन्नति के पथ पर बढने का अवसर मिलना चाहिए। बच्चो के स्वास्थ्य पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। हमें कई ऐसे कार्यक्रमों को प्रारभ करना चाहिए जिनसे उनके विकास की सभावनाएँ सुनिश्चित हों। जैसे बच्चों को मध्यावकाश मे भोजन उपलब्ध कराना तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यक्रम को भी प्रारभ किया जाना चाहिए।

परमात्मा ने मानव को सर्वोत्तम कृति के रूप में बनाया है। वह सभी परिस्थितियो में रह सकता है और विपरीत परिस्थितियों मे भी उसमे महान् बनने की क्षमता है। यही क्षमता मनुष्य को दी गई है। और इसी क्षमता को शिक्षा के

माध्यम से मनुष्य में पैदा कराना उचित है। इसका यह भावार्थ नहीं है कि उसको विपरीत परिस्थितियो में रहना चाहिए। किसी को चिल्ला-चिल्लाकर के यह नहीं कहना चाहिए तथा न ही उसे असह्य होना चाहिए और न ही उसे तनावग्रस्त होना चाहिए क्योंकि कोई कठिनाई उसके सामने आई है या वह कठिन परिस्थितियों से गुजर रहा है। हर मनुष्य कठिनाइयो से निकल सकता है यदि वह कठोर निश्चय करे और हम विश्व के बहुत से मनुष्यों के उदाहरण से मालूम कर सकते हैं। वास्तविक रूप से इस विश्व के बहुत से महान् व्यक्ति विपरीत परिस्थितियो से ही पैदा हुए, सुखद परिस्थितियो से नहीं। यही जीवन की वास्तविकता है इसीलिए यही वह गुणवत्ता है जो बच्चो मे प्रारभ से ही विकसित करनी चाहिए।

लेकिन यह तभी हो सकता है जब हमारे पास योग्य शिक्षक हों क्योंकि यथार्थ में शिक्षक ही शिक्षा है। योग्य शिक्षक के सामने पाठ्यक्रम की कोई महत्ता नहीं रहती, शिक्षक का व्यक्तिगत आचरण ही बालक को प्रभावित करता है। यही वह विचारणीय विषय है। शिक्षको की जो प्रशिक्षण सस्था है उनको इस दिशा के प्रति गभीर होना चाहिए। लेकिन वे सभी सस्थाएँ ट्रेड यूनियन की तरफ बढती जा रही हैं। क्या यह वाछनीय है ? छात्र इससे सीधे प्रभावित होते हैं। इसीलिए शिक्षक एव छात्र दोनो में असंतोष है। तो इसका क्या निदान है ? समाज एव शिक्षक में क्या अतःसघर्ष है ? इनमे कोई सघर्ष नहीं हो सकता। सभी वर्गों का अपना-अपना स्वार्थ है जिस कारण से यह अतःसंघर्ष पैदा होता है। इसीलिए यहीं कुछ परस्पर समझदारी की आवश्यकता है। यही वह दशा है जिस पर हमे विचार एव कार्य करना है।

मुझे इसमे कोई संदेह नहीं है कि बच्चो की प्रारभिक शिक्षा योग्य शिक्षको के द्वारा उचित तरीके से दी जानी चाहिए, यह तभी हो सकता है जब शिक्षा मंत्री उससे सहमत हो और ऐसा करने का उनमे दृढ निश्चय हो। तब कोई बाधा उनको रोक नहीं सकती और यही वह बिदु है जो आपको विचार करना है, बहस करना है तथा उचित निष्कर्ष निकालना है। मैं आपको किसी बात को करने के लिए नहीं कह रहा हूँ, मैं आपको कुछ भी करने के लिए नहीं कहूँगा। मैं आपको केवल प्रेरित करूँगा कि आप भी अधों को इसी प्रकार प्रेरित करते रहे, वहाँ तक जहाँ तक मैं नहीं पहुँचा, यही मैं कर सकता हूँ। शिक्षा भय से नहीं दी जा सकती, यह स्वत प्रेरणा का विषय है और स्वय को उदाहरण के रूप मे खडे करने का विचार है। और इसी आधार पर हमे इसको क्रियान्वित करना चाहिए।

यदि आप प्रारभिक शिक्षा को प्रारभ करते हैं और प्रत्येक छात्र को उत्पादन कार्य मे लगाते हैं, तो प्रत्येक अवस्था मे आप एक नया व्यक्ति बनाएँगे। उसमे ज्यादा आत्मविश्वास होगा, वह जानेगा कि उसे किन परिस्थितियो में क्या करना है। यह बड़ा दयनीय है कि प्रथम श्रेणी के डॉक्टर और इजीनियर पैदा हो रहे हैं और वे मुझे कहते हैं कि वे बेरोजगार हैं। क्यो एक डॉक्टर ऐसा महसूस करता

है, मैं एक कलाकार की भावना को तो इस सदर्भ मे महसूस कर सकता हूँ जबकि उसे भी अपने को असहाय नहीं महसूस करना चाहिए, यदि उसने उचित शिक्षा ग्रहण की है तो उसे यह देखना चाहिए कि उसकी शिक्षा में क्या कमियाँ हैं। आपको अपनी शिक्षा की नैतिक मान्यताओ को लेना चाहिए जो कि आज नदारद हैं। नैतिक मान्यताएँ तभी आती हैं जब हम अपने से अधिक दूसरो की भावनाओ का खयाल रखें। यही वह नैतिक आदर्श है जो हमें पैदा करना है। हमारी सस्कृति का भी यही मूल बिंदु है। यही वह बुनियादी आधार है जो हम भूल चुके हैं। मैं इसी स्तर पर शिक्षा-प्रणाली को मूल्याकित करना चाहता हूँ और यही वह स्तर है, वह मजिल है जो हम चाहते हैं, तथा इसी कार्य को पूरा करना चाहते हैं, इसको आप समझे। इसको करने के बहुत से रास्ते हैं, लेकिन ऐसा कोई प्रभावी तरीका होना चाहिए जिसकी हमे जानकारी हो। गाँधीजी ने इस परिप्रेक्ष्य मे बहुत से विचार दिए। यह कोई नैतिक विचारधारा नहीं है। उन्होने वह आदर्श हमे दिए जो हमे करने चाहिए क्योकि वे एक ऐसे व्यक्ति थे कि वे जब तक किसी कार्य को स्वय नहीं कर लेते थे, तब तक उस कार्य को स्पष्ट नहीं करते थे। उन्होंने कभी ऐसा कोई कार्य नही कहा जो उन्होने नहीं किया हो। वह कोरे उपदेशक न थे। मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि शिक्षा वास्तविक रूप से ऐसी शिक्षा होनी चाहिए जो केवल सरकारी नियत्रण मे न रहे, सरकार को वित्त उपलब्ध कराना चाहिए न कि उस पर नियत्रण करना चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उस पर ध्यान ही न दे। उनको ऐसा नहीं करना चाहिए क्योकि शिक्षा पर औपचारिक नियत्रण की आवश्यकता नहीं है बल्कि अनौपचारिक रूप से उसे रखा जाए। नियत्रण तभी किया जाना चाहिए जब कोई गलत रास्ते पर जा रहा हो, निश्चित रूप से उसे उस रास्ते से हटाना चाहिए। यदि कहीं धन का गबन है या यदि कहीं अनुशासनहीनता है तो निश्चित रूप से उसे सुधार के मार्ग पर प्रशस्त करने की आवश्यकता है, लेकिन इस प्रकार की अनुशासनहीनता भी कभी आचरण का स्वाभाविक पहलू बन जाती है। शिक्षा का विकेंद्रीकरण होना चाहिए, मेरे विचार से वास्तविक विकेंद्रीकरण ही शिक्षा है।

मैंने आपके सामने वे सभी मूल बाते रखीं जो मैं आपके सामने रखना चाहता था, अन्य बाते इन्हीं मूल तथ्यो पर आधारित हैं। यह आपके लिए है क्योकि आप ही ने उन पर विचार करना है और आपको ऐसी रचना बनानी है जो कि आपको करनी है। इस प्रक्रिया मे आप सभी का सहयोग अपेक्षित है।*

[सन् 1965]

* मोरारजी का दीक्षात भाषण अलिखित हुआ था। उनके शिक्षाविषयक विचार यहाँ अग्रेजी मे अन्यत्र प्रकाशित लेख से सकलित किए गए हैं। अग्रेजी से हिंदी अनुवाद श्री जगदीश विद्यालकार ने किया है।

परंपरागत एवं आधुनिक शिक्षा का समन्वय

श्री यशवंतराव चव्हाण

यहाँ आकर आज मुझे बहुत खुशी हो रही है। इस शिक्षण-सस्था के बारे मे मित्रो से कई बार मैंने प्रशंसा सुनी, किंतु इसे देखने का अवसर आज मुझे मिला है। यदि इसे अत्युक्ति न कहूँ तो मैं कहूँगा कि यहाँ आकर आज मुझे जो कुछ मालूम हुआ और जो कुछ मैंने सोचा था, उससे कहीं बढकर इसे पाया है। दूसरे रूप में वास्तविकता कल्पना से कहीं और सुखद सिद्ध हुई है। इसलिए कुलपति श्री सत्यव्रत सिद्धातालकार का मैं आभारी हूँ कि उन्होंने इस अवसर पर यहाँ आने के लिए मुझे आमत्रित किया।

प्राय एक-दो बार मुझे दूसरे विश्वविद्यालयो में ऐसे ही समारोहो मे जाने का अवसर मिला है। किंतु अन्य विश्वविद्यालयो मे और आपके विश्वविद्यालय में कुछ अतर है। वे सब कई बडे शहरो मे स्थित हैं और उनका निर्माण पाश्चात्य ढग पर हुआ है जबकि आपका विश्वविद्यालय शहर से दूर स्थित है जो किसी राज्य की राजधानी तो क्या, एक जिला भी नहीं है। दूसरे, सगठन, शिक्षा-प्रणाली और आचरण की दृष्टि से इसमे भारतवर्ष के दर्शन अधिक होते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि शहरों मे स्थित अन्य विश्वविद्यालय भारतीय नहीं हैं अथवा उनका वातावरण आवश्यक रूप से विदेशी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विचारधारा और पाश्चात्य शिक्षा की दृष्टि से आपकी संस्था प्राचीन जनमानस के अधिक निकट है। यह बहुत खुशी की बात है, क्योंकि शिक्षा का सबसे बडा उद्देश्य आज इस देश मे जनता के हृदय और मस्तिष्क को स्पर्श करना और उनका परिष्कार करना है। यद्यपि कुछ न कुछ प्रभाव तो छोटी-बडी प्रत्येक सस्था का लोगो के दिल-दिमाग पर पडता ही है, किंतु जो सस्था रचना और कार्यप्रणाली की दृष्टि से जनता से अधिक निकट होगी, जनगण पर उसका अधिक प्रभाव पडना स्वाभाविक है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो हमारे गुरुकुलों और इसी प्रकार की दूसरी शिक्षण-संस्थाओं का यह महत्त्व इतना अधिक है कि हम इन्हे वयस्क शिक्षा-प्रसार

के लिए अपने कार्यक्रम की आवश्यक कड़ी कह सकते हैं। मेरा सदा से यह मत रहा है कि निरक्षरता-निवारण के काम में हम तभी सफल हो सकते हैं जब छोटी-बड़ी शिक्षण-संस्थाएँ देशभर के देहाती इलाको में उसी तरह फैल जाएँ जिस तरह डाकघर फैले हुए हैं। इस आवश्यक काम को पूरा करने के लिए हमें सारे देश मे स्कूलों और पाठशालाओं का जाल बिछाना होगा। उच्च शिक्षण और अनुसधान के लिए भले ही हमे बड़े-बडे शहरों में स्थित शिक्षण-सस्थाओं अथवा विश्वविद्यालयो पर निर्भर करना पड़े, किंतु इसमें जरा भी संदेह नहीं कि अज्ञानता का अधकार दूर करने के लिए और देश की जनता को साक्षर बनाने के लिए हमे अधिकतर देहातों में खोली गई या खोली जानेवाली सस्थाओ पर ही निर्भर करना पडेगा। अग्रेजी राज्यकाल मे कुछ ऐसा नियम था कि लोग शिक्षा के लिए शिक्षण-सस्थाओं की तलाश में निकलते थे। स्वाधीन भारत में हमे इस पद्धति को पालना होगा। अब स्कूलों और शिक्षण-सस्थाओं को शिक्षार्थियो की खोज में देहातो की तरफ बढना होगा। साक्षरता का हमारा सकल्प तभी पूरा हो सकता है और गणराज्य के सविधान की धाराओं मे अंकित सभी नागरिको को समान अधिकार देने का हमारा व्रत तभी पूरा हो सकता है।

गुरुकुल शिक्षण-प्रणाली के सबध मे जो कुछ भी मैं जान पाया हूँ, उसके आधार पर यह कहना चाहूँगा कि यह प्रणाली हमारी आज की परिस्थितियो और देश की आवश्यकताओं के अनुरूप है। मैं नहीं मानता कि इस प्रणाली और पाश्चात्य ढग पर चलनेवाले विश्वविद्यालयो की प्रणाली में किसी प्रकार का पारस्परिक विरोधाभास है। शिक्षा का क्षेत्र इतना व्यापक है और हमारी जरूरतें इतनी अधिक हैं कि ये दोनो प्रणालियाँ एक-दूसरे की पूरक मानी जा सकती हैं। जिस प्रकार पानी की आवश्यकता पडने पर लोग कुएँ भी खोदते हैं और नदियों से नहरे भी निकालते हैं, उसी प्रकार शिक्षा की प्यास को बुझाने के लिए हमारे देश मे सभी प्रणालियों और सभी तरह की सस्थाओं की आज पूरी गुजाइश है। प्रश्न केवल इतना ही है कि शिक्षा का उद्देश्य और इसकी कार्यप्रणाली के बारे मे हमारा मत सुनिश्चित और पुष्ट होना चाहिए। यद्यपि खाली अक्षरबोध का भी हमारे लिए कम महत्त्व नहीं, हमारे सामने विकास और राष्ट्र-निर्माण के काम इतने अधिक हैं कि हमें अक्षरबोध के साथ-साथ लोगो को उनके कर्तव्य का बोध भी कराना है। यह काम शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है।

यह देखकर मुझे बहुत खुशी हुई है कि गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय में साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र, भाषा-विज्ञान और मानविकी विषयों पर ही जोर नहीं दिया जाता बल्कि विज्ञान के अध्ययन को भी ऊँचा स्थान दिया जाता है। आज के जीवन में विज्ञान का कितना महत्त्व है, इसके बारे में अधिक कहने की जरूरत नहीं। यही कहना काफी होगा कि वैज्ञानिक प्रगति और तकनीकी उन्नति एक प्रकार से आधुनिकता के प्रतीक बन गए हैं। यह युग जनसाधारण का युग है।

सम्राटों और विशाल साम्राज्यों के युग समाप्त हो गए। अब साधारण मानव के युग का उदय हुआ है। इस युग में वही राष्ट्र महान् है जिसका साधारण नागरिक का जीवन-स्तर ऊँचा है, जिसमें छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, जाति-पाँति और स्त्री-पुरुष के भेदभाव के बिना सभी नागरिकों को एक ऐसे अधिकार और अवसर की समानता मिलती है। सबके लिए समान सुविधाओं के इस लक्ष्य को व्यावहारिक रूप तभी दिया जा सकता है जब राष्ट्र सपन्न हो और उसके भौतिक साधन पूरी तरह विकसित हों। यह विकास विज्ञान की प्रगति पर निर्भर करता है। यही कारण है कि विज्ञान और तकनीक को आधुनिकता का प्रतीक कहा गया है।

मैं गुरुकुल कांगड़ी के व्यवस्थापकों और संचालकों को बधाई देता हूँ कि शिक्षण की परपरागत प्रणाली को अपनाते हुए और भारत की प्राचीन विद्या के अध्ययन पर जोर देते हुए भी उन्होंने शिक्षा के आधुनिक पहलू की एकदम अवहेलना नहीं की है। यहाँ धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और भारतीय इतिहास और साहित्य की शिक्षा के अतिरिक्त आप लोग आधुनिक कृषि विज्ञान, समाजशास्त्र और चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन पर भी जोर देते हैं। इन विभागो में विद्यार्थियो की संख्या तथा उनके उत्साह से आपने जान लिया होगा कि आजकल के नौजवान विज्ञान में कितनी रुचि रखते हैं। मुझे आशा है कि इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने और देश की विकास-योजनाओं में पूर्ण योगदान देने की दृष्टि से आप इस विश्वविद्यालय में इंजीनियरिंग और तकनीक संबधी दूसरे विभागो को खोलने का भी यत्न करेंगे। मेरा विश्वास है कि हरिद्वार के निकट आधुनिक ढग के बड़े-बड़े कारखाने खुल जाने से अब आप लोगों का ध्यान भी इस आवश्यकता की तरफ जरूर गया होगा। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि इस संस्था के संचालक प्राचीन विद्या और आधुनिक विज्ञान के समन्वय द्वारा शिक्षा के क्षेत्र मे राष्ट्र का नया मार्ग सुझाने की कोशिश करेंगे।

जो विचार मैंने ऊपर प्रकट किया है, उसके बारे में दो शब्द और कहने की जरूरत है। निजी विकास द्वारा सद्प्रवृत्तियों को उन्नत करके अपनी क्षमता और उपयोगिता बढ़ाने का शिक्षा व्यक्ति के लिए एक आवश्यक साधन है। इसी से मनुष्य अपने बौद्धिक और मानसिक धरातल को ऊपर उठा पाता है। किंतु समाज की दृष्टि से शिक्षा का महत्त्व और भी अधिक है। वर्तमान युग में सामूहिक उन्नति और सामाजिक उत्थान में ही व्यक्ति का कल्याण और उसकी सुख-समृद्धि निहित है। जहाँ व्यक्ति निजी सुरक्षा के लिए समाज पर निर्भर करता है, वहीं समाज की सामूहिक प्रगति के लिए व्यक्ति के विकास को आधार मानता है। इस प्रकार राष्ट्रीय उन्नति के लिए और अपनी समृद्धि के लिए व्यक्ति और समाज एक-दूसरे पर आश्रित हैं। यह विचार भी आधुनिकता की विशेष देन है। आज के अधिकाश सामाजिक और राजनीतिक संस्थानों का निर्माण इसी धारणा के आधार पर हुआ है : व्यक्ति और समाज को सशक्त बनाने और उसके समन्वय से राष्ट्रीय सगठन

को जन्म देने में शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ है। मेरे विचार से शिक्षा जहाँ राष्ट्रीय बल का साधन है वहाँ सामाजिक सुरक्षा की भी कसौटी है। कोई राष्ट्र कितना उन्नत है और सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की दृष्टि से कितना सुदृढ और व्यापक है, यह समझने के लिए इतना जान लेना काफी है कि राष्ट्र विशेष में शिक्षा की व्यवस्था कहाँ तक समानता के सिद्धांत पर आधारित है। जिस देश में प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति और योग्यता के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर सकता है, मेरी राय में उसी देश को समानता का दावा करने का अधिकार है।

इस क्षेत्र में आपकी संस्था ने और अन्य गुरुकुलों ने जो काम किया है, वह राष्ट्रीय महत्त्व का है। जब मैं यह देखता हूँ कि इस गुरुकुल की स्थापना और सचालन के पीछे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का विद्या-अनुराग और लोकहित की भावना है तो मेरी दृष्टि से इस काम का महत्त्व और भी बढ जाता है। संभवतः यही कारण है कि वर्षों तक किसी तरह की सरकारी सहायता के बिना और आवश्यक साधनों के अभाव में भी आप लोग शिक्षा को बराबर आगे बढाने में कामयाब रहे हैं।

इस अंचल की जनता पर मैं स्पष्ट गुरुकुल की शिक्षा-दीक्षा की छाप देखता हूँ। इसी प्रकार की विशुद्ध भारतीय शिक्षा-प्रणाली ने हमें अनेक नेता और विचारक दिए हैं, जिनमे सर्वप्रथम मैं स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को मानता हूँ। उनकी शिक्षा किसी औपचारिक ढंग के स्कूल या कॉलेज में नहीं हुई थी। इसी प्रकार की शिक्षा पानेवाले और बहुत से कार्यकर्ता हैं जो मन्त्रिमंडलों में या लोकसभा और विधानसभाओं में कार्य द्वारा देश की सेवा कर रहे हैं। इसलिए इस शिक्षा की उपादेयता और कुछ क्षेत्रों में इसकी सफलता से कोई इनकार नहीं कर सकता।

यदि इस अवसर पर मैं शिक्षा के माध्यम की समस्या पर कुछ कहूँ तो असगत न होगा। शिक्षा का विशेषकर प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा का, जितना गहरा सबंध व्यक्ति के बौद्धिक विकास से है, उतना ही उसकी मातृभाषा से है, इसलिए प्रारंभिक और माध्यमिक स्तरों पर कोई भी शिक्षा की ऐसी योजना वैज्ञानिक या उचित नहीं कही जा सकती जिसमें मातृभाषा को माध्यम का स्थान न दिया गया हो। फिर भी दूसरी भाषाओ को सीखने की विद्यार्थियों की क्षमता अद्‌भुत होती है और जब विभिन्न भाषाएँ एक ही परिवार की हों और उनमें कुछ मूलभूत समानताएँ हों, तो यह काम और भी सहज हो जाता है। मैं समझता हूँ, यही कारण है कि भारतीय सरकार ने मातृभाषा के माध्यम से प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा के सिद्धात को अपनाया है और विद्यार्थियों द्वारा एक दूसरी भारतीय भाषा पढने पर जोर दिया है। इसी से आशा की जाती है कि एक दिन ऐसी भाषा होगी जो सभी विद्यार्थी जान सकेंगे। इसी भाषा अर्थात् हिंदी को अखिल भारतीय अथवा राष्ट्रभाषा का नाम दिया गया है। वास्तव में इस व्यवस्था पर किसी

को आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि राष्ट्रभाषा का उपयोग सीमित क्षेत्र में होगा और प्रादेशिक भाषाओं के अधिकारों पर वह अतिक्रमण नहीं करेगी।

खेद की बात है कि यह सब होते हुए भी राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर कुछ भ्रांतियाँ अभी भी फैली हैं, किंतु मैं समझता हूँ, यह विषय है ऐसा जिसे हमें केवल तर्क से सुलझाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। पारस्परिक सहानुभूति और राष्ट्रीयता की उदार भावना से हमें इस समस्या को सुलझाना चाहिए। अहिंदी क्षेत्रों में कुछ लोगों का रुख चाहे कैसा ही हो, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि हिंदी के पठन-पाठन की व्यवस्था सभी राज्यों में की गई है। जिस प्रकार अहिंदी क्षेत्रों के विद्यालयों, खासकर विश्वविद्यालयों में हिंदी को स्थान दिया गया है, मेरी राय में उसी प्रकार हिंदीभाषी राज्यों के विश्वविद्यालयों में भी यदि सभी नहीं तो प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं के अध्यापन का प्रबंध होना चाहिए। इस दिशा में यदि गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय दूसरी संस्थाओं का नेतृत्व करे और अपने पाठ्यक्रम में प्रादेशिक भाषाओं को अपने विषयों के समान स्थान दे सके, तो राष्ट्र का व्यापक हित पूर्ण होगा। मैं समझता हूँ यह व्यवस्था गुरुकुल की परंपराओं के अनुरूप होगा। कम-से-कम उत्तरप्रदेश में आपके नेतृत्व का व्यापक प्रभाव पडेगा और भाषा संबंधी विवाद की जटिलता में आपसे कमी होती जाएगी। आपसी सपर्क और सद्भावना का मूलमंत्र केवल व्यक्तियों के समस्त झगडों को सुलझाने मे ही कारगर नहीं होता—भाषाओं के विचार को दूर करने में भी यह रामबाण सिद्ध हो सकता है, ऐसा मेरा विचार है। इसलिए यदि गुरुकुल कांगड़ी प्रादेशिक भाषाओ के पठन-पाठन को अपने पाठ्यक्रम का विशेष अग बनाए और इस दिशा में देश भर के विश्वविद्यालयों का मार्गदर्शन करे, तो यह इस संस्था और राष्ट्र के लिए गौरव की बात होगी।

देश की जो आज हालत है, उसके बारे में और सुरक्षा की समस्या के सबध में कुछ शब्द कहकर मैं अपना भाषण समाप्त करूँगा। भारत शातिप्रिय देश है। स्वाधीन होने के बाद से हमने यदि किसी बात पर अधिक से अधिक जोर दिया है, वह संसार में शांति बनाए रखने की बात है। हमारी घरेलू नीति और विदेश नीति का ही प्रमुख आधार शांति में हमारा विश्वास रहा है। कुछ लोगों की आलोचना सहते हुए और थोड़ा खतरा उठाते हुए भी हम अमन की नीति कायम कर रहे हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारे दो पड़ोसी देशों ने इस नीति को शायद हमारी दुर्बलता समझा। इसी कारण ये दोनों देश हमसे विलग होते गए और भारत विरोधी षड्यंत्र में दिलचस्पी रखने के कारण आपस में गहरे मित्र हो गए। उनकी मित्रता से हमें कोई द्वेष नहीं। हाँ, हम उन्हें यही बताना चाहते हैं कि किसी भी तरह के झूठे दबाव में आकर भारत उनसे डरनेवाला नहीं है। पाकिस्तान तो इस बात को अपने अनुभव से समझ गया है। अच्छा हो, चीन भी इस बात को जान

ले। इस बीच हम अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए पूरी तरह तैयार रहेंगे, अपने उत्पादन के साधनों को उन्नत करेंगे और हर प्रकार की कुर्बानी करने के लिए तैयार रहेंगे।

हमारी इस दृढ़ता और संकल्प के आधार देश के नौजवान हैं। उन्हीं का साहस हमारी हिम्मत है और उन्हीं का बलिदान राष्ट्र का सहारा है। मुझे आशा है, आप सब लोग, जिन्होंने इस संस्था में पढ़ते समय राष्ट्रीयता का व्यावहारिक सबक सीखा है, अपनी जिम्मेदारी को समझने और साधारण नागरिक के रूप में या देश की सैन्य सेवाओं में भर्ती होकर सुरक्षा के काम में पूरा सहयोग देंगे।

मुझे बहुत खुशी है कि यहाँ आप सब लोगों से मिल सका हूँ। विश्वविद्यालय को देख सका हूँ। स्नातकों को आज उपाधियाँ पुरस्कार मिले हैं, उन्हे मैं अपनी ओर से शुभकामनाएँ भेंट करता हूँ। मेरी हार्दिक कामना है कि आप दिनोदिन आगे बढे और साक्षरता प्रसार के रचनात्मक कार्यों मे बराबर योगदान देते रहे।

[सन् 1966]

समता पर आधारित समाज की रचना के लिए मूल्यनिष्ठ समान शिक्षा आवश्यक

बाबू जगजीवनराम

हमारे देश में रिफारमेशन-सुधारवाद की ऐतिहासिक क्रिया उपनिषद्कारों से आरभ होकर, भगवान बुद्ध से, संत मतो से, महर्षि दयानद से, अग्रसारित होती रही। 'रिनेसाँ' (परिवर्तन) राममोहन राय से आरभ हुआ। लेकिन भारतीय मानस की अद्भुत चित्रांकन पीठिका ने, जिस पर नई रेखाएँ उगती हैं मगर पुरानी मिटती नहीं, जैसे सब विरोधाभास को आत्मसात् कर दिया। न्यायशास्त्र का विकास और उत्कर्ष के सिद्धातो का, यह तकाजा है कि विचारों के सघर्ष और मथन के बाद जब एक उच्चतर विचार, एक उच्चतर सत्य उद्भूत हो तो वह पूरी तरह, उन पुरातन विचारों की, उन सापेक्ष्य सत्यों की, जिनकी निस्सारता सिद्ध हो चुकी हो, जगह ले ले। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इतने ऊँचे विचारो के हम जनक, इस छोटे से सत्य को भी ग्रहण नहीं कर पाते कि जो निस्सार और असत्य सिद्ध हो गया, उसका हम त्याग तो कर दे। सभवत उपनिषद् और बुद्ध के विचार समय से बहुत आगे थे। लेकिन आज का समाज तो तमाम रूढियो को त्याग इन उच्चादर्शों का अनुसरण करने का प्रयत्न कर सकता है।

'रिफारमेशन', विशेषत 'रिनेसाँ' ने तो यूरोप के मानस की काया पलट कर दी थी। पुरानी रूढ़ियों, पुराने सस्कार बह गए और जिस प्रकार बाँध के टूटने पर जल की धारा शतशत प्रवाहों में प्रपात की तरह फूट पडती है, मानव की सृजनात्मकता सहस्रमुखी हो प्रवाहित हो चली। नई सवेदनाएँ जगीं। विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला--सबको नई गति, नई दिशा मिली। नैतिक तथा बौद्धिक सस्कारो में परिवर्तन आया। सामाजिक रीतियो-पद्धतियो के नए मूल्याकन हुए। जीवन के हर क्षेत्र मे एक नया स्फुरण आया। यह यूरोप का नया जन्म था। फिर 'पूर्व' के यूरोप मे लौटना नहीं था। लेकिन 'रिनेसाँ' की यह विशिष्टता रही कि उसने नए का एक अटूट सबध पुरातन से जोड लिया। 'ग्रीक' और 'लैटीन' साहित्य के पठन-पाठन को एक नया वेग मिला। बौद्धिक और आत्मिक स्वतत्रता के नए अन्वेषको ने अपने क्लासिकी अध्ययनो के प्रकाश मे इतिहास में एक नई

शृखला और मानव स्वभाव में एक नई समानता पाई। जहाँ एक ओर उन्होंने अपने प्राचीन ग्रंथों को एक नए अभिमान से संसार के समक्ष रखा, वहाँ उन्होंने मध्ययुगीन रूढ़ि-निष्ठा तथा शास्त्र-पूजा को, मानवीय प्रतिष्ठा के लिए घातक, अदृश्य, मानसिक बधन बतलाया। उन्होंने घोषणा की कि मुक्ति-पथ पथिक मानव अपनी अंतहीन यात्रा में किसी बाधा को स्वीकार नहीं करेगा। वह हर मान्यता की समीक्षा किसी पूर्व-स्थापित घोषणा या रूढ़ि के अधीन होकर नहीं, चाहे वह कितनी ही पवित्र हो, बल्कि अपनी अंतर्निहित न्यायवृत्ति के प्रकाश में करेगा। वह स्वीकार नहीं करेगा कि दृश्यमान जगत अदृश्य का प्रतीक मात्र है कि लौकिक जीवन पारलौकिक जीवन की भूमिका मात्र है, कि पूर्वस्थापित रूढ़ियों-मान्यताओं में कोई रहस्यमय पवित्रता है। देवत्व इन रूढ़ियों में नहीं, उसके अतर में है, उसकी न्यायवृत्ति के ज्योतिर्मय प्रकाश में है, उसकी सच्चिदानदमयी नैसर्गिक वृत्ति में है।

लेकिन मानसिक तथा सामाजिक क्राति की जो क्रियाएँ हमारे देश में आरंभ हुई, वह आज तक पूरी नहीं हो पाई। नवजागरण की चेतना सस्कृति की शुद्धता को बचाने के प्रयास में खो गई। जो धारा राममोहन राय ने बताई, वह कुछ दूर तक जैसे बालुकाराशि पर चलकर सूख गई। वह चेतना और सृजनात्मकता की, यूरोपीय 'रिनेसाँ' की तरह, शतमुखी धारा न बन सकी। संस्कृति की कल्पित शुद्धता को बचाने के नकारात्मक प्रयास ने अततः राष्ट्रीय पुनरुत्थान का रूप लिया। पश्चिम के प्रति संशय बढा। इस वृत्ति की परिणति अंततः उस प्रतिगामी आदर्श में हुई है जो हिंदू राज्य की प्रतिष्ठा व्यक्त परमात्मा के रूप में करके समष्टि के लिए व्यक्ति के बलिदान की माँग करता है। यह संपूर्णतया फासिस्ट आदर्श है लेकिन कम्युनिज्म की तरह जनतात्रिक अवसरों का उपयोग वह जनतंत्र के अत के लिए करना चाहता है। गाँधीजी ने लिबरल और हिदू दोनों ही आदर्शों के समन्वय का प्रयास किया था और बहुत हद तक सफल भी हुए थे—यद्यपि अपना बलिदान भी उन्हे इसी सदर्भ में करना पडा। आज ये दोनो धाराएँ फिर टकरा रही हैं। एक उन मूल्यों से नि:सृत है, जो मानवीय स्वतत्रता की आधारशिला है। दूसरा, कतिपय उच्चकुलीय व्यक्तियों का स्वप्न है।

सच्चाई लेकिन यह है कि हर प्रकार के मूल्यों से हमारा जीवन प्रायः रिक्त हो गया है। रह गया है केवल विधि-विधानो का खोखलापन, उनकी निष्प्राणता, उनकी यात्रिकता। मूल्यों और आस्थाओ के बिखर जाने से हमें एक नई स्थिरता की तलाश हुई है और कुछ नहीं मिला तो जाति की गिरती दीवारों से ही हम चिपक गए हैं। यही कारण है कि आज जातिवाद का इतना जोर है। एक भारतीय राष्ट्रीयता को एक भारतीय समाज का आधार होना चाहिए। आज भारतीय राष्ट्रीयता निराधार हो रही है। इसलिए कि उसका आधार एक भारतीय समाज, अभी वजूद में आने को है। मस्तिष्क बहुतों का एक भारतीय समाज की अनिवार्यता को मानता-समझता है। परंतु भावनाएँ जाति से उलझी हैं। इसीलिए जाति पहले आती

है, गणतंत्र पीछे घिसटता चलता है। विचारों के धुँधलेपन का यह हाल है कि हम नारे जनतांत्रिक समाजवाद के लगाते हैं और समाजवादी क्रांति का नेतृत्व उनके हाथों में देना चाहते हैं जिनका आज भी स्थापित व्यवस्था में 'निहित स्वार्थ' है। आज भी संविधान में नागरिकों को समानता के प्रतिष्ठित होने के बाद भी, क्या समाज का एक बड़ा हिस्सा मानवीय अधिकारों से वंचित नहीं है ? क्या आज भी समाज के दबे-पिसे लोगों में आई नवजागरण की चेतना को देखकर कितनों को घबराहट नहीं पैदा होती ? बड़े-छोटे का, ऊँच-नीच का भाव, क्या आज भी उनके दिलों में नहीं है ? यह भाव हमारे हृदयों के उन अदृश्य तथा गूढ़ स्थलों में है जहाँ से हमारे व्यवहारों का निर्माण होता है। यह भावना हमारे मज्जागत संस्कार में है। जन्म और जाति के आधार पर सामाजिक शृंखलाबद्धता की व्यवस्था सड गई है, इसकी उपादेयता जाती रही है। यह आज के जीवन का सबसे घिनौना कोढ़ है। इस कोढ़ को, इस असत्य और प्रवंचना को, हम अंतरतम का सत्य मानकर पालते जा रहे हैं। ऐसी मानसिक दासता के पाश में बँधे गुलाम, आजाद कैसे हो सकते हैं ? यह दासता छोटों को तो गिराती ही है, तथाकथित बड़ों को भी गिराती है। जातिवाद, जनतत्र और समाजवाद, साथ-साथ नहीं चल सकते। जातिवाद धर्म भावना नहीं है। मानव की मानवता में आस्थाविहीन धर्म-भावना, प्रवंचना है। मानव के तिरस्कार को जीवन का अंग बनाकर, गो-वध को रोकने का प्रयास या चींटी को शक्कर खिलाने की दयालुता, धर्म कदापि नहीं हो सकता। इस प्रवंचना और विडंबना का अंत कौन नहीं चाहेगा ? लेकिन इसका अंत तो तभी संभव है जब सामाजिक जागृति की क्रिया बेगवती हो, जब विचारों की एक महाक्रांति सारे देश के जनमानस को आंदोलित कर दे, जब हम अपनी समाज-व्यवस्था को मानवीय मूल्यों के अनुकूल ढालें। अपने नित के जीवन में इन्हीं मानवीय मूल्यों को उतारें। यदि हमारी चिंतन-प्रणाली बदली, हमारे मूल्य और हमारी मान्यताएँ बदलीं, हमारा समाज और हमारे समाज-आदर्श बदले, तभी हमारे गणतंत्र और समाज में एकात्मकता का सबंध होगा और तब जनतंत्र की जड़ें इस नवीन समाज की आत्मा तक पहुँचकर उससे पोषक तत्त्व ग्रहण कर सकेंगी, नहीं तो हमारे गणतत्र का भवन कितना ही मोहक क्यों न हो, उसकी नींव कच्ची रहेगी।

गाँधीजी की अर्थनीति मूलतः मानवीय मूल्यों पर आधारित थी, केवल मानव-सुख की परिकल्पना पर नहीं। परिकल्पना उनकी मानव के सर्वतोमुखी सर्वांगीण विकास की थी। वह पूँजीपति को न्यासी कहते थे। उपेक्षित श्रम को सिंहासन पर बिठाना चाहते थे। अस्पृश्यता के विरोध में तो उन्होंने प्राणों की बाजी ही लगा दी थी। खादी, सादगी, शुचिता और श्रम के महत्त्व की प्रतीक बनी थी। रचनात्मक कार्यक्रम एक नए मानव की रचना का कार्यक्रम बना था। देश के नवयुवकों को गाँधीजी ने कहा था, "गाँवों की ओर चलो, वही भारत है, उन्हें अपना आचरण दो,

वक्तृता मत दो।" अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति अपनी ही उत्पादक शक्ति से करते हुए मनोहर मानवीय संबंधों में बँधे स्वस्थ तथा परिश्रमी ग्रामीण समाज का चित्र उन्होंने देश के समक्ष रखा था। राजसत्ता के विकेंद्रीकरण की बात करते हुए उन्होंने अर्थसत्ता के विकेंद्रीकरण को अनिवार्य बतलाया था। विद्या के संबंध में उनके अपने विचार थे और उनकी मान्यता थी कि मनोवृत्तियों का परिवर्तन तब तक नहीं होगा, जब तक विद्या अंग्रेजी के माध्यम से अर्जित होगी, और पूर्णतः अर्थकारी होगी। शायद आज का मानव ऐसी क्रांति के लिए प्रस्तुत नहीं है जिसके अंतर्गत मानवीय मूल्यों की सुरक्षा के लिए भौतिक आवश्यकताओं को सीमित किया जाए। समृद्ध देशों में सुख-सुविधापूर्ण जैसा जीवन है, वैसा ही जीवन उसे भी चाहिए। ढलाव की तरफ बहना, जिस प्रकार जल का धर्म है, सुख की ओर उन्मुख होना मानवीय वृत्ति है, तो गाँधीवादी क्रांति की योजना को स्वातंत्र्योत्तर भारत नहीं अपना सका। अपनाया उसने मुख्यतः जवाहरलालजी की प्रेरणा से, जनतांत्रिक समाजवाद का आदर्श। कुछ गाँधीवादी मूल्य जनतांत्रिक समाजवाद मे भी निहित हैं। परंतु, यहाँ आवश्यकताओ को सीमित करने का प्रश्न नहीं है। सबसे महत्त्व की बात गाँधीवाद की अपूर्णता और जनतांत्रिक समाजवाद की आधुनिकता के सबंध मे यह है कि लघु-उद्योगों पर आधारित पूर्णतः अहिंसावादी 'राज्य' तो उसी दुनिया मे टिक सकता है जहाँ 'युद्ध' न हो। जनतांत्रिक समाजवाद तो आज के युग का ही आदर्श है।

जो हो, इस ध्येय को देश ने सहर्ष स्वीकार किया। अर्थव्यवस्था का आयोजित विकास आरभ हुआ। लेकिन 200 वर्ष पहले की वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्रांति भारत को ऐतिहासिक कारणो से जैसे अछूती छोड गई थी। भारत और विकसित राष्ट्रो के बीच जीवन स्तर मे इतना बडा अतर आ गया था कि पूँजी के निर्माण और उसके उद्योगों में लगने की क्रिया अनिवार्यत धीमी रही है। बाहरी सहायता से भी स्थिति बहुत नहीं बदली है। एक नहीं, अनेक कठिनाइयाँ हैं। न भारतीय समाज का एकीकरण हो पाया है, न राष्ट्र का एकीकरण। कितनी दूरियाँ हैं। कितने विभेद हैं। जाति-जाति मे भेद। 3000 से अधिक सूचीगत जातियाँ-उपजातियाँ हैं। तरह-तरह के धर्म, आचार-व्यवहार, विश्वास और आदर्श हैं। सपन्न निर्धन के बीच, शिक्षित-अशिक्षित के बीच, लंबी दूरियाँ हैं। विधान संघीय है, सघीय होना ही था। बहुदलीय पद्धति है। यह अनिवार्य नहीं था। आधुनिक कारखानों और परपरागत कृषि को साथ-साथ चलाने के प्रयत्न हैं। जो पुराने मूल्य, भारतीय समाज के थे, उनका ह्रास हो रहा है। नए मूल्य और सामाजिक दायित्व की नई भावना उनकी जगह नहीं ले रहे हैं। मूल्यों का शून्यक उपस्थित हो गया है। समाज बिखर-सा रहा है। हड्ताल, असंतोष, अराजकता, सार्वजनिक संपत्ति के प्रति अत्यंत निरादर की भावना, भ्रष्टाचार, सांप्रदायिक तनाव, विद्यालयों में अनवरत हलचल—ये सब एक सकट की स्थिति के द्योतक हैं। हर संकट की स्थिति में बडे और क्रांतिकारी

परिवर्तनों के बीज बोते हैं। लेकिन, यह अनिवार्य नहीं कि परिवर्तन की गति, प्रगति की ओर हो। विनाश की ओर भी हम गिर सकते हैं। यदि हम चेते नहीं, तो मुझे ऐसा लगता है कि संकट की स्थिति से विष निकले तो निकले, अमृत के निकलने की आशा नहीं है।

जनतंत्र में चूँकि व्यक्ति स्वयंसाध्य है, साधन नहीं, इसलिए समाजवादी परिवर्तन की इस क्रिया में, आपके योग का यह तात्पर्य नहीं है कि आपका विकास अवरुद्ध हो, शिक्षा के मूल्यों में कोई कमी आए। हम तो शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास समझते हैं। लेकिन समाज भी जब तक इसी उद्देश्य से संगठित न हो, शिक्षा के प्राथमिक उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं है। आज समूहबद्ध टुकड़ियों, यानी जातियों का, कोई राष्ट्रीय आदर्श नहीं है, केवल स्वार्थ है। आज यह चेतना नहीं कि सार्वदेशिक राष्ट्रीय भावना कोई अमरबल्लरी नहीं है जो बिना जड़ों के द्वारा, पोषण ग्रहण किए पल्लवित-पुष्पित होती रहे।

क्या भोंडी नकल की है हमने अंग्रेजियत की ? इंग्लैंड में पब्लिक स्कूल प्रणाली है तो यहाँ भी पब्लिक स्कूल प्रणाली आई। रूस में पब्लिक स्कूल प्रणाली नहीं है। जापान में यह पद्धति नहीं है। फ्रांस, अमेरिका आदि की शिक्षा-व्यवस्था भी अलग है। परंतु चूँकि इंग्लैंड में थी और हम इंग्लैंड के दास थे, इसलिए यहाँ भी आ गई। आखिर पब्लिक स्कूल की क्या जरूरत है ? मैं कहना केवल यह चाहता हूँ कि हम प्राइमरी और सेकेंडरी स्कूलों से ही, जितने छोटी आयु के, परतु अत्यंत संवेदनशील बच्चे पढ़ते हैं, पृथकता बरतें, अधिकांश बच्चे बिना फीस या कम फीसवाले सरकारी या दूसरे जैसे-तैसे स्कूलों में पढ़ें, और थोड़े से मध्यम तथ ऊँचे वर्गों के लड़के, ऊँची फीसें देकर, अच्छे किस्म के प्राइवेट स्कूलों में पढ़ें, हमने आरंभ से ही अलगाव के बीज बोए, फिर एकीकरण की कामना करें, यह विडम्बना नहीं तो और क्या है ? अवसरों की समानता तो जनतंत्र की आत्मा है। मिट्टी की ढिबरी या लालटेन के धुक-धुक धुँधले प्रकाश में, गंदे सँकरे, धुएँ और कोलाहल से भरे वातावरण में, विद्यार्जन में लगे एक प्रतिभाशील बच्चे को, उस लड़के के मुकाबले में, जो शांत, शिष्ट मनोभावन, सुखद, वातावरण में, एक अच्छे पब्लिक स्कूल में पढता हुआ विद्यार्जन करता है, हम क्या अवसर की समानता दे रहे हैं ? यदि सब योग्य बच्चों को उनकी दि[illegible] योग्यता के आधार पर पढ़ाई की समुचित सुविधा उपलब्ध नहीं कराई जा सकती, यदि अच्छी पढ़ाई केवल पैसे से ही खरीदी जा सकती है, और उन्हीं को प्राप्त हो सकती है जो मोटी फीसें दे सकते हैं, तो यह मानना होगा कि हम अपने जनतंत्रात्मक और समाजवादी समाज में सुविधा को स्थायित्व दे रहे हैं, उच्चकुलीयतंत्र की स्थापना कर रहे हैं, विभाजन और विलगाव की भावना बराबर के लिए पैदा कर रहे हैं। शैक्षणिक अवसरों की समानता समाजवादी जनतांत्रिक समाज की पहली कसौटी है। रहे पब्लिक स्कूल, उनके बच्चों के लिए जो मोटी फीस दे सकते हैं लेकिन उन सब

बच्चों को, जो योग्य हों, उसी स्तर की अच्छी शिक्षा साथ-साथ सुलभ होनी चाहिए, चाहे वे किसी समुदाय, धर्म, सप्रदाय, जाति के हों, चाहे उनके माँ-बाप की आर्थिक स्थिति कैसी भी हो, और ऐसी शिक्षा निःशुल्क दी जानी चाहिए। फिर पृथक्करण और विलगाव की जडें कट जाएँगी, सुविधा-प्राप्त वर्गों का एक दूसरा भारत, छोटे, भावनाशील बच्चों की दृष्टि के समक्ष नहीं आएगा।

आज शिक्षा का बड़े वेग से विस्तार हो रहा है। रोज ही कोई-न-कोई स्कूल या कॉलेज खुल रहा है। हमे जरा रुककर सोचना है कि इस विस्तार से देश का, शिक्षार्थियो का, किस तरह का और किस हद तक कल्याण होना है ? आजादी के इतने वर्षों के बाद भी शिक्षा की पद्धति मूलतः वही है जिसका प्रादुर्भाव ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हुआ था। जनजीवन की, शिक्षार्थियो के अपने जीवन की, माँग कुछ और है। शिक्षा के विषय कुछ और हैं। भारतीय जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं : कृषि के उत्तरोत्तर विकास पर आधारित उद्योग का विकास, नई वृत्तियो और नए दृष्टिकोणो की स्थापना और उनका पोषण, सास्कृतिक क्राति या 'रिनेसॉ' की क्रिया की पूर्ति। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अध्ययन के विषय क्या होगे, शिक्षण की पद्धति क्या होगी, शैक्षणिक कार्यक्रमो का सगठन क्या होगा ? इन सब पर विचार करना आवश्यक है। शिक्षा आयोग ने बडे महत्त्व का कार्य इस दिशा में किया है। उचित तो यह है कि आयोग का प्रतिवेदन हर स्कूल, हर कॉलेज, हर विश्वविद्यालय में मनन किया जाए। हमारे प्राध्यापक, आचार्य, शिक्षाविद्, ससद सदस्य इस पर विचार करे और शैक्षणिक क्राति की एक ऐसी योजना कुछ महीनो के अदर बनाई जाए जो शिक्षा की प्रकृति मे आमूल परिवर्तन लाए। शिक्षा की प्रकृति को बदले बिना शिक्षा का विस्तार किसी भी दृष्टि से वाछनीय नहीं है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति मे कोई भी अच्छाई नहीं है और जब मैं शैक्षणिक क्राति की, शिक्षा-पद्धति मे आमूल परिवर्तन की, बात करता हूँ, तो तात्पर्य केवल इतना है कि एक नई दृष्टि से शिक्षा का मूल्याकन किया जाए। मैं अग्रेजी भाषा का भी विरोध नहीं कर रहा हूँ। हर भाषा की अपनी विशेषता होती है। भाषा का विरोध क्या ? प्रश्न तो इतना ही है कि सारे ससार के शिक्षाविदो में जो यह मत रहा है कि शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जानी चाहिए, उसे आजादी के इतने साल बाद भी, हम कार्यान्वित नहीं कर पाए हैं। 1916 से लेकर 1966 तक के, कितनी समितियो और कितने आयोगो ने, यह सिफारिश की है कि शिक्षा का माध्यम, मातृभाषा हो और अग्रेजी एक विदेशी भाषा के रूप मे पढी जाए। त्रिभाषा-सूत्र में मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा, अग्रेजी का एक विदेशी भाषा के रूप में अध्ययन, और अहिंदी क्षेत्रों में राष्ट्रभाषा हिंदी की जानकारी, संघीय भाषा के रूप में अर्जित करना है। हिंदी क्षेत्रों मे एक प्रादेशिक भाषा की जानकारी प्राप्त करना वाछित है।

मुझे यह कहते दुख होता है कि देश के कितने ही विद्वानो के हृदय में हिंदी

की समर्थता के बारे में आज भी संशय है। हिंदी वह गंगा है जो संस्कृत के मानसरोवर से निकल गाँवों और नगरों से होकर बहती है। कितनी भाषा सरिताएँ उसमें आकर मिली हैं। कभी यह पूर्व में पूर्वी के नाम से विख्यात हुई तो कभी दक्खिन में दक्खिनी के नाम से। किसी जाति विशेष की कभी यह भाषा नहीं रही। किसी क्षेत्रीय संस्कृति से यह नहीं बँधी। फिर भी अन्य सहोदर भाषाएँ सशंकित हुईं। उनकी शंकाएँ निराधार थीं। लेकिन शंका हो ही जाए तो उसके मूल कारण का उपचार होना चाहिए, चिन्हों का नहीं। इसलिए, मैंने इस बात पर जोर दिया कि लोकसेवा आयोग की परीक्षाएँ भारत की हर राजभाषा में हों। हमने तो हर क्षेत्रीय भाषा की समृद्धि की पृष्ठभूमि में ही हिंदी की उन्नति और प्रगति की कामना की है। तमिल तमिलनाडु में, बंगाली बंगाल में, तेलुगु आंध्र में, कन्नड मैसूर में, मलयालम केरल में, पंजाबी पंजाब में, अंग्रेजी की जगह ले ले, तो हिंदी को भी उसकी जगह स्वयं मिल जाएगी। रहा उच्च शिक्षा का प्रश्न। वह भी क्षेत्रीय भाषा में दी जानी चाहिए। उच्चस्तरीय शिक्षा, क्षेत्रीय भाषा में नहीं दी जाएगी, तो लोकसेवा आयोग की परीक्षाओं में अपनी मातृभाषा के माध्यम से अभ्यर्थी सम्मिलित कैसे होंगे ? यह दूसरी बात है कि हिंदीभाषी क्षेत्रों के सभी विश्वविद्यालय एक हों, हिंदी को सब प्रकार समृद्धशाली बनाएँ, हिंदी के माध्यम से दी जानेवाली उच्चशिक्षा का स्तर इतना ऊँचा करें कि वह आप-से-आप सबको आकर्षित करे। यूरोप में तो इतनी भाषाएँ हैं, लेकिन 'फ्रेंच' भाषा को प्राथमिकता क्यों मिली ? भारत के विद्यार्थी विभिन्न विषयों की शिक्षा के लिए बाहरी विश्वविद्यालयों में क्यों जाते हैं ? यह हिंदी की न्यूनता है, उसकी कमजोरी है। जितने विश्वविद्यालय हिंदीभाषी क्षेत्रों में हैं, उतने और किसी भाषायी क्षेत्र में नहीं हैं। यदि इन सब विश्वविद्यालयों के कुलपति मिलकर, विशेष विश्वविद्यालयों मे, विशेष अध्ययनों और अन्वेषणों की व्यवस्था करें और अध्ययन और गवेषणा का स्तर इतना ऊँचा रखें कि उन विषयों के अध्ययन के लिए अन्य भाषा-भाषी हिंदी सीखकर यहाँ जाएँ, तो न केवल हिंदी का वरन् देश का भी कल्याण होगा। प्रत्येक विश्वविद्यालय में प्रत्येक विषय की व्यवस्था संभव तो है लेकिन हर विषय में, पठन-पाठन-शोध का मानक इतना ऊँचा हो कि वह औरों को भी अपनी ओर खींच सके, यह शायद अभी संभव नहीं है।

एक बात हमें ध्यान में रखनी है। ऊँचे मानवीय मूल्य किसी देश के जीवन में, कहीं से, किसी मार्ग से आएँ—मलिन नहीं होते। उन मूल्यों का ह्रास नहीं होता। तकनीकी ज्ञान, आधुनिक विज्ञान, वर्तमान भारतीय विधि, वर्तमान चिकित्सा पद्धति और कितने ही मानवीय मूल्य इसलिए अग्रहणीय नहीं हैं कि वे अंग्रेजी के माध्यम से आए जो विजेताओं की भाषा थी। इसी प्रकार जनतांत्रिक समाजवाद के जिस आदर्श में, फ्रांस और रूस की क्रांति की, इंग्लैंड में जनतंत्र के विकास की, जो बहुत-सी धाराएँ हैं, उन्हें एक बाहर का मूल्य नहीं, भारत की वर्तमान संस्कृति का एक अंग समझकर, अंगीकृत करना है।

आपमें अपार जीवन है, संवेदनशीलता है, कर्मठता है। मुझे दुख होता है जब आपकी ऊर्जा और शक्ति की धारा को बालुकाराशि पर बिखरते हुए देखता हूँ। इस शक्ति की सहायता से उस महान् मानवीय क्रांति को सफल बनाया जा सकता है जिसका नारा है—"मनुष्य ही सबकुछ का माप है।" इस शक्ति से देश की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परपराओं में एक नए बोध का स्पदन लाया जा सकता है। इस शक्ति से चेतना की एक ऐसी लहर निःसृत हो सकती है जिससे भारत में नवजीवन आ जाए। देश की इस अमूल्य निधि को आप यो व्यर्थ नष्ट न करे। यह सृजन की शक्ति है। इसे सृजन में लगाएँ। विचारो की महान् क्राति के आप अग्रदूत बने। आप भारत की, अन्य देशो की, सारे मानवता की, सस्कृति के उत्तराधिकारी हैं। आप अपने इस दायित्व को निभाएँ।*

[सन् 1972]

* ससद सदस्या श्रीमती डॉ मीरा कुमार के सौजन्य से प्राप्त भाषण।

उद्देश्यपूर्ण शिक्षा

श्रीमती इंदिरा गाँधी
प्रधानमंत्री, भारत सरकार

आज का दिन केवल एक समारोह का ही नहीं है। आज इन युवा स्नातकों के जीवन ने नया मोड लिया है। आज से ये नई जिम्मेदारियाँ सँभालने जा रहे हैं। अभी तक आप दूसरों से कुछ प्राप्त कर रहे थे, आज से दूसरों को आपसे अपेक्षा होगी। विद्यार्थी जीवन एक तैयारी की अवस्था है। समाज का युवा लोगों के प्रति शिक्षा देने का दायित्व है। स्कूल और कॉलेज की शिक्षा समाप्त करने के बाद पढ़े-लिखे नवयुवकों का समाज के प्रति एक कर्तव्य हो जाता है। यह कर्तव्य है अपने अर्जित ज्ञान और कौशल को समाज की सेवा में लगाना।

कभी-कभी अखबारों मे नवयुवको में फैले असतोष, उनकी हडतालों और अनशनों, सीधी कार्यवाही और झगडों की खबरें आती हैं। एक हद तक यह असंतोष युवकों की गतिशीलता का द्योतक है, उस हद तक मैं इस भावना का स्वागत करती हूँ। लेकिन कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हमारे युवा लोग सत्ता के अस्तित्व के विरोधी हैं। यह विरोध विकास की एक अवस्था है या एक प्रवृत्ति ? हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि विद्यार्थियों के ऐसे विचार और व्यवहार क्यों हैं ?

इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक समझ का आज अभाव है। युवाओं और सत्ताधारियों के, चाहे वे सरकारी या सामाजिक पदो पर हैं, दृष्टिकोणों में नासमझी की एक खाई भी नजर आती है। यह बात भारत ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया के लिए सच है। किसी भी प्रकार की सत्ता के विरुद्ध युवा-वर्ग का विद्रोह और प्रतिक्रिया एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो वयस्कता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। लेकिन विद्रोह की भावना एक ऐसी शक्ति है जिसके दो रूप हैं . सकारात्मक और नकारात्मक। अपने सकारात्मक रूप में यह कुछ कर गुजरने की इच्छा बन जाती है। अपने समय के प्रति असंतोष ने ही लोगों को पुरानी समस्याओं के नए समाधान खोजने के लिए प्रेरित किया। इसी प्रवृत्ति ने सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक सुधारकों और शिक्षाविदों को जन्म दिया है। इसी से अतीत में नए क्षेत्रों की खोज हुई, आधुनिक समय में पर्वतारोहण और ऐसे दूसरे साहसिक कार्यों में यही प्रवृत्ति

मुखर हुई है। संशय और अस्वीकार की इसी भावना के कारण विज्ञान, औषध और दूसरे क्षेत्रों में नए-नए आविष्कार हुए हैं।

हमें एक प्राचीन संस्कृति विरासत में मिली है, जिसने हमें अपने लंबे इतिहास की अवधि में जीवित रखा है और हमें असंख्य दुख और मुसीबतें झेलने के लिए बल प्रदान किया है। इस सस्कृति के बहुत से आदर्श और गुण चिरंतन महत्त्व के हैं। लेकिन उन्हें आज के जीवन के लिए सार्थक बनाने के लिए हमें उनको बदलते रहना चाहिए। उन्हें उन थोथे अंधविश्वासों और व्यर्थ के रीति-रिवाजों से, जो सदियों से हमारी सस्कृति मे आ मिले हैं और खूब जम गए हैं, मुक्त करना चाहिए। आपको हमारे देश की परंपराओं और संस्कृति को अवश्य समझना चाहिए, क्योकि तभी आप यह जान पाएँगे कि इनमें से क्या आपको ग्रहण करना है, क्या छोडना है, क्या जीवनदायी है और क्या जड भार है ? आप यदि अपने देश और सस्कृति के नहीं हैं तो आप विश्व के भी नहीं हो सकते। अपनी जडों के कारण ही एक पेड का अस्तित्व है, जडें जमीन के अंदर होती हैं लेकिन पेड आकाश और सूर्य की ओर बढता है। इसलिए चाहे हमारी जडें भी अतीत मे हैं, हमें अपनी दृष्टि और कदम भविष्य की ओर उठाने चाहिए। मेरे मन में हमारी प्राचीन सभ्यता के प्रति आस्था है, वही आस्था आधुनिकता के लिए भी है, क्योकि आधुनिकता ने हमे विकास के अवसर का खुला राजमार्ग दिया है, सदियों पुरानी समस्याओं का समाधान पा सकना हमारे लिए सभव बना दिया है।

एक परिवर्तनशील समाज में प्रशासन सदा उतना सुव्यवस्थित नहीं होता जितना कि एक गतिहीन समाज मे होता है। अवसरों का जल्दी बढना भी विकास की ऐसी अवस्था है। कार्य-विशेष के लिए उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिलता। यहाँ मैं आदर्शों या मानकों के बारे में कुछ कहना चाहूँगी। किसी हद तक शायद हमारे मानक गिर गए हैं। हो सकता है, सख्या मे तेजी से वृद्धि होने के कारण औसत मानक गिर गया है। लेकिन ऐसा नहीं है कि प्रतिभावान व्यक्तियों की सख्या या गुणो मे कमी आई है। इसके विपरीत, सख्या में वृद्धि होने से प्रतिभावान लोग भी ज्यादा हो गए हैं। प्रतिभा जन्मजात नहीं होती बल्कि प्रशिक्षण से, साधना से मिलती है। जैसे-जैसे शिक्षा के अवसरों और बुनियादी चीजों की जानकारी मे वृद्धि हुई है, हमारे नवयुवको की प्रतिभा भी अधिक विकसित हुई है। हमारे अणु और जीव-शास्त्र के युवा वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री और डॉक्टर, इंजीनियर और कलाकार अन्य देशों के वैज्ञानिकों आदि से कम नहीं हैं। बहुत से भारतीय दुनिया के बडे-बडे विश्वविद्यालयो में शिक्षण कार्य कर रहे हैं और यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनमें से बहुत-से नवयुवक हैं। हमारे स्वतत्रता की प्रेरक शक्तियों में से एक यह थी कि हमें विदेशी शासन और तकनीकी पिछडेपन से पैदा हुई हीनभावना को मिटाना है। पुरानी विवशता की भावना की तरह वह हीनभावना भी अब खत्म हो रही है।

लेकिन यह आकांक्षा अधिकांशतः व्यक्तिगत ही रही है। लोग इसे आय, पद और प्रसिद्धि के रूप में ही आँकते हैं, सामूहिक या राष्ट्रीय आकांक्षा के रूप में नहीं। शायद यह हमारी शिक्षा-प्रणाली के किसी दोष के कारण है या हमारी वर्तमान सामाजिक संस्थाओं के परिणामस्वरूप। हमें नवयुवकों की शक्तियों का सदुपयोग करने के लिए और अधिक कार्य करना चाहिए। समाज-सेवा के लिए उत्सुक नवयुवकों की कमी नहीं है लेकिन दूसरे विकासशील देशों की भाँति हमने विद्यार्थियों के लिए समाज-सेवा की किसी योजना को अपनी शिक्षा-प्रणाली में स्थान नहीं दिया है।

हमारी समस्या यह है कि विश्व के ज्ञान का उचित उपयोग कैसे करें। सतत बढ़ते हुए ज्ञान से प्राप्त होनेवाली शक्तियों का सदुपयोग कैसे करें। हम शायद अपने वातावरण को अपनी इच्छानुसार नहीं ढाल सकते और जो कुछ घट रहा है उस पर भी काबू नहीं पा सकते, लेकिन घटनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओ पर काबू पा सकते हैं और हमें ऐसा करना भी चाहिए। यदि हम ज्यादा लोगों की भलाई को अपना उद्देश्य मान लें तो हम खुद अपनी मदद भी करेंगे। ऊँचे उद्देश्यों के साथ जुड़ने से अपना व्यक्तित्व भी ऊँचा उठता है।

हमारे सपनों का भारत वह है जहाँ गरीबी न हो, जहाँ राजनैतिक स्वतंत्रता, आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय का राज्य हो, ऐसे भारत का निर्माण करके हम जरूर शक्तिशाली हो जाएँगे, लेकिन इस निर्माण के लिए भी शक्ति की जरूरत है। हम अपने राष्ट्रीय और व्यक्तिगत जीवन का विकास चाहते हैं, लेकिन आजकल रक्षा और विकास एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। हमारी शक्ति का अर्थ हमारी बहादुर सेना की ताकत से नहीं लगाना चाहिए। हमारी शक्ति घरेलू शाति और व्यवस्था बनाए रखने में हमारी क्षमता, देश का उत्पादन बढ़ाने और अपने कौशल को और अच्छा बनाने में हमारी लगन और देश को शीघ्र आत्म-निर्भर बनाने के हमारे संकल्प पर भी उतनी ही निर्भर है, जितनी हमारे सैनिक बल पर। स्वतंत्रता की सीमाएँ तो आपके मानस पर अंकित हैं न कि नदी-नालों, पहाड़ों आदि के साथ। सारे देश में ऐसी ही प्रगति हो रही है और सामाजिक समानता का भाव फल रहा है। हताशा या पराजय के भाव के लिए कोई गुंजाइश नहीं।

अतः मैं आपको, आप लोग जो देश के निर्माता और पथप्रदर्शक हैं, आमंत्रित करती हूँ कि आप इस चुनौती को स्वीकार करें। किसी घाटी से उठती हुई धुंध से उदास मत होइए। आप उस उत्तुंग हिमालय की छाया में रह रहे हैं, जिससे कवियों, दार्शनिकों, खिलाड़ियों और संन्यासियों को प्रेरणा मिली है। मेरी यह कामना है कि यह आपके हृदय में देशप्रेम, हमारे देश के वैभव, गुणों, पुरानी उपलब्धियों और भविष्य के लिए निहित शक्तियों के प्रति आदर का संचार करे। जब आप यह सब बातें जानेंगे, तभी आप देश की सेवा कर पाएँगे। जीवन और

प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता के विषय में गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा है, "महान् मानव समाज, मुनाफाखोरों द्वारा नहीं, बल्कि स्वप्नद्रष्टाओं द्वारा रचे जाते हैं।" मैं कामना करती हूँ कि आप साहसी, संकल्पशील और अध्यवसायी बनें ताकि आप अपने सपनों को साकार कर सकें।*

[सन् 1973]

---

* प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने मौखिक भाषण किया था। उनका यह भाषण अन्यत्र प्रकाशित हुआ है। गुरुकुलीय स्नातकों के मार्गदर्शन के लिए आधुनिक संदर्भ में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

गुरुकुल : एक देशोद्धारक संस्था

•

न्यायमूर्ति श्री एच. आर. खन्ना

माननीय कुलाधिपति महोदय, आदरणीय कुलपतिजी, प्राध्यापक वर्ग, भद्र आर्य पुरुषो, महिलाओ और प्यारे नवस्नातको !

गुरुकुल कांगडी के दीक्षांत समारोह में मुझे भाग लेने का अवसर दिया गया है उसके लिए मैं बहुत आभारी हूँ। गुरुकुल कांगड़ी देश को स्वामी श्रद्धानंदजी की देन है। स्वामी श्रद्धानंदजी जिनका पहला नाम मुंशीरामजी था, उन्होंने महर्षि दयानंदजी की मृत्यु के बाद आर्य-समाज का बीड़ा अपने हाथों में लिया। यह बीड़ा बहुत भारी बीडा था। महर्षि दयानंद भारतवर्ष के उच्चकोटि के समाज-सुधारक और धार्मिक नेता था। महर्षिजी ने हमको एक नई रोशनी दी और हमारे अंदर सत्य और ज्ञान की जो अनादि और अनंत हैं, और जिससे वेदों के पृष्ठ भरे हुए हैं, उनकी जागृति पैदा की। महर्षिजी ने भारतीय समाज के अदर जो त्रुटियाँ आ गई थीं, और जो घुन की तरह हमें अंदर से खा रही थीं, उनको खत्म करने के लिए भीष्म-युद्ध चलाया। छुआछूत, बालविवाह, विधवाओं के विवाह पर रोक और स्त्रियों की दशा सुधारना कुछ ऐसे विषय थे जिनकी ओर उन्होंने ध्यान दिया। आज के युग में तो हम लोगों को इन बातों के सुधार का कोई अचंभा नहीं लगता। बहुतों को हममें से पता नहीं कि उस समय में महर्षि ने कैसे बिलकुल अकेले, जहालत, कट्टरपन और पाखंडबाजी का मुकाबला किया। इसके साथ-साथ उन्होंने एक चट्टान की भाँति खड़े होकर हिंदू समाज को सांस्कृतिक आक्रमण से बचाया और उससे टक्कर लेने की शक्ति प्रदान की। हर देश और धर्म के इतिहास में कभी-कभी ऐसा समय भी आता है जबकि लोग सांस्कृतिक आक्रमण के बहाव में बह जाते हैं और अपनी पुरानी और महान् परंपराओं को भूल जाते हैं तथा उनसे जो गर्व और स्वाभिमान लेना चाहिए वह खो बैठते हैं। ऐसे समय में राष्ट्रीय विकास की ज्योति धीमी पड जाती है। ऐसे समय में आवश्यकता होती है कि कोई महान् विभूति पक्के और दृढ़ निश्चयवाला व्यक्ति जो अपने आदर्शों से प्रेरित हो और कुर्बानी और साहस से भरपूर हो, वह सामने आए और देश और जाति के अंदर नई भावना और जागरण पैदा करे ताकि वे अपनी परंपराओं को जो भूल बैठे हैं फिर से याद करें और उनकी महानता को जान सकें और उनसे प्रेरणा ले सकें। महर्षि दयानंद उन महान् विभूतियों में से थे।

उन्होंने उन आंतरिक कुरीतियों और बुराइयों को जो हमारे समाज की शक्ति को खत्म कर रहीं थीं, ललकारा। हमें अपने-आपको पहचानने की योग्यता दी और हमारे अंदर की टिमटिमाती हुई और मद्धिम ज्योति को फिर से प्रज्वलित किया। उन्होंने हमारी जड़ों को मजबूत किया और हममें अपने अंदर और अपने भविष्य के सुहानेपन में एक नया विश्वास पैदा किया जिसके फलस्वरूप हिंदू जाति की रगों में एक नया खून दौड़ने लगा। महर्षि के उपदेशों से, जैसा कि स्वाभाविक ही था, एक नई जागृति देश को स्वतंत्र कराने के लिए पैदा हुई।

स्वामी श्रद्धानंदजी का महर्षि दयानंदजी के उपदेशों से प्रभावित होकर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करना भी एक स्वाभाविक कदम था। महर्षि दयानंदजी की तरह स्वामी श्रद्धानंदजी बड़े निश्चयवान थे, धुन के पक्के थे। उन्होंने आर्य धर्म की विरोधी शक्तियों का मुकाबला करने के लिए आर्य जनता को एक नया बल दिया। स्वामी श्रद्धानदजी ने भारत को स्वतंत्र कराने में पूरा भाग लिया। 1919 में जब अमृतसर में कांग्रेस अधिवेशन, जलियाँवाला बाग के कांड के बाद हुआ, उसमें स्वामीजी स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। स्वामीजी का और महात्मा गाँधी का एक-दूसरे के निकट आना इन हालात में कुदरती था।

गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना सन् 1900 में हुई। इसको स्थापित करने में स्वामीजी का उद्देश्य था कि वह एक ऐसी संस्था पैदा करें जहाँ विद्यार्थी शांति और पवित्र वातावरण में रहें और जहाँ पर वैदिक ज्ञान और सांस्कृतिक शिक्षा पर जोर हो और उसके साथ-साथ आधुनिक विज्ञान और दूसरे विषयों पर भी पूरा ध्यान दिया जाए ताकि उनके समन्वय से छात्रों का विविध कलापूर्ण व्यक्तित्व बने तथा वह भारत के चरित्रवान् और उत्तम नागरिक बन सकें।

जिन छात्रों ने इस दीक्षांत समारोह में उपाधि ली है, मैं उनको बधाई देता हूँ और साथ ही उनसे यह भी कहना चाहता हूँ कि यह न समझें कि इन उपाधियों के प्राप्त करने से उनकी शिक्षा का कोर्स खत्म हो गया है। यह तो एक आरंभ है उस शिक्षा का जो हमें सारा जीवन सीखनी है और कभी-कभी बड़ी कीमत देकर भी सीखनी है। परंतु उससे घबराना नहीं चाहिए। जीवन के हर मोड़ पर हमें रोज परीक्षाओं में से निकलना पड़ेगा मगर उससे हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। जीवन तो एक संघर्ष है और उसमें वे लोग सफल होते हैं जो ठंडे साहस के साथ मुश्किलों का सामना करते हैं और मुश्किलों को आसान बना लेते हैं। भाग्य का पासा सीधा पड़ने का तो सभी लाभ उठा सकते हैं। बुद्धिमत्ता और पुरुषार्थ तो उसमें है जो भाग्य का पासा उल्टा पड़ने से भी लाभ उठा सकें। गुरुकुल और कॉलेज शिक्षा उस बड़ी शिक्षा को प्राप्त करने का साधन बन सकती है, उसकी जगह नहीं ले सकती। गुरुकुल की एक शिक्षा जो हमको अपने साथ सदैव रखनी चाहिए और जो हमेशा हमारे काम आएगी, वह है कि हम अपने अंदर मानसिक शक्ति और बल पैदा करें, हम साहसी हों, भीरु या डरपोक न बनें। इसी उद्देश्य के लिए आर्य अभिविनय में

प्रार्थना मंत्र है :

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।।
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि।।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि।।

मेरे नवयुवक मित्रो ! हम एक बहुत महान् देश के, जिसका पुरातन बहुत उज्ज्वल रहा है, वासी हैं। हम सबको भारत का नागरिक होने में गर्व हासिल करना चाहिए। यह ठीक है कि हमारे अंदर बहुत से ऐसे नेता लोग हैं जो उन आदर्शों से गिर गए हैं। मगर उनके कारण हमें अपने अंदर से, अपने देश पर से, अपनी सस्कृति पर से, अपनी परंपराओं पर से और अपने उज्ज्वल भविष्य पर से विश्वास नहीं खो देना चाहिए। पिछले वर्षों में बहुत-सी ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिनसे हम सबको बहुत दुख होता है और हमारे मन को आघात पहुँचता है। यह भी सच है कि जो देश के अंदर जो जटिल समस्याएँ हमारे सामने आ गई हैं उनकी जिम्मेदारी के लिए हम पिछली पीढी के लोगों को दोषी करार दे सकते हैं। मगर इन बातों में पडने से और कीचड उछालने से हमें कोई ठोस लाभ नहीं मिलेगा क्योंकि हमारे सामने तो इस समय आवश्यक कार्य यह है कि किस तरह भविष्य के लिए हम अपने देश को सुदृढ बनाएँ। आज आवश्यकता है कि आनेवाले समय में देश खूब प्रगति करे ताकि आज के नवयुवक जो भविष्य के असल मालिक एव स्वामी हैं, उनको सुखमय और उज्ज्वल पावें।

आज जिन चीजों की देश को सबसे अधिक आवश्यकता है, वे हैं अनुशासन, परिश्रम और नैतिक मूल्य। इन तीनों के बिना कोई देश प्रगति नहीं कर सकता है और न ही इनके बिना चरित्र-निर्माण हो सकता है। सच पूछो तो यह देश की त्रिमूर्ति है।

पहले अनुशासन को लीजिए। आज तो ऐसा अनुभव होता है जैसा कि हमारे शब्दकोश से अनुशासन का शब्द किसी ने निकाल लिया हो। विश्वविद्यालयों की दशा देखो। पुराने समय में गुरु का स्थान बहुत ऊँचा होता था और छात्रों के मन में उनको सच्चा सम्मान होता था। आज उसके बदले यह आम विचार है कि विश्वविद्यालयों में अध्यापक बनना अपने मान और जीवन दोनों को जोखिम में डालना है। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि कोई भी अध्यापक अपने छात्रों को अच्छी तरह से शिक्षा नहीं दे सकता और उनको उनकी त्रुटियाँ नहीं बता सकता, यदि उसके मन में छात्रों का डर और भय है। जहाँ भय है वहाँ सच्ची शिक्षा नहीं हो सकती।

विश्वविद्यालयों के अलावा जीवन के बाकी क्षेत्रों में से अनुशासन जा रहा है। सरकारी दफ्तरों में देख लीजिए। कितने सरकारी कर्मचारी अपने दफ्तरों में ठीक समय पर आते हैं और कितने दफ्तरों के समय के अनुसार डटकर काम करते हैं ?

कारखाने और बिजलीवालों को देखो। उत्पादन क्षमता आधी से भी कम हो रही है, हर वर्ष कितने दिन हड़तालों और तालाबंदियों में चले जाते हैं और कार्य दिवस व्यर्थ जाते हैं ? सड़कों पर देखो। कितने आदमी यातायात नियमों का पालन करते हैं ? विधानसभा और संसद में देखो—एक बार संसद के अध्यक्ष ने कहा था कि संसद के एक-दो मिनट के लिए देश को कितने हजार रुपए खर्च करने पड़ते हैं। इसके बावजूद विधानसभाओं और ससद में कितनी दफा कार्यवाही रोकनी पड़ती है, इस वजह से कुछ सदस्य संसद प्रणाली के नियमों का उल्लंघन करते हैं और उनका पालन नहीं करते।

अब परिश्रम की ओर देखो। जहाँ आगे एक मनुष्य काम करता था, वहाँ उसकी जगह तीन या चार काम करते हैं और फिर भी काम पूरा नहीं होता और अधूरा रहता है। आज हमारे देश के सब कारखाने और बिजलीघर पूरी उत्पादन क्षमता के अनुसार काम करें तो देश इतना समृद्ध और प्रगतिशील हो जाएगा कि सब आश्चर्यचकित रह जाएँगे। जर्मनी और जापान ने द्वितीय महायुद्ध के बाद इतनी प्रगति की है, उसका सबसे बडा कारण है जर्मन और जापानी लोगों का परिश्रम। हर कर्मचारी दिन में 10 या 12 घंटे काम करता है। वहाँ कर्मचारियों के ऊपर किसी की निगाहबानी करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि कर्मचारी अपने आप ही स्वधर्म के अनुसार काम करते हैं। हमारे देश के अदर सब साधन हैं, धातु हैं, पानी है, नदियाँ हैं, पहाड है, लकडी है और अपार जनशक्ति है। सिर्फ कमी है तो इस चीज की कि हम इन सब प्राकृतिक एव मानवीय साधनों का ठीक तरह से उपयोग नहीं कर सके और उनसे लाभ नहीं उठा सके। अगर हम किसी तरह से यह कर ले तो हमारी बेकारी की समस्या का अत, नहीं तो काफी हद तक उसका हल हो जाएगा और भारत संसार के समृद्ध देशो में गिना जाने लगेगा।

व्यक्तिगत रूप से तो हम भारतीयों की बुद्धि और ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति जिसको अग्रेजी मे आई. क्यू. कहते हैं, वह किसी देश के नागरिकों से कम नहीं। यह इस बात से सिद्ध होता है कि हम भारतीय जब दूसरे देशों के विश्वविद्यालयों मे जाते हैं तो हम परीक्षाओं में बहुत ऊँचा स्थान लेते हैं। मगर पता नहीं, क्या बात है कि जहाँ हम एक-दूसरे के साथ मिलकर सामूहिक रूप से काम करना होता है तो वहाँ पर हम किसी न किसी तरह फिसल जाते हैं और दूसरी बातों में फँस जाते हैं।

हम अपनी अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए दर्जनों योजनाएँ बनाएँ किंतु उनसे यथोचित फल तो तब ही प्राप्त होगा जब हर व्यक्ति अपना योगदान देगा। हमें इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि हर राष्ट्र की खुशहाल अर्थव्यवस्था के पीछे खून-पसीना बहाने की एक रहस्यमय कहानी निहित है, जिसमें निरतर कठिन परिश्रम और सुनिश्चित धन का बहुत महत्त्व रहा है। इनके सिवाय जीवन-स्तर को ऊँचा करने का कोई और उपाय नहीं हो सकता।

तीसरी आवश्यकता है नैतिक मूल्यों की। कोई भी देश नहीं उठ सकता और महान् नहीं बन सकता जो अपने सामने कुछ सात्विक मर्यादाएँ न रखे और उनका पालन न करे। आज आम जनता का राजनैतिक नेताओं में थोड़ों को छोड़कर, बाकी पर से विश्वास क्यों उठ गया है ? उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि बहुत से नेता लोग कहते हैं कुछ और, करते हैं कुछ और। "आज भ्रष्टाचार बहुत ही बढ़ गया है। भ्रष्टाचार के साथ काले धन का बहुत संबंध है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। पिछले समय में महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल के लिए लोगों के हृदय में इतना अधिक मान था और उनके कथन के अनुसार लोग क्यों चलते थे ? उसका सबसे बडा कारण था उनकी नैतिक और राजसी आस्था पर सबका अटल विश्वास। आजकल तो कभी-कभी कुछ लोगों के व्यवहार से ऐसा लगता है जैसा कि हम नैतिक मूल्यों की चिता जला रहे हैं।

एक और बात, जिसकी तरफ मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ, वह है आदर्शवाद की महानता की आवश्यकता। आदर्शवाद राष्ट्रीय जीवन को ढालने में उतना ही योगदान देता है जितना कि दूसरे तत्त्व। इसके साथ-साथ आदर्शवाद आतरिक शक्ति का सबसे बड़ा सरोवर है। देश के नवयुवक आदर्शवाद के असल रखवाले होते हैं। हमें देखना यह है कि वह सरोवर सूखने न पाए और वह रखवाले कमजोर न पड जाएँ।

मैं एक बार फिर उन स्नातकों को जिन्होंने आज उपाधियाँ प्राप्त की हैं, बधाई देता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वह देश के सच्चे नागरिक बनें और अपने जीवन की हर दशा में सफलता पाएँ।

धन्यवाद।

(सन् 1981)

स्वामी श्रद्धानंद की तपःस्थली : गुरुकुल

माननीय श्री बलराम जाखड़

ओऽम् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै।।
ओऽम् शांति ! शांति ! शांति !

परम माननीय कुलाधिपति महोदय !
माननीय कुलपतिजी !
आदरणीय अध्यापकगण !
आदरणीय आर्य महिलाओ ! आर्य पुरुषो
प्रिय नवस्नातकगण !

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के 1982 के दीक्षांत समारोह पर आमंत्रित कर आपने मुझे सम्मानित किया, आभार प्रकट करता हूँ। साथ ही भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, स्वामी श्रद्धानंदजी को, जिन्होंने युगद्रष्टा महर्षि दयानंद के वैदिक पद्धतिसम्मत सिद्धांतो को मूर्तरूप देने के लिए, पहले गुजराँवाला मे, बाद में गंगापार की रेती के कागडी ग्राम के निकटस्थ अरण्य मे इस संस्था का बीजारोपण किया था।

महर्षि दयानंद भारत को अविद्या, अकर्मण्यता, अज्ञान और परतन्त्रताजन्य तिमिर से निकालकर सत्य, पवित्रता और स्वतंत्रता के पथ पर आरूढ करने का आजीवन प्रयत्न करते रहे। महर्षि शिक्षा को केवल व्यक्तिगत विकास नहीं मानते थे अपितु उनकी दृष्टि मे शिक्षा का कार्य था समाज मे ऐसे नर-नारियों का निर्माण करना जो अपने कर्तव्यो को, उत्तरदायित्व को भली भाँति निभा सके। सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझे, संसार का उपकार करें। बालको की शिक्षा में सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय माता-पिता और आचार्य द्वारा सही आदर्श प्रस्तुत करना है। बालको का आचरण माता, पिता और आचार्य की कथनी की अपेक्षा उनकी 'करनी' का अनुकरण होता है।

मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद।

स्वामी श्रद्धानद के तप, त्याग और आदर्श जीवन ने गुरुकुल कांगड़ी को मूर्धन्य राष्ट्रीय शिक्षण संस्था बना दिया। उन्होंने समर्पित जीवन जीया। शास्त्राभ्यास के साथ बालकों के चरित्र-निर्माण, तप, अनुशासन पर बल दिया।

एतद् देश प्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः।
स्व स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा.।।

ईश्वरीय ज्ञान वेद के चारों अगो, विज्ञान, कर्म, उपासना को प्राथमिकता दी। उनके हृदय मे अपार प्रेम, धैर्य और उत्साह था, आत्मीयता थी। वे बालकों के पिता थे और प्रेरणा के अजस्र स्रोत। गुरुकुल प्रेम सत्य और सौंदर्य का काव्य था।

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

ब्रह्मचारियों पर उन्हे अगाध निष्ठा थी। उन्होने मधुरता और प्राकृतिक ऐश्वर्य के परिवेश में अध्ययन, अध्यापन, चिंतन और सर्जना का वातावरण बना दिया। आत्मिक ज्ञान के साथ आधुनिक विज्ञान के समन्वय का श्रीगणेश किया। उनके आदर्श से अनुप्राणित वर्चस्वी स्नातको और आचार्यों के धर्म, संस्कृति समाज, वेदज्ञान एव सस्कृत वाङ्मय प्रचार प्रसार, हिंदी मे उच्चस्तरीय शिक्षण के लिए पाठ्य-पुस्तक निर्माण, प्राचीन इतिहास संबंधी शोधकार्य, आयुर्वेद, पत्रकारिता आदि में विशिष्ट योगदान दिया। देश-भक्ति से आप्लावित और राष्ट्रीय भावना से उद्दीप्त गुरुकुल ने देशव्यापी सेवाकार्य और स्वाधीनता सग्राम में स्तुत्य भाग लिया।

खेद है, कालातर में यह छवि धूमिल हो गई। अनियोजित विस्तारजन्य आर्थिक कठिनाई, व्यवस्था में दरार, अभिभावको की उदासीनता, स्नातकों का अवमूल्यन, वैमनस्य, अनुशासनहीनता, नैतिक सकट, कारण कुछ भी रहे हों, स्थिति दयनीय थी। क्रमश यह कुहासा छँट गया

अज्ञान के भ्राति के अँधेरे से निकलकर, ज्ञान को जगमगाती ज्योति की ओर बढ़ते हुए हम उन्नति करने लगे।

उद्वयं तमसस्परि स्व
पश्यत उत्तरम्।
देव देवत्रा सूर्यम्
अगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

इसी परिप्रेक्ष्य मे समावर्तन सस्कार के लिए उपस्थित ब्रह्मचारियों का अभिनदन करता हूँ। उपाधि प्राप्ति पर बधाई देता हूँ।

प्रिय स्नातको !
स्वाभाविक है कि आपके हृदय में हर्षोल्लास भरा हो, भविष्य के सुहाने सपने सँजोए

हाँ। कैसा है आपका स्वप्नलोक ?

यत्र ज्योतिर् अजस्तं
यस्मिन् लोके स्वराहितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमाना
ऽमृते लोके अक्षित (अनश्वर)
इन्द्रायेन्दो परिस्रव।।
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च
मुदः प्रमुदः आस्ते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्
तत्र माम् अमृतं कृधि—
इन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

क्षमा कीजिए, कहीं स्वप्नविभीषिका तो नहीं ?

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धनैव नीमाना यथान्धाः।

आप विद्यानिष्णात हैं, विवेकशील हैं, जानते हैं कि अँधेरे और ज्योति का, देव और असुर का संग्राम निरंतर हमारे हृदय में चलता रहता है। हृदय ही में क्यों ? घर, समाज, विश्व भर मे चल रहा है। गुरु और शिष्य, पति और पत्नी, पूर्व और पश्चिम के बीच अनवरत चल रहा है। इसीलिए तो दीक्षांत-भाषण के आरंभ में आंतरिक और बाह्य परिवेश में आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधि-दैविक सुख-शांति के लिए द्वेषरहित परस्पर प्रेम और सहयोग के लिए, एक दूसरे की सुरक्षा, अभय, उत्पादन, बाँटकर खाना, पुरुषार्थ, वीरता, नई चेतना और तेजस्विता के उद्‌बोधन की शुभकामना की गई। उद्‌बोधन अनुसार आचरण अँधेरे से ज्योति की ओर ले जानेवाला है :

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

परिवेश को रेखांकित इसलिए कर रहा हूँ कि आज विज्ञान का, गतिशीलता का युग है। इस युग में आपका सामंजस्य किस स्तर पर और किस प्रकार होगा ? उपभोक्ता के रूप मे या स्रष्टा के रूप में ? आपमें सर्जना की अनंत संभावनाएँ प्रसुप्त पड़ी हैं, उन्हें जगाना है

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।

आइए, परिस्थिति का थोड़ा-सा सिंहावलोकन करें। विज्ञान इतनी शीघ्र प्रगति कर रहा

है कि पाँच-सात साल में ही इसका बड़ा अंश पुराना पड़ जाता है। संख्या की दृष्टि से भारतीय वैज्ञानिकों का संसार में तीसरा स्थान है। उनकी योग्यता भी किसी से कम नहीं। भारतीय वैज्ञानिकों की उपलब्धियाँ हमारा गौरव हैं। आर्यभट्ट, रोहिणी, भास्कर, एप्पल के बाद अभी गत आठ अप्रैल को संचारी उपग्रह इन्सैट कक्षा मे स्थापित किया गया। प्रत्यक्ष है कि यह सब पाश्चात्य विज्ञान है। मानव कल्याण के लिए हमने इसे अपनाया है। इसका भारतीयकरण अभी शेष है।

अंतरिक्ष अनुसंधान, कृषि द्वारा हरित् क्रांति, कपड़ा, इस्पात, बिजली, पेट्रोलियम खनन आदि उद्योग, विविध व्यवसाय हमारी आर्थिक समृद्धि के नए आयाम पश्चिम की देन हैं। हमारे यहाँ मंत्र, तत्र तो जोर-शोर से चलते रहे, पर हमारी वैज्ञानिक प्राचीन सभ्यता संस्कृति के वाहक यंत्र संभवत· तब ठप पड गए होंगे जब यह लिखा गया ·

यन्त्राणा घटना नोक्ता न त्वज्ञानवशाद् गुप्त्यर्थम्।

इस संदर्भ में 'गुप्त्यर्थम्' का पर्याय है स्वार्थ। कहा जाता है ·

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।

मुझे कहने की अनुमति दीजिए

स्वार्थी कि न करोति पापम्।

इन स्वार्थी लोगों ने देश को ह्रास, पतन और परतत्रता के गर्त मे धकेल दिया।

स्वतंत्रता के बाद हम देश के औद्योगिक नवनिर्माण मे जुट गए। ऐतिहासिक कारणों से विज्ञान, टेक्नोलोजी की थाती हमें केवल अग्रेजी से मिली। हिंदी भले ही हमारे हृदय की भाषा हो पर अंग्रेजी हमारे मस्तिष्क की जीविका की भाषा है। जब तक हृदय मस्तिष्क, जीविकोपार्जन की भाषा एक न हो, सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध रहता है। बालक को सस्कृति केवल अपनी मातृभाषा से मिलती है। हमे हिदी को सस्कृति और आधुनिक विज्ञान की वाहिका बनाना है। विज्ञान का भारतीयकरण हिंदी मे विज्ञान की सर्जना से अनायास होगा—अनुवाद से नहीं। यह अपना दायित्व है।

यस्य ज्ञानं केवल जीविकायै, त ज्ञानपण्यं वणिज वदन्ति।

यह स्पष्ट है कि विज्ञान, टेक्नोलोजी के लिए प्रयोगशाला, उपकरण, सामग्री, पुस्तकालय, निर्देशन का प्रचुर प्रावधान किया जाए। यह भी सत्य है कि विश्व के महान् आविष्कारको के पास न तो प्रयोगशालाएँ थीं, न ही पर्याप्त सुविधाएँ। महर्षि दयानंद ने एक विश्वविद्यालय के कुल निकायो से अधिक ही कार्य सपन्न किया होगा। उनके रचे ग्रंथो की संख्या चालीस के लगभग है। पत्रव्यवहार, पत्र, पत्रिका प्रकाशन अलग। भौतिकी नोबेल पुरस्कार के एक मात्र भारतीय विजेता डॉक्टर

चंद्रशेखर वेंकटरमण कहते थे 'रमण-प्रभाव' आविष्कार के लिए मैंने मात्र दो सौ रुपए खर्च किए जबकि अन्य विजेता लाखों डालर खर्च करते थे। प्रतिभा से चमत्कार सभव है। असंभव तो एक दिन में भी संपन्न किया जा सकता है। चमत्कार को थोडा समय लगता है। सफलता के तीन ही तो रहस्य हैं—पहला—परिश्रम, दूसरा—परिश्रम, तीसरा भी परिश्रम।

भारत ही विश्व का एकमात्र देश है, जहाँ जीवन की शतवर्षीय वैज्ञानिक योजना बनी :

जीवेम शरदः शतम्।

और अब तक चली आ रही है। भारतीय उदात्त जीवन की व्यापक दृष्टि और दिव्यता का रहस्य है—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और सन्यास आश्रम।

हम विज्ञान और टेक्नोलोजी में परिश्रम के ऋणी हैं। हमारे कुल लोग दुर्भाग्यवश अपनी संस्कृति और भाषा को भी हीन, हेय और द्वितीय श्रेणी की समझने लगे हैं।

विसंस्कृतिकरण का यह विष सुरसा की तरह फैलता ही जा रहा है। फिल्मों, रेडियो और दूरदर्शन ने इसे उग्र रूप दे दिया है। आयातीत आरोपित संस्कारों की चादर ओढे, जीन्स पहने तथाकथित सभ्य लोग अपने धर्म, भाषा और सस्कृति की अवहेलना करते हैं। उनका काक-कीर-कपिवत् आचरण ग्लानिप्रद है। पश्चिम में ऐसे लोग रीढ़हीन और हास्यास्पद माने जाते हैं :

उद्धरेद् आत्मनात्मानं
नात्मानम् अवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुर्
आत्मैव रिपुरात्मनः।

उद्देश्य प्राप्ति के लिए योजनाबद्ध कार्य और उसका मूल्याकन स्वय एक अनुशासन है। दूसरों के साथ मधुर सबध स्थापित करना और मिलकर काम करना भी अनुशासन है। सबके हित के लिए, समाज के लिए काम करना सबसे बडा अनुशासन है

सर्वभूत हिते रता।

ज्योतिर् लोक को धरातल पर उतारना, अस्मिता की पहचान और विसस्कृतिकरण से जूझना, पुरुषार्थ की साधना अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कार्य योजना अन्वित करने का प्रयास आपको वर्तमान में जीने की क्षमता प्रदान करेगा। अतीत के गौरव में जीवन जीया नहीं जाता, भविष्य के लिए जीना मानसिक रोगो को न्यौता देना है। अतीत के अनुभवों से हम सीखते हैं, उज्ज्वल भविष्य के लिए योजना तैयार

करते हैं, पर जीना तो वर्तमान में ही है। कोई चीज इसलिए अच्छी नहीं कि पुरानी है, और नया होना कोई बुराई नहीं है। मूल्यांकन करके आप चाहे चुन सकते हैं। केवल मूर्ख लोग दूसरों के विश्वास पर चलते हैं। हमें अपने लिए सोचना है और दायित्व सँभालना है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः पर प्रत्यय नेय बुद्धिः।।

नया हो या पुराना, पूर्व हो या पश्चिम हमारी परंपरा है :

ज्ञानं विज्ञान संहितम्

प्रिय स्नातको !

अर्जित ज्ञान और संस्कारों के आधार पर आपको अपना दायित्व निभाना है। ध्येय निश्चित करना है। शरीर, मन और आत्मा का सर्वांगीण विकास करता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अमर अनुशासन वाक्यों पर :

सत्यं वद। धर्मं चर।...

विशेषतया,

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्

पर शाश्वत आचरण करना है।

इस पर आचरण से आपकी अतर्निहित शक्तियो का, दिव्यता का, सर्जना का, पूर्ण विकास होगा। जीवन को नई दिशा, आशा और उत्साह मिलेंगे। आपके व्यक्तित्व और कृतित्व को नये आयाम प्राप्त होंगे। प्रश्न आपके जीवन से, जीवनधारा से जुड़ने का है। लहर की शक्ति समुद्र मे है, समुद्र से बाहर कुछ भी नहीं। जीवन से जुडना, अपने परिवेश की किसी भी ज्वलत समस्या का वैज्ञानिक अध्ययन, विश्लेषण और समाधान करना है। समस्या तो चुनौती है।

ज्वलिति चलितेन्धनोऽग्निर्
विप्रकृतः पन्नग फणा कुरुते।
प्राय स्व महिमानं क्षोभात्
प्रतिपद्यते हि जन ।।

मन और हृदय मे जब मथन होगा, चक्रवात उठेगा, क्षोभ होगा, आप उसका नियत्रण करेगे, उसी प्रक्रिया मे आपको अपनी महिमा से साक्षात् होगा, दिव्यता की ज्योति

दिखाई देगी। अपनी पहचान होगी। कोई भी आपके लिए यह नहीं कर सकता. आपको स्वयं ही अपना दीपक बनना होगा, उद्धार करना होगा। अपने-आपको ऊँचा उठाओ, नीचे नहीं गिराओ, आप अपने ही मित्र हैं, आपको कोई नीचे नहीं गिराता, स्वयं ही गिरते हैं, आपका कोई शत्रु नहीं, स्वयं ही अपने शत्रु हैं

इसका पोषण, उन्नयन और संवर्धन करें। आध्यात्मिक ज्ञान और भौतिक ज्ञान का समन्वय करें। यही उपचार हमें पश्चिम को देना है। आदान-प्रदान तो ठीक है, पर भिखमंगों की तरह सदा परमुखापेक्षी उपेक्षा रहना, हाथ फैलाए रखना, शोभा नहीं देता। लेने और देनेवाले किसी के लिए भी श्रेयस्कर नहीं। पश्चिम मे विज्ञान की उपलब्धियों को अपने तक सीमित रखने की परिणति क्या हुई ? वैज्ञानिक प्रगति ने परिश्रम को क्या दिया ?

साम्राज्यलिप्सा
शोषण वृत्ति,
भोगविलास की विपुल सामग्री,
दो महायुद्ध,
विश्व विध्वंस के साधन,

अनन्त ऊब,

अपरिमेय चिंता
दूसरो के दुख के प्रति असवेदनशीलता और
परिणामस्वरूप युवाक्रोश
मानव मूल्यो और मान्यताओ का ह्रास।

भौतिक विज्ञान की प्रगति वरदान न होकर अभिशाप क्यों बन गई ? जो केवल अपने लिए पकाते हैं, अकेला ही खाते हैं वे पापी हैं और अधोगति को प्राप्त होते हैं।

भुजते ते त्वघ पापा
ये पचन्त्यात्म कारणात्
केवलाघो भवति केवलादी।

विश्व शाति के लिए, भौतिकवादी परिश्रम की प्रलयंकारी हिसा को नियत्रित करने के लिए भारत की सजीवनी आध्यात्मिक शक्ति के साथ सामंजस्य ही एकमात्र उपाय है।

प्रिय स्नातको !
आप शंका मत कीजिए, आसुरी सपत् पर विजय पाने के लिए आपके हृदय में दैवी सपत् की शाश्वत धरोहर है। अपने आप और देश पर, अपने धर्म और सस्कृति पर

श्रद्धा रखें। श्रद्धा अंधविश्वास नहीं। श्रद्धा से ज्ञान, विज्ञान प्रेयस्, श्रेयस् और निःश्रेयस् उपलब्ध होते हैं और संशय से महानाश।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्
संशयात्मा विनश्यति।

जैसी आपकी श्रद्धा है, वैसा ही आपका स्वरूप। जैसी आपकी भावना है आप वैसा ही बन जाते हैं।

यथैव भावयत्यात्मा सततं भविष्यति स्वयम्।

धर्म पर विश्वास के साथ, बुद्धि विशाल हो सके ताकि आप नए तथ्य ग्रहण कर सकें, ज्ञान-विज्ञान के नए क्षितिज खोजें, गहराइयाँ मापें। हृदय विशाल हो जो नई चेतना और आत्मीयता का माध्यम बन सके :

धर्मे ते धीयतां बुद्धिर् मनस् तु महदस्तु।

आप अपने देश के कर्तव्यनिष्ठ नागरिक बनें। केवल अपनी उन्नति से ही संतुष्ट न रहें, वरन् सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझें।

यह दीक्षांत नहीं है, नया आरंभ है।

आपके अभियान की सफलता की हार्दिक शुभकामनाएँ!

सभी आर्य भाई-बहनों को बैशाखी के पर्व पर सुख-समृद्धि की मंगलकामनाएँ करते हुए आह्वान करता हूँ :

साथ चलो, सबके हित बोलो, बनो संगठित
साथ मनन कर, करो समान गुणों को अर्जित।
एक ज्ञान और एक प्राण सब रहो सम्मिलित
तुम देवों के तुल्य बनो, सहयोग समन्वित।
व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा ग्रहण कर
उससे श्रद्धा, श्रद्धा से कर प्राप्त सत्त्व वर।
ऋतंभरा प्रज्ञासे भर निज ज्योतित अन्तर
तुम देवों के योग्य बनो, बन मर्त्य से अमर।

ओऽम् संगच्छध्वं स वदध्वंम्
सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे
संजानाना उपासते।।
समानो मंत्र: समितिः समानी
समानं मनः सहचित्तम् एषाम्

समानं मंत्रम् अभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना ह्रदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।
ओऽम्, शांतिः ! शांति ! शांतिः !

[सन् 1982]

नवस्नातक : देश के नवनिर्माता

महामहिम श्री ज्ञानी जैलसिह

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह मे शामिल होकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है। इस अवसर पर आपने जो मुझे सम्मान दिया है और जो प्यार भरे शब्द कहे हैं, उनके लिए मैं आपका आभारी हूँ।

शिक्षा सस्थाएँ पवित्र स्थान होते है और यह स्थान तो और भी अधिक पवित्र और ऐतिहासिक है, क्योकि इसका पौधा हमारे स्वतत्रता सेनानी और पूज्य स्वामी श्रद्धानदजी महाराज द्वारा लगाया गया था। हमारे लिए यह बडे गौरव की बात है कि यह विश्वविद्यालय हमारे प्राचीन ऋषियो-मुनियों की गुरुकुल परपरा पर आज से 81 वर्ष पहले स्थापित किया गया था, जिसका उद्देश्य वैदिक शिक्षा के अलावा अन्य सभी विषयों की शिक्षा, भारतीय भाषाओं, खासतौर से, हिंदी के माध्यम से देना है। मुझे यह जानकर खुशी हुई है कि इस विश्वविद्यालय के आचार्यों ने फिजिक्स, कैमिस्ट्री, बॉटनी, इकोनोमिक्स, मनोविज्ञान और राजनीतिशास्त्र जैसे विषयो मे हिंदी पुस्तकें तैयार कीं और हिदी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया।

आज का युग विज्ञान का युग है। दरअसल, वैदिक युग भी विज्ञान का युग था। वेदो मे विज्ञान के मूलमत्र पाए जाते हैं, जिनसे पता चलता है कि प्राचीन काल से ही भारत विज्ञान और टेक्नोलॉजी के क्षेत्र मे बहुत आगे था। यह विश्वविद्यालय बधाई का पात्र है कि यहाँ विज्ञान के विषयों की शिक्षा भी भारतीय भाषा मे दी जाती है।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली मे अध्यापको और शिष्यो का बडा नजदीकी संबध होता है। इस प्रणाली मे चरित्र-निर्माण, सदाचार, त्याग और सादगी पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन गुरुकुल प्रणाली मे यह परपरा थी कि शिष्य अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद, जब वहाँ से विदा लेता था तो आचार्य उन्हे अपने जीवन मे कुछ आदर्शों का पालन करने की शिक्षा देते थे, जिनमे उपनिषद् का यह अमर वाक्य होता था

सत्यम् वद्, धर्मम् चर

सत्य बोलना चाहिए और धर्म का पालन करना चाहिए। हमारे आज के नौजवानों को भी इस संदेश की बहुत आवश्यकता है। गाँधीजी ने भी सत्य और अहिसा के

जरिए ही देश को संगठित होने और विदेशी शासन से मुक्त होने की प्रेरणा दी थी। मैं यहाँ यह भी कहना चाहूँगा कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है और यहाँ सभी धर्मों के प्रति समान आदर की भावना है। इस देश की सांस्कृतिक विरासत बहुत महान् है। इसे समृद्ध बनाने में हमारे ऋषियों, मुनियों, गुरुओं तथा अनेक मत-मतांतरों, पंथों और विचारधाराओं का योगदान रहा है। हमारे देश की आजादी की लड़ाई भी इन्हीं आदर्शों को लेकर लड़ी गई थी। जिन महापुरुष स्वामी श्रद्धानंदजी के अथक प्रयत्नों से इस विश्वविद्यालय की नींव रखी गई थी, वे बहुत बड़े साहसी और देशभक्त थे। उन्होंने आर्यसमाज का प्रचार करते हुए भी, राष्ट्रीय एकता और आजादी के लिए अपना सबकुछ न्यौछावर कर दिया था। इनसे पहले आर्यसमाज के संस्थापक, स्वामी दयानंद सरस्वतीजी ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होने स्वराज्य का नारा बुलद किया था और निडर होकर घोषणा की थी कि विदेशी सरकार कितनी भी अच्छी क्यों न हो, उससे स्वदेशी सरकार सदा ही बेहतर है। इसी से देश के अनेक नेताओं को प्रेरणा मिली और आर्यसमाज के अनेक नेताओं ने देश की आजादी के लिए कुर्बानियाँ दीं। लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानद, रामप्रसाद बिस्मिल, उनके मित्र अशफाक उल्लाह खाँ, ठाकुर रोशन सिह, शहीद भगत सिंह तथा सुखदेव, भाई परमानंद, पडित गैंदालाल दीक्षित जैसे भारत के अनेक सपूत आजादी की लडाई में कूद पडे। यह सस्था भी उसी शृखला की एक कडी है।

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास करना है, जिससे कि वह समाज का एक उपयोगी अंग बन सके। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि इस विश्वविद्यालय मे पढाई के साथ-साथ सदाचार और चरित्र-निर्माण पर भी विशेष बल दिया जाता है। आज के इन नौजवानों के हाथों में ही कल के भारत की बागडोर होगी। राष्ट्र की आजादी के लिए जिन हजारों नेताओं और वीरों ने कुर्बानियाँ दी थीं, जिन माताओ और बहनों ने अपार कष्ट और मुसीबतें झेली थीं, उस आजादी की रक्षा करना अब इन नौजवानों की जिम्मेदारी है। आज देश मे साप्रदायिकता और क्षेत्रवाद की ताकतें फिर से सिर उठा रही हैं। राष्ट्रीय एकता और अखडता को बनाए रखने के लिए इन चुनौतियों का डटकर मुकाबला करना होगा। शिक्षा सस्थाओं में उग्रवादी तत्त्वों को कभी भी शरण नहीं देनी चाहिए।

हमारा देश सदा से ही एक अमन-पसद देश रहा है। हाल ही में दिल्ली में हुए सौ से अधिक देशों के गुट-निरपेक्ष सम्मेलन में एक स्वर से भारत की शांति की नीति को स्वीकार किया गया और हमारी प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी की रहनुमाई में विश्वास व्यक्त किया गया। हम सबको चाहिए कि अपने देश के सम्मान को सुरक्षित रखने के लिए मेल-जोल, भाईचारे और आपसी सहयोग से काम लें।

यह बड़ी खुशी की बात है कि इस विश्वविद्यालय के छात्र खेलकूद के क्षेत्र में भी बढ-चढ़कर हिस्सा ले रहे हैं। मुझे यह भी बताया गया है कि यहाँ विदेशी खेलों के साथ-साथ अपने देश में प्रचलित कबड्डी, खो-खो, गुल्ली-डंडा जैसे भारतीय

खेलों को भी पूरी तरह बढावा दिया जा रहा है और यहाँ की कबड्डी की टीम एक बेहतरीन टीम मानी जाती है। हमें चाहिए कि इन परंपरागत भारतीय खेलों को भी समुचित प्रोत्साहन दिया जाए। पिछले दिनो दिल्ली में नव एशियायी खेलो का आयोजन किया गया था, जिसमे हमारे देश के मुख्तलिफ हिस्सो के नौजवान खिलाडियों ने खेल का सराहनीय प्रदर्शन किया था। इससे देश का नाम तो ऊँचा हुआ ही है, देश मे खेलों के प्रति रुचि भी बढी है। खेल-भावना बच्चों और नौजवानो में पैदा की जानी बहुत जरूरी है। जीवन के हर क्षेत्र मे यह भावना मौजूद रहनी चाहिए।

जीवन मे परिश्रम का बहुत महत्त्व है। मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई है कि यहाँ के छात्रो ने पिछले दो वर्षों मे लगभग दो हजार पेड लगाए और उनकी देखभाल की। यह एक बहुत नेक काम है। वृक्ष हमारे लिए बहुत उपयोगी है, पेडो के कटते रहने से आज वायु प्रदूषण की बहुत बडी समस्या उठ खडी हुई है। आदर्श व्यवस्था यह है कि देश की भूमि के एक-तिहाई भाग मे पेड-पौधे होने चाहिए, जबकि जनसख्या अधिक होने के कारण हमारे देश मे अब केवल बारह प्रतिशत भूमि पर ही पेड-पौधे रह गए हैं।

इस विश्वविद्यालय ने दूसरा महत्त्वपूर्ण काम यह किया है कि इसने कागडी ग्राम के विकास की योजना को हाथ मे लिया है। मुझे यह जानकर खुशी हुई है कि इस गॉव मे राष्ट्रीय सेवा योजना का एक कैंप लगाया गया था। गॉव की सडको को पक्की करने के लिए कई सस्थाओ ने माली इमदाद दी और भारत सरकार ने भी इनमे योगदान दिया था। यहाँ एक चलता-फिरता अस्पताल और पुस्तकालय भी कायम किया गया है, जिससे इस गॉव के लोगो को स्वास्थ्य सबधी सुविधा मिल सके और लोगों मे पठन-पाठन के प्रति दिलचस्पी बनी रहे। मुझे उम्मीद है कि इस विश्वविद्यालय द्वारा उठाए गए इस महत्त्वपूर्ण कार्य मे दूसरी समाज-सेवी सस्थाएँ भी और अधिक योगदान देगी, जिससे कि गॉव के निर्धन, पद-दलित, पिछडे और कमजोर वर्ग के लोगो को और अधिक सहूलियते मुहैया कराई जा सके और उनके रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाया जा सके। आर्यसमाज के नौंवे नियम मे भी यही कहा गया है कि मनुष्य को अपनी ही उन्नति से सतुष्ट नहीं होना चाहिए बल्कि सबकी उन्नति मे ही अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

इसका एक लाभ यह भी होगा कि छात्रो को गॉव मे काम करने और श्रम के महत्त्व को समझने मे भी सहायता मिलेगी। मेहनती बालक ही हमारे देश और समाज की अमूल्य निधि है।

मुझे आशा है कि गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय अपनी गुरुकुल की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के साथ-साथ, शिक्षा-जगत् मे हुई नई उपलब्धियो का भी लाभ उठाते हुए उन्नति के पथ पर आगे बढता जाएगा और देश के नव-निर्माण मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देगा।

इन शब्दों के साथ, मैं फिर एक बार चांसलर महोदय और यहाँ के कुलपति को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझे इस गौरवपूर्ण समारोह में शामिल होने का निमत्रण दिया। मैं आज यहाँ उपाधियाँ प्राप्त करनेवाले नौजवानों को भी बधाई देता हूँ और कामना करता हूँ कि वे अपने असली जीवन में उन पवित्र आदर्शों को अपनाते रहेंगे, जिनकी शिक्षा-दीक्षा इस विश्वविद्यालय मे उन्होंने ली है।

जयहिन्द !

[सन् 1983]

वैदिक शिक्षा, सच्ची शिक्षा

डॉ. सत्यप्रकाशजी सरस्वती

नवदीक्षित सौम्य युवास्नातक वृद !

आपके गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलाधिपति, कुलपति एव अधिकारियों ने मुझे दीक्षात भाषण देने के लिए स्नेहपूर्वक आमंत्रित किया है, इसके लिए मैं आभारी हूँ। मैं भी एक विश्वविद्यालय का अतेवासी रहा, और उसी में 1925, 1927 और 1932 में मैंने तीन उपाधियाँ पाईं और तीन दीक्षांत भाषण सुने। मैं भारत की पराधीनता के युग का स्नातक हूँ। मेरे समय मे देश में इतने विश्वविद्यालय नहीं थे, जितने आज हैं। मेरा विश्वविद्यालय 1888 के लगभग (1857 की क्राति के 31 वर्ष बाद) स्थापित हुआ था। 1858 मे पहली शृखला के तीन विश्वविद्यालय स्थापित हुए—कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के। लगभग 30 वर्ष बाद दो और बने—प्रयाग और लाहौर के। आज विश्वविद्यालयस्तरीय उपाधि देनेवाली सस्थाएँ 100 से ऊपर हैं। आपका विद्यालय दो अतेवासियो और एक आचार्य से प्रारभ हुआ—हरिश्चद्र, इद्र और मुंशीराम। मुझे उन दिनो की याद है जब हरिश्चद्र और इद्र स्नातक हुए थे। मैं नहीं जानता कि उस समय 1912 के प्रथम दीक्षात भाषण मे क्या कहा गया था। आपका गुरुकुल देश का गौरव था, और आर्य जगत् को उस पर अभिमान था। कहा जाता है कि 2 मार्च, 1901 को हरिद्वार में एक विद्यालय का शुभारभ हुआ—जिसमें एक आचार्य और दो विद्यार्थी थे। हरिश्चद्र की आयु तेरह वर्ष की रही होगी और इद्र कुछ और छोटे थे। महर्षि दयानद की मृत्यु के दो वर्ष बाद 1885 मे आर्यजगत् ने महर्षि की स्मृति में दयानद स्कूलो की शृखला प्रारभ की जिसकी शती धूमधाम से मनाने की तैयारियाँ प्रारभ हो गई हैं। हसराज और मुशीराम—ये दो व्यक्ति शिक्षा के क्षेत्र मे देश के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेंगे। इन दोनों सस्थाओ के प्रारंभिक युग मे पार्थक्य अधिक था। मुशीरामजी का गुरुकुल राष्ट्रीय था, और हसराजजी द्वारा प्रेरित दयानंद विद्यालय भारत की पराधीनता के प्रतीक थे और सरकारी स्कूलो के सामंजस्य में थे। 1947 की स्वतत्रता के बाद आज हमारे सभी विद्यालय और विश्वविद्यालय राष्ट्रीय और राष्ट्र के गौरव हैं। विद्यालयों के दो ही उद्देश्य हैं—पूर्वार्जित ज्ञान का सरक्षण, और नवीन ज्ञान का अर्जन। इसे ही वैदिक परिभाषा में क्रमश: क्षेम और योग कहेंगे। गुरुकुलो से भी हमे यही आशा है और नवीन पद्धति के

विश्वविद्यालयों से भी। पुराने ऋषियों ने परंपरा से ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हमें जो सामग्री दी, वह भी सुरक्षित रहे, और साथ ही साथ अपने स्नातकों से हम यह भी पूछने का अधिकार रखते हैं कि इस ज्ञान-सागर में उन्होंने नया क्या दिया। हमारे पुराने ऋषियों ने अपने-अपने क्षेत्र में पुराना भी सुरक्षित रखा और नया भी दिया था। गौतम, कपिल, कणाद, यास्क और पाणिनि के ग्रंथ देखिए। सबने अपने पूर्वजों के ज्ञान को आगे की पीढ़ियों तक बढाया भी, और अपना नया भी दिया। मानव-योनि की यह विशेषता है। पशुओं का ज्ञान न श्रुति है, न शास्त्र। मनुष्य से ही यह अपेक्षा की जाती है, कि पुराना भी पढ़े, और आगे उसमें कुछ वृद्धि भी करे। गुरुकुल के नवीन स्नातकों से भी मैं यह कहूँगा। आपके ऊपर ऋषि-ऋण है। आपका पढ़ा हुआ और आपके आचार्यों का पढ़ाया गया तभी तेजस्वी होगा, जब हम यह कह सकेंगे, कि आपने अपने अध्ययन के फलस्वरूप ज्ञान-भंडार को, और पुराने वाङ्मय की पूर्व विचारधारा को, कला को, शिल्प को, कौशल को, जनजीवन के प्रवाह को भी कुछ नया दिया है। नवीनता के पर्यावरण में प्राचीनता भी गौरवान्वित होती है, और इसी प्रसंग में ऋग्वेद में प्रारंभ में ही *पूर्वेभिः* और *नूतनैः ऋषिभिः*—दोनों प्रकार के ऋषियों की कल्पना की है। ऋषि दयानंद की परिभाषा में पहले समय के विद्वानों को पूर्व-ऋषि, और आप ऐसे नवीन अध्येता ब्रह्मचारी और विद्वानों को जो नवीन तर्कों के विशेषज्ञ हों, जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में नए मार्ग प्रशस्त करने का संकल्प किया हो, वेद प्रतिपादित नूतन-ऋषि कहा गया है। पूर्व-ऋषियों के प्रति समादर की भावना रखना, और नूतन-ऋषियों की बातों को निष्ठापूर्वक सुनना और मानना—इस प्रकार की भावना जिस समाज में जागृत रहती है, वह समाज उन्नति की ओर अग्रसर रहता है, अन्यथा समाज में रूढ़िवादिता व्याप्त होने लगती है। आप सब स्नातक नूतन-ऋषि हैं, और इसलिए मेरे ऐसे वयोवृद्ध व्यक्ति द्वारा आप नवस्नातकों का स्वागत, अभिनंदन और विनम्र अभिवादन।

विश्वविद्यालयो और महाविद्यालयों में मेरी दृष्टि में यह अंतर है कि हम विश्वविद्यालय के प्राचार्यों और विद्यार्थियों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे शास्त्र का विकास करेंगे किंतु महाविद्यालय के विद्यार्थी और आचार्यों का कर्तव्य है कि वे पढकर पूर्वार्जित ज्ञान को जीवित रखेंगे, और आगे आनेवाली पीढियो को यह ज्ञान सौंप देंगे। आज जो स्नातक शिक्षित होने के अनंतर दीक्षित हो रहे हैं, उनसे मैं यही कहूँगा, कि जो कुछ आपने गुरुओ के समीप रहकर सीखा है, उसको समाज में जीवित रखे, और मुझे आशा है कि आपमे से कुछ स्नातक उस शास्त्रीय ज्ञान को प्रशस्त करने मे भी उद्यत रहेगे। मैं पुरानी यज्ञशालाओं को ज्ञान-विज्ञान के विकास की वेधशालाएँ, अनुसंधानशालाएँ और प्रयोगशालाएँ मानता हूँ। इन्हीं यज्ञशालाओ मे बैठकर प्राचीन ऋषियों ने वेदाग, उपांग और उपवेदों का विकास किया था। महर्षि दयानंद ने यज्ञ की जो परिभाषा अपने ग्रंथों में की है, वह आज के स्नातको को सर्वदा याद रखनी चाहिए। महर्षि यज्ञ की परिभाषा इस प्रकार करते हैं

'यज्ञ' उसे कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार,
यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या,
उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान,
अग्निहोत्र, जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधी की पवित्रता
करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम मानता हूँ।

आर्यसमाज के विद्वानों ने स्वामी दयानद की इस परिभाषा की सर्वदा उपेक्षा की है। आज गायत्री यज्ञ, पारायण यज्ञ, शांति यज्ञ, हमारे विद्वानों को सद्उद्देश्यों से बहुत दूर विचलित कर रहे हैं। हिंदू वातावरण में और महर्षि दयानंद द्वारा अनुप्राणित वातावरण में यही तो अंतर है। हमने यज्ञ को रूढि अर्थों में लेना आरंभ किया है। जो लोग वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में, शिल्प में, कारखानो में, अनुसधान-शालाओ में और चिकित्सा संस्थानों में कार्य कर रहे हैं, हमने उन्हें याज्ञिक समझा ही नहीं। आपके गुरुकुल में तो कम-से-कम यज्ञ की वास्तविक परिभाषा का स्वरूप निखारना चाहिए, प्रसन्नता की बात है, कि आपकी गुरुकुल भूमि से कुछ ही दूरी पर रानीपुर में भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स का विशाल उद्योग है, ऋषिकेश मे भी उपयोगी कार्य हो रहा है। यह सब यज्ञ हैं। क्या आपने इन यज्ञों के ऋत्विको का आह्वान, आदर-सत्कार किया ? आप अपने स्नातको को इन यज्ञो के प्रति निष्ठावान बनाएँ। नहीं तो आपकी यज्ञों के प्रति श्रद्धा हिंदुओं की कोटि की अधश्रद्धा ही कहलावेगी, (वस्तुत श्रद्धा शब्द का जो योगिक अर्थ है, उसके साथ अंध शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता।) अभी अजमेर में जो महर्षि निर्वाण शताब्दी मनाई थी, उसमे हमने पहली बार महर्षि द्वारा प्रतिपादित यज्ञ की परिभाषा चरितार्थ की--देश के आठ-नौ वैज्ञानिको को और कतिपय अन्य विशेषज्ञों को स्वर्णपदक से हमने सम्मानित किया था, जिन्होने अपने-अपने क्षेत्रो में कार्य करके भारत को गौरवान्वित किया है। वह समारोह ऋषि के शब्दों में यज्ञ था। यजुर्वेद के अध्याय 18 में प्रथम सत्ताईस मत्र ऐसे है, जिनके अंत में *'यज्ञेन कल्पताम्'*--ये दो शब्द बराबर प्रयुक्त हुए हैं। इन दोनो को भाष्य करते समय महर्षि दयानद ने लगभग प्रत्येक मंत्र में यज्ञ का अर्थ अलग-अलग किया है। मैं आज के स्नातकों से कहूँगा कि इस पुण्य-स्थली में यज्ञ द्वारा तुम सबने विद्या प्राप्त की है। आप अपना आगे का जीवन भी यज्ञ द्वारा निर्मित करें। आपका समस्त जीवन यज्ञमय हो। देवहित आपकी आयु अर्पित हो, आपके यज्ञ भी यज्ञ पर आधारित हों--*आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, यज्ञ यज्ञेन कल्पताम्।* आप याज्ञिक बनें। किंतु जब मैं ऐसा उद्बोधन आपको दे रहा हूँ, तो मेरा अभिप्राय यह नहीं है, आप प्रात से सायं तक काष्ठाग्नि पर स्वाहोच्चार के साथ हव्य द्रव्य की आहुति डालते या डलवाते रहें। स्वामी दयानंद ने यजुर्वेद के अष्टादश अध्याय के मंत्रों में यज्ञेन शब्द का प्रसंगानुसार अलग-अलग अभिप्राय लिया है। मैं कुछ उदाहरण दूँगा। आपमे से कइयों ने आचार्य के चरणो में बैठकर शायद यजुर्वेद पढा हो।

1. पृथिवी, नक्षत्र, द्यौ, दिशा के प्रसंग में—यज्ञेन पृथिवीकाल-विज्ञापकेन (18)
2. अंशु, उपांशु, मैत्रावरुण, मन्थी, आदि के प्रसंग में—यज्ञेन अग्निपदार्थोपयोगेन (19)
3. स्रुच, कलश, ग्रावाण, वेदि, बर्हि आदि के संबंध में—यज्ञेन हवनादिना (21)
4. अग्नि, घर्म, अर्क, सूर्य के प्रसंग में—यज्ञेन संगतिकरण योग्येन परमात्मना (22)
5. एक, तीन, पाँच आदि सख्याओं के प्रसग मे—यज्ञेन सगतिकरणेन योगेन दानेन वियोगेन वा, अर्थात् जोड, गुणन, घटाना, भाग देना आदि अकगणित द्वारा (14)
6. त्र्यवि, दित्यवाद्, त्रिवत्स आदि गाय, भेड, बकरी आदि के प्रसंग में—यज्ञेन पशुपालनविधिना (26), और इसी प्रकार षष्ठवाट्, षष्ठौही, उक्षा आदि के प्रसग में—यज्ञेन पशुशिक्षाख्येन (27)
7. व्रीहि, यव, माष, तिल, गोधूम आदि के प्रसग में—यज्ञेन सर्वान्नप्रदेन परमात्मना (12)
8. अश्मा, मृत्तिका, हिरण्य, लोह, सीस—आदि के प्रसग मे—यज्ञेन सगतिकरणयोग्येन (13)

स्वामी दयानद जब यज्ञ शब्द का अर्थ सगतिकरण करते हैं तो उनका अभिप्राय रसायन विद्या, धातु विद्या, शिल्प, भौतिकी आदि से होता है।

आर्यजगत् में स्वतत्रता के बाद सुदर यज्ञशालाओ के भवन तैयार करने की परिकल्पना उठी, तो हमने देश-देशातर मे भव्य और रमनीक यज्ञशालाएँ बना डालीं—मदिर, मस्जिद और गिरजे भी बहुत बने, परतु आर्यसमाज की प्रेरणा से स्वामी दयानद के अभिप्राय की एक भी यज्ञशाला नहीं बनी। किंतु भारत राष्ट्र तो इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। आज हमारा आर्यसमाज कुछ गिरकर हिंदू बनता जा रहा है किंतु यह अच्छा हुआ कि भारत राष्ट्र न तो हिंदू राष्ट्र बना, न मुस्लिम राष्ट्र। हमारा राष्ट्र अभी तक आर्य (भारतीय) राष्ट्र बना हुआ है। आज हमारे देश मे 100 के लगभग विभिन्न कार्यों की राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ हैं। सैकडो कारखाने हैं, चिकित्सा, कृषि, शिल्प और विज्ञान को प्रोत्साहन देनेवाली यज्ञशालाएँ हैं। इन पर हमें गर्व है। ये सस्थान और सस्थाएँ राष्ट्रीय यज्ञस्थली हैं। किंतु रूढिग्रस्त हिंदुत्ववादी आर्यसमाज आज भी इन्हे उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है।

मैं अपने आज के स्नातकों से आग्रहपूर्वक संकेत करूँगा कि आपकी शिक्षा-दीक्षा आर्यजगत् के सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-सस्थान मे हुई है, इसके लिए आपको बधाई है। आपके कुलपति और कुलाधिपति और अधिकारियों से भी कहूँगा, कि आप अपने अंतेवासियों को दयानद के सपनो को पूरा करने की प्रेरणा दे। इन्हे राष्ट्रवादी बनाएँ। ये राष्ट्रीय सस्थानो मे यशस्वी स्थान प्राप्त करे।

इस सबध में एक घटना का उल्लेख करूँ। कई वर्षों की बात है, एक गृहस्थ था। अपनी पत्नी के साथ स्पेन के प्रसिद्ध नगर बार्सिलोना गया था। वहाँ मरियम

के नाम पर एक गिरजाघर कई दशकों से बन रहा है। आयोजकों की कल्पना है कि वह संसार का सबसे ऊँचा गिरजाघर होगा। अभी केवल आगे की ऊँची दीवार तैयार हुई है। गिरजे के जिस श्रद्धालु पादरी ने मुझे गिरजाघर घुमाकर दिखाया, उसने वेदना भरे भावुक शब्दों में कहा—आज लोग युनिवर्सिटियों को तो धन देते हैं, किंतु भगवान के नाम पर बननेवाले गिरजों के लिए नहीं। यही तो ईसाइयत है, मुसलमान भी ऐसा ही समझता है, अधोगति प्राप्त हिंदू की भी यही मनोवृत्ति है, और आर्यसमाज का व्यक्ति भी इसी मनोवृत्ति में साथ दे रहा है। यह संप्रदायवादिता है, आर्यसमाज को इसी से बचाना है। स्वामी दयानंद इसी मनोवृत्ति से हमे बचाना चाहते थे। वैदिकधर्म यथार्थ जीवन का है, यज्ञमय जीवन का निर्माण वेद की शिक्षा है। उन्नीसवें शतक में वेद के परमोद्धारक ऋषि दयानंद एक मात्र ऐसे धर्माचार्य थे जिन्होंने यूरोप में विकसित ज्ञान-विज्ञान एवं नये शिल्प का स्वागत किया। आज का यूरोप या अमरीकी विद्वान बाइबल की दुहाई नहीं देता। उसका ज्ञान-विज्ञान मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए है। ईसाइयों ने वैज्ञानिकों का विरोध किया, मुसलमानों ने भी विरोध किया। पौराणिक हठाग्राहियो ने भी विरोध किया। हममे से भी कुछ रूढिवादी हिंदू—आर्यसमाजियों ने भौतिकतावाद की गध विज्ञान और शिल्प में पाई, पर विज्ञान के चरण आगे बढते गए। वेद, वेदाग, उपवेद—सबको मिलाकर वर्तमान नाम विज्ञान है। विज्ञान ही मानव मात्र का समान धर्म है। विज्ञान प्रतिपादित-अपौरुषेयत्व में निष्ठा रखना ही सच्ची आस्तिकता है। और इसी अपौरुषेयत्व के प्रति नतमस्तक होना मनुष्य का सहज स्वाभाविक धर्म है। अपौरुषेय सृष्टि में विराट् पुरुष का दर्शन करना और इस पुरुष के साक्षात्कार से व्यक्ति और समाज को शाश्वत नैतिकतत्त्व की ओर अग्रसर करना मनुष्य का स्वाभाविक सहज धर्म है। हम अपने विगत मध्यकालीन इतिहास में हिंदू गणित, ग्रीक ज्योतिष, अरब की रसायन—इन सकुचित भावनाओ के शब्दों का प्रयोग करते थे किंतु आज मानव-मात्र की एक गणित है, एक रसायन है, एक शिल्पशास्त्र है। ऋषि दयानद ने इसी प्रकार की एक कल्पना तथाकथित धर्म के क्षेत्र में की थी। वे समस्त मानव को एक धर्म मच पर, एक आस्तिकता पर और एक नैतिकता पर लाना चाहते थे। आपके गुरुकुल के स्नातकों से भी इस दिशा मे कार्य करने की पूरी आशा हमे थी। हम कभी-कभी आपको ही लक्ष्य करके आवेश में खुशियों के साथ गाया करते थे कि गुरुकुल का ब्रह्मचारी अरब देश मे वेद-घोष ले जावेगा, भारत से दूर वेद का प्रचार करेगा। इस सबका एक अर्थ था कि राष्ट्र या देश की, जाति-पॉत की, संप्रदायों की सीमाएँ लॉघकर एक मानवता को हमारा स्नातक प्रश्रय देगा, सभी देशों के अधविश्वासो और अज्ञानो को दूर करेगा।

हम 22-24 वर्ष के वसु ब्रह्मचारी से बहुत आशा नहीं करते। आप सब स्नातक जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। आप वैवाहिक गृहस्थ जीवन मे रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी बनने की चेष्टा करें। ज्ञान के विस्तारक का नाम ब्रह्मचारी है। ब्रह्म और

वेद शब्द समानार्थक हैं। सृष्टिज्ञान का नाम ही विद्या है। इसके दो भेद हैं—परा और अपरा। मूर्त संबंधी ज्ञान सृष्टि का नाम अपराविद्या है। अपराविद्या ईश्वर में निष्ठा उत्पन्न करती है, किंतु पराविद्या सृष्टि से हमें ऊपर उठाकर सृष्टि रचयिता तक ले जाती है। अमूर्त सृष्टि का ज्ञान पराविद्या है। इस पराविद्या के पाँच अध्याय हैं। पाँचों के विषय अमूर्त हैं—पहले अध्ययन का विषय इंद्रियाँ हैं, दूसरे का प्राण, तीसरे का मानस-क्षेत्र या अंतःकरण, चौथे का जीवात्मा, और पाँचवें का विराट् पुरुष या ब्रह्म। ये पराविद्या के अध्ययन के शीर्षक हैं। उपनिषदों मे इसी विद्या का उल्लेख है। ये पाँचों तत्त्व निराकार हैं। भौतिक या रसायनशास्त्र के क्षेत्र से बाहर इनका क्षेत्र है। इन क्षेत्रों में न्यूटन का सिद्धांत नहीं लगेगा, न आइस्टाइन का। इनका विषय काल्पनिक नहीं है, यथार्थ है। इन पॉच की सहायता के बिना कोई ज्ञान अर्जित नहीं हो सकता। इनके तत्त्वदर्शन के प्रति कोई उपेक्षा की भावना नहीं रख सकता। वेद का अध्ययन इस दिशा मे भी आपका मार्ग प्रशस्त करेगा। आप अपनी ज्ञानपिपासा को बढाते जाएँ। आपका गृहस्थ धर्म इस जीवन में बाधा नहीं डालेगा। ऋषियों की भी पत्नियाँ थीं। ऋषि स्वयं भी ऋषि थे और उनमे से कतिपय की सताने भी ऋषि थीं। कुछ ऋषि-पत्नी भी थीं, और ऋषिकाएँ भी थीं। सरविलियम ब्रैग नोबुल पुरस्कार विजेता हुए और उसका पुत्र ब्रैग (जूनियर) भी साथ ही साथ इस पुरस्कार में उसका साझी हुआ। सर जे.जे थॉमसन ने नोबुल पुरस्कार पाया और उसके पुत्र जी.पी. थॉमसन ने भी। मेंडेम क्यूरी ने अपने पति पीरे क्यूरी के साथ भौतिकी के क्षेत्र में नोबुल पुरस्कार पाया और दुबारा उसकी पत्नी क्यूरी ने रसायन के क्षेत्र में यही पुरस्कार पाया। क्यूरी-परिवार की पुत्री आइरीन क्यूरी और उसके दामाद जोलिओ ने भी साथ-साथ नोबुल पुरस्कार पाया। इस अर्थ मे मैं आपसे कह रहा हूँ कि गृहस्थ जीवन मे प्रविष्ट होकर भी आप ऋषित्व प्राप्त कर सकते हैं। आज आप वसु हैं। मेरी आकाक्षा है कि आपका ब्रह्मचर्य, आपका वेद-प्रेम आगे भी बढे, जीवन भर आपका वेदाध्ययन बना रहे, गृहस्थ रहकर भी आप रुद्र ब्रह्मचारी बने तथा आपका पढा-लिखा तेजोवान् बने। अभी तो आपने ज्ञान का 'अ इ उ ण' सीखा है, श ष स र हल् तक पहुँचते-पहुँचते कई जीवन लगेगे। ज्ञान की कोई सीमा नहीं। परमात्मा की थाह नहीं, परमात्मा की रची सृष्टि की भी थाह नहीं। परमात्मा अज्ञेय है, और उसकी रचना का प्रत्येक कण भी अज्ञेय है। अज्ञेय से अज्ञेय को समझने की पात्रता केवल ज्ञानियो मे है। अज्ञानी अपने तुच्छ ज्ञान मे ही अपनी सर्वज्ञता समझता है। आदित्य ब्रह्मचारी ही यह जानता है कि जो कुछ उसने जाना, वह कितना कम है, शून्य के बराबर। केनोपनिषद् का ऋषि, सुकरात ऐसा तत्त्ववेत्ता, न्यूटन ऐसा वैज्ञानिक ही इस सत्य के आस्वादन का अधिकारी था।

आप सम्भवतया समझते हो, कि गुरुकुल या आचार्य-कुल की परपरा आपकी ही सस्था मे है। उपनिषदों में गुरु-शिष्यपरपरा की कतिपय नामावलियाँ हैं। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की परपरा प्रसिद्ध है। विज्ञान के क्षेत्र मे, यूरोप के विश्वविद्यालयों

में विज्ञान के क्षेत्र में यह परंपरा तीन सौ वर्षों की है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति जिसने विज्ञान के क्षेत्र में कुछ भी यशस्वी काम किया है, अपने गुरु के नाम पर गौरवान्वित होता है। मेरे गुरु अभी जीवित हैं, 93 वर्ष की आयु के। मैं और मेरे गुरु-भाई आज तक भी (80 वर्ष की आयु में भी) उनकी आँख से आँख मिलाकर बातचीत करने की उद्दंडता नहीं करते थे। उनके भी गुरु थे, उनके समय में गुरु की भी यही स्थिति थी। अगर मैं अपनी वशावली बताऊँ तो 200-600 वर्ष पहले के जगत प्रसिद्ध जर्मन रसायन से अपना नाता जोड सकता हूँ। पर यह गुरु-शिष्य सबंध प्रथम स्नातक उपाधि के समय स्थापित नहीं होता। जिस गुरु ने अनुसधान और उच्च अध्ययन के क्षेत्र मे हाथ पकडकर कुछ सिखाया, वह अंतिम गुरु हमारा गुरु है। मेरा एक गुरु और अनेक शिष्य। मेरे एक माता-पिता, उनके अनेक पुत्र। गुरु और शिष्य मे इतना गहरा सबध इन गुरुकुलों में हुआ है, कि गुरु अपने शिष्य को न केवल अपने ज्ञान-क्षेत्र में आलोक देता है, वह उसके मानो पूरे जीवन का उत्तरदायित्व लेता है—कहाँ नौकरी लगे, कहाँ आगे के कार्य के लिए सुविधाएँ प्राप्त हों, और कभी-कभी कहाँ शादी-विवाह हो, इन सबकी उसे चिंता है। मालूम नहीं कि आपके गुरुकुल मे यह परपरा कहाँ तक स्थापित हुई है। पहले गुरु के गौरव से शिष्य गौरवान्वित होता है, और बाद को शिष्य के गौरव से गुरु भी अपने को यशस्वी समझता है। कभी किसी बात मे गुरु की अपकीर्ति हुई, तो शिष्य को उस अपकीर्ति का परिणाम भी भोगना पडता है।

विगत 80 वर्षों मे आपके गुरुकुल ने शिक्षा और आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के सबध मे अच्छी सेवा की थी, आपके अनेक स्नातको के विद्यानुराग से हम सभी परिचित हैं। हिंदी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो मे इन स्नातको ने अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त की। दिल्ली नगरी में 100, 200 आपके स्नातक अच्छा काम कर रहे हैं। मैं किसी एक का नाम नहीं लेना चाहता। देश-देशातर मे मिशनरी का काम भी इन्होने अच्छा किया। आज के स्नातको को अपने इन बडे गुरु-भाइयो के चरणो पर चलने का हौसला बढाना चाहिए। नौकरियाँ तो हम बडे-बडे विश्वविद्यालय-स्नातको को भी नहीं दे पाते, पुन आपको भी हम आश्वस्त नहीं कर सकते। जब कभी मैं आपके गुरुकुल के पुराने स्नातकों के सपर्क में आया हूँ, उनमे एक विशेषता पाई है। वह है—आत्मविश्वास की। यह आत्मविश्वास उन्हे नित्य नूतन सघर्षों के लिए साहस और सामर्थ्य देता है। आपके स्नातक यशस्वी हुए हैं और पी-एच.डी., एम.ए., आचार्य या शास्त्री की उपाधियॉं ले लेने में इन्हे कोई कठिनाई नहीं मालूम होती। वाद-प्रतिवाद प्रतियोगिता मे मैं इन स्नातकों की कुशलता प्रयाग विश्वविद्यालय मे भी देख चुका हूँ।

मैं न तो स्नातको को उपदेश देने का साहस करूँगा और न अधिकारियों को सुझाव, पर कुछ बातें अवश्य कहूँगा। तैत्तिरीय उपनिषद् के उद्बोधन से उत्तम और उद्बोधन हो ही क्या सकता है? स्वतत्रता के बाद राष्ट्रीय वातावरण मे सभी

भारतीय विश्वविद्यालयों ने पूर्णतया या अंशतः इसे अपना लिया है। यह उद्बोधन किसी संप्रदाय की बपौती नहीं है। उस समय का है जब मानवता संकीर्ण संप्रदायों में बँटी थी—न हिंदू था, न बौद्ध, न ईसाई और न मुसलमान।

आज युग विशेषज्ञता का है। आपके विश्वविद्यालय, महाविद्यालय या गुरुकुल की कुछ विशेषता होनी ही चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय अपने पाठ्यक्रम, पठन-पाठन पद्धति आदि विवरणों में स्वतंत्र है (सीमा या बाधा केवल अर्थतंत्र की है, अनुदानों की है)। आप पूर्ण स्वतंत्रतापूर्वक अपने संस्थान की विशेषता का विकास करें। ऊँचे स्तर पर पहुँचकर कोई भी शिक्षा संस्थान सभी विषयों के अध्ययन का भार नहीं ले सकता। मेरा सुझाव है, कि अन्य संस्थानों का आप न तो अनुकरण करें, और न उनसे प्रतियोगिता। आप अपने लिए सीमित क्षेत्र का वरण करें। स्मरण रक्खें कि विज्ञानविषयक शोध संस्थान आप नहीं चला सकते। आज यह क्षेत्र इतना व्ययसाध्य है कि इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के पुराने विश्वविद्यालय भी अपने को इस कार्य के लिए दरिद्र पा रहे हैं।

आप स्नातक कक्षाओं में विद्यार्थियो की संख्या बढाने की आतुरता न दिखावें। आप अपनी पद्धति के गुरुकुलों से देश की उत्तरोत्तर बढती हुई संख्या के शिक्षण की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते।

आप अपने गुरुकुलों में ऐसे स्नातक तैयार करें, जो वैदिक वाङ्मय के ऊँचे विद्वान हैं। अष्टाध्यायी निरुक्त महाभाष्य के महाविद्वान हों, इन्हें आप भाषाशास्त्र के विद्वान बनाएँ। इस क्षेत्र में काम करने के लिए तपस्या करनी पडेगी। एकाध आचार्य और दो-चार शिष्य लैटिन, ग्रीक और प्राचीन आशाओं की भाषाओं के विशेषज्ञ बनें, और भारत के प्राचीन इतिहास के मर्मज्ञ हो। चीन की पुरानी संस्कृति का ये अध्ययन करें और धीरे-धीरे इस क्षेत्र को विकसित करे। आपका संग्रहालय और पुस्तकालय इन सीमित क्षेत्रों में संपन्न हो।

आपके प्राच्य-विभागीय छात्रों को भी ससार की गतिविधि से परिचय होना चाहिए। पाठ्यक्रम से बाहर इनके लिए कुछ विशेष व्याख्यानों का प्रबंध करना होगा। चुने हुए कुछ आचार्यों और कुछ शिष्यो को ऐसे कामों के लिए आपके अधिकारियों को प्रोत्साहन देना होगा।

आर्यसमाज के प्रति भी आपके गुरुकुल का एक कर्तव्य है। मैं आपसे पुरोहित तैयार करने के लिए नहीं कहता। निष्ठावान् तपस्वी, उच्चस्तरीय मिशनरी आपको तैयार करने होंगे। देश के अनेक प्राचलों में आपके स्नातक काम करने का अवसर प्राप्त करें, आर्यसमाज की सस्थाएँ इनका भरणपोषण कर निकटवर्ती एव दूरस्थ देशों में इन्हें भेजें। ये सेवा-व्रती अपने कार्य के योग्य आपके माध्यम से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करें, और कार्यरत हो, तो आर्यजगत् को भी गुरुकुल पर भरोसा होगा।

बहुत दिनों से मेरी कल्पना रही है कि उच्चस्तरीय अनुसंधान या शोधपत्रिका आर्यजगत् की भी होनी चाहिए। होशियारपुर से एक पत्रिका निकलती है। आपके

गुरुकुल से वैदिक मैगजीन निकलती थी, एक वैदिक पाथ निकलता है। ये पत्रिकाएँ आज की दृष्टि से स्तरीय या मानक नहीं हैं। यदि इन पत्रिकाओं का जीवन क्षणिक है, तो ये यशस्वी नहीं हो सकतीं। मैं स्वयं प्रयाग के विज्ञान परिषद् से विज्ञान शोध संबंधी एक पत्रिका (विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका) लगभग 27 वर्ष से निकाल रहा हूँ—यह हिंदी भाषा की एक मात्र अधिकृत शोध पत्रिका है। यदि गुरुकुल को ऐसी पत्रिका निकालनी है, तो गुरुकुल के पास कम से कम पाँच लाख रुपए की एक स्थायी निधि होनी चाहिए। इतनी धनराशि से पचास-साठ हजार रुपया वार्षिक ब्याज आवेगा। तब आश्वस्त होकर उसके ब्याज से त्रैमासिक उच्चस्तरीय पत्रिका निकाली जा सकेगी। आज अनेक विश्वविद्यालयो ने दयानद पीठ की स्थापना की है। इनकी सख्या बढती जाएगी। बिना स्तरीय शोध पत्रिका के इन पीठों का काम भी अधूरा रहेगा। क्या आर्यसमाज के क्षेत्र में गुरुकुलों में निष्ठा रखनेवाले पाँच-दस धनी-मानी ऐसे व्यक्ति नहीं मिल सकते जो इस काम के लिए एक-एक लाख रुपया दे दे ? शोध सस्थान खोलने की बात मैंने कलकत्ते में भी सुनी, बंबई में भी, दिल्ली मे भी और अजमेर मे भी। शोध-संस्थान का नाम तो लोगो ने सुना है, किंतु शोधकार्य के लिए शोधकर्ता को जो शोध-स्वतत्रता चाहिए, उसे कोई देने को तैयार नहीं है। हमारा समाज भी रूढियों से बँधा हुआ है। शोधकर्ता अपने क्षेत्र मे कल्पना की मुक्त उडान लेता है, दूसरो को भी उसकी प्रत्यालोचना करने का अधिकार है, पर विचारों के स्वातत्र्य और उनके प्रकाशन मे कोई बाधा नहीं डाल सकता। आपका गुरुकुल सस्थान इस कार्य को उदारता से प्रारभ करे तो बहुत अच्छा होगा। आप नहीं करेंगे तो कोई करेगा ही। सभवतया युनिवर्सिटी वालों को करना पडे। गुरुकुलो और युनिवर्सिटियो में अब निकट का सपर्क बढाना चाहिए।

स्वतत्रता के बाद हमारे सम्मुख विगत कई वर्षों से दुखद कहानियाँ भी आईं। उत्तर भारत में यह विषाक्तता तेजी से फैली। हमारी समस्त शिक्षा-संस्थाएँ इसके कलुषित प्रभाव से ग्रस्त हो गयीं। अभी यह प्रभाव मिटा नहीं है। विद्यार्थियो मे यह विष ऐसा फैला कि उनके लिए अभिशाप बन गया। इसमे सबसे अधिक हानि युवकों और छात्रो की हुई। ये संयम खो बैठे, दूसरो ने अपने स्वार्थ के लिए उन्हे मूर्ख बनाया। आपका गुरुकुल भी उस प्रभाव से बच न पाया। मैं अनैतिक तत्त्वों की बात नहीं करना चाहता, जिन्होने यह स्थिति पैदा कर दी, गुरुकुल की प्रतिष्ठा हानि हुई है, और विश्वविद्यालयो की भी।

1947 से पूर्व देश परतंत्र था, उस परतंत्रता मे भी विश्वविद्यालयो को स्वतत्रता प्राप्त थी, और उस समय का शासक उस स्वतत्रता का सम्मान करता था। देश स्वतत्र हो गया, किंतु हमारी परतत्रता बढती गई। आर्थिक परतत्रता आई, राष्ट्रीयकरण हुआ, जिसका अर्थ था सरकारीकरण। सरकारीतत्र की अस्थिरता ने देश में उच्छृंखलता पैदा की। उत्तरदायित्वों से शून्य अधिकारी की माँग बढी, और इसका अवश्यभावी परिणाम युवकों को भोगना पडा। युवक आज की भयकर परिस्थिति के

जनक भी हैं और भोक्ता भी, ऐसे पर्यावरण में मैं गुरुकुलों के आदर्शों की बात ही नहीं करना चाहता।

नवस्नातकों को बहुत-बहुत आशीर्वाद और शतशः बधाइयाँ! आप और आपके गुरुकुल के गौरव मे देश का गौरव है। मेरी समस्त शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। मैंने वहीं कार्य किया। उनकी एक-एक ईंट पर मुझे गर्व है, और प्यार है। पर जब आज उसकी धरती पर चलता हूँ, तो आँखों को नीचे किए हुए, सशकित-सा, जहाँ वर्षों से दीक्षात समारोह न हो पाया।

[सन् 1984]

कुलमाता की सेवा : सच्चा धर्म

आर्यरत्न पंडित सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार

"सत्य शिव सुन्दरम्"—"सत्य परंधीमहि"

कुल पवित्रं जननी कृतार्था वसुधरा पुण्यवती च तेन।
अपारसवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेत ।।

इन शब्दो के साथ, सौम्य-स्वभाव नवदीक्षित नवस्नातको ! मेरा स्नेह और सत्कार तुम्हे स्वीकृत हो।

विश्वविद्यालय गुरुकुल कागडी के अधिकारीगण ने इस वर्ष दीक्षात भाषण देने के लिए निमत्रित कर मुझे आदृत किया है, इसके लिए मैं सबका आभारी हूँ। मुझे अपने गुरुकुलो से विशेष स्नेह है, जो स्वाभाविक है, क्योकि मैं भी आपकी तरह से ही, गुरुकुलो मे ब्रह्मचारी रहते हुए, इसी कुलभूमि से स्नातक रूप मे दीक्षित हुआ था। मेरे मन, बुद्धि और आचार-विचार पर गुरुकुल शिक्षा का अमिट प्रभाव रहा है और उसके द्वारा ससार की सब तरह की भिन्न-भिन्न विपदाओ, सकटो और आधि-व्याधियो में से गुजरते हुए, प्रभु मे अगाध विश्वास रखते हुए, किसी भी रूप मे सदा कर्मयोगी-निःश्रेयस् मार्ग का दर्शन करता रहा हूँ। जीवन-यात्रा मे समय-समय पर गुरुकुल बधुओं से मिलते हुए सदा ऐसा अनुभव हुआ है जैसे अपने सगे-जैसे गुरु-भाइयो से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इस मिलन मे कितना स्नेह, श्रद्धा, सरलता और पारस्परिक विश्वास प्राप्त होता है, इसके बारे मे तो यही कहूँगा—*"स्वय तदत करणेन गृह्यते।"*

जब गुरुकुल कुरुक्षेत्र में अध्ययन किया तो वैदिक ब्रह्मचर्य जीवन में *'भगवद्गीता'* ने अद्भुत जीवन-ज्योति के लिए वैदिक कर्मयोग का अमिट आलोक प्रदान किया। गुरुकुल इद्रप्रस्थ मे भारत की राजधानी दिल्ली या इंद्रप्रस्थ के उत्थान और पतन का इतिहास सदा सामने रहा और जब गुरुकुल कागडी की पुरानी और नई भूमि मे आवास हुआ तो गगा का वातावरण सदा के लिए जीवन पर छा गया। गंगा अपने साधारण स्वरूप को छोडकर 'ज्ञान-गगा' के प्रवाह मे हमे तैराती थी, डुबकियाँ दिलाती थी और अनमोल जीवन-प्रवाह का मधुर सदेश देती थी। यहाँ पर ही अनुभव होता था कि गगा के साथ खडे पर्वत, जगल, नदी नीर, सभी अपना-अपना सदेश

लिए हमें जीवन के विशाल रूप को दे रहे थे। गुरुजनों की कृपा से हमे कर्तव्य का उद्बोधन होता था और जिस कुलमाता की गोद में हम प्रेम से पल रहे थे उसके सवेदन से सहसा हृदय की धड़कनों में एक गूँज उठती अनुभव होती थी, जिसके स्वर थे .

वन पर्वत में नदी नीर में माता जो पाया संदेश।
तेरी पुण्यपताका लेकर फैला दूँगा देश–विदेश।।

सचमुच यह भावना सदा साथ में रही और तदनुसार भारत तथा विश्व के विविध प्रदेशो मे यथाशक्ति और यथासंभव वैदिक पुनीत सदेश पहुँचाने में मैंने तन, मन, धन आदि सभी साधनों से कार्य किया है। आर्य संस्कारों के पले सभी अपने पारिवारिक जनों से भी पर्याप्त सहायता मिली।

यह सबकुछ गुरुजनो की कृपा का फल था। गुरुजनो का प्रेम तथा जिज्ञासाओं मे उद्बोधन सदा आनदप्रद रहा है। उनके आशीष वचनो का वरदान भी मिलता रहा है, इसी से नतमस्तक होकर अपने सब गुरुजनो का विशेष श्रद्धा के साथ अभिनदन करता हूँ। यथायोग्य रूप से गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के परमोत्कर्ष की भी हृदय से कामना करता हूँ।

अपने इस कुल की आत्मा का स्वरूप कुलपिता श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानद के व्यक्तित्व से अनुप्राणित था। वैदिक ज्ञान की विशुद्ध धारा, गुरु-शिष्य परपरा द्वारा, शिक्षा-दीक्षा की सरस्वती के प्रवाह रूप में अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हुई थी। परतु बीच मे आ गयी बहुत-सी चट्टानो से टकरा गई और भिन्न-भिन्न धाराओं मे बहने लगी। मुख्य धारा कुछ विलुप्त-सी प्रतीत होती है—जब से भारत विप्लव या विभाजन की अवस्थाओ मे से गुजर रहा है, भविष्य ने इस सबका निर्णय करना है। इसी से यह कहने का साहस करता हूँ कि महर्षि दयानद की वैदिक श्रद्धा फिर से किस रूप में उभरेगी यह अब भविष्य का विषय हो गया है। वर्तमान तो धूलधूसरित या धूमिल है।

वैदिक वाड्मय मे, *'व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षया दक्षिणामाप्नोति, दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते'*—इस मत्र का संदेश हमारी सपूर्ण शिक्षा का उपसहार बता रहा है। ब्रह्मचर्य व्रत से आगे बढते-बढते श्रद्धा की प्राप्ति और उससे परम सत्य का दर्शन या अनुभव, यही परमार्थता है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् का मार्ग प्रशस्त होता है। *'यो यच्छृद्ध स एव स.।'*

इन दिनो में ससार विशेष रूप से दो विभागों में बँट गया है। दोनो का स्वरूप दक्षिणापक्ष (Right Wing) और वामक या वाम पक्ष (Left Wing) में है। निःश्रेयस् मार्ग की तरफ़ सदा दक्षिणपक्षीय आते हैं और क्रांतिमय लौकिक प्रेयमार्गी वामक पक्ष के हैं। ये सत् और असत् की विचारधाराएँ हैं। एक तरफ दैवी प्रवृत्ति उभरती है और दूसरी तरफ आसुरी प्रवृत्ति। परिणाम दैवी सपत् का सचय या आसुरी सपत् की प्राप्ति

होती है। इस पर गीता के विशेष प्रवचन ध्यान देने योग्य हैं। संसार को इन दो दृष्टियों में आसानी से समझा जा सकता है। दीक्षा से दक्षिण पथ का अनुसरण करना ही वैदिक वाङ्मय का आदेश है। श्रेय मार्ग अभ्युदय को समुचित रूप से स्वयं ही खींच लाता है और इससे 'धर्मसिद्धि' प्राप्त हो जाती है– *"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।"* अतः धर्म का सदा ध्यान रखना उचित है– *"धर्मो धारयते प्रजा।"*

निराहार रहने में लोगों ने व्रत-दीक्षा को समझ लिया है। यह आरोग्य का एक साधन है। हमारी महान् शिक्षाएँ इससे बहुत आगे बढ़ जाती हैं। योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने यम-नियमों के विवेचन में यमों को अर्थात् *'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः, एताः जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमाः महाव्रतम्"* कहकर संसार को सार्वभौम महाव्रत का संदेश दिया है जिससे संयमित संसार सुख और शांति को आसानी से प्राप्त कर सकता है। संसार को सार्वभौम महाव्रत में दीक्षित किया जाना शिक्षा का सार्वभौम यौगिक अंग माना है जिससे शिक्षा की पूर्णता होती है। योगिराज पतंजलि के यम-नियम (Law and Order) एक शाश्वत सनातन आर्य-धर्म हैं। इनके प्रति निरपेक्षता तो आत्महत्या के रूप में ही समझी जानी चाहिए। यही वैदिक धर्म मार्ग है।

संसार के प्रथम कानूनदाता महर्षि मनु के *'दशकं धर्मलक्षणम्'* एवं *'आचारः प्रथमो धर्मः' 'न हि सत्यात् परो धर्मः', 'व्रतपते...अनृतात् सत्यमुपैमि'* आदि वचन तथा वैदिक धर्म का मानव धर्म सदा ही मनुष्यों को *'सर्वभूतहिते रताः', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'सर्वजनसुखाय', 'सर्वजनहिताय', 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'* आदि से मनुष्यों की सार्वभौम विचारधारा की ओर ध्यान खींचता है। हमारे ऋषियों ने या धर्मग्रथो ने दैशिक दृष्टि (Nationalist View) को तुच्छ समझते हुए मानव मात्र को भाई-बधु के रूप में ही पहचाना है। *'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः', 'पृथिव्यै अकरं नमः',* 'नमो मात्रे पृथिव्यै' आदि वैदिक पृथिवी सूक्त के मत्रोपदेश और निर्देश हमारी सस्कृति को संसार के उच्चतम शिखर पर ले जाते हैं।

भौतिक विज्ञान की उपलब्धियो से संसार एक बहुत छोटी इकाई बन गया है। रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन, कम्प्यूटर आदि के आविष्कार तथा तेज रफ्तार से उड़नेवाले हवाई जहाजो से दुनिया अब एकदेशीय है। हमारे सब विचार अब सार्वभौम दृष्टि से ही होने चाहिए। ससार को विनष्ट करनेवाली प्रवृत्तियो–बड़े-बड़े एटम बम, मिसाइल्स, जगी जहाज, विषैली गैसें, कीटाणु बम आदि के हथियारों–का संबंध प्राणिमात्र के जीवनों से है। आवश्यकता है कि जीवनमात्र को नष्ट करनेवालों–आसुरी प्रवृत्तिवालों–के प्रति विरोध भावना बचपन से ही बच्चों की शिक्षा का अभिन्न अंग हो। इससे जहाँ सदाचार या धर्मसंस्थापना होती है और नैतिकता के धर्मचक्र का प्रवर्तन होता है, मनुष्यो को संरक्षा पाने मे जनता के नैतिक प्रभाव का बल प्राप्त हो जाता है। पृथिवी सूक्त के वैदिक संदेश को एक सार्वभौम शाश्वत धर्म के रूप में संसार की सब संस्थाओं, शिक्षणालयो, धर्मस्थानों में गर्व से रख सकते हैं। कोई भी

मतमतांतर इससे उच्च रूप में नेतृत्व न दे सकेगा। शब्द स्पष्ट हैं :

> *"सत्यं बृहद् ऋतमग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति, सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।" "मानो द्विक्षत कश्चन मा नो द्विक्षत कश्चन।"*

नवदीक्षित स्नातको, यहाँ पर 'दीक्षा' शब्द पर विशेष ध्यान देना। साथ के शास्त्र वचनों को भी याद रखना :

> *माता मे पृथिवी देवी, पिता देवो महेश्वरः।*
> *मनुजाः भ्रातरः सर्वे स्वदेशो भुवनत्रयम्।।*

इसके बाद मैं आपको याज्ञिक-दीक्षा की तरफ भी आकर्षित करना चाहूँगा। हमारी शिक्षा-दीक्षा में यज्ञ की प्रधानता है– *'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म।'* हमें पंचमहायज्ञों पर चिंतन को समाप्त नहीं करना चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से राजसूय तथा राष्ट्रमेध यज्ञों का भी नवीन रूप में विधान समझना चाहिए। इससे हम चक्रवर्ती राज्य (One-World Welfare State) की दिशा को भी दृष्टि मे रख सकते हैं। भिन्न-भिन्न अंतर्राष्ट्रीय संगठन संगतिकरण रूप से यज्ञ रूप में प्रवृत्त हो रहे हैं। हमें भी इस तरफ आगे बढ़ना है। इन यज्ञों में लौकिकता का विशेष प्रभाव न हो सके परंतु आध्यात्मिकता पनपती हो, इसे ध्यान में रखना चाहिए।

संसार में आधुनिक वैज्ञानिक युग में मनुष्य आकाश में दूर से दूर पहुँच रहा है। चंद्रमा पर तो वह अपने पैर भी फैला चुका है। धरती के विस्तृत भू-खंडों पर, उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों के विशाल प्रदेशों पर भी पर्यवलोकन हो रहा है। समुद्रों और धरती की गहराइयाँ भी मापी जा रही हैं। इन सब बड़ी-बड़ी दूरियों और गहराइयों को मापते हुए लौकिक पुरुषों ने अपनी बड़ी से बड़ी विजयों के झंडे गाड़े हैं। परंतु इस धरती पर बसनेवाले मानवों के हृदयों, मनों और बुद्धियों की गहराइयों को मापना अभी तक सीखा नहीं गया है। मनुष्य के मन और हृदय को अंदर से जीतने में और उसमें प्रेम, सहानुभूति, उत्साह, सहायता तथा धीरता आदि का शांतिमय संदेश नहीं दिया जा सका है। यह मार्ग अभी तक प्रशस्त नहीं हुआ। यहाँ पर आकर भौतिक विज्ञान असफल हो गया है। यहीं से हमें श्रेयमार्ग को प्रशस्त करना है और यह यज्ञमय जीवन से प्रारंभ होता है। *'बहुविधा यज्ञाः वितताः ब्रह्मणो मुखे'* का ध्यान रखते हुए हमें वर्तमान में द्रव्य-यज्ञों के प्रति बढ़ती प्रवृत्ति को अंध-श्रद्धा की तरफ जाने से रोकना होगा। हमें यज्ञों की विविधता तथा विशालता को भी समझना चाहिए। संयतेन्द्रियता से ये यज्ञ ज्योतिर्मय हो जाते हैं। समझना चाहिए कि :

> *द्रव्ययज्ञा तपोयज्ञा योगयज्ञा तथापरे।*
> *स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।*

श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।
श्रद्धावान्-लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति।।

श्रद्धापूर्वक विभिन्न यज्ञों से, यज्ञमय जीवन से, ज्ञान प्राप्त करते हुए शांति की प्राप्ति सहज हो जाती है। हमारे भूतकाल में ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान सदा तीव्र रूप मे अग्रसर होता हुआ, सामाजिक जीवनों में विशुद्ध दृष्टि (Vision) या चिंतन को प्रदान करता था। ज्ञान की धारा लौकिक और अलौकिक, प्रेय और श्रेय, आसुरी तथा दैवी, वामकपक्षी या दक्षिणपक्षी आदि द्वंद्वों में संघर्षात्मक दृष्टि से आगे बढ़ी थी। दर्शनशास्त्र या आन्वीक्षिकी विद्या का इसमें विशेष भाग है। बडे-बडे ऋषि, मुनि और आचार्य जब उपरोक्त असत् और सत् विचारधाराओं पर गंभीर मथन करते थे तो जातियों के जीवन परिवर्तित हो जाते थे। धर्म, संस्कृति, सभ्यता और समाज-रचना के नए-नए स्रोत बह निकलते थे और संसार को नवजीवन प्राप्त होता था। मैं वर्तमान युग में ज्ञानी पुरुषों में भारतीय आन्वीक्षिकी विद्या या दर्शनशास्त्र की पूर्ण चर्चा का किया जाना आवश्यक समझता हूँ। यह विश्वविद्यालयों की पुण्यस्थली में ही समुचित रूप से हो सकेगा। जब 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द बार-बार सुना जाता है तो लौकिक दृष्टि से धर्म शब्द तिरस्कृत हो जाता है। जब वैदिकी ज्ञानधारा *'आचारः प्रथमो धर्मः', 'धर्म चर'* का उद्घोष करती है तो `Secular' शब्द धर्मनिरपेक्षता के अर्थों मे 'आचारनिरपेक्षता' की तरफ खींच ले जाता है। यही कारण है कि वर्तमान भारतीय समाज में 'भ्रष्टाचार' बुरी तरह से फैलता जा रहा है और नैतिक मूल्य गिर रहे हैं। 'धर्मसंस्थापन' या 'धर्मचक्रप्रवर्तन' एक हँसीमात्र दिखाई देते हैं। धर्म शब्द महान् है—यह कर्तव्य, पुण्यकार्य, कानून तथा व्यवस्था आदि में मुख्यत प्रयुक्त होता है। 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द को सरकारी रूप से तिलांजलि दी जानी चाहिए। भिन्न-भिन्न मतों या संप्रदायों के साथ धर्म शब्द का व्यवहार हमारी अशिक्षा का परिचायक है। सब सप्रदायों के प्रति उदारता का परिचय देना, विभिन्न मतभेदों में भी पारस्परिक आदरभाव रखना, मानवमात्र को भाईचारे से वर्तना, ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास रखना `Secular' शब्द का अर्थ नहीं है। भारत में इस विषय में अर्थ का अनर्थ किया जाना रोकना चाहिए। `Secular' विचारधारा वामपक्षीय लौकिक विचारधारा है जो अनीश्वरवादी नास्तिक विचारों से ओतप्रोत हो जाती है।

जब वैदिक परंपराओं में याज्ञिक हिंसा और दुराचार प्रवृत्त हुए और लौकिक दृष्टि ही प्रमुख हो गई तो बौद्ध धर्म ने पुरानी सदाचार की धर्म-मर्यादाओं को स्थापित किया था। नए-नए विचारों से दृष्टि परिवर्तन भी हुआ। करीबन डेढ हजार वर्ष पूर्व से हमारे वैदिक और अवैदिक—सत् और असत्—दार्शनिकों का ज्ञानचर्चा-द्वद्व अत्यत

गंभीरता से चलता रहा है। वैदिक आर्य दर्शनों पर बौद्ध आचार्यों के घात-प्रतिघात थे। इस संघर्ष में कई सदियाँ बीत गईं। आर्य दर्शनों के ऋषि कपिल, कणाद, गौतम, पतजलि, व्यास, जैमिनी आदि का सम्पोषण समन्वयात्मक दृष्टि से अग्रसर करने में वात्स्यायन, उद्योतकाचार्य, शकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य आदि थे तो दूसरी तरफ असत् विचारधारा मे बौद्ध दार्शनिकों ने भी प्रतिघात किए। इनमे नागार्जुन, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, कल्याणरक्षित, अतिशा, वसुबंधु, आसग आदि प्रौढ विद्वानों द्वारा गभीर चिंतन होता रहा और ज्ञान का चतुर्मुखी प्रवाह बहता रहा। इस तरह से दीर्घकाल के संघर्ष मे अत्र में वैदिक विचारधारा ने ही 'सत्पक्ष' मे भारत की विजय को स्थापित किया। अब वही विचारधारा आगे सैमेटिक विचारो से टकरा गई है। इसमे महर्षि दयानद का प्रकांड साहस, दूरदर्शिता, गभीर चितन तथा सार्वभौम सस्कृति, धर्म, सभ्यता को समन्वय रूप से वैदिक धर्म के मानववाद मे पाना अभी गभीर चितन का विषय है जिसे भविष्य ने अपनी कसौटी पर परखना है।

भारत की सपूर्ण विचारधारा गुरु-शिष्य परपराओ द्वारा बडे-बडे गुरुकुलों या विहारो मे पनपी थी। भगवद्गीता की वैदिक कर्मयोग की राजविद्या भी गुरु-शिष्य परपरा से ही विकसित हुई थी।

इम विवस्वते योग प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे।।

इत्यादि परपरा प्राप्त ज्ञान है। क्षत्रविद्या के लिए हमे तक्षशिला गुरुकुल के आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य के शिष्य सम्राट् चद्रगुप्त को भूलना नहीं चाहिए। इसी तरह से महर्षि पतजलि द्वारा शिक्षित सेनापति पुष्यमित्र को भी भुलाया नहीं जा सकता। नवरत्नविभूषिता उज्जयनी के महाराजा विक्रमादित्य को भी सदा याद रखना चाहिए। इन्होने भूतकाल मे आर्य जाति की स्वतत्रता को अखड रूप से स्थापित किया था और भारत को शिरोमणि राज्य का स्थान दिलाया था। उस समय ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय से भारत पुण्यलोक बन गया था।

राजधर्म को समझाने में जो कार्य रामायण तथा महाभारत ने किया है एवं भारतीय स्मृतिग्रथो ने जो ज्ञान भारतीय मनीषियों को समय-समय पर दिया है, उस सबका भी पुन. भारतीय दृष्टि से चिंतन आवश्यक है। वर्तमान सास्कृतिक या राजनैतिक विचारधाराएँ भारतीय चिंतन में से न आकर विदेशी या पराये रूप में हम पर लद-सी गई हैं। यह गभीर चिंतन भारतीय समाजशास्त्रियों का अब विशेष विषय है। हम सबकुछ अग्रेजी की ऐनक से देखते हैं और जैसा दीखता है उसी मे सत्य का दर्शन समझते हैं। अपनी स्वयं की आँखों की विशुद्ध दृष्टि ही अततः यथार्थ होगी, इसे जानना चाहिए।

सपूर्ण भारत की भौगोलिक एकता को कविकुलगुरु कालिदास ने 'कुमारसभव' के प्रारभ में अत्यंत मधुरता से दिया है :

अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।।

इसी तरह से 'रघुवंश' में रघु की सेनाओं ने जिस स्वराज्य की स्थापना की थी और जिसके द्वारा सूर्यवंश या रघवुंश ने भारतीय राजतंत्र में 'राम-राज्य' की विचारधारा को सनातन रूप दिया था, वह भी भुलाया नहीं जा सकता। रघुवंश ने भारत के भौगोलिक स्वरूप को स्थायी दृष्टि दी थी। राघववंश के रामराज्य की दृष्टि से भारत का केंद्रीकरण सदा ही हमारा उद्देश्य रहना चाहिए।

अयोध्या से निकलकर जब महाराजा रघु ने केंद्रीकृतार्थ (for integration) महाभारत निर्माण में जो सेना-प्रस्थान किया था वह पहले पूर्व की तरफ बढा था। मगध राज्य और सुह्य राज्यो को परास्त करते हुए बगदेश के अतिम किनारे तक रघु के झंडे गड गए थे। इसी तरह से गंगासागर के सब द्वीपों को वश में कर उडीसा और कलिंग देश को वशवर्ती किया। पास के सब पहाडी प्रदेशो पर भी अपना झडा फहराते हुए रघु ने महेन्द्र पर्वत पर अधिकार जमाया। इस तरह से पूर्वीय भारत पर विजयपताका फहराकर वे दक्षिण दिशा की तरफ समुद्रतट के साथ-साथ चले। कावेरी नदी के सब भू-भागो को—पाण्ड्य राजाओं सहित—वशवर्ती करते हुए केरल प्रदेश को जीतकर वे भारत के सपूर्ण पश्चिमी प्रदेश पर छा गए। उधर से स्थल मार्ग से ही पारस देश (पर्शिया) मे प्रविष्ट होकर उसके बडे भाग को समेटते हुए सिंधु नदी के पश्चिमी प्रदेशो में उन्होंने प्रवेश किया, जहाँ अपगणस्थान के कम्बोज या काबुल के राज्य को अपने साथ मिलाया। इसके बाद हिमालय के महान् प्रदेशों मे सब राज्यों को वशवर्ती करते हुए अपने पराक्रम का सिक्का बिठा दिया। हिमालय की लौहित्य नदी को पार कर वे प्राग्ज्योतिष या आसाम मे आ पहुँचे थे। इस तरह से महाभारत भूमि की पूरी परिक्रमा विजय द्वारा स्थापित कर उसका स्थायी मानचित्र बना दिया गया था। इस तरह से आर्य साम्राज्य की पूर्ण स्थापना कर वे वापस अयोध्या में आ गए थे। विकेंद्रित भारत एक महान् केंद्रित (integrated) महाभारत मे बदलकर 'रामराज्य' में चरमोत्कर्ष पर पहुँचा था जिसका वर्णन महाभारत के शांतिपर्व मे *'रामे राज्यं प्रशासति'* प्रकरण मे देखा जा सकता है। इन सब विजयो में रघु ने आर्य-मर्यादाओं का कभी त्याग नहीं किया। जिसे जीता उसे सन्मार्ग पर लगाकर राज्य उसे ही सुराज्य स्थापना के लिए दे दिया। कोई बदले की भावना न थी। कोई ईर्ष्या या द्वेष न था। रघु ने विशाल स्वराज्य या धर्मराज्य को पैदा किया और राम ने 'सुराज्य' रूप मे परमार्थता का दर्शन दिया। साम्राज्य स्थापना मे दिग्विजय के बाद रघु ने 'विश्वजित्' यज्ञ को किया और *'परोपकाराया सतां विभूतय', 'सर्वभूतहिते रता', 'सर्वजनसुखाय'* के वैदिक आर्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सबकुछ दक्षिणा रूप से दान मे देकर उन सब राजाओ को सम्मानित किया जो रघु से युद्ध में हार जाने से अपने को लज्जित तथा तिरस्कृत समझते थे। सभी

को पूर्ववत् मान-मर्यादा देते हुए स्वय एक तपस्वी, निर्धन, वानप्रस्थी बनकर ऋषि आश्रमों में चले गए, क्योंकि *'योगेनान्ते तनुत्यजाम्'* का उद्देश्य जो पूरा करना था।

इस तरह से मैंने भारत की प्राचीन गौरवगाथा आपके सामने रक्खी है। इससे ससार की महान् शक्तियों को बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है। रघुवीर और यदुवीर जैसे आर्यवीर भारत के सदा चमकते सूर्य और चाँद की तरह प्रकाश और जीवन देनेवाले हैं। महर्षि दयानद के सामने भारत की यह गौरवगाथा सदा ज्योति-स्तंभ की तरह भविष्य का पथ-प्रदर्शन करनेवाली रही है।

भारत में बहुत से साम्राज्य आए और उजड गए। उनमें भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ या सभ्यताएँ बनीं और उजडती रहीं। परंतु आर्यत्व की महिमा पर और उसके उच्च आदर्शों पर कभी आँच न आ सकी। शरीर मर गया, परतु आत्मा सदा अपनी अमरता का सदेश देती रही। ऐसी भावना को ही हमने गुरुकुल संस्थाओं में फिर से धीमे-धीमे पनपाना है। हमारे शिक्षा-केंद्र या गुरुकुल, शिक्षा की व्यापारी दुकानें न बनें, परंतु पुण्यभूमियाँ बनें, जहाँ पहुँचते ही मनुष्य को सुख, शांति, साहस, धैर्य और ईश्वरीय जीवन का आनद मिलता हो, जहाँ मनुष्य नतमस्तक होकर आता हो और अपनी झोली को 'दैवी संपत्' से भरकर ससार में यह संपत् बाँटता हो या बिखेर देता हो। यही हमारी लक्ष्मी पूजा है, इसी में हमारी सरस्वती वदना है और पुण्यभूमि की अर्चना है— *'इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।'*

इस सबके बाद मुझे आपको वैदिक धर्म, आर्यसमाज तथा महर्षि दयानद के विषय मे भी कुछ कहना है। यद्यपि ये तीनों अलग-अलग हैं परंतु तीनों में एक समन्वय भी है।

वैदिक धर्म हमारी सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, आचार, मर्यादाओं आदि का आधार है, जिसके बिना हम खडे नहीं हो सकते। आर्यसमाज या आर्य राष्ट्र एक समाज-रचना या राष्ट्र-रचना का विशिष्ट विधान है जो सब संसार को, प्राणिमात्र के उपकार के उद्देश्य से, मानव को मानव से भाईचारे मे जोड देता है। यहाँ *'वसुधैव कुटुंबकम्'* का आदर्श सामने आ जाता है। इस दिशा को दिखानेवाला महान् नेता दयानद है, जिसने हमें अपने भूत, वर्तमान और भविष्य के लिए उद्बोधित किया है। हम औरो की दृष्टि में बहुत पिछड गए प्रतीत होते हैं। इसी से जागरूक होने की हमारी आवश्यकता है। हमारी वाणी में, हमारे आर्य नेता जागरूक नहीं, इसी से कहता हूँ— *'वय राष्ट्रे जागृयाम स्याम पुरोहित', 'अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु', 'देवसेना सूर्यकेतव प्रचेतस अमित्रान् नो जयंतु', 'कृत (सत्यं) मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'* इत्यादि, इत्यादि।

निरुक्त में महर्षि यास्क ने, जो एक पारसी ऋषि थे, हमें परमात्मा के दो विशेष वैदिक नामों का परिचय दिया है—प्रथम 'राष्ट्री' और द्वितीय 'अर्य'। ब्रह्माड राष्ट्र का राष्ट्रपति राष्ट्री परमात्मा है और 'अर्य' अर्थात् संसार का स्वामी या मालिक। *'अर्यस्यापत्यं आर्यः'*, अर्थात् ईश्वरपुत्र हम 'अर्य' परमात्मा के पुत्र हैं। इसी से आर्य

मानव है। सारा ससार हमारे पिता का राष्ट्र है, इसी से सब ससार हमारा राष्ट्र है। उसके उत्तराधिकारी हम 'राष्ट्रीय आर्य हैं।' इसी से कहता हूँ :

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।

आर्यत्व में भद्रता है, उच्च चारित्र्य है, Nobility है। संसार को इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। भौतिक विज्ञान की तरक्की ने लौकिक अभ्युदय में महान् सिद्धियों को प्राप्त करते हुए अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया है, परंतु आर्यत्व या निःश्रेयस् को नहीं दिया है। यही अब भारतीय सस्कृति मे पोषित शिक्षणालयों से अपेक्षित है।

इस समय हमने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष उन्नति के मार्ग पर चलना है। हमारे कुछ स्नातको को जर्मनी, फ्रास, इटली आदि प्रदेशो मे मान्यता मिली थी, जिससे स्नातक बनने के बाद कुछ स्नातको ने सीधे ही उन प्रदेशो के विश्वविद्यालयो से उच्चतम उपाधियाँ प्राप्त की थीं। अब हमे भारत सरकार से मान्यता प्राप्त होने से दूसरे देशों में भी मान्यता प्राप्त हो रही है। इसमें अधिकारीवर्ग धन्यवाद के पात्र हैं। हमारा उद्देश्य महान् होना चाहिए। हमारा विश्वविद्यालय 'सार्वभौम आर्य विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी' के रूप मे पनपे। ससार के सब देशों के विश्वविद्यालयो से हमारा संपर्क बढे, उनसे सहायता प्राप्त करने मे कभी सकोच न होना चाहिए। ससार की भिन्न-भिन्न राज्य-सस्थाओ और राज्याधिकारियों को भी सम्मानित कर उनसे सब तरह की सहायता लेनी चाहिए। प्रत्येक देश की अपनी विशाल शाला (Wing) हो, जिसमें उस देश की सर्वोत्कृष्टता को ग्रहण करने मे कभी सकोच न हो। उनकी भाषा, दर्शन, विज्ञान आदि हमें सहज में प्राप्त होते हो। ससार के बडे परोपकार कृत्यो को करनेवाले सस्थानो (Foundations) से सपर्क कर उनसे विशिष्ट आर्थिक सहायता भी हमें लेनी चाहिए, क्योंकि हमारे उद्देश्यों में 'सारे ससार का उपकार' भी हमारा उद्देश्य है। इसमे, सक्षेप से, उन्नति-पथ की तरफ आपका ध्यान खींच रहा हूँ। आशा है, आर्यसमाज तथा गुरुकुल के अधिकारीगण इस पर विशेष ध्यान देगे।

जब हम गुरुकुल में पढते थे तो जामिया मिलिया, देवबंद आदि विद्यालयो के विद्यार्थी हमारे यहाँ आते थे, हम उनके स्थानों पर जाते थे, आपस मे वाग्प्रतियोगिताएँ होती थीं, कभी कोई प्रथम होता था, कभी कोई। कभी कोई वैमनस्य पैदा नहीं हुआ। क्या यह प्रथा अब अपनी विशालता को पनपा नहीं सकती ? हमने समन्वयात्मक धर्म, सस्कृति, सभ्यता आदि को सार्वभौम दृष्टि से पैदा करना है— *'एष काम., एष निर्देश., एष संदेश, एषा वैदिकी उपनिषद्।'*

प्रिय स्नेहपूर्ण नवस्नातको ! अत मे 'सत्य वद', 'धर्मं चर' के ऋषियों के सनातन शिक्षा-आदेश या दीक्षा की तरफ ध्यान दिलाते हुए यह कहकर समाप्त करता हूँ कि "सत्यस्वरूप परमात्मा के विषय में प्रवचन करना और चिंतन करना, सत्य के दर्शन से धर्म के स्वरूप को समझते हुए उससे कभी निरपेक्ष न होना, परतु सदा उस पर आचरण करते रहना" यही *'सत्य शिव सुन्दर'* का प्रशस्त मार्ग है। यह तुम्हे सदा

प्राप्त होता रहे। अपने प्रेम, सद्भावना, सहृदयता तथा शिक्षा-संस्थान (गुरुकुल) की उन्नति में सदा अग्रसर रहने में सहायक होना—यह कहते हुए तुम्हारा बहुत सस्नेह अभिनंदन करता हूँ। गुरुकुल विश्वविद्यालय के सब अधिकारीवर्ग तथा गुरुजनों के सामने नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धा के सुमन उपस्थित करता हूँ। स्वामी श्रद्धानंदजी की आत्म-ज्योति आपको सदा प्रकाश देती रहे। प्रभु का सब पर सदा वरदहस्त बना रहे।

हिमालय की सुपुत्री पार्वती कहूँ या गंगामाता से कुलमाता को याद करूँ—कुछ भी हो—अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहना चाहूँगा .

जन्म यहीं मृत्यु यहीं खेलूँ यहीं आ-आकर।
हँसना-रोना हो यहीं माता तेरे चरणों में।।

समाप्त करने से पूर्व 'कुलमाता की पताका' पर ध्यान दिलाता हूँ। यह सूर्य-ज्योति से उज्वलित है। यही 'ओऽम्' की सच्ची ध्वजा है—'सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।' इसका संदेश भी सामने रक्खो। इसमें श्रद्धा प्राप्त करो, सविता या सूर्यदेव के गुरुमंत्र का भी मनन करो। इसे हम 'वेदमाता' से पुकारते हैं। यही हमारी 'वन्देमातरम्' है।

"श्रद्धया सत्यमाप्यते।"
"सत्यमेव जयते नानृतम्।"

ओऽम् शम् । ओऽम् स्वस्ति ॥ ओऽम् शांति ॥।

[सन् 1985]

गुरुकुल : स्वामी श्रद्धानंद का सिद्ध स्वप्न

डॉ. सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

श्री कुलाधिपतिजी, श्री कुलपतिजी, अध्यापकवृद, उपस्थित महानुभावो, देवियो तथा नवदीक्षित युवा स्नातकवृन्द ।

आप सभी तथा समस्त मानव जाति के सुख और समृद्धि की कामना करते हुए मैं गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति, कुलपति एवं अधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ कि आपने मुझे दीक्षांत भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया। मेरा सबंध इस विश्वविद्यालय से अत्यंत लबा तथा पुराना है। मैं यहाँ विद्यार्थी के रूप में सात वर्ष की आयु में आया था। मैंने यहाँ 14 वर्ष अध्ययन किया, दो बार मैं इसका कुलपति तथा पिछले 6 वर्षों से इसका परिद्रष्टा रहा हूँ। इसलिए मुझे गुरुकुल से विशेष प्रेम है। मेरी आधे से अधिक आयु गुरुकुल से सबंधित रही है। मुझे यहाँ की एक-एक ईंट प्रिय है। मेरे मन, बुद्धि और आचार-विचार पर गुरुकुल शिक्षा का अमिट प्रभाव रहा है।

वैदिक-धर्म हमारी सभ्यता, सस्कृति, दर्शन, आचार, मर्यादाओ आदि का आधार है जिसके बिना हम खडे नहीं रह सकते। यहीं हमे विश्वबधुत्व का सदेश मिलता है। आप बड़े सौभाग्यशाली हैं कि आपकी शिक्षा-दीक्षा इस सुरम्य सस्था मे हुई है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की स्थापना वैदिक आदर्शों को आधार बनाकर हुई है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली भी अन्य शिक्षा-प्रणालियो की तरह अपने ढग की एक विशेष शिक्षा-प्रणाली है। जिस प्रकार मौन्टेसरी शिक्षा-प्रणाली, वर्धा योजना या प्रोजेक्ट सिस्टम नाम से विविध शिक्षा-प्रणालियाँ हैं उसी प्रकार स्वामी श्रद्धानद ने ऋषि दयानद से प्रेरणा लेकर इस प्रणाली की स्थापना की थी। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं—गुरु-शिष्य का दिन-रात का घनिष्ठ सबध, ब्रह्मचर्य तथा चरित्र-निर्माण। गुरुकुल-प्रणाली के अतिरिक्त अन्य किसी शिक्षा-प्रणाली मे चरित्र-निर्माण को इतनी अधिक प्राथमिकता तथा महत्ता नहीं दी गई। यह कहना कि अन्य शिक्षा-प्रणालियो मे चरित्र-निर्माण को कोई स्थान नहीं, गलत होगा, परंतु इसमे संदेह नहीं कि गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली ही ऐसी प्रणाली है जिसके विषय में कहा जा सकता है कि इस शिक्षा-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य पुस्तक-शिक्षा के साथ-साथ चरित्र-निर्माण करना है।

गुरुकुल का अर्थ है गुरु का कुल, गुरु का परिवार। यहाँ विद्यार्थी माता-पिता के 'कुल' से 'गुरु' के कुल में प्रवेश करता है। एक छोटे और सीमित परिवार से निकलकर एक विशद् और सार्वभौम परिवार में प्रविष्ट होता है, जहाँ वह माता-पिता के परिवार की सीमाओं को लाँघकर समाज के हर युवा को अपना सम-कक्ष तथा परिवार का अंग समझता है। क्योंकि आपकी शिक्षा-दीक्षा उक्त आदर्शों की सर्वश्रेष्ठ सस्था में हुई है अतः आप पुनः-पुनः बधाई के पात्र हैं। आपके कुलपति और कुलाधिपति और अधिकारियों से भी कहूँगा कि आप अपने अंतेवासियों को वैदिक-संस्कृति के आदर्शों को जीवन में घटाने की प्रेरणा दें और ऐसे छात्र उत्पन्न करें जो जात-पाँत की सीमाओं को लाँघकर, ऊँच-नीच के भेद को भुलाकर एक ऐसे समाज का निर्माण करें जिसमें *'संगच्छध्वं संवदध्वम्'* का आदर्श क्रियात्मक रूप धारण करे और जिसमें चरित्र-निर्माण को शिक्षा का आदर्श समझा जाए।

परिवर्तन प्राकृतिक नियम है। बीज अंकुरित होकर वृक्ष बनता है, पुष्पित फलित होकर शीतलता, छाया, फूल-फल प्रदान करता है। अतः सस्थाओं में भी युगानुरूप परिवर्तनो की आवश्यकता होती है। गुरुकुल की स्थापना के समय हमारी शिक्षा क्रातिकारी वातावरण में हुई थी जिसमें शिक्षा का उद्देश्य ऐसे युवक उत्पन्न करना था जो स्वावलंबी हों और स्वतत्रता के लिए विदेशी सरकार से लोहा ले सकें। परतु आज स्थिति बदल गई है। इस स्वतंत्रता के युग में हमें ऐसे युवक उत्पन्न करने की आवश्यकता है जो ऊँचे सरकारी पदो पर आसीन होकर अपनी उत्कृष्ट चारित्रिक विशेषताओं के कारण सरकार के सहयोगी बनकर देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, अंधकार, पारस्परिक कलह-द्वेष को दूर करके राष्ट्र की एकता और समृद्धि में सहायक बनें। इसलिए जहाँ एक ओर चारित्रिक उच्चता तथा वैदिक-संस्कृति के जन-जन के जीवन में व्याप्त होने की आवश्यकता है वहाँ इस प्रकार के पाठ्य-क्रमों और अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकता है जिससे यहाँ के छात्र हर प्रकार के सरकारी पदो पर आसीन हों, वे आई ए एस., पी सी एस., भारतीय रक्षा-सेवाओं, डाक्टरी, इजीनियरी तथा अन्य क्षेत्रो मे उच्च स्थान प्राप्त कर देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर कर सकें।

स्वतंत्रता से पूर्व गुरुकुल सरकारी अनुदान नहीं लेता था। वह आत्म-निर्भर था। यह आत्म-निर्भरता विद्यार्थियो को भी मिली थी। उन्होने अपने पैरो पर खडे होना सीखा। जब व्यक्ति आत्म-निर्भर होता है, दूसरे के सहारे पर नहीं, अपने सहारे पर खडा होता है, तब उसके भीतर से शक्ति उत्पन्न होती है जो उसे सब बाधाओं से लडने की शक्ति प्रदान करती है। यही कारण है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व के समय के गुरुकुल के छात्र अनेक क्षेत्रों में उच्च स्थान और अप्रत्याशित ख्याति प्राप्त कर सके। पत्रकारिता के क्षेत्र में पं. इंद्र विद्यावाचस्पति, आचार्य दीनानाथ सिद्धांतालकार, अवनींद्रकुमार विद्यालंकार, कृष्णचंद्र विद्यालकार, आनंद विद्यालंकार, क्षितीश विद्यालंकार, सतीश विद्यालंकार जैसे अनेक प्रकाश-स्तंभ गुरुकुल ने दिए। आयुर्वेद के क्षेत्र में

गुरुकुल का जितना योगदान है उतना संसार की किसी भी शिक्षण-संस्था का नहीं है। मेरी मनोकामना है कि हमारे हाथ से निकल गया आयुर्वेद महाविद्यालय फिर हमारे विश्वविद्यालय का अंग हो और यहाँ आयुर्वेद में उच्चतम अनुसंधान हो। मुझे पूर्ण आशा है कि हमारे नवीन कुलपति इस दिशा में उद्योग करेंगे और इस उद्योग में शीघ्र ही सफल होंगे। इतिहास के क्षेत्र में डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार, श्री जयचंद्र विद्यालंकार, डॉ. सत्यकेतु विद्यालकार तथा प्रोफेसर हरिदत्त वेदालकार जैसे प्रकांड पंडित गुरुकुल ने प्रदान किए हैं। इनके द्वारा लिखी गई पुस्तकें समस्त भारत में पढ़ाई जाती हैं। संस्कृत तथा वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में भी गुरुकुल ने अनेक प्रतिभाएँ दी हैं। स्वामी अभयदेव विद्यालंकार, पं. जयदेव विद्यालंकार, बंबई के सत्यकाम विद्यालंकार, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, रामनाथ वेदालंकार तथा अन्य अनेक स्नातक वेद के उच्चकोटि के विद्वान हैं। उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में भी हमारे स्नातको प. इंद्र विद्यावाचस्पति, प. चंद्रगुप्त विद्यालंकार, सत्यपाल विद्यालकार, पं विद्यानिधि विद्यालंकार, श्री विराज विद्यालंकार, डॉ. सत्यकेतु विद्यालकार की देन चिरस्मरणीय है।

पुरातन स्नातकों ने जो कार्य किया है उसकी तुलना यदि किसी भी विश्वविद्यालय के स्नातकों के कार्य से की जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि उनकी देन प्रतिशत की दृष्टि से अत्यधिक तथा विशिष्टतम है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व गुरुकुल के छात्र परिस्थिति से लडते हुए आत्म-निर्भर हुए और उन्होंने जीवन में अपने आत्म-बल से जीवन का रास्ता सफलतापूर्वक बनाया तथा तय किया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद यद्यपि हमारे रास्ते तथा उद्देश्यो में बदलाहट हुई, और इस बदलाहट मे मेरा ही मुख्य हाथ रहा है, तथापि मैं अनुभव करने लगा हूँ कि हम गुरुकुल के मुख्य आधारभूत सिद्धातों से दूर होते जा रहे हैं। आप क्षमा करे, गुरुकुल का जो वर्तमान रूप होता जा रहा है, वह अन्य कॉलेजों से भिन्न नहीं रहा। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के जिन आधारभूत सिद्धातों को लेकर इस सस्था की स्थापना हुई थी, हम उन्हें भूलते जा रहे हैं। कहाँ है वह गुरु-शिष्य का दिन-रात का आधारभूत संबंध ? कहाँ है वह 'कुल' की, 'परिवार' की भावना ? कहाँ है वह हमारी प्राचीन परपरा ? कहाँ है वह लगन ? गुरुकुल मे परिस्थितिवश परिवर्तन आना आवश्यक है, इसमें सदेह नहीं, परंतु अपने आधारभूत सिद्धांतों को खोकर नहीं। उन सिद्धांतों को सप्राण तथा सजग रखते हुए हमे परिवर्तन लाना है। गुरुकुल को ऐसा रूप देना है जिससे यहाँ के कार्यकर्त्ता सिर्फ बाहर के छात्रों की भर्ती कर सतुष्ट न हो जाएँ, परतु अपने बच्चो को भी यहीं भर्ती करे। मुझे यह देखकर दुख होता है कि गुरुकुल की सभा के सचालक भी अपने बच्चों को यहाँ भर्ती नहीं करते, न यहाँ के अध्यापक ही अपने बच्चों को यहाँ भर्ती करते हैं। दिल्ली पब्लिक स्कूल या सेंट्रल स्कूलों की बसे गुरुकुल के कार्यकर्ताओं के बच्चों के लिए यहाँ आती हैं और उन्हे गुरुकुल के बाहर के स्कूलों मे शिक्षा के लिए ले जाती हैं।

इसका यह अर्थ है कि गुरुकुल की सभा के सचालक तथा गुरुकुल के अध्यापक भी स्वयं यहाँ की शिक्षा से सतुष्ट नहीं हैं। मैं गुरुकुल के संचालको से अनुरोध करूँगा कि जो कमी वे यहाँ अनुभव करते हैं उसे वे स्वय-दूर क्यों नहीं कर देते। अगर यहाँ की पाठविधि में कोई कमी है तो उसे दूर करना आपके हाथ में है। अब तो विदेशी शासन नहीं है, अपना शासन है, आप अपनी सरकार से भरपूर सहायता लेते हैं, जो सहायता आपको नहीं मिलती वह भी यत्न करने पर मिल सकती है। अपना दृष्टिकोण बदलिए और ऐसा पग उठाइए ताकि हर व्यक्ति गुरुकुल में अपने बच्चे की भर्ती ही न करे, अपितु भर्ती करने के लिए उत्सुक हो जाए।

गुरुकुल को सरकारी मान्यता प्राप्त हुई है परतु यह मान्यता उस गुरुकुल को नहीं दी गई जिसमे बी ए, एम.ए की डिग्री दी जाती है। बी.ए, एम.ए., पी.एच-डी. की डिग्री दीजिए, परतु यत्न कीजिए कि यहाँ से जो छात्र निकले वे इन डिग्रियों के साथ गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आधारभूत सिद्धातों से ओतप्रोत हों। यह आपका लक्ष्य होना चाहिए।

मेरे सामने भविष्य के गुरुकुल का यह सपना है कि गुरुकुल से ऐसे स्नातक निकले जिनका तपस्यामय जीवन हो, जो हिदी मे प महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह शुद्ध हिदी लिख-बोल सके, जो सस्कृत मे उव्वट तथा ऋषि दयानद जैसा उच्चतम संस्कृत का ज्ञान रखते हो जो अग्रेजी मे शेक्सपीयर तथा मैकाले की कोटि के हो, जो विज्ञान मे श्री सतीश धवन तथा प्रो यशपाल सरीखे वैज्ञानिक हो, जो हर क्षेत्र मे उच्च से उच्चतर शिखर को छू सके। उडान लीजिए तो ऊँची उडान लीजिए। सबकुछ सभव है। जो आज असभव तथा कठिन प्रतीत होता है, वह प्रयत्न करने पर कालातर मे सभव तथा सुगम हो जाता है। एक भव्य भवन को बनाने के लिए उसकी नींव को दृढ करना होता है। अगर हम मानव समाज के भवन को सुदृढ नींव पर खडा करना चाहते हैं, तो उसकी नींव को सबसे पहले दृढ करना होगा। हमारी शिक्षा-सस्था की नीव वह है जहाँ से बालक शिक्षा-जगत् मे बाल्य-काल में प्रवेश करता है। आप अगर अपने विद्यालय विभाग को दृढ कर सकें तो सपूर्ण सस्था अपने-आप उन्नति के मार्ग पर चल पडेगी। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आधारभूत सिद्धातो को आदर्श तक पहुँचाने के लिए आपको विद्यालय विभाग को दृढ करना होगा। गुरुकुल का विश्वविद्यालयीय रूप तभी उभरेगा जब आपका विद्यालय विभाग इतना उन्नत हो जाएगा कि सब लोग अपने बच्चों को यहाँ भर्ती ही नहीं करेगे, भर्ती करने के लिए उत्सुक होंगे, तब हमे बाहर से एक छात्र भी नहीं लेना पडेगा, हमारे विश्वविद्यालय मे वही छात्र होगे जो हमारे विद्यालय विभाग की शिक्षा-दीक्षा में से गुजरकर आएँगे।

मेरा अनुरोध है कि आज के बदलते युग में आप गुरुकुल के रूप को ऐसा बदलिए कि यहाँ के आदर्शों, यहाँ की भावनाओं, यहाँ के रग मे रँगे हुए छात्र ही आपके महाविद्यालय विभाग में प्रविष्ट हों, आपको बाहर से छात्र लेने की आवश्यकता

न हो, और वे ही छात्र स्नातक बनकर समाज में प्रविष्ट हों, जो हिंदी-संस्कृत के पंडित हों, अंग्रेजी के उच्चकोटि के विद्वान हों, और इस योग्यता के साथ-साथ वे किसी जिले में मजिस्ट्रेट बनें, किसी जगह इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस हों, किसी जगह कर्नल हों, कमांडर हों और किसी जगह सरकारी उच्च पदों पर आसीन हों। देश की माँग है और आवश्यकता है कि ऐसी शिक्षा में दीक्षित व्यक्ति ही देश के कोने-कोने में व्याप्त हो जाएँ। जैसे किसी युग में विदेशी सरकार से विद्रोह करनेवाले स्वतंत्रता-सेनानियों की आवश्यकता थी जिसे गुरुकुल ने पूरा किया, वैसे ही आज देश को ऐसे सरकारी-सेनानियों की आवश्यकता है जो देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, ईर्ष्या-द्वेष, कलह, भेद-भाव को अपने आदर्श क्रियात्मक-जीवन से दूर कर सकें, जिसे गुरुकुल जैसी प्राचीन आदर्शों से ओत-प्रोत सस्था ही पूरा कर सकती है परंतु इस स्थिति में पहुँचने के लिए हमें अपने-आपको बदलना होगा। खडा पानी सड जाता है, बहता पानी तरोताजा रहता है और गदगी को दूर कर देता है। इस बदलाहट के विषय में किसी ने ठीक ही कहा है

तू भी बदल ए गाफिल जमाना बदल गया।

[सन् 1986]

सत्यधर्म का आचरण ही शिक्षा का सार है

माननीय श्री वीरबहादुर सिंह

महामहिम कुलाधिपति महादेय, कुलपतिजी, सभासद् महानुभाव, अध्यापकगण, उपस्थित आर्यबंधु, देवियो एव नव-स्नातकगण।

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के दीक्षात समारोह मे मुझे भाग लेने का जो अवसर मिला है उसके लिए मैं विश्वविद्यालय के अधिकारियो का आभारी हूँ। गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय की स्थापना स्वामी श्रद्धानदजी महाराज ने, महर्षि दयानंद सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षानीति के आधार पर वर्ष 1901 मे की थी। धर्म एव देश की रक्षा तथा समाज-सुधार के लिए स्वामीजी ने अपना सपूर्ण जीवन समाज को समर्पित कर दिया था। गुरुकुल खोलने में उनका उद्देश्य एक ऐसी सस्था की स्थापना करना था जहाँ विद्यार्थियों का चरित्र-निर्माण हो, शाति एवं पवित्र वातावरण मे वे शिक्षा ग्रहण कर सके, प्राच्य एव आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विषयो का अध्ययन करे तथा भारतीय सस्कृति के पोषक बनकर समाजकल्याण पर चितन करे। गुरु-शिष्य परपरा मे छात्रगण आश्रम मे रहकर गुरु के गुणो को ग्रहण कर चरित्रवान् एव उत्तम नागरिक बने। ऐसे आध्यात्मिक मनीषी एव स्वतत्रता-सग्राम के अमर सेनानी स्वामी श्रद्धानद महाराज की पावनस्थली मे आकर मैं अपने-आपको गौरवान्वित अनुभव करता हूँ। यह वही भूमि है जहाँ राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, पडित जवाहरलाल नेहरू, पंडित मदनमोहन मालवीय, श्रीमती इदिरा गाँधी जैसे भारतरत्न पधार चुके हैं।

दीक्षात समारोह हमारी सस्कृति मे एक महत्त्वपूर्ण एव पवित्र सस्कार माना जाता था, जब शिष्य अपनी शिक्षा समाप्त करके अपने आचार्य से आशीर्वाद प्राप्त कर, गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करता था। गुरुकुल का ज्ञान और आचरण समाज को प्रेरणा देता था और समाज कृतज्ञतापूर्वक गुरुकुल को सम्मान और समर्थन देता था। तैत्तिरीय उपनिषद् मे इस सस्कार का सजीव एव विस्तृत चित्रण किया गया है, जब आचार्य शिष्य को गुरुकुल से विदा लेते समय व्यावहारिक उपदेश देता है

सत्यं वद। धर्मम् चर। स्वाध्यायान् मा प्रमद:।

वस्तुत यही शिक्षा का सार है। आचार्य शिष्य से अपने उपदेशो का अंधानुसरण करने के लिए नहीं कहता, अपितु यह कहता है कि जो हमारे सत् आचरण हो उन्हीं का पालन करना, असत् का नहीं। इसके अतिरिक्त आचार्य यह भी कहता था कि आश्रमशिक्षा तो समाप्त हो गई किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञानार्जन की प्रक्रिया समाप्त हो गई। उसका विशेष उपदेश होता था कि 'स्वाध्याय से कभी भी विमुख न होना।' 'स्वाध्याय' का अर्थ केवल पढना-पढाना नहीं बल्कि गहराई से ज्ञान प्राप्त करना है।

सा विद्या या विमुक्तये।

विद्या वही है जिससे भौतिक, दैहिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओ से मुक्ति प्राप्त हो। जहॉ एक ओर व्यक्ति के लिए कुछ निर्धारित विषयो का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है वहीं दूसरी ओर यह भी सही है कि किसी मनुष्य मे इतनी मानसिक क्षमता नहीं है कि वह ससार की समस्त विद्याओ का अर्जन कर सके। इसी दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि एव प्रकृति के अनुसार सीमित विद्याओं-विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सतोष करना पडता है। प्रत्येक देश मे शिक्षा के उद्देश्य की पूर्णता तभी है जब व्यक्ति मे ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ व्यक्तिगत गुणों मे भी अभिवृद्धि हो और उसमे सामाजिक दायित्व के निर्वाह तथा अर्थोपार्जन की अपेक्षित क्षमता का विकास हो।

मनुष्य ने जब से सगठित समाज में रहना शुरू किया है तब से ही प्रत्येक समाज में नई पीढी को शिक्षित करने की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य रही है। शिक्षा, समाज को चलाने और उसके भविष्य की दिशा को पहचानने के लिए एक मूलभूत आवश्यकता होती है। पुरानी पीढी अपने द्वारा अर्जित उस समय तक के कला-कौशल, सभ्यता, संस्कृति के साथ-साथ अपनी आस्थाएँ, अपने विश्वास, विचार और भविष्य की कल्पना, सभी कुछ अपने आगे आनेवाली पीढी को सौंपती है। इस कार्य के लिए प्रत्येक समाज मे किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था का निर्माण किया जाता है। इसी को हम उस समाज की शिक्षा-व्यवस्था कहते हैं। प्रत्येक समाज की शिक्षा-व्यवस्था उस समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही बनाई जाती है। इसीलिए शिक्षित व्यक्ति पर यह गुरुतर दायित्व होता है कि वह अपने समाज की मूलभूत आवश्यकताओ, आशाओ और भविष्य से भली भाँति परिचित हो और साथ ही साथ उन्हे पूरा करने मे सक्षम हो। जो-जो शिक्षा-व्यवस्था ऐसे नवयुवको का निर्माण कर सके, वही वास्तव में उचित तथा उपयोगी शिक्षा-प्रणाली होती है तथा जो व्यक्ति अपने को इस महत्त्वपूर्ण सामाजिक दायित्व के लिए तैयार कर चुका हो, वही व्यक्ति सच्चे अर्थों मे शिक्षित कहलाने का हकदार होता है।

किसी विशेष प्रकार के ज्ञान को अर्जित कर लेना और उसमें कुशलता प्राप्त

करना शिक्षा का केवल एक छोटा-सा ही भाग है। विस्तृत सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उस ज्ञान की उपादेयता से परिचित होना और अपनी कुशलता का सामाजिक-हित में उपयोग करने की प्रवृत्ति तथा क्षमता का होना वास्तव मे शिक्षा का मुख्य और महत्त्वपूर्ण भाग होता है। भारतीय समाज मे शिक्षा-व्यवस्था की प्राचीन परंपराएँ अत्यंत गौरवशाली रही हैं। सामाजिक आवश्यकताओ को पूरा करने मे सक्षम शिक्षा-व्यवस्था द्वारा शिक्षित पीढियों ने ही प्राचीन काल में हमारे समाज़ को विश्व में अग्रणी बनाया था।

प्राचीन काल की मान्यताओं के विपरीत आज शिक्षा प्राप्त करने का एकमात्र उद्देश्य आर्थिक क्षमता का विकास एवं भौतिक प्रगति ही माना जा रहा है। परतु शिक्षा को मात्र आर्थिक प्रगति तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। शिक्षा का उद्देश्य एवं क्षेत्र इससे कहीं अधिक व्यापक एव श्रेष्ठ है। औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने से भी अधिक आवश्यक है व्यक्ति का सुसस्कृत होना। शिक्षा के विषयवस्तु को नैतिक-आध्यात्मिक मान्यताओ से समृद्ध करके ही शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य पूर्ण होता है। यहाँ पर उपाधि प्राप्त करने के लिए उपस्थित स्नातक-छात्र यदि अपने प्रारभिक जीवन मे ही शिष्टता, सत्यनिष्ठा, सदाचार आदि का मूल्य समझ ले तो वे भविष्य मे बिना किसी सघर्ष के, अपने भावी जीवन की दिशा निर्धारित करने मे सफल होगे, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। अब समय आ गया है कि देश, काल एव परिस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा-पद्धति मे बुनियादी परिवर्तन लाया जाए। मैकाले की शिक्षा-पद्धति जिसका उद्देश्य अग्रेजी सरकार के काम-काज के लिए 'बाबू' तैयार करना मात्र था, अब हमारे स्वतत्र राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी नहीं रह गई है। अब यह देश अग्रेजो का नहीं, हमारा है, आपका है, हम सबका है। अब शिक्षा के वर्तमान ढॉचे मे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है और इसे समाज एव व्यक्ति के लिए उपयोगी बनाया जाना चाहिए। स्वतत्रता के पूर्व महात्मा गॉधी ने हमे शिक्षा के सबध मे एक नई दिशा दी थी और बुनियादी शिक्षा के रूप मे उन्होने बुनियादी दस्तकारियो के माध्यम से शिक्षा देन के सिद्धात को प्रतिपादित कर, भारतवासियों को स्वावलबन एव आत्मनिर्भरता का पाठ पढाया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् प. जवाहरलाल नेहरू ने शिक्षा को देश की बदलती हुई आवश्यकताओ से जोडा। प नेहरू द्वारा डाली गई बुनियाद पर इमारत बनाने का कार्यभार उनकी सुयोग्य पुत्री श्रीमती इदिरा गॉधी पर पडा और उन्होंने पहली बार राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 की घोषणा कर, राष्ट्र को एक नई दिशा प्रदान की। उनके समय मे देश ने शिक्षा के क्षेत्र में आशातीत प्रगति की।

नई शिक्षा नीति ने मूलत. यह माना है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल जीविकोपार्जन करने की क्षमता उत्पन्न करना ही नहीं है बल्कि इसका उद्देश्य व्यक्ति के आध्यात्मिक-सामाजिक व्यक्तित्व का विकास करना भी है। शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय एकता, धर्मनिरपेक्षता, प्रजातत्र और समाजवाद को मजबूत बनाया जाना चाहिए।

शिक्षा द्वारा समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानसिक स्वतंत्रता भी लाना आवश्यक है। इन बातों के साथ-साथ शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक मानवशक्ति का विकास और औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक तकनीकी प्रशिक्षण, शोध और नई टेक्नोलॉजी का विकास करना भी है। शिक्षा द्वारा ही हम अंततः राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता का लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं।

इस शिक्षा-नीति में समाज के सभी वर्गों को शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने की दिशा में ठोस और प्रभावकारी कदम उठाने का निर्देश भी है। किसी भी समाज में स्त्रियों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है और यह अत्यंत दुर्भाग्य की बात है कि आज तक हम स्त्रियों की दशा पर समुचित ध्यान नहीं दे पाए हैं। नई नीति में प्रधानमंत्रीजी ने स्त्रियों की शिक्षा के विस्तार और उसे अधिक प्रभावकारी बनाने पर विशेष बल दिया है। स्त्रियों की शिक्षा के बारे में सामाजिक पूर्वाग्रहो का यथाशक्ति मुकाबला करके इस ओर सामाजिक दृष्टिकोण बदलना अत्यत आवश्यक माना गया है। स्त्रियों के साथ भेदभाव को समाप्त करने तथा उन्हें सभी स्तरों की शिक्षा के लिए और अधिक अवसर उपलब्ध कराने की ओर प्रदेश शासन का विशेष ध्यान है।

अनुसूचित जाति, जनजाति, दुर्बल वर्ग तथा पिछडे वर्ग के लोगों की शिक्षा को देश और समाज की उन्नति के लिए आवश्यक मानते हुए, उनके लिए विभिन्न प्रकार की विशेष योजनाओं के माध्यम से विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँगी। इन लोगो को शिक्षा की मुख्यधारा मे लाने का प्रयास नई शिक्षा नीति द्वारा किया जाएगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उच्च शिक्षा के क्षेत्र मे सभी दिशाओ मे श्रेष्ठता पर विशेष बदल दिया गया है। देश के विकास के लिए इस स्तर की शिक्षा को सुदृढ बनाना अत्यत आवश्यक है क्योंकि पिछले चालीस सालो मे देश की बढती आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए उच्च शिक्षा का तेजी से विस्तार तो हुआ परतु इसके फलस्वरूप उच्च शिक्षा की गुणात्मकता मे गिरावट आई है तथा अनेक कारणों से शिक्षा-सत्र अनियमित हो गए हैं। नई नीति मे इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था मे गुणात्मक सुधार लाने के प्रयत्न किए जाएँ।

किसी भी राष्ट्र को प्रगति की ओर अग्रसर करने के लिए जिन तत्त्वों की सर्वाधिक आवश्यकता होती है, वे हैं—अनुशासन, परिश्रम एव नैतिक मूल्य। इन तीनो के अभाव मे कोई भी राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता और न ही इनके बिना चरित्र का निर्माण हो सकता है। शनै-शनैः शिक्षा सस्थाओं मे गुरु-शिष्य का प्राचीन स्वरूप समाप्त होता जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप सस्थाओ में अनुशासन की समस्या बढती जा रही है। इस समस्या के निराकरण की ओर हमारे शिक्षाविदों को ध्यान देना चाहिए। द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण नेस्तनाबूद जापान, जर्मनी जैसे

राष्ट्र कठिन परिश्रम के बल पर ही आज आशातीत प्रगति कर, विकास के उच्च शिखर पर आरूढ़ हो गए हैं। वे राष्ट्रीय भावना के साथ कार्य करने को ही स्वधर्म समझते हैं। परंतु हमारे देश में प्राकृतिक संपदा के बाहुल्य के बावजूद भी हम अभी तक उसका यथेष्ट उपयोग नहीं कर सके हैं। परिश्रम ही वह साधन है जिसके बल पर बेरोजगारी की समस्या का निदान हो सकेगा और राष्ट्र भी समृद्ध होगा। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए श्रद्धेया श्रीमती इंदिरा गाँधी ने हमें एक नया नारा दिया था—'श्रमेव जयते'। हमें चाहिए कि एकजुट होकर, सत्यनिष्ठा एवं अटूट लगन से, कठिन परिश्रम करके राष्ट्र के विकास मे सतत् योगदान देते रहे। आज समय की सबसे बडी माँग है नैतिक मूल्यों की स्थापना। राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने मे नैतिक मूल्यों की सर्वाधिक भूमिका होती है। ये नैतिक मूल्य एव सात्विक मर्यादाएँ ही थीं जिनके बल पर चिरकाल से विदेशियो की दासता मे जकडे भारत को अनवरत संघर्षों के बाद स्वतत्रता प्राप्त हो सकी थी। यही कारण है कि महात्मा गाँधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू, महामना पडित मदनमोहन मालवीय और सरदार पटेल आदि नेताओं के प्रति लोगों के मन में अटूट श्रद्धा, विश्वास एव सम्मान की भावना व्याप्त थी और आज भी उन्हे वही सम्मान दिया जाता है। मैं अपेक्षा करूंगा कि हमारे नवयुवक इस मर्यादा का निर्वाह करते हुए नैतिक-मूल्यो पर ध्यान देते रहेंगे।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि इस विश्वविद्यालय मे अध्ययन के साथ-साथ सदाचार और चरित्र-निर्माण पर भी विशेष बल दिया जाता है। आज देश में साप्रदायिक शक्तियाँ फिर से सिर उठा रही हैं, जिनका हमें डटकर मुकाबला करना है। हमारे पूर्वजो के बलिदान से राष्ट्र को स्वतत्रता प्राप्त हुई है और इसकी रक्षा करना हमारा पुनीत दायित्व है। शिक्षा-सस्थाओ की ऐसे समय में प्रमुख भूमिका रही है और मुझे विश्वास है कि आगे भी वे अपने कर्तव्यो व दायित्वो का सफल निर्वाह करती रहेंगी।

आज का युग विज्ञान का युग है। हम इस बात के लिए गौरवान्वित हैं कि हमारे वेद-मत्रो एव पुराणों मे ज्ञान-विज्ञान के मूलमत्र पाए जाते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारा अतीत, विज्ञान एव प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे भी काफी समृद्ध था। यह विश्वविद्यालय बधाई का पात्र है जहाँ विज्ञान के विषयों की शिक्षा भी भारतीय भाषा मे दी जाती है।

मुझे इस बात की बडी प्रसन्नता है कि इस विश्वविद्यालय में जहाँ प्राच्य भाषा सकाय हैं, वहीं कला एवं विज्ञान सकाय भी हैं। स्नातकोत्तर डिप्लोमा के रूप में बायोकैमिस्ट्री तथा कम्प्यूटर पाठ्यक्रम संचालित हो जाने से यह विश्वविद्यालय विज्ञान के क्षेत्र में भी सराहनीय योगदान दे रहा है।

आज जो नवयुवक दीक्षा समाप्त करके जीवन-संग्राम में प्रवेश कर रहे हैं, उन पर ही यह निर्भर करता है कि वे समाज मे अनावश्यक, हानिकारक तथा

अनुपयोगी व्यवस्थाओं को पहचानकर उनके स्थान पर आवश्यक, लाभकर तथा उपयोगी व्यवस्थाओं की स्थापना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करें। देश के निर्माण की जिम्मेदारी भले ही वर्तमान पीढ़ी पर हो, उसको निरंतर विकास की दिशा में ले जाने की जिम्मेदारी सदैव ही नई पीढ़ी पर होती है। मैं यह आशा करता हूँ कि आज नवयुवक इस महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करने में पूरी तरह सक्षम हैं। आप सबसे मेरी और समाज की अपेक्षा है कि आप लोग अपने जीवन में अपने को योग्य सिद्ध करें तथा अपने व्यक्तिगत दायित्वों के साथ-साथ अपने सामाजिक कर्तव्यों को भी पूरा करें, तभी आप लोग अपने को गुरुजनों द्वारा दी गई शिक्षा, स्नेह, प्रेम और विश्वास के योग्य पात्र सिद्ध करेंगे।

ऐसे सम्मानित विद्वत्समाज में मेरे लिए उपदेशक का कार्य करना किसी प्रकार उचित नहीं है। अंत में मैं पुनः कहना चाहूँगा कि विद्यार्थी दीक्षांत समारोह को अपनी शिक्षा-दीक्षा का अंत न समझें और निरंतर ज्ञानार्जन करते हुए, समाज के हित में उसका प्रयोग करें। शिक्षा जीवन की एक सतत् प्रक्रिया है। जीवन के हर मोड़ पर उन्हें नित्य एक न एक परीक्षा से गुजरना पड़ेगा। *'तमसो मा ज्योतिर्गमय'* का मूलमंत्र कभी भी विस्मृत न होने पाए। जिन छात्रों ने इस दीक्षांत समारोह में उपाधि प्राप्त की है, मैं उनको बधाई देता हूँ और उनके उज्ज्वल भविष्य की हृदय से मंगलकामना करता हूँ। आप सब राष्ट्र के सच्चे नागरिक बनें और अपने जीवन में सदैव सफलता प्राप्त करें, इन शब्दों के साथ मैं पुनः एक बार उन सभी को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मुझे इस गौरवपूर्ण समारोह में सम्मिलित होने का सुअवसर प्रदान किया है।

[सन् 1987]

धर्म और संविधान

•

न्यायमूर्ति श्री वी.एस. देशपांडे

भूमिका

धर्म के सकुचित अर्थ के कारण, भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों की विभिन्न निष्ठाएँ होने का लाभ भारत में ब्रिटिश शासन ने खूब उठाया है। धर्म के आधार पर मतदातासमूहो के वर्गीकरण ने भारतीय समाज को धार्मिक समूहो में विभाजित कर दिया तथा इसके प्रभाव से केंद्रीय एव राज्य विधायिकाओं मे भाग लेनेवाली निष्ठावान राजनीतिक पार्टियाँ भी अछूती नहीं रहीं। इसके परिणामस्वरूप कुछ लोगो की यह विचारधारा हो गई कि मुसलमानो का राष्ट्र दूसरा है तथा राजनीतिक उद्देश्य के लिए की गई धर्म की संकुचित व्याख्या के दुष्प्रभाव के कारण भारत का विभाजन हुआ। सविधान निर्माताओ का यह प्रयास रहा कि इस दुष्प्रभाव से हमेशा के लिए मुक्त रहने के लिए भारतीय सविधान मे मौलिक नियमों की व्यवस्था की जाए। इसे सुनिश्चित करने के लिए भारतीय सविधान में निम्न व्यवस्था की गई .

धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणतंत्र : सविधान के आमुख का प्रारभ निम्न कथन से आरभ होता है—"हम भारत के लोग, भारत को सप्रभुतासपन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, जनतात्रिक गणराज्य मे सस्थापित करने का दृढतापूर्वक सकल्प करते हैं।" 1976 में किए गए 42वे सविधान-सशोधन में 'धर्मनिरपेक्ष' विशेषण समाविष्ट हुआ। ऐसा करने का एक बडा कारण यह था कि सविधान-निर्माण व लागू किए जाने के बाद भी कुछ राजनीतिक पार्टियाँ (यथा—मुस्लिम लीग और अकाली लोग) राजनीतिक उद्देश्यों के लिए धर्म का प्रयोग करती रही हैं। इसलिए यह अधिकृत रूप से घोषित किया गया कि संविधान धर्मनिरपेक्ष है। सशोधन में 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे किया गया है। इसने उदघोषित किया कि धर्म का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिए न किया जाए क्योंकि देश की राजनीति सचमुच में धर्मनिरपेक्ष है। 'धर्मनिरपेक्ष' का अर्थ यह नहीं है कि अंत.करण व धर्म की आजादी के अधिकार को मान्यता न दी जाए। इसके विपरीत आमुख में स्वतः ही "सोच, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था व पूजा की स्वाधीनता' को मान्यता प्रदान की गई है तथा धर्म के विभिन्न पहलुओं की स्वतंत्रता को संविधान की धाराएँ 25

से 30 अनुरक्षण प्रदान करती हैं।

स्पष्टतया धारा 25 से 30 का अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि ये संविधान के आमुख के विपरीत हैं। वास्तव में, आमुख तो संविधान को समझने की कुंजी है। अस्तु, आमुख का ध्येय है कि धर्म वैयक्तिक अधिकार है और इसे भारतीयों के धर्मनिरपेक्ष क्रिया-कलापों में निश्चय ही नहीं लाना चाहिए। सचमुच इसका आशय साप्रदायिकता का निरोध अथवा भारत से सांप्रदायिकता का उन्मूलन था। वर्ष 1948 के 3 जून या इसके आसपास, संविधान सभा ने सांप्रदायिकता के विरुद्ध यह प्रस्ताव दृढतापूर्वक पास किया था कि धर्म के आधार पर निर्मित समूहों को देश के धर्मनिरपेक्ष क्रिया-कलापों में, धर्म के आधार पर भागीदारी की छूट न दी जा सके। यह बात सविधान की मूलभावना में हमेशा ही रही है। हालाँकि पीपुल रिप्रेजेटेशन एक्ट 1951 (S, 123 (3)) के ध्येय को सविधान के आमुख में औपचारिक तौर से 1976 में समाहित किया गया। इसमें स्पष्ट कहा गया कि लोकसभा या विधानसभा के चुनावों में धर्म के आधार पर चुनाव-प्रचार करना या मतों के लिए धर्म का फतवा देना, भ्रष्ट कृत्य होंगे तथा चुनाव रद्द किए जाने की व्यवस्था है।

धर्म का वास्तविक अर्थ : अस्तु, सविधान में धारा 25 के अतर्गत अनुरक्षित, अंतःकरण की स्वतंत्रता वैयक्तिक अधिकार है। धारा 25 कुछ विशद् रूप से 'धर्म को प्रकट करने, व्यवहार करने एव प्रचार करने' की आजादी के अधिकार को अनुरक्षित करती है। किंतु शब्द 'प्रचार करने' का इस आशय में प्रयुक्त नहीं होता कि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपने धर्म में परिवर्तित करे। इसीलिए फुसलाने, धमकी आदि द्वारा धर्म-परिवर्तन, मध्यप्रदेश व ओडिसा द्वारा प्रदत्त सविधि से अमान्य होता है, जिसे उच्चतम न्यायालय ने परिपुष्ट किया है (देखे AIR 1977 SC (908))। फैसले के उन्नीसवे पैरा मे न्यायालय ने 'प्रचार' के प्रयोग के बारे में व्याख्या दी है कि "कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के धर्म को परिवर्तित करने का अधिकार नहीं रखता किंतु वह अपने धर्म के सिद्धात की बातें सप्रेषित कर सकता है।" न्यायालय ने इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया है ·

"It has to be remembered that Article 25 (1) guarantees "freedom of conscience" to every citizen, and not merely to the followers of one particular religion, and that, in turn, postulates that there is no fundamental right to convert another person to one's own religion because if a person purposely undertakes the conversion of another person to his religion, as distinguished from his effort to transmit or spread the tenets of his religion, that would impinge on the "freedom of conscience" guaranteed to all the citizens of the country alike'.

ईसाई उपदेशकों की यह गलत अवधारणा कि लोगों के धर्म-परिवर्तन का

क्रिश्चियनिटी मौलिक अधिकार प्रदान करती है, न्यायालय द्वारा स्पष्ट रूप से इनकार कर दी गई है। इस निर्णय से, संविधान के अंतर्गत, धर्म का वास्तविक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अंत.करण की स्वतंत्रता, समझाने की स्वतंत्रता और अपने अंत करण की स्वतंत्रता का प्रतिपादन धारा 25 द्वारा अनुरक्षित है। इसीलिए अत करण की स्वतंत्रता व्यक्तिगत स्तर तक प्रतिबंधित है। धर्मनिरपेक्ष गतिविधियों के क्षेत्र मे इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। धर्म के क्षेत्र का यह सीमांकन सविधान की धारा 26 के द्वारा 'धर्म के मामलों' तक ही सुनिश्चित किया गया है।

राष्ट्र की एकता एवं अखंडता : राष्ट्र की एकता एव अखंडता का ध्येय आमुख में उद्घोषित है। चूँकि सविधान की समझ के लिए आमुख मात्र एक कुंजी है, धारा 29 (1) को आमुख के प्रतिकूल नहीं माना जा सकता है। धारा 29 (1) द्वारा नागरिकों को उनकी विभिन्न भाषाएँ, लिपि या संस्कृति को सुरक्षित रखने का मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है। .

इस अनुरक्षण का यह तात्पर्य नहीं है कि भाषा, लिपि या सस्कृति का अलगाववादी यत्र के रूप मे प्रयोग किया जाए। यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति या सास्कृतिक समूह की अपनी विशेष पहचान हो सकती है, किंतु यह पहचान अलग राष्ट्रवाद का राग अलापने की अनुमति प्रदान नहीं करता। जैसे कि व्यक्ति को वैचारिक आजादी है, ठीक उसी प्रकार समूह-विशेष को भाषा व सस्कृति की आजादी है। किंतु जैसे कि व्यक्ति अपनी वैचारिक स्वतत्रता के आधार पर राष्ट्र से अलग नहीं हो जाता, उसी प्रकार समूह या लोग अपनी सास्कृतिक व भाषायी पहचान के आधार पर राष्ट्र से अलग नहीं हो जाते।

अल्पसख्यको के धार्मिक व भाषायी अधिकार को समझने मे यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि उनकी रुचि के आधार पर धारा 30 (1) के अतर्गत शैक्षणिक सस्थाएँ हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, इस प्रकार की सस्थाओ का अच्छा प्रशासन उपेक्षित है तथा इस प्रकार की सस्थाओ पर देश के कानून को समान रूप से लागू करना सुनिश्चित होना चाहिए। इस प्रकार की सस्थाओ मे अध्यापको के स्थायित्व को सुनिश्चित किया जाना चाहिए तथा इस प्रकार की सस्थाएँ मात्र अल्पसख्यक होने के कारण, अपने अध्यापको को इस प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने से इनकार नहीं कर सकती हैं।

समुचित शिक्षा : अस्तु, जैसा कि सविधान मे सँजोया गया है, देश के बच्चों एव युवको की समुचित शिक्षा, उनमे धर्म व सस्कृति के मूल्य निश्चय ही उत्पन्न करे। ये मूल्य हमारी राष्ट्रीय भावना को विशेषता प्रदान करते हैं। सविधान द्वारा अनुरक्षित ये मूल्य हमारी भारतीयता को परम आवश्यक मूल्य के रूप मे उद्घोषित करते हैं। पूरे विश्व मे भारत ही एक ऐसा देश है जिसमे प्राचीन संस्कृति की अविरलता सदियो से बनी हुई है। पुराने मूल्यो से बिखरे बगैर आधुनिकता को

पुराने मूल्यों में जोड़ा जा सकता है। गुरुकुल व अन्य आदर्श संस्थाएँ जो शिक्षा देशवासियों को दे सकती हैं, वे ऐसी होनी चाहिए जो छात्र-छात्राओं को अपनी यशस्वी प्राचीन संस्कृति से अवगत कराए तथा उनमें उच्च नैतिक मूल्यों को उत्पन्न करे। ये मूल्य देश-भक्ति तथा राष्ट्र की एकता एवं अखंडता को समाहित करते हैं। आधुनिकता, विज्ञान व तकनालॉजी के कितने ही अध्याय क्यों न जोड़ दिए जाएँ किंतु शाश्वत मूल्य शिक्षा द्वारा अनवरत बनाए रखे जाने चाहिए। मुझे विश्वास है कि इस कार्य में गुरुकुल देश का अगुवा बनेगा और इस क्षेत्र में पथप्रदर्शक होगा। मेरी शुभकामना है कि यहाँ के विद्यार्थी और वे जो उत्तीर्ण होकर जा रहे हैं, इस संदेश के अग्रदूत होंगे तथा अपने देश की महानता के निर्माता होंगे।

[सन् 1988]

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य

माननीय श्री ब्रह्मदत्त जी

ज्ञान मनुष्य को अपने अस्तित्व और मानव-जीवन के उद्देश्यों के बारे में कुसंस्कारों से मुक्त करता है। मानव-प्रकृति के विषय में सत्य को प्रकट करता है। वास्तव में मनुष्य का अस्तित्व विचारशक्ति पर आधारित है। मनुष्य खोज करके ज्ञान प्राप्त करना चाहता है।

मानव-जीवन का मूल प्रेरणास्रोत स्वतंत्रता है। स्वतत्रता का अर्थ केवल राजनीतिक स्वतत्रता नहीं है, परतु उन तमाम परिस्थितियों मे परिवर्तन लाना है जो मनुष्य के विकास में बाधक हैं। शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति में निहित सभावनाओ का विकास है।

एक विचारशील प्राणी होने के कारण मनुष्य अपनी परिस्थितियो का निर्माता है। वह एक व्यक्ति के रूप मे भी कार्य कर सकता है क्योंकि विचार करने का यत्र अर्थात् मस्तिष्क व्यक्तिगत होता है, सामूहिक नहीं। ससार में बडे-बडे परिवर्तन विशिष्ट व्यक्तियो द्वारा विकसित विचारो के कारण ही हुए हैं। यह विचार एक मानव-समाज को प्रेरित करते हैं और ऐसे परिवर्तन का कारण बनते हैं जिससे मानव-समाज के विकास में आनेवाली बाधाएँ दूर हो।

यह कहा जा सकता है कि आदर्श शिक्षा, समाज के पुनर्गठन के लिए तथा प्रगति सुनिश्चित करने के लिए आधारभूत आवश्यकता है। यही शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है।

परस्पर सहयोग करके और समाज मे उचित समन्वय स्थापित करके मनुष्य ऐसा समाज बनाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति तथा पूरे समाज के विकास के लिए द्वार खोल देता है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य यही था अर्थात् व्यक्तित्व के विकास के साथ एक आदर्श समाज का सगठन जिसे महर्षि दयानंद ने 'आर्यसमाज' का नाम दिया। आर्यसमाज एक संकुचित कल्पना नहीं थी।

सत्य की खोज के द्वारा व्यक्ति और मानव-समाज के विकास मे बाधाओं को दूर करना हमारे मूल प्रेरणास्रोत हैं। प्रकृति के बारे में निरतर बढती हुई जानकारी मनुष्य को इस दिशा मे ले जाती है। सामूहिक रूप से अथवा व्यक्तिगत रूप से मनुष्य का प्रत्येक कार्य निरंतर बढती हुई मात्रा मे ज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति और

समाज के विकास में आनेवाली समस्त बाधाओं को दूर करना है। एक आदर्श शिक्षा-प्रणाली का यह उद्देश्य होना चाहिए।

मनुष्य नियमो के अनुसार कार्य करनेवाली प्रकृति का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है, अतः उसका तर्कसगत और नैतिक होना अवश्यभावी है। इस कार्य मे भी शिक्षा सबसे बडी सहायक बनती है।

गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली का महत्त्व पाश्चात्य देशों में भी स्वीकार किया गया है, आवासीय शिक्षा-सस्थाएँ गुरुकुलीय प्रणाली का पाश्चात्य स्वरूप हैं। वर्तमान गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति में पाश्चात्य देशो में प्रचलित आवासीय शिक्षा-सस्थाओं की अनुकरणीय एव हमारे परिप्रेक्ष्य में सगत विशेषताओ को यदि आत्मसात् किया जाए, तो न केवल हमारी गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली अधिक समृद्ध होगी, राष्ट्रीय अपेक्षाओं के अनुरूप अपने-आपको विकसित भी कर सकेगी। नवोदय विद्यालयो का वर्तमान प्रयोग गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली को उपयोगिता एव महत्त्व की स्वीकृति है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मे गुरु-शिष्य के मध्य सुदर एव सुखद सबध स्थापित करने की आवश्यकता पर जितना भी बल दिया जाए, कम है। गुरु-शिष्य के सबध के समुचित विकास के बिना शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता है। शिक्षा के स्तर में गिरावट एव अनुशासनहीनता से न केवल विद्यार्थियो की, अपितु राष्ट्र की भारी क्षति हो रही है। विद्यार्थी देश का भावी निर्माता एव कर्णधार है। शिक्षा-दीक्षा में किसी प्रकार की बाधा, अवनति, अनुशासनहीनता, चारित्रिक न्यूनता अथवा अकर्मण्यता नितात अवाछनीय है। इन सब समस्याओ के निराकरण मे अध्यापको, अभिभावकों एवं समाज के सभी सदस्यो का पूर्ण सहयोग आवश्यक है। गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली एव गुरु-शिष्य के सबंधों का विकास इन सभी समस्याओ के निराकरण की दिशा में सार्थक कदम बन सकते हैं।

आज भारतवर्ष की अधिकाश समस्याओ का एक मौलिक कारण राष्ट्रीय भावना का अभाव है। सांप्रदायिक भावना, जातीय भेदभाव, जातीय संघर्ष, प्रातीय एव क्षेत्रीय विद्वेष, भाषा सबधी विवाद इन सभी के मूल मे राष्ट्रीय एकता, समन्वय की भावना एवं राष्ट्रीय भावना का न होना है। राष्ट्र की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि हमे भारतवासी होने का गर्व एव भारतीय होने का गौरव हो।

समाज में व्याप्त सांप्रदायिक-जातीय संघर्षों, असहिष्णुता, स्वार्थपरता एव कर्तव्य की उपेक्षा जैसी व्यापक कुरीतियो पर उदारता एव सह-अस्तित्व की भावना से विजय प्राप्त की जा सकती है। शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य जनमानस में यह भाव जाग्रत करना है कि प्रत्येक धर्म समन्वय, सद्भावना एवं सहअस्तित्व का पाठ पढाता है। प्रकृति स्वय सह-अस्तित्व एव समन्वय का ज्वलंत उदाहरण है। नवस्नातकों का यह उत्तरदायित्व है कि वे एक नए स्वस्थ समाज को सृजित करे जिसमें विध्वसात्मक/प्रवृत्तियों को स्थान न हो।

वैदिक संस्कृति विश्व में भारत का गौरव रही है। वैदिक संस्कृति का आधार ज्ञान व कर्म का समन्वय था। संस्कृत भाषा के सम्यक् ज्ञान के बिना इस असीम आगार से लाभान्वित होना संभव नहीं है।

सस्कृत सभी भारतीय भाषाओ की जननी है। भारतीय भाषाएँ अपनी मौलिक शब्दावली के लिए संस्कृत पर निर्भर हैं। एक अनुमान के अनुसार उर्दू भाषा के 80 प्रतिशत शब्दो का स्रोत संस्कृत है। यही नहीं, मलयालम भाषा के शब्दों में से 90 प्रतिशत एवं तेलगू भाषा के शब्दों मे से 60 प्रतिशत शब्द सस्कृत में निहित हैं।

सस्कृत को केवल प्राचीन ग्रथो, वेदों एव उपनिषदो की भाषा की सज्ञा देना अनुचित है। व्याकरण की वैज्ञानिकता एव शब्दो के सौष्ठव के कारण आज सस्कृत का उपयोग कम्प्यूटर्स के क्षेत्र मे किया जा रहा है। अमरीका मे टेक्सास विश्वविद्यालय में सस्कृत-आधारित एक वृहत् कार्यक्रम चलाया जा रहा है। कम्प्यूटर्स के माध्यम से एक भाषा मे अनुवाद के लिए विकसित किए जा रहे साफ्टवेयर मे सस्कृत भाषा को मूल भाषा के रूप मे प्रयोग मे लाया जा रहा है। अनुवादित भाषा का पहले संस्कृत मे अनुवाद किया जाता है और उसके बाद संस्कृत को अपेक्षित अनुवादित भाषा में परिवर्तित किया जाता है। मुझे विश्वास है कि संस्कृत की उच्च शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र होने के कारण यह महाविद्यालय संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन एव आधुनिकीकरण की दिशा मे अग्रसर रहेगा।

गुरुकुल कागडी की स्थापना पुरातन व आधुनिक शिक्षा-पद्धतियों का समन्वय करने के लिए की गई थी। संस्कृत साहित्य के साथ आधुनिक विज्ञान का इसमे स्थान है। मातृभाषा हिंदी को माध्यम बनाकर इसे जनसाधारण के लिए सुलभ बनाया गया तथा यह आधुनिक ज्ञान के विषय मे नए साहित्य की रचना मे प्रेरक बनी।

इस विश्वविद्यालय ने पर्यावरण सबधी तथा गगा समन्वित योजना मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

आज सारे ससार की यह आवश्यकता है कि मानव समाज विज्ञान के रचनात्मक रूप से लाभान्वित होते हुए, उन सकटो के प्रति सावधान रहे जो सारे मानव-समाज का विनाश कर सकते हैं। यह तभी सभव है जब पुरातन मूल्यो पर आधारित एक मानव संस्कृति का विकास हो। इस दिशा मे भारत सारे ससार को दिशा दे सकता है। क्योकि हमारा देश व राष्ट्र वैचारिक सहिष्णुता पर आधारित है। यहाँ पुरातन मूल्यों से आधुनिक ज्ञान को जोडना सभव है।

मुझे विश्वास है कि इस कार्य में गुरुकुल अगुवाई करने मे समर्थ है।

मेरी शुभकामना है कि यहाँ के नवस्नातक उन क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करें जहाँ पुरानी पीढी सफल नहीं हो सकी और प्राप्त की गई उपलब्धियो का सरक्षण करने में समर्थ हो।

मेरा अनुराध है कि आप इसे शिक्षा की समाप्ति न समझते हुए, शिक्षा का प्रथम सोपान समझें और निरंतर अपनी शैक्षिक योग्यता विकासोन्मुखी रखें। समाज में वर्तमान कुरीतियों को दूर करने के लिए दृढ़ संकल्प होकर आप जीवन में प्रवेश करें।

कभी भी पुरुषार्थ से विमुख न हों। विपत्तियों और कठिनाइयों से कभी-भी विचलित न हों। दृढ़ निश्चय ही आपकी सफलता की कुंजी होगी। आत्मनिर्भरता एवं आत्म-विश्वास की भावना से सदा उन्नतिपथ पर अग्रसर हों। साध्य की प्राप्ति के लिए साधन की पवित्रता बनाए रखें।

[सन् 1989]

सांस्कृतिक विरासत की रक्षा

माननीय श्री चीमनभाई मेहता

पूज्य सन्यासीवृंद, माननीय कुलाधिपतिजी, कुलपतिजी, आचार्यगण, ब्रह्मचारियो, आर्य-बंधुओ तथा बहनो !

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानदजी महाराज की इस साधना-स्थली में आकर मैं गौरवमिश्रित हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। देश-प्रेम, बलिदान, आत्मत्याग, सस्कृतिगत निष्ठा तथा मूल्य-आधारित जीवन-चेतना को विकसित करने में उन्होंने सारा जीवन लगा दिया। मैं सर्वप्रथम आचार्यप्रवर स्वामी श्रद्धानदजी महाराज के प्रति विनम्रता के साथ श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि इस दीक्षा-मडप मे विराजमान प्रत्येक व्यक्ति नवस्नातकों के साथ इस अवसर पर उन्हें श्रद्धासहित स्मरण कर रहा होगा।

भाइयो !

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जब भारतीय पुनर्जागरण और सामाजिक-धार्मिक सुधार आदोलन शुरू हुए तब महर्षि दयानंद ने आदर्श समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और परिपूर्ण शिक्षा नीति की रूपरेखा प्रस्तुत की। सर्वसाधारण जनता को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर उस समय नहीं था। परिणामस्वरूप बहुसख्यक जनता निरक्षर रह गई। अज्ञान, शोषण और रूढियों मे जकडी जनता कैसे खुशहाल रह सकती थी ? महर्षि दयानद तथा स्वामी श्रद्धानंद ने तत्कालीन शिक्षण-संस्थाओं के प्रतिरोध मे अपनी शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं तथा सभी वर्णों, वर्गों, जातियों और उपजातियों के बालक-बालिकाओं को बिना किसी भेदभाव के, समान रूप से अध्ययन-अध्यापन का अवसर प्रदान किया। दयानंद सरस्वती का मतव्य था कि शिक्षा सबके लिए अनिवार्य हो। कोई भी वर्ग विद्या से वंचित न रहे। स्त्री-शिक्षा और समाज मे स्त्रियों की समान तथा आदरपूर्ण स्थिति का समर्थन भी स्वामीजी ने ही किया। आधुनिक सवेदना से पूर्ण शिक्षा की गंगा, दयानद के कमडल से ही इस देश में प्रवाहित हुई। उनका सतत् प्रयत्न रहा कि अध्ययन के दौरान जाति या कुलसूचक कोई चिह्न विद्यार्थी के नाम के साथ न रहे। धनी-निर्धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, छूत-अछूत, ऊँच-नीच, समान-असमान तथा अपने-पराये

का कोई भेद न रहे। आज शिक्षण-संस्थाओं मे बढते अनाचार, अराजकता और लोभ, देश की नई पीढी को जिस दिशा में ढकेल रहे हैं, उससे उबरने के लिए स्वामी दयानंद, गाँधी, रवींद्रनाथ और श्री अरविंद के शिक्षादर्शन को स्वीकार करना जरूरी है। लोग समझते हैं कि दयानंद और गाँधी की जरूरत हमे आजादी के दौरान थी, पर सच्चाई यह है कि राजनीतिक स्वतत्रता के बाद हमें उनकी और जरूरत है। साधारण पाठशालाओं और पब्लिक स्कूलो के बीच दौडते शिक्षार्थियो को देखकर लगता है कि शिक्षा का व्यापारीकरण हो रहा है। हमने तय किया है कि शिक्षा सबको समान रूप से उपलब्ध होनी चाहिए। आज तकनीकी शिक्षा और चिकित्सा के क्षेत्र मे लाखों रुपया देकर सामान्य प्रतिभा का छात्र भी प्रवेश पा जाता है और निर्धन व्यक्ति प्रतिभाशाली होकर भी उससे वचित रह जाता है। प्रतिभा के साथ न्याय होना चाहिए और सबको समान अवसर मिलना चाहिए। आज देश मे अमीर-गरीब के बीच की खाई को पाटने की आवश्यकता है। शिक्षा, रोजगार और विकास के अवसर सबको दिए जाएँ, इसके लिए हमारी सरकार कृतसकल्प है। आज विश्वविद्यालय को मानविक और तकनीकी ज्ञान जनसामान्य तक पहुँचाना होगा। देशव्यापी साक्षरता के अभियान के साथ विस्तार की योजनाओ को लागू करना विश्वविद्यालयों का कर्तव्य है। पुस्तकीय शिक्षा तब तक अपूर्ण है, जब तक हम ज्ञान-विज्ञान का लाभ जनसाधारण तक नहीं पहुँचाते।

शिक्षा एक सतत प्रक्रिया है। अत विश्वविद्यालयो का कार्य एक निश्चित अवधि मे विद्यार्थियो को उपाधि बाँट देना ही नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य तो व्यक्ति मे ज्ञानार्जन की तीव्र लालसा जगा देना है। वह विश्वविद्यालय में हो या विश्वविद्यालय से बाहर, उसे समाज की नित-नवीन समस्याओ से परिचित होना है और उनका समाधान ढूँढना है। स्वामी दयानद ने संसार के शिक्षाविदों के सामने सतत शिक्षा का आदर्श रखा था। स्वामी श्रद्धानद ने इसी लक्ष्य को आगे बढाया। यदि माता-पिता शिक्षित, चरित्रवान और धर्मनिष्ठ हैं तो सतान मे भी इन सस्कारो का आरोपण हो सकेगा। माता-पिता के पश्चात् शिक्षक उसके निर्माण में योग देता है। प्राथमिक पाठशालाओ से लेकर विश्वविद्यालयो तक शिक्षा की धुरी चरित्र-निर्माण होनी चाहिए। हमे रोजगारोन्मुख शिक्षा के साथ मूल्य-आधारित शिक्षा को प्रोत्साहन देना है पर यह कार्य केवल सरकार नहीं कर सकती। विद्यार्थी में तीव्र ज्ञान-पिपासा, अन्वेषण, सहिष्णुता, तप, विद्यार्जन तथा राष्ट्र और समाजसेवा की भावना जाग्रत करना है। इसकी उपलब्धि मे शिक्षक समुदाय की अहम भूमिका है और उन्हे इस भूमिका को देश के सामाजिक एव आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि में पूरा करना होगा। आज संसार को ऐसे ही विद्यार्थी और आचार्य चाहिए।

गुरुकुल, दयानद ऐंग्लो-वैदिक कॉलेज, सस्कृत पाठशालाओं, उपदेशक विद्यालयों, कन्या महाविद्यालयो, बालमदिरों तथा कृषि, शिल्प, कला केंद्रो के माध्यम से शिक्षा के उन्नत रूप का प्रचार किया तथा सभी प्रकार के पाठ्यक्रम लागू किए।

गुरुकुल में संस्कृत, वेद, दर्शन, प्राचीन इतिहास तथा साहित्य के साथ यद्यपि विज्ञान के विषय भी पढ़ाते जाते हैं। मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आज से 70-80 वर्ष पूर्व यहाँ ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का माध्यम हिंदी था और हिंदी में भौतिकविज्ञान, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र तथा विकासवाद पर पुस्तकें भी लिखी गई थीं। यह बड़ी बात है और आज चुनौती भी, जो कहते हैं आधुनिक विज्ञान मातृभाषा या राष्ट्रभाषा में नहीं पढाया जा सकता। स्वामी श्रद्धानंदजी ने इस चुनौती को स्वीकार किया और उस समय इस दिशा मे पहल की, जब वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण भी नहीं हुआ था। अग्रेजी भाषा सपन्न है, उसका पठन-पाठन अतर्राष्ट्रीय आवश्यकता भी है। पर यह मोह हमारी चेतना को जकडे रहे यह आवश्यक नहीं है। हमे देशी भाषाओं की शब्द-सामर्थ्य पर भरोसा रखना चाहिए।

विनोबाजी ने एक लिपि की बात की थी। यदि ऐसा हो जाए तो सारी भारतीय भाषाएँ एक-दूसरे के निकट हो जाएँ और हम भावात्मक तथा राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बँध जाएँ। भाषा, धर्म, जाति, रग और प्रांत की सकीर्ण भावना से ऊँचा उठकर ही हम देश को मजबूत बना सकते हैं।

नवस्नातकगण !

आप जीवनक्षेत्र मे प्रवेश करने जा रहे हैं। मैं आशा करता हूँ कि आप राष्ट्र के कर्तव्यशील नागरिक बनोगे। मैं चाहता हूँ कि आपका जीवन देश और समाज की चुनौतियों को सहर्ष स्वीकार करे और आप सच्चे मन से उनका सक्रिय निदान खोजकर मानवमात्र की सेवा करे। आचार्यप्रवर स्वामी श्रद्धानदजी ने कहा था "लेना तो सभी ससार जानता है। तुम इतने योग्य हो कि अपनी बुद्धि और विद्या में से कुछ दे सको। जो तुम्हारे पास है, उसे उदारता से फैलाओ, हाथ खुला रखो, मुट्ठी को बंद न होने दो। जो सरोवर भरता है, वह फैलता है, यह स्वाभाविक नियम है।"

इन शब्दो के साथ मैं आपको सुखद, समृद्ध और उज्ज्वल जीवन की मंगल-कामना करता हूँ तथा आपके कुलाधिपति प्रो. शेरसिहजी तथा कुलपति श्री सुभाष विद्यालकार को धन्यवाद देता हूँ जिन्होने मुझे आपके बीच उपस्थित होने का अवसर प्रदान किया। मेरी कामना है कि गुरुकुल विश्वविद्यालय हमारी सांस्कृतिक विरासत तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का संगम हो। अपने मूल स्वरूप की रक्षा करते हुए यह क्षेत्र के अभाव की पूर्ति मे सहायक हो तथा यहाँ के स्नातक सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक और शैक्षिक क्षेत्र मे अग्रणी बनें। इस मगलाशा के साथ आप सभी के प्रति हार्दिक शुभ-कामनाएँ।

[सन् 1990]

नई आशा

माननीय श्री चद्रशेखरजी
प्रधानमंत्री, भारत सरकार

भारतीय सस्कृति का विकास अट्टालिकाओ और महलों के बीच नहीं, बल्कि ऋषि-उनियों की तपस्थलियो के रूप में अरण्यो मे हुआ है। इसके चितक और मनीषी इसी आरण्यक संस्कृति के पोषक रहे हैं। जब दुनिया को ज्ञान का 'क, ख' नहीं आता था, तब हमारे यहाँ सामगान और अन्य वैदिक परपराएँ विकसित थीं। आज भले ही हमारे गुरुकुलो और विद्यामदिरो का वह पुराना आदर्श स्वरूप नहीं रहा, पर कभी जब राजा गुरुकुल में आते थे, तो अपने वाहनो से उतरकर पैदल चलकर आया करते थे। यही वजह है कि हमारी सास्कृतिक परपराएँ राजभवनो और अट्टालिकाओ के भरोसे नहीं चलीं।

हम तो आरण्यक सस्कृति के लोग हैं। राजा तो आते-जाते रहे हैं, पर विद्या-मदिर और गुरुकुल तो हमेशा रहते हैं। इनमे पढनेवाले युवक-युवतियाँ ही देश की आशा हैं। लेकिन दुख है कि आज हमारी आशा ही आत्मविश्वास से दूर आत्मनिदा और हीनभावना से ग्रस्त है।

हमारे अतीत मे विकृतियाँ नहीं थीं, ऐसा मैं नही कहता, पर अतीत की उन विकृतियो को छोडकर हमे उनके शुभ पक्ष और कल्याण पक्ष की शिक्षा अपनी नई पीढी को देनी है। गुरुकुल तो वह शिक्षा सस्था है जहाँ से समाज को नई आशा, नई ज्योति मिलती रही है। स्वामी श्रद्धानद ने गुरुकुल की फिर से प्रतिष्ठा करके राष्ट्र को गौरव दिया था। लेकिन हम 40 वर्षों मे भटक गए हैं। आज हमें सोचना है कि हम कृष्ण और सुदामा को एक साथ शिक्षा देनेवाले सदीपनि के आश्रम की परंपरा को शिक्षा नीति से जोडे या एकलव्य का अँगूठा लेनेवाले गुरु द्रोण की परंपरा को बढाएँ।

हमे अपने भीतर अपनी परपराओ, वेशभूषाओं, और भाषा, सभ्यता और संस्कृति पर अभिमान करनेवाली शिक्षा अपने युवक-युवतियो को देने की दिशा मे सोचना है। ऐसी शिक्षा जो आत्म-सम्मोहन से हमे भर सके, हमे देनी चाहिए। हमे शिक्षा नीति पर सोचने के तरीके मे परिवर्तन लाना होगा। हमे ज्ञान और शिक्षा बिना भेदभाव के सभी के लिए उपलब्ध कराना होगा। जैसे गगा जल सबके लिए है

वैसे ही ज्ञान और शिक्षा सबके लिए हो। आज देश मे 65 प्रतिशत लोग निरक्षर है। दुख है कि पेट की आग बुझाने के लिए हमारे युवक निरक्षर रहकर अब भी छोटे-मोटे काम करके गुजर करते हैं।

गुरुकुल में युवतियॉ नहीं पढ पा रही हैं, यह दुख की बात है। युवतियो को भी यहाँ शिक्षा मिले, यह हमें सोचना है। एक युवक पढकर एक-दो को पढा सकता है। पर एक युवती पढकर पूरी नई पीढी को साक्षर और शिक्षित करती है।

[रून् 1991]

विसंस्कृतिकरण की आँधी को रोकना जरूरी

माननीय श्री राजेश पायलट

ओऽम् सह नावक्तु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।।

परम माननीय कुलाधिपति महोदय, सम्मान के योग्य कुलपतिजी, श्रद्धा के योग्य आचार्यगण, सम्मान के पात्र आर्यमहिला एव आर्यपुरुष तथा प्रिय नवस्नातकगण!

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के 1993 के दीक्षांत समारोह पर विद्या एव तप की पवित्र स्थली पर आमंत्रित कर आपने मुझे जो सम्मान प्रदान किया, उसके लिए मैं हृदय से आपका आभार प्रकट करता हूँ। साथ ही श्रद्धा एव व्रत के धनी अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंदजी को अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ, जिन्होने युगद्रष्टा महर्षि दयानद की वैदिक शिक्षा-पद्धति व सिद्धातो को मूर्त रूप देने के लिए गगापार कागडी ग्राम के निकट जगल मे इस सस्था की स्थापना की। महर्षि दयानंद के उपदेशों के अनुसार स्वामी श्रद्धानदजी भारत को अविद्या, अकर्मण्यता, अज्ञान एव परतत्रता के अधकार से निकालकर देश और समाज को सत्य, पवित्रता और स्वतत्रता के रथ पर आरूढ करने का आजीवन प्रयत्न करते रहे। स्वामी श्रद्धानंदजी की दृष्टि मे शिक्षा का अर्थ केवल व्यक्तिगत विकास नहीं था, अपितु शिक्षा द्वारा ऐसे नर-नारियो का निर्माण करना था जो अपने कर्तव्यो और उत्तरदायित्वों को भली भाँति निभा सके, सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझे, ससार का उपकार करें। बालको की शिक्षा में सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय माता, पिता और आचार्य द्वारा उनके सामने सही आचरण प्रस्तुत करना है। बालको का आचरण माता, पिता, आचार्य की कथनी की अपेक्षा उनकी 'करनी' का अनुकरण होता है। इसीलिए कहा भी है, *'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेदः'*। स्वामी श्रद्धानंद के तप, त्याग और आदर्श जीवन ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को मूर्धन्य राष्ट्रीय शिक्षण सस्था बना दिया। अपने समग्र जीवन को उन्होंने गुरुकुल के महान् राष्ट्रीय यज्ञ की हवि बनाकर समर्पित किया। वे विद्याभ्यास के साथ

विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण, तप तथा अनुशासन पर बल देते रहे। सभवतः यह अमर श्लोक उनके जीवन का रसायन था।

> *एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः।*
> *स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवाः।।*

स्वामी श्रद्धानंदजी ने वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानकर ज्ञान, कर्म, उपासना की वृद्धि करने के लिए गुरुकुल मे अनेक विद्याओं के पठन-पाठन की व्यवस्था की। उनके हृदय में अपार प्रेम, धैर्य और उत्साह था। आत्मीयता से उनका रोम-रोम व्याप्त था। वे विद्यार्थियों के पिता थे, उनकी प्रेरणा के अजस्र स्रोत थे।

अपने शिष्य-ब्रह्मचारियों पर उन्हें अगाध निष्ठा थी। उन्होंने मधुरता और प्राकृतिक सौंदर्य एव ऐश्वर्य के परिवेश में अध्ययन-अध्यापन, चिंतन और सृजन का वातावरण बनाया। आत्मिक ज्ञान के साथ आधुनिक विज्ञान के समन्वय का श्रीगणेश किया। उनके आदर्श से अनुप्राणित वर्चस्वी स्नातक और आचार्य धर्म, सस्कृति, समाज, वेदज्ञान एव सस्कृत वाड्मय का प्रचार-प्रसार, हिंदी में उच्चस्तरीय शिक्षण के लिए पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण, प्राचीन इतिहास सबंधी शोधकार्य, आयुर्वेद, पत्रकारिता आदि में विशेष योगदान कर, गुरुकुल की ख्याति में महान् सहयोग देते रहे। देशभक्ति से आप्लावित और राष्ट्रीय भावना से उद्दीप्त गुरुकुल के स्नातकों ने देशव्यापी सेवाकार्य और स्वाधीनता सग्राम मे स्तुत्य भाग लिया।

यह तथ्य है कि वर्तमान में परिवर्तन की सहजरूपता के कारण अन्य प्रमुख शिक्षण सस्थाओ के समान गुरुकुल भी आधुनिकता मे अग्रगामी हुआ है। आज गुरुकुल आध्यात्मिक चेतना को उद्बुद्ध करनेवाले वेदादि सत्शास्त्रो के अध्ययन-अध्यापन के साथ वैज्ञानिक क्षेत्र मे भी आगे बढ रहा है। आज इस विश्वविद्यालयों में लगभग सभी आधुनिक विषय पढाए जा रहे है। यहाँ प्राचीन तथा नवीनता का समन्वय सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है। मानव जीवन के साथ शिक्षा का सत्य संबंध क्या है, इसका उत्तर स्वामी श्रद्धानद के इस अमर स्मारक गुरुकुल से मिल सकता है।

प्रिय स्नातको,

आज आप अपनी विद्या पूर्ण करके उसकी सफलता के लिए दीक्षित हो रहे हैं। इस समावर्तन संस्कार की पावन वेला पर उपस्थित आप स्नातकों का मैं अभिनंदन करता हूँ तथा उपाधि प्राप्ति पर आपको बधाई देता हूँ। स्वाभाविक ही है कि इस समय आपका हृदय हर्ष एवं उल्लास से भरा है। सभवत. आपके हृदय में भविष्य को सुखद करनेवाले स्वर्णिम स्वप्न आ रहे होगे। मैं आपके स्वप्नों के साकार होने की मगलकामना करता हूँ।

आप विद्या में अवगाहन कर चुके हैं, विवेकशील हैं तथा यह भली भाँति जानते हैं कि प्रकाश एवं अंधकार का, देव और असुर का सग्राम निरतर हमारे

हृदयों में चलता रहता है, न केवल हृदयों में अपितु घर में, समाज में, देश में तथा विश्वभर में यह संग्राम चल रहा है। मैं आपके आंतरिक और बाह्य परिवेश में आध्यात्मिक, अधिभौतिक और अधिदैविक सुख-शांति की तथा द्वेषरहित परस्पर प्रेम और सहयोग की हार्दिक कामना करता हूँ।

नवस्नातको,

आज विज्ञान तथा गतिशीलता का युग है। इस युग में आपका सामंजस्य किस स्तर पर, किस प्रकार होगा–उपभोक्ता के रूप में या स्रष्टा के रूप में। मुझे विश्वास है कि जिस पवित्र स्थली में आपने आचार्यगण के प्रति श्रद्धा रखते हुए विद्या प्राप्त की है, उसी स्थली में शिक्षित पुराने स्नातकों ने स्वयं को स्रष्टा के रूप में प्रस्तुत किया था। आपमें भी सृजना की अनंत संभावनाएँ प्रसुप्त पडी हैं, इन्हें आपको जगाना है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

आज की परिस्थिति पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि विज्ञान की गति बहुत तेज हो गई है। विज्ञान की नई-नई खोजें देखते ही देखते पुरानी पड रही हैं। संख्या की दृष्टि से भारतीय वैज्ञानिकों का ससार में तीसरा स्थान है। उनकी योग्यता भी किसी से कम नहीं। भारतीय वैज्ञानिकों की उपलब्धियाँ हमारा गौरव है। रोहिणी, भास्कर, एप्पल तथा इनसेट, भारतीय वैज्ञानिको की बडी सफलताएँ हैं। भारत ही विश्व का एकमात्र देश है जहाँ मानवजीवन की शतवर्षीय वैज्ञानिक योजना *'जीवेम शरदः शतम्'* आज तक चली आ रही है। भारतीय उदात्त जीवन की व्यापक दृष्टि और दिव्यता का रहस्य है ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम।

हम विज्ञान और आधुनिक टैक्नोलॉजी में पश्चिम के ऋणी हैं किंतु कुछ भारतीय दुर्भाग्यवश अपनी संस्कृति और भाषा को भी हीन तथा द्वितीय श्रेणी की समझने लगे हैं।

विसंस्कृतिकरण का यह विष सुरसा की तरह फैलता ही जा रहा है, फिल्मो, रेडियो और दूरदर्शन ने इसे उग्र रूप दे दिया है। आयातित, आरोपित संस्कारों की चादर ओढे ये लोग तथाकथित सभ्य बनकर अपने धर्म, भाषा और संस्कृति की अवहेलना करते हैं। यह निश्चित है कि जब तक भारतीय अपने सही स्वरूप को नहीं पहचानेंगे तब तक भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा नहीं बन सकेगी।

प्रिय स्नातको,

अर्जित ज्ञान और संस्कारों के आधार पर आपको अपना दायित्व निभाना है, अपना ध्येय निश्चित करना है। अपने शरीर, मन और आत्मा का सर्वांगीण विकास करना है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अमर वाक्यों, सत्यं वद, धर्मं चर, विशेषतया

'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' पर आजीवन आचरण करना है। इस पर आचरण करने से आपकी अंतर्निहित शक्तियों की दिव्यता का पूर्ण विकास होगा, जीवन को नई दिशा, आशा और उत्साह मिलेगा। आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को नए आयाम प्राप्त होंगे। प्रश्न आपके जीवन को जीवनधारा से जोड़ने का है। जीवन से जुडना अपने परिवेश की किसी भी ज्वलंत समस्या का वैज्ञानिक अध्ययन, विश्लेषण और समाधान करना है। आध्यात्मिक अभ्युदय और भौतिक अभ्युदय के समन्वय में ही जीवन प्रकाशवान होता है। पश्चिमी देशों को यही हमारी देन है। आदान-प्रदान की परंपरा स्वीकार्य है, इससे जीवन उन्नत होता है। परंतु सदा ही माँगते रहना, परमुखापेक्षी होना शोभा नहीं देता। हमने पश्चिम से माँगा किंतु आज देश में उसकी परिणति क्या हुई है।

अपरिमेय चिंता !
दूसरों के दुख के प्रति असंवेदनशीलता और परिणामस्वरूप युवा आक्रोश, मानवमूल्यों और मान्यताओं का ह्रास !

भौतिक विज्ञान की प्रगति वरदान न बनकर तब अभिशाप बन जाती है, जब मानव की भौतिकता आध्यात्मिकता से संबंध तोड देती है। ऐसा होते ही भौतिकवादी केवल अपने लिए जीते हैं, अकेले ही खाते हैं। विश्वशांति के लिए, भौतिकवादी परिश्रम की प्रलयकारी हिंसा को नियंत्रित करने के लिए भारत की संजीवनी आध्यात्मिक शक्ति के साथ जीवन का सामंजस्य ही एकमात्र उपाय है।

प्रिय स्नातको,
आप शंका मत कीजिए। आसुरी संपत पर विजय पाने के लिए आपके हृदय में दैवी संपत की शाश्वत धरोहर है। आप स्वयं पर, अपने देश, धर्म और संस्कृति पर श्रद्धा रखें, अंधविश्वास नहीं, श्रद्धा से ज्ञान, प्रेयस् और निःश्रेयस् प्राप्त होते हैं। संशय से तो महानाश ही होता है।

धर्म पर विश्वास के साथ आपकी बुद्धि विशाल हो ताकि आप नए तथ्य ग्रहण कर सकें। ज्ञान-विज्ञान के नए क्षितिज खोजें, गहराइयाँ मापें। आपका हृदय विशाल हो, जो नई चेतना और आत्मीयता का माध्यम बन सके। आप अपने देश के कर्तव्यनिष्ठ नागरिक बनें, केवल अपनी उन्नति से ही संतुष्ट न रहें वरन् सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझें। यह दीक्षांत ही नहीं अपितु नया प्रारंभ है। आपके इस नए अभियान की सफलता के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

[सन् 1993]

भारतीय प्रतिभाएँ भारत के लिए समर्पित हों

माननीय श्री अर्जुन सिंह

माननीय कुलाधिपतिजी, परिद्रष्टाजी, कुलपतिजी, आचार्यगण, बंधुओ, बहनो तथा नवस्नातको।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दीक्षांत समागार में नवस्नातकों को संबोधित करने का अवसर पाकर मेरा प्रसन्न होना स्वाभाविक है। देश के विश्वविद्यालयों में इस विश्वविद्यालय की अपनी पहचान इसके संस्थापक अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंद के कारण बनी और इसके स्नातकों ने राष्ट्र-निर्माण, स्वाधीनता आंदोलन समाज-सेवा, हिंदी प्रचार, धर्म, संस्कृति, साहित्य, समाजदर्शन तथा इतिहास-लेखन के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करके अपूर्व ख्याति अर्जित की।

स्वामी श्रद्धानंदजी का भारतीय पुनर्जागरण के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा।

स्वामीजी ने गुरुकुल की स्थापना कर भारतीय शिक्षा-पद्धति को और आगे बढ़ाया। उस समय पाश्चात्य सभ्यता और सांस्कृतिक विचारधाराओं के प्रचारार्थ अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली ने समूचे देश की सांस्कृतिक महत्ता को महत्त्वविहीन करने के लिए कोई भी कदम नहीं छोड़ा परंतु महर्षि दयानंद से प्रेरणा लेकर तब स्वामीजी ने पूरब और पश्चिम को, प्राच्य विद्याओं के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को, अध्यात्म के साथ भौतिक यथार्थ को तथा व्यक्ति-निर्माण के साथ राष्ट्रोन्नति के लक्ष्य को एकाकार करने की चेष्टा की और उसे मूर्त रूप देने के लिए गुरुकुल की स्थापना की। उनका दूसरा साहसपूर्ण कार्य था हिंदी के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था। यह कितना चुनौतीपूर्ण कार्य था, इसका अंदाजा इससे मिल जाता है कि हिंदी में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के तकनीकी शब्दों का अभाव था। 1910-11 के आसपास वैज्ञानिक विषयों पर हिंदी के लेखन-कार्य करने की चुनौती उनके निर्देशन में गुरुकुल ने स्वीकार की।

आप उनके जीवन से त्याग, बलिदान, देश-सेवा, धर्मनिरपेक्षता, जातीय सद्भाव तथा हिंदू-मुस्लिम-सिख एकता की प्रेरणा लें। आज के सामाजिक तनाव की स्थिति में स्वामीजी के अछूत और दलित वर्ग के लिए कार्य के अवलोकन मात्र से ही एक नई प्रेरणा मिलेगी। उनके बाद के दशकों में राष्ट्रपिता ने समाज को

अपनी ही जर्जर व्यवस्था से सवेदनशील बनाया कि एक नए जागरण का प्रारंभ हुआ। मैं आप लोगों से अनुरोध करता हूँ कि आप इस जागरण का शंख लेकर उठें और धर्मांधता, कट्टरता, जातीय नफरत, रगभेद, नस्लभेद, आतक और पृथकतावाद को ध्वस्त करें। बिखरते हुए देश को एकजुट होकर सगठित करे तथा अध्यात्म के साथ आधुनिक तकनीकी ज्ञान को जोडकर देश के करोडों निर्धन, असहाय तथा ग्रामीण परिवेश में पिछड़ा जीवन जी रहे लोगों को समृद्धि, सुख और शांति का जीवन जी पाने के अवसर प्रदान करें। देश को बाहर और भीतर से तोडनेवाली शक्तियों को कुंठित करने के लिए त्याग, साहस, विवेक, संगठन, सौहार्द और कर्मयोग की आवश्यकता है। मैं आशा करता हूँ कि आप मानव-समाज की सेवा का लक्ष्य जीवन में सर्वोपरि मानेंगे। पुस्तकीय ज्ञान तभी सार्थक होता है जब वह हमारे व्यवहार का अग हो।

आधुनिक शिक्षा की एक कमी रही है, उसका समाज से कटा होना। किसी राष्ट्र को सपन्न एव शक्तिशाली बनाने के लिए शिक्षा को समाज से जोडना आवश्यक होता है। शिक्षा को इसीलिए मानव ससाधन का माध्यम माना जाता है। परतु शिक्षा का अर्थ सस्कार, चरित्र, मूल जीवन-मूल्यों का विकास भी है। वे वही धरोहर हैं जो राष्ट्र-निर्माण में सहायता तो करती ही हैं और राष्ट्र जब भी किसी सकट में होता है तो एकजुट हो जूझने की प्रेरणा भी देता है। इसीलिए सभ्यताएँ ऊपर उठीं और लुप्त हो गईं पर हमें गर्व है कि भारतीय सस्कृति और सभ्यता अभी तक मनुष्य जाति की पथप्रदर्शक तथा हितैषी है।

सामाजिक न्याय, नैतिकता तथा ज्ञान-प्राप्ति की उत्कृष्ट लालसा शिक्षा का उद्देश्य है। इसे अपसस्कृति, हिंसा तथा स्वार्थपरता से लडने के लिए समयानुकूल बदलना होगा। हमे इस ओर अत्यावश्यक ध्यान देना है अन्यथा शिक्षा, समाज और जीवन-मूल्यों का सकट हमे पूरी तरह निगल जाएगा। सामाजिक न्याय, मानवीय एकता और राष्ट्रीय समृद्धि ही हमारा और हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। शिक्षा इसी लक्ष्यपूर्ति का साधन है।

शिक्षा चाहे वह प्राथमिक स्तर पर हो माध्यमिक स्तर पर हो या उच्चस्तरीय अध्ययन और शोध स्तर पर। उसे ग्रामोत्थान से लेकर विश्व-भूगोल तक जुड़ना है। आर्थिक प्रगति की दौड में भाग लेकर भी अपनी साधारण भूमि से जुडे रहना है। जनसख्या के इस भयकर विस्फोट और आर्थिक तगी के बढते माहौल में शिक्षा द्वारा ही जनता को प्रशिक्षित करना है। व्यावसायिक शिक्षा की परिकल्पना आर्थिक सकटो से निकलने का मार्ग ढूँढने के लिए बनाई गई थी।

आठवीं पचवर्षीय योजना में व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। यू.जी.सी. ने इस सबध में निर्णय किया है कि 1994-95 के सत्र से देश के कुछ विश्वविद्यालयो/कालेजो में डिग्री कोर्स मे व्यावसायिक शिक्षा प्रारभ करेगे। मैं समझता हूँ कि यदि आप इस दिशा मे कार्य कर सकें तो गुरुकुल कागडी

विश्वविद्यालय भी इसे फैलाने में सहायक होगा। एक दूसरा पहलू जिसके ऊपर शिक्षाविदों को गहराई से सोचना है, वह है—उच्च शिक्षा के साधनों को जुटाने में गैर-सरकारी स्रोत को ढूँढ़ना। विश्व के कई देशों में यह प्रयोग सफल हुआ है। शिक्षण-संस्थाएँ अधिक से अधिक छूट प्राप्त कर आय के स्रोत जुटा सकें, तथा कम से कम मात्रा में सरकार की मुखापेक्षी हों, इसे ध्यान में रखते हुए सरकार ने आवश्यक आदेश निर्गत कर दिए हैं तथा आपका विश्वविद्यालय भी उस सूची में है जिन्हें यह छूट उपलब्ध होगी। अब इसके लिए विश्वविद्यालयों को गंभीरता से निर्णय लेने होंगे। स्वायत्त और आत्मनिर्भरता के लिए आत्मविश्वास और आर्थिक पवित्रता का ध्यान भी रखना होगा।

प्यारे स्नातको ! आज जब आकाश के रास्ते अपसंस्कृति की मार हम पर पड रही है, देशी-विदेशी विघटनकारी ताकतें हमारी राष्ट्रीय भावना, धर्म और सामाजिक कर्तव्यों को नकारात्मक ढंग से प्रभावित कर रही हैं, संप्रदायवाद हमें टुकडे-टुकड़े करने के सतत् प्रयास में है, जातीय द्वेष से समाज ग्रसित है तब हम कितना ही कहें कि हम लोकतांत्रिक देश के सदस्य हैं पर यह सिर्फ मन को मनाने की बात होगी क्योंकि वर्ग-भेद सब नकार जाता है। अतः जरूरत है कि हम ऊँच-नीच की भावना से ऊपर उठे तथा समाज के रचनात्मक बदलाव में योगदान करें। हम प्रतिभावान हैं और दुनिया मे राष्ट्र इस बात का साक्षी है पर हमारी प्रतिभाएँ भारत के काम आएँ और प्रतिभा पलायन रुके, यह तभी सभव है जब हमारी प्रतिभाएँ अंतर्मन से प्रसन्न हों और अपने जीवन के लक्ष्यों को राष्ट्र के लक्ष्यों के साथ समन्वित करें।

आज आपका दीक्षांत हो रहा है। औपचारिक रूप से यहाँ आपकी शिक्षा समाप्त हुई पर क्या यह शिक्षा का समाप्ति बिंदु भी है ? आप अनवरत शिक्षा से जुटे रहे, लोगों को शिक्षित करे, तभी आपकी शिक्षा सफल हो सकती है। आप अपने जीवन मे निरंतर सुख और समृद्धि की ओर अग्रसर होते जाएँ यही मेरी शुभकामना है। मेरी अपेक्षा है कि आप राष्ट्र के लिए उपयोगी नागरिक बनें।

अत मे, आपके लिए मंगलकामना करते हुए आपको बधाई तथा कुलाधिपति, परिद्रष्टा तथा कुलपतिजी को धन्यवाद देता हूँ कि मुझे यह अवसर प्रदान किया।

[सन् 1994]

अतीत की उपलब्धियाँ : वर्तमान के पगचिह्न

माननीय श्री शिवराज पाटिल
अध्यक्ष, लोकसभा (भारत)

माननीय कुलाधिपतिजी, परिद्रष्टाजी, कुलपतिजी, आदरणीय पडितजी, आचार्यगण, बधुओ, बहनो एव नवस्नातको।

आज गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के दीक्षात समारोह मे आपने मुझे यहाँ आमत्रित कर युगपुरुष स्वामी श्रद्धानदजी महाराज की तप स्थली देखने का जो सुअवसर प्रदान किया है उसके लिए मै आप सभी का हृदय से आभारी हूँ। स्वामी श्रद्धानदजी ने देश की स्वाधीनता, अखडता, समृद्धि तथा सास्कृतिक विरासत की रक्षा करने के लिए आजीवन सघर्ष किया। वे मानव-कल्याण के लिए निरतर प्रयत्नशील रहे। वे देश के युवको को एक ऐसे वर्ग के रूप मे तैयार करना चाहते थे जो ज्ञान-विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओ-प्रशाखाओ मे पारगत होने के साथ-साथ वैदिक ज्ञान एव विश्वप्रसिद्ध भारतीय सस्कृति से भी भली भाँति परिचित हो तथा राष्ट्र के रचनात्मक विकास मे अपनी भूमिका निभा सके। महर्षि दयानद सरस्वतीजी की शिक्षा सबधी अवधारणाओ के अनुरूप स्वामी श्रद्धानदजी भारत के लिए एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षानीति बनाना चाहते थे, जिसमे प्राचीन विद्याओ के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समन्वय हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही स्वामी श्रद्धानद ने सन् 1902 मे इस गुरुकुल की स्थापना की थी। उनका दृढ विश्वास था कि देश की आजादी और आजाद भारत की चहुँमुखी प्रगति तब तक सभव नहीं होगी, जब तक देश मे शिक्षा, हमारी राष्ट्रीय सस्कृति एव भारतीय पद्धति के अनुरूप लागू नहीं होती। वस्तुत शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो जीवन-निर्माण करनेवाली, इसानियत लानेवाली और चरित्र-निर्माण करनेवाली हो और जो जीवन मे विभिन्न विचारो को आत्मसात कर सके।

यह गुरुकुल एक विचार और आदोलन के रूप मे अस्तित्व मे आया, केवल एक सस्था के रूप मे नहीं। वैदिक साहित्य व दर्शन के अध्ययन-अध्यापन के साथ राष्ट्रीयता की रक्षा करना इसका उद्देश्य था। इसलिए सरकारी विश्वविद्यालयो द्वारा अपनाई गई शिक्षा-पद्धति से हटकर इस गुरुकुल ने समानता के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा देने की योजना तैयार की थी। शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा हिंदी हो

इसकी योजना भी सर्वप्रथम इसी गुरुकुल ने कार्यान्वित की थी। यह सस्था तत्कालीन भारतीय विश्वविद्यालयों से सर्वथा भिन्न थी और किसी प्रकार की सरकारी सहायता नहीं लेती थी, क्योकि उसका उद्देश्य ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति तैयार करना था जो विदेशी प्रभाव से मुक्त रहकर राष्ट्रीय विचारों से ओत-प्रोत नवयुवक तैयार कर सके। वर्तमान शताब्दी में सरकारी नियंत्रण से सर्वथा स्वंतत्र रहते हुए सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा देने के लिए सबसे पहली और सफल क्राति गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय ने ही की थी। अब इसमें हिदी, सस्कृत, वेद, दर्शन, प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व एव संस्कृति, मनोविज्ञान और अग्रेजी साहित्य विषयो मे शोध आदि करने की व्यवस्था भी विद्यमान है। मुझे ज्ञात हुआ है कि इस गुरुकुल का पुस्तकालय उत्तरी भारत का एक महत्त्वपूर्ण पुस्तकालय है, जिसमें प्राचीन साहित्य, धर्म और दर्शन पर न केवल दुर्लभ पुस्तके बल्कि प्राचीन हस्तलिखित पाडुलिपियाँ भी सुरक्षित हैं। गुरुकुल का एक महत्त्वपूर्ण दर्शनीय सभाग सग्रहालय है जिसमें प्राचीन इतिहास, अभिलेख, पुरातत्त्व और उत्खनन से प्राप्त दुर्लभ सामग्री रखी गई है। इस सग्रहालय मे हरिद्वार और कागडी ग्राम तथा जनपद के अन्य स्थानो से प्राप्त प्राचीन मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। इसी सग्रहालय में स्वामी श्रद्धानद कक्ष भी है, जिसमें स्वामीजी की पादुकाएँ, वस्त्र कमडल और दुर्लभ चित्र सुरक्षित हैं। यह और भी गर्व की बात है कि इस विश्वविद्यालय का एक महत्त्वपूर्ण कार्य ग्राम-विकास योजना है। सडको का निर्माण वृक्षारोपण बायोगैस प्लाटो की स्थापना, आर्थिक विकास परिवार कल्याण सार्थक ज्ञान आदि विश्वविद्यालय द्वारा ग्रामोत्थान के लिए किए जा रहे प्रमुख कार्य हैं।

स्वामीजी का विलक्षण व्यक्तित्व, उनकी विलक्षण प्रतिभा इस विश्वविद्यालय के विलक्षण स्वरूप का परिचायक है। स्वामीजी मे आध्यात्मिक एव लौकिक गुणो का अद्भुत सगम था। इसलिए वे इस प्रकार के आधुनिक विश्वविद्यालय और प्राचीन गुरुकुल परपरा को साकार रूप देने मे सफल हुए। वे देश के युवको को अपने गुरुकुल मे शिक्षा देकर एक ओर उन्हे आत्म-साक्षात्कार की शिक्षा देना चाहते थे और दूसरी ओर उन्हें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सुसज्जित कर देशभक्त भारतीय सस्कृति के रक्षक, दलितो एव जरूरतमदों के सहायक अल्पसख्यकों के हमदर्द, अस्पृश्यता, जात-पाँत, धार्मिक वैमनस्य एव रूढिवादिता के कट्टर विरोधी और पारस्परिक सौहार्द समानता तथा मेल-मिलाप के प्रबल समर्थक बनाना चाहते थे क्योकि ये सभी गुण स्वामीजी के अपने व्यक्तित्व में विद्यमान थे।

शिक्षा ही एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा अतीत की उपलब्धियो का मूल्याकन होता है वर्तमान की समस्याओं का समाधान खोजा जाता है और भविष्य के लिए रूपरेखा बनाई जाती है। शिक्षा ही वह त्रिवेणी है जो वास्तव मे मन को बल देती है, आत्मा को पवित्र करती है और मनुष्य को सही अर्थों मे मनुष्य बनाती है। स्वामी विवेकानद कहा करते थे कि शिक्षा मनुष्य के विकास

की पूर्णता की अभिव्यक्ति है। उस प्रशिक्षण को 'शिक्षा' कहा जाता है जिसके द्वारा इच्छाशक्ति की धारा पर सार्थक नियत्रण स्थापित होता है। अत इसे शब्द समूह की स्मृति के रूप में न देखकर विभिन्न शक्तियों के विकास के रूप मे देखा जाना चाहिए। सही शिक्षा वह है जो हमें विभिन्न लौकिक विषयो के ज्ञान के साथ साथ आत्मज्ञान करवाए तथा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने की प्रेरणा शक्ति सामर्थ्य एव कौशल प्रदान करे और अतत हमे सत्य व ईश्वर से मिला दे।

स्वामी श्रद्धानदजी द्वारा प्रणीत शिक्षा पद्धति की सार्थकता उपयोगिता और सार्वकालिकता इसी बात से सिद्ध होती है कि वर्ष 1986 में घोषित और 1992 में सशोधित हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अतर्गत सस्कृत और भारत की अन्य प्राचीन भाषाओ के अध्ययन अनुसधान और शोध को बढावा देने के लिए स्वायत्त आयोग के गठन पूरे देश मे सभी बच्चो के लिए प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने माध्यमिक स्तर तक नि शुल्क शिक्षा उपलब्ध कराने मुक्त अध्ययन प्रणाली को जीवनपर्यंत अवसर के रूप मे प्रोत्साहित करने और शिक्षा को रोजगारोन्मुख बनाने पर विशेष बल दिया गया है।

शिक्षा मे हमारा दृष्टिकोण केवल व्यवसायमूलक न होकर जीवनपरक भी होना चाहिए। जीवन की पद्धति वैज्ञानिक दृष्टि से रखते हुए हम राष्ट्र की रचनात्मक धारा के साथ जुडते चले सत्य के ग्रहण तथा असत्य के परित्याग के लिए सदैव तत्पर रहे। उपनिषद् कहती है—आत्मज्ञान सत्य से मिलता है सत्य त्याग और सहिष्णुता से प्राप्त होता है जिसे तप कहते हैं। सत्य के साक्षात्कार के लिए गुरु-ज्ञान है तो श्रद्धा जीवन की आस्था और मार्गदर्शिका है। स्वाध्याय दान और सयम तप की रक्षा करते हैं इनके बिना ज्ञान तथा शिक्षा की प्राप्ति करना दुष्कर है। ज्ञान की नींव ब्रह्मचर्य है। अत शिक्षा के मूल मे तर्क स्वाध्याय सयम त्याग सहिष्णुता श्रद्धा और ब्रह्मचर्य का स्थान अनिवार्य रूप से रखा जाए।

गुरुकुल कागडी मे दी जा रही शिक्षा मे उपर्युक्त सभी उद्देश्य और लक्ष्य निहित हैं। इन गुणो से सुसज्जित शिक्षित युवक जिस क्षेत्र मे भी कार्य करते हैं वहीं अपना और अपनी शिक्षण सस्था का नाम गौरवान्वित करते हैं। मेरी यह मान्यता है कि ऐसे युवको के हाथों जन कल्याण सुनिश्चित है। मैं चाहता हूँ कि देश मे ऐसे गुरुकुल विश्वविद्यालय अन्यत्र भी स्थापित किए जाएँ। मुझे प्रसन्नता है कि इस गुरुकुल के अधिकारीगण तथा आचार्यगण स्वामीजी के आदर्शों का निष्ठापूर्वक अनुसरण कर रहे हैं और अपने शिष्यो को भी उन पर चलने हेतु प्रेरित कर रहे हैं।

प्रिय स्नातको आप जिस सस्था से स्नातक की उपाधि प्राप्त कर सार्वजनिक जीवन मे पदार्पण कर रहे हैं उसकी परपरा और इतिहास गौरवशाली है। यह वह सस्था है जहाँ हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को 'महात्मा की उपाधि से विभूषित किया गया था। आज भी इस सस्था में गणमान्य नेता आकर अपने को

धन्य समझते हैं। संस्कृति, साहित्य, धर्म, दर्शन, चिकित्सा, पत्रकारिता, राजनीति, विज्ञान तथा व्यवसाय के क्षेत्रों में यहाँ के स्नातकों ने निःसंदेह नाम अर्जित किया है और आप सभी इस परंपरा को बनाए रखेंगे। मेरी इच्छा है कि आप जीवन के विविध क्षेत्रों का चयन करें और राष्ट्रसेवा के लिए स्वयं को समर्पित करें। समाज के टूटते हुए रिश्तों और संबंधों को मधुर एव सुदृढ़ करें और समानता तथा सामाजिक न्याय के लिए विवेकसम्मत वातावरण बनाएँ। मेरी शुभकामना है कि आप सभी अपने जीवन में निरंतर सुख-समृद्धि की ओर अग्रसर हों और साथ ही राष्ट्र के रचनात्मक विकास में अपना सक्रिय योगदान दें।

विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने दीक्षात समारोह के निमित्त मुझे आमन्त्रित कर स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती जैसे महामानव को श्रद्धाजलि अर्पित करने का जो सुअवसर मुझे दिया, इसके लिए मैं उन्हें साधुवाद और धन्यवाद देता हूँ। आचार्यगण और उपस्थित भाई-बहनों के लिए मेरी मंगलकामनाएँ।

नमस्ते एवं धन्यवाद।

[सन् 1995]

शिक्षा का लक्ष्य : विश्वबंधुत्व

महामहिम डॉ. ओदोलेन स्मेकल

श्री कुलाधिपतिजी, परिद्रष्टा महोदय, देवियो, सज्जनो और अतेवासियो !

अमरहुतात्मा स्वामी श्रद्धानदजी महाराज की इस गौरवमयी तपस्थली मे आकर मैं स्वय को धन्य समझता हूँ। गुरुकुल कागडी के रूप में राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का प्रवर्तन कर स्वामीजी ने महात्मा गाँधी के स्वाधीनता आदोलन का वैचारिक पक्ष मजबूत किया था। गुरुकुल के प्राध्यापकों, ब्रह्मचारियों तथा कर्मचारियो ने स्वाधीनता, चरित्र-निर्माण तथा सस्कृति की रक्षा के लिए जितना उद्योग किया, उतना शायद किसी अन्य विश्वविद्यालय ने ब्रिटिश राज के दौरान नहीं किया। ऐसी ऐतिहासिक सस्था के दीक्षात के लिए आपने मुझे आमत्रित किया, मैं आपका आभारी हूँ।

जैसाकि आप जानते हैं, मैं जिस देश का हूँ, वह भारत से दूर, अति दूर है। वह देश, चेक धरती, यूरोप के मध्य हृदय मे स्थित है। फिर भी यहाँ आकर दीक्षात भाषण मैं हिंदी मे दे रहा हूँ। वैसे तो मेरी मातृभाषा चेक भाषा है किंतु हिंदी को अपनी दूसरी मातृभाषा मानता हूँ।

भारत मुझको बालकपन से आकर्षित करता रहा है क्योकि यह अनेक सस्कृतियो का विशाल देश, उपमहाद्वीप है। भारत न केवल साहित्यिक उत्कर्ष और प्रसिद्ध कलाकृतियों के लिए विश्वविख्यात देश है परतु इस देश की सभ्यता ने अनेक ध्यानयोग्य दार्शनिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक धारणाओ, मूल्यो से ससार भर की सस्कृतियो को भरपूर समृद्ध किया है।

हिंदी भाषा को मैंने इसलिए चुन लिया तथा सीख लिया ताकि भारत की सस्कृति और साहित्यिक परपराओं से एक भारतीय भाषा के माध्यम से, अग्रेजी के माध्यम से नहीं, परिचित हो जाऊँ। मैं हिंदी को भारत की प्रतिनिधि वास्तविक राष्ट्रभाषा समझता हूँ।

चेक धरती के एक प्रकाड विद्वान, शिक्षक और प्रतिभाशाली लेखक ने कहा है कि 'भाषा की जानकारी विदेशी सस्कृति के द्वार खोल देती है। अन्य देश की आत्मिक तथा बौद्धिक निधि से परिचय प्राप्त करने के लिए भाषा सदा प्रमुख भूमिका निभाती है, क्योकि भाषा अपने देश और देशवासियो की अस्मिता का दर्पण

है। वह न केवल देश की बोलती हुई आत्मा है परंतु भाषा में देश के सारे गुणागुण तथा रागानुराग निहित, सम्मिलित हैं।'

उस चेक विद्वान का नाम है *यान आमोस कोमेनियुस*, जो मध्ययुग से आज तक 'मानवजाति के आचार्य (गुरु)' कहलाते आए हैं।

यान आमोस कोमेनियुस आधुनिक शैक्षणिक सिद्धांतों के जनक माने जाते हैं। कोमेनियुस ने कहा कि सब विषयों की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से होनी चाहिए और कि शिक्षणालय मानव जाति की कर्मशाला हैं। समाज-सुधारक के रूप में कोमेनियुस ने अपील की कि हिंसा और युद्ध का परित्याग किया जाए और कि विशुद्ध बधुत्व का सारा जीवन मानव गरिमा, सामाजिक न्याय, सहिष्णुता तथा प्रेम पर आधारित और निर्मित्त किया जाए।

यान आमोस कोमेनियुस की भाँति आधुनिक *चैक गणराज्य के राष्ट्रपति वात्सलाव हावेल* भी सच्चाई में जीवन बिताने और सत्य को अपना जीवन समर्पित करने का संदेश देते हैं।

आज शिक्षा किताबी ज्ञान के अर्जन का माध्यम बन गई है। आधुनिक ज्ञान, विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान के लिए देश तथा देश से बाहर भारतीय छात्र अत्यधिक परिश्रम कर रहे हैं पर उनका सारा प्रयत्न प्रगति की होड में अग्रणी बनने के लिए हो रहा है। भौतिक सुख-साधनो की स्पृहा इतनी बढ गई है कि वे देश की मिट्टी से सबंध तोडकर ऊँचे पद, प्रतिष्ठा तथा धन कमाने के लिए विदेशों में पलायन कर रहे हैं। देश को जो लाभ उनसे होना चाहिए था, वह इस प्रवृत्ति के चलते नहीं हो पा रहा है। मेरी इच्छा है कि हम विदेशों में जाएँ, ऊँची तकनीक प्राप्त करें ताकि लौटकर इस देश की जनता की सेवा करें जिससे देश की निरक्षरता, गरीबी, बेरोजगारी तथा जडता समाप्त हो। देश सर्वांग समृद्ध बने, वह पहले की तरह ज्ञान का उजाला ससार को दे तथा मानवीय मूल्यो की व्याख्या तथा स्थापना में अपना भरपूर योगदान करे। कभी इस देश के विचारक पृथ्वी के प्राणियो को अपने चरित्र की कसौटी सामने रखकर अनुकरण की प्रेरणा देते थे। *'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्'* का उद्‌घोष इस देश के अलावा कहीं और नहीं हुआ। ऋषिमुनियो की यह उज्ज्वल परपरा आप विद्यार्थियों को आगे बढानी है।

मुझे यह देखकर दुख होता है कि हमारे जीवन में स्वाध्याय, स्वावलंबन, श्रम, परदुखकातरता तथा समवेत होकर कार्य करने की प्रवृत्ति का ह्रास हुआ है। व्यक्ति केंद्रित हमारे विकास की यात्रा अधूरी और असामाजिक है। शिक्षा तो सामाजिक विकास और उन्नति का साधन है। वह व्यक्ति को समाज के साथ तथा स्व को पर के साथ जोडती है। विश्व जीवन संबंधी दृष्टिकोण के विकसित हुए बिना आज हमारा रह सकना संभव नहीं। भौतिक तथा आध्यात्मिक समन्वय के आधार पर हीं शिक्षा का भवन टिकना चाहिए था पर आज आर्थिक संसाधनों के

दोहन के नाम पर विश्वविद्यालयों में धन कमाने की होड़ लगने लगी है, व्यावहारिक पाठ्यक्रमों की बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने इस होड़ को अंधा बना दिया है। मानव की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के विकास और जागरण के स्थान पर अधिकाधिक जीवनोपयोगी संसाधनो को जुटाने की मानसिकता बढ़ने लगी है। शिक्षा के विश्व-बंधुत्ववादी दृष्टिकोण में यह एक बाधा है अत. मैं अपेक्षा करता हूँ कि शिक्षा में आत्मिक शक्ति के माधुर्य को विकसित करने का लक्ष्य होना चाहिए। शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आत्मिक विकास के अभाव में सास्कृतिक व्यक्तित्व का निर्माण सभव नहीं है। सामाजिक न्याय, सुरक्षा तथा मानव जाति के उत्थान का सकल्प उसका आदर्श रहना चाहिए। अर्थकरी विद्याओ के साथ जीवन मे सयम, सादगी और तप के लिए भी अभ्यास किया जाना चाहिए। छात्रावास मे अभ्यस्त तप द्वारा ही मनुष्य सार्वजनिक जीवन मे प्रवेश करते हुए सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय, मान-अपमान तथा भूख-प्यास आदि द्वद्वों को सहने की सामर्थ्य रख सकेगा। आचार्य और विद्यार्थी दोनो को ही समस्त मानवीय गुणो के उपार्जन के लिए सलग्न रहना चाहिए।

विश्वबधुत्त्व की दिशा मे गुरुकुल कांगड़ी का विशेष योगदान रहा है। गुरुकुल के अनेक स्नातकों ने विदेशों मे जाकर शिक्षा, धर्म, राजनीति तथा व्यवसाय के क्षेत्र मे विशिष्ट मापदड स्थापित किए हैं। प. अमीचद्र विद्यालकार ने फीजी मे जाकर अनेक शिक्षण-सस्थाओ की स्थापना की। वे वहाँ की ससद के सदस्य भी बने। पं सत्यव्रत सिद्धातालकार, आचार्य रामदेव, पं. बुद्धदेव विद्यालकार, प. मदन मोहन, श्री विद्यासागर विद्यालंकार, प. सत्यपाल सिद्धातालकार, प. ईश्वरदत्त विद्यालकार, श्री सत्यदेव भारद्वाज वेदालकार, श्री धर्मेन्द्रनाथ वेदालकार, श्री देवनाथ विद्यालकार, श्री रणधीर वेदालकार, श्री अमृतपाल वेदालकार, प. श्यामसुदर स्नातक ने बर्मा, अफ्रीका, कीनिया, युगाडा, टाँगानीका, सिगापुर, मलाया, यूरोप मे जाकर वैदिक सिद्धांतों और हिदी भाषा का प्रचार-प्रसार किया। मोजाम्बीक मे पं. रविशकर सिद्धातालकार, प सुमतराय विद्यालकार, प मतिमान विद्यालकार ने और रोडेशिया मे पं. हरिदेव वेदालकार ने अध्यापन कार्य किया। दक्षिण अफ्रीका में श्री सुधीर कुमार विद्यालकार, श्री अरुणकुमार विद्यालकार, श्री हरिशकर आयुर्वेदालंकार, पं नरदेव वेदालकार ने सराहनीय कार्य किया। इस समय भी अनेक स्नातक अमेरिका और यूरोप के देशों में गुरुकुल का नाम उज्ज्वल कर रहे हैं।

प्रिय स्नातको !

आप चाहे विज्ञान के छात्र रहे हो, चाहे मानविकी के, आपने ज्ञान-विज्ञान की अधुनातन शाखाओं मे दक्षता प्राप्त की हो, चाहे आप प्राचीन विद्याओं का अभ्यास करते रहे हों। मेरा मानना है कि आपको भारतीय सस्कृति तथा इतिहास का गहरा

ज्ञान चाहिए। विश्व की सभ्यताओं का इतिहास जाने बिना आप अपने गौरवपूर्ण इतिहास की महत्ता नहीं समझ सकते। आज की शिक्षा में एक बडी कमी है, राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव। पुरातन भारतीय इतिहास के अन्वेषण तथा स्वाधीनता आंदोलन की बुनियादी धारणा से अपरिचित होने के कारण ही हम सर्वधर्मसमभाव, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद तथा अनेकता में एकता के सिद्धांतों को नहीं समझ पा रहे हैं। देश के सामने धर्म, जाति, छुआछूत, गरीबी तथा अंधविश्वासों की चुनौतियाँ विकराल होकर खडी हैं। अत. आप इस तथ्य को अच्छी तरह समझ ले कि यह देश किसी एक धर्म, विचार, उपासना प्रणाली अथवा जीवन शैली के लिए नहीं बना। यहाँ बहुत भेद है फिर उन सबमे जो अभेद है उसी का दर्शन शिक्षा का लक्ष्य है। हम समाज के व्यापक हित को सामने रखें और अपने लक्ष्य को सुदृढ बना ले तो हमारा सारा क्रियाकलाप ठीक हो जाएगा। शुद्ध लक्ष्य (Pure end) के लिए अशुद्ध साधन (Impure mean) से काम नहीं लिया जा सकता। महात्मा गाँधी ने बार-बार इसी बात पर जोर दिया है कि शुद्ध लक्ष्य के लिए शुद्ध साधन से ही काम लेना होगा।

मैं गुरुकुल (Residential school) का प्रशसक रहा हूँ। स्वामी श्रद्धानदजी ने गाँधीजी से पहले छुआछूत का कलक मिटाने के लिए उद्योग किया था। काग्रेस मे इस आशय का प्रस्ताव भी स्वामीजी के कारण ही पारित हुआ। स्वामीजी सिद्धांत और व्यवहार मे एक थे। उन्होने पिछडे, निर्धन, निरक्षर तथा दलित लोगो के जीवन के उत्थान के लिए काग्रेस से भी अधिक कार्य किया। मैं आपका आह्वान करता हूँ, आप लोग आगे आएँ तथा छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, पवित्र-अपवित्र एव सवर्ण-असवर्ण के कृत्रिम तथा अमानवीय भेदों को तोडकर एक स्वस्थ भारतीय समाज की सरचना का अभियान चलाएँ। शरीर भी तभी चलता है जब उसका हर अग दूसरे अग का सहयोग करे। सामाजिक शरीर के सभी अंग यदि एक-दूसरे के पूरक होकर सहयोग करेंगे तो देश सुरक्षित रहेगा, अन्यथा वह बालू की भीत की तरह बिखर जाएगा। मानव मात्र की एकता का सिद्धांत वैदिक है, जो विचारक इस भारतीय आदर्श को समाज के लिए कल्याणकारी समझते हों उनका कर्तव्य है कि इसको लोकनायकों के सामने रखे तथा सार्वजनिक चरित्र द्वारा इस आदर्श को ढालने का उद्योग करे।

आचार्यगण।

ज्ञान और स्वाध्याय के साथ-साथ स्वावलबी होना भी बहुत जरूरी है। बिना स्वावलंबन के स्वदेशी की बात ठीक से हृदयगम नहीं कर सकते। इस देश में आर्थिक संसाधनों की कमी है। हम पूर्ण विकसित, आर्थिक दृष्टि से सुदृढ देशो की तरह, शोध और उच्चतर अध्ययन के क्षेत्र मे उच्च उपलब्धियाँ केवल स्वावलबन, श्रम और तप द्वारा ही पा सकते हैं। यहाँ छात्रो मे प्रतिभा, रचनात्मकता तथा

मौलिकता की अपार शक्ति है पर संसाधनों के अभाव में उन्हें संघर्ष करना पडता है। हमारे अनुभवों का एक नया संसार उन्हीं के सत्प्रयत्नों से उद्घाटित होना है। मेरा कहना है कि यहाँ भी हमे अपना लक्ष्य शुद्ध रखना चाहिए। प्रकृति के रहस्यों का नित्य नूतन ज्ञान मानव जाति में एकता पैदा करने के लिए होना चाहिए। धर्म तथा विज्ञान मिलजुलकर ही विश्व की रक्षा कर सकते हैं। रंग, सप्रदाय, वर्ण तथा भाषा-भेद, शुद्ध चेतना पर कुहासे की परत चढाते हैं, इस अँधेरे में हमें अपना लक्ष्य नहीं दिखाई देता। आज जब हम सीमित आर्थिक साधनों के रहते राष्ट्रीय उन्नति और सामाजिक विकास की बहुविध योजनाएँ चला रहे हैं तब आपके सक्रिय सहयोग और निष्काम त्याग की महत्ता बढ जाती है। आपकी खोजों से शिवेतर क्षति अर्थात् अकल्याण की समाप्ति और जनकल्याण की उन्नति का लक्ष्य पूरा होना चाहिए। जब पूरे विश्व मे शक्ति की अनियत्रित होड बढ रही हो तथा छोटे विकासोन्मुख तथा अर्धविकसित देश अपनी आंतरिक बाह्य समस्याओं मे उलझे हो तब आपका दायित्व और भी बढ जाता है। यदि सत्य शिक्षा का प्रसार हो तो विश्व इस पागलपन और तनाव से मुक्त हो जाए। आज की शिक्षा और विशेषकर वैज्ञानिक शिक्षा का यह अत्यत दुर्बल पक्ष है।

मेरे प्यारे विद्यार्थियो !

यदि तुम मानवमात्र को उसके सही परिप्रेक्ष्य मे देखना चाहते हो, यदि समाज से शोषक और शोषित का भेद मिटाना चाहते हो, यदि देश को एकता के सूत्र मे पिरोए रखना चाहते हो, यदि पृथ्वी पर सुख-शाति, सर्वोदय और सामूहिक समृद्धि की कामना करते हो, यदि मनुष्य-मनुष्य तथा वर्ग-वर्ग मे अनेकता हटाकर एकता लाना चाहते हो तथा पृथ्वी को स्वर्ग बनाना चाहते हो तो ऐसी व्यवस्था का निर्माण करो, जहाँ अभेद दर्शन का आधार हो। धर्म कर्तव्य के पालन मे प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि उदार तथा तर्कसगत हो। उसमे किसी ऐसी उपासना शैली तथा शिक्षा के लिए स्थान न हो जो मनुष्य को मनुष्य से लडाए, उनमे अलगाव पैदा करे तथा वर्गसघर्ष के लिए प्रेरणा दे। दृढ तथा पवित्र चरित्र, स्वावलबन और जनकल्याण ही उसका लक्ष्य हो।

इन शब्दों के साथ मैं आपके उज्ज्वल भविष्य के लिए मंगलकामना करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि स्वतत्र भारत के सविधान-निर्माताओ ने जो विचार दर्शन तथा जीवनशैली प्रदान की, उसका आप अनुपालन करें। भारतीय ऋषि-मुनियों की चितन शैली को जीवन मे उतारे तथा इस देश, समाज और अपने शिक्षणालय की महान् परंपराओ की रक्षा करें। आपको ऐसे ससार का निर्माण करना है जहाँ सब मिलकर कार्य करने तथा जीवनयापन करने मे हर्ष का अनुभव करे ताकि मनुष्य का मनुष्य द्वारा किए जानेवाला शोषण और अन्याय समाप्त हो जाए। आपने यह आशीर्वचन सुना होगा

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया.
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख भाग्भवेत्।

इस भावना को मन, वाणी तथा शरीर से सार्थक करें। आपको हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त हो, यही मेरी प्रार्थना है।

[सन् 1996]

खंड-2

आर्य युवको ! नेता नहीं, सेवक बनो

महात्मा मुंशीराम

जाति की भविष्यत् आशाओ ! आज मुझे आपने जो सेवा का अवसर दिया है, उसके लिए आपका अत्यत धन्यवाद करता हूँ। एक कवि के अनुसार मुझे कहना पड़ता है– *'न हि विद्या न हि बाहुबल न हि खर्चन को दाम'*। न मुझमें विद्या है, न बाहुबल है, न धन-बल है। तब भी आपने मुझे सभापति क्यों बनाया है ? आशाओं से भरे नवयुवकों के समाज में एक नवयुवक सभापति अधिक अनुकूल होता। इस समय मुझे पच्चीस वर्ष की एक पुरानी घटना याद आती है। पच्चीस वर्ष हुए, मैंने 'सद्धर्म प्रचार' निकाला था। उस समय मेरी आयु 32 वर्ष की थी। उस समय जो लोग मुझे मिलने आते थे वे आश्चर्यित होते थे। वे कहा करते थे कि आपके लेखों को पढ़कर हम आपको वृद्ध समझते थे। परंतु आप अभी नौजवान हैं। आज मेरे बाल श्वेत हो गए हैं, तथापि अपने आर्यसमाज के वृद्ध सेवकों में, काम करते हुए नेताओं में, नवयुवकों से नवयुवक हृदय से अधिक मैं अपने हृदय को नवयुवक पाता हूँ। चाहे आप इसे अभिमान समझें, पर मैं इस एक अभिमान का दोष अपने सिर पर लेने को तैयार हूँ। मुझे हर्ष है कि युवक सम्मेलन का सभापति बनाकर आपने मेरे इसी गुण पर ठप्पा लगा दिया है। दूसरा कारण मुझे यह प्रतीत होता है कि मैंने पिछले 12 वर्षों में 6 वर्ष से लेकर 25 वर्ष तक के युवकों के हृदयों में उतराव-चढाव देखे हैं।

आपने जो काम मुझे सौंपा है, वह बड़ा कठिन है। बूढ़े अनुभवियों के सामने बात करना सुलभ है, परंतु युवकों को मार्ग दिखाना बड़ा कठिन है। भूल होने पर बूढ़े अनुभवी अपने अनुभव से ठोकरों से बच सकते हैं और अपने पथ-दर्शक को भी रास्ता दिखा सकते हैं। परतु जहाँ उत्साह के साथ हृदय की सरलता मिली हो, वहाँ मार्ग-दर्शक की उत्तरदायिता बहुत बढ जाती है। मार्ग दिखलाने में यदि एक भी भूल हो गई, यदि उनमें एक भी दाग लग गया तो बड़ी हानि हो सकती है। परंतु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं आपकी सेवा सच्चे दिल से करूँगा।

आप पूछ सकते हैं कि मैं आपको आज क्या संदेशा देने आया हूँ; मैं आपको क्या संदेशा दे सकता हूँ; हाँ, मेरे हृदय में जो भाव हैं, उन्हें मैं आपके सन्मुख

रखना चाहता हूँ। जिस ओर आशाएँ होती हैं, उसी ओर हृदय का स्रोत बढ़ता है। बूढ़े अपना काम कर चुके, अब आप पर ही हमारी भविष्यत् आशाएँ हैं। एक बार जर्मनी का एक सम्राट् अपने मंत्री के साथ घूमने जा रहा था, सम्राट् ने एक बालक की टोपी उतारकर सलाम की। वजीर के पूछने पर सम्राट् ने कहा कि "तुझे सलाम क्या करूँ; तूने जो कुछ बनना था सो बन चुका। तू मेरे वजीर होने से और कुछ अधिक नहीं हो सकता। इस बालक में न जाने क्या-क्या भरा है; इसीलिए मैंने इसे सलाम किया है।" कौन जानता था कि कार्सिका की गली में खेलनेवाला एक बालक, सारे देश के सम्राटों का अधिपति होगा और संसार को हिला देगा। कौन कह सकता है कि आपके अंदर कौन-सी शक्तियाँ विलीन पड़ी हैं; अब हमारी आशाओं के केंद्र आप ही हैं।

किसी काम को छोटा न समझें

सबसे पहला मेरा यह निवेदन है कि नवयुवकों को कोई भी काम छोटा न समझना चाहिए। शिखर पर पहुँचने के लिए पहली सीढ़ी पर चढना जरूरी है। एक बार अमरीका के उम्मीदवार प्रधान की ओर इशारा करके एक अमरीकन ने ताने के तौर पर कहा था, 'तुम्हारे नामवाला एक लड़का मेरे बूट सिया करता था, क्या तुम्हारा उसके साथ कोई संबंध है ?' उम्मीदवार प्रधान ने अभिमान से कहा, 'हाँ, महाराज, मैं ही वह लड़का हूँ। जूते गाँठने के साथ मैं ही बूट पर पालिश भी किया करता था। परंतु जाकर पूछो, जिसने मुझसे एक बार जूता गँठवाया, उसे दूसरी जगह जाने की आवश्यकता न पड़ी। महाशय, जिस ईमानदारी से मैं जूते गाँठा करता था, उसी ईमानदारी से आपके देश का राज्य करूँगा।' प्यारे युवको, हमारे देश को इस समय ऐसे कार्यकर्त्ताओं की जरूरत है जो छोटे से छोटे काम करने के लिए तैयार हों। और मेरा विश्वास है कि वे ही कार्यकर्त्ता बडे काम कर सकेंगे।

दूसरा संदेशा, जो मैं आप तक पहुँचाना चाहता हूँ, वह उपनिषदों के शब्दों में नहीं पहुँचाया जा सकता। कई महानुभावों का मत है कि उपनिषदें लडकों के हाथ में न देनी चाहिए। उनकी प्रतिष्ठा करते हुए भी मुझे उनसे मतभेद प्रकट करना पडता है। मेरी सम्मति में उपनिषदें लडकों के लिए बड़ा लाभदायक स्वाध्याय है। कई लोग योग को भी लड़कों के लिए खतरनाक समझते हैं। मैं कहता हूँ कि यदि माता के गले से लिपटना खतरनाक है, तो योग भी खतरनाक है। युवावस्था में ही धर्मशील बनो, कौन जानता है कि इसी समय मृत्यु हो जाए। बालक, वृद्ध, युवा सबको इसी समय धर्म में लग जाना चाहिए। मुझे निश्चय है कि आर्य युवक केवल रोटी के लिए नहीं पढ़ रहे हैं। मैं समझता हूँ कि वे अपने हृदय के अंधकार को दूर करने के लिए पढ़ रहे हैं। अशांतावस्था, शांतस्वरूप के दर्शन के बिना कभी दूर नहीं हो सकती है, मैं चाहता हूँ कि उपनिषद् का निम्नलिखित वाक्य प्रत्येक युवक के हृदय पर अंकित हो :

सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

यह आत्मा सत्य से मिलता है, सत्य तप से मिलता है, सम्यक् ज्ञान के बिना कठिन और ब्रह्मचर्य के बिना सम्यक् ज्ञान असंभव है। ब्रह्मचर्य सब धर्मों का मूल है, इसलिए प्यारे युवको, उस ब्रह्मचर्य का पालन यत्न से करो।

सेवक बनने का प्रयत्न करो

अंत में मैं आपसे एक निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं उपदेश नहीं देता, क्योंकि मैं उपदेश देने के योग्य नहीं हूँ। हम वृद्ध आपको किस मुँह से उपदेश दें; बूढ़ों का यह कहना था कि वे आर्य धर्म रूपी फुलवाड़ी की रक्षा के लिए काँटे बन जाते और शत्रुओं से इसकी रक्षा करते। परंतु कहते शोक होता है कि हमने काँटे बनकर रक्षा करने की जगह एक-दूसरे को चुभना शुरू कर दिया। नवयुवको, हम अपने कर्तव्य से च्युत हुए हैं, तुम इस फुलवाड़ी के ऐसे फूल बनो जिसकी महक से सारी फुलवाड़ी महक जावे। मत देखो कि मुंशीराम या तुलसीराम क्या करता है। सेवक बनने का यत्न करो, क्योंकि लीडरों की अपेक्षा आर्य जाति को सेवकों की बहुत अधिक आवश्यकता है। जब कभी आपका पैर डगमगाने लगे तो राम के सेवक हनुमान् का स्मरण कर लिया करो। लंका की विजय करके महाराजा रामचंद्र अयोध्या लौटे। राजगद्दी के मिलने के पीछे विभीषण, अंगद आदि सभी विदा होने लगे। उस समय माता सीता ने सभी को कुछ पुरस्कार दिया। सीता का हनुमान् के साथ सबसे अधिक प्रेम था। माता ने अपना मोतियों का बहुमूल्य हार हनुमान् को दिया। हनुमान् ने हार लेकर एक मोती को तोड़ना आरंभ किया। सीता के पूछने पर हनुमान् ने कहा, "माता, मैं देखता था कि इन मोतियों के अंदर राम का भी नाम है या नहीं; राम के नाम के बिना मैं इन मोतियों को क्या करूँ;" नवयुवको, मैं पूछता हूँ, क्या तुममें से कोई भी दयानंद रूपी राम का पायक हनुमान् बनने का यत्न न करेगा ? महावीर के बिना दयानंद का काम अधूरा पड़ा है। मुझे पूरी आशा है कि दयानंद के काम को पूरा करने के लिए, पाप की लंका का विध्वंस करने के लिए तुम्हीं में से महावीर निकलेंगे।

[सन् 1913]

आर्य और दस्यु

आचार्य श्री रामदेव

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ताने सधमादेषु चाकन्। –ऋ 1.51.8

जहाँ एक ओर भारतवर्ष स्वराज्य के नाद से गूँज रहा है, और भारतीयों को एक जातीयता के सूत्र में बाँधने का यत्न हो रहा है, वहाँ दूसरी ओर भारत के दक्षिणीय कोने से स्वराज्य की माँग के विरुद्ध प्रबल शब्द उठता सुनाई देता है। कहा जाता है कि अगर भारतीयों को स्वराज्य मिल गया तो भारत की उच्च जातियों, ब्राह्मण जाति वा आर्यजातियों के लोग जो संख्या और शक्ति में अधिक हैं, अब्राह्मण (Non Brahmans) और अनार्य जातियों पर अत्याचार करेंगे, जैसा कि चिरकाल से करते आए हैं। आर्यों का अनार्य द्राविड़ जातियों से शाश्वतिक और पुराना विरोध है। आर्यों और अनार्य जाति में मौलिक वा रक्त का भेद है, रक्त-भेद के साथ एक-दूसरे के प्रति घृणा का भाव भी बहुत देर से चला आया है। वैदिक काल से आर्यों और दस्युओ में लड़ाई चली आई है, आदि।

इस प्रकार स्वराज्य की माँग के विरोध का आधार रक्त-भेद को बनाया जा रहा है। यह रक्त-भेद कहाँ तक ठीक है जिसको आधार बनाकर इतना शोर मचाया जाता है, कहीं यह निस्सार वा मिथ्या तो नहीं ?

राजनीतिक दृष्टि को यदि छोड भी दे, फिर भी सत्य की जिज्ञासा से प्रेरित होकर, सत्य की खोज के लिए, इस विषय पर विचार करना चाहिए।

इस लेख में यह दिखाने का यत्न किया गया है कि आर्य और अनार्यों का यह विभाग जातीय भेद वा रक्त-भेद के कारण नहीं, प्रत्युत धर्म वा आचार की भिन्नता के कारण है। दस्यु आर्यों में से ही थे जो धर्म-कर्म न करने से वा आचारहीन होने से पतित और बहिष्कृत समझे गए थे।

म्योर, मैक्समूलर, रॉथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि भारत के आदिम निवासी दो पृथक् जातियों के थे। भारत में निवास करनेवाली जनता का प्रबल और बडा भाग आर्यन नसल का है और विन्ध्य के उत्तर तथा अन्य समतल इलाको में यह रहते हैं, इनके सिवाय एक अन्य नसल के लोग भी भारत में पाए

जाते हैं जो कि प्रथम की अपेक्षा संख्या और शक्ति में कम हैं और विन्ध्य के दक्षिण तथा पहाड़ी इलाकों में रहते हैं। पाश्चात्यों के अनुसार इन लोगों को वेद में दस्यु कहा गया है।

आर्य लोग भारत के प्रथम निवासी नहीं, प्रत्युत बाहर से भारत में आए हैं, इनके आगमन से पूर्व भी भारत में कोई लोग बसा करते थे, वही आदिम निवासी हैं।

आर्य लोग भारत में कहाँ से आए ? इस प्रश्न का उत्तर एक अन्य गहन प्रश्न से सम्बद्ध है कि आदिसृष्टि कहाँ हुई ? आदिसृष्टि कहाँ हुई, इस विषय में बहुत मतभेद है, जितने मुख उतनी बातें सुनाई जाती हैं। यूरोप के प्रायः सभी देश, उत्तरीय ध्रुव, मध्य एशिया और तिब्बत भिन्न-भिन्न विचारकों के मतानुसार मनुष्यसृष्टि वा मनुष्योत्पत्ति के आदि स्थान कहे जाते हैं !

आदिसृष्टि कहाँ हुई, यह स्वयं पृथक् बड़ा जटिल और विवादास्पद विषय है अतः इसको यहीं छोड़ विषय पर आते हैं।

म्योर साहब के कथनानुसार आर्य लोग मध्य एशिया से चले और उन्होंने काबुल के रास्ते आकर सिंधु नदी को पार कर पंजाब में प्रवेश किया। पंजाब में इन नवागतों का वहाँ के प्राचीनवासियों से सामना हुआ, सभ्यता में उच्च और संख्या में अधिक इन नवागतों ने आदिमवासियों को हराकर खदेड़ना शुरू किया, खदेड़ते-खदेड़ते नवागतों ने क्रमशः पुरातनों को पजाब से बाहर निकाल दिया, और पुन. गंगा-यमुना के इलाकों को भी जीतकर पुरातनो को पहाड़ों में और दक्षिण में भगा दिया।

नवागतों और पुरातनवासियों में खूब युद्ध होते रहे। इन नवागतों ने अपनी जातिवालों को 'आर्य' और अपने शत्रुओं वा प्रतिद्वन्द्वियों को 'दस्यु' नाम दिया।

जहाँ दस्यु आर्यों से जाति में भिन्न थे, वहाँ रग, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज मे भी भिन्न थे। आर्यों का रंग सफेद वा गोरा था और दस्युओं का काला।

आर्य और दस्यु एक-दूसरे के धर्म, रीति-रिवाज को घृणा से देखते थे और दस्यु लोग आर्यों के धर्म-कर्म में विघ्न डालते थे।

आर्य और दस्यु विषयक इन परिणामों की पुष्टि मे म्योर साहब बहुत से वेदमंत्रों, ब्राह्मण वाक्यो, मनु और महाभारत में श्लोकों को प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं।

1. वेद

(क) आर्य और दस्यु भिन्न जाति के थे—

> *विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासद् व्रतान् ।।* ऋ. 1.51.8
> *अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम् ।।* ऋ. 10.86.19

म्योर के अनु. प्रथम मंत्र का अर्थ है—आर्य और दस्युओ में भेद जानो, अव्रतों,

धार्मिक क्रिया न करनेवालों को दंड दो और आर्य के अधीन करो।

द्वितीय मंत्रार्थ=इंद्र कहता है कि यह मैं आता हूँ दास और आर्य को देखता हुआ और उनमें भेद करता हुआ।

(ख) दो प्रकार के शत्रु आर्य और दस्यु

त्वं तान् इन्द्रोभयां अमित्रान्दासा वृत्राण्या
र्याचशूर। वधी—ऋ. 6.33.3

(अर्थ)—हे वीर इंद्र, तू हमारे दोनों शत्रुओं का नाश कर, जो आर्य हैं और जो दस्यु।

दासा च वृत्रा हतमार्याणिच—ऋ. 7.83.1

(ग) दस्युओं के नाश के लिए विशेष रूप से प्रार्थना :

सजातुभर्मा श्रद्दधान ओजः पुरो विभिन्दन्न। चरद्विदासी।।
विद्वान् वज्रिन् दस्यवे हेति मस्यार्य सहो वर्धयद्युम्न मिन्द्र।। ऋ. 1.10.3

(अर्थ)—विद्युत का अस्त्र धारण किए हुए और अपनी शक्ति में विश्वास रखता हुआ इद्र असुरों के दुर्गों का नाश करता हुआ विचरन करता है। हे वज्री इंद्र, विचारपूर्वक दस्यु की तरफ अस्त्र फेंक और आर्य की शक्ति और यश को बढा।

यवम्...। अभि दस्युंबकुरेणा धमन्ताउरु ज्योति
श्चकथु रार्याय।। ऋ. 1.117.-21

(अर्थ)—हे अश्विनो, दस्यु का वज्र द्वारा दाह करके तुमने आर्य के लिए बहुत प्रकाश वा सुख कर दिया है।

(घ) इंद्र का दस्युओं से भूमि छीन आर्यों को देना।

दस्यूञ्छिम्यूश्च पुरुहूत एवैर्हत्वा पृथिव्या शर्वानि वर्हीत्।

सनत्क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत्सूर्यं सनदपः सुवज्रः।। ऋ. 1.100.18

(अर्थ)—हे पुरुहूत, बहुत बार बुलाए गए इद्र, अपने स्वभावानुसार दस्युओं और शिम्युओं को पृथिवी पर पटककर वज्र द्वारा कुचल डालो। उत्तम वज्र धारण करनेवाले इद्र ने, तेजस्वी मित्रों के साथ, क्षेत्र दिया, सूर्य दिया और जल दिया।

(ङ) आर्य और दस्यु में रंग-भेद-कृष्णत्वचा बालेदस्यु

इन्द्रः समत्सु यजमान मार्यं प्रावद्विश्वेषु शतमूति
राजिषु स्वर्मीळ्हेषु आजिषु। मनवे शासद् व्रतान् त्वचं कृष्णमरन्धयत्।।
—ऋ 1.130.8

(अर्थ)--सैकड़ों प्रकार से सब युद्धों में रक्षा करनेवाले, इंद्र ने स्वर्ग देनेवाले युद्धों में यजमान आर्य की रक्षा की।

अव्रतों को दंड देते हुए उसने कृष्णात्वचा (वालों) को मनु के अधीन किया।

ससानात्यां उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभेजसंगाम्
हिरण्य मुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्ण मवत्।--ऋ. 3.33.9

(अर्थ)--इन्द्र ने घोड़े दिए, सूर्य दिया, बहुत पुष्टि करनेवाली गौ दी, संपत्ति दी, दस्युओं का नाश कर आर्यवर्ण (रंग) की रक्षा की।

इसी प्रकार ऋ. 9.73.5 में...अपधमन्ति... त्वच मसिक्नीम्' आया है। अर्थ हुआ--काली त्वचा को जलाते हैं।

(च) धर्म रीति-रिवाज में भेद--

शासद व्रतान्।।

सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्यव्रता विसृजन्तो अधिक्षमि।--ऋ. 10.65.11

पूर्वक्त मंत्रोक्त देवताओं ने सूर्य को आकाश में चढाया और पृथिवी पर आर्यों के व्रतों को फैलाया।

शासस्त मिन्द्र मर्त्यं मयज्युं शवसस्पते--ऋ. 1.1.314

हे इन्द्र ! तुमने यज्ञ न करनेवाले मनुष्यों को दंड दिया।

(छ) भाषा भेद--'मृध्रवाच. दस्यवः'

दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत्पुरः शर्म शारदी दर्त्--ऋ. 1.174.2

हे सुखकारक इद्र, तुमने शरद ऋतु सबधी सात किलों का नाश कर बिगडी जबानवालों को दबाया।

वेद में आए दस्यु, असुर, यातु धान आदि शब्दों से आदिम निवासियो का ही अभिप्राय है यद्यपि कई जगह टीकाकार इन शब्दों का अर्थ अमानुषी आकृतिवाले भूत प्रेतादि करते हैं।

2. दस्युओं की कई जातियों का वर्णन ऐतरेय, मनु और महाभारत मे आता है। यथा ऐतरेय ब्रा. 7-18

ताननु व्याजहार अन्तान् वः प्रजाभक्षीष्टेति त
एतें ध्रायुंदाः शबरा पुलिंदा मूतिबा इति उदंत्याबह
वो भवन्ति, वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः।

म्योर--विश्वामित्र अपने 40 आज्ञा भंग करनेवाले पुत्रों को कहता है कि तुम्हारी सतति सीमाप्रातों का भोग करे। यह संतति अंतवा सीमा भाग में रहनेवाले

अंध्र, पुंड्र, शवर, पुलिंद, मूतिव, आदि तथा अन्य बहुत-सी सीमाप्रांत निवासिनी जातियाँ हैं। (Other numerous frontier tribes) बहुत से दस्यु लोग विश्वामित्र की संतान हैं।

3. *मुखबाहूरु पज्जानां या लोके जातयो बहिः।*
म्लेच्छ वाचा चार्य वाचा सर्वे ते दस्यवः स्मृता।।—मनु. 10.45

विराट् के मुख बाहु उरू और पाँवों से उत्पन्न चार वर्णों से बाहर जो जातियाँ हैं, वह सब दस्यु जातियाँ हैं। चाहे वह म्लेच्छ भाषा बोलें चाहे आर्यों की भाषा।

4. *पौरवं युधिनिर्जित्य दस्यून् पर्वतवासिनः*
गणान् उत्सव सकेतान् अजयत्सप्त पाण्डवः। 2.29.10.25

पौरव को युद्ध मे जीतकर पाडव ने उत्सव संकेतादि सात पहाडी दस्यु जातियो को जीता।

दरदान् सह काम्बोजै रजयत्पाकशासनि
प्रागुत्तर दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः।।
निवसन्ति वने येच तान् सर्वान् अजयत्प्रभु
लोहान् परमकाम्बोजान् ऋषीकानुत्तरानपि।।
काम्बोजानां सहस्रैश्चशकाना ञ्चवि शांपते।
शबराणा किराताना बर्बराणां तथैवच।।
अगम्य रूपां पृथिवीं मास शोणित कर्दमाम्।
कृतवा स्तत्रसैनेय क्षपयं स्तावकं वलम्।।
दस्यूना सशिरस्त्राणैः शिरोभिर्लून मूर्धजैः।
दीर्घकूर्चै र्महीकीर्णा विबर्हैं रण्डजै रिव।।—द्रोण 119

इन श्लोको मे दरद, कम्बोज, लोह, ऋषीक शक, शवर, किरात, बर्बर आदि दस्यु जातियों का नाम है जिन्हें अर्जुन ने जीता था, साथ ही उन जातियों के निवासस्थान की ओर भी निर्देश है।

इस प्रकार हमने देखा कि वेद मे आर्य और दस्यु में स्पष्ट रूप से भेद करना, इद्र का दस्युओ की सपत्ति भूमिएँ छीन आर्यों को देना, आर्यों की रक्षा करना, दस्युओ को मारना, उनके पुरों को नष्ट करना, आर्य शत्रुओ और दस्यु शत्रुओ से रक्षा की प्रार्थना, पुनः इद्र की 'कृष्णात्वक्', 'अव्रत' और 'मृध्रवाक्' को मारना, यह सब मिलकर हमको इस परिणाम पर पहुँचाते हैं कि आर्य और दस्यु भिन्न और प्रतिद्वंद्विनी जातियो के थे, उनमें मौलिक वा रक्त-भेद होगा, संज्ञाएँ केवल धार्मिक भेद को नहीं बतातीं। ऐतरेय मनु और महाभारत से तो यह बात और भी पुष्ट हो जाती है वहाँ तो स्पष्ट ही दस्युओ की जातियो का होना लिखा है,

जातियों के नाम और निवास स्थान भी दिए हैं। सारांश यह कि आर्य और दस्यु यह विभाग जातीय और रक्त-भेद के कारण होगा न कि धार्मिक भेद के कारण।

यह ठीक है कि पिछले समय में पतित आर्य भी दस्यु कहाए जाने लगे, कांबोज प्रभृति दस्यु जातियाँ आर्यों की ही संतान थीं। परंतु वेद में ऐसा नहीं, क्योंकि उस समय ब्राह्मणोक्त याज्ञिक क्रियाएँ (Brahmanical Institutions) पूर्णता को प्राप्त न हुई थीं, अतः कौन ब्राह्मणोक्त क्रियाओं को ठीक-ठीक (Strictly) करते हैं (अतः आर्य हों) और कौन पालन में ढील करते हैं (अतः दस्यु हों) यह विवेक नहीं हो सकता था, इसलिए वेद में कहे गए धर्म में भिन्न लोग आर्यों से भिन्न जाति के होंगे।

उत्तर पक्ष

इस प्रकार आपके सामने पक्षपोषक प्रबल युक्तिएँ देते हुए पूर्वपक्ष रख दिया है; अब उत्तर पक्ष में आते हैं।

जैसा कि पहले लिखा गया, आर्य लोग भारत में बाहर से आए या नहीं यह विवादास्पद है। दोनों पक्षों की पुष्टि में प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं। पूने के नारायण भवन रावपावगी ने अपने ग्रंथ The Aryavartic Home And Its Arctic Colonies में पाश्चात्य विद्वानों की युक्तियों और प्रमाणों की समीक्षा कर सिद्ध किया है कि भारतीय आर्य बाहर से नहीं आए प्रत्युत आदिसृष्टि सप्तसिंधु प्रदेश में सरस्वती नदी के किनारे हुई।

यदि यह मान भी लें आदिसृष्टि बाहर हुई, कि आर्य लोग भारत में कहीं बाहर से आए, फिर भी इसमें कोई प्रबल युक्ति नहीं कि उनके आगमन से पूर्व भारत में कोई जंगली जाति रहती थी, जिसे आर्यों ने 'दस्यु' नाम दिया और हराकर दक्षिण और पहाड़ों में भगा दिया।

अस्तु अब म्योर साहब के लिए प्रमाणों और युक्तियों की परीक्षा कर उनकी निस्सारता दिखाते हुए यह स्थापित किया जाएगा कि आर्य और दस्यु पृथक् जातियों के न थे, दस्यु आर्यों में से ही थे जो धर्म-कर्म न करने से, आचार भ्रष्ट होने से, बहिष्कृत और पतित समझे गए थे। दोनों शब्दों की व्युत्पत्तिएँ इसी की पुष्टि करती हैं, वेद और उत्तरकालीन वैदिक और संस्कृत साहित्य इसी बात को पुष्ट करता है, पारसियों की जिंदावस्था की भी इसमें साक्षी है। साथ ही यह भी दिखाऊँगा कि पाश्चात्यों को स्वयं भी अपने पक्ष की सत्यता में संदेह है।

(1) आर्य और दस्यु शब्द का अर्थ निरुक्त और सायण के अनुसार :

> *[निरुक्त] आर्य ईश्वर पुत्रः [6.26] (Arya is the son of Lord)*
> *दस्युः दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन्रसा, उपदासयति कर्माणि।।*
> *[नि. 7.23]*

दस्यु क्षयार्थक दस् धातु से बनता है, दस्यु में रस खप जाते हैं [अतः मेघ दस्यु

है], और वह वैदिक कर्मों का नाश करता है, (He destroys religious ceremonies)

[सायण] आर्यम्=अरणीयं सर्वैर्गन्तव्यम् । ऋ. 1.130.4
आर्यान् विदुषोऽनुष्ठातन् ।। ऋ. 1.51.8
उत्तमं वर्णं त्रैवर्णिकम् ।। 3.34.9
आर्याय यज्ञादि कर्म कृते यजमानाय ।। 6.25.2
आर्याणि कर्मानुष्ठातृत्वेन श्रेष्ठाणि ।। 6.33.3

दस्यु=

दस्युं चोरं वृत्रं वा ।। ऋ 1.33.4
दस्यव अनुष्ठातृणा मुपक्षयितार· शत्रव· ।। ऋ. 1.51.8
दासी· कर्माणा मुपक्षयित्री विश्वा· सर्वा विश· प्रजा· 6.25.2
दासा· कर्म हीना शत्रव ।। 6.60.6
दस्यव अव्रता ।। 1 51.8
"दास वर्णं शूद्रादिकम्" । "दस्यु मव्रतम्"
दास कर्म कर शूद्र·, आर्यस्त्रै वर्णिक· ।। 10.38.3

यास्क और सायण के किए अर्थों मे आर्य और दस्यु के जातीयभेद होने की गध भी नहीं। सभी जगह यज्ञादि कर्म करनेवाले त्रैवर्णिक को 'आर्य' कहा है और यज्ञादि कर्म न करनेवाले, विघ्न डालनेवाले अव्रत, व शूद्रादि को 'दस्यु' और 'दास' नाम दिए हैं।

2. पाश्चात्य विद्वानो की साक्षी।

म्योर साहब जिन्होंने आर्य और दस्यु को जातीय भेद सिद्ध करने में बहुत प्रयत्न किया है, और जिनकी स्थापना के आधार पर निबंध का पूर्व पक्ष है, वेद मे आए असुर और दस्यु शब्दों की पडताल कर इस परिणाम पर पहुँचे हैं :

I have gone over the names of the Dasyus or Asuras mentioned in the Rig-Veda with theveiw of discovring whe ther any of them could be regarded as of non-Aryan, orindigenous origin, but I have not observed any that appear to be of this character."—Arya vartic Home, p. 260

अर्थात्, ऋग्वेद में आए असुर और दस्युओ के नामों की मैंने इस दृष्टि से पडताल की कि क्या उनमें से किसी नाम का अनार्य और एतद्देशीय Indigenous मूल समझा जा सकता है, पर मुझे इस प्रकार का एक भी नाम नहीं मिला।

प्रो. मैक्समूलर :

"Dasyu simply means enemy; for instance, when Indra is praised

because he destroyed the Dasyu and protected the Arian colour." The 'Dasyus,' in the Veda, may mean non--Arian races in many hymns; yet the mere fact of tribes being called the enemies of certain kings or priests can hardly be said to prove their barbarian origin. Vasishta himself, the very type of the Arian Brahman, when in feud with Vishvamitra, is called not only an enemy but a 'Yatudhana, and other names, which in common parlance are only bestowed on barbarian savages and evil spirits."—Muir's Sanskrit texts, vol II, p. 389

अभिप्राय यह है कि—

दस्यु का अर्थ केवल शत्रु है, जैसे कि उस वाक्य में है जहाँ इंद्र की इसलिए प्रशंसा की है कि उसने दस्यु का नाश कर आर्य वर्ण की रक्षा की थी। हो सकता है कि दस्यु का अर्थ बहुत-से मंत्रों में अनार्य लोग हो, फिर भी केवल इतनी बात से कि दस्यु जाति की किन्हीं राजाओं वा पुरोहितों से लडाई थी वे बर्बर वा अनार्य नसल के नहीं बन जाते। वसिष्ठ को, जो शुद्ध आर्य रक्त का ब्राह्मण है, विश्वामित्र से लड़ाई करते समय 'यातुधान' कहा गया है।

प्रो. मैक्समूलर अन्यत्र एक जगह यातुधान और राक्षस के विषय में लिखते हैं : ''They (the epithets) are too general to allow us the inference of any ethnological conclusions" (Arya, p. 291)

अर्थात् उक्त दोनों शब्द बहुत साधारण हैं और उनसे कोई मनुष्य जातीय भेद संबंधी परिणाम नहीं निकल सकता।

प्रो. रॉथ :

''In is but seldom, if at all, that the explanation of Dasyu as refer•ing to the non-Aryans, the barbarians, is advisable."—p.285

यदि ऐसे स्थल हैं तो वह बहुत ही कम होंगे, जहाँ दस्यु का अर्थ अनार्य वा बर्बर किया जा सके।

Zenaide, A. Ragozin अपनी Vedic India p. 113 लिखते हैं : ''Dasyu, meaning simply peoples" "a meaning, which, the word, under the Iraman form Dasyu" retains, all through the Avesta and the Akhaemenian in scriptions, while in India, it soon. underwent peculiar changes." (Arya Home, p. 262)

दस्यु का अर्थ केवल है लोग और जाति, ईरानी दस्यु शब्द का आज तक यही अर्थ है, अवस्था में भी इसी अर्थ में आया है यद्यपि भारत में शब्द के अर्थों में विचित्र परिवर्तन आते रहे।

म. नेस फील्ड ''Brief view of the Caste system of the North--Western provinces and oudh' में इस बात का बडे जोरदार शब्दों में खडन करते हैं

कि भारतीयों में आर्य विजेता और आदिम निवासी ऐसे कोई विभाग हैं। और साथ यह कि आजकल के सिद्धांतवाद ही देशवासियों को आर्य और प्रथम आदिम निवासियों में बाँटते हैं (It is, the modern doctrine which divides the population of India into Aryan and aboriginal)। आगे जाकर लिखते हैं—भारतीय जाति में स्पष्ट समता या एकता है, ब्राह्मण जाति का रंग या रक्त दूसरी जातियों का-सा है भिन्न नहीं। (There is essential unity of the Indian race; 'the great majority of Brahmans are not of lighter complexion or of finer and better bred features than any other caste,' or 'distinct in race and blood from the scavengers who swept the roads) p. 271

3. यह हमने देख लिया है कि आर्य और दस्यु शब्दों से यास्क और सायण क्या अभिप्राय समझते थे। साथ यह भी देख लिया कि पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं कि आर्यों का विदेशी होना और दस्युओं का आदिम निवासी होना वेद से सिद्ध नहीं होता। अब उनके दिए हुए मंत्रों की समीक्षा करते हैं।

(क) आर्य कौन हैं और दस्यु कौन ? यह वेद से ही स्पष्ट हो जाता है।

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रंधया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य— ।। ऋ. 1.51.8

'बर्हिष्मते' शब्द का अर्थ है 'यज्ञेनयुक्ताय' और 'अव्रतान्' का अर्थ है 'कर्मविरोधिनः'।

बस, स्पष्ट हो गया कि आर्य कौन हैं ? जो यज्ञादि करनेवाला है और दस्यु वह जो कि स्वयं यज्ञ कर्म न करता हुआ उसमें विघ्न डालता है। इसमें कहीं भी जाति-भेद की गंध नहीं। इसी प्रकार निचले मंत्रों में :

अकर्मादस्युः...अन्यव्रतः ।। ऋ. 10.22.8
सहवांसीदस्युनव्रतम् ।। 9.41.2

(ख) क्या दस्यु काले रंग के थे ? हमारा तो विचार है कि 'कृष्णा', 'कृष्ण गर्भाः' 'त्वच मसिक्नीम्' 'कृष्णां त्वधम्' आदि में कृष्ण शब्द दस्युओं के प्रति घृणा और निंदा का भाव दिखाने के लिए है। कृष्ण शब्द पाप का उपलक्षण है, श्रेष्ठ पुरुषों की पाप से घृणा स्वाभाविक ही है, उन्हीं पाप कर्मों के नाश से यहाँ अभिप्राय है। हमारे यहाँ उपनिषदों में दो प्रकार के कर्म कहे हैं शक्ल और श्याम या काले पाप कर्म, बस उन्हीं का वेद में भी वर्णन है। बस, सारांश यह कि कृष्ण शब्द पाप और पापियों के लिए है न कि किन्हीं जंगली काले लोगों के लिए। इसी बात की पुष्टि वेद, जिदावस्था और लोकाचार से होती है।

यदि सारे मंत्र को देखा जाए और पूर्वापर की संगति जोडी जाए तो कृष्ण शब्द का अर्थ स्वयं खुल जाता है, और मालूम हो जाता है कि यहाँ कृष्णसत्वक् से किन लोगों से अभिप्राय है।

यथा—ऋग्वेद का मंत्र है :

'संदहन्तो अपव्रतान्। अपधमति त्वचमसिक्नीम्''।। ऋ. 9.73.5

इस मंत्र में 'त्वचमसिक्नीम्' उन्हीं लोगों के लिए है जिन्हें पूर्वार्ध में 'अपव्रत' कहा है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी 'अपव्रत' ब्रह्मद्विट् 'अव्रत' 'अकर्मा' लोगों के प्रति घृणा दिखाने के लिए कृष्ण शब्द का प्रयोग किया गया है।

(ii) गाथा उस्तवैती में जरदुष्ट्र ने कहा है।

''That I will ask thee, tell me it right, thou living God who is the religious man and who the impious, after whom I wish to inquire ? With whom of the both is the **black spirit**, and with whom the bright one ? Is it not right to consider **the impious man** who attacks me or Thee, to be a **black one** ?''—Arya, p. 261

हे चेतन परमात्मन्, यह मैं तुमसे कहता हूँ, मुझे ठीक-ठीक बताओ कौन धार्मिक आदमी है और कौन अपवित्र, इसकी मुझे जिज्ञासा है ? दोनों में से किसमे कृष्ण आत्मा है और किसमें शुभ्र ? क्या अपवित्र, आदमी को जो मुझ पर वा तुम पर आक्रमण करता है, कृष्ण पुरुष समझना ठीक नहीं ?

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि 'कृष्ण' शब्द पाप और पापी के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

(iii) आजकल भी हम देखते हैं कि यूरोपियन लोग अभिमानवश भारतीयों से घृणा करते हुए उन्हें काला आदमी (Blackman, Niggers) कहते हैं, (Pro मैक्समूलर लिखते हैं The so called Niggers of India) और अफ्रीकादि उपनिवेशों में भारतीयों पर तरह-तरह की रुकावटें डालते हैं और अत्याचार करते हैं।

पर न यह ठीक है कि सभी यूरोपियन भारतीयों की अपेक्षा गोरे हैं और न यह कि सभी भारतीय यूरोपियनों की अपेक्षा काले हैं। काश्मीर आदि पर्वत देशवासी लोग यूरोपियनों की अपेक्षा अधिक गोरे और सुंदर हैं। फिर भी प्रत्येक भारतीय को घृणा दिखाने के लिए काला आदमी कहा जाता है। इसी प्रकार यज्ञादि न करनेवाले पतित लोगों को, दस्युओं को 'कृष्ण' कहा है।

(iv) ऋग्वेद (5-70-3) का मंत्र है :

तुर्याम दस्यूनत्तवृभि ।।

इसका अर्थ रॉथ साहब ने किया है : 'Let us over come the Dasyus in our own persons'। अभिप्राय यह है कि हम उन दस्युओं पर जो हमारे अपने शरीर में हैं, विजय प्राप्त करें।

क्या अपने शरीर का भी आधा हिस्सा दस्यु अतएव अनार्य नसल का और

आधा आर्य हो सकता है ? नहीं। अतः अर्थ स्पष्ट है कि जो हमारे अपने शरीर में पापमय भाग है उस पर विजय प्राप्त करें। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए कि 'दस्यु', 'कृष्ण' शब्द भी पापियों के प्रति घृणा दिखाने के लिए हैं।

प्रो. रॉथ मानते हैं कि 'कृष्णगर्भाः', 'कृष्णयोनी' शब्द मेघ के लिए, और रात्रि के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

(ग) *'मृध्रवाक्'* शब्द से यह दिखाने का यत्न किया गया था कि दस्युओं की भाषा आर्यों से भिन्न थी और उसी के लिए यह शब्द है। पर शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ से ऐसा कोई परिणाम नहीं निकलता।

निरुक्त (6.31) 'मृध्रवाच' का अर्थ करता है 'मृदुवाचः'।

सायणाचार्य 'मृध्रवाचः' का अर्थ 'हिंसित वागिन्द्रियान्' 'हिंसितवचस्कान्' *(7-9-3) "बाधवाच्।" ।। 5.29.10 ।।*

म्योर साहब स्वयं मानते हैं कि 'मृधवाच' शब्द दस्युओं को भाषा की ओर निर्देश करता नहीं प्रतीत होता।

'In any case, the sense of the word मृध्रवाच is too uncertain to admit of our referring it with confidence to any peculiarity in the speech of the aborigines —Muir's Re. p. 378

अभिप्राय यह है कि 'मृध्रवाच' शब्द का भाव बहुत ही अस्पष्ट है और उससे आदिमवासियों की भाषा की विशेषता जतानेवाला परिणाम किसी भी अवस्था में निश्चयपूर्वक नहीं निकाला जा सकता।

4. वैदिक साहित्य तथा सस्कृत साहित्य से तो यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि दस्यु आर्यों की संतान थे, जो वैदिक कर्म न करने से पतित और बहिष्कृत समझे गए थे। पाश्चात्य विद्वान् भी इसको मानते हैं। दस्यु जातियों में से बहुत-सी क्षत्रिय जातियाँ थीं। ऐतरेय मनु, रामायण और महाभारत इसमें साक्षी हैं :

> *तस्य ह विश्वामित्र स्यैकशतं पुत्रा आसुः पंचाशदेव ज्यायांसो मधुच्छंदसः पंचाशत्कनीयांसः, तद्ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे। ताननुव्याजहार अन्तान् व प्रजा भक्षीष्टेति। त एते अंध्राः, पुंड्राः, शवराः पुलिंदा मूतिया इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति। वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः।।* ऐ ब्रा 7-18

(सायण) विश्वामित्र ऋषि के एक सौ पुत्र थे, मधुछदस् प्रभृति पचास बड़े और पचास छोटे। जो बड़े थे उन्होंने कहना नहीं माना। विश्वामित्र ने उनको कहा कि तुम्हारी सतान चंडालादि नीच जातियों की हो जाए। वही अंध्र, पुंड्र शबर, पुलिंद, सूतिव, आदि जातियाँ हैं। दस्यु जातियों में से बहुत-सी विश्वामित्र की संतान हैं।

(ख) द्विजलोग दस्यु कैसे बन गए, इस विषय में मनु महाराज कहते हैं :

शनकै स्तुक्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च।। मनु. 10.43
पौण्ड्रकाऔड्र द्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदा पाह्लावाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः।।44।।
मुख बाहूरु पज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचाश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।।45।।

पौण्ड्र आदि 12 क्षत्रिय जातिएँ वैदिक क्रियाएँ भुला देने से, और ब्राह्मण लोगों से संबंध टूट जाने से शनैः-शनैः शूद्र हो गईं, और यही जातियाँ दस्यु हैं चाहे म्लेच्छ भाषा बोलें चाहे आर्यों की भाषा।

इस पर प्रो. रॉथ कहते हैं : "It is thus irrefragably proved that the Kambojas were originally not only an Indian people, but also a people possessed of Indian culture; and consequently, that in Yaska's time, this culture extended as for as the Bindukush. At a later peroid, as the well known passage in Manus' Institutes shows, the Kambojas were reckoned among the barbarians, because their customs differed from those of the Indians."

(ग) महाभारत 12-136-1...दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हर्तुं मर्हति।।
तस्मादप्यद्योहादादान मश्रद्धधान मयजमा नमाहु रासुरोबत इति।
—छा. उ. अ. 8 ख. 8.5

महाभारत शांतिपर्व अध्याय 198 में भीष्म कहते हैं—हे राजन्! मैं तुम्हें एक कथा सुनाता हूँ जो उत्तर दिशा में म्लेच्छों में हुई। मध्यदेश का कोई ब्राह्मण किसी ब्राह्मण और वेदज्ञों से रहित पर समृद्ध ग्राम में भिक्षा लेने के लिए घुस गया। वहाँ एक धनी, धर्मात्मा, सच्चा, दानी वर्णव्यवस्था जाननेवाला दस्यु रहता था। उसके घर पर जाकर ब्राह्मण ने भिक्षा माँगी। वह गौतम नामक ब्राह्मण म्लेच्छों में रहते-रहते उनके सन्निकर्ष से उन जैसा बन गया। उसी ग्राम में एक और ब्राह्मण आ निकला, और पहले ब्राह्मण को देखकर कहने लगा कि तू तो मध्यदेश का, कुलीन ब्राह्मण था पर उससे दस्यु कैसे बन गया।

इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि दस्यु कोई पृथक् नसल के न थे, आर्यों में से ही पतित लोग या धार्मिक लोग भी जो पतितों के संग से पतित हो जाते थे, दस्यु कहलाने लगते थे।

(घ) एक और दृष्टांत लीजिए, जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार ब्राह्मण माता-पिता की संतान भ्रष्टाचार होने से राक्षस यातुधान कहाने लगती है। पुलस्त्य ब्रह्मर्षि थे, द्विज थे ('पुलस्त्यो नाम ब्रह्मर्षिः'; 'पुलस्त्यो यत्र स द्विजः')

उनका पुत्र विश्रवा भी उन जैसा योग्य था। पर विश्रवा के पुत्रों में से रावण-कुंभकर्ण भ्रष्टाचार, अधार्मिक होने से राक्षस, दस्यु *अनार्य, यातुधान* कहाने लगे, पर छोटा पुत्र विभीषण धर्मात्मा होने से आर्य ही रहा।

और तो और [अयो 1813] कैकयी को अनार्या कहा गया है। निश्चय है वह क्षत्रिय की कन्या और क्षत्रिय राजा की धर्मपत्नी थी, पर अनुचित व्यवहार के कारण उसे अनार्या कहा गया है।

(ङ) इसी प्रकार यदि दास वा दस्यु शब्द में अनार्यत्व की गंध होती तो हम ऐसे लोगों के जिनका आर्य रक्त का होना निश्चित है दास शब्दांत नाम न पाते, पर मिलते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण के कर्ता का नाम है महीदास। वह किसी ऋषि की पत्नी इतरा का पुत्र था।

हम लोग तो वेद में इतिहास नहीं मानते, पर पाश्चात्यों के मत में वेद ऐतिहासिक पुस्तक हैं। अब वेद में (ऋ. 7.18.25) 'सुदास' और 'दिवोदास' शब्द आते हैं, पाश्चात्य तथा सायणादि भाष्यकार उन्हें क्षत्रिय राजा समझते हैं।

इसी प्रकार 'दस्यु' शब्दांत नाम मिलता है जो किसी राजर्षि का था :

> *'त्' आयजन्त त्रउदस्युम्''* // ऋ. 6.42.8
> *'अथा राजानं असदस्युम्''* // 6.42.9

असदस्यु पर सायणाचार्य लिखते हैं—(*पुरुकंत्सस्य पुत्र त्रसदस्यू राजर्षिः*)

यदि दास और दस्यु शब्द में अनार्यत्व की गंध होती तो वेद में इतिहास माननेवाले पाश्चात्यों के अनुसार क्षत्रिय आर्य राजाओं के सुदास दिवोदास और असदस्यु नाम न होने चाहिए थे।

यदि मान लें आर्य लोग कहीं बाहर से भारत आए थे और उन्होंने दस्युओं पर विजय पाकर देश छीनकर उनको भगा दिया था, जैसा कि पाश्चात्य कहते हैं तो एक बात हमारी समझ में नहीं आती कि यदि आर्य लोग विजेता ही थे तो उनको अपनी विजय छिपाने की क्या जरूरत थी ? विजय को कौन छिपाया करता है, हार को भले ही छिपा लें। पर हम वैदिक साहित्य में इस प्रकार का कोई चिह्न वा निर्देश नहीं पाते जिससे आर्यों का बाहर से आना विजेता होना सिद्ध हो।

अन्त में प्रो. रॉथ के इन शब्दों के साथ समाप्त करते हैं कि "It is but seldom, if at all that the explanation of Dasyu as reffering to the non Aryans, the barbarians. is advisable."—p. 285

[सन् 1918]

आर्य सभ्यता का विकास

डॉ. अविनाशचंद्र दास

सज्जनो !

यद्यपि गुरुकुल के कार्यकर्ताओ ने मुझे रजत-जयती उत्सव पर होनेवाले सरस्वती सम्मेलन के सभापति पद के लिए आमंत्रित कर मेरा बहुत सम्मान किया है और जिसके लिए मैं उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ तथापि यह बहुत ही अच्छा होता यदि मुझ अयोग्य व्यक्ति के स्थान में किसी अन्य सुयोग्य विद्वान् व्यक्ति को इस पद के लिए चुना जाता। मैं अपनी न्यूनताओ और परिमित ज्ञान से भली प्रकार परिचित हूँ और मुझे आपके धैर्य तथा उच्च भावो पर पूर्ण विश्वास है। आशा है, आप मेरे अपूर्ण कर्तव्य-पालन को पूरा करने मे मेरी पूर्ण सहायता करेगे।

सबसे पूर्व मैं यहाँ के कार्यकर्ताओ को उनकी विशाल एव सुदर सस्था की रजत-जयती के लिए बधाई देना चाहता हूँ। इस सस्था की स्थापना एक ऐसे महान, स्वार्थ-शून्य, देशभक्त, अमर शहीद और अक्षयकीर्ति स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानद के हाथो से हुई है जिसने अपने अनुपम बलिदान, अनथक परिश्रम, और आदर्श अनन्य श्रद्धा से हमारे बीच मे आर्य शिक्षा की इस प्राचीन प्रणाली को पुनर्जीवित करने में सफलता प्राप्त की है--जिसका उद्देश्य ब्रह्मचर्य के कठोरतम शासन मे रहकर सच्चे मनुष्यत्व की उन्नति करना है और मानवीय आत्मा की वैयक्तिक एव राष्ट्रीय जीवन की शक्तियो को विकसित करना है, इस उद्देश्य मे ही सस्था की उपयोगिता और अद्वितीयता है। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागो में इस प्रकार की अनेक सस्थाएँ स्थापित हो रही हैं जो वास्तव में इसके गौरव को बढाती हैं और इसकी सत्ता की आवश्यकता को प्रमाणित करती हैं। परतु दूसरी सस्थाओ की महत्ता को बिना कम किए मैं स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि क्योकि आपकी सस्था प्राचीन आर्यों के महान उद्देश्यो तथा आधुनिक सभ्यता के सर्वोत्कृष्ट आदर्शों को लेकर स्थापित की गई है--इसलिए इसकी उन्नति है, और इसे हमारी वर्तमान पीढी तथा भविष्य मे आनेवाली पीढियो का पथ-प्रदर्शक होने का सौभाग्य प्राप्त है।

हमारा विद्वानो की किसी भी सभा को 'सरस्वती सम्मेलन' कहने का स्वभाव

है, क्योंकि सामान्यत सरस्वती को विद्या और ललित कला की अधिष्ठात् देवी समझा जाता है। परंतु मेरी सम्मति में सरस्वती शब्द का इससे कहीं ऊँचा अर्थ है और हमने दौर्भाग्यवश जिसकी उपेक्षा कर दी है। सरस्वती का अर्थ वही है जो वैदिक 'वाक्' या 'शब्द' का अर्थ है--अर्थात् उस ब्रह्म आत्मा का प्रथम स्पष्टीकरण जिसने अपने मे केंद्रित होकर कारण समुद्र अथवा प्रारंभिक अधकार मे कारण का ज्ञान करानेवाले शून्य, अनत महासागर पर सृष्टि का बीज बोया था (ऋग्वेद 10.129)। सृष्टि के उत्पन्न होने के साथ ही ब्रह्म के मन मे वाक् या शब्द अथवा जिसे हम लोग ओऽम् के नाम से पुकारते हैं—का प्रकाश हुआ। इसके कपन से शून्य आकाश परिपूर्ण हो गया, और क्षण भर मे ही आकाश वायु, प्रकाश, जल तथा यह समस्त ब्रह्माड उत्पन्न हुआ। सूर्य, चद्र, तारे, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, देवता तथा अन्य दिव्य प्राणी भी पवित्र आनद से नाचते हुए सत्ता को प्राप्त हो गए। उस अव्यवस्था से ऋत और व्यवस्था की उत्पत्ति हुई और सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया शीघ्रता से आगे बढने लगी। सपूर्ण सृष्टि उस वाक् शब्द से उत्पन्न हुई जो कारण समुद्र की अनंत एव अंधकारमय शून्य सतह पर प्रकट हुई थी। उसका ठीक नाम सरस्वती था जिसका जन्म स्थान सरस या कारण समुद्र था, और जिसने ब्रह्म का सबसे पहले प्रकाश किया। यदि ब्रह्म के नए आविर्भाव को दृष्टि मे रखा जाए तो, सरस्वती उसका उत्पादक सिद्धात है। सरस्वती ब्रह्म से अभिन्न है और उसके अनत स्वरूप ब्रह्माड को धारण तथा प्रकाशित करनेवाली है। यहाँ पर ऋग्वेद के एक सूक्त (10 125) का अनुवाद देना उचित प्रतीत होता हैं जिसमे वाक् ने अपने-आपको इस प्रकार उद्घोषित किया है

1. मैं रुद्र के साथ, वसु के साथ, आदित्य के साथ, विश्वदेव के साथ विचरती हूँ, मैं मित्र और वरुण की, अग्नि और इंद्र की तथा दोनो अश्विनो की पालना करती हूँ। मैं शत्रुनाशक सोम, त्वष्ठा, पूषन् और भग का पोषण करती हूँ। मै याज्ञिको को, बलि-भेट करनेवालो को, और रक्षणीय देवताओ को मदिरा चढानेवालों को धन वितरण करती हूँ। मैं राज्ञी के समान प्रभुत्व करती हूँ, खजानो को इकट्ठा करनेवाली हूँ, सर्वज्ञ (श्रेष्ठ जीव) हूँ, पूजनीयो मे प्रधान हूँ। देवो ने मुझे अनेक स्थानो मे, अनेक अवस्थाओ मे, और अनेक रूपो मे स्थापित किया है।

2 जो भोजन खाता है, जो देखता है, जो श्वास लेता है, जो उच्चारण किए गए शब्दो को सुनता है, वह मेरे द्वारा ही करता है। जो मुझे नहीं जानते वे नष्ट हो जाते हैं। जिनके कान हैं, वे सुने, क्योंकि मैं विश्वास-योग्य बात कहती हूँ।

3 मैं उस बात की अपने लिए घोषणा करती हूँ जिसके लिए मनुष्य और देवो ने मेरा समर्थन किया है। मैं जिसे चाहती हूँ उग्र बना देती हूँ, मैं उसे ब्रह्मन् (सायण के भाष्य में ब्रह्म सृष्टिकर्ता)—ऋषि या विद्वान् बना देती हूँ।

4. मैं रुद्र के धनुष को ब्राह्मणों के घातक शत्रुओं के नाश के लिए तानती हूँ (बलिदान के समय पढा जानेवाला सूक्त)। मैं अपने वैरियों के साथ युद्ध करती हूँ, और मैं आकाश और पृथिवी में व्याप्त हूँ।

5. मैंने जनक स्वर्ग को उत्पन्न किया है जो ससार की भौं है। मेरा जन्म-स्थान जल मे है और वहाँ से ही मैं सब प्राणियो में और भुवनों में अपना विस्तार करती हूँ और अपने शरीर से आकाश को स्पर्श करती हूँ। मैं वायु के समान साँस लेती हूँ, और समस्त उत्पन्न ससार को रूप देती हुई—इस विस्तृत तथा महान आकाश और पृथिवी से भी मैं अधिक महत्तर हूँ।

यह सूक्त साधारणत. 'देवी-सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके पढने से हम बडी सुगमता से जान सकते हैं कि 'वाक्' या 'सरस्वती' प्रथम बुद्धिमती शक्ति है जो कि ब्रह्मन् से उत्पन्न हुई है। यह शक्ति सृष्टि को पुन उत्पन्न करने के लिए ही उसकी उत्पत्ति, स्थिति और सहार करती है। 'वाक्' ने ही ब्रह्मन् को समस्त ब्रह्माड मे प्रगट, प्रकाशित, एव प्रसिद्ध किया है, केवल उसकी कृपा से ही हम ब्रह्मन् को जान सकते हैं और ऋषि तथा अमर बन सकते हैं। वाक् लौकिक एव पारलौकिक ज्ञान का स्रोत या माता है और इस प्रकार इसके परा और अपरा भेद से दो रूप हैं। जो ज्ञान हमे ब्रह्मन् को जानने योग्य बनाता है वह पराविद्या है, और जो हमारे मन को उससे विमुख करता है वह अपराविद्या है। यदि केवल अपराविद्या का ही अनुगमन किया जाए तो यह सपूर्ण नाश की ओर ले जाती है और इसलिए यह पराविद्या के अधीन है। इसकी बिखरी हुई धारा पराविद्या के साथ मिलकर मनुष्य को ब्रह्म की ओर ले जानेवाली होती है।

क्योकि वाक् या सरस्वती ब्रह्माड से अधिक विस्तृत ही नहीं अपितु असत् के साथ रहनेवाली है, इसलिए हमारा ज्ञान भी ब्रह्माड के समान विस्तृत और प्रत्येक मानवीय विचार एव क्रिया के विभाग को व्याप्त किए हुए होना चाहिए पर यह ज्ञान पराविद्या (जो हमको उसकी ज्ञान प्राप्ति के योग्य बनाती है, और प्रत्यक्ष बातचीत कराती है, जो कि इस ब्रह्माड का आदिस्रोत है और जिसमे सपूर्ण ज्ञान विलीन हो जाता है) के अतर्गत होना चाहिए। यदि हम ब्रह्मज्ञान को अपने जीवन का मार्गदर्शक बनाने में असफल होते हैं तो उस परमात्मा से विमुख होकर हानि मे रहते हैं और सत्य-मार्ग से भटक जाते हैं, जो अत मे हमें विनाश के मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है। हमारे प्राचीन आर्यों ने ज्ञान के इस मुख्य सिद्धात को भली भाँति समझा और संस्कृति की स्थापना सत्य की विस्तृत आधारशिला पर की तथा अपने वशजो की सपूर्ण नाश से रक्षा की।

जो लोग अपनी उन्नति मे लगे हुए हैं और पराविद्या का अनुशीलन कर रहे हैं, यदि वे अपने प्रति सच्चे हैं, तो अपराविद्या की ओर उपेक्षा की नजर से नहीं देख सकते और इसी प्रकार अपराविद्या के अभ्यासी पराविद्या की उपेक्षा नहीं कर सकते। क्योकि ये दोनो अभिन्न रूप से परस्पर सयुक्त हैं और एक-दूसरे की

पूरक हैं। बहुत-से लोग यह जानकर आश्चर्यान्वित होंगे कि हमारे ऋषियों और पूर्वजों ने पराविद्या अथवा ब्रह्म विद्या की उन्नति में तत्पर रहते हुए, अपराविद्या की उपेक्षा नहीं की जिसमें संपूर्ण लौकिक ज्ञान और शिल्प—यथा, कृषि, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग-धंधे, पोत-निर्माण, रथ-निर्माण, राजनीतिशास्त्र, सैनिक शिक्षा, समाजशास्त्र, आयुर्वेद, कानून, यहाँ तक कि संगीत, गायन, नृत्य और छंदरचना भी—अंतर्गत हैं। वस्तुतः प्रत्येक ज्ञान और शिल्प जो मनुष्य की उन्नति करने और उसे आगे ले जाने में सहायक है, का अंतिम उद्देश्य ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति है। गंभीरता तथा ध्यान के साथ वेद का अध्ययन करनेवाला कोई भी विद्यार्थी इस स्पष्ट तथ्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा जिसको कि पिछले युग में हमने संभवतः भुला दिया है। आपकी कृपापूर्ण अनुमति से मैं यहाँ अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक-कल्चर' से निम्न वाक्यों को उद्धृत करना चाहता हूँ—(पृ. 304-6)।

ये, प्राचीन काल में जनता के मध्य में सर्वोत्तम मस्तिष्कवाले ऋषि या बुद्धिमान पुरोहित थे, जो आर्यों की उन्नति काल के प्रारंभ में और उसके पश्चात् भी नेतृत्व करते थे। ये वे लोग थे जिन्होंने पशुओं को पालतू बनाया, अग्नि-प्रयोग का आविष्कार किया, विभिन्न प्रकार के औजारों का आविष्कार और निर्माण किया, रथ और हथियार बनाए, मानव-कल्याण के साथ प्राकृतिक शक्तियो के अतरीय संबंध को ढूँढा, अग्नि-पूजा और विविध यज्ञों को प्रचलित किया, मानवीय आनंद की वृद्धि के लिए उपाय सोचे, वैवाहिक संस्था को विकसित किया, और इसको दृढ तथा सुरक्षित आधार पर स्थापित किया, उपकारी देवताओं की सत्ता और उनके वैयक्तिक विशिष्ट गुणो को आविष्कृत किया, उनको उच्चता से, मानवीय घटनाओं के ऊपर उनका उपकारी लाभप्रद असर उत्पन्न करवाने के लिए नीचे लाए, ये वे लोग थे जिन्होंने एक महा-देव मे ईश्वरैक्य को समझा जोकि सारे ससार मे ठगाप्त और सृष्टि का मूलकारण, एक और अविच्छिन्न, और भिन्न-भिन्न उपायो मे अपने-आपको प्रगट कर रहा है। उन्होंने ही इस नश्वर ससार में एक स्थायी शांत और सुखमय जीवन को पाया, ऐसा जीवन जिसमे कोई उतराव और चढाव नहीं और जो सबसे महान और अवर्णनीय है।

ये वे महान मस्तिष्क थे जिन्होंने प्राचीन काल मे, ऋग्वेद के समय मे, बेमेल और विपरीत तत्त्वो को मिलाकर एक किया। और छितरे हुए गाँवो को एक सघ में, एक पराक्रमशील और शक्तिशाली जाति की आधीनता में सघठित किया, जिनको उन्होंने अपने बुद्धिमत्तापूर्ण परामर्शों से सयुक्त मानव समाज के कल्याणकारी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मार्ग दिखाया। यह उन्हीं का श्रेष्ठ और निस्वार्थ उद्योग था जिसने पाँच उपजातियों को (पचजना या पंचकृष्टय) ऋग्वैदिक काल में उत्पन्न किया, जिनकी एक-सी सभ्यता थी, जो एक भाषा-भाषी थे, एक ही प्रकार के यज्ञों को करते थे और एक समान देवों को पूजते थे। यद्यपि वे भिन्न-भिन्न-उपजातियों-जत्थों मे बँटे हुए थे, तथापि अपने-आपको सगठित होती

हुई विशाल आर्यजाति का अग मानते थे। ऋषियो ने सपूर्ण आर्यजाति का भाग्य निश्चित समझकर कभी भी महान देवताओ से पाँचों जातियों--जिनको कि वे अपनी आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं, सुंदर और दिव्य को अनुभव करने के लिए आधार मानते थे--की कल्याण-कामना की प्रार्थना करने का कोई अवसर अपने हाथ से नहीं जाने दिया।

संक्षेप मे ऊपर का उद्धरण प्राचीन महान ऋषियो के जीवन और उनके कार्यों का हमे परिचय कराता है, और इससे अधिकतर अच्छा कार्य हम नहीं कर सकते कि उनके श्रेष्ठ कार्यों का अनुसरण करे और शक्तिशाली आशावाद से अपने-आपको पूरित करे। दुनिया से छुटकारा पाया नहीं जा सकता जैसे माया से व्यक्तिगत आत्मा की मुक्ति की चिता और उत्सुकता से छुटकारा पाते हैं। परतु यहाँ पर हमें केवल अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए ही नहीं, परतु सपूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए। लौकिक ज्ञान की उतनी ही उन्नति करनी चाहिए जितनी अध्यात्म विद्या की। परतु प्रत्येक चीज पराविद्या की अपेक्षा गौण है जो कि मानवीय सत्ता के अतिम उद्देश्य तक पहुँचाती है, जिसका रूप ब्रह्म का साक्षात्कार है।

ऋग्वेद मे सिधु या इदु नदी के संबोधन में एक सूक्त आता है जिसमे, कृषि द्वारा उत्तमोत्तम पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए और आर्य लोगो को समृद्धिशील बनाने के लिए उस (सिधु) की प्रशसा की गई है। इसी सूक्त के 8वे मत्र मे लिखा है . "सिधु नदी घोडो, रथो, वस्त्रो, स्वर्ण के आभूषणो, उत्तम आहार, ऊन और नवपल्लवित सीलम के पौदो से समृद्ध है, और मधु बरसानेवाले फूलो से सुशोभित है।" इससे प्रतीत होता है कि उस समय भारतवर्ष मे उत्तमोत्तम घोडे, रथ और प्राणी होते थे। पजाब की समृद्ध भूमि धनधान्य से परिपूर्ण थी और लोग बहुत सतुष्ट रहते थे। ऊन भी कसरत से उत्पन्न किया जाता था जिससे उत्तम वस्त्र, कबल, दुशाले और पोशाक आदि तैयार किए जाते थे। उल्लिखित वर्णन उस समय के व्यावसायिक जीवन और जातीय समृद्धि का सुदर चित्र हमे अर्पण करता है। इसी प्रकार बहुत से भावमय सूक्तों में सरस्वती का भी आह्वान किया गया है। नीचे दो मत्रो का अनुवाद दिया जाता है (ऋ. 1.3.11-12)। "सरस्वती, सत्यज्ञान की प्रेरणा करनेवाली, बुद्धिमानो की शिक्षिका ने हमारे किए गए यज्ञो को स्वीकार किया है।" "सरस्वती अपने कार्यों से एक बडी नदी को प्रगट करती है, और सपूर्ण ज्ञान को पैदा करती है।" यह हमको स्मरण रखना चाहिए कि देवताओ की पूजा के लिए बहुत से यज्ञ सरस्वती नदी के पवित्र तट पर ही किए गए थे, और यहीं पर बहुत से मत्रो का प्रकाश ऋषियों के हृदय मे हुआ था। इसलिए वह नदी आध्यात्मिक विषयो में बहुमूल्य ज्ञान देने के योग्य थी और इसी दृष्टि से देखी जाती थी--"नदियो मे पवित्रतम, पर्वत से निकलकर समुद्र की ओर बहती हुई।" (ऋ. 87.95.2) मेरे विचार मे सिधु शक्ति की प्रतिनिधि थी,

जिसने आर्यों को महान और शक्तिशाली बनाया, इसी प्रकार सरस्वती, ध्यान, मानसिक, नैतिक, आत्मिक सस्कृति की प्रतिनिधि थी, जिसने उनको उच्च सभ्यतासपन्न जाति का बनाया। लोगो का आत्मिक ध्यान क्रिया से संयुक्त था, जो प्राकृतिक उन्नति की ओर ले जाती थी, पर आत्मिक संस्कृति को भुला नहीं देती थी। परंतु क्रिया आत्मिक ध्यान से संयुक्त थी और उससे शासित थी। यह प्रकृति और आत्मा का (परा और अपराविद्या) शुभ सयोग था, जिसने प्राचीन आर्यों को महान और यशस्वी बनने में सहायता दी।

परा और अपराविद्या के सम्मिलन का महान आदर्श हमारे प्राचीन पूर्वजो ने सदा अपने सामने रखा था। उन्होंने उस साहित्य की रचना की जिसकी तुलना का साहित्य ससार में कोई नहीं है। वेदों में सूत्र रूप से निहित विचार को आर्यों ने विशेषता से सस्कृत के दो ऐतिहासिक काव्यो मे (रामायण और महाभारत) पल्लवित और पुष्पित किया। पुराण, काव्य, नाटक और सहिताओ में, हमारे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा राजनैतिक कानूनों को लेखबद्ध किया गया है। आर्य जाति की सभ्यता को चारो ओर फैलाने के लिए कृषि, रसायन, आयुर्वेद, व्यापार, राजनीति, अर्थशास्त्र, शासन-प्रणाली, सौंदर्यशास्त्र, तर्कशास्त्र और दर्शन पर वैज्ञानिक पुस्तकें लिखी गईं। बौद्धकाल में भी, बौद्ध-भिक्षुओ ने इस सभ्यता का अनुसरण किया। जोकि बहुत ज्ञानवान् थे, और जिन्होने सत्यनिष्ठा के साथ ससार से विरक्त होकर अपने-आपको बौद्धमठो के अर्पित कर दिया था। इनके अध्यवसाय ने मनुष्य-ज्ञान के अपूर्ण अंशों को बहुत अधिकता से परिपूर्ण किया। कालांतर मे विपरीत घटनाचक्र के कारण, जिसका उल्लेख मैं यहाँ नहीं करूँगा, इस सस्कृति की उन्नति धीमी पड गई और मृत्यु के पडाव तक पहुँच गई। परिणामस्वरूप अग्रेजो के इस देश मे आने से पहले तक विचारो और शक्ति की दयनीय दरिद्रता का आगमन हुआ, और जाति धीरे-धीरे नपुसक बनने लगी। हमारा सर्वतो भावेन शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आत्मिक पतन हो गया, हम प्राचीन आदर्शों से बहुत दूर चले गए और राष्ट्रीय आत्मा को हमने सर्वथा खो दिया। पाश्चात्य सभ्यता के आगमन ने किसी मात्रा तक हमारी राष्ट्रीय आत्मा को पुनर्जीवित किया है, परतु इस शक्तिशाली सभ्यता के साथ हमारी मृत-प्राय सभ्यता के सबध ने हमारे मन में पाश्चात्य सभ्यता के प्रति पक्षपात पैदा कर दिया है, और उसके अनुकरण की इच्छा पैदा कर दी है, और पूर्वीय सभ्यता के प्रति उपेक्षा और विनाश के भाव उत्पन्न कर दिए हैं। आज हम मौलिक विचार करने की अपेक्षा अनुकरणप्रिय हो गए हैं। आज जो साहित्य हम उत्पन्न कर रहे हैं वह केवल पश्चिमीय सस्कृति का प्रतिबिंब मात्र है। हम तोते के समान जो कुछ हमने पश्चिम के गुरुओं से सीखा है, उसी की मुहारनी फेर रहे हैं, इसके लिए हम यह विचार नहीं करते कि इसका आंतरिक गुण हमारे लिए कितना उपयोगी है। गंभीर साहित्य के अध्ययन की रुचि के बदले अब हल्के, कल्पनात्मक और

रद्दी साहित्य के प्रति जिसका अधिकांश कथानक है और जो कि पश्चिम से उधार लेकर भारतीय पहनावे में सजाके उपस्थित किया गया है, प्रेम उत्पन्न हो गया है, जो आर्य सभ्यता की (Summum Bonum) सच्ची आत्मा का है, जिसका उद्देश्य मानवीय सत्ता की बडी भलाई का साक्षात्कार करना है का कुछ ख़याल नहीं इसके परिणाम में एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया है जो सर्वतो भावेन आर्य-आदर्शों को पुनर्जीवित करनेवाला और उन्नत करनेवाला नहीं है, परंतु जो प्राकृतिक प्रवृत्तियों को उत्तेजना देनेवाला है, जैसाकि पश्चिम में हो रहा है और जो कि पश्चिम के लिए दुखदाई विपत्ति सिद्ध हो रहा है। योरप के बुद्धिमान पुरुष इससे पीछे हट रहे हैं तथा इससे छुटकारा पाने में प्रयत्नशील हैं। पश्चिम की कला के अंध अनुकरण के कारण हम पापी बन रहे हैं। भारतीय कलाकोविदों की एक श्रेणी का 'कला कला के लिए है' यह लक्ष्य बन रहा है, और जो देशी भाषा के समाचार पत्रों के कालमों को कलंकित कर रहे हैं, हमारे घर की दीवारों को अपवित्र कर रहे हैं। कुरूप और अश्लील चित्र केवल हमारे नवयुवकों के निम्न भावों को उत्तेजित करते हैं, और उनके जीवन को इस सीमा तक भ्रष्ट कर देते हैं कि जिससे छुटकारा पाने की भी आशा नहीं रहती। आर्य सभ्यता हमें स्त्री जाति को माता की दृष्टि से देखने का आदेश करती है। आर्य सभ्यता उन्हे नैतिक और आत्मिक शक्तियों (देवियों) की प्रतिमूर्त्ति बनाती है, तथा ब्रह्म को सौंदर्य, पवित्रता, शुद्धता, आनद का, वस्तुतः प्रत्येक वस्तु का, जिसको हम पूर्ण समझ सकते हैं आदिस्रोत बताया गया है, इसलिए जो हमारे मन की पवित्रता को नष्ट करता है, और हमको हमारे आदर्श से विमुख करता है, उससे विनाशक वस्तु के समान घृणा करनी चाहिए और भद्दी, अपवित्र वस्तुओ के समान उसको छोड देना चाहिए। निस्संदेह भाव-प्रदर्शन कला का तत्त्व और आत्मा है, परंतु मैं निःस्संकोच भाव से कह सकता हूँ कि यह भाव-प्रदर्शन हमारे मन के सर्वोच्च और श्रेष्ठतम भावों को आकर्षित नहीं करता और हमे 'स्व' से ऊपर नहीं ले जाता। वह कलाकार उस ब्रुश को पकड़ने योग्य नहीं है जिससे ऐसे चित्रो को चित्रित करता है और उसके चित्रो से विष के समान बचना चाहिए। मन की अपवित्रता और पाप से परिचित होने पर हम अनजाने पापी बन जाते हैं, और हमारे मनुष्यत्व और चरित्र के आधार की भी जड खुद जाती है। मैं हिंदी साहित्य और कला से अच्छी तरह परिचित नहीं हूँ कि इसकी प्रगति की आलोचना कर सकूँ परतु मैं बंगला आधुनिक साहित्य और बंग कला का बहुत कुछ ज्ञान रखता हूँ उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि यह प्राचीन उच्च आदर्शों से हमको विमुख कर रहा है, और पश्चिम के आदर्श पर नवीन नैतिक और सामाजिक आदर्शों को प्रविष्ट करा रहा है, जो हमारे घरेलू जीवन की सुविधाओं की कल्पना, सामाजिक पवित्रता, और नैतिक जीवन के अनुकूल नहीं बैठता है। मैं स्वीकार करता हूँ कि पूर्व और पश्चिम के दृढ संबंध ने हमारे जीवन के बाह्य रूप में कुछ परिवर्तन

कर दिए हैं, परंतु हमें पश्चिम के सब आदर्शों का, बिना पारिवारिक और सामाजिक अवस्थाओं के अनुकूल बनाए और अपने जीवन का अंग बनाए बिना, आँख मूँदकर अनुकरण करने से बचना चाहिए। ग्रंथकार और कलाकारों पर अध्यापन का पर्याप्त उत्तरदायित्व है, परंतु जब वे किसी नवीन आदर्श को प्रविष्ट करते हैं तो उन्हें इस बात का विचार नहीं रहता कि क्या वह आदर्श वैयक्तिक एवं जातीय रूप से नैतिकतया आत्मिक उन्नति तक हमें पहुँचा सकेगा या नहीं।

मुझे बडा खेद है कि मौलिक विचारशीलता और अन्वेषण के क्षेत्र में भी भारतीय मस्तिष्कों ने संतोषजनक परिणाम उत्पन्न नहीं किए हैं—और ये अब तक भी प्रेरणा-प्रतिष्ठा एव स्थिरता के लिए पश्चिम की ओर बडी कातर दृष्टि से देख रहे हैं। निःसंदेह इस सामान्य अधकार मे भी हमारे बीच में जगदीशचंद्र बोस, प्रफुल्लचंद्र राय, रामन, राधाकृष्णन्, या रवींद्रनाथ जैसे व्यक्ति विद्यमान हैं जो सितारे की तरह चमक रहे हैं और अपने प्रकाश से दुनिया की आँखो को चुँधिया रहे हैं, परतु इन अपवादस्वरूप असाधारण व्यक्तियो के कारण हमारा अधकार और भी अधिक गूढ हो जाता है, परतु एक ओर जहाँ हम पाश्चात्य विद्वानो के ऋणी बनना स्वीकार करते हैं वहाँ हमें उनके द्वारा प्रसिद्ध की गई हमारे प्राचीन इतिहास और साहित्य विषयक सचाइयों को विशेष अनुसधान और गूढ समालोचना के बिना कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। हमें अपने, समुचित मानसिक शस्त्रो से सज्जित होकर अपनी प्राचीन सभ्यता की गहराई को जानने का प्रयत्न करना चाहिए, और विदेशी विद्वानो को भ्रम में डालनेवाली बातो के विषय मे अपने निजू परिणाम निकालने के लिए तत्पर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमें अपने मन को उनके प्रभाव से इस प्रकार आच्छादित नहीं कर लेना चाहिए कि हम नवीन गवेषणाओ और साक्षियों द्वारा बनाए गए सत्य विश्वासो को प्रगट न कर सकें। यदि हम अपने प्राचीन यश को प्राप्त करना चाहते हैं और अपने-आपको एक जीवित-जागृत, और उन्नतिशील जाति प्रसिद्ध करना चाहते हैं तो आर्यों के प्राचीनतम साहित्य वेदों के पठन-पाठन का गभीर और सघठित प्रयत्न करना चाहिए और पाश्चात्य सभ्यता की अच्छाइयों को ग्रहण करने के साथ-साथ वैदिक संस्कृति की विशेषताओ को अपने जीवन का अंग बना लेना चाहिए।

भूत में आर्य लोगों को एक जीती-जागती और बडी जाति बनानेवाली प्राचीन संस्कृति का वर्णन करनेवाले वेदों ने ही मेरा ध्यान खींचा है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि यदि हम पुनः इस संस्कृति के आदिम स्रोत की ओर जाएँ और वर्तमान अवस्थाओं के अनुसार अपने आदर्शों को बनाकर अपनी जाति को पुनर्जीवित करने के लिए अपने वर्तमान जीवनों में उस स्रोत से जीवन-शक्ति ग्रहण करें, तो हम भारतवर्ष के लिए एक ऐसी सभ्यता को जन्म देने में सफल होगे जो सच्चे अर्थों में जातीय होगी और हमें शीघ्र ही संसार की जातियों का शिरोमणि बना देगी। यदि हम प्राचीन सभ्यता का गंभीर अध्ययन करें तो पता लगेगा कि हम

उसके आदर्शों से बहुत दूर चले गए हैं, इस अधोगति का उत्तरदायित्व भी हमीं पर है। विदेशियों ने हमे दास बना दिया है यह समझना सरासर भूल है। हमने अपने-आप ही अपने हाथो और पैरो मे ऐसी बेड़ियाँ डाल दी हैं जिसने हमें सदा के लिए लूला तथा लँगडा बना दिया है, जब तक इन बेडियो को काटकर फेंक नहीं दिया जाता तब तक हमारा नाम स्वतंत्र जातियों में नहीं लिखा जा सकता और हम खोये हुए यश और कीर्ति को नहीं प्राप्त कर सकते।

मेरी सम्मति में वेदों के कुछेक आवश्यक सदेश ऐसे हैं जिनके ऊपर विचार करने से और जिनको समझने से हमारा बहुत लाभ हो सकता है। सबसे **पहला महत्त्वपूर्ण संदेश** यह है कि आर्य सभ्यता का प्रारभ पजाब से हुआ है और ज्ञात सब सभ्यताओं से यह प्राचीनतम है। पजाब की प्राचीन पवित्रभूमि में ही आर्य जाति ने अपना बचपन बिताया है जहाँ हमारे पूर्वजो ने करोडो वर्षों तक एक ऐसी सभ्यता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो व्यवहार मे बड़ी उदार और व्यापक है, और सामूहिक रूप से मानव जाति के लिए सदा मगलमय है परंतु पाश्चात्य विद्वानो ने जिनके कि हम इतने अधिक ऋणी हैं, वैदिक सभ्यता का समय-लगभग 1500 या 2000 ई.पू. निश्चित किया है। ऋग्वेद के गंभीर अध्ययन से पता लग सकता है कि यह अनुमान सर्वथा अशुद्ध है। इस सर्व प्राचीन शास्त्र के अदर ऐसी अतरंग साक्षियाँ हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि जिस समय ऋषियो द्वारा वैदिक मत्र बनाए गए या प्रकाशित किए गए उस समय उत्तरीय भारत मे भूमि तथा जल का भिन्न-भिन्न विभाग था। ऋग्वेद के समय सरस्वती और शतद्रु ये दो नदियाँ ऐसे समुद्र की तरफ बढती थीं जो पजाब के दक्षिण मे था जहाँ कि आजकल राजपूताना है (ऋ; 7.95; 2.-3. 33,2)। इनमें से पहली नदी उस समय बहुत बड़ी थी जिसकी प्रशंसा के गीत बहुत से सूक्तो मे गाए गए हैं, पर अब यह छोटी-सी धारा मे परिवर्तित होकर राजपूताने की मरुभूमि में विलुप्त हो जाती है। शतद्रु भी सीधी समुद्र मे मिल जाने के बदले आजकल सिंधु नदी की सहायिका बन गई है। इन बातों से स्वभावतः यह अनुमान होता है कि ऋग्वैदिक काल के पश्चात् जिस समुद्र मे ये नदियाँ सीधी मिलती थीं वह भूकंप इत्यादि बाधाओ के द्वारा पलट गया और इस प्रकार नदियों के बहाव का पहला मार्ग बद हो गया। सरस्वती नदी पहले राजपूताना के समुद्र के रूप के बदल जाने के कारण नवीन बने हुए रेतीले किनारों के साथ-साथ घूमती हुई अरबसागर में मिल गई है। शतद्रु ने भी पश्चिम की ओर अपना रास्ता बना लिया और सिंधु में जाकर मिल गई। ऋग्वेद में इस बात की भी साक्षियाँ मिलती हैं कि गंगा तट पर बसा आसाम तक का समस्त प्रदेश समुद्र से घिरा हुआ था, जिसका विस्तार ऋग्वैदिक समय में, हिमालय की तराई तक था, और गंगा जो पीछे से आर्यों की सबसे अधिक पवित्र नदी बन गई केवल एक छोटी-सी धारा के रूप मे थी और जो **पूर्व समुद्र** मे जाकर (जो वर्तमान हरिद्वार के समीप ही था) मिलती थी।

इसलिए इसका प्राचीन पजाब की बडी नदियो में नाम नहीं गिना गया, और ऋग्वेद मे केवल एक स्थल पर ही इसकी प्रशसा की गई है (ऋ० 10, 75)। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल के पजाब के वर्णन से पता लगता है कि पंजाब की दक्षिण और पूर्व की सीमाओ मे ऐसे समुद्रो का समावेश था जो दक्षिण प्रदेश को पजाब प्रदेश से सर्वथा अलग करते थे'। पजाब का जलवायु भी बहुत ठडा था क्योकि ऋग्वेद मे वर्ष का नाम 'जिम' या 'शरद' आया है। (ऋ 1.64 14, 2 1.33.2, 5 58,15, 6 10,7 आदि) अब भूगर्भशास्त्रवेत्ताओ ने पजाब के विविध भूमि तथा जल विभाग और शीतल जलवायु का समय 50 हजार और 25 हजार ई पू निश्चित किया है। यदि इस अनुमान को ठीक मान लिया जाए तो ऋग्वैदिक सभ्यता बहुत ही अधिक पुरानी होनी चाहिए, कम से कम उन सब सभ्यताओं से पुरानी जिनके विषय मे इतिहास थोडा बहुत परिचय देता है। भूगर्भशास्त्रवेत्ता इस बात मे सहमत हैं कि जिस समय राजपूताना मे समुद्र परिवर्तित हुआ और हिमालय की नदियो द्वारा लाई गई मिट्टी से **पूर्व समुद्र** के भर जाने के कारण गगा की नई भूमि निकल आई तब पजाब का जलवायु शीतल से गर्म हो गया, वर्षा कम हो गई, और हिमालय के निम्न प्रदेशो मे हिमपात बद हो गया। पजाब के समीपस्थ समुद्र के लुप्त हो जाने से और सरस्वती के स्रोत पर हिमपात के बद हो जाने से, वर्षा के कम हो जाने से यह नदी एक तुच्छ धारा मे बदल गई और अत मे राजपूताना की मरुभूमि मे लुप्त हो गई। ऋग्वेद की अतरग साक्षी द्वारा प्रमाणित किए गए ये तथ्य हैं जिससे हम अपने प्राचीन भारतीय इतिहास विषयक विचार बदलने को अनिवार्य तौर पर बाधित होते हैं। हमे इस बात को जातीय रूप से अनुभव करना चाहिए कि हमारे पूर्वज इसी भूमि पर स्मृति पथातीत काल से रहते थे और यहाँ पर ही उन्होने अपनी नवीन सभ्यता को ऐसे समय उन्नत किया, जब दुनिया की अन्य सध्य जातियाँ अपने शैशव मे ही थीं (जो अब मिट चुकी हैं) और निद्रा देवी की गोद मे सो रही थीं। इस भूमि का प्रत्येक रजकण हमारे यशस्वी पूर्वजो के चरणो से पवित्र है, और यह देश वास्तव मे उनकी मातृभूमि था और उनकी सभ्यता का जनक था। क्या आज कोई ऐसा आर्य हिंदू हो सकता है जो इस पवित्र माता के लिए देश-भक्ति के भावो को अनुभव न करे, और जो इसके प्राचीन यश को पुनर्जीवित करने के लिए अपना सर्वस्व अर्पित करने को उद्यत न हो ?

वेदो का **दूसरा महत्त्वपूर्ण संदेश** यह है कि हमारे प्राचीन पूर्वज एक सघठित जाति के रूप मे थे। उस समय वर्तमान समय की तरह असख्य जाति-भेद नहीं थे, नाहीं अतर्जातीय विवाह और भोजन के लिए प्रतिबध थे। ऋग्वेद के मत्र तीन बडे-बडे कालो मे बनाए गए थे, (13, 32, 13; 6, 21-5) और **दसवें मंडल** मे केवल एक ही **मंत्र** ऐसा है जो बहुत सभवत तीसरे या सबसे पिछले काल में बनाया गया है, और जिसमे चार वर्णों का स्पष्ट वर्णन है (ऋ. 10.90.12) विद्वान लोग

इस मंत्र को प्रक्षिप्त समझते हैं परंतु मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ। इस मंत्र का होना सिद्ध करता है कि आर्य जाति में ये चार वर्ण धीरे-धीरे लोगों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों (गुण) और पेशों के अनुसार अंकुरित हो रहे थे, परंतु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वर्णों के नियम आजकल की तरह कठोर थे और किसी भी श्रेणी या वर्ण के एक योग्य व्यक्ति को दूसरी श्रेणी या वर्ण में आने से रोकते थे। ये वर्ण चार श्रेणियों के समान थे और इनमें परस्पर भोजन और विवाह का कोई संबंध नहीं था। एक ऋषि का पुत्र वैद्य था और पुत्री चक्की पीसनेवाली थी। (ऋ. 9.112.3) और उन दिनो में एक दासी पुत्र ऋषि बन गया (ऐत. ब्राह्मण 2.8.1., कौशितकी ब्राह्मण 12.3) पिछला जिसका नाम कवष था उसका विश्वामित्र, भारद्वाज वशिष्ठ, वामदेव इत्यादियों ने अपने समकक्ष के समान ही नहीं अपितु अपने से बडे के समान स्वागत किया। ('नमस्ते ऽस्तुत्वंवैतः श्रेष्ठोऽसि')। वेद-व्यास का जन्म भी ब्राह्मणी माता से नहीं हुआ था, ऋषियों का विवाह राजकुमारियों से होता था, और राजा लोग ब्राह्मण-कन्याओं और ऋषि-कन्याओं का पाणिग्रहण करते थे। हम सब जानते हैं कि राजा ययाति ने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानि के साथ विवाह किया था और राजा शांतनु ने निष्कलक रहकर धीवर की कन्या (सत्यवती) से विवाह किया था। (ऐतिहासिक काव्य काल में) भागवत पुराण में आता है कि क्षत्रिय जाति 'धाष्ट्र' नाम से प्रसिद्ध थी, ब्राह्मण बन गई। (9. भागवत इला की कहानी) और गार्ग्य, तयोरुणि, कवि और पुष्करारुणि इत्यादि सब जन्म से क्षत्रिय होते हुए भी गुण-कर्म से ब्रह्मण हो गए (1 भागवत 9 पुरुष की कहानी)। इसी प्रकार भारद्वाज को ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रिय राजा भरत ने अपना पुत्र स्वीकार किया (भागवत)। नभाक् जो जन्म से क्षत्रिय होते हुए वैश्व बन गया। (**9. इला की कहानी**)। वैदिक समय में आर्य लोग केवल एक ही विश् नाम से प्रसिद्ध थे और चारों वर्णों की उत्पत्ति गुण और कर्म के अनुसार विश् से ही हुई है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे जाति बधन नहीं थे, यदि कोई श्रेणी थी भी तो एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी मे स्वतंत्रता के साथ निस्सकोच भाव से जा सकती थी। परस्पर भोजन के विषय में कोई भी प्रतिबध नहीं था। प्रायः शूद्र वर्ण के ही पाचक तैयार किए जाते थे और यह प्रथा ऐतिहासिक काव्य काल और उसके बाद तक भी प्रचलित रही।

यम संहिता (20) दास नापित–गोपाल–कुल मित्रार्द्ध मीरिणः।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्।।

व्यास संहिता और पराशर संहिता में भी क्रमशः 3 अ. और 9 अ. में इस प्रकार का पाठ है।

केवल अपवित्र धंधा करनेवाले और मलिन जीवन बितानेवालों से कुछ सीमा तक परहेज किया जाता था परंतु उनको **'अर्य'** नहीं समझा जाता था क्योंकि

महाभारत में ऐसे एक व्याध (धर्म्म व्याध) का वर्णन आता है जो पीछे से धर्मशिक्षक की पदवी पर पहुँच गया और जिसके पास पवित्र धर्मात्मा ब्राह्मण लोग धर्मोपदेश लेने के लिए आते थे। वैश्य तुलाधार ब्राह्मणों का भी आध्यात्मिक गुरु था। इस प्रकार हमें पता लगता है कि आधुनिक जातपाँत के घृणित प्रभाव तथा जातीय बडप्पन का भाव ऋग्वैदिक काल मे नहीं थे और आर्यों के विचार उदार थे तथा सजातीय लोगो के समान एकत्र रहते थे। यदि हम वेदों का पवित्र धर्मशास्त्रों के समान वास्तव में आदर करते हैं तो हमे उनके उपदेशों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और सकुचित पक्षपात के भावो को दिल में स्थान नहीं देना चाहिए। हिंदुओ को एक जीवित-जागृत एव उन्नतिशील जाति मे सघटित करने के साधनों को प्राप्त करने का एकमात्र साधन वेदों का अनुशीलन ही है।

वेदों का **तीसरा महत्त्वपूर्ण संदेश** यह है कि स्त्रियो को भी पुरुषो के समान ही अधिकारिणी समझा जाए। वैदिक काल में आर्य स्त्रियो की दशा उन्नत थी। बचपन मे ही उनका विवाह नहीं हो सकता था और पितृ-गृह मे ही रहकर उसको युवती होने की तथा योग्य पति वरण करने की आज्ञा थी। वह अपने घर की स्वामिनी होती थी, घरेलू नौकरो पर उसका पूर्ण शासन होता था, अग्नि तथा देवो की नित्य प्रति अपने पति के साथ आराधना करती थी तथा अपने पति, बालको और अन्य संबधियो द्वारा उसका पूर्ण सत्कार किया जाता था। स्त्रियाँ ऋषि हो सकती थीं। घोषा, लोपामुद्रा और विश्ववाय, ने वैदिक मत्र बनाए हैं, और विश्ववाय ने एक यज्ञ मे होता का कार्य भी किया है। शक्तिशाली तथा श्रेष्ठ स्त्रीत्व ने शक्तिशाली और श्रेष्ठ सतान उत्पन्न की है और प्राचीन आर्य जाति कोई कमजोर तथा कायर जाति नहीं थी। ऋषि लोग भी ऐसी सतानों के जन्म की प्रार्थना करते थे जो शूर हो, वीर हों, श्रेष्ठ मनवाली हों, वैदिक ज्ञान में प्रवीण हो, घोडे पर चढने के योग्य हों, तथा रणक्षेत्र मे शत्रुओ का मुकाबला करनेवाले हो (ऋ. 5,23.1-2, 6,21.1)। स्त्रियाँ अपने बालकों के मनों को घढती थीं, उन्हे वीर बनने के लिए प्रोत्साहित करती थीं और जनता द्वारा राजा के निर्वाचन के समय भी अपनी सम्मति को सच्चाई और निडरता से प्रकाशित करने के लिए प्रेरणा करती थीं। वैदिक काल मे स्त्रियो ने पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र को जिस प्रकार प्रभावित किया हुआ था उसका यथार्थ चित्र इस प्रकार है स्त्री जाति की अवनति के होते हुए हमारे लिए जातीयता के आदर्श तक पहुँचना असभव है और हमारा यह प्रथम कर्तव्य होना चाहिए कि हम स्त्रियों की प्राचीन स्थिति, उनके अधिकार और विद्या को पुनर्जीवित करें।

वेदो का **चौथा महत्त्वपूर्ण संदेश** यह है कि हमारे प्राचीन पूर्वजों मे जनतंत्र शासन-पद्धति की स्वाभाविक बुद्धि विद्यमान थी। वे श्रेणीतंत्र, धनियों और पुरोहितों के शासनाधिकार से मुक्त थे, उन्होंने अपने आप शासनविधान की रचना की थी, अपना राजा चुनते थे, राजा से या उसके प्रतिनिधि समितियो से बनी सरकारो

की सत्ता के निमित्त स्वेच्छा से करो को देते थे, यदि सरकार उचित रीति से अपने कर्तव्य का पालन नहीं करती थी तो राजा भी स्वेच्छाचारी अत्याचारी होने पर पदच्युत किया जा सकता था। हमारे वर्तमान अंग्रेज शासक हमारे कानो मे यह भरने से कोई भी अवसर नहीं चूकते कि जनतत्र शासन पद्धति के भाव प्राचीन भारतीय जनता में विद्यमान नहीं थे और ये वे हैं जिन्होने सबसे पहले भारतीय भूमि मे जनतंत्रशासन संस्थाओं के बीज को वपन किया है इसलिए इससे पहले कि अपने लिए पूर्णतया उन्नत और परिवर्द्धित जनतत्र शासन संस्थाओ को पाने के लिए विचार करे, हमारे नीचे दीर्घकाल के लिए शिष्यत्व स्वीकार करना चाहिए। मैं बिना हिचकिचाहट और झिझक के कह सकता हूँ कि वेद उपर्युक्त धारणा को निर्मूल और भ्रात सिद्ध करते हैं। कृपया मुझे अपनी पुष्टि मे वेद-वाक्यो के अनुवाद को प्रगट करने की अनुमति दीजिए। ऋग्वेद (10 124.8) का यह वाक्य 'विशोन राजानं वृणाना' हमारी आँखो के सामने आता है जिसका अर्थ है—"राजा के निर्वाचन को जनता या प्रजा पसद करती है।" एक और सूक्त (ऋ 10.173) है जो सूचित करता है कि राजा की राजसिहासन पर स्थिरता उसकी प्रज्ञा की शुभ सम्मति पर निर्भर है। प्रो विल्सन द्वारा ऋग्वेद के अनुवादित मंत्रो को अब आपके सन्मुख उपस्थित करता हूँ

"मैं (पुरोहित) तुझे प्रतिष्ठित कराता हूँ (राजा बनाता हूँ) हमारे बीच मे आ, स्थिर हो, अविचलित भाव से विराज, **सारी प्रजा तुझे** (राजा बनाने के लिए) **चाहे** तू कभी राज्यभ्रष्ट न हो।'

"यहाँ (राज्य में) आ, **तू कभी राज्य से च्युत न हो,** पर्वत के समान अविचलित और स्थिर हो, इद्र के समान यहाँ खडा हो, अपने राज्य को ससार मे स्थापित कर।"

"निरतर उपहारों से, सोम निरतर प्रबध करता है, **इसलिए इंद्र तेरी प्रजा के लोगों को (उन) करों का देनेवाला करे।"**

अथर्ववेद यद्यपि काल की दृष्टि से ऋग्वेद से बहुत पीछे का है तथापि निम्न मत्र (3.4,2 3) उसमे पाए जाते हैं

"सजातीय लोग तुझे राजा बनाने के लिए चुनते हैं। ये पाचो पवित्र प्रदेश तुझे वरण करे। पडोसी लोग आमत्रित करते हुए तुझे मिलने के लिए आवे। तेरे साथ अग्नि के समीप शक्तिशाली दूत के समान जाएँ।

स्त्रियों और उनकी संतानों को मैत्री भाव में रहने दें।

तू शक्तिशालियो मे बहुत-सी भेंटों को पाएगा।

अंतिम से पहिली पक्ति बताती है कि स्त्रियो की भी सम्मति गिनी जाती थी और सार्वजनिक मत को बदलने मे इनका मुख्य भाग था, अपने पुत्रो के द्वारा अपने मत को उपस्थित करती थीं, क्योकि राज्य की भलाई मे चतुरता और ज्ञान के साथ भाग लेती थीं।

क्योकि हमारे लिए यह अत्यत स्वाभाविक है कि हम जिन रिवाजो को अपने साथ लगाते हैं उन्हीं को देवताओ के साथ भी लगाते हैं--इसलिए हमें **ऐतरेय ब्राह्मण** (1.14) मे निम्नलिखित उद्धरण मिलता है--देवो ने कहा, "हमारा कोई राजा न होने के कारण ही असुर लोग हमे पराजित कर देते हैं। आओं हम अपना राजा चुन ले।" इस बात से सब सहमत हो गए। **उन्होंने सोम को अपना राजा चुन लिया** और उसके आधिपत्य मे उन्होने दिग्विजय प्राप्त कर ली। इसी प्रकार **तैत्तिरीय ब्राह्मण** (1.5 9) मे भी ऐसा ही वर्णन आता है जिसका यहाँ उद्धरण देना मैं अनावश्यक समझता हूँ।

वाल्मीकि **रामायण** (2 2) मे दशरथ का राम को राज्याभिषेक देते समय प्रजा की अनुमति प्राप्त करने के लिए सर्वप्रिय राजसभा बुलाने का वर्णन पाया जाता है। **महाभारत** मे भी (शातिपर्व, अध्याय 67) लोगो ने मनु को अपना राजा चुना, राज्य-रक्षा तथा सुशासन के बदले मे स्वेच्छापूर्वक अपने-आपको उसके आधीन करके राज्यकोष के लिए स्वयमेव कर या अपनी उपज का कुछ भाग देने का वचन दिया। चुनाव करने का यह सिद्धात बौद्धकाल तक भी शाक्य जाति मे प्रचलित था—कि पचो मे परमेश्वर (आवाज खलक नक्कारा खुदा) समझा जाता था।

उल्लिखित उद्धरणो से प्रतीत होता है कि भारतीय आर्यों मे जनतत्र, शासन-पद्धति के भाव स्वभावत ही थे और केवल विरुद्ध परिस्थितियो के कारण ही यह प्रथा कुछ काल के लिए नष्ट हो गई थी। यदि हम वेदो और अपने प्राचीन साहित्य और इतिहास का अध्ययन करे तो हमे इस मुर्दा जाति मे नवीन जीवन तथा शक्ति-सचार करने की प्रेरणा प्राप्त हो सकती है।

वेदो का **पाँचवाँ महत्त्वपूर्ण संदेश** यह है कि जिस प्रकार हमारे प्राचीन पूर्वजो ने मानव जाति का तथा बौद्ध भिक्षुओ ने भारत से दूर जाकर आर्य सस्कृति और आर्य सभ्यता का प्रचार किया था उसी प्रकार हम भी महत्तर भारतवर्ष का निर्माण कर सकते हैं और आर्य सभ्यता का सारे भूमडल मे विस्तार कर सकते हैं। जिन वाणिज्यो तथा आर्य व्यापारियो का ऋग्वेद मे वर्णन आता है वे तात्कालिक ज्ञात प्रदेशो मे अपने व्यापारिक जहाजो पर भमण करते थे और दक्षिण, मैसोपोटामिया, फिनिशिया और ईजिप्ट इत्यादि देशो मे आर्य सभ्यता का प्रचार करते हुए दूर दूर देशो से अपने देश मे धन लाकर इसकी समृद्धि को बढाते थे। प्रोफेसर नेल्सन ने दूरस्थित नार्वे के किनारो पर एक ऐसी प्राचीन सभ्यता के निशान पाए हैं कि जिसको ले जानेवाले हिदू व्यापारियो से मिलते-जुलते व्यापारी थे। (प्रिहिस्टोरिक टाइम्स 67-71) यह भी अनुमान किया गया है कि आर्य व्यापारियो ने चीन, जापान और बहुत सभवत अमेरिका मे भी घूमकर नए उपनिवेश बसाए और भिन्न-भिन्न लोगो में आर्य सस्कृति और सभ्यता का प्रचार किया। देश-विदेश मे घूमकर प्रचार करने के भाव युद्ध काल के उस समय तक भी प्रचलित रहे जब कि हमारे पूर्वजों

ने जावा, सुमात्रा, केन्दोडिया, चंपा और मध्य एशिया के उन भागों में जहाँ कि अब तक भी प्राचीन सभ्यता के अवशेष उपलब्ध होते हैं नवीन उपनिवेश बसाए और सुंदर महल एव मंदिर बनाए परंतु भारतवासियों के ये औद्योगिक भाव अनुदार एव सकीर्ण नियमों के द्वारा कुचल दिए गए। ये नियम आर्य लोगों का बाह्य ससार के स्पर्श से बचाव करके उनकी पवित्रता की संरक्षा के लिए और विशेषत भारतवर्ष में निवास करनेवाली उन अनार्य जातियो के संबध से आर्य लोगों को पृथक् करने के लिए बनाए गए थे जिन्हें सर्वथा अपवित्र एवं अस्पृश्य समझा जाता था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भारतवासी लोग असंख्य जाति, श्रेणी तथा संप्रदायों में विभक्त हो गए, प्रत्येक एक-दूसरे से स्वतंत्र हो गया और उनमें किसी प्रकार का आंतरिक संबंध भी न रहा। विभाग एवं पार्थक्य के भाव मुख्य आर्यजातियों में भी उत्पन्न हो गए और यही कारण है कि आज तक भी हम देखते हैं कि प्रत्येक जाति अनेक उपजातियों मे विभक्त है, और प्रत्येक एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् है, यहाँ तक कि वे पारस्परिक भोजन तथा विवाह इत्यादि भी नहीं करते। **यह भेद-भाव नए-नए सामाजिक एवं धार्मिक बंधनों के कारण और भी अधिक दृढ़ हो गया** जिन्होंने हमारी जातीय प्रगति को रोक दिया और हमें एक दास जाति बना दिया। इन कारणों ने विदेशी शासन के लिए मार्ग खोल दिया और आज हमारे सामने एक महान शक्तिशाली जाति का सामाजिक, नैतिक, आत्मिक और राजनैतिक अवनति के अधकार मे निस्सहाय होकर ठोकरे खाने का करुणाजनक दृश्य उपस्थित किया है। जब तक इन बधनो को तोडा नहीं जाएगा तब तक हमारे लिए एक स्वतत्र और संघठित जाति के रूप में आना सर्वथा असंमव है। इन बधनों ने हमारे जीवनों को कुचल दिया है और हमें दास बना दिया है।

वेदो का **छठा महत्त्वपूर्ण संदेश** यह है कि वसुधा (भूमि) को धन, संपत्ति, समृद्धि और रक्षा का स्रोत समझना चाहिए और आधुनिक वैज्ञानिक विधियों को अपनाकर कृषि की उन्नति करनी चाहिए और वस्त्रों के साथ-साथ जीवन की अन्य आवश्यकताओ को पूरा करना चाहिए। वैदिक आर्य मुख्यतया कृषक होते थे, प्राणियों की रक्षा करते थे, और यही उनकी सपत्ति समझी जाती थी और अपनी उपयोगी वस्तुओं को स्वयमेव बना लिया करते थे। आजकल हमें अपने तथा अपने बालकों के लिए दैनिक जीवन निर्वाह करने के लिए पर्याप्त दूध तथा धान्य भी कठिनाई से मिलता है। सिद्धांत के तौर पर हम अपने-आपको गौमाता (गामि माता गामि देवता) का पुजारी कहते हैं पर व्यवहार मे इस आधुनिक सभ्य ससार मे उसके निकट सबसे बड़े पापी हम हैं। कृषि, पशुपालन व्यवसाय हमारे पूर्वजों के मुख्य पेशे थे परतु मृत भावों से प्रभावित होकर हमने इन सबको अशिक्षित समाज के हाथों में सौंप दिया, और इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपने पैरों पर आप ही कुठाराघात किया, और अब जाति आहार के अभाव में

आधा पेट खा रही है और कपड़ों के बिना रह रही है, तथा दशा यहाँ तक शोचनीय हो गई है कि जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उसे दूसरी जातियों का मुहताज होना पड़ रहा है। हमें अपने मुर्दाभावों और भ्रमों पर विजय प्राप्त करके तथा जातीय भेदभावों को भुलाकर हल चलाने को प्रस्तुत हो जाना चाहिए और दुग्धदा गौओं की वंश-वृद्धि करनी चाहिए। हमारे पूर्वजों के गौमाता के प्रति वेदों के अंदर प्रगट किए हुए करुणापूर्ण एव कोमल भावों की ओर ध्यान दीजिए। (ऋ 6,28)। यदि हम बिना किसी बाह्य सहायता के अपना पोषण करना चाहते हैं और स्वतत्र जाति के तौर पर जीवित रहना चाहते हैं तो हमें वेदों के इस आवश्यक सदेश को अपने हृदय-पट पर लिख लेना चाहिए।

वेदों का **सातवाँ महत्त्वपूर्ण संदेश** यह है कि ब्रह्म को अपनी अंतरात्मा के अदर अनुभव करना चाहिए तथा अपने 'स्व' का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ब्रह्म के द्वारा मानव जाति की एकता संभव है और इस एकता से हम ऐसे बंधनों से छुटकारा पा सकते हैं जो हमारी आत्मिक उन्नति के बाधक हैं और हमें मानवीयता के उच्च आदर्श से नीचे गिरानेवाले हैं। हमें परमेश्वर को प्रत्येक वस्तु में और परमेश्वर में प्रत्येक वस्तु को अनुभव करना सीखना चाहिए। हमारा ईश्वर-प्रेम ब्रह्माड के समान विशाल होना चाहिए। इसकी महान विशालता में जाति और धर्म-भेद को तिलांजलि देकर न केवल मानव जाति का ही प्रत्युत प्राणीमात्र का समावेश होना चाहिए। हमारा मन और आत्मा प्रत्येक जीवित प्राणी के लिए उस ही शुभ इच्छा और दया से पूर्ण होना चाहिए जिसका उपदेश बुद्ध भगवान् ने मानव जाति को दिया और जिसको उन्नत तथा अनुभव करने के लिए हमारे ऋषि और सन्यासीगण अपना सर्वस्व अर्पण करते रहे हैं और कर रहे हैं। वेदों का सर्वोत्कृष्ट संदेश यही है। ससार इसका स्वागत करने के लिए उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा है परंतु यह संदेश हमें ही पहुँचाना होगा और इसको पहुँचाकर एक ऐसी मानव जाति में सुख और शांति का संचार करना होगा जो अपनी स्वार्थसिद्धि में तन्मय होकर जगली पशुओं के समान एक-दूसरे का गला काटने को उद्यत है, भर्त्सना और अत्याचारों से एक-दूसरे को नेस्तनाबूद कर रही है। यदि हम यशस्वी पूर्वजों की भाँति दुनिया के शिक्षकों मे एक बार फिर अपना नाम लिखाना चाहते हैं तो हमें ब्रह्मचर्य के दीर्घ और कठोर नियत्रण मे से गुजरना होगा और आत्मिक पवित्रता द्वारा महान आध्यात्मिक सचाइयों को अनुभव करने के अनन्तर संसार का मंगल करने के लिए अपने जीवनों तक की आहुति देने के लिए उद्यत होना चाहिए। क्या हम इस महान और श्रेष्ठ कार्य की पूर्ति के लिए तैयारी कर रहे हैं ? मैं यह नहीं समझता परंतु मैं समझता हूँ कि आपका गुरुकुल, ईश्वर और मानव जाति के सेवकों को उत्पन्न करने का उपयुक्त श्रेष्ठ शिक्षणालय है, और मैं चाहता हूँ कि भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में इस प्रकार की अनेक संस्थाएँ स्थापित हों। मुझे आशा है कि आपकी संस्था अपने महान

उद्देश्य को सदा सन्मुख रखेगी और जिस उच्च आदर्श को इसने अपनाया है उससे कभी विचलित न होगी। यदि आप अपने श्रेष्ठ प्रयत्न में एक बार निष्फल भी हो जाएँ तो भी निराश मत होइए, परंतु सदा अपनी उद्देश्य-पूर्ति के समय तक आपत्तियों को पार करते हुए चलते जाइए, कवि के शब्दों में मैं कहता हूँ—

"If what shone afar so grand,
Turn to nothing in thy hand,
On again; the virtue lies,
In the struggle, not the prize."

"सामने चमकता हुआ शानदार दीपक यदि तुम्हारी आँखों से ओझल हो जाए तो भी आगे ही बढते जाओ! क्योंकि योग्यता संघर्षण में है, पारितोषक में नहीं।"

मैं वेदों के अध्ययन के विषय में एक-दो शब्द कहे बिना इस विस्तृत भाषण को समाप्त करना उचित नहीं समझता। कोई भी मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान के भंडार वेदों से वैयक्तिक एवं जातीय रूप से नवजीवन लेने के लिए आपके मनो को प्रेरित नहीं कर सकता। परंपरा से हम वेदों को नित्य समझते आए हैं क्योंकि उनमें त्रैकालिक नित्य सच्चाइयाँ हैं और जो सच्चाइयाँ सीधे आत्मिक अनुभव से आत्मा में प्रकाशित हुई हैं और हम वेदों से जीवन की उस महान समस्या को हल करने का प्रयत्न करते हैं जिसको हल करने में संसार के बडे-बडे दिमाग चकरा गए हैं और निष्फल हुए हैं। हमें इन महान सच्चाइयों को **ब्रह्मचर्य** और **योग** के द्वारा अनुभव करना चाहिए और पवित्र शास्त्रों के उथले ज्ञान से ही संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों ने उनके किनारों को छूकर ही अपनी बुद्धि के अनुसार उनकी व्याख्या की है, जिस प्रकार ब्रह्म भौतिक जगत मे अपनी रचनाएँ प्रगट करके उनके पीछे छिपा रहता है उसी प्रकार वेदों की नित्य सच्चाइयाँ भौतिक संसार द्वारा लिए गए विचारों के पीछे छिपी रहती हैं और ये अपूर्ण विचार उन सच्चाइयों को हमारे सामने अपने यथार्थ रूप में प्रगट होने नहीं देते। भिन्न-भिन्न कालों में वेदों के भिन्न-भिन्न भाष्यकार हुए जिनमें से **आध्यात्मिकों** ने ऋग्वेद के मंत्रों के साधारण शब्दों की अपनी दार्शनिक परिपाटी से आत्म-परक व्याख्या की है। भाष्यकारों की दूसरी शाखा **ऐतिहासिकों** की थी जिनका विश्वास था कि बहुत से देवता ऐतिहासिक व्यक्ति थे और जो अपने दिव्य गुणों और कर्मों के कारण दैवीय प्रसिद्ध हुए। बहुत-से धर्मशास्त्रज्ञ देवताओं को कर्म-देवताओं मे विभक्त करते हैं या ऐसे देवताओं में विभक्त करते हैं जो अपने दिव्य कर्मों के कारण दैवीय श्रेणी में आ गए। और अजन देवता या वे देवता जो जन्म से ही दैवीय माने जानेवाले देवता अर्थात् अजन देवता की श्रेणी में आ गए परंतु **निरुक्तकार** का मत है कि वैदिक देवता कुछ लौकिक और भौतिक घटनाओ को दर्शाते हैं, जैसे उषा का उदित होना और बादलों का बिजली द्वारा फटना। अन्य मतों ने योग और ज्योतिष की दृष्टि से भी वेदों की व्याख्या की है। यास्क और

सायण ने लौकिक दृष्टि से मंत्रों की व्याख्या की है। इंद्र बिजली और वर्षा का देवता है। वृत्र सूर्य को आच्छादन करनेवाला बादल है और इसके गर्भ में उषा और वर्षा निवास करते हैं। सूर्य, उषा और अश्विनी ऐसे प्रकाशमान् पिंड हैं जो रात्रि के अंत में पूर्व दिशा में प्रगट होते हैं और प्राकृतिक जगत् को प्रकाशित करते हैं परंतु इंद्र का मुख्य देवता के तौर पर भी वर्णन आता है जिसको हजारों सूर्य भी आच्छादित नहीं कर सकते (ऋ. 8.7.5)। इसी प्रकार सोम को भी केवल एक पौदे के रस के तौर पर नहीं कहा गया है "जिसने पान कर लिया है वह समझता है कि जिस बूटी को मनुष्य पीसते हैं वही सोम है, परंतु ब्राह्मण जिसको सोम समझते हैं उसे कोई सोम नहीं समझता।" (ऋ. 10.25.3.) इसके आगे सोम को सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, उसकी किरणें सारे क्षेत्र को व्याप्त करनेवाली और सारे संसार का उसको स्वामी कहा गया है (ऋ. 86.3.5) इन सब वर्णनों से विश्वास होता है कि मंत्रो का ऐसा गूढ़ अर्थ भी है जिनको प्रसिद्ध गुरुलोग ही जान सकते हैं और जिनका आत्मा में अनुभव योग तथा ब्रह्मचर्य से ही हो सकता है। सबसे अंतिम वेदों का भाष्य करनेवाली शाखा आर्यसमाज के प्रवर्तक श्री स्वामी दयानंदजी ने स्थापित की थी जिन्होंने अपने महान गुरु विरजानंदजी की शिक्षा से प्रेरित होकर मौलिक रूप से मंत्रों की व्याख्या की और बताया कि प्रत्येक मंत्र एकमात्र ब्रह्म की महिमा को प्रकाशित करता है और देवों का विचार हमारी कल्पना की उत्पत्ति मात्र है। सभ्यो ! मैं मानता हूँ कि स्वामीजी के भाष्य पर सम्मति प्रकट करने मे मैं सर्वथा अयोग्य हूँ पर मैं कह सकता हूँ कि यह विचार बड़ा प्रभावोत्पादक और मौलिक है और वैदिक विद्वानों से पक्षपातशून्य होकर इसके पढ़ने के लिए आग्रह करता हूँ। जहाँ एक तरफ मैं कट्टर भाष्यकारों की सम्मति का विरोध नहीं करना चाहता वहाँ मैं मानता हूँ कि वैदिक ऋषि ब्रह्मांड में ब्रह्म की भिन्न-भिन्न रचनाओ को उससे ही प्रादुर्भूत मानते थे और वह भिन्न-भिन्न रचनाओ के होते हुए भी एक है। *एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वान माहु :* (ऋ. 1, 114 46) *एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्* (ऋ. 8.58.2) देवों की ब्रह्म से कोई स्वतंत्र पृथक् सत्ता नहीं हो सकती और प्रत्येक कार्यों के स्वभाव के भेद से पहचाना जाता है। उस महान ब्रह्म के अनेक रूपों मे ही देवों को मानना युक्तियुक्त है जो सर्वव्यापक है और जिसके बिना किसी का अस्तित्व नहीं रह सकता। यदि इस दृष्टि से कट्टर भाष्यकारों को देखा जाए तो हमें पता लग सकता है कि वे सब एकमात्र ब्रह्म की महिमा को बहुत अधिक बढ़ा देते हैं और एकमत से विभिन्नता मे एकता की घोषणा करते हैं।

सज्जनो। मैं मानता हूँ कि हमारा अभी तक का वेदों का अध्ययन सर्वथा उथला है और हम अपने-आप केवल फल का छिलका चबाकर ही फल खाने का संतोष कर लेते हैं यद्यपि उनका गूदा या गिरी हमसे बहुत परे होती है और हम अपने को बहुत बड़ा वैदिक विद्वान् समझने लग जाते हैं। मंत्रों में आए अलंकार

और उपमा आदि से वैदिक कवियो की उनकी पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति की पर्याप्त रूप से एक स्पष्ट झाँकी मिलती है परतु यह अध्ययन सर्वथा गौण है। और इसका वेद के वास्तविक अर्थों से बहुत थोडा सबध है यदि हम इसको प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें गुरुओं के चरणो मे ब्रह्मचारी बनकर करबद्धाजलि होकर उपस्थित होना चाहिए और धैर्य तथा परिश्रम से पवित्र शास्त्रो का अध्ययन करना चाहिए। मंत्रो के अंतर्गत महान सच्चाइयो का अस्थिर अध्ययन से ज्ञान कभी नहीं हो सकता। वर्तमान विविध भाष्यो का होना यह प्रमाणित करता है कि वेद ब्रह्मांड के समान विस्तृत और व्यापक हैं तथा ब्रह्माड के रचयिता के समान अलक्ष्य एव रहस्यमय तथा गूढ हैं और वेदो का जानना स्वयं ब्रह्म का साक्षात्कार करना है।

इस विद्वन्मडली का सभापतित्व स्वीकार करना एकमात्र धृष्टता होगी परतु मैं यहाँ पर वैदिक व्याख्याता की अपेक्षा एक तुच्छ विद्यार्थी के समान उपस्थित हुआ हूँ। मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार वेदो के किनारे मात्र को स्पर्श करने का और उनके कुछ एक महान सदेशो को आपके सामने उपस्थित करने का दुस्साहस किया है। अत में, आपने जिस धैर्य के साथ मेरे भाषण को सुना है उसके लिए धन्यवाद देता हुआ अपनी अपूर्णताओ तथा भूलो के लिए क्षमा चाहता हुआ, अपने इस भाषण को समाप्त करता हूँ।

[सन् 1927]

गुरुकुल : मेरी दृष्टि में

आचार्य श्री विनोबा भावे

मुझे हमेशा विद्यार्थियों के बीच में बोलने में आनंद ही होता है। लाहौर में जिस प्रकार संकोच होता था ऐसा कुछ भी सकोच यहाँ मुझे नहीं होता है। उसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है कि विद्यार्थी बाल्यावस्था मे होने से पवित्र और पावन होते हैं और जिनका जीवन हमेशा बालक के समान याने संयमी भी रहता है उनके लिए संस्कृत मे शब्द है 'सनत्कुमार' याने हमेशा के लिए कुमार। यह भाग्य सबको नहीं प्राप्त होता है। भगवान् की कृपा जिसके ऊपर हो जाती है उसको ही वह भाग्य मिलता है। उस प्रकार की पावनता विद्यार्थियों में होने से मुझे उनके बीच मे आने में आनद होता है।

विद्यार्थी के माने हैं सच्ची विद्या को ढूँढनेवाला। हर एक चीज में वह ज्ञान देखेगा। अगर किसी चीज में उसे ज्ञान नहीं मिला तो उसको संतोष नहीं होगा। नारगी खाने मे तो अच्छी लगती है लेकिन शरीर पर इसका क्या असर पडता है, बुद्धि पर क्या असर पडता है यही वह देखेगा। और अगर कुछ ज्ञान न मिला तो उसे दुख होगा। मान लो कि वह बीमार पडा है—बीमार न पडने की वह कोशिश तो करता ही होगा, सावधानी भी रखता होगा फिर भी अगर बीमार हो गया है—तो बीमारी क्यो आई उसका कारण जब तक उसको नहीं मिलेगा तब तक उसको सतोष नहीं होगा। बीमारी के लिए उपचार तो करता ही रहेगा लेकिन बीमारी का कारण न मिले तब तक उसको स्वस्थता नहीं होगी। इसी तरह वह बीमारी अगर चली गई तो कैसे गई, इसका भी वह कारण ढूँढ़ेगा। क्योंकि उसको लगता है, बीमारी मुझे ज्ञान देने के लिए आई थी, इतना व्याख्यान देकर वह चली गई लेकिन मैं कुछ समझ नहीं सका। बीमारी आई और गई, उससे मेरे ज्ञान मे कुछ फर्क ही नहीं हुआ, तो वह व्यर्थ गई, उससे उसको दुख होगा, क्योंकि वह विद्यार्थी है। यह तो मैंने एक दृष्टात दिया। हर एक काम मे—खेलने मे, बोलने मे, खाने मे विद्यार्थी की दृष्टि ज्ञान की रहेगी। एक शिक्षक से मैंने पूछा—जो कि यहाँ तकली सिखाते हैं कि "आपकी तकली की गति क्या है ?" उन्होंने जवाब दिया, "गति मैंने देखी नहीं है।" यह मैं दोष-दृष्टि से नहीं लेकिन मेरे ही विषय में जैसा मैं बोलूँगा वैसा बोल रहा हूँ। मैं अगर आधा घंटा भी कातता

हूँ तो उसमें कितना काता गया उसका ज्ञान नहीं हुआ तो मुझे दुख होता है। मैं दूध पीता हूँ तो पहले पूछ लेता हूँ कि कितना है ? क्योंकि उसका असर शरीर के ऊपर क्या हुआ उसका अगर मुझे ज्ञान नहीं मिला तो पशु में और मेरे में फर्क क्या रहा ? जीवन के हर एक अंग में से विद्या मिलनी चाहिए। प्रतिबोध याने अमृतत्व। बीमारी में से मुझे प्रतिबोध नहीं मिला तो मैं मृत्यु मे पडा। उसमें से ज्ञान मिला है तो बीमारी हमको विद्या दे गई बस, वह माता हो गई। विद्यार्थी के लिए सृष्टि देवी माता है। उसमें विद्या भरी है। लेकिन दृष्टि चाहिए।

क्योकि मै इस बडी संस्था में आया हूँ, इसलिए हरएक बात सूक्ष्मता से देखता हूँ और किसी छोटी सस्था में चला जाऊँ तो वहाँ उतनी सूक्ष्मता से नहीं देखता हूँ तो मैं विद्यार्थी नहीं कहलाऊँगा। बोध दो तरह का होता है—अन्वय बोध और व्यतिरेक बोध। रोज दूध पीने से और व्यायाम करने से आरोग्य मिलता है, यह ज्ञान मुझे मिला तो यह अन्वय बोध हुवा—बीमारी आई, उसके क्या कारण थे ? उससे कैसे बचना चाहिए ? इसका ज्ञान मुझे मिला तो यह व्यतिरेक बोध हो गया। भगवान् हरएक रूप में ज्ञान देने के लिए खडा है। मृत्यु में भी ज्ञान है। *'अमृतं चैव मृत्युश्च'* यह भगवान् ने स्वयं कहा है, दोनों उसके रूप हैं। पाणिनि के बारे में कहते हैं कि वह एक दिन शिष्यों को पढा रहा था, इतने मे किसी शिष्य ने कहा, "व्याघ्र आ गया है।" पाणिनि तो व्याकरणकार रहा, उसके लिए शब्द ब्रह्म था, उसने तुरंत कह दिया कि, *'आ—जिघ्रति इति व्याघ्रः, विशेषेण जिघ्रति।'* बस, व्याघ्र शब्द मे से उसने ज्ञान मिलाया। वह तो ज्ञान में मग्न था। थोड़ी ही देर के बाद पाणिनि को वह व्याघ्र खा गया। फिर भी वह शांति से रहा था। उसको कुछ दुख नहीं हुआ। व्याकरण में उसको भगवान् के दर्शन होते थे। तभी तो उसको पाणिनि महर्षि कहते हैं। पिछले साल मैं जेठालाल भाई के यहाँ उनका काम देखने के लिए गया था। वहाँ रोज शौच के लिए जहाँ जाता था, उस जगह पर गढ़ा खोदकर बैठ जाता था और बाद में उसके ऊपर मिट्टी डालकर वह बंद कर देता था। बारह दिन वहाँ रहा और रोज नया गढ़ा बनाता था। आखिर के दिन एक-एक गढ़ा खोदकर देखा तो पहले गढे के मैले की मिट्टी हो गई थी। मुझे ज्ञान मिला कि इस मिट्टी में 15 दिन में मैले को मिट्टी करने का गुण है। दूसरे को इसका ज्ञान नहीं था। लेकिन मैं विद्यार्थी रहा। कल मेरा परिचय कराते समय कहा गया था कि मैं जब पुस्तकालय में जाता हूँ तब घंटों तक वहाँ बैठे रहता हूँ। अब किसी प्रोफेसर को यों लगेगा कि मेरा किताबों से बहुत प्रेम है। हाँ, मेरा किताबों से भी प्रेम है। मैं 'से' से डरता हूँ लेकिन 'भी' से नहीं डरता हूँ। मेरा किताबों से ही मेल है ऐसा नहीं है लेकिन किताबों से भी मेल है। वैसे भी कभी नदी पर चला जाता हूँ तो वहाँ भी घंटों तक बैठा रहता हूँ। दृष्टि हो तो हरएक चीज में विद्या मिल सकती है। मैं यहाँ छात्रालय देखने के लिए आया था तो एक कमरे के ऊपर लिखा था, 'इस मकान में चार हजार

रुपया लगा।' मुझे आश्चर्य हुआ कि यहाँ इतनी सुंदरता से अगर हिसाब रक्खा जाता हो तो यह एक सीखने की बात हो गई।

लेकिन मेरी दृष्टि में से वह बात छूट नहीं गई, मुझे विद्या प्राप्त करनी है। विद्या किताबों में ही नहीं मिलती है लेकिन किताबों में भी मिलती है। आँख विद्या कमानेवाली है। दुनिया में विद्या भरी पड़ी है।

यह शिक्षण-संस्था है तो यहाँ हरएक चीज अनुकरण करने लायक होनी चाहिए। भोजन कब और कैसा करना चाहिए तो जैसा गुरुकुल में किया जाता है वैसा, काम कैसे करना चाहिए, बैठना कैसे चाहिए, सोना कब चाहिए तो जैसे गुरुकुल में होता है वैसा; यों जवाब अगर मिलता है तो यह शिक्षण-संस्था है। यहाँ तरकारी वगैरह बनें उनका हिसाब हरएक विद्यार्थी को मालूम होना चाहिए। नहीं तो यहाँ सीखा क्या ? घर पर जाओगे तो लोग कहेंगे "ये आए वेदवाले, वेद सीखकर जड़ बन गए ?" भला वेदाध्ययन से कोई जड बन सकता है ? लेकिन वह मछली होती है न ? पानी में रहती है लेकिन उसको स्नान करने को नहीं मिलता है। क्योंकि उसको पुरुषसूक्त नहीं आता है। हमको भगवान् बिंदुरूपी सरल हाथों से स्पर्श करता है, पावन करता है यह भावना स्नान के वक्त होनी चाहिए। पुरुषसूक्त का यही अर्थ है। लेकिन मछली को पानी में रहते हुए भी ज्ञान नहीं है इसलिए उसको स्नान का लाभ नहीं मिलता है। वैसे ही हम वेदाध्ययन करते हैं लेकिन उसमें से हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मिला तो मछली में और हमारे में क्या फर्क रहा ? पशु भी बीमार पडते हैं, हम भी बीमार पड़ते हैं। लेकिन पशु को बीमारी क्यों आई और कैसे गई उसका ज्ञान नहीं होता है। वह ज्ञान हमको होना चाहिए तभी तो उसमें और हमारे में फर्क है।

मतलब यह कि वेदों का प्रचार करना है तो वैदिक जीवन की आवश्यकता है। कोई पूछेंगे, वैदिक जीवन कुछ अलग है क्या ? हम नाक से साँस लेते हैं, आँखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं तो वैदिक जीवन में इससे उलटा होता है क्या ? तो उसको कहना चाहिए कि वैदिक जीवन में भी आँखो से ही देखते हैं और कानों से ही सुनते हैं। लेकिन उसे देखने में और सुनने में फर्क होता है। यहाँ दुनिया में सब उलटा है। *'या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'*— दुनिया रात को बारह बजे तक नाटक, सिनमा देखती है और सूरज के उदय के साथ उठती है। गुरुकुल में तो 8½-9 बजे सो जाते हैं और सुबह चार बजे उठ जाते हैं, यह होना चाहिए। दुनिया तो खाने के लिए काम करेगी लेकिन गुरुकुल के विद्यार्थी ने खाया नहीं तो भी काम करेगा। खाने से छुट्टी ली है लेकिन काम से थोड़ी ली है ? विद्यार्थी को तो ज्ञान प्राप्त करना है। मैंने सुना था कि लखनऊ-कांग्रेस में रसोई का इंतजाम ठीक नहीं था, ऐसा क्यों ? गुरुकुल के 8-10 विद्यार्थी वहाँ जाते और कहते कि 'हमको कहो, हम सब व्यवस्था कर देते हैं' तो वहाँ मदद हो जाती और अव्यवस्था भी मिट जाती। यहाँ गणित सिखलाते

होंगे तो गणित में ऐसे ही उदाहरण देने चाहिए कि जिससे गणित का भी ज्ञान हो और प्रत्यक्ष व्यवहार का भी ज्ञान हो। भूगोल के विषय में भी वैसा ही है। गाँधी आश्रम में मैंने इस जिले की, तहसील के नक्शे माँगे तो कहीं अमरीका का निकला, कहीं योरूप का निकला लेकिन रुड़की तहसील का नक्शा नहीं मिला। मेरा कहने का मतलब यह है कि ज्ञान के जितने विषय हैं उन सब पर प्रकाश डालने के लिए श्रेणियो का उपयोग होना चाहिए। जीवन के प्रश्न यानी हमको क्रियात्मक भाग मिले हैं। उनके सिद्धांत हमको ढूँढने हैं। हरएक वस्तु का हिसाब और बयान श्रेणियों में मिलना चाहिए। किंतु प्रतिबिंब का दर्शन होना चाहिए। जीवन में क्रियात्मक भाग कर्म है। उसके ऊपर प्रकाश डालने के लिए विद्या है। विद्या से ज्ञान मिलता है लेकिन उसमें गरिमा मिलाने के लिए कर्म की आवश्यकता है।

विद्यार्थियों के जीवन में और शिक्षण-संख्या में शास्त्र की दृष्टि होनी चाहिए। एक ने मुझसे पूछा था कि "भोजन के समय *'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु'* यह मत्र क्यों बोला जाता है ? यह तो अध्ययन करते समय बोलने का मंत्र है और अगर कहीं खाने का कुछ संबंध आता है तो वह *'सह नौ भुनक्तु'* की जगह आता है। लेकिन उसका भी अक्षरार्थ तो ऐसा होता है कि 'हम दोनों साथ-साथ खावें।' इस मंत्र की यहाँ क्या आवश्यकता है ?" मैंने उसको उत्तर दिया—"विद्यार्थी खाता है तो वह परीक्षण है। कैमिस्ट्री में उद्रजन और आम्लजन मिलाकर पानी तैयार करते हैं तो वह नहाने के लिए नहीं किया जाता है। वह तो प्रयोग के लिए किया जाता है। वैसे हम यहाँ खाने को बैठते हैं तो आयु वृद्धि के लिए बैठते हैं। खाने से वीर्य पैदा होता है। हमारी विद्या निस्तेज, निर्वीर्य न हो। 'तेजस्विनावधीमस्तु' भोजन हमारी विद्या-प्राप्ति का साधन है। यह मंत्र भोजन के विषय मे ही लागू नहीं है। काम करने को जाएँगे तो वहाँ भी इस मत्र का उच्चारण करेंगे। मत्र में द्विवचन है उसमें भी विशेष अर्थ है। दुनिया में द्वंद्व है। जहाँ काम करनेवाले होते हैं वहाँ मजदूर होते हैं, उनमें झगडा न हो। पति-पत्नी में झगड़ा न हो, गुरु-शिष्य में झगड़ा न हो, विद्वेष न हो। इसलिए हरएक काम करते समय इस मंत्र को बोल सकते हैं।

मुझे आशा है मेरा कहने का मतलब समझ गए होंगे। एक प्रवचन मुझे और देना होगा और फिर समाप्त होगा। इससे अधिक अगर कहना पडे तो वह बोझ हो जाएगा।

[सन् 1936]

गुरुकुल : सच्ची राष्ट्रवादी संस्था

खान अब्दुल गफ्फार खाँ, 'सीमान्त गाँधी'

बहनो और भाइयो !

मैं बोलना बिलकुल नहीं जानता और न मैं बडे-बड़े पुरजोश लेक्चरों को पसंद ही करता हूँ क्योंकि मेरा विचार यह है कि आदमी या तो बोल सकता है या काम कर सकता है। केवल बोलनेवाले लोग देश को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकते। हमें आवश्यकता ऐसे तपस्वी लोगो की है जिन्होंने सेवा का ही व्रत ले रखा हो।

जब मैं वर्धा में आचार्य देवशर्माजी से बातचीत कर रहा था तो इन्होंने कहा, "खान साहब ! सरकार ने आपके पजाब मे घुसने पर पाबंदी लगा रखी है परंतु यदि आप गुरुकुल के उत्सव पर चलेगे तो आप अपने उपदेश को पंजाब की जनता को सुनाने में पूर्णतया सफल हो सकेंगे क्योंकि पजाब के प्रत्येक स्थान के प्रतिनिधि यहाँ इस अवसर पर इकट्ठे होते हैं।" अतः मैं आशा करता हूँ कि जो कुछ मैं आपसे निवेदन करता हूँ उसको आप घर जाकर लोगों को सुनाएँगे और अपने जीवन में भी इसे अपनाने का यत्न करेंगे। आपको जो कोई शंका हो उसका समाधान करने के लिए मैं सदा उद्यत हूँ।

आप सब जानते हैं कि मैं एक मजहबी आदमी हूँ। मैं अपने आपको खुदाई खिदमतगार कहता हूँ और मेरे जीवन का ध्येय ही खुदा की खिदमत करना है। जब मैं कहता हूँ कि खुदा की खिदमत करनी चाहिए तो कई लोगों को इससे कुछ भ्रम पैदा हो सकता है। खुदाई खिदमत यह नहीं है कि हम सदा-सर्वदा उसके नाम का वजीफा पढते रहें। खुदा की असली खिदमत तो उसके मखलूक की खिदमत है। हमारा कर्तव्य है कि संसार में जहाँ कहीं अत्याचार हो रहा है हम वहाँ पीडितों की रक्षा करने के लिए कमर कसकर पहुँच जाएँ। सेवा करते हुए क्षणभर के लिए भी हमारे मन में यह विचार नहीं आना चाहिए कि यह हिंदू, मुसलमान या ईसाई है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि सारे धर्म वास्तव में एक ही बात को कहते हैं। सब धर्मों में बुनियादी सच्चाई एक ही है केवल ऊपर का ढाँचा कुछ बदला हुआ है। स्वार्थी और दुष्ट मुल्लाओं और पंडितों ने धर्म को यह विकृत रूप दे दिया है। निर्मल आदमी उससे नाक-भौं सिकोड़ते हैं।

किसी भी धर्म ने अहिंसा का पक्ष न लिया हो यह बात असभव है। सब धर्म अहिंसा और सत्य का प्रचार करते हैं। सबकी आज्ञा है कि प्राणिमात्र से प्रेम करो। प्रेम सबसे बडा धर्म है। परंतु मुझे यह कहते हुए बड़ा दुख होता है कि हम लोगों ने प्रेम को तिलाजंलि दे रक्खी है, हमारे ह्रदय ईर्ष्या-द्वेष से भरे पडे हैं, हम खुद को भुला चुके हैं, उसकी याद हमारे मन में कभी भी नहीं आती। ऐसी हालत में हम कैसे अपनी भलाई की आशा कर सकते हैं। हमारी रोटी का प्रत्येक ग्रास खून से लतपत है। ऐसा भोजन हमारा कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं।

जीवनेभर में कभी एक क्षण के लिए भी हम प्रभु को याद नहीं करते। इसका परिणाम क्या है ? आप-हम गुलामी की जजीरों में बँधे हुए हैं, हमारे हाथो में हथकडी, पैरों में बेडी पडी हुई हैं। भाइयो ! क्या तुम्हारी दशा इतनी गिरी हुई है कि तुम इस गिरी हुई अवस्था में होते हुए भी नहीं लजाते। गुलामी ! 'गुलामी' यह कितना बुरा शब्द है पर तो भी हम जरा-जरा-सी बातों में पड़े हैं। हम ऐसे नशे में हैं कि हमें इस लज्जाजनक और शोचनीय अवस्था का पता भी नहीं लगने पाता है।

जवाहरलालजी कहा करते हैं कि "गुलामों का कोई मजहब नहीं हुआ करता।" वास्तव में क्या आप समझते हैं कि कोई मजहबी आदमी भी गुलाम रह सकता है। परमात्मा के सिवाय और किसी से बिलकुल मत डरो। आज भारत मे करोड़ों आदमी भूखे मर रहे हैं, इन सबका पाप तुम्हारे ऊपर पड़ेगा यदि तुम न चेते। यदि तुमने अपने-आपको सच्चा धार्मिक व्यक्ति न बनाया तो ससार में तुम्हारे लिए कोई स्थान न रहेगा।

ससार युद्ध के बादलों से घिरा हुआ है, सारा संसार इस समय व्याकुल हो रहा है और उसकी दशा प्रतिदिन बिगडती ही जाती है। ऐसी अवस्था में केवल अहिंसा और प्रेम का पाठ ही उसका उद्धार कर सकता है। लेकिन इस समय सबसे बढकर हमें आजाद होने की जरूरत है और आजाद होकर हम सबको प्रेम का पाठ पढ़ाएँगे। प्रेम ही सबका उद्धार कर सकता है। इसलिए भाइयो ! यदि एक शब्द में आपसे कुछ कहना हो तो मैं यही कहूँगा—प्रेम कीजिए, प्रेम। यही संसार के सबसे बडे आदमी बापूजी का सदेश है, यही मजहब का सदेश है और यही है जीवन नौका पार लगाने और इस संसार को स्वर्ग बनाने का मार्ग।

[सन् 1937]

मुक्ति का स्वरूप

श्री पं. आर्य्यमुनिजी

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव।।

मान्यवर सभापति तथा सभ्यों की सेवा में प्रार्थना है कि हमारा मुख्य प्रयोजन आर्यसिद्धांतों को पुष्ट करने का है, और आर्यसिद्धांत वह कहलाते हैं, जिनको आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि श्री स्वामी दयानंद सरस्वतीजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' में स्वमन्तव्यो के नाम से लिखा है, यद्यपि स्वमन्तव्य के नाम से उक्त सिद्धांतों का संबंध श्री स्वामीजी के साथ ही होना चाहिए था तथापि जब आ. स. श्री स्वामीजी महाराज को आ. स. का प्रवर्त्तक मानता है तो फिर आ. स. स्वामीजी के प्रकाशित सिद्धांतों को क्यों मानें, अपितु अवश्य मानना चाहिए, इसलिए उक्त मंतव्यों का संबंध प्रत्येक आर्य-सामाजिक के साथ है, इसी अभिप्राय से स्वामीजी महाराज ने यह लिखा है कि इन सिद्धांतों की विशेष व्याख्या मेरे बनाए 'सत्यार्थप्रकाशादि' ग्रंथों में है।

और आगे जाकर यह भी लिखा है कि यह सिद्धांत भूगोल में सर्वत्र शीघ्र प्रवृत्त हो जावें, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी उक्त सिद्धांतों को केवल निजमंतव्य ही नहीं मानते किंतु संपूर्ण आर्यों के लिए मुख्यसिद्धांत मानते हैं।

जो लोग आर्यसमाज के प्लेटफार्म पर इस अभिप्राय से आया करते हैं कि जो उनकी ऊहापोह से सिद्ध हो वही आर्यसिद्धांतों पर बल पा जाए, उनको अपने मन में विचारना चाहिए कि आर्यसमाजी कहाँ तक इस बात को मानने के लिए तैयार हैं, मेरे विचार में जिन सिद्धांतों की टक्कर आर्यमंतव्यों के साथ लगती है, उनको समाजी मानने के लिए कदापि तैयार नहीं।

कारण यह है कि एक तो आर्यमंतव्य ऐसे पक्के हैं कि तर्क द्वारा उनको कोई गिरा नहीं सकता और वेदप्रमाण द्वारा भी इनको कोई हिला नहीं सकता, दूसरी बात यह है कि जिस योग्यता के साथ श्री स्वामीजी महाराज ने उक्त मंतव्यों का आविर्भाव किया है, वह योग्यता अन्य मनुष्यो में नहीं पाई जाती, और तीसरी बात यह है कि वैदिक समय के पश्चात् नहीं कोई ऐसा अनुभवी पुरुष

उत्पन्न हुआ जो आद्योपांत वेदार्थ का अनुसंधान कर सके, इसलिए आवश्यक है कि आर्यसिद्धांतों को मुख्य रखकर मैं अपने लेख का उपक्रम करूँ।

सभ्यगण ! आपको स्मरण रहे कि मेरे लेख का विषय मुक्ति है, मुक्ति क्या पदार्थ है ? और [इसको अन्य मतवादी किस-किस प्रकार से मानते हैं !] मुक्ति नित्य है वा अनित्य ? कर्मजन्य है वा ज्ञानजन्य ? इत्यादि सब बातें मैं अपने लेख में निरूपण करूँगा, अब प्रथम यह दिखलाता हूँ कि मुक्ति का स्वरूप क्या है।

श्री स्वामी शकराचार्यजी के अनुयायी यह कहते हैं कि मुक्ति *अविद्यानिवृत्तिरूप है*, इस विषय में विकल्प यह है कि यदि वह निवृत्ति सद्‌रूप मानी जाए तो अद्वैत मत का खडन होता है, क्योकि उनके मत में एक ब्रह्म ही सद्रूप है और यदि सत् शब्द के अर्थ व्यावहारिक सत् के लिए जाएँ तो भी अद्वैतसिद्धात मे दोष आता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान के उत्तरकाल में इनके मत मैं व्यावहारिक सत् का बोध हो जाता है, यदि सत् के अर्थ तुच्छ के लें तो अविद्यानिवृत्ति के लिए पुरुषार्थ करना निष्फल होता है, यदि अविद्यानिवृत्ति को सत्-असत् दोनो पदार्थों से विलक्षण अनिर्वचनीय माने तो दोष यह है कि इस अनिर्वचनीय रूप *प्रपञ्चपङ्क के मिटाने के लिए* अविद्यानिवृत्ति मानी थी और वह पक कलंक ज्यो का त्यों बना रहा, क्योंकि अनिर्वचनीयरूप निवृत्ति मुक्ति अवस्था में भी बनी रही, इस अविद्यानिवृत्ति से इनकी निवृत्ति कदापि नहीं हो सकती।

यदि अविद्यानिवृत्ति को ध्वसस्वरूप मानकर अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि की जाए तो ध्वस सादिरनत मानना होगा और इनके मत मे सादिरनंत कोई भी पदार्थ नहीं, क्योकि जीवेश्वरादि पाँच अनादि सात और ब्रह्म अनादि अनंत है फिर ध्वंस सादिरनत कौन-सा पदार्थ है ? यदि व्यवहार सिद्धि के लिए ध्वंस को पृथक् पदार्थ भी माना जाए तो फिर ध्वस से ही द्वैत बना रहा, क्योकि ध्वंस अनत है, इस आशंका के परिहार के लिए इन्होंने ध्वस को भाव पदार्थ माना है और युक्ति यह दी है कि अभाव भी भाव है, क्योकि यास्काचार्य ने षड्भाव विकार माने हैं और वह यह हैं (1) जायते, (2) वर्द्धते, (3) अस्ति, (4) विपरिणमते, (5) अपक्षीयते, (6) नश्यति, इस प्रकार इन्होंने *अभाव को भाव माना है, यह इनका तर्क सर्वथा* तर्काभास है, क्योंकि यास्काचार्य का तात्पर्य अभाव को भाव सिद्ध करने में नहीं, कितु छः प्रकार के विकार कथन करने मे है और *'भावस्य विकारा भावविकारा'* इस अर्थ से प्रध्वस भाव पदार्थ सिद्ध नहीं होता अपितु भावप्रतियोगिक सिद्ध होता है अर्थात् जहाँ घट है वहाँ घट का प्रध्वंस नहीं, यदि इनकी तर्क को मुख्य रक्खा जाए तो दोनों एक ही काल मे रहने चाहिए पर जन्म के समय 'नश्यति' यह व्यवहार नहीं होता और 'नश्यति' के समय 'जायते' यह व्यवहार नहीं होता इससे सिद्ध है कि प्रध्वंस भाव रूप नहीं।

और जो 'विनष्टोघट:' इत्यादि प्रयोगों से अभाव में अतीतकालता सिद्ध करके

इन्होंने यह सिद्ध किया है कि प्रध्वसाऽभाव भी विनाशी है यह इनका साहस मात्र है, क्योंकि 'विनष्टोघट.' यहाँ घट की सत्ता को लेकर अतीतकाल का प्रयोग है प्रध्वसाऽभाव में अतीतकाल के अभिप्राय से नहीं।

और जो *'ध्वंसस्य नित्यत्वादात्मरूपत्वाच्च नाऽनित्यत्वप्रसंगः'* ध्वस के नित्य होने और अधिष्ठानरूप होने से मुक्ति में अनित्यत्व का दोष नहीं आता, इत्यादि लेख जो इन्होंने मुक्ति को नित्य सिद्ध करने के लिए लिखे है, वह भी *कदलीस्तंभवत् उपरित. ससारत्वेन विचाराराणीय* है। वह इस प्रकार की यदि अविद्यानिवृत्तिरूप ध्वस को नित्य मानकर मुक्ति को नित्य माना जाए तो ध्वस के नित्य होने से इनके मत मे द्वैत बना रहा, यदि ध्वस को अधिष्ठानरूप माना जाए तो सादिध्वंस अनादि अधिष्ठान का रूप कैसे हो सकता है ? यदि अधिष्ठान को ज्ञातरूपत्वेन सादि मानकर सादिरनंत ध्वस की अधिष्ठानरूपता सिद्ध करें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इनके मत मे ज्ञातत्वधर्म, मुक्तिकाल मे चेतन में नहीं रहता, इसलिए अधिष्ठान के साथ सादिरनन्तध्वंस का अभेद नहीं हो सकता।

और बात यह है कि कल्पित की अधिष्ठान के साथ एकता सिद्ध करने के लिए इनके पास सर्वोपरि युक्ति यह है कि *'कल्पितस्याधिष्ठानधर्मवत्वम-भेदान्नत्वधिष्ठानस्य कल्पितकार्य्यधर्म्मवत्त्वम्, तस्य कार्य्यात् पृथक् सत्त्वात्'*। कार्य से भिन्न अधिष्ठान सत् है इसलिए कल्पित कार्य अधिष्ठानरूप है और अधिष्ठान कार्यरूप इसलिए नहीं कहा जा सकता कि कल्पित कार्य की उससे पृथक् सत्ता नहीं, यहाँ यह अंश विवेचनीय है कि पृथक् सत्ता से इनका क्या तात्पर्य है ? यदि उत्पत्तिनाशशून्यत्व से इनका तात्पर्य है तो अत्यताभाव इनके मत में उत्पत्ति, नाश से रहित है फिर उसकी अधिष्ठान से भिन्न सत्ता क्यो न मानी जाए ? यदि यह उत्तर दें कि मायावाद के सिद्धात में अत्यंताभाव अधिष्ठान से भिन्न कोई वस्तु नहीं तो प्रष्टव्य यह है कि अत्यताभाव की निवृत्ति भावरूप है ? किवा अभावरूपा है ? किं रूपा है ? यदि भावरूप मानी जाए तो निवृत्यभाव हुआ, यदि अभावरूप मानी जाए तो किस अभावरूप है। प्रध्वसाभावरूप इसलिए नहीं मानी जा सकती कि प्रध्वसाऽभाव अनत है इसलिए निवृत्ति का अभाव हुआ और अत्यताऽभावरूप इसलिए नहीं बन सकती कि अत्यताऽभाव के बने रहने से ब्रह्म और अत्यंताऽभाव दो पदार्थ बने रहे, यदि अत्यंताऽभाव को अधिष्ठानरूप सिद्ध करने के लिए उसका भी अभाव माना जाए तो वह अत्यंताऽभाव अभावप्रतियोगिक मानना पडेगा, इसलिए अत्यंताऽभाव ब्रह्मरूप नहीं हो सकता, इसमें युक्ति यह है कि अत्यंताऽभाव निषेध मुख प्रतीति का विषय है और ब्रह्म विधि मुख प्रतीति का विषय है इसलिए दोनों का ऐक्य कदापि नहीं हो सकता।

सार यह है कि अविद्यानिवृत्ति अभावात्मक होने से मुक्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि यदि उसको ध्वंसरूप मानें तो भी अविद्यानिवृत्ति से द्वैतापत्ति ज्यों की त्यो बनी रही, यदि *प्रध्वंस को क्षणिक मानकर* अत्यंताऽभावरूप मानी जाए

तो यह दोष है कि *अत्यताभावाभाव*, भावात्मक नहीं किंतु अभावात्मक है, इत्यादि दोषों से दूषित समझकर स्वा. शंकराचार्यजी ने मुक्ति का लक्षण केवल अविद्यानिवृत्ति नहीं किया किंतु यह किया है कि *अविद्याकल्पितसंसारित्वनिवृत्तिः, नित्यमुक्तात्मस्वरूप-समर्पणश्चमोक्षः'* अविद्या से कल्पित जो संसारित्व उसकी निवृत्ति और नित्य मुक्त ब्रह्म की आत्मत्वेन प्राप्ति का नाम 'मुक्ति' है।

यहाँ विचारणीय यह है कि नित्य मुक्त आत्मस्वरूप समर्पण क्या है ? *"समर्प्यतेऽनेनेति समर्पणम्"* यदि यह अर्थ किया जाए तो मुक्ति एक साधन सिद्ध होती है फिर साध्य कोई और मानना चाहिए, यदि यह कहा जाए कि समर्पण शब्द के अर्थ भाव में ल्युट करने से यहाँ नित्यप्राप्त की प्राप्ति के हैं ? इसका उत्तर यह है कि यह अर्थ मोक्ष तथा मुक्ति शब्द से लाभ नहीं होता, क्योंकि *"मोक्ष्यतेऽनेनेति मोक्षः"* अथवा *"मुच्यतेऽसाविति मोक्षः"* इन दोनों व्युत्पत्तियों से मोक्ष के अर्थमुक्ति के साधन अथवा जो दुखो से छूट गया हो उसके हैं नित्यप्राप्त के प्राप्ति के नहीं, एवं मुक्ति के अर्थ भी नित्य प्राप्त की प्राप्ति के नहीं हो सकते क्योंकि यदि करण मे क्तिन् प्रत्यय किया जाए तो *'मुच्यतेऽनया इति मुक्तिः'* यह अर्थ लाभ होते हैं यदि भाव में क्तिन् किया जाए तो *"मोचन मुक्तिः"* यह अर्थ लाभ होते हैं, सार यह है कि मोचन रूप क्रिया मुक्तिपदार्थ बनता है अथवा मुक्ति के साधनों का नाम मुक्ति ठहरता है पर नित्यप्राप्त की प्राप्ति मुक्ति पद से कदापि नहीं निकल सकती और नाहीं नित्यप्राप्त की प्राप्ति मुक्ति कहला सकती है *क्योंकि मुक्ति पुरुषार्थ है और नित्य प्राप्त की प्राप्ति पुरुषार्थ नहीं*, क्योंकि इसके लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं।

यदि यह उत्तर दिया जाए कि अविद्यारूप तिरोधान की निवृत्ति के लिए साधनसंपत्ति की आवश्यकता है ? तो इनका यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का अविद्या से तिरोधान नहीं हो सकता, क्योंकि तिरोधान के अर्थ प्रकाश को उत्पन्न न होने देना अथवा विद्यमान प्रकाश को मिटा देना यह दोनों ही हो सकते हैं, पर उक्त अर्थों में दोष यह है कि दोनों प्रकार से स्वरूपनाश ही प्राप्त होता है, क्योंकि प्रकाश को मिटा देना स्वतः प्रकाश का नाश है और प्रकाश को उत्पन्न न होने देना स्वतः प्रकाश के स्वतत्त्व का नाश है। इस प्रकार तिरोधान अनुपपत्ति द्वारा भी नित्यप्राप्त की प्राप्ति नहीं बन सकती, सार यह है कि इनके मत में मुक्ति दूरादेव तत्त्व प्रतीत होती है पर अति सन्निहित रीति से समीक्षा करने से कदलीस्तंभ के समान विदीर्णभाव को प्राप्त हो जाती है और इस बात को यह स्वय भी समझते हैं, इसीलिए इनके आचार्यों ने यह लिखा है कि—

> *"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।*
> *न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता"।।*

न किसी की प्रलयादि और न उत्पत्ति है और न कोई मुक्त है वास्तव में यही

तत्त्व है, सत्य है समीक्षा करने से अद्वैतवाद का कोई सिद्धांत भी नहीं ठहर सकता, इसलिए यह तत्त्व मानना ही पड़ता है, अस्तु, इससे सिद्ध यह हुआ कि अद्वैत मत में अविद्यानिवृत्ति, नित्यप्राप्ति की प्राप्ति और–

"अविद्याकल्पितसंसारित्वनिवृत्तिर्नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणञ्च मोक्षः।"

इत्यादि कोई लक्षण भी मुक्ति का नहीं बन सकता, कारण यह है कि क: मुक्तः ? केनः मुक्तः ? कस्मिन् मुक्तः ? यह कथन भेदवाद में ही बन सकता है अद्वैतवाद में नहीं।

अद्वैतवादियों की मुक्ति के अनंतर अब हम विशिष्टाद्वैतवादियों की मुक्ति की समीक्षा करते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी श्री माध्याचार्य रामानुज का यह मत है कि मुक्ति एक प्रकार का आविर्माव है, इस विषय में इनका यह लेख है–

"ज्ञानानन्दादिगुणानां कर्मणात्मनि संकुचितानां परं ज्योतिरुपसम्पद्य कर्मरूपबन्धक्षये विकाशरूपाविर्भावो मोक्षः।"

पूर्वकृत कर्मों द्वारा जो जीवात्मा के ज्ञान तथा आनन्दादि गुण ढक जाते हैं और उक्त कर्म रूप बंधन के क्षय हो जाने पर जो फिर पूर्वस्वरूप का आविर्भाव है उसका नाम मोक्ष है। इसमें प्रथम दोष यह है कि केवल स्वरूपाविर्भाव का नाम मोक्ष माना जाए तो उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता, क्योंकि पुरुषार्थत्व साध्यवस्तु में होता है सिद्ध वस्तु में नहीं, यद्यपि अविद्यानिवृत्तिमात्र इनके मत में भी साध्य बन सकता है तथापि अविद्यानिवृत्तिमात्र को मुक्ति मानकर उक्त उत्तर बन सकता है न कि आविर्भाव को साध्य मानकर, क्योंकि जीव के आनंदादि गुण इनके मत में स्वरूपभूत हैं इसलिए नित्य सिद्ध हैं फिर मुक्ति की स्वरूपोत्पत्ति में साधन सम्पत्ति कैसे ? और दोष यह है कि इनके मत में भी मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् मुक्ति नित्य है और साध्य वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती, इसलिए इनका मुक्ति को नित्य मानना ठीक नहीं। और जो इन्होंने जीव में आनंदादि गुण माने हैं वह भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त गुण परमात्मा के हैं जीवात्मा के नहीं। कई एक यह कहते हैं कि मुक्ति ब्रह्मानन्दोपभोग है, अर्थात् मुक्ति अवस्था में जीव सदा के लिए ब्रह्मानंद का उपभोग करता रहता है, यह मत इसलिए ठीक नहीं कि :

"सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्य्यायेण क्षयी च सः।।"

यदि सुख का उपभोगरूप ही मुक्ति मानी जाए तो स्वर्ग और मुक्ति में क्या भेद रहा ? यदि यह कहा जाए कि सुख अनित्य है और ब्रह्म के आनंद का उपभोग नित्य है, यह भेद है तो उत्तर यह है भोग के क्या अर्थ ? *'भुज्यतेऽसाविति भोगः'*

अथवा *'भोजनं भोगः'* ? यदि प्रथम पक्ष माना जाए तो भोगरूप क्रिया के निवृत्त होने पर वह भोग नित्य न रहेगा, दूसरे पक्ष मे भोगरूप क्रिया का नाम भोग है तो फिर क्या मुक्ति क्रियात्मक है ? यह भी स्मरण रहे कि उक्त भोगवादी के मत में जो मुक्ति अवस्था में ब्रह्मानंद का भोक्ता जीव को कथन किया गया है यह अश आर्यसिद्धात में भी उपादेय है, पर भेद इसी अश में है कि ब्रह्मानदोपभोगरूप मुक्ति नित्य कैसे ? क्योंकि *"न हि कारणवत्किश्चिदक्षयित्वेन गम्यते। तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वमावेन मुच्यते"* कारण वाली कोई वस्तु अक्षयी नहीं हो सकती। यदि दु:खाभावात्मक अंश से मुक्ति की नित्यता सिद्ध करें तो इससे इसलिए छुटकारा नहीं कि वह मुक्ति का स्वरूप नहीं और न उसमें कोई पुरुषार्थत्व है और नाहीं ऐसी मुक्ति भोगवादी को स्वीकृत है फिर कर्मजन्य भोग नित्य कैसे ?

यह अटल सिद्धात है कि यदि मुक्ति को अभावरूप माना जाए तभी मुक्ति नित्य हो सकती है अन्यथा कदापि नहीं, इसी अभिप्राय से एक स्थल में कुमारिल भट्टाचार्य मुक्ति की नित्यता माननेवालों को इस युक्ति से ललकारते हैं कि—

> *"न ह्यभावात्मकं मुक्ता मोक्षनित्यत्वकारणम्।*
> *नच क्रियायाः कस्याश्चिदभावः फलमिष्यते।।"*

अभावात्मकता को छोडकर अन्य कोई भी कारण मुक्ति को नित्य सिद्ध नहीं कर सकता, और अभाव किसी क्रिया का फल नहीं। कुमारिल भट्टाचार्य की इस युक्ति से भयभीत होकर मायावादियो ने अविद्याकल्पित ससारित्व की निवृत्ति को मोक्ष माना है जो हम विस्तारपूर्वक प्रथम खंडन कर आए हैं कि अत्यताभावाभाव ब्रह्मरूप नहीं हो सकता किंतु अत्यंताभावाभाव अत्यंताभावरूप ही हो सकता है, यह विचार पूर्व भली भाँति किया गया है इसलिए विस्तार की आवश्यकता नहीं।

विकासरूप आविर्भाव को मोक्ष माननेवाला विशिष्टाद्वैतवादी भी मोक्ष को नित्य मानता है पर यह स्मरण रहे कि विशिष्टाद्वैतवादी की यह युक्ति उनके मत का स्पष्ट खडन करती है कि जब एक-एक करके सब जीव मुक्त हो जाएँगे तो फिर ससार की रचना कैसे होगी ? इस प्रश्न को उठाकर विशिष्टाद्वैतवादी स्वयं इसका यह उत्तर देते हैं कि जीव अनत हैं उनका एक-एक करके मुक्त होने से सबका अंत नहीं होता, फिर स्वयं यह प्रश्न किया है कि देश तथा काल की अनंतता हो सकती है, क्योंकि न काल का आदि अंत मिलता है और न दिशाओं का; पर सख्या तो अज्ञान के कारण अनंत समझी जाती है, जैसाकि "जो वस्तु एक ग्रामीण के ज्ञान में अनंत है उसको एक नागरिक गिन लेता है, जिसको साधारण नागरिक नहीं गिन सकता उसको गणितज्ञाता सुगमता से गिन सकता है, फिर सर्वज्ञ परमात्मा जीवो की संख्या नहीं जानता इसकी क्या कथा" ? इस प्रश्न का कोई समीचीन उत्तर न देकर विशिष्टाद्वैतवादी ने मोक्ष को नित्य माना है। अस्तु।

आश्चर्य की बात यह है कि आचार्य के एकदेशी भोगवादी भी मुक्ति को नित्य मानते हैं। उनका यह कथन है कि सारे मुक्त पुरुषों की मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती किंतु जिनको ईश्वर इस योग्य समझता है कि यह ससार में जाकर उपकार का काम करें, उनकी ईश्वर की इच्छामात्र से पुनरावृत्ति हो जाती है। अर्थात् ऐसे दश पाँच पुरुष मुक्ति से लौटते हैं, अन्य सब सदा के लिए मुक्त रहते हैं और जो मुक्त पुरुष परमात्मा की आज्ञा से यहाँ आकर परमात्मा का दिया हुआ अधिकार पूरा करते हैं उनके किए हुए कर्म इनके मत में उनको नहीं लगते, यह बात सर्वथा युक्ति विरुद्ध है। केवल पौराणिक इस बात को मान सकते हैं कि अवतार स्वकर्मों के फलों के भोक्ता नहीं होते। पर आर्यसिद्धांत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को कर्मों का फल भोगना पड़ता है, वह ऋषि हो अथवा ब्रह्मर्षि हो इस विषय में सब समान हैं।

बडा भारी दोष इस मत में यह है कि ईश्वर की इच्छा जीव के पूर्वकृत कर्मों से बिना नहीं होती क्योंकि यदि ऐसा हो कि बिना ही कर्मों के ईश्वर जिसको चाहे उसको बद्ध बनाए और जिसको चाहे उसको मुक्त बनाए तो महा अनर्थ हो जाएगा और इस अनर्थ की आर्यसिद्धात में जगह नहीं, इसलिए इस विषय में एक विद्वान् ने यह लिखा है कि :

> *ईश्वरेच्छा यदीष्येत सैव स्याल्लोककारणम्।*
> *ईश्वरेच्छावशित्वे हि निष्फला कर्मकल्पना।।*

यदि ईश्वर की इच्छा मात्र ही कारण माना जाए तो फिर ईश्वर की इच्छा के वशीभूत होकर सबकुछ हो जाएगा फिर कर्मों की कल्पना का क्या फल ? इत्यादि अनन्त दोष हैं जो विस्तार के भय से नहीं लिखे जाते।

हमारे विचार में यह सिद्धात उसी भय से भरा हुआ है जिस भय से भयभीत होकर स्वामी शंकराचार्यजी तथा स्वामी रामानुज ने मुक्ति को नित्य माना है, वह यह कि यदि मुक्ति को नित्य न मानेगे तो लोग यह कहेंगे कि मुक्ति तो एक प्रकार की छुट्टी हुई जिसकी समाप्ति होने पर जीव फिर ससाररूपी दफ्तर में आ जुटता है।

हमारे विचार में यह भय निरर्थक है, क्योंकि इस भय से किस दृढ पुरुष ने स्वकर्तव्य को त्यागा है, लोक में सहस्रों दृष्टांत विद्यमान हैं जो सांत कार्यों के साधक हैं, क्या राजा राज्यशासन इस भय से छोड देता है कि मैं सदा के लिए राजा नहीं रह सकता ? क्या ब्रह्मचारी इस भय से वेदाध्ययन छोड देता है कि मैं सदा के लिए वेदाध्ययन नहीं कर सकता ? एवं सहस्रों कार्य हैं जिनको अतवाले समझकर भी ज्ञानी-अज्ञानी सब करते हैं।

यदि यह कहा जाए कि मुक्ति एक अलौकिक पदार्थ है वह अनित्य कैसे ? सत्य है आर्यसिद्धांत भी मुक्ति को अलौकिक पदार्थ मानता है पर क्या अलौकिक

होना मुक्ति की नित्यता को सिद्ध करता है ? यदि ऐसा होता तो मुक्त का ऐश्वर्य जो सब मोक्षवादियों के मत में अलौकिक है उसको अनित्य क्यों मानते हैं ? उसको नित्य कोई नहीं मानता। स्वामी शंकराचार्यजी के मत में वह ऐश्वर्य हिरण्यगर्भ के लोक में जाकर प्राप्त होता है जिसको ब्रह्मलोक का ऐश्वर्य कहते हैं इसी का नाम इनके मत में क्रममुक्ति है और यह ऐश्वर्य नित्य नहीं, क्योंकि इस ऐश्वर्यवाले मुक्त पुरुष ब्रह्मा के साथ ही लौट आते हैं, जैसा कि :

"कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्" ब्र. सू. 4.3.10 के भाष्य में स्वामी शंकराचार्यजी ने स्वीकार किया है कि ब्रह्मलोक निवासियों की मुक्ति नित्य नहीं, केवल इतना भेद किया है कि वहाँ के निवासी यहीं तत्त्वज्ञान को पाकर ब्रह्माजी के साथ कैवल्य मुक्ति को पाते हैं, यह भेद भी अपुनरावृत्ति को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि–

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।

यह मुडक वाक्य इनके सिद्धात को काट देता है, जिसके अर्थ यह हैं कि वह मुक्त पुरुष ब्रह्मलोक में परांतकाल तक रहकर फिर लौट आते हैं, फिर इसके यह अर्थ कैसे हो सकते हैं कि ब्रह्मलोक में ही तत्त्वज्ञान लाभ कर फिर नहीं लौटते, क्योंकि परिमुच्यति के अर्थ स्पष्टतया छोड देने के हैं न कि अनपुरावृत्ति के, इन अर्थों में गडगडा कर कई एक मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि परामृत जो अव्याकृत प्रकृति उसमें विदेहलयतारूप मुक्ति को पाकर फिर मुक्त होते हैं। कई एक इसके यह अर्थ करते हैं कि वह वहाँ ही संन्यास द्वारा ब्रह्मज्ञान को पाकर मुक्त हुए-हुए फिर मुक्त होते हैं और कई एक लोकांतरवादी यह अर्थ करते हैं कि वह सारे मरने के समय ब्रह्मलोक में अमृत को भोगते हुए स्वतंत्र हो जाते हैं, अधिक क्या पुनरावृत्ति के डर से यहाँ सब गड़बडा जाते हैं, क्योंकि उक्त श्लोक में परामृताः के अर्थ स्पष्ट इस बात को बोधन करते हैं कि मुक्त हुए-हुए 'परिमुच्यति' लौट आते हैं, *हम यहाँ पर उन वादियों को स्मरण दिलाते हैं जो आर्यधर्मसंस्कर्ता श्री स्वामी दयानंद सरस्वतीजी के अर्थों पर अश्रद्धा किया करते हैं उनके लिए यहाँ कौन-सा मार्ग है ?* क्योंकि इसी अर्थ के वर्णन में कैवल्योपनिषद् के पाठ में 'परामृतात्' पचमी विभक्ति है, जिसके अर्थ मुक्ति से पृथक् होने के हैं फिर 'परिमुच्यंति' के अर्थ सदा के लिए मुक्त हो जाने के कैसे हो सकते हैं ?

और बात यह है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति माननेवालों के धैर्य को यह गीतावाक्य सर्वथा छुडा देता है कि .

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन !

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक के सब मुक्त पुरुष पुनरावृत्ति वाले हैं, इस स्थल में मायावादियों को भी अत्यंत कठिनाई है, कोई कहता है महाप्रलय से प्रथम ब्रह्मलोक से नहीं लौटते, किंतु महाप्रलय में ब्रह्मलोक की प्रलय हो जाने पर ब्रह्मलोक अवश्य छोड़ना पड़ता है। कोई कहता है कि :

> *एतेन प्रतिपद्यमाना इमं*
> *मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते।*

इस देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए मानव इस मनु के आवर्त में नहीं आते, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मानवांतर में आवृत्ति अवश्य होती है, इस प्रकार उक्त गीतावाक्य ही सिद्ध करता है कि ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति अवश्य होती है।

ब्रह्मलोक के अर्थ किसी के मत में हिरण्यगर्भ लोक के हैं, किसी के मत में किसी स्थान विशेष के हैं, किसी के मत में जहाँ जाकर जीव स्वतंत्र हो जाता है उस स्थान विशेष के हैं, किसी के मत में वह इतना ऊँचा लोक है कि प्रथम पुरुष चंद्रलोक में प्राप्त होता है फिर विद्युत् लोक में और फिर उसको एक अमानव पुरुष मिलता है जो ब्रह्मलोक के यात्रियों को ब्रह्मलोक में पहुँचा देता है।

आर्य सिद्धांत में ब्रह्मलोक कोई लोक विशेष नहीं किंतु मुक्ति का नाम ब्रह्मलोक है, जैसाकि :

> *तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु*
> *जिह्ममनृतं न माया चेति।।* प्रश्न 1.16

में वर्णन किया है कि उन्हीं के लिए ब्रह्मलोक है जिनमें कपट छलादिक नहीं, यहाँ ब्रह्मलोक के अर्थ किसी लोक विशेष के नहीं, और :

> *तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।।* छां. 8.4.3

इसमें वर्णन किया है कि जो ब्रह्मचर्य द्वारा उसको ढूँढ़ते हैं उन्हीं को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और वह सर्वत्र स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, इससे भी स्पष्ट सिद्ध है कि ब्रह्मलोक कोई लोक विशेष नहीं, किंतु मुक्ति का नाम है। और वृहदा. 4.4.8. में यह कथन किया है कि :

> *ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः।*

ब्रह्मवेत्ता लोग मुक्त होकर इस पद को प्राप्त होते हैं।

सार यह है कि ब्रह्मलोक उस अवस्था विशेष का नाम है कि जिसको प्राप्त

होकर जीव जहाँ चाहे विचर सकता है, *आर्य सिद्धांत में इसका नाम मुक्ति है* और इसके अनंत ऐश्वर्यों की प्राप्ति उपनिषदों में विस्तार से वर्णन की है जिसको हम विस्तार के भय से नहीं लिखते।

अवैदिक लोगों ने मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य को ऐसा निंदित बना दिया है कि कोई कहता है कि उस लोक में मुक्त पुरुष के दर्शन करने के लिए अप्सराएँ आती हैं और विजरा नदी से पार होकर वह वृद्धावस्था से रहित हो जाता है और फिर नाना प्रकार के सांसारिक सुख भोगता है, इसकी संगति न समझकर कोई इसको क्रममुक्ति कहता है, कोई लोक विशेष ब्रह्मलोक की प्राप्ति कहता है, कोई मुक्ति से प्रथम अवस्था कहता है, इत्यादि, यह पक्ष इसलिए मानने योग्य नहीं कि यदि इस ऐश्वर्य में सांसारिक भोग हैं तो जीव मुक्त होते समय इनको क्यों भोगता है ? क्या जीवन्मुक्त का यही लक्ष्य होता है ?

हमारे विचार में यह सामर्थ्य जीव को मुक्ति अवस्था में लाभ होता है कि वह यथेच्छाचारी होता है पर उसको उक्त भोगों की आवश्यकता नहीं होती।

उक्त ऐश्वर्यरूप मुक्ति का आर्यसिद्धांत में स्वरूप लक्षण यह है कि :

सत्यसङ्कल्पादिगुणसाम्यं मोक्षः।।

ईश्वर के समान सत्यसंकल्पादि गुणों के लाभ करने का नाम मोक्ष है और इसी आशय को श्री स्वामीजी महाराज ने 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम समुल्लास में यों लिखा है कि *"जो जीव परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल अपने गुण कर्म स्वभाव करता है वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है"* इसी का नाम सत्यसंकल्पादि गुणों की प्राप्ति है, इस विषय में वेद तथा उपनिषदों के अनेक प्रमाण हैं जैसा कि -

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।। क. 4.15

जिस प्रकार शुद्ध जल में डाला हुआ जल शुद्ध हो जाता है एवं मुक्त पुरुष का आत्मा परमात्मवत् सत्यसंकल्पादिकों से परमात्मा के समान निष्पाप हो जाता है। इसी अभिप्राय से उपनिषद्कार ने कथन किया है कि *"तादृगेव भवति"* और इसी भाव को 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि अनेक वेदप्रतीकों में वर्णन किया है, यहाँ विस्तार के भय से दिङ्मात्र दिखलाया गया है। इसी को स्वामीजी महाराज ने मुक्त पुरुष *का ऐश्वर्य वर्णन किया है अर्थात् सत्यसंकल्पादिकों के लाभ करने* का नाम मुक्ति है, इसी ऐश्वर्य को -

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ब्र. सू. 4.4.5

इस सूत्र में महर्षि व्यास ने इस प्रकार वर्णन किया है कि मुक्तपुरुष ब्रह्म के सदृश

सत्यकामादि गुणों को लाभ करके ऐश्वर्य को प्राप्त होता है।

कई लोग इसके यह भी अर्थ करते हैं कि यहाँ ब्रह्म के अर्थ जीव के हैं, पर यह अर्थ यहाँ इसलिए ठीक नहीं कि यदि ब्रह्म के अर्थ यहाँ जीव के ही माने जाएँ तो एक तो प्रसिद्धि का अतिक्रमण और दूसरे आविर्भाव रूप मोक्ष में जो दोषपूर्व दिए गए हैं वह सब आते हैं। इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं, अस्तु, प्रकृत यह है कि *सत्यसङ्कल्पादि ऐश्वर्य का नाम मुक्ति है और यह ऐश्वर्य साधनजन्य होने से अनित्य है,* उक्त मुक्ति के साधन यह हैं :

धर्माचरण, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और आत्मज्ञान इत्यादि अनेक हैं। जिनसे जन्य होने के कारण मुक्ति आर्यसिद्धांत में पुरुषार्थ है और इसी हेतु से अनित्य है।

अब रही यह बात कि यदि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है तो *अनावृत्तिशब्दात् अनावृत्तिशब्दात्* ब्र. सू. 4.4.22 *न च पुनरावर्त्तते* छांदो. इत्यादि वाक्यों का क्या उत्तर है ? इनका उत्तर यह है कि *मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते* छां. 4.15 इस वाक्य के अनुसार इस संसृतिचक्र में अर्थात् इन चौदह मन्वन्तरों के आवर्तरूप इस जगत स्थिति में वह फिर वापस नहीं आते किंतु परांतकाल के अनंतर ही वापस आते हैं, इस अभिप्राय से यहाँ पुनरावृत्ति का निषेध है।

और बात यह है कि यदि दुर्जनपरितोषन्याय से हम क्षणभर के लिए इन्हीं का सिद्धात अवलंबन करके उत्तर दें तो उत्तर यह है कि यह अनावृत्ति चंद्रलोक की आवृत्ति के मुकाबले पर है, अर्थात् जिस प्रकार चंद्रलोक की प्राप्तिवाले पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार ब्रह्मलोक की प्राप्तिवाले पुनरावृत्ति को नहीं प्राप्त होते अर्थात् ब्रह्मलोकवाले ब्रह्मलोक के प्रलय के अनंतर पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं और चंद्रलोकवाले पहले ही लौट आते हैं, इस प्रकार इनके सिद्धांतानुसार भी उक्त छां. वाक्य तथा ब्र. सू. उक्त मुक्ति को नित्य सिद्ध नहीं करते।

वास्तव में उक्त वाक्यों का भाव यह है कि परांतकाल से प्रथम मुक्त जीव पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होते।

इस प्रकार समीक्षा करने से यह सिद्ध होता है कि मुक्ति नित्य नहीं। मुक्ति की अनित्यता में वेद प्रमाण यह है कि :

> *कस्यनूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च।।* ऋ. 1.2.13

अर्थ—नूनं=निश्चय करके मुक्त पुरुषों में से जो मैं हूँ वह किस देव के पवित्र नाम का अभ्यास करूँ कि जो मुझको फिर मातृभूमि में भेजकर पिता-माता के दर्शन कराए ? यह मंत्र स्पष्ट रूप से मुक्ति से पुनरावृत्ति को सिद्ध करता है, क्योंकि यहाँ मुक्त पुरुष के 'अमृतानाम्' इस षष्ठ्यंत पद से अपने-आपको निर्धारित किया है जिससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि यह प्रार्थना मुक्त पुरुष की है, क्योंकि

यदि 'अमृतानाम्' पद से देवों में से कोई एक देवविशेष अभिप्रेत होता तो 'कतमस्य' इस पद में 'जाति परिप्रश्न' में डतमच् प्रत्यय का क्या अभिप्राय होता ? अर्थात् जब 'कतमस्य' इस शब्द से देव निर्धारित हो चुका तो फिर अमृतानां यह षष्ठी देवताओं में से किसी एक देव विशेष के निर्धारण करने के लिए व्यर्थ है।

इस विवेचना से यह स्पष्ट सिद्ध है कि यह मुक्त पुरुष की प्रार्थना है। जो लोग उक्त विषय में यह आशंका करते हैं कि इस सूक्त में बद्ध पुरुष की प्रार्थना कथन की गई है और मुक्त पुरुष बद्ध नहीं हो सकता ? इसका उत्तर यह है कि बद्ध से तात्पर्य यहाँ कर्मों के वासना रूपी बंधन से है किसी अन्य बंधनविशेष से नहीं।

जो लोग यहाँ कर्मों को छोड़कर अन्य किसी बंधन विशेष को मानते हैं उनको यह कथा अवश्य माननी पड़ेगी कि शुनःशेष लड़के के माता-पिता ने उक्त लड़का थोड़े से रुपए के लोभ से ऐक्ष्वाक राजर्षि को बेच दिया और उसने उसको यज्ञ के स्तंभ के साथ बाँधकर अपने रोग के प्रायश्चित के लिए मारना चाहा, उस समय शुनःशेष ने यह प्रार्थना की कि मुझे कौन-सा देवता छुड़ा सकता है, इत्यादि मनघड़ित गपोड़ों के अभिप्राय से यदि वेद को लगाना हो तो यहाँ यूप से बाँधे हुए पुरुष की प्रार्थना मानी जा सकती है। पर यह आशय इस मंत्र का कदापि नहीं किंतु यह आशय है कि मुक्तपुरुष यहाँ परमात्मा से प्रार्थना करता है कि मैं फिर जन्म पाऊँ और इस प्रार्थना का कारण उसके पूर्वकृत कर्मों का आविर्भाव है और वह आर्यसिद्धांत में इस प्रकार है कि—

तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात्पूर्वक्रियाक्षये।
उत्तरप्रचयासत्त्वाद् देहो नोत्पद्यते पुनः।।

जब मुक्ति के साधनों से मुक्तपुरुष मुक्ति के योग्य हो जाता है, भोग से प्रारब्ध क्षय हो जाते हैं, और अन्य कर्म अभी फल देने के लिए अभिमुख नहीं हुए उस अवस्था में मुक्ति होती है, इस बात को आर्यसिद्धांत में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि ऋषियों को जो वेद का अधिकार मिला वह पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मिला अन्यथा नहीं, क्योंकि परमात्मा न्यायशील है।

उक्त मंत्र में जिस देव की प्रार्थना की गई है वह परमात्मा देव है उसी के वरुण, मित्र, अर्यमा, बृहस्पति और विष्णु आदि अनेक नाम हैं और उसके सत् चित् आनंदस्वरूप तथा सत्यकाम सत्यसंकल्पादि अनंत गुण हैं जिसके तत्त्वज्ञान से जीव की सत्यसंकल्पादि साम्य रूप मुक्ति होती है, इसी देव का वर्णन इस सूक्त में विस्तारपूर्वक है अन्य किसी जड़देव तथा जलों के राजा वरुण विशेष का नहीं, इसकी विशेष समीक्षा करने से मुख्य मुक्ति विषय श्रोताओं की बुद्धि से अति दूर पड़ जाएगा इसलिए हम इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं।

[सन् 1940]

भारत का समृद्ध कलावैभव

•

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल

सदसे नम.। इस सभा को मैं अपनी प्रणामांजलि प्रस्तुत करता हूँ। गुरुकुल विश्वविद्यालय के इस स्वर्णजयती उत्सव पर आप सबको हार्दिक बधाई। भारतीय संस्कृति का दिव्य रूप, ज्ञान और जीवन के क्षेत्रों में विभिन्नता से प्रकट हुआ है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में एक स्थान पर कहा है कि हे मातृभूमि ! हम तेरे उस स्वरूप का दर्शन करें जो हिरण्य के समान तेजस्वी है। राष्ट्रीय सस्कृति के जिन गुणों में मानवीय मन नया चैतन्य प्राप्त करके ज्ञान के अपूर्व क्षेत्रों से परिचय प्राप्त करता है और कला, साहित्य और दर्शन के रूप में उन अनुभवों को मूर्त रूप देता है। राष्ट्रीय संस्कृति के दीर्घकालीन इतिहास में इस प्रकार के कई युग आए जब ज्ञान और कर्म के नए क्षेत्र प्रकाशित हुए और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नए निर्माण की बाढ-सी आ गई। आज विदाई के इस विषादपूर्ण अवसर पर अनेक दुखद और मधुर स्मृतियाँ मन में चक्कर काट रही हैं। दुख के आवेग को रोकना असंभव है। लेकिन समय का परिवर्तन-चक्र चलेगा अवश्य ही।

हे स्नेहवत्सला कुलमाता, आज तुम्हारे बच्चे तुम्हारी गोद से अलग हो रहे हैं, पूज्य गुरुजन, आपके ये शिष्य विषादपूर्ण ह्रदयों के साथ आपके आश्रम से विदा ले रहे हैं। स्नेही साथियो, तुम्हारे ये भाई इस स्नेहपूर्ण सबध को तोडकर दूर जाने के लिए समुद्यत हैं। आप सबकी शुभकामनाओं से हमारे वैदिक युग रामायण-महाभारत युग, उपनिषद्, सूत्र युग, बौद्ध युग एव गुप्त युग का इतिहास अभूतपूर्व मानस चैतन्य और नवीन शक्ति का परिचय देते हैं। इनमें से कई काल अपने इतिहास के स्वर्णकाल कहे जा सकते हैं।

वेदों के अनुसार ईश्वर ने पृथिवी और आकाश के विशाल अंतराल को अनेक प्रकार के रूपों से भर दिया है। कल्पना कीजिए उस युग की जिसके लिए यह कहा गया है कि आरंभ में एक स्वर्ण पिंड अपने आपमें गर्भित था, उसी से कालांतर में अनेक प्रकार की भूत सृष्टि उत्पन्न हुई—सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, आकाश, समुद्र, रंग-बिरंगे मेघ, नदी और पर्वत क्रम से उत्पन्न होकर सृष्टि में यथास्थान सज गए। आकाश के उज्ज्वल नक्षत्र, भूमि के जलाशयों में खिले हुए कमल,

पृथिवी और आकाश के बीच में उड़नेवाले श्वेत हंस इसी रूप-विधान के अंग थे। षड् ऋतु का रूप-परिवर्तन। बाहर जाते हुए कदमों में दृढ़ता उत्पन्न हो।

परमात्मा करे कि जिस संस्था में पढ़-लिखकर हम इतने बड़े हुए वह पहले से भी ज्यादा खूब अधिक फूले-फले। मनुष्य की प्रगति और देवताओं की समृद्धि उसे प्राप्त हो, और इस तपोवन के प्रत्येक कुंज में आज और हजारों साल बाद तक वे ही पवित्र शंख गूँजते रहे जिन्होंने निरंतर हमारे जीवन को अनुप्राणित किया :

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय

अहोरात्र की अद्भुत शोभा, देश और काल में एक अभूतपूर्व सौंदर्य के रूप में सर्वत्र छा गई। इसी को वैदिक शब्दों में देवशिल्प कहा गया है। मानवी शिल्प उसी देवशिल्प की अनुकृति है।

देवशिल्प अनत सौंदर्य का प्रतीक है। उसी के लिए किसी कवि ने कहा है :

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया.।

अर्थात् जो दिन-प्रतिदिन नया-नया जान पडे उसी का सौंदर्य दैवी होता है। उषा अपने स्वर्णरथ पर बैठकर नित्य प्रातः हमारे आकाश में विचरण करती है। उसका जो सौंदर्य सृष्टि के आदि में था वही आज भी है और आगे भी रहेगा। वैदिककालीन मानव का विशेष झुकाव देवशिल्प या प्रकृति के दिव्य सौंदर्य के प्रति था। यही कारण है कि वैदिककालीन मानवीय शिल्प के उदाहरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए और इसमें सदेह है कि भविष्य में वे कभी प्राप्त होंगे। शनैः-शनैः मनुष्य का मन देवशिल्प से हटकर मानवीय शिल्प की ओर प्रवृत्त होने लगा। किंतु यह कथन बहुत अश में सत्य है कि भारतीय विचारो का आदिस्रोत वेदो में उपलब्ध होता है। भारतीय शिल्पकला के भी जो अनेक अभिप्राय और अलंकरण हैं उनका मूल हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए पूर्ण घट, कल्पवृक्ष, स्वास्तिक, चक्र, कमल, अश्वत्थ आदि का उपयोग भारतीय कला में अनेक रूप से सजावट के लिए किया जाता है। उनके अर्थ की मूल व्याख्या वैदिक और पौराणिक साहित्य से हमे प्राप्त होती है। पूर्ण घट या मंगलकलश भारतीय कला का सुपरिचित अलकरण है। जल से भरे हुए घडे के ऊपर फैलती हुई पत्तियों के द्वारा इसका अकन किया जाता है। भारत और जावा की शिल्प और चित्रकला में अनेक सुंदर रूपों मे पूर्ण घट का चित्रण हुआ है। ये पूर्ण घट मनुष्य का अपना शरीर है जिसमें अनेक दैवी वरदान भरे हुए हैं।

या पूर्णो अस्य कलश.।

इस कलश में आयु रूपी जल परिपूर्ण है और उसके भीतर से जीवन के अनेक पल्लव और पुष्प प्रकट होते रहते हैं। पूर्ण घट रूपी चिह्न प्राण और अमृतत्त्व का द्योतक है। बौद्ध ब्राह्मण और जैन तीनों कलाओं में इसे स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार मनुष्य का मन ही कल्पवृक्ष है जिसके नीचे खडे होकर हम अनेक प्रकार के सकल्प और विकल्पों का वितान फैलाते हैं। सृष्टि के नियमित विधान का प्रतीक चक्र है जिसमें स्थिति और गति दोनो का समन्वय है। सूर्य का रथ-चक्र, ब्रह्मांड-चक्र और धर्म-चक्र ये देखने में भिन्न होते हुए भी मूलतः एक हैं। वैदिक साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अभिप्राय देवों और असुरो के युद्ध हैं। इद्र के साथ असुरों की भिडंत के अनेक विवरण वैदिक साहित्य मे पाए जाते हैं। किंतु देवासुर सग्राम के ये वर्णन इतिहास के सत्य नहीं जान पडते। शतपथ ब्राह्मण में ठीक कहा है—"हे इद्र ! तुम कभी किसी से लडे नहीं, न तुम्हारा कोई शत्रु है। तुम्हारे जिन युद्धों का बखान किया जाता है वह सब माया है। न आज, न पहले तुम्हारा किसी से युद्ध हुआ।" इसका सीधा अर्थ यही है कि सृष्टि में दैवी और आसुरी शक्तियो का प्रकाश और अंधकार का, सत्य और असत्य का एक निरतर द्वंद्व चल रहा है। इसी की व्याख्या अनेक प्रकार से वैदिक और पौराणिक साहित्य मे पाई जाती है। शिव और विष्णु देवी और देवताओ के अनेक रूप, सत् के प्रतीक हैं। उनके प्रतिपक्षी अनेक प्रकार के असुर हैं जिनसे उनका लीलामय संग्राम होता रहा है और जिन पर ये विजय प्राप्त करते हैं। देवासुर सग्राम के अनेक रोचनात्मक वर्णन भारतीय साहित्य की विशेषता है। भारतीय कला के रूप-सपादन मे भी देवासुर सग्राम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिव का मदन-दहन और मार-विजय इन दोनो मे भी देवासुर द्वंद्व की छाया पाई जाती है। साहित्य और धर्म के जो विचार-सूत्र होते हैं वे ही कला में प्रयोग किए जाते हैं।

भारतीय सस्कृति के प्रत्येक युग मे तत्कालीन धाराओं को समझने की कुजी साहित्य और दर्शन के समान कला से भी प्राप्त होती है। कला का रस वस्तुत साहित्य और दर्शन से भी अधिक है। साहित्य में जिस आदर्श की केवल कल्पना की गई है, कला उसी को मूर्त रूप प्रदान करती है। यही पत्थर, ताँबा, कांस्य या चित्र के द्वारा हमे उनकी साक्षात् प्रतीति होती है जो किसी युग मे साहित्य और जीवन के आदर्श थे। उदाहरण के लिए गुप्त युग के सुदर स्त्री और पुरुष अपने आयु जीवन की समाप्ति के साथ सदा के लिए एक हो गए। किंतु कालिदास ने अपने काव्यो मे यक्षिणी, शकुतला के रूप मे जिस सुंदर रूप की कल्पना की थी, वह आज भी हमारे साहित्यिक सत्य के, रूप में विद्यमान हैं। उसके कला-पारखी स्त्री-पुरुषों ने अनेक पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में, अजंता और बाघ के चित्रों की सुदर आकृतियों को हमारे लिए आज तक सुरक्षित कर दिया है। यही कला की बडी महिमा है। कला के रूप में मानो 1500 वर्ष बाद

भी गुप्त युग का कांतिमय खंड हमारे लिए बचा रह गया है। काल के सर्वापहारी-चंगुल से जीवन के वास्तविक चरणों की रक्षा कला के द्वारा हमें उपलब्ध होती है। उत्तरी भारत के अनेक पुराने टीलों की खुदाई के पत्थर और मिट्टी की सहस्रों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मथुरा के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की कथा उस स्थान से मिली हुई हजारों मूर्तियों में आज भी हमारे लिए सुरक्षित है। स्त्री और पुरुषों के जीवन में नृत्य और गीत का जो उत्सव था वह अनेक शिलापट्टों एवं स्तंभों पर यथावत् चिह्नित पाया जाता है। नारी जीवन के अनेक आमोद-प्रमोद और नृत्य-उत्सव कला में सुरक्षित रह गए हैं। उपवनों में फैले हुए शाल वृक्षों के नीचे होनेवाली शालभंजिका क्रीडा, स्त्री के वामपादाभिलाषी अशोक की दोहद क्रीड़ा, फूले हुए अशोक के नीचे खड़ी हुई स्त्री की अशोकपुष्पप्रचायिका क्रीड़ा, आदि अनेक उद्यान क्रीडाओं और सलिल क्रीड़ाओं का चित्रण मथुरा की शिल्पकला में प्राप्त होता है। विक्रम की पहली तीन शताब्दियों में भारतीय शिल्पकला और धार्मिक क्षेत्र में मथुरा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। भारतीय धार्मिक जगत में भक्तिप्रधान धर्म के कारण विक्रम की आरंभिक शताब्दियों के आसपास एक बडी क्रांति हुई। मथुरा उस क्रांति का केंद्र था। यहीं पर सबसे पहले बुद्ध मूर्ति का निर्माण हुआ। यहीं पर शिव, विष्णु, सूर्य और सती-लक्ष्मी आदि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगीं और मथुरा में ही जैनसंघ के अंतर्गत बहुविध जैन शिल्प का निर्माण हुआ। मथुरा के समन्वय-प्रधान वातावरण में तीनों धर्म अपनी शिल्पकला के साथ उन्नति को प्राप्त हुए। मथुरा के भागवत धर्म का समन्वय और सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण ही बन गया।

अपने देश में गुप्त युग की कला-सामग्री बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त हुई है। उस समय सारे देश में कला की एक राष्ट्रीय शैली का विकास हो चुका था। ब्रह्मपुत्र के तट पर दहपर्वतिया नामक स्थान मे सुंदर शिव मदिर के गुप्तकालीन अवशेष मिले हैं जिसके स्तंभों पर गंगा, यमुना की सुंदर मूर्तियाँ पाई गई हैं। पश्चिम में सिंध के मीरपुर खास नामक स्थान में गुप्तकालीन बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले हैं। इसी प्रकार मथुरा, सारनाथ, भीटा, देवगढ़, अजंता, बाघ, कन्हेरी और पुदुकोट्टै रियासत के सितन्नवासल नामक स्थान में शिल्प और चित्र की बहुत ही सुंदर सामग्री पाई गई है। गुप्तकालीन भारतीय कला वास्तविक अर्थों में ललित कला बन गई। कला का रूप अत्यंत परिमार्जित और परिष्कृत हो गया। विविध क्षेत्रों में, अनेक रूपों में कला ने बहुमुखी बनकर जीवन को छा लिया। वस्त्र, वेश-भूषा, केश-विन्यास, अलंकार, आभूषण सबमें अनेक रूपों की कल्पना की गई। हंस मिथुनों से अलंकृत अर्थात् हंस के जोड़ों से छपे हुए वस्त्रों का वर्णन कालिदास और बाणभट्ट ने किया है जिनका वास्तविक चित्रण अजंता के निर्मित चित्रों में स्त्रियों की वेशभूषा में पाया जाता है। स्त्री और पुरुषों में भाँति-भाँति के केश-विन्यास की प्रथा उस समय थी जिनमें घुँघराले बाल विशेषरूप से दर्शनीय

हैं। उस काल की परिभाषा में इन्हें अलकावली कहते थे। कालिदास ने इंदुमति केवलीमृत कहकर अलक या छल्लेदार बालों का वर्णन किया है। केवल कला के द्वारा ही इस प्रकार के केश-विन्यास का साक्षात् परिचय हमें प्राप्त होता है। गुप्तकालीन चित्रों में, मूर्तियों में और खिलौनों में हमें न केवल इस प्रकार के केश-विन्यास बल्कि और भी वेशभूषा आभूषण आदि से संबंधित सामग्री का परिचय प्राप्त होता है। गले में पहनने की मोतियों की एक लडी माला उस समय एकावली कहलाती थी जिसके बीच में नीलम की एक लंबी गुरिया पहनी जाती थी। कालिदास ने इसका उल्लेख 'मेघदूत' में किया है .

एकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्

इस प्रकार की एकावली का साक्षात् वर्णन अजंता के चित्रों में मिलता है। कला हमारे सामने साहित्य और जीवन दोनों की मूर्तिमती व्याख्या प्रस्तुत करती है। कला के परिचय के बिना भारतीय साहित्य और संस्कृति का परिचय एक प्रकार से अधूरा ही रहता है। गुप्तकाल के लिए तो कला की उपलब्ध सामग्री अत्यत मूल्यवान् है। इसी काल में स्थापत्य कला की भी विशेष उन्नति हुई। हिंदू देवमंदिरों का निर्माण सबसे पहले गुप्तकाल ही में पाया जाता है जिसके अत्यंत प्राचीन उदाहरण साँची, देवगढ आदि मध्यभारत और मालवा के स्थानों से मिले हैं। कालांतर में देवमंदिरों का बहुत अधिक विकास हुआ और एक प्रकार से भारतीय धार्मिक जीवन देवमंदिरों में ही केंद्रित हो गया। मध्यकालीन मंदिर भारतीय शिल्प और स्थापत्य की पराकाष्ठा को सूचित करते हैं। भुवनेश्वर, खजुराहो, आबू, पलिताना, मदुरा और तंजौर आदि के विशाल मंदिर भारतीय स्थापत्य शिल्प के ऐसे उदाहरण हैं जो सारे राष्ट्र के लिए गर्व की वस्तु हैं। खेद है कि उत्तरी भारत में इस प्रकार के विशिष्ट मदिर के स्थापत्य का कोई नमूना बचा नहीं रहा। शिल्प और स्थापत्य की इस विस्तृत सामग्री का परिचय अर्वाचीन भारत में हमें एक बार फिर प्राप्त करना है। यह कार्य विश्वविद्यालयों के द्वारा निर्मित पाठ्यक्रम में इस विषय को उचित स्थान देने से हो सकेगा।

हमारे संग्रहालय इसी का एक साधन हैं। अनेक प्रकार की पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों के नमूने उनमें हमें एकत्र करना चाहिए। इस देश के लगभग तीन सहस्र वर्षों तक कला के क्षेत्र में अनेक प्रकार के निर्माण का काम होता रहा। हमारे चारों ओर यह कला-सामग्री बिखरी हुई है। जंगलों में और पुराने टीलों में अनेक प्रकार की मूर्तियाँ छिपी हुई हैं। नवीन भारतवर्ष को अपने इस उत्तराधिकार के प्रति सचेत होना आवश्यक है। उसकी उचित सँभाल और रक्षा संग्रहालयों के द्वारा ही की जा सकती है। सग्रहालय पश्चिम से आई हुई एक नई प्रकार की संस्थाएँ हैं। पहले समय में तो समाज में जहाँ-तहाँ बने हुए देवमंदिर संग्रहालय के रूप थे जिनमें शिल्प, चित्र और स्थापत्य कला का बहुत ही सुंदर समन्वित

प्रदर्शन एक साथ मिलता था। अर्वाचीन शिक्षण-व्यवस्था में जो स्थान एक विश्वविद्यालय का है उससे कम महत्त्वपूर्ण स्थान किसी अच्छे संग्रहालय का नहीं है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड ने ब्रिटिश म्यूजियम के ज्ञान की वृद्धि के लिए जो काम किया है वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयो का। ब्रिटिश म्यूजियम न केवल इग्लैंड और राष्ट्रीय संग्रहालय है, बल्कि वह सारे संसार के प्राचीन इतिहास, कला और प्रकृति-विज्ञान के ज्ञानोपार्जन के लिए एक विशिष्ट कैंद्र है।

इस प्रकार के राष्ट्रीय सग्रहालय और राष्ट्रीय पुस्तकालय का आदर्श प्रत्येक देश इस समय अपने सामने रखता है। भारतवर्ष में भी इस प्रकार की संस्था के बिना हमारे राष्ट्र के मस्तिष्क का धरातल ऊँचा नहीं उठाया जा सकेगा। इस कार्य के लिए करोड-दो करोड रुपया भी देश को एक बार लगाना पड़े तो वह अवश्य करने योग्य है। क्योकि राष्ट्रीय सग्रहालय और राष्ट्रीय पुस्तकालय जैसी संस्था का निर्माण आनेवाली पीढी दर पीढी के लिए होता है। आज जिस सग्रहालय की नींव हम डालते हैं वह कालातर में महान विकास को प्राप्त करेगा और सब लोगो के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, जनता और शासन दोनों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर जाना आवश्यक है।

राष्ट्रीय सग्रहालय के साथ-साथ हमारे इस विशाल देश मे प्रादेशिक संग्रहालयों की स्थापना भी जरूरी है। प्रत्येक प्रदेश या प्रात कला, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी विशेषता लिए हुए है। उनका समुचित रक्षण, प्रदर्शन और अध्ययन प्रादेशिक या प्रांतीय सग्रहालयों मे ही किया जा सकता है। इसी प्रकार के प्रातीय सग्रहालय प्रत्येक प्रदेश के शासन की जिम्मेदारी है। यह हर्ष की बात है कि भारतवर्ष के अधिकाश प्रातो में इस प्रकार के संग्रहालय पहले से विद्यमान हैं जहाँ वे अभी तक नहीं बने हैं जहाँ उन्हें शुरू करना चाहिए। लेकिन उनकी जो वर्तमान दशा है उसमे बहुत कुछ सुधार और वृद्धि की आवश्यकता है। कला, पुरातत्व और लोकजीवन से सबधित समस्त सामग्री का सग्रह प्रातीय सग्रहालयों का ध्येय होना चाहिए। इन दो प्रकार के सग्रहालयों के अतिरिक्त तीसरा प्रकार विश्वविद्यालय के साथ सबंधित सग्रहालयो का है। जिस प्रकार विज्ञान की शिक्षा के लिए प्रयोगशालाओ का होना आवश्यक है उसी प्रकार इतिहास और सस्कृति के शिक्षण के लिए सग्रहालयो की आवश्यकता है। पूर्वकालीन सचित सामग्री को स्वय अपनी आँखों से देखकर ऐतिहासिक तथ्यों के बारे में जैसा ज्ञान और दृढविश्वास होता है वैसा केवल लिखित वर्णन पढ लेने से सभव नहीं। मानवीय जीवन के विकास का चित्र अच्छे संग्रहालय में साक्षात्•देखने को मिल सकता है।

विश्वविद्यालय के साथ सबंधित जो सग्रहालय हैं उसमें कई प्रकार की सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है। प्रथम तो अपने आसपास या उस क्षेत्र में

मिलनेवाले पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों को वहाँ एकत्र किया जा सकता है। पत्थर में गढी हुई देवताओं की मूर्तियाँ धार्मिक इतिहास के बचे-खुचे टुकडे हैं। उनकी भी एक भाषा है जो हमें प्राचीन भारतीय इतिहास के साथ जोड़ती है। पुराने चित्रों के नमूने भी प्रयत्न करने से मिल सकते हैं। पुराने समय के सिक्कों का संग्रह अपेक्षाकृत सरलता से किया जा सकता है। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि आरंभ में ही आपने अपने संग्रहालय में इन तीनों क्षेत्रो में सफल आरंभ किया है। कनखल, हरिद्वार और आसपास के स्थानों से जो मूर्तियाँ आपको मिली हैं, वे काफी रोचक हैं और गुप्तकाल से लेकर उत्तर मध्यकाल के लगभग 800 वर्ष के इतिहास से सबधित हैं।

इसमें चतुर्मुखी ब्रह्मा, शिव, हरगौरी, विष्णु, लक्ष्मी, महिषासुर मर्दिनी, बुद्ध एवं जैन तीर्थंकर मूर्तियाँ हैं। भारतवर्ष में धर्मों का जो साथ-साथ विकास होता रहा, उत्तराखड का वह प्रदेश भी उसके प्रभाव के अंतर्गत था, उसकी व्याख्या इन टूटे-फूटे पाषाणखंडो में मिलती है। हिमालय का यह प्रदेश टिहरी गढवाल से लेकर चंबा तक 17वीं-18वीं शताब्दियों में अपने चित्रो के लिए प्रसिद्ध था। हिमालय शैली के चित्र भारतीय शिल्पकला मे ऊँचा स्थान रखते हैं। यह चित्र कागज पर और घर और मंदिरो की दीवार पर भी बनाए जाते थे। कनखल के प्राचीन निर्मल अखाड़े के बाहर की लगभग 200 फुट लबी दीवार पर अनेक भित्तिचित्र बने हुए हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल के जान पडते हैं। उनमे से कुछ चित्रो के विषय ये हैं—हिंडोले में झूलती हुई स्त्रियाँ, आसावरी रागिनी अर्थात् जगल मे साँपो के बीच में उनको वश में करती हुई एक स्त्री, ढोडी रागिनी अर्थात् हिरणों के झुंड को बीणा बजाकर लुभाती हुई स्त्री, समुद्र मंथन, गजेंद्र मोक्ष, राम राज्याभिषेक, विष्णु, राजाओं की सवारी, हथियार लिए हुए सिपाही। इस प्रकार तत्कालीन चित्रकला और जीवन के परिचायक भित्तिचित्र हैं। उनमें कितने ही प्रकार के अलकरण पाए जाते हैं जिनमें बदरूम की जाली, जालीछवाँस, ललाफर पत्ता, फूल-पत्तियों की बेले, गुलदस्ते, गमले इत्यादि मुख्य हैं। भारतीय भित्तिचित्रों का अंतिम अध्याय उन्नीसवीं शती के इन चित्रो मे लिखा हुआ है। मुझे हर्ष है कि आपके उत्साही संग्रहाध्यक्ष श्री प्रोफेसर हरिदत्तजी ने इन भित्तिचित्रों के फोटो बनाकर उनके परिवर्धित रूप संग्रहालय में लगाए हैं। आपके संग्रहालय मे सिक्कों के संग्रह की भी अच्छी शुरुआत हुई है। पुराने चाँदी के आहत सिक्कों के कुछ नमूने आप यहाँ देख सकते हैं। पाणिनि ने अपने एक सूत्र में रूप से आहत कार्यापथ का उल्लेख किया है। अंग्रेजी में इन्हे पचमार्कंड सिक्के कहते हैं जिन पर तरह-तरह के रूप या सिंबल ठप्पे से ठोके जाते थे। इन सिक्को को देखकर पाणिनि के *'रूपादाहतप्रशंसयो'* सूत्र का अर्थ ठीक-ठीक समझा जा सकता है। उत्तर मौर्य काल के ढले हुए सिक्के, कुषाणों के मोटे पैसे, कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार राजा भोजदेव के आदिवराह द्रम्म, सामतवेद के दम्म, अलाउद्दीन

के सिक्के जिन पर देवनागरी अक्षरों पर 'सुलतान अलाउद्दीन' लिखा है, मुगलों के रुपए और अंग्रेजी सिक्के संग्रहालय में इकट्ठे हैं। इस दिशा में और भी अधिक उन्नति थोड़े से परिश्रम और धन से की जा सकती है, यदि अनेक स्थानों में फैले हुए छात्र और स्नातक इस ओर ध्यान दें। ब्राह्मी प्राचीन भारतीय लिपियों के 60 पत्रक जो आपके आदि संग्रहालय के लिए तैयार हुए हैं, छात्रों के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होंगे। प्राचीन भारतीय शिल्प और मूर्तियों के चुने हुए नमूनों के फोटो-चित्रों का संग्रह भी एकत्र करना चाहिए एवं गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्राओं के आधार पर गुप्त सम्राटों के चद्रगुप्त, समुद्रगुप्त आदि के प्रतिकृति चित्र भी संग्रहालय के लिए बनवाने चाहिए। पंजाब की फुलवारियों के सुंदर नमूनों का संग्रह भी आप सुविधानुसार कर सकते हैं। संग्रहालय जैसी संस्था आरंभ में स्वल्प किंतु उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त करनेवाली होती है। कला-साहित्य और जीवन के पारस्परिक संबंध को यदि भली प्रकार समझ लिया जाए तो सग्रहालय उन तीनों के एकत्र प्रदर्शन के लिए जीती-जागती संस्था बनाई जा सकती है। आशा है, आज का आरम किया हुआ यह प्रयत्न चिरंजीवी बनेगा।

[सन् 1949]

आस्तिकवाद की आवश्यकता

श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

आज इस घोर नास्तिक युग में आस्तिकवाद पर कहने के लिए बडे साहस की आवश्यकता है। चारों ओर नास्तिकता की घोर घटाएँ बडे वेग से उमडी आ रही हैं और मानव समाज आँखें मूँदकर विषयभोग की ओर दौडा चला आ रहा है। ऐसे भीषण समय में मैं आपको ईश्वर-प्राप्ति की आवश्यकता क्यो है ? इस विषय पर अपने विचार कहने लगा हूँ।

इस विषय में तीन भाग निहित हैं—प्रथम, क्या ईश्वर है ? दूसरा, ईश्वर-प्राप्ति की आवश्यकता और उसकी प्राप्ति के उपाय। इन तीनों बातो पर प्रकाश डालना चाहिए।

जब हम किसी ऐसे व्यक्ति से मिलते हैं, जिससे मिलकर हमारा चित्त अत्यत प्रसन्न होता है और उसके खिले चेहरे से हमे स्फूर्ति मिलती है तो हम उस मनुष्य की प्रशसा करते हुए नहीं अघाते। निपुण डॉक्टर अपने बीमार को प्रेमभरी मुस्कान से ही आधा चगा कर देता है और उसके मधुर शब्द रोगी के मन को प्रफुल्लित करते हैं। इसके विपरीत एक ऐसा मनहूस आदमी जो अपने दुखो की पोटली सबके सामने खोलकर बैठ जाता है, किसी को नहीं भाता। इन दो मनुष्यो मे क्या भेद है और यह भेद क्यो है ? आस्तिकवाद की सारी फिलासफी इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में छिपी हुई है। दूसरा उदाहरण लीजिए।

आपको बडी प्यास लगी हुई है और गरमी की ऋतु है—आप सडक पर जा रहे हैं। आपको मिलता है ऐसा तालाब, जिसमे काई पडी हुई है और जिसके पानी में से बदबू आ रही है। उसे छोडते हुए आप आगे बढ जाते हैं और दो मील चलकर आपको एक पानी की धारा पास के पर्वतो से आती हुई दीख पडती है। आपका हृदय बल्लियो उछलने लगता है और जब पास जाकर आप उस शीतल ताजे जल को पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं तो आपका हृदय कैसा प्रसन्न होता है ! जो भेद इन दोनो जलराशियो में है, वही भेद ऊपर के दो मनुष्यों मे है। मनहूस मनुष्य के हृदय का जल-स्रोत सरोवर स्रोत से संबध छूट जाने के कारण गंदा हो गया है और उसमें बीमारी के कीटाणु पैदा हो गए हैं, इसके विपरीत बहता हुआ जल स्रोत के साथ सबंध होने के कारण निरोग और ताजा

है, जिसे पीकर मनुष्य के शरीर को शांति मिलती है। जो मनुष्य अपना सबध अनंत स्रोत से रखते हैं उनके हृदय की कली सदा खिली रहती है और वे निरोग विचारों को प्रजा के सामने रखते हैं। ये हैं आस्तिक लोग, जिनके रोम-रोम से प्रकाश की रश्मियाँ निकलकर इर्द-गिर्द के लोगो को आह्लादित करती हैं। जिन्होने अपना संबंध उस स्रोत से तोड दिया है, वे बीमारो के कीटाणुओ को लिए हुए अपने सडे पोखर के साथ समाज मे नरक की रचना करते हैं। इसलिए उस दयालु प्रभु की हमें आवश्यकता है, जिसके अनंत स्रोत से सबध कर हम अपने पापो का त्राण करे और उसकी निरोग ज्ञानधारा को पीकर सुख-शाति लाभ करे।

अब इसी विषय का दूसरा पहलू देखिए। उसकी प्राप्ति कैसे की जावे ? जब से मानव समाज का सगठन हुआ है, जब से मनुष्य उस अनत की खोज कर रहा है लेकिन क्योकि वह रहता है मूर्तिमान पदार्थों मे और मन मे उसके वही सस्कार दृढ रहते हैं, इस कारण अमूर्त को पाने के लिए उसे बडी कठिनाई दिखाई देती है। हम जब तक स्थूल से सूक्ष्म की ओर, ज्ञेय से अज्ञेय की ओर और मूर्तिमान से अमूर्त की ओर जाने का अभ्यास नहीं करेगें, तब तक हम ईश्वर-प्राप्ति के विषय को नहीं समझ सकते। धुन सबको लगी है उसके जानने की, कितु रास्ता न जानने के कारण इधर-उधर भटक रहे हैं और उसकी खोज वहाँ कर रहे हैं, जहाँ वह मिल ही नहीं सकता। जिस भगवान् बुद्ध ने ईश्वर के अस्तित्व से जवाब-सा दे दिया, उसके करोडों अनुयायी उसी को ईश्वर मानकर मूर्तिपूजको की तरह अपने मंदिरो मे पूजा कर रहे हैं। क्या ईश्वर के अस्तित्व का इससे बढकर कोई प्रमाण चाहिए ? साध सबको उसके जानने की लगी है, कितु रास्ता मालूम नहीं, इसलिए तीसरा पहलू—'उसकी प्राप्ति कैसे की जावे' ? —हमारे सामने आकर खडा हो जाता है।

जिस ईश्वर ने यह ससार बनाया है और जिसके ब्रह्माड का एक छोटा-सा नमूना मानव शरीर रचा है, उसने क्या इस शरीर के अदर उसके जानने का कोई साधन न दिया होगा ? मानव शरीर तभी पूर्ण कलायुक्त कहा जा सकता है, जब इसके अदर विश्व की आभा को जानने के लिए भी साधन विद्यमान हो। भला सोचिए तो सही कि जिन पाँच ज्ञानेंद्रियो का हमे इतना अभिमान है उनसे हम कितना थोडा जान सकते हैं। जिस प्रत्यक्ष प्रमाण की हम डींग हॉकते हैं उसकी पोल उसी समय खुल जाती है, जब अच्छी ऑखोवाले पॉच व्यक्ति एक ही घटना को देखकर उसका भिन्न-भिन्न वर्णन हमारे सामने आकर करते हैं। इसलिए यह अत्यावश्यक है कि यथार्थ ज्ञान, सत्य ज्ञान के लिए कोई नई इद्रिय इस मानव शरीर मे होनी ही चाहिए जो हमारी पथ-प्रदर्शक हो सके और हमे बुराई-भलाई का ज्ञान करा सके। इस इद्रिय के भिन्न-भिन्न नाम हैं—कोई उसे छठी इद्रिय कहता है, कोई उसे जमीर के नाम से पुकारता है, कोई उसे अतरात्मा

कहता है और कोई उसे ईश्वर की आवाज कहकर संबोधित करता है, लेकिन अभिप्राय सबका एक ही है।

जब प्राचीन काल के संत-महात्मा, आधुनिक जगत के महात्मा गाँधी और नई दुनिया के इमर्सन अतरात्मा की चर्चा अपने कथनों, लेखों और पुस्तकों मे करते हैं तो क्या वे झूठ बोलते हैं ? हमें निश्चय ही इस बात को जानना चाहिए कि जिस भगवान् ने इस सृष्टि को रचा है और जिसने यह अद्‌भुत मानव देह बनाया है, उसने अवश्य ही इस शरीर के अदर सत्यज्ञान के लिए एक साधन दिया है जिससे मनुष्य उसकी रचना को भली भाँति समझकर उसके उद्देश्य को जान सके।

इस कारण मेरे प्रेमियो, आपको यह समझ लेना चाहिए कि उस ईश्वर को जानने का मार्ग, उसकी तलाश हमे बाहर भटककर नहीं करनी चाहिए, अपने अदर उसकी खोज करना उचित है। उस खोज का मार्ग यह है कि हम परमात्मा के सद्‌गुणो को अपने अंदर धारण कर उस जैसा बनना सीखे, तभी वह हमारी ओर आकर्षित होगा। हमे मन, वाणी और कर्म को एक सीध मे लाना सीखना चाहिए। जैसा हमारे मन मे है, वैसा ही हमारी वाणी मे हो और वही हमारे कर्म मे भी प्रकट होना चाहिए। तब हमारी शक्तियाँ केंद्रीभूत होने लगेगी और हम बडी आसानी से वस्तुओ की तह मे पहुँचना सीख जावेगे। सम्प्रज्ञात समाधि का यही मार्ग है।

अच्छा अब आप लोग मुझसे पूछेगे कि उस अतरात्मा की आवाज कैसे सुनाई देती है ? वह ध्वनि बराबर हमारे अदर हमे चैतन्य करने के लिए, बुराई से हटाने के लिए और सत्यज्ञान की ओर ले जाने के लिए जागरूक होती है, कितु सुनाई उन्हीं को देती है जिन्होने अपनी शक्तियो को केंद्रीभूत करना सीख लिया है। हम चाहते है ईश्वरीय पदार्थों के विषय मे समझना, कितु जब हमारे जीवन में एकरसता नहीं है तो हम इस ध्वनि को कैसे सुन सकते हैं। शराबी शराबी के पास बैठता है और अफीमची अफीमची के पास। हम चाहते हैं ईश्वर की प्राप्ति–भला वह बिना उसके नियमो का पालन किए कैसे हो सकेगा। जिन लोगो को खाना-पीना, सोना-बैठना और बोलचाल का नियम ज्ञात नहीं है, वे भला ईश्वर का अग कैसे बन सकते हैं ? स्मरण रखिए, कोई स्त्री या पुरुष असयमित मन रखकर ईश्वर को नहीं पा सकता। जितने किस्से-कहानियाँ आपको ऐसी सुनाई जाती हैं, जिनमे असयमी लोगो को ईश्वर-भक्त अथवा महात्मा बताया जाता है, वे सब भोली-भाली प्रजा को ठगने के लिए होते हैं। ईश्वर की सृष्टि मे सब काम नियमपूर्वक होते हैं। उनमे एक अणुमात्र भी भूल नहीं होती। आप चाहते हैं उस अद्‌भुत मशीन का अग बनना और उसके चमत्कारो को समझना–यह तभी हो सकेगा जब आप अपने जीवन को सयमित कर नियमपूर्वक चलाएँगे। ज्यो-ज्यों आप इस सिद्धात मे परिपक्व होते चले जावेगे त्यो-त्यो आपको अतरात्मा की

आवाज स्पष्ट सुनाई देने लगेगी और एक दिन ऐसा आ जावेगा कि वह ध्वनि निर्दोष रूप से आपकी पथप्रदर्शिका बन जावेगी और तब आप इस बात को समझ सकेंगे कि उस जगन्नियंता ने इस ब्रह्माड की रचना क्यों की है।

शरीर को आत्मा मानकर भोगो में पडी हुई यह दुनिया कभी शांति की् ओर नहीं जा सकती। मानव में् बुद्धि का विकास है। उसके बल पर यह मानव अपनी इंद्रियों को सीमा से बाहर ले जाकर भोगों की तलाश करेगा और उसकी तृष्णा दिन-प्रतिदिन बढती जावेगी। विश्व का यह मानव समाज उस विनाशकारी तृष्णा के वशीभूत होकर कल-कारखानों द्वारा नई-नई वस्तुओ की रचना करेगा तब संसार में रोटी की मारामारी होगी और मानव दानव बनकर पैसे के पीछे दौडेगा। आज संसार में यही हो रहा है। हमारा जीवन-उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति है और सत्यज्ञान की खोज। ससार के सारे विद्वान यही मानते चले आए हैं। इस उद्देश्य को सामने रखने से प्राकृतिक भोगो की ओर से मनुष्य का मन हटकर ज्ञान-प्राप्ति की ओर झुकेगा। तब आवश्यकताओ की कमी होगी, रोटी की मारामारी हटेगी, मानव देवता बनने का प्रयत्न करेगा। ईश्वर की ध्वनि सुनने का अभ्यास करने से उसके हृदयपट खुल जावेंगे, अदर का मल धुल जावेगा और तब उसमें विश्वभ्रातृभाव की अभिलाषा जागृत होगी। संसार को स्वर्ग बनाने का यही मार्ग है।

[सन् 1950]

वैदिक आदर्श और विश्वबंधुत्व

डॉ. मंगलदेव शास्त्री

भद्रं नो अपि वातय मनः —ऋ 10.20.1

वेद और वैदिक वाङ्मय अतीव विस्तृत होने के साथ-साथ अत्यत गभीर भी है। मैं उसका न परोवर्यविद् विद्वान् हूँ, न उसके कर्तव्यपथ का सफल यात्री हूँ। तो भी, वेद से मुझे अपने जीवन मे सदा प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त होती रही है, वैदिक आदर्शों और भावनाओं मे मुझे अगाध श्रद्धा है, और चिरकाल से मैं वैदिक साहित्य का अनुशीलन करता रहा हूँ। मेरी दृढ धारणा है कि न केवल भारतीय सस्कृति के अभ्युत्थान के लिए किंतु समस्त मानव-समाज के कल्याण के लिए भी, वैदिक आदर्शों और उदात्त भावनाओं की आवश्यकता है। इसीलिए उक्त निमत्रण को स्वीकार करना मैंने अपना कर्तव्य समझा।

वेद और आचार्य दयानंद

आज ससार मे यह असभव है कि वेद के विषय मे कोई गभीर विचार किया जावे और उसमे, शताब्दियों क्या, सहस्राब्दियो मे वेदों के अद्वितीय आचार्य स्वामी दयानद का विशेष उल्लेख न हो। तो भी, बहुत कम लोग हैं जो वेद के विषय मे आचार्य दयानद की अनोखी देन को वास्तव में समझते हैं। इसलिए वेद के विषय मे कुछ भी कहने के प्रथम, वेद-विषयक आधुनिक परिस्थिति को समझने के उद्देश्य से, उस परिस्थिति के लानेवालो मे प्रमुख स्थान रखनेवाले उन आचार्य के कार्य की पृष्ठभूमि का यहाँ निर्देश करना हम आवश्यक समझते हैं।

इसमे किसको सदेह हो सकता है कि चिरतनकाल से वेद भारतीय सस्कृति के प्रकाशस्तभ रहे हैं। भारतीय समाज के सगठन और उसकी जीवनचर्या के नियमन और व्यवस्थापन के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक तथा अन्य उदात्त भावनाओं की प्रेरणा में भी वेद का प्रमुख स्थान रहा है।

व्यवस्थितार्यमर्याद कृतवर्णाश्रमस्थिति।
त्रय्या हि रक्षितो लोक प्रसीदति न सीदति।।—अर्थशास्त्र 1.3

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने स्पष्टतया सामाजिक व्यवस्था के द्वारा वेद के

लोककल्याणकारी प्रभाव का उल्लेख किया है। वेदो से हमारी जाति को समय-समय पर ओज और बल प्राप्त होता रहा है। भारत के महापुरुषो के जीवनों में जो लोकोत्तर महत्ता दिखलाई देती है उसमे साक्षात् या असाक्षात् रूप से देश के वातावरण मे व्याप्त वैदिक उदात्त भावनाओ का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है। इसी प्रभाव से प्रेरित होकर भारतीय संस्कृति ने एक बार इतिहास मे मानव समाज को, न केवल विशाल भारत के क्षेत्र मे किंतु मैक्सिको तक विस्तृत देशातरों मे भी, सच्ची शाति, आध्यात्मिक भावना, सहिष्णुता और प्रेम का सदेश दिया था। सक्षेप में, वेद वास्तव मे भारतीय सस्कृति के अक्षय निधि हैं और उनके कारण भारतीय सस्कृति ससार मे अजर और अमर है।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम।—मनु 2 6

य कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।—मनु 2.7

पितृदेवमनुष्याणा वेदश्चक्षु सनातनम्।
अशक्य चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थिति ।।—मनु 12.94

अर्थात्, वेद धर्म का मूल है, वेद सर्वज्ञान से समन्वित है, और वेद सनातन सबका पथप्रदर्शक भी है, इत्यादि प्रकार से वेद की महिमा का वर्णन शास्त्रो में पाया जाता है।

वेदाध्ययन की कर्तव्यता के विषय में भी

वेद कृत्स्नोऽधिगन्तव्य सरहस्यो द्विजन्मना।—मनु 2.165
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तप परमिहोच्यते।—मनु 2.166
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय ।।—मनु 2 168
शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते।—मनु 2 172

अर्थात्, द्विज का यह कर्तव्य है कि वह समस्त वेद को पढे और उसके रहस्य को जाने। वेद का अभ्यास ब्राह्मण का सबसे बडा तप है। जो द्विज शब्द को पढे बिना अन्य विषय मे श्रम करता है वह हुआ ही शीघ्र अपने वंश के साथ शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार द्विज के लिए वेदाध्ययन परम आवश्यक बतलाया गया है। यही नहीं, व्याकरण, वैद्यक आदि वेदागो का और मीमासा आदि उपाग कहे जानेवाले शास्त्रो का तो प्रयोजन ही वेद की यज्ञ, वेदार्थज्ञान की योग्यता तथा वैदिक कर्मों का सुचारु रूप से सपादन आदि बतलाया गया है।

ऐसा होने पर भी, भारत के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब कि मोह और अज्ञान मे फँसकर पारस ने वेदो के महत्त्व और वास्तविक स्वरूप को भुला

दिया। मानव समाज के उत्थान और कल्याण की सार्वभौम प्रेरणाएँ वेदों में निहित हैं—इस बात को भूलकर वह या तो उनकी उपेक्षा ही कर बैठा या उनका उपयोग *'काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया'* इस कहावत के अनुसार प्रायेण साधारण उद्देश्यों के लिए ही करने लगा।

यह जानकर प्रायः आश्चर्य होगा कि चिरकाल से ही, साधारण जनता की तो बात ही क्या, संस्कृत का अध्ययनाध्यापन करनेवाले लोगो मे भी वेदों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति लुप्तप्राय होने लगी थी। इस उपेक्षा के कारणो का निर्देश हम आगे करेगे। इसमे सदेह नहीं है कि चिरकाल से भारतवर्ष मे यह स्थिति आ गई थी कि, वेदों के अर्थज्ञान की तो बात ही क्या, वेदो के पाठ-मात्र की प्रवृत्ति भी केवल कुछ नाममात्र के वैदिक लोगो मे ही परिमित हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में वैदिक कर्मकाड नि:शेष ही हो गया था, जो कुछ शेष था वह भी उन लोगो के द्वारा कराया जाता था जो प्राय अर्थज्ञान से सर्वथा शून्य होते थे। वास्तव मे अपनी सस्कृति के रत्नभूत वेदों को हमने घर की एक अँधेरी कोठरी मे फेक दिया था।

शताब्दियो से वेद-विषयक अध्ययनाध्यापन की गिरती हुई दशा पिछली कुछ शताब्दियो में तो अपनी चरम काष्ठा को पहुँच गई थी। उसका प्राय ठीक-ठीक अनुमान हम दो-चार बातो से कर सकते हैं।

जिन लोगो का सपर्क प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो की शोध से रहा है वे जानते हैं कि, वैदिक कहे जानेवाले लोगो के घरो को छोडकर, विभिन्न विषयो के प्राचीन सुप्रसिद्ध पडितो के भी वश मे जहाँ कहीं सस्कृत की प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ पाई जाती हैं उनमे प्रायेण वैदिक ग्रथो का, विशेषत वैदिक सहिताओ की पोथियो का, अभाव पाया जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि हमारे देश में अध्ययनाध्यापन की परपरा मे वेद की उपेक्षा चिरकाल से चली आ रही है।

गवर्नमेट सस्कृत कालेज, बनारस, भारतवर्ष की सर्वप्रमुख सस्कृत सस्था है। उसकी परीक्षाएँ देश मे सर्वमान्य हैं। पिछले वर्षों मे उसकी परीक्षाओ मे 14000 से 17000 तक छात्र बैठते रहे हैं। कहते हैं कि वह एक विश्वविद्यालय का रूप धारण करने जा रहा है। इस महान सस्था के इतिहास पर दृष्टि डालने से भी हमारी चिरकालीन वेद-विषयक अक्षम्य अनास्था ही सिद्ध होती है।

उक्त कॉलेज की स्थापना 1791 ई में वेदादि समस्त शास्त्रो के अध्ययनाध्यापन तथा अनुशीलन की दृष्टि से उस समय की भारत की सरकार ने की थी। प्रारभ मे केवल एक वेदाध्यापक रखा गया था। 1800 मे चारो वेदों के अध्यापन के लिए 4 वेदाध्यापक रक्खे गए। परंतु छात्रो मे वेद के अध्ययन की ओर से साधारणतया और वेद के अर्थज्ञान की ओर से सर्वथा उपेक्षा को देखकर अधिकारियो को शीघ्र ही वेदाध्यापन का प्रबध व्यर्थ समझकर कॉलेज से हटा देना पडा। इस लबे इतिहास मे लगभग 100 वर्षों के पश्चात् 1922 से पुन केवल शुक्लयजुर्वेद के

पढाने का प्रबंध कॉलेज में किया गया। ऐसा करने पर भी, जहाँ अन्य विषयो में सहस्रों छात्र परीक्षा में बैठते हैं, वहाँ वेद शुक्ल यजुर्वेद मे सहस्र पीछे 5 छात्र भी प्राय परीक्षा नहीं देते। वेद के पाठ्यक्रम की यह स्थिति है कि परंपरागत रूढि के अनुसार यद्यपि, अन्य विषयो की भॉति, वेद का भी पाठ्यक्रम 12 वर्षों का है, तो भी इतने काल में वैदिक सहिता मे केवल 14 अध्यायो का ही अर्थ परीक्षार्थी को पढ़ाया जाता है। प्राचीन शास्त्रीय परपरा द्वारा अभिमत सषडग वेदाध्ययन की प्रक्रिया की तो इस पाठ्यक्रम मे नितरा उपेक्षा ही की गई है।

इतनी बडी सस्था के इतिहास से और आजकल के समय में भी उसके द्वारा जो वेदविषयक अध्ययनाध्यापन में नगण्य कार्य हो रहा है उससे हम सरलता से भारतवर्ष मे उस समय की वेद के अध्ययनाध्यापन मे घोर अनास्था और उपेक्षा का अनुमान लगा सकते है जबकि आचार्य दयानद ने सोते हुए देश मे वेदोद्धार के अपने महान कार्य को प्रारभ किया था।

भारतवर्ष के इतिहास मे अनेकानेक शताब्दियो के पश्चात् उन्होने वेदो को अँधेरी कोठरी से निकालकर जगत् के सामने ही न रक्खा, किंतु यह भी बतलाया कि प्रत्येक आर्य (अर्थात् शिक्षित या द्विज) के लिए वेदो का पढना-पढाना परम कर्तव्य है ! यही नहीं, उन्होने ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका जैसी अद्भुत पुस्तक और वेदो के भाष्य लिखकर जो पथ-प्रदर्शन किया है वह सदा के लिए ससार की सपत्ति और हमारे लिए गर्व की वस्तु है।

परतु वेद के विषय में आचार्य दयानद का सबसे बडा महत्त्व, हमारे मत मे, इस बात मे है कि उन्होने हमको 'वेद के मत्र केवल कर्मकाड स्वरूप यज्ञ के साधन हैं' ('कर्मकरणा हि मन्त्रा'), और अतएव 'उनका अर्थ ही नहीं होता अथवा उनके अर्थज्ञान की आवश्यकता नहीं है' ('अनर्थका दि मन्त्रा') इन कृत्रिम सिद्धातों से हटाकर वेद को उसके मौलिक स्वरूप मे, सार्वभौम और उदात्त मानव धर्म को प्रतिपादक पुस्तक के रूप में देखने का फिर से वह मार्ग दिखलाया जो प्राय सहस्रो वर्षों से हमसे तिरोहित हो चुका था।

इसमे सदेह नहीं कि लगभग आचार्य दयानद के समय से या उनके कुछ पहले से ही पाश्चात्य विद्वानो का भी ध्यान वैदिक साहित्य की ओर जा चुका था और उन्होने उस विषय मे अपना कार्य भी प्रारभ कर दिया था। वैदिक विद्वानो से छिपा नहीं है कि पाश्चात्य विद्वानो ने वैदिक साहित्य के विषय मे जो कार्य किया है वह कितना उपयोगी और महान है। उसके लिए वे हमारी भूरि-भूरि प्रशसा के पात्र हैं। परंतु ऐसा होने पर भी उनके और आचार्य दयानद के वेद-विषयक कार्यों की तुलना नहीं हो सकती। दोनो की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्यों में इतना मौलिक अतर है कि दोनो की तुलना के लिए आवश्यक एक समान धरातल पर ही नहीं रक्खा जा सकता।

पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य उस वैज्ञानिक के समान हैं

जो रसायनशाला मे दुग्ध जैसे उपयोगी पदार्थों का केवल परीक्षणार्थ विश्लेषण कर डालता है, या एक मृत शरीर की चीरफाड करता है, या खुदाई से प्राप्त पुरातत्व-संबंधी एक शिलालेख को पढने की चेष्टा करता है। वैज्ञानिक के लिए उन पदार्थों का अपने-अपने रूप मे कोई मूल्य नहीं होता। आचार्य दयानद के वेद के विषय में दृष्टि पद्धति और उद्देश्य ठीक इसके विपरीत थे। वे वेदों को कोरी उत्सुकता का विषय न समझकर, ताजे दूध, जीवित मनुष्य, या एक मान्य पुस्तक की भाँति, उसको, न केवल भारतीय समाज, किंतु मानव समाज के लिए एक पथ-प्रदर्शक अजर-अमर साहित्य समझते थे। इसी मौलिक भेद के कारण दोनो के वेद-विषयक कार्यों की तुलना ही नहीं हो सकती। इसीलिए एक भारतीय के नाते हमारे लिए आचार्य दयानद का कार्य अनोखा मूल्य और महत्त्व रखता है। वेदो के विषय मे आचार्य दयानद ने जो आँख हमको दी है उसकी महत्ता को शनै-शनै देश समझेगा। उन्होने केवल हमारा पथ-प्रदर्शन किया था। यह खेद की बात है कि हम अभी तक उस मार्ग पर अग्रसर नहीं हुए हैं। तो भी इसमें सदेह नहीं कि आज भारत मे जो कुछ वैदिक साहित्य की ओर विद्वानो और जनता की प्रवृत्ति और रुचि दिखलाई दे रही है उसमे बहुत-सा भाग आचार्य दयानद की प्रेरणा और प्रयत्न का है। निश्चय ही भारत की स्वतत्रता के पश्चात् भारतीय सस्कृति के पुनरुद्धार की देशव्यापी कामना के साथ-साथ वेद और वैदिक साहित्य मे जनता की प्रवृत्ति और रुचि भी बढनी चाहिए। इसलिए आज हम विशेषत ऐतिहासिक पर्यवेक्षण के द्वारा वेदो के वास्तविक स्वरूप और महत्त्व को दिखलाते हुए, भविष्य मे उनके स्वाध्याय और अनुशीलन की दिशा तथा आवश्यकताओ को भी बतलाना चाहते है।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दासि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।—यजु 31 7

'अस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सोमवेदोऽथर्वांगिरस इतिहास ' —बृहदा कोप 2 4 10

इस प्रकार वेद की अद्‌भुत महिमा के वचनो से सस्कृत साहित्य भरा पड़ा है। निश्चय ही वेद की परपरा का इतिहास निश्चित-इतिहास काल की ही बात नहीं है। साथ ही वेद के स्वरूप के विषय मे, विशेषत अर्थ की दृष्टि से, अनेको प्रकार के मत प्राचीन ग्रंथो मे भी पाए जाते हैं। यदि केवल निरुक्त को ही ले लिया जावे तो भी कम से कम नैरुक्ता, याज्ञिका, ऐतिहासिका, आख्यानवादिनः—ये मत तो स्पष्ट रीति से वेद-मंत्रों की व्याख्या के विषय मे पाए जाते हैं। प्राय इन सब ही मतों को लेकर सस्कृत में वेद-विषयक साहित्य थोडा-बहुत पाया जाता है। वेद का स्वाध्याय करनेवालों के मन मे इन वादो को देखते हुए बडी उलझन

पैदा हो जाती है। इसलिए इस ग्रंथि को खोलना, न केवल वैदिक स्वाध्याय के लिए, किंतु वेद की आधुनिक जगत् मे उपयोगिता की दृष्टि से भी, अत्यंत आवश्यक है। इसलिए सबसे प्रथम हमारा कर्तव्य है कि हम वैदिक परंपरा के वास्तविक इतिहास को समझें।

हमारे मत मे इसका सबसे अच्छा समाधान निरुक्त के निम्नलिखित वचन से होता है -

> *"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु.। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेम ग्रथ समाम्नासिषुर्वेद च वेदागानि च।'*—निरुक्त 1 20

इस उद्धरण मे स्पष्टतया वैदिक परपरा की तीन अवस्थाओ का वर्णन है। प्रथम अवस्था मत्रो के साक्षात्कार की है, जिन पर मत्रों का साक्षात्कार हुआ वे स्वय 'साक्षात्कृतधर्माण' थे। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि वेदो के मत्र उनके लिए केवल बौद्धिक ज्ञान न थे, किंतु उनके जीवन के साथ उनका एकात्मभाव था। अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवताओं द्वारा प्रतिपालित ऋतरूप आधिदैविक धर्म और मनुष्य द्वारा अनुसरणीय सत्यरूप आध्यात्मिक धर्म के समन्वय का, या एकरूपता का जो कि वैदिक मत्रो का परम प्रतिपाद्य विषय है, प्रत्यक्ष प्रदर्शन उन ऋषियो की जीवनचर्या मे था। दूसरे शब्दो मे वेदो की उस प्रथम अवस्था मे ऋषियो का जीवन ही वैदिक मत्रो की जीतीजागती व्याख्या थी। हमारी समझ में मनुस्मृति का

> *अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम्।*
> *दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु सामलक्षणम्।।*

यह प्रसिद्ध श्लोक इसी अवस्था का वर्णन करता है।

इसके पश्चात् उन लोगो की परपरा चली जिनको उन ऋषियो के उपदेश के सप्रदाय से मत्रो की प्राप्ति होती रही और उनके जीवन को भी ऋषियो के जीवन से प्रेरणा और वैदिक जीवन का आदर्श मिलता रहा। शास्त्रो मे वर्णित वास्तविक 'श्रुति' काल यही था।

यही उपर्युक्त अवस्थाएँ वास्तव मे ऐसी थीं जब कि वैदिक आदर्शों का जीता-जागता रूप, न केवल शाब्दिक परपरा के रूप मे, किंतु जीवन में वस्तुत पाई जानेवाली वैदिक उदात्त भावनाओ के रूप मे भी, जगत् मे विद्यमान था। निश्चय ही उस दिव्य जीवन और अवस्था का ज्ञान हमे यदि हो सकता है तो केवल वेद के मंत्रो से ही हो सकता है। उत्तरकालीन साहित्य, चाहे वह कितना ही प्राचीन क्यों न हो, उस अवस्था को ठीक-ठीक अनुभव करने के लिए हमारा सहायक नहीं हो सकता।

यही वह समय था जब कि हमारे पूर्वज वास्तव मे, अपने प्रतिदिन के जीवन मे प्रकृति-माता की गोद मे मानो बच्चो की तरह खेलते हुए, परमात्मा के विभूतिरूप सूर्य, वायु, उषा आदि देवताओ के साथ मानो सखाभाव से विचरते और बातचीत करते हुए

> *चित्र देवानामुदगादनीक चक्षुर्मित्रस्य वरुणास्याग्ने ।*
> *आप्रा द्यावापृथिवी अतरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।। —ऋ 1 115.1*
>
> *वात जा वातु भेषज शम्भुयोभुनो हृदे ।*
> *प्राण आयूँषि तारिषत् ।। —ऋ 10 183.1*
>
> *एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योससाना समना पुरुस्तात् ।*
> *ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानत, व न दिशोमिनाति ।। —ऋ 1 124 3*

ऐसे दिव्य गीतो को गाते थे।

वास्तव मे इसी युग को मनुस्मृति का पुराणो मे मनुष्यो के बीच मे देवताओ के आने और वार्तालाप करने के रूप मे वर्णन किया है। यही वह समय था जिसको पुराणो आदि के साहित्य मे सत्ययुग का नाम दिया गया है।

इसके पश्चात् वह समय आया जबकि वास्तविक जीवन-चर्या और मत्रो के आदर्शों मे विभिन्नता आ गई और इसी कारण जीवन और आदर्शों की एकता से उपदेश मे जो प्रतिसक्रमण या प्रतिफलन की सामर्थ्य होती है उसके नष्ट होने से उपदेश के प्रति लोगो की अनास्था होने लगी। इसी कारण इस अवस्था मे वैदिक मत्रो और उनके अर्थों की परपरा को जारी रखने की दृष्टि से वेदागो की सृष्टि हुई।

यही वह अवस्था थी जबकि हमारी सम्मति मे उस विस्तृत वैदिक (श्रोत) कर्मकाड का विस्तार और सग्रथन किया गया, जिसका वर्णन 'ब्राह्मण' ग्रथो मे और श्रौतसूत्रो मे है। इसी बात का सुदर वर्णन।

> *तदेतत्सत्य मत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यस्तानि त्रेताया बहुधा सततानि।*
> —मुडकोपनिषद्, 1 2.1

(अर्थात्, मत्रो मे देखे गए कर्मों को ही पीछे से विस्तृत किया गया) इस उपनिषद्-वाक्य मे किया गया है।

इसी बात का आलकारिक वर्णन श्रीमद्भागवत (स्कध 11/5) मे इस प्रकार मिलता है .

> *कृत त्रेता द्वापरच कलिरित्येषु केशव. ।*
> *नानावर्णविधाकारो नानैव विधिनेज्यते ।।*

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैरा सुहृद: समा।
यजन्ति तपसा देव शमेन च दमेन च।।

त्रेताया रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखल।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्नुक्स्त्रु वाद्यु पलक्षण।।

त तदा मनुजा देव सर्वदेवमय हरिम्।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनी।।

इस वर्णन मे स्पष्टतया कर्मकाडात्मक यज्ञ के स्त्रु क्, स्रु वा आदि उपकरणो का वर्णन सत्ययुग के अतर (त्रेतायुग) मे किया गया है।

वैदिक कर्मकाड का विकास और ह्रास यो तो धार्मिक कर्मकाड की भावना मनुष्य मे स्वाभाविक है। जैसे एक बच्चा भी प्रकृति के सुदर दृश्यो को देखकर अपने उल्लास को दबाने मे अशक्त होकर उछलने-कूदने लगता है इसी प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक देवताओ के सपर्क मे एक अद्भुत उल्लास से प्रभावित होकर ब्राह्य चेष्टा द्वारा उसको अभिव्यक्त करना चाहता है। इसी आधार पर विभिन्न कर्मकाडो का विकास हुआ है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के सहारे विभिन्न जातियो मे, साधारण जनो के आकर्षण और मनोरजन की दृष्टि से, विभिन्न आदर्शों को मूर्त्त या ऐद्रियक रूप देने के लिए समय-समय पर विभिन्न कर्मकाडो का विकास होता रहता है।

मनुष्य समाज की यह एक सार्वकालिक प्रवृत्ति है, और इसकी आवश्यकता भी है, पर शनै-शनै कर्मकाड मे वह अवस्था आ जाती है जबकि वह जटिल होने लगता है और उसके सचालन के लिए समाज में एक विशिष्ट पुरोहित वर्ग की आवश्यकता होने लगती है। प्रारभ मे पुरोहित वर्ग समाज मे से ही बनने के कारण नियत्रित होने के साथ-साथ सयत भी होता है।

पर कुछ काल के अनतर कर्मकाड के विकास मे कलियुग की अवस्था आने लगती है। इसका दुष्प्रभाव उभयमुखी होता है। एक ओर तो जनता मे आलस्य और अकर्मण्यता की भावना के साथ-साथ यह विचार उत्पन्न हो जाता है कि उसका उपास्य देव उससे दूर और उसकी पहुँच से बाहर है। वह पुरोहितवर्ग का सहारा ढूँढने लगती है और अत मे अपनी कर्तव्यता का सारा भार पुरोहितवर्ग पर छोडकर धर्म मे वकालत या प्रातिनिध्य के सिद्धात को मानने लगता है। इससे उसकी रही-सही नैतिकता भी समाप्त हो जाती है। दूसरी ओर पुरोहित लोग, जो प्रारभ मे अथत: पुर हित अर्थात्, नेता का काम करते हैं, शनै-शनै जनता को अपने स्वार्थ के लिए दुहने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगते हैं। सिद्धात माना जाने लगा। इससे प्रथम तो वेदमत्रों के अर्थज्ञान की ओर से पूर्ण उपेक्षा होने लगी, दूसरी ओर उनकी व्याख्या यदि की भी गई तो प्रायेण पूर्णत

याज्ञिक दृष्टि से की जाने लगी।

यही कारण है कि वैदिक साहित्य का बहुत बडा भाग याज्ञिक दृष्टि से लिखा गया है। ब्राह्मण और कल्पसूत्रो के साहित्य के अतिरिक्त अधिकतर वेदागों का भी झुकाव, तात्कालिक विचारधारा के अनुसार, उसी ओर है यहाँ तक कि व्याकरण का सबध यद्यपि अर्थज्ञान से है तो भी महाभाष्य मे जो प्रयोजन व्याकरण के बतलाए हैं उनका भी आधिक्येन सबध याज्ञिक दृष्टि से ही है।

निरुक्त ही एक ऐसा ग्रथ (वेदाग) है जो स्पष्टतया याज्ञिक पद्धति को छोडकर अपना स्वतत्र आधार रखता है। इसलिए निरुक्त में यत्र तत्र *'इति याज्ञिका'* तथा 'इति नैरुक्त' का परस्पर विरोधभाव से प्राय उल्लेख किया गया है। यह विचित्र बात है कि आचार्य दयानंद से पहले याज्ञिक प्रक्रिया के विरोध के रूप मे नैरुक्त-प्रकृया हैं इस बात की ओर, स्कदस्वामी आदि बहुत थोडे ग्रथकारो को छोडकर प्रायेण किसी का ध्यान नहीं गया था। यही कारण है कि यास्क के अनतर जो भी वेद-भाष्यकार हुए हैं उनमें से प्राय सभी ने याज्ञिक दृष्टि के आधार पर ही अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं।

वैदिक कर्मकांड के विकास में तीन दृष्टियाँ

ऊपर हमने वैदिक कर्मकाड के विकास की सामान्य रूप से चर्चा की है। इस प्रसग मे उस विकास मे क्रम से आनेवाली तीन दृष्टियो को स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। वे इस प्रकार हैं

(1) आध्यात्मिकता-मूलक आधिदैविक दृष्टि।

वैदिक मत्रो के देवताओ पर विचार करते हुए निरुक्तकार यास्क आचार्य ने कहा है

'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधास्तुवत एकस्यात्मनोऽन्ये देवा. प्रत्यगानि भवन्ति' (नि 7.4)

इसका अभिप्राय यही है कि

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चद्रमा ।
तदेव शुक्र तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापति ।।'—यजु 32।

इत्यादि मत्रो के अनुसार वेद के तत्तद्देवता को एक परमात्मतत्व की ही विभूति समझना चाहिए। यही आध्यात्मिकता-मूलक आधिदैविक दृष्टि है। वास्तव मे वैदिक कर्मकाड का प्रारंभिक विकास इसी दृष्टि के आधार पर ही हुआ होना चाहिए।

(2) शुद्ध आधिदैविक दृष्टि वैदिक कर्मकाड के विकास की द्वितीय अवस्था मे आध्यात्मिकता के आधार को छोडकर तत्तद्देवता की स्वतत्र सत्ता मानी जाने लगी थी। यही शुद्ध आधिदैविक दृष्टि कही जा सकती है।

(3) अधियज्ञ दृष्टि। उक्त कर्मकांड की अंतिम अवस्था में यज्ञ की प्रक्रिया

को ही एक यत्र (मशीन) की स्थानीय मानकर तत्तद्योग आदि को ही समष्टि रूप से अपूर्व का उत्पादक माना जाने लगा था। इस दृष्टि मे तत्तद्देवता की स्वतत्र सत्ता को भी, उसके द्वारा बाधा के भय से, न मानकर 'मंत्रमयी देवता' इस मीमासा के सिद्धात का मानना आवश्यक हो गया था। इसी अधियज्ञ दृष्टि के कारण वस्तुत 'अनर्थका हि मत्रा', 'ब्राह्मणा (ऋत्विग्रूपा) के भूमिदेवा' (देखे, शतपथ 4 3.4 4.) ऐसे सिद्धातो की शनै-शनै प्रवृत्ति हुई। महाभाष्य का 'वेदमोधत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति वेदान्नो वैदिकरूप शब्दा सिद्धा लोकाच्च लौकिका" (पस्पशाहिक) यह कथन भी वास्तव मे उसी परिस्थिति का द्योतक है। इसी दृष्टि के दुरुपयोग के कारण वैदिक कर्मकाड बढते-बढते जनता के ऊपर भारभूत हो गया, उसमे वैदिक भावनाओ की मौलिक नैतिकता का आधार भी प्राय नहीं रहा, और इसीलिए अत मे जनता से वह उठ गया। यही समय जबकि नैतिकता प्रधान जैन और बौद्ध धर्मों का उदय भारतवर्ष मे हुआ।

आधुनिक हिदू धर्म मे कर्मकाड मे कृतकृत्यता की भावना का मूल वैदिक कर्मकाड के विकास की यही अतिम अधियज्ञ दृष्टि है।

वेदों का महान् आदर्श

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रायेण शुष्क और आदर्शहीन कर्मकाड की धारा के प्रवाह मे बढते हुए हम वेद के वास्तविक आदर्शों और भावनाओ से बहुत दूर पहुँच गए हैं, लगभग ऐसे रेगिस्तान मे जहाँ वह धारा ही सूखने को आ गई है। उनका हमारे जातीय जीवन से प्राय कोई सबध नहीं रह गया है। जनता का वेदो से अब कोई सबध नहीं है। हमारे देश मे प्रायेण वैदिकता यदि कुछ शेष है तो केवल इस रूप मे कि यदा कदाचित् समाज के एक अश मे विवाह आदि के अवसर पर कुछ वेद-मत्र, शुद्ध या अशुद्ध किसी पुरोहित के द्वारा पढ दिए जाते हैं--बिन मत्रो के अर्थों को अधिकतर न तो पढनेवाला और न सुननेवाले ही समझते हैं।

देखना यह है कि हमको, हमारे देश को और ससार को वास्तव मे वेदो की उपयोगिता या आवश्यकता है भी या नहीं। यदि वास्तव मे नहीं है, तो हमारे पूर्वजो ने प्रागैतिहासिक काल से उनकी परपरा की रक्षा ऐसे प्रकार से महान कष्टो को झेलकर भी क्यो की, जिसका दूसरा उदाहरण ससार मे अन्यत्र नहीं मिलता ? और ऋषि, मुनि, आचार्यों ने, जिनका वास्तविक महत्ता के ही कारण ससार उनका आज भी सम्मान करता है, उनके बराबर गीत क्यो गाए हैं ?

यह स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाड की उच्छिन्नप्राय परपरा के आधार पर वेदो की उपयोगिता या महत्ता को हम संसार के सामने सिद्ध नहीं कर सकते। उसके द्वारा ही तो वैदिक परपरा को धक्का लगा है। यहाँ तक कि उस कर्मकाड ने ही अपने प्राचीन वैदिक रूप को छोडकर अब एक नया रूप धारण कर लिया हैं। इसलिए अब तो हमे वेद के विचारो और आदर्शों को ही कसौटी पर रखकर

देखना चाहिए कि उनका मूल्य कितना है। वास्तव मे जैसे सूर्य के प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार वेद की महत्ता को सिद्ध करने के लिए वेद की ही सहायता लेनी चाहिए। इसलिए हम इसी आधार पर अपना परीक्षण प्रारभ करते हैं।

वैदिक देवतावाद

वेद को पढते ही सबसे प्रथम समस्या जो पढनेवाले के सामने उपस्थित होती है वह तत्तद्देवता को लेकर स्तुति की है। आपातत यही प्रतीत होता है कि वह बहुदेवतवाद के सिद्धात पर आश्रित है। पर गभीर अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि किन्हीं अर्थों मे विचारकृत तत्तद्देवता का व्यक्तित्व होते हुए भी, वह अन्यस्थानीय तथा अन्यान्य कर्म करनेवाले देवताओ के साथ एकसूत्रता मे अनुस्यूत है। स्पष्टत उनका मूलरूप अध्यात्म है जिसका कार्मिक दृष्टि से विभिन्न प्रतीति को ही तत्तद्देवता का नाम दिया गया है। वेद के 'तदेवानिस्तदादित्य' (यजु 32.1) आदि मत्र तथा गीता का विभूतिवाद इसी सिद्धात की व्याख्या करते हैं।

वैदिक देवतावाद का लक्ष्य यही है कि विश्वप्रपच की प्रत्येक विभूति मे उसके द्वारा उस परमतत्व का साक्षात्कार किया जावे जिसका योगी लोग बडी तपस्या और साधना से अपने अदर साक्षात्कार करना चाहते हैं। पर कर पाते हैं या नहीं, यह सदिग्ध है।

वैदिक देवतावाद प्राकृतिक शक्तियो के साथ मनुष्य जीवन के सामीप्य की ही नहीं, तादात्म्य की भी, आवश्यकता को बतलाता है। वास्तव मे आज के जगत् की यह एक अत्यत आवश्यक है, जबकि यत्रो और वैज्ञानिक आविष्कारो के प्रभाव से हमारा जीवन प्रकृति और स्वाभाविकता से बहुत दूर होता जा रहा है। वानप्रस्थाश्रम, तीर्थों की यात्रा, मुनियो के आश्रम, तथा गुरुकुलों की परंपरा का स्मरण रखनेवाली भारतीय सस्कृति का सदा से यह सदेश मानव जाति के लिए रहा है। आज ससार को इसकी और भी अधिक आवश्यकता है।

एक बात यहाँ कहना आवश्यक है। आजकल वेद के व्याख्याता, अग्नि, इद्र आदि वैदिक देवताओ के स्वरूप की व्याख्या प्रकाशमान ईश्वर, ऐश्वर्यशाली परमेश्वर इत्यादि प्रकार से ही कर देना पर्याप्त समझते हैं। पर क्या इनका प्रयोग वेद मे विशेषण रूप से ही है ? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। तत्तद्देवताओ के निश्चित रूप से विभिन्न स्थिर नाम देने का अभिप्राय उनके स्थिर निश्चित स्वरूप से अवश्य होना चाहिए। *'अह वैश्वानरो भूत्वा पचाम्यन्न चतुर्विधम्'* गीता के इस वचन से इसी बात का कुछ सकेत मिलता है। इसलिए हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकानेक वैदिक देवताओ के विशिष्ट मौलिक स्वरूप को समझने की अपेक्षणीय चेष्टा अभी तक नहीं की गई है। अश्विनौ, त्वष्टा, पूषा, नराशस; रुद्र. आदि ऐसे ही नाम हैं। इस सबध मे तत्तद्देवताओ के विशिष्ट वर्णनो के गभीर अध्ययन की आवश्यकता है।

ऋत और सत्य

वैदिक भावनाओ का दूसरा मौलिक आधार ऋत और सत्य का सिद्धात है। जिस प्रकार वैदिक देवतावाद का लक्ष्य एकसूत्रीय परमात्मतत्व का साक्षात्कार है, इसी प्रकार ऋत और सत्य के सिद्धात का अभिप्राय सारे विश्वप्रपच मे व्याप्त उसके नैतिक आधार से है। इस आधार के दो सिरे या रूप हैं। बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमो के अधीन चल रही है। परतु उन सारे नियमो मे परस्पर विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श है उन सबका आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना यही वास्तविक धर्म है। परतु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढकर, ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानती है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमो और आत्मिक नियमो मे परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव मे ही है। 'ऋतस्य धीतिर्वृष्टिनाति हन्ति' (ऋ 4 23 8) "सा मा सत्याक्ति परि पातु विश्वत" (ऋ 10.37 2) इत्यादि मत्रो मे ऋत और सत्य की ही महिमा का वर्णन है। मनुष्य अपने प्रति सच्चा रहे औ: प्राकृतिक नियमो का भी पालन करे इससे अधिक कल्याणकारी उपदेश मनुष्य के लिए क्या हो सकता है।

वैदिक उदात्त भावनाएँ

वेदो का अद्वितीय वैशिष्ट्य और महत्ता इस बात मे है कि वे एक अत्यत ऊँचे, अत्यत विशाल, और अत्यत व्यापक स्तर पर मनुष्य को बिठाकर उपदेश देते है। उनकी दृष्टि यावद्विश्वप्रपच मे व्याप्त है। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभित येन नाक" (यजु 32 6) 'ऋतञ्च सत्य चाभीदात्तपसोऽध्यजायत" (ऋ 10 190 1) तथा "सर्व तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्" (अथ 4 16 5) के अनुसार परमात्मा अखिल विश्वप्रपच मे व्याप्त होकर मनुष्य के बाहर और भीतर सर्वत्र सबका शाश्वत नियमो से सचालन कर रहे है। ऐसे अत्यत महत्त्व के सिद्धातो की पृष्ठभूमि मे वैदिक आदर्शों और भावनाओ का उदात्त और उदार होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि वेद को हम विश्वबधुत्व, विश्व शाति, समष्टि भावना, भद्र-भावना, आशावाद, निर्भयता, श्रद्धा, सामजस्य के महान आदर्शो और उदात्त भावनाओ से ओत-प्रोत पाते हैं, जैसाकि सक्षेप मे हम नीचे दिखाते हैं।

विश्वबंधुत्व और विश्वशांति

वेद मे 'मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (यजु 36.18) "पुमान् पुमास परि पातु विश्वत" (ऋ 6 75 14) "यॉश्च पश्यामि यॉश्च न तेषु मा सुमति कृधि" (अथर्व. 27.1.7) जैसे विश्वबधुत्व और "श न- सूर्य उरुचक्षा उदेतु श अचतस्र प्रदिशो भवन्तु।" (ऋ 7 35 8) जैसे विश्वशाति के भाव भरे पडे हैं।

समष्टि-भावना

वैदिक प्रार्थनाओं की एक विशेषता यह है कि वे प्राय: बहुवचन में होती है। "धियो यो नः प्रचोदयात्", "यद् भद्रं तन्न आसुव", "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्" इत्यादि-इत्यादि मंत्रों में बहुवचनों मे ही प्रार्थनाएँ की गई हैं। यह साधिक प्रवृत्ति वर्तमान हिंदूधर्म तथा हिंदूधर्म तथा हिंदूसमाज की वैयक्तिक भावनाओ के सर्वथा विपरीत है। किसी भी समाज की उन्नति तथा रक्षा के लिए यह समष्टि-भावना कितनी आवश्यक है इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

भद्र-भावना

मनुष्य स्वभाव से सुख के लोभ और दुख के भय से किसी काम मे प्रवृत्त या उनसे निवृत्त होता है। परतु वास्तविक धर्म की भावना मे इस सुख-दुख की भावना का कोई स्थान नहीं होता। उसमे तो सुख और दुख के ध्यान को नितरों छोडकर [सुख-दु खे समे कृत्वा] विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से ही काम करना होता है। यही वास्तविक भद्र-भावना या कल्याण-भावना है। जैसे एक फूल का सौंदर्य और सुगध, किसी बाह्य कारण से न होकर, उसके स्वरूप का अग है, ऐसे ही एक कल्याणमार्ग के पथिक का निरपेक्षया अनासक्त होकर कर्तव्यपालन करना उसके स्वरूप का अग होता है, उसके जीवन का सार्थक्य जीवन की पूर्णता ही इसमें होती है।

"भद्र कर्णेभि", "यद् भद्र तत्र आ सुक्य भद्र जीवन्त जरणामशीमहि" "भद्र नो अपि वातय, मन.", "भद्र भद्रं न आ भर" इत्यादि शतश वेद मत्र भद्रभावना से ओतप्रोत हैं।

आशावाद

वैदिक धर्म की एक मुख्य विशेषता उसका आशावाद है। हमारा वैदिक साहित्य आशावाद के ओजपूर्ण भावो से परिपूर्ण है। 'ओजोऽस्योजो मयि धेहि' "अदीना स्याम शरदः शतम्" "मदेम शतहिमा. सुवीरा.", "कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे", "विश्वदानी सुमनस स्याम", "अस्माक सन्त्वाशिष.", "पश्येमशरद शतम्" जैसी प्रार्थनाएँ आशावाद की ही समुज्ज्वल प्रतीक हैं।

इनके अतिरिक्त सामनस्य, निर्भयता, वीरता, श्रद्धा आदि की उदात्त भावनाएँ वेदों की अद्वितीय विशेषता है।

आश्चर्य तो यह है कि सहस्राब्दियो से वेदों की इस परमोत्कृष्ट विशेषता को हमारी जाति बराबर उपेक्षा करती रही। बड़े-बडे वेदभाष्यकारो का भी ध्यान इस ओर नहीं गया। तभी तो गीता जैसे तात्विक ग्रथ में भी 'यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चित" [गीता 2.42] इन शब्दो मे वेदों का स्मरण किया गया है। स्पष्टतया यह सारा दुष्प्रभाव वेद को कर्मकाड का साधन मात्र माननेवाले वैदिक कर्मकाडियों के विचारों का ही था, जैसा हम दिखला चुके हैं। यदि ऐसा न होता, यदि वेद के इस स्वरूप को जनता के सामने रक्खा गया होता, तो कदाचित् जनबौद्ध जैसे नैतिकताप्रधान सप्रदायो का प्रारभ और विकास उनके वर्तमान रूप

मे न होता। नि सदेह आचार्य दयानद का बहुत बडा काम वेद की इस विशेषता की ओर ससार का ध्यान दिलाना था।

वेद पर सर्वसाधारण का अधिकार

जब तक वेदो का केवल वैदिक कर्मकाड का साधन (कर्मकरणा हि मन्त्र) माना जाता रहा, यह स्वाभाविक बात थी कि उन पर जनता का अधिकार न हो और उनको केवल विशिष्ट लोगो के लिए ही सीमित रक्खा जावे। उसी समय ऐसे नियम बनाए गए थे कि शूद्र यदि वेदो को सुन ले तो उसके कानो मे पिघला हुआ सीसा डलवा देना चाहिए, और यदि बोले तो जिह्वा कटवा देनी चाहिए। (देखिए—गौतमधर्मसूत्र प्र 2 अ 3 सू 4 —अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्या श्रोतप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद)। पर अब तो वह कर्मकांड ही प्राय विलुप्त हो चुका है और साथ ही अपनी उदात्त भावनाओ और आदर्शों के कारण वेदो की सार्वभौमस्वरूपता स्पष्ट होने लगी है। ऐसी अवस्था में हमारा कर्तव्य हो जाता है कि मानवमात्र के हित की दृष्टि से ही वेदो को जनता या सर्वसाधारण की पुस्तक बनाने का प्रयत्न करे। स्वयं वेद ही "इमां वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य" इस बात को स्पष्टतया प्रतिपादन करते है।

पर इस लक्ष्य की सिद्धि कैसे हो सकती है—यह एक महान प्रश्न है। हमारे मत मे इसके लिए निम्नलिखित उपायो की आवश्यकता है

(1) सबसे पहला उपाय यह है कि वेदाध्ययन को अधिक से अधिक सरल, और सुबोध और साथ ही रोचक बनाया जावे। हमारी दृष्टि मे वैदिक भाषा तथा वैदिक व्याकरण के ऊपर ऐसी पुस्तके लिखी जा सकती हैं जिनके द्वारा सर्वसाधारण की सरलता से वैदिक साहित्य मे गति हो सकती है। इस विषय मे एक वृहद् योजना हमारे सामने है जिसको यथासमय कार्यान्वित करने का हमारा विचार है।

(2) वेदो को वस्तुत असाम्प्रदायिक दृष्टि से जब तक जनता के सामने नहीं रक्खा जावेगा तब तक आजकल के युग मे उनकी ओर जनता का आकर्षण नही हो सकता। ससार मे बडे से बडे पुरुषो और ग्रथो का उपयोग और महत्त्व इसीलिए प्राय कम हो जाता है, क्योंकि उनको उनके ही माननेवालो ने तत्तत्सम्प्रदाय की सीमा मे बद्ध कर दिया होता है। आज कवीद्र रवींद्र और उनकी गीताजलि को ससार जानता है और उनका अध्ययन ससारव्यापी है। क्योकि उनका सबध किसी सप्रदाय विशेष से नही है। पर यह बात भगवान् महावीर और उनकी धर्म पुस्तको के विषय मे नही कही जा सकती। इसलिए वेदो का वास्तविक महत्त्व ससार को तब ही विदित होगा जबकि हम उनको साप्रदायिक भावना से पृथक् रखेगे। उनको विभिन्न सप्रदायो की पुस्तको के साथ एक ही धरातल पर रखने से उनका मान और स्वरूप घटेगा ही, बढेगा नहीं। वेदो के लिए 'वेद' शब्द का प्रयोग ही बडे महत्त्व की बात है। वेद का अर्थ ज्ञान है और ज्ञान साप्रदायिक हो ही नहीं सकता। कदाचित् लोगो को नही ज्ञात है कि विदेशो मे अब भी इस

शब्द के प्रयोग की परंपरा जीवित है। चेकोस्लोवाकिया में 'वेद' शब्द का प्रयोग साइंस के लिए अब भी प्रसिद्ध है।

(3) प्राय: कम लोग जानते हैं कि अर्थहीन शुष्क कर्मकांड की प्रवृत्ति के बढ़ने से अर्थज्ञान की ओर से जनता को उपेक्षा होने लगती है। उससे नैतिक भावनाओं के ह्रास की बात हम ऊपर दिखला चुके हैं। आचार्य दयानंद ने यही समझकर आर्योद्देश्यरत्नमाला में 'यज्ञ' की संसार-हित-संपादन का कार्य एतदर्थक परिभाषा की है। इस पर भी लोग परंपरागत भावनाओं से प्रेरित होकर अर्थ को नितराँ न समझते हुए भी सहस्रों मंत्रों से स्वाहा-स्वाहा करते हुए बड़े-बड़े हवनों में लक्षों रुपए का व्यय (या अपव्यय ?) करते हुए देखे जाते हैं। वास्तव में वैदिक भावनाओं के सर्वसाधारण के प्रचार में इससे भी बड़ी हानि सदा से ही होती रही है! निश्चय ही वेदों की वास्तविक महत्ता संसार पर इन बृहद् हवनों से नहीं प्रकट हो सकेगी। जितना कर्मकाड आवश्यक है उसमें भी सार्थकता और गंभीरता लाना चाहिए।

(4) किसी सिद्धांत की महत्ता उसकी अपनी ही महत्ता पर निर्भर होती है जोकि किसी भी भाषा में प्रकट की जा सकती है। वेद का वेदत्व उसके अर्थ मे है, जबकि उसके शब्दों में; यद्यपि परंपरा की रक्षा के लिए उसकी शब्दानुपूर्वी की रक्षा भी हमारा महान कर्तव्य है। शब्दों के अर्थ करने में भी सदा शब्दानुवाद से काम नहीं चलता, भावानुवाद की भी प्राय: आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, वानप्रस्थाश्रम के वानप्रस्थ शब्द का आजकल भावानुवाद ही किया जा सकता है। इसी प्रकार वेदो के शब्दों की व्याख्या मे भी आवश्यकता हो सकती है। अभिप्राय यह है कि वेदो पर जनता की पहुँच और अधिकार के लिए उनको जनता की भाषा ने ही जनता के सामने अधिक से अधिक रखने की आवश्यकता है। यही बात वेदों के संदेश को विदेशों में ले जाने के लिए भी अपेक्षित होगी।

वेदों के विषय में हमारी आवश्यकता और कर्तव्य

ऊपर हम दिखला चुके हैं कि सहस्र वर्षों के अनंतर अब फिर से ध्यान वेदों के मौलिक या वास्तविक रूप की ओर गया है। निःसंदेह इस नवीन जागरण का सबसे बड़ा कार्य आचार्य दयानंद का है। खेद है उसके बाद हम लोग उस पथ पर विशेष अग्रसर नहीं हो सके हैं। वेदविषय में हम लोगों ने कुछ भी नई प्रगति की है यह संदिग्ध है। इसलिए यहाँ हम यही, इसमें ही दिखलाना चाहते हैं कि इस विषय मे जिनकों वेदों में आस्था और श्रद्धा है, क्या-क्या पसंद है।

वास्तव मे देखा जावे तो यही प्रतीत होगा कि वेदो मे वास्तविक अभिप्राय को समझने और प्रकट करने के लिए अभी हमने बहुत कम कार्य किया है। भाषा और व्याकरण दोनो की दृष्टि से हमारा काम प्राय: नगण्य ही है। वेदों की भाषा पिछली सस्कृत से पर्याप्त रूप में भिन्न है यह छिपा नहीं है। उस प्राचीनतम भाषा का व्याकरण, उसके शब्द, शब्दों के प्रयोग, और मुहावरे भी पिछली सस्कृत से बहुत कुछ भिन्न हैं। इन सबका व्यवस्थित अध्ययन और अनुशीलन अभी तक किया ही नहीं गया है। इनमें प्राय: मनमानी और स्वेच्छाचारिता से काम ले लिया जाता है।

पाणिनि-व्याकरण मे, यद्यपि उसको वेदाग कहा जाता है, वैदिक व्याकरण का केवल प्रासगिकरूपेण प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए वह 'बहुलं छन्दसि' और 'छन्दसि व्यत्ययो बहुलम्' इस प्रकार के नियमाभासो से भरा पडा है। 'बहुलम्' का अर्थ राजनीतिक शब्दावली मे 'अराजकता' ही है पर किसी भाषा मे, विशेषकर वैदिक भाषा मे अराजकता हो नहीं सकती। इसलिए इस विषय मे हमे अभी बडा कार्य करना है। पाश्चात्य विद्वानो ने इस विषय मे बडा कार्य किया है। उससे भी हमे सधन्यवाद सहायता लेनी आवश्यक है।

वैदिक भाषा मे भी अनेकानेक शब्दो और वाक्य-खडो का प्रयोग मुहावरे के रूप मे विशेष अर्थ रखता है—इस पर भी विद्वानो को बहुत कार्य करना है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे एक स्थान मे याज्ञवल्क्य के प्रति विचारप्रसग मे कहा गया है "मूर्धा ते विपतिष्यति"। इसका शाब्दिक अर्थ जो प्राय किया जाता है, स्पष्टत असगत है। पर 'तुम्हारा अपमान होगा' यह लाक्षणिक अर्थ बिल्कुल सगत बैठता है। ऐसे ही प्रयोग वेदमत्रो मे भी हैं। उनकी ठीक-ठीक व्याख्या अपेक्षित है।

इसी प्रकार निघण्टु और निरुक्त मे भी जिनकी अत्यत उपयोगिता वेदाध्ययन मे होती है, अनेकानेक स्थल और विषय ऐसे हैं जिनके विशेष मनन और अनुशीलन की आवश्यकता है।

ब्राह्मणादि ग्रथो का प्राचीन वैदिक साहित्य, यदि उसका व्यवस्थित ढग से गभीर अनुशीलन किया जावे तो, वेदो के अर्थ मे बहुत सहायक हो सकता है। परतु इस विषय मे हमने कितना कार्य किया है यह कहने की बात नही है।

इसी प्रकार बहुत बडा वैदिक साहित्य टीका आदि रूप मे अभी तक अमुद्रित और अप्रकाशित पडा है। उसके विषय मे भी हमारी अभी तक उदासीनता ही है।

कहने का अभिप्राय यह है कि वेद का नाम रटते-रटते, इस नवीन जागरण के युग मे भी, बहुत दिन हो गए। अभी तक तो हमने, विदेशियो ने भी जो काम वेद के विषय मे किया है उसका भी दशमाश नहीं किया है। यद्यपि हमारा उत्तरदायित्व इस विषय मे उनकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक है।

स्पष्टत देश मे ऐसी एक महान सस्था की आवश्यकता है जो, वेदो के महत्त्व के अनुरूप, अपनी पूरी शक्ति से, वैदिक वाड्मय के ही स्वाध्याय, अनुशीलन और अनुसधान के साथ-साथ, वैदिक आदर्शों और उदात्त भावनाओं के वास्तविक स्वरूप को लोगो के सामने रखने का प्रयत्न करे।

अत मे हम वेद के ही शब्दो मे अपने भाषण को समाप्त करते हैं

मेधामह प्रथमा ब्रह्मण्वती
ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रणीता ब्रह्मचारिभि
र्देवानामवसे हुवे।। —अथर्व 6 108.3

[सन् 1950]

वेदों का महत्त्व और हमारा कर्तव्य

श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

"सर्वं धर्मे प्रतिष्ठितम्"
"धर्मो वेदे प्रतिष्ठित"

यो जागार तमृच कामयन्ते।
यो जागार तमु सामानि यन्ति।।
यो जागार तमय सोम आइ।
तवाहमस्मि सख्ये न्योका।।—ऋ 1 44 14

अग्निर्जागार तमृच कामयन्ते।
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।।
अग्निर्जागार तमय सोम आइ।
तवाहमस्मि सख्ये न्योका।।—ऋ 1 44 14

जो जागता रहेगा ऋग्वेद उसी की कामना करते रहेगे। जो जागता रहेगा उसी के पास साम आएँगे। जो जागता रहेगा उसी के पास सोम आकर कहेगा कि मैं तेरा हूँ, मैं तेरे साथ ही नाता-मित्रता रक्खूँगा, मैं तेरे ही पास रहूँगा।

अग्नि जागता रहा, ऋग्वेद उसकी कामना करते रहते हैं। अग्नि जागता रहा, सोम ने आकर उससे कहा अथवा सोम उसके पास आकर कहता रहा कि मैं तेरा हूँ, मैं तेरे साथ ही नाता-मित्रता रक्खूँगा, मैं तेरा हूँ और तेरे ही पास रहूँगा।

इन दोनो मत्रो से स्पष्ट है कि वेदो से मित्रता गॉठनी हो तो जागते रहना पडेगा। यहाँ जागने का क्या अभिप्राय है ? साधारण मनुष्य के जागने-सोने की व्याख्या और ही है। योगी के जागने-सोने की व्याख्या भी भिन्न है। यहाँ तो ध्यान योग मे प्रवृत्त होकर त्याग-तपस्या द्वारा प्रातिभज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्नो का अर्थ ही जागरण है। वह प्रातिभज्ञान ही सोम है जो आकर कहता है कि मैं तेरा ही मित्र हूँ मैं तेरे साथ ही रहूँगा इत्यादि। साधारण मनुष्य की दृष्टि से जो वेदो का ज्ञान होता है अथवा प्रातिभज्ञान प्राप्त व्यक्ति को जो वेदों का ज्ञान होता है इन दोनों मे बडा अंतर है

हृदा तुष्टेषु मनसा जवेषु।
यद्ब्राह्मणा सयजन्ते सखाय।।
अत्राह त्वे विजहुर्वेद्याभि ।
ओह ब्रह्माणो विचरन्त्युत्वे।।—ऋ 10 11 8

इसकी व्याख्या करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं

सेय विद्या श्रुतिमतिबुद्धिलक्षणा।
तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम्।।

अर्थात् इस वेद विद्या का पार पाना हो तो तप से ही सभव है।

इसके साथ ही गभीर वेदतत्व को अगवत करना हो तो गुरु कृपा भी आवश्यक है।

यस्य देवे पराभक्ति ।
यथा देवे तथा गुरौ।।
तस्यैते कथिता ह्यर्था ।
प्रकाशन्ते महात्मन ।।

गुरु कृपा के बिना वेदार्थ तत्त्व-ज्ञान असभव ही है

इसके अतिरिक्त भावशुद्धि की भी अपेक्षा है। भावशुद्धि, गुरुभक्ति, गुरु शुश्रूषा, त्याग-तपस्यापूर्वक ही वेदाध्ययन सफल हो सकता है। मनु ने स्पष्ट कहा है कि

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च।
नियमाश्च तपासि च।।
न विप्रदुष्टभावस्य।
सिद्धि गच्छन्ति कर्हिचित्।।

दूषितभावयुक्त गुरुशिष्य हो तो न तो वेद न त्याग, न यज्ञ, न नियम, न तप, कोई भी तो सिद्ध नही हो सकता

इस दृष्टि से विचार किया जाए तो मन मे प्रश्न उठते हैं कि आर्यसमाज मे कहीं गुरुशिष्यभावपूर्वक, त्यागतपस्यापूर्वक वेदो का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है कि नही ? यह भी प्रश्न उठता है कि आर्यसमाज मे जितने वेदज्ञ है अथवा वेदज्ञ-ब्रुव हैं, इनमे से कितनो ने यथार्थ रूप मे गुरुमुख से वेदाध्ययन किया है ? अथवा केवल न्यूनाधिक रूप मे सस्कृत ज्ञान के बल पर वेदो के पीछे पडे हैं और वेदो को अपने स्वरूप को खोलकर दिखाने का अनुरोध अथवा हठ कर रहे हैं। क्या वे यह समझ रहे हैं कि त्याग-तपस्या के बिना, भाव शुद्धि के बिना, गुरु कृपा एव गुरुसेवा के बिना, श्रद्धा के बिना वेद अपना यथार्थरूप प्रकट कर देगे ?

क्या हम लोग यह समझ बैठे हैं कि हम जो अल्पस्वल्प प्रयत्न कर रहे हैं इतने ही से हम संसार के उपकार करने में समर्थ हो सकेंगे ?—ये बातें गंभीरतापूर्वक विचार करने योग्य हैं।

आर्यसमाज के प्राण हैं वेद। वेद हैं, रहेंगे तो आर्यसमाज भी रहेगा। यदि वेदो से सपर्क छूटा, उनमे अनास्था हुई, नास्तिक बुद्धि आई कि आर्यसमाज गया ही समझिए। इसलिए वेदशास्त्रों के विषय में गत 60 वर्षों में हमको जो अनुभव मिले हैं उनसे हम कह सकते हैं कि वेदों की वाचिक रूप में महत्ता बढाने मे, वेदों के विषय में महानाद करने मे, वेदो की ओर ससार का ध्यान खींचने में तो हम अग्रसर ही रहे हैं परंतु कार्यरूप में हमारी इतनी प्रगति नहीं हुई है कि जिस पर हम गौरव कर सकें। वेदों को वेदो की दृष्टि से देखने और उसके यथार्थ स्वरूप को जानने की कला को हम सर्वथा भूल गए हैं। इस कटु सत्य को हमको मानना चाहिए कि अभी हमारा वेदों में यथारीति प्रवेश भी नहीं हुआ है, और हम वेदरूपी भव्यभवनो के द्वार पर ही अटक गए हैं और बाहर ही बाहर चारो ओर अवश्य ही घूम रहे हैं।

इधर तो आर्यजगत् की यह दशा उधर जिनके वशों में परंपरागत वेदाध्ययन होता रहता था, वे वश भी नष्ट होते जा रहे हैं। जो थोडे से बचे हैं, उन वंशों के नवयुवक भी अपनी परिपाटी को छोडकर नई शिक्षा-दीक्षा में रँगते जा रहे हैं, परपराएँ नष्ट होती जा रही हैं। अब यह दशा है कि .

थोडे से ऋग्वेदी ब्राह्मण प्राय महाराष्ट्र तथा दक्षिण में अधिकता से मिलेंगे। शुक्ल यजुर्वेदी प्राय. उत्तर भारत मे हैं, बगाल में भी। सामवेदी गुजरात में इने-गिने बचे हैं। प्राय. राजस्थान के श्री माली ब्राह्मणों में सामवेदी मिलेंगे। बंगाल में भी दो-एक घराने हैं। अथर्ववेदी ब्राह्मणों के 3-4 वंश बचे हैं समस्त भारत मे। सुना है तीन बबई में ही हैं। कृष्ण यजुर्वेदी मध्यप्रदेश तथा कर्नाटक में मिलेंगे। तैलगाना मे भी यत्र-तत्र हैं। पर इन लोगों में प्रायः परंपरागत वेद एवं उनकी शाखा एव यज्ञिय पद्धतियों का ही संचालन रहा है। अर्थज्ञानपूर्वक वेद अथवा वेद शाखाओं के अध्ययन की ओर किसी की भी प्रवृत्ति नहीं है।

वेदोद्धार कैसे हो ?

पाश्चात्य सस्कृतज्ञ विद्वान तथा उनके पद-पद्धति पर चलनेवाले यहाँ के पाश्चात्य शिक्षा में लालित-पालित-पोषित-परिवर्द्धित विद्वान एक निराली ही पद्धति का अवलंबन करके वेदार्थ के स्वरूप को विकृत करने मे सलग्न हैं। इनका निरुक्त, इनकी भाष्य करने की शैली विचित्र ही है। वे वैदिक शब्दों की लैटिन धातुओं द्वारा तोड-फोड करते रहते हैं—हमारी वेद-वेदांग पद्धति को नहीं अपनाते। वेदो में इतिहास आदि का विचित्र रूप में दिग्दर्शन कराते रहते हैं। इनकी पद्धति हमारे काम की नहीं। आर्यसमाज उनकी इस वेदों को विकृत करने की पद्धति को कदापि स्वीकार नहीं करेगा। इस वर्तमान विज्ञान युग में यह भी विचारणीय है

कि हम इस पाश्चात्य विज्ञान की ओर जाएँगे कि वह पाश्चात्य विज्ञान ही हमारे वैदिक विज्ञान की ओर झुकेगा। हमारी तो यह प्रतिज्ञा है कि वेद मे जो कुछ है उसी की आभा सर्वत्र है 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'।

विदेशी सपर्क तथा विदेशी शासन काल मे हमारे भारत की वैदिकों की परपरा ने किसी प्रकार वेद-वेदागों की रक्षा की थी। बीच के व्यामोह काल मे भी किसी प्रकार वेदादि सुरक्षित रहे। और हमारी पूर्वजों की परपरा ने 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म षडगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति' इस महाभाष्य के वचनानुसार निष्कारण धर्म पालन द्वारा वेद शास्त्र परंपरा की रक्षा की। जो वेद-परपरा क्रूर यवन काल में भी किसी प्रकार बची रही थी वह परपरा गौराग महाप्रभुओं के काल मे अधमरी हो गई और यह मानना ही पडेगा कि यदि स्वामी दयानद न आते अथवा न होते तो यह परपरा सर्वथा नि शेष हो जाती। स्वामी दयानद ने अनुभव किया कि यह भारतवर्ष यदि जीवित रह सकता है तो वह वेदाश्रय से ही रह सकता है, इसका धर्म, इसकी सस्कृति इसी के आश्रय से बच सकती है। उनका हम पर बडा ऋण है, हम इस ऋण से उऋण हो सकेगे कि नहीं, यह समय ही बतलाएगा।

वेदों की महत्ता

वेदों की महत्ता के विषय मे हम क्या हैं ? मनु भगवान् स्वय कहते हैं .

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोका ।
चत्वारश्चाश्रमा पृथक् ।।
भूत भव्य भविष्य च।
सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति।।
सेनापत्यं च राज्य च।
दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्य च।
वेदशास्त्रविदर्हति।।–अध्याय 12

वैदिक वर्णाश्रम धर्म की महत्ता को समझना हो, तीनो लोको की बात जाननी हो, भूत-वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञान प्राप्त करना हो तो यह सब कुछ वेदो से ही भली भाँति जाना जा सकेगा।

वेदज्ञ पुरुष सेनापति बन सकता है, राज्य-शकट चला सकता है, न्यायाधीश बन सकता है, समस्त लोको का अधिपति हो सकता है।

या तो हम इन वाक्यो मे श्रद्धा नहीं रखते अथवा हम इतने अनन्यगतिक हो रहे हैं कि हम कुछ नहीं कर सकते। या तो हम "वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है, वेद का पढना-पढाना और सुनना-सुनाना आर्यों का परम धर्म है" इस परम धर्म को समझे ही नहीं अथवा समझे हैं तो तदनुरूप श्रद्धा, त्याग, तपस्या नहीं। कोई बात तो अवश्य है ही।

जिन वेदों की महत्ता को स्वयं वेद अपने सुंदर शब्दों में प्रकट करते हैं। ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, समस्त शास्त्र, समस्त इतिहास पुराणादि एक स्वर से जिनकी महिमा को गाते हैं, उस वेद पुरुष की महिमा को दिग्-दिगन्तरो मे प्रसारित करने के लिए ही तो आर्यसमाज की स्थापना हुई थी, ऐसा प्रतीत होता है। दर्शनो का आनद दर्शनानद के साथ गया और श्रद्धा का आनद श्रद्धानद के साथ गया। इसीलिए तो गुरुकुलों की स्थापना हुई है किंतु श्रद्धा के न होने से ही हम मर रहे हैं :

जब गुरुकुलों के अधिकारी एव ब्रह्मचारी निष्कारण धर्म की महत्ता को समझकर तप-त्यागपूर्वक वेदाध्ययन करेगे तभी आर्यसमाज का उद्देश्य सफल हुआ समझिए। यदि हम अल्पश्रुत ही बने रहेंगे तो वेद हमसे डरते रहेगे क्योंकि

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति

वेद अल्पश्रुतो से डरते रहते हैं, इसलिए कि इन अल्पश्रुतो के हाथों में पडकर कहीं हमारा नाश न हो जाए, वेदो को अनुचित रीति से तरोड-मरोडने से ही तो वेद विकृत हो जाते हैं। इसलिए अब यह दशा है कि हम वेदों से डरते हैं और वेद हमसे डर रहे हैं।

वेद हमसे इसलिए डरते हैं कि हम निष्कारण धर्म के तत्त्व को नहीं समझ रहे हैं। हम वेदो से इसलिए डर रहे हैं कि मानने लगे हैं कि वेद हमे रोटी नहीं दे सकता।

वेदो के विषय में ऐसा पाठ्यक्रम रहना चाहिए कि प्रति 10 वर्ष पीछे 40.50 वेद तत्त्वज्ञ समाज को मिलते रहें। पर हमको तो पेट-पूजा की चिता पड रही है। इस अनत उदरदरी को भरने की चिता हमको मारे डाल रही है।

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीः।
उपरिपतन्त्वथवा कृपाणधाराः।।
परिहरतुतरा शिरः कृतान्तो।
मम तु मतिर्न मनागपैतु धर्मात्।।

इस तत्त्व का ध्यान नहीं। पेट का प्रश्न हमारे सम्मुख विकराल रूप धारण करके खडा हुआ है।

एक गुरुकुल के उच्च कोटि के स्नातक (जोकि वेदो में अच्छी प्रगति रखते हैं) मुझसे मिले और बोले कि मुझे 350) की नौकरी एक मिल मे मिल रही है, मैं वहीं जाने की चिता मे हूँ। मुझे आश्चर्य हुआ, मैंने उनसे पूछा कि ऐसा क्यो कर रहे हो तो उत्तर मिला कि जब वेदरूपी गौ ने दुग्ध देना छोड दिया है तब मैं क्या करूँ। किसी प्रकार कुटुंब पोषणता करना ही है। अवश्य ही यह बात विचारणीय है साथ यह दयनीय भी है। यह तो हुई एक स्नातक की बात। इसी

प्रकोर के विचार कितने स्नातकों के मन में न उठते होंगे।

वस्तुतः हमारी विचारधारा ही परिवर्तित होती जा रही है—देश की परिस्थिति ही बदलती जा रही है। वेदों की रक्षा की बात तो दूर रही, सस्कृत विद्या भी अपने स्वरूप मे स्थित रहेगी कि नहीं यही एक चिंता का विषय हो बैठा है।

आर्यसमाज के शिक्षणालयो को चाहिए कि अपने यहाँ एक ऐसा वेद विभाग खोले जिसमें वेदाध्यायी ब्रह्मचारियों के लिए पूरी-पूरी व्यवस्था हो और इतनी अच्छी व्यवस्था हो कि वेदाध्यायी समस्त चिंताओं से मुक्त होकर जीवन भर उसी पवित्र कार्य में जुटे रहे और समझ लें कि यही हमारा जीवनोद्देश्य है और 'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्'—अर्थात् इसी आसन पर बैठे-बैठे मेरा शरीर भले ही सूख जाए मैं इसी में जीवन को व्यतीत करूँगा। प्रति वर्ष ऐसे दस-दस, बीस-बीस छात्र प्रविष्ट हों और दस वर्ष के पश्चात् भी इनमें से दो-दो, चार-चार आस्तिक, श्रद्धालु वेदज्ञ निकलते रहे तो भी हमारे शिक्षणालय सफल समझिए।

यदि हम और हमारा प्रिय समाज मृत्यु से तरना चाहते हैं तो हमको अथर्ववेद के मृत्युतरण सूक्त का अध्ययन करना होगा—उस आनद को जानना होगा जिससे मृत्यु से बच सकते हैं। अथर्ववेद चतुर्थ काड सूक्त 35-4 को ध्यानपूर्वक पढिए।

'तेनोदनेनातितराणी मृत्युम्'—इन छह मत्रो को पढिए। अत्यत सुदर भावभरित मंत्र हैं।

लगभग 200 वर्ष हुए, हमारे पूर्वज ऋग्वेद का ही अध्ययनाध्यापन करते थे। किंतु कालवशात् हमारे पूर्वज निजामशाही मे नौकरी करने पर विवश हुए। वेद की परपरा छूटी, नौकरी की परपरा चली—तब से वह परपरा बिगडी। वैसे हम ऋग्वेदी ब्राह्मण हैं, हमारी सहिता है आश्वलायन। हमारा श्रौतसूत्र है आश्वलायन श्रौतसूत्र। हमारा गृह्यसूत्र आश्वलायन सूत्र गृंह्य। हमारा ब्राह्मण है ऐतरेय, हमारी उपनिषद् है ऐतरेयोपनिषद्। हमारा आरण्यक है ऐतरेयारण्यक। हमारा गोत्र है श्रीवत्स, हमारे पच प्रवर हैं—1 आप्लव, 2. औइव, 3 जामदग्न्य, 4. च्यवन, 5. पाराशर। यह हमारी परपरा है। उनमें मेरे गुरु कृष्णाचार्य ने मुझसे यह सब कण्ठस्थ कराया था। उपनयन के पश्चात् मेरे काशी जाने का अभिनय भी मैंने देखा था। ब्रह्मचारी रूप मे आर्यसमाज की ही कृपा हुई कि हम आस्तिक बने रहे, शास्त्री बने, वेदतीर्थ हुए और ऋग्वेदी कहलाने योग्य हुए। जब हमने ऋग्वेद में परीक्षा दी थी 1906 मे तब हम अकेले ही इस विषय के परीक्षार्थी थे समस्त भारत मे। स्वर्गीय पं. भक्तराम शास्त्री (डॉ. ए. वी कॉलेज के) यजुर्वेद मे थे। अब तो आर्यसमाज मे अनेक वेदतीर्थ उपाधिधारी हो गए हैं। इस परीक्षा के निमित्त से हम स्वर्गीय आचार्य सत्यव्रत सामश्रयी, फेलो एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल तथा कलकत्ता युनिवर्सिटी के लेक्चरार के शिष्य बने। 'शास्त्री' होने पर भी हमको फिर गुरुमुख से निरुक्त (साधोपान्त) पढना पडा। ऋग्वेद सबधी सभी पुस्तको

का अध्ययन करना पडा, तब हम जान सके कि यह वेदविज्ञान कितना विस्तृत है। यदि हम इसी अध्ययन को स्वाध्याय द्वारा परिपक्व करते रहते तो हम अपना तथा समाज का बहुत बडा उपकार कर सकते थे, वह कर न सके इसका हमको खेद है। वह क्यों, यह मत पूछिए। 'व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ति। रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देह। आयु स्रवतिभिन्नघटादिवाम्भो'—यह दशा है। इस क्षीण पश्चिम अवस्था मे कुछ हो भी नहीं सकता। किंतु हम यह अवश्य चाहते हैं कि भगवान् गुरुकुलो के ब्रह्मचारियों को बल देवे जिससे वे आर्यसमाज की कमी को पूरा करे—आर्यसमाज का भूत महान रहा है, वर्तमान ढीला चल रहा है किंतु भविष्य भी महान हो यही हमारी हार्दिक अभिलाषा है।

आपके गुरुकुल में वेदानुसंधान का काम हो रहा है, कतिपय विद्वान स्वाध्यायशील रहकर वेद विषय मे ग्रंथ निर्माण करते रहते हैं यह प्रसन्नता की बात है। इस विषय मे श्री रामनाथजी, आचार्य श्री प्रियव्रतजी, श्री भगवद्दतजी का नाम उल्लेख योग्य है। आपके भूतपूर्व आचार्य देवशर्माजी ने भी अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखी हैं, मैं यह सब कुछ इस गुरुकुल को अपना गुरुकुल समझकर ही लिख रहा हूँ। इस गुरुकुल का बडा नाम है। धाक भी बडी है। इसके सुयश को चिरकाल तक सुरक्षित रखने का समुद्योग होना चाहिए।

मैं चाहता हूँ कि इस गुरुकुल द्वारा वेदो-शास्त्रो का अधिक से अधिक प्रचार तथा प्रसार हो। आशा है गुरुकुलों से सबध रखनेवाले सभी लोग गम्भीरतापूर्वक विचार करेगे। आप लोगों ने, यहाँ के आचार्यादि ने मुझे अपने विचारों को प्रकट करने का यह अवसर दिया है इस शुभ महोत्सव पर। यह क्यो न समझ लीजिए कि मैं इस व्यासपीठ से समस्त आर्यसामाजिक गुरुकुलो के लिए ही बोल रहा हूँ।

इस अवसर पर एक आग्ल महाकवि की मार्मिक कविता का भाव सम्मुख आता है—वह स्थान कहाँ है जहाँ से कि हमारा जहाज चल पडा था—वह तो बहुत दूर पीछे रह गया, वह तो बहुत दूर पीछे रह गया।

वह उद्दिष्ट स्थल आगे कितनी दूर है जहाँ कि हमें पहुँचना है—वह उद्दिष्ट स्थल भी बहुत दूर आगे है, वह बहुत दूर आगे है, वह बहुत दूर आगे है।

ईश्वर की कृपा से हम उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच सके—तथाऽस्तु, एवमस्तु सर्वथा सर्वतो मगल विभायत् मगलेश।

[सन् 1952]

शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य

स्वामी रंगनाथानंद

शिक्षा के सुप्रसिद्ध इस केंद्र मे शिक्षा के विषय मे अपने विचार प्रकट करना ही मुझे उचित प्रतीत होता है। राजनैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति से पूर्व हमारी शिक्षा का कोई उच्च ध्येय न था। किंतु हमारे देश के मान्यनेता स्वामी दयानद सरस्वती, स्वामी विवेकानद, स्वामी श्रद्धानदजी, महात्मा गाँधी आदि ने इस विषय पर विशेष रूप से विचार किया था क्योकि शिक्षा पर ही देश की उन्नति निर्भर है। इसलिए इन नेताओ ने यह विचार प्रकट किया कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो जनता के लिए हितकारक हो। स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार भी इस प्रश्न पर विचार करती रही है कि शिक्षा राष्ट्रीय होनी चाहिए। उसके कुछ उच्च उद्देश्य होने चाहिए। साधन ध्येय की पूर्ति के लिए होते हैं। पहले हमे अपने सामने स्पष्ट ध्येय रखना चाहिए। सरकार करोडो रुपया शिक्षा पर खर्च करती है उसका क्या उद्देश्य है ? शिक्षा के इन ध्येयो को हम इस क्रम से रख सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र जो शिक्षा देता है वह उस राष्ट्र की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होता है।

1. हमारे राष्ट्रवासियो को अपनी उत्तराधिकार मे प्राप्त सस्कृति, सभ्यता की रक्षा और वृद्धि मे तत्पर रहना चाहिए। हमारा भूत के प्रति एक ऋण है और भविष्य के लिए उत्तरदायित्व है। विदेशीय शासन के कारण इस निरतरता को स्थिर रखने मे हम समर्थ न थे अत हमारे नेताओ ने स्वराज्य के लिए प्रयत्न किया। चरित्र और सदाचारादि की उच्चता के साथ दूसरे देशो की अच्छी बातो को ग्रहण करने मे उद्यत होना चाहिए। सयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा संघ या UNESCO मे भी यही आदर्श रखा जाता है। भारतीय छात्र के लिए यह आवश्यक है कि वह प्राचीन सस्कृति को समझने और उसकी रक्षा करने में समर्थ हो पर साथ ही दूसरे देशो की अच्छी सस्कृति को भी ग्रहण कर सके।

समाज का उत्पादक अवयव

2. प्रत्येक व्यक्ति समाज का उत्पादनशील अश बन सके। वह दूसरो पर निर्भर वा भारभूत न हो। आजकल यह पहले की अपेक्षा भी अधिक आवश्यक है। उसे शारीरिक श्रम के द्वारा, मानसिक शक्ति वा बुद्धि के द्वारा, कला वा शिल्प व्यवसाय, तत्त्वज्ञान, विज्ञान आदि के द्वारा समाज का एक उपयोगी और उत्पादक

अश बनना चाहिए।

3. शताब्दियो की दासता के पश्चात् हमें स्वतंत्रता वा प्रजातत्र राज्य प्राप्त हुआ है। इस प्रजातत्र राज्य को नागरिको के हार्दिक सहयोग की आवश्यकता है। शिक्षित युवको और युवतियो के द्वारा इस प्रजातत्र राज्य को समर्थन और सच्चा सहयोग प्रत्येक क्षेत्र मे मिलना चाहिए। शिक्षा-सस्थाओ को प्रजातत्रवाद, सहानुभूति की भावना, सहिष्णुता आदि की निर्माणशाला होना चाहिए। शिक्षित युवको को उत्तम नागरिक बनना चाहिए। वही राष्ट्र के लिए सर्वोत्तम शक्ति हैं। तभी हम सामाजिक, आर्थिक और अन्य दृष्टियो से उन्नत हो सकेगे।

मन, हृदय और चरित्र विकास

4 इस आतरिक विकास से ही मनुष्य वस्तुत सुखी हो सकता है। नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के बिना केवल समाज का उत्पादक अश बन जाने से काम नहीं चल सकता और न सच्चा सुख वा शाति प्राप्त हो सकती है। जब व्यक्ति अपने को आध्यात्मिक धन से सम्पन्न अनुभव करे तभी जीवन की पूर्ति होती है। मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति अत्यावश्यक है जिसकी प्राय देशो मे उपेक्षा की जाती है। बर्ट्रेण्ड रसल नामक सुप्रसिद्ध विचारक ने बताया है कि मनुष्य और प्रकृति मे सघर्ष, मनुष्यो का परस्पर सघर्ष और अपने अदर सघर्ष ये तीन अप्रसन्नता के कारण होते हैं। इनके दूर करने के लिए आध्यात्मिक विकास की बडी भारी आवश्यकता है। धार्मिक, नैतिक शिक्षा इस दृष्टि से नितात आवश्यक है। इसके बिना जो बाह्य शिक्षा है वह पत्तो को पानी देने के समान है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापक दृष्टि

5 ससार अब विशाल और परस्पर सम्बद्ध हो गया है अत हमारी अतर्राष्ट्रीय दृष्टि हो जानी चाहिए। सारे ससार के प्राणियो के साथ हमारी आत्मीयता हो जानी चाहिए। हमारे तत्त्वज्ञान मे इस पर सदा बल दिया जाता था किंतु हम गत सहस्र वर्षों से अन्यो से कट-से गए। हमने अपने को औरो से श्रेष्ठ और अन्यों को म्लेच्छ समझना शुरू किया। यही हमारी अवनति का एक प्रधान कारण हुआ। हमारी शिक्षा को हमे इस योग्य बनाना चाहिए कि जिससे हम सारे ससार को अपना समझने लग जाएँ। साप्रदायिक, जातीय और सकुचित राष्ट्रीय भावनाओ से भी ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय व सार्वभौम भावना को हमे अपने अदर भरना चाहिए। इसके बिना समस्याओ का समाधान नहीं हो सकता। इस समय विज्ञान अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने की बडी आवश्यकता है अन्यथा हमारी समस्याएँ बढती चली जाएँगी। स्वामी विवेकानदजी ने ठीक कहा था कि हमारी शिक्षा में धर्म और विज्ञान का पूर्ण समन्वय होना चाहिए क्योकि मानवमात्र को सच्चे सुख को प्राप्त करने के लिए दोनो की आवश्यकता है। यदि हमारी शिक्षा उत्तम है तो हम इस उद्देश्य की पूर्ति शीघ्र कर सकेंगे। एक अन्य स्थान पर स्वामी विवेकानद ने कहा था कि हमें जिस वस्तु की आवश्यकता है वह है मानव-निर्माण

करनेवाली शिक्षा। (Man making education) वकील, डॉक्टर, इजीनियर बनानेवाली शिक्षा सर्वत्र दी जा रही है किंतु मानव-निर्माण करनेवाली शिक्षा की उपेक्षा हो रही है। इनमे से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति अभी तक नहीं हो सकी यह खेद की बात है। ध्येय और उद्देश्यो को स्पष्ट रूप में अपने सामने रखने की आवश्यकता है।

हमारे देशवासियो मे प्राय आलस्य है और कार्यक्षमता विदेशीय शासनादि के प्रभाव से कम है। क्रियात्मक दक्षता को युवको मे विकसित करने की आवश्यकता है। श्रम की प्रतिष्ठा वा Dignity of labour को स्थापित करने की आवश्यकता बहुत अधिक है। यहाँ प्राय प्रत्येक व्यक्ति शासन चलाना चाहता है, काम करना नहीं। जब यह श्रम की प्रतिष्ठा हमारे देश मे स्थापित हो जाएगी तब देश की उन्नति शीघ्र होगी इसमें सदेह नहीं। जातिभेद वा जातपाँत के कारण भी हमारे लोग अनेक प्रकार के काम करने मे सकोच करते हैं। गत महायुद्ध के दिनो मे अमेरिकनो ने हस्पतालो को चलाने मे हिंदुओ के सबध मे यह कठिनाई अनुभव की थी अत हिंदुओ के स्थान मे उन्हे मुसलमानो को रखना पडा था। शिक्षा और कार्य का परस्पर सबध वा समन्वय होना चाहिए। महात्मा गाँधीजी द्वारा प्रवर्तित बेसिक शिक्षा पद्धति का यही विचार आधारभूत था। शिक्षा जितनी ऊँची हो मनुष्य की कार्यदक्षता भी उतनी अधिक होनी चाहिए किंतु भारत में इससे विपरीत अवस्था दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य जितना अधिक शिक्षित है उतना ही कार्यक्षमता मे प्राय कम पाया जाता है। वस्तुत शिक्षा मनुष्य को अधिक कार्यक्षम बनानेवाली होनी चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को अपने से यह प्रश्न करने की आवश्यकता है कि क्या मैं अपनी समस्त शक्तियो का विकास कर रहा हूँ ? क्या मैं अपनी सकुचित भावनाओ का परित्याग कर रहा हूँ ?

इन उद्देश्यों को सन्मुख रखकर कार्य करने से सबको लाभ हो सकता है।

[सन् 1958]

वैदिक ज्ञान शाश्वत है

पडित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

माननीय विद्वद्वन्द–मातृवर्ग-आर्यबधुओ तथा प्रिय ब्रह्मचारियो !

वेद उस ज्ञान का नाम है, जो सृष्टि के आदि मे परमपिता परमात्मा द्वारा जीवो की समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति, ऐहिक और पारलौकिक सुख-कल्याण की प्राप्ति के लिए प्रदान किया गया और किया जाता है। जिसका स्वर वर्णानुपूर्वी नित्य है। उसके आधार पर ही आगे ऋषि-मुनियो के ग्रथो की रचना हुई। वह वेद सर्वज्ञानमय (सब सत्य विद्याओ का भडार है) है, मानव सबधी समस्त आवश्यक ज्ञान बीज रूप से इसमें है, यह धारणा समस्त ऋषि-मुनियों की है। अतएव ऋषि दयानद और आर्यसमाज ने भी इसी धारणा को आधारभूत माना है। आर्य-सनातन वैदिक (आजकल हिदू कहे जानेवाले) धर्म का यत्किचित् भी क्रिया-कलाप वेद के बिना नही चल सकता। जन्म से मरणपर्यत वेद का ही आश्रय लेना अनिवार्य है। भारत के राष्ट्रपति और प्रधानमत्री (चाहे वह अपने-आपको सैक्यूलर कहे या नास्तिक) के यहॉ भी विवाह आदि कोई शुभ कार्य वेद की ध्वनि के बिना नहीं हो सकता। अतएव वेद आर्यजाति का प्राण है, इसमे यत्किचित् भी अत्युक्ति नहीं। भारतीय सस्कृति, सभ्यता और साहित्य का मूलाधार वेद है। प्राण और मूलाधार एकार्थवाचक है। इसीलिए मनु महाराज ने कहा

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स ।।

अर्थात् वेद मे सब ज्ञान, विद्याएँ वर्णित है क्योकि वेद सर्वज्ञानमय हैं।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यत· सर्वा· प्रवृत्तय· ।।–महाभारत शा 23 142

अर्थात् स्वयभू परमेश्वर ने वेदमयी दिव्य, नित्य जिसका आदि-अत नहीं होता, ऐसी वाणी प्रदान की, जिससे आगे ससार के समस्त व्यवहार चले। ऋग्वेद के दशम मडल के 71वे सूक्त में भी इसी बात को कहा गया है।

बृहस्पते प्रथम वाचो अग्र यत् प्रैरत नामधेय दधानाः।

अर्थात् वेदवाणी प्रथम अर्थात् सृष्टि के आदि में दी जाती है वही सब भाषाओ की मूल है। उसी से सब पदार्थों के नामादि का व्यवहार चलता है। वह सर्वश्रेष्ठ सर्वदेशी होती है और उत्कृष्ट आत्माओ द्वारा प्रकाशित होती है। मनु ने भी इसी बात को आगे के श्लोक मे कहा है

> *सर्वेषा तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।*
> *वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्थाश्च निर्ममे।।* मनु ।।

वेद का महत्त्व सदा से ऐसा ही माना जाता रहा, यही हमारा कहना है।

सब ऋषि मुनि वेद को *'सर्वज्ञानमयो हि स'* (मनु 2 7) *'प्रमाण परम श्रुति'* (मनु) *'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'* (मनु 2 6) सर्वज्ञान का मूल, परम प्रमाण और *'देवपितृमनुष्याणा वेदश्चक्षु. सनातनम्'* सबका पथप्रदर्शक मानते है।

इन्हीं कारणों से ऋषि दयानंद ने वेद को आधार माना और 'वेद सब सत्यविद्याओ का पुस्तक है, वेद का पढना-पढाना सब आर्यों का परमधर्म है'—यह नियम बनाकर आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज भी उपर्युक्त कारणो से ही इस सिद्वात को मान रहा है।

प्राचीन काल से वेद आर्यसस्कृति के प्रकाशस्तभ रहे हैं। आर्य जाति के सगठन और उसकी जीवनचर्या के व्यवस्थापन वा नियमन, उसकी आध्यात्मिक तथा अन्य उत्कृष्ट भावनाओं की प्रेरणा मे वेद का प्रमुख स्थान रहा है, यह हमारा इतिहास बतलाता है। सभी ऋषि-मुनियो ने वेद को परमप्रमाण, अपौरुषेय और ज्ञान का भडार माना है। उन प्राचीन ऋषि-मुनियो की कृतियो मे जो लोकोत्तर महत्ता दिखाई देती है, उसमे भी हमे वेद की उत्कृष्ट भावनाओं का प्रभाव पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है, जो हमारी आर्यसस्कृति का अंग बनकर हमारे देश से बाहर कहीं-कहीं धुँधले प्रकाश के रूप मे दिखाई देती है, जिससे हमें अपनी आर्यसस्कृति का महत्त्व अधिक स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। इस सबके मूल को खोजने से हमे यही विदित होता है कि वेद हमारी आर्यजाति-आर्यसस्कृति तथा सभ्यता के प्राण, अक्षय्य निधि, पथप्रदर्शक सदा रहे है। और वेद के कारण ही ये सब ससार मे अजर-अमर हैं।

निष्कारणो धर्म षडगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च (महाभाष्य)

बिना यह विचार किए कि इससे क्या लाभ होगा, परम कर्तव्य समझते हुए इस वेद को छओ अगों सहित पढने का आदेश इसीलिए हमारे ऋषि लोग करते चले आ रहे हैं। इसी का यह फल है कि यह वेद इस समय तक हमारे पूर्वजों के पुण्य प्रताप से कुल परपराओ द्वारा सुरक्षित रहता आया। अन्यथा भूमंडल भर मे खोजने पर भी इसका चिह्न तक न मिलता, जैसा कि अनेक जातियाँ अपने-अपने साहित्य के साथ इस भूमडल से सदा के लिए मिट गईं, वैसे यह वेद भी कभी

का लुप्त हो जाना।

वेद-संबंधी मिथ्या धारणाएँ

वेद का अभ्यास शताब्दियो से छूट जाने के कारण वेद के संबध में मिथ्या धारणाएँ चल पडीं। इनका प्रारंभ तभी से हुआ जब वेद को केवल यज्ञ में ही सीमित कर दिया गया। वेदो के आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों का लोप हो गया, जिनकी परपरा आज से 1400-1500 वर्ष पूर्व तक विद्यमान रही। इतना ही नहीं, यास्कमुनि को भी यही अभीष्ट था। जिसका सप्रमाण वर्णन हम अपने पूर्व वेदसम्मेलनो के भाषणों मे विस्तार से कर चुके हैं। इस उत्कृष्ट परपरा को या तो सायणाचार्य ने नष्ट कर दिया, या उसकी अपनी समझ में नहीं आई, और इस कारण उसने इसे छोड दिया। यह बात हम इसलिए कहते हैं कि सायणाचार्य ने यहाँ तक लिख दिया कि सहिता और ब्राह्मण केवल यज्ञ का ही प्रतिपादन करते हैं। तद्यथा

> *तस्मिश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्त शतपथब्राह्मण सहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्।"* —काण्व सहिता सायण भाष्य भूमिका

अर्थात् वेद मे दो काड हैं, कर्मकाड और ब्रह्मकाड। बृहदारण्यक (अर्थात् उपनिषद् सामान्य–ले) ग्रथ तो ब्रह्मकाड है और उससे शेष शतपथब्राह्मण और संहिता इन दोनो ग्रथो का विषय कर्मकांड है। इन दोनों (शतपथ ब्राह्मण और सहिता) में अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि कर्मों का ही प्रतिपादन है। यहाँ 'एव' 'ही' पद विशेष ध्यान देने योग्य है।

सायणाचार्य की उत्पन्न की हुई यह उपर्युक्त भ्राति वेद-संबंधी समस्त मिथ्या भ्रातियो का मूल आधार है। इसने वेदसबंधी सब गौरव और मानव जीवन में वेद की उपादेयता का सर्वथा नाश कर दिया। सायणाचार्य वि संवत् 1372 से 1444 मे हुए। उनके पश्चात् इस 500-600 वर्ष के काल में वेद का स्वरूप और महत्त्व लगभग सर्वथा लुप्त हो गया। वेद के अर्थ समझने की प्रवृत्ति लुप्त हो गई और वेद की पुस्तक वर्ष में एक बार नवरात्रों के दिनों मे धूप में रक्खी जाती रही, या अधिक हुआ तो वेद की सवारी (एक रथ में सजाकर सारे नगर में घुमा देना) निकाली जाती रही, जो हम बाल्यकाल में देखा करते थे।

वेद का पठन-पाठन केवल कंठस्थ करने तक ही रहा। अर्थ-सहित पठन-पाठन मे वेद प्रायः लुप्त हो गया।

वेद-संबंधी उक्त भूल के दुष्परिणाम

यह भूल सायणाचार्य तक ही रह जाती, अथवा भारत तक ही सीमित रही होती, तब भी इतनी हानि नहीं थी। इसके परिणाम बड़े भयंकर हुए। यह ठीक है कि

महात्मा बुद्ध के काल मे भी यज्ञयागादि की प्रधानता रही और वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक ही होता है, इस मान्यता से ही यह भ्राति उत्पन्न हुई। और बुद्ध जैसे महापुरुष पवित्र-हृदय महात्मा यह कहने पर बाधित हुए कि मैं ऐसे वेद को मानने को तैयार नहीं, जिसमे पशुहिंसा का विधान हो। यह बात निश्चय ही सायणाचार्य से पूर्व की है अर्थात् सायणाचार्य से पूर्व यज्ञो मे मासादि का विधान चल चुका था। सायणाचार्य इस सबसे बच न सके, उन्होने इतनी ही भूल की (जो बडी भारी भूल थी) कि वेद-ब्राह्मण और सहिता में केवल यज्ञ का ही प्रतिपादन है, ऐसा लिखकर वेदार्थसबधी चली आनेवाली आध्यात्मिक, आधिदैविक प्रक्रियाओ की परपरा का नाश कर दिया।

विदेशीय विद्वानो को वेदविषय मे सायणभाष्य ही एकमात्र आश्रय मिला। वह उनके अनुकूल निकला, क्योकि वे तो चाहते ही थे कि भारतीयों को अपनी प्राचीन सस्कृति, सभ्यता और साहित्य के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर उन्हे मार्गभ्रष्ट किया जाए और हमारा राज्य भारत मे चिरस्थायी रह सके—और इसी कारण बहुत दिन रहा भी।

इसमे सदेह नहीं कि हम विदेशी विद्वानो का आभार मानते हैं, जो उन्होने अभारतीय होते हुए भी सस्कृतसाहित्य विशेषकर वैदिकसाहित्य मे अनुपम प्रशसनीय तथा अनुकरणीय उद्योग किया। निस्सदेह उन्होंने वैदिकसाहित्य की खोज (Research) का उपक्रम करके हम भारतीयों के सामने अपने साहित्य की रक्षा का उत्तम मार्ग दर्शाया, जिस किसी विदेशी विद्वान् (स्कालर) ने सस्कृत साहित्य के जिस किसी ग्रथ का सपादन किया, सर्वसाधारण की दृष्टि से वह उनके अत्यत परिश्रम, निरतर धैर्य और गभीर विवेचना का परिचय देता है। यह दूसरी बात है कि उनका ज्ञान शास्त्र विषय मे गहरा नहीं था और उनकी भावना विपरीत थी।

सायणाचार्य की वेदार्थ विषय की इस मिथ्या धारणा का क्या दुष्परिणाम हुआ यह हमको कहना है। सोचने की बात है कि इन विदेशी विद्वानो को यदि सायणाचार्य की अपेक्षा कोई और उत्तम भाष्य मिला होता, तो इनके अग्रेजी-फ्रेंच-जर्मन आदि विदेशी भाषाओ मे किए अनुवादो का स्वरूप निश्चय ही भिन्न होता, जो अब सायण से आगे कोई न बढ सका।

ऋषि दयानंद और वेद

वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक ही होता है और यज्ञ मे पशुबलि का विधान है, यह मिथ्यावाद घोर रूप मे प्रचलित था। उपर्युक्त सब अनर्थ वेद और शास्त्र के नाम पर हो रहे थे। अपने उन विषयो के लिए ब्राह्मण-श्रौत-गृह्य आदि ग्रथो के प्रमाण उपस्थित किए जाते थे। हमने काशी मे देखा कि मास, मद्य आदि से अत्यत घृणा करनेवाले व्यक्ति भी यज्ञ मे अज (बकरे) का मास खाने को बाधित हुए, क्योंकि वह मानते थे कि यज्ञ में मास डालने का शास्त्रीय विधान है। क्योंकि उनके हृदय

मे यह बैठ चुका है कि इसके लिए शास्त्र की आज्ञा है, इसका पालन न करने में प्रत्यवाय (पाप) लगेगा। इन्होने घृणा के कारण आगे-पीछे कभी कोई मास नहीं खाया।

ऐसी दुरवस्था में परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से महापुरुष दयानंद का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वनियता अतर्यामी जगदीश्वर पर पूर्ण आस्थावान् होने के कारण ही दयानद को दैवी अत प्रेरणा हुई कि वेदार्थ लुप्त हो चुका है तुम उसका उद्धार करो और वेद के सच्चे अर्थ ससार के सामने रखो, जिससे शताब्दियो से इस विषय मे फैली हुई भ्रांति दूर हो और ससार का कल्याण हो। दयानद ने पर्वत के शिखर पर खडे होकर देखा कि ससार मेरे विरुद्ध है, और उसमे शास्त्रो को प्रमाणरूप मे उपस्थित किया जाता है। सर्वसाधारण की दृष्टि मे शास्त्र दयानद का साथ नहीं देते। उस समय का विद्वन्मडल चकित रह गया, जब दयानद ने घोषणा की—"वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो सृष्टि के प्रारभ मे मानव कल्याण के लिए ससार के अन्य भोग्य पदार्थों की भाँति गथावत् व्यवस्था के ज्ञानार्थ तथा उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रभु की ओर से ऋषियो द्वारा प्रदान की गई है और यह वाणी नित्य है। सदा से प्रदान की जाती रही और की जाती रहेगी। यह मानव या मानवों के समुदाय की कृति नहीं है, अपितु सपूर्ण विश्व के रचयिता परमपिता परमात्मा की ही रचना है। कल्पकल्पान्तरो मे इसमे किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती। इसमे किन्हीं व्यक्तिविशेषो का इतिहास नही, न पशुबलि आदि का ही विधान है। और यह मानव मात्र के लिए है, शूद्र वा स्त्री आदि किसी मानव देहधारी को इससे वचित नही रखा गया। वेद के मत्रो के केवल यज्ञपरक ही अर्थ नही होते, अपितु मानव-जीवन की प्रत्येक समस्या के हल करने का उपाय बीज रूप से वेद मे विद्यमान है, इत्यादि इत्यादि।"

यह धारणा वेद के सबध मे वैदिक धर्मियो की है, जिसका विशद् निरूपण हमें ऋषि दयानद कृत समस्त ग्रथो मे, विशेषकर ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका मे मिलता है। ऋषि का छोटे से छोटा ग्रथ हो, या बडे से बडा, उसके प्रत्येक पृष्ठ मे, नहीं-नहीं प्रत्येक पक्ति मे, ईश्वर और वेद का निरूपण किसी न किसी प्रकार से अवश्य मिलेगा। इसलिए सामवेद का भाष्य करनेवाले श्री रामानद सप्रदाय के आचार्य स्वामी भगवदाचार्यजी ने स्वामी दयानद को आस्तिक शिरोमणि लिखा।

उपर्युक्त धारणा को हम वैदिकधर्मियो ने ठीक होने से अगीकार किया और उसके पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है।

वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने मे वीतराग तपस्वी दयानद को कहाँ तक कष्ट उठाना पड़ा, वह भी उस अवस्था में, जबकि वेदों का पठन-पाठन लुप्तप्राय ही हो रहा था, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। शास्त्रसबंधी विविध रूढियों, प्रचलित रीतियों और शास्त्रकारो के कहे जानेवाले परस्पर विरोध के

भँवरों, विविधवादों तथा मतमतान्तरों के तूफान में, दयानंद पर्वत के समान अचल रहे, डिगे नहीं। अपने-आपको केवल सँभाले रहे इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने एकदम सबके विरुद्ध घोषणा कर दी कि—"वेद प्रभु की वाणी है। नित्य स्वत:प्रमाण है। इसमें किसी का इतिहास नहीं। अन्य सब ऋषियों के बनाए ग्रंथ परत:प्रमाण हैं। अर्थात् वेदानुकूलतया ही प्रमाण हैं।" स्वामी दयानंद सरस्वती ने यह घोषणा कल्पनामात्र से ही नहीं की, अपितु उन्हीं ऋषि-मुनि कृत ग्रंथों के आधार पर की, जिनके प्रमाण से वे लोग अपनी बातें सिद्ध करते थे। दूसरे शब्दों में महान् दयानंद ने ऋषि-मुनियों के उन ग्रंथों के शुद्ध अर्थ उन्हें बताए।

भारतीयों की वेद के प्रति अनास्था क्यों ?

वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक होने लगा और यज्ञ में पशु-हिंसा का विधान चल पडा। सायण, उव्वट, महीधर आदि ने इन पर मुहर लगा दी। महीधर ने जहाँ वेद का अत्यंत वीभत्स अर्थ किया, वहाँ सायण ने 'यज्ञ एव' 'यज्ञ ही' वेदों का अर्थ बताया, जिससे वेदों के प्रति बहुत काल से अनास्था चल पडी। यह हम ऊपर लिख चुके हैं। मैं तो कहता हूँ महीधरभाष्य ही हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू वा अन्य किसी भाषा में अनुवाद करके हिंदी शिक्षणालयों के पाठ्यक्रम में रख दिया जाए, तो निश्चय ही समझना चाहिए, कुछ श्रद्धालुओं को छोडकर, सबकी एक ही ध्वनि उठेगी कि यह वेद जंगलियों की बडबडाहट या अन्टसन्ट कृतियाँ हैं, जिनसे मानव-समाज को कुछ लाभ नहीं हो सकता। पंजाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री-परीक्षा में जितना अंश सायणभाष्य का है, उससे सायण की छाप के कारण ये शास्त्री लोग प्राय: वेद से विमुख हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें वेद के वास्तविक स्वरूप का तो दर्शन भी नहीं हो पाता।

आर्यसमाज ने वेद के विषय मे बहुत कुछ ज्ञान देने का प्रयत्न तो किया, पुनरपि हमें वेद के प्रति अनास्था क्यो दिखाई देती है, एक विचारशील भारतीय स्वभावत: यह सोचने लगता है।

इस अनास्था के अन्य कारण

वेद के विषय में हमारी आर्यसंस्कृति में प्राचीन काल से चली आ रही इतनी उत्कृष्ट भावना के होते हुए भी क्या कारण है कि भारतीयों में वेद के प्रति संप्रति इतनी अनास्था हो गई, वे इससे एकदम दूर हो गए। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हम विचारशील सज्जनों के समक्ष इस विषय में अपने विचार उपस्थित करते हैं। वेद के प्रति अनास्था रखनेवालों की कई कोटियाँ हैं, हम उन पर क्रमश विचार करेंगे ·

(1) प्रथम कोटि उन लोगों की है, जिन्हें दुर्भाग्यवश अपने घर पर भारतीय संस्कृति, साहित्य, सभ्यता का कुछ भी संस्कार व ज्ञान बाल्यकाल से नहीं मिला। वे या तो विदेश में पढे या उन्होंने भारत में विदेशी राज्य द्वारा चलाई गई विदेशी पाठ्य-पद्धति से ही अध्ययन किया। संस्कृत साहित्य से शून्य न रहना तो दूर की

बात है, वेदशास्त्रों के हिंदी में प्राप्त होनेवाले अनुवाद वा भाषार्थ को भी उन्होंने कभी नहीं पढ़ा। ऐसे लोग वेद या शास्त्र के विषय में कोई बात (जो उन्होंने अंग्रेजी की पुस्तकों में पढ़ी होती है) कहने लगते हैं, उनसे वह स्वयं तो सर्वथा अनभिज्ञ होते ही हैं, जिनकी पुस्तकों के आधार पर वह बोल रहे होते हैं, वे भी प्राय प्राचीन वैदिक साहित्य से कोरे होते हैं, या उन्होंने भी वे बातें अपने विदेशी गुरुओं वा विदेशी पद्धति से पढे हुए विद्वानों से ही ली होती हैं। उसमें उनका अपना ज्ञान बहुत थोडा होता है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा यह कहना कि वेद-शास्त्र में क्या रखा है स्वाभाविक है, भला इनकी ऐसी बात का क्या मूल्य हो सकता है ? इसे, अज्ञानमूलक होने से किसी पागल का प्रलापमात्र ही तो कहा जाएगा।

(2) दूसरी कोटि उन विद्वान् समझे जानेवालों की है, जो एमए तथा शास्त्री आदि पढे होते हैं या हमारी आर्य-समाज की संस्थाओं की परीक्षाएँ पास किए होते. हैं। ये महानुभाव जब वेद-शास्त्रों के विषय में अपनी अनास्था प्रकट करते हैं; तो जनता मे महान क्षोभ उत्पन्न हो जाता है कि ये संस्कृत के विद्वान् हैं, इतने वर्ष आर्यसमाज की वा अन्य सस्थाओ मे पढे हैं, इनका कथन अतथ्य कैसे हो सकता है ? इस विषय में मेरी इस प्रकार के कई महानुभावो से बातचीत हुई, तो पता लगा कि इनकी अपनी कोई स्थिति–धारणा वा ठिकाना (खूँटा) नहीं होता। यहीं तक नहीं, ये महानुभाव स्पष्ट कहने लगते हैं कि हमें तो ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं। कर्मवाद के सिद्धांत में भी उन्हें कोई आस्था नहीं होती। वह समझने लगते हैं कि ज्ञान तो बढ़ता ही रहता है। संसार ऋषि-मुनियों से बहुत आगे निकल चुका है। इस प्रकार उनकी बुद्धि भ्रान्त हो चुकी होती है और वे ईश्वर, वेद, धर्म, कर्मवाद सस्कृति, सभ्यता के विषय में बहकी-बहकी बातें करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की–अपनी किन्हीं निर्बलताओं के कारण ईश्वर की सत्ता से भी आस्था उठ चुकी होती है जिसका कारण बहुत गहराई मे जाने से ही पता लग सकता है। एक बार एक सज्जन ने बताया, "मैं आज से कुछ वर्ष पहले आर्यसमाज का अत्यत श्रद्धालु और कार्यकर्त्ता युवक था। विदेश में कुछ वर्ष रहा। हजारों रुपया मुझे वहाँ पढने के लिए छात्रवृत्ति मिली। मैं वेद-शास्त्र का ही विश्वासी था। विदेश में रहने से मेरा विचार एकदम बदल गया और मुझे तो अब निश्चय हो गया है कि ससार का जितना ज्ञान है वह अमेरिका, इंग्लैंड आदि में ही है। मैं अपना भाग्य समझता हूँ कि वेद-शास्त्र के चक्र से निकल आया। मैं तो सत्य का उपासक हूँ, जो भी सत्य होगा, मैं उसे मानूँगा। हमारे वेद-शास्त्रों में कुछ नहीं। भारतीय सस्कृति, सभ्यता-साहित्य में कुछ नहीं रखा, यों ही अण्ट-सण्ट लिखा है। संसार उन्नत होकर बहुत आगे बढ़ चुका है। भारतवासी उसी प्राचीन वेद-शास्त्र को लिए जा रहे हैं जिसमें कुछ भी नहीं। भौतिक उन्नति सुख और शाति का परम साधन है, इत्यादि।"

आर्यसमाज के संपर्क में कुछ समय रहे इस व्यक्ति के विचारों को सुनकर

प्रथम तो मैं कुछ देर स्तब्ध-सा रहा, सोचने लगा कि इसको हो क्या गया है। अंत में मैं पूछ बैठा, कहिए ! आप ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं, वा अनुभव करते हैं, या नहीं ? उसने यह कहा--मेरा ईश्वर की सत्ता और कर्मवाद में विश्वास नहीं। जब उसने यह कहा, तब समझ में आ गया कि इन ऊलजलूल विचारों का कारण क्या है। जो व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को ही अनुभव नहीं कर पाता, उसमें जिसकी आस्था नहीं, भला वह उसके (ईश्वर के) बनाए वेद में कैसे आस्था कर सकता है ? अन्य शास्त्र और भारतीय संस्कृति के प्रति तो उसकी भावना हो ही कैसे सकती है। भौतिकोन्नति को देखकर बुद्धि भ्रांत हो जाती है तो आध्यात्मिकता का कोई मूल्य उनको जँचता नहीं। ऐसे लोगों की बुद्धियाँ भ्रांत होकर न जाने कितनी आत्माओं को मार्गच्युत कर देती हैं। विशेषकर उस अवस्था में, जबकि वे शिक्षक होते हैं।

अंग्रेजी और संस्कृत के पढ़े ही इस कोटि में आते हैं, सो बात नहीं। केवल संस्कृत के पढ़े भी जब ईश्वर में अनास्था करने लगते हैं, तो उनकी भी यही दशा होती है; जो ऊपर वर्णित की गई है। इनके द्वारा जनता में वेद-शास्त्रों के प्रति और भी अनास्था उत्पन्न होती है। ऐसे व्यक्तियों में या तो वे होते हैं, जिनकी ज्ञानधारा वा संस्कार किन्हीं कारणों से विपरीत दिशा में बहने लगते हैं। उस विपरीत ज्ञान से वे तब तक विरत नहीं होते, जब तक उन्हें जीवन में कोई भारी धक्का नहीं लगता। या वे होते हैं, जिन्हें अपनी बुद्धि पर बहुत अधिक मात्रा में विश्वास होने लगता है, और वे समझने लगते हैं कि यह ईश्वर का न्याय क्या हुआ जो मूर्ख (बिना पढ़े और कम पढ़े) तो संसार में सुख पा रहे हैं, हम इतना परिश्रम करते हैं, हम दुखी रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि कर्मवाद के सिद्धांत से सबको अपने कर्मों का यथावत् फल मिलता है। यह अवस्था मानव के ज्ञान से बाहर की वस्तु होती है। बहुत-सा दुख तो मनुष्य अपने अज्ञान से, अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाकर भी उत्पन्न कर लेता है। ऐसे व्यक्ति दुखी होकर ईश्वर वा वेद-शास्त्र के प्रति भी अनास्था के भाव प्रकट करने लग जाते हैं, जिसका मूल कारण उनकी अपनी निर्बलता होती है।

(3) तीसरी कोटि उनकी है, जिनकी ईश्वर, कर्मवाद आदि में विश्वास वा आस्था तो है, पर कभी-कभी बुद्धि डगमगाने लगती है। इस अवस्था में कभी-कभी तो बहुत ऊँची भावनाएँ उनके मन में उत्पन्न होती हैं, और कभी-कभी अस्त-व्यस्त विचार भी मन के सामने आने लगते हैं। इस कोटि के महानुभाव अपने को पूर्णप्रज्ञ समझने लग जाते हैं, यही भूल है। वे समझते हैं कि हम ही दूसरों को सिखा सकते हैं, कोई दूसरा हमें नहीं सिखा सकता। अपनी भूल के लिए मार्जन भी रखना इन्हें इष्ट नहीं होता।

ऐसी अवस्था में इनके द्वारा की गई रिसर्च वा वेदविषयक धारणाएँ इनके लिए ही हर्षदायक व लाभदायक भले ही हों, संसार के लिए नहीं। ऐसे व्यक्ति

जनता का सहयोग प्राप्त करने के लक्ष्य से या तो अपनी रिसर्च का विषय ही ऐसा बना लेते हैं, जिसमें सूचियाँ बनाना मात्र हो, या फिर गोलमाल लिखते रहते हैं, जिसमें दोनों प्रकार के विचार जनता के सामने आते रहते हैं। साधारण जनता यह समझ भी नहीं पाती कि इनका अपना सिद्धांत क्या है। ऐसे महानुभाव वेद-शास्त्र के विषय में जब अनास्था की बात करते हैं, तो जनता में क्षोभ होने लगता है। हमारी संस्थाओं में से निकलकर बहुत से नवयुवक भी इसी सरणि का अवलंबन करने लगते हैं। उसमें हमारी भी कमी होती है, जो हम उन्हें अध्ययन काल में पूरी सामग्री नहीं दे पाते। चाहे उसका कारण कुछ भी हो। हम इसमें किसी को दोषी व बुरा नहीं कहते, हमने तो वस्तुस्थिति का निर्देश किया है, जैसा देखने में आता है। हमें कहना यह है कि ऐसे महानुभावों की अनास्था का कारण भी ईश्वर-कर्मवाद आदि मूलभूत सिद्धांतों में संदेह-संशय वा पूर्णास्था का अभाव ही होता है। हाँ ! इस कोटि में ऐसे महानुभाव भी हैं जिन्हें ईश्वर पर विश्वास है, पर वेद को ईश्वरीय ज्ञान न मानकर ऋषियों की कृति मानते हैं। ऐसा मानते हुए भी वेदों को बहुत अच्छी दृष्टि वा परम श्रद्धा से देखते हैं। उनमें उन्हें अनेक ऊँची भावनाएँ मिलती हैं। मानव समाज के लिए वे वेद को परम आवश्यक व परम साधन मानते हैं। ऐसे शुद्ध भावनापूर्ण महानुभावों का हमें सादर स्वागत करना चाहिए और उनकी उत्कृष्ट खोज व दैवी ऊहा से लाभ उठाना चाहिए। निश्चय ही ऐसे महानुभाव की ईश्वरविषयक वह धारणा नहीं, जो ऋषि दयानंद की आर्यसमाज के दूसरे नियम में वर्णित है। ऐसे महानुभाव वेदशास्त्रों के प्रति कभी अनास्था की बात नहीं कहते, पर मूलाधार में संदेह होने से संशयात्मक तो बने रहते हैं।

(4) अब हम चौथी कोटि पर विचार करते हैं। वह कोटि भारत में उनकी है जो 90 प्रतिशत अनपढ़ और हिंदी भाषा तक से भी शून्य है। ऐसे लोगो को वेदशास्त्र में अनास्था हो, सो बात नहीं। हाँ, अज्ञान अवश्य है, जिसके कारण उनकी आस्था में कमी है। इनको जिसने जब जैसा बता दिया, बस उसी को पकड़ लिया। बतानेवालों ने ठीक बता दिया तो ठीक समझ लिया, विपरीत बता दिया तो विपरीत मानने लगे। इतना तो है, ऐसे लोगों को वेदशास्त्रों के तथ्यो से अवगत करा दिया जावे, उन्हें इस विषय में निरंतर शिक्षा दी जावे, तो सरल हृदय होने के कारण, ये उन तथ्यों को शीघ्र समझते हैं, ऐसा अनुभव से देखा गया है। श्वेत वस्त्र पर रंग अच्छा आता है, मलीन पर नहीं। ये लोग ईश्वर मे आस्थावान् होने से शीघ्र ही समझ जाते हैं।

(5) पाँचवीं कोटि हम उनकी समझते हैं, जो पठित हैं और ईश्वर-वेद-शास्त्र-कर्मवाद आदि वेद प्रतिपादित सिद्धांतों पर पूर्ण विश्वास है। नई-नई शंकाएँ सामने आने पर इन्हें संदेह होने लगता है। मेरे विचार में ऐसे महानुभावों के समाधान, संदेहनिवृत्ति, वा आत्मसंतोष के लिए पूर्ण प्रयत्न करना

हमारा परम कर्त्तव्य है। शेष कोटि के महानुभावों के प्रति भी हमें हार्दिक प्रेम, सहानुभूति और सद्भावना से ही उनकी आत्मशांति, संदेहनिवृत्ति का यत्न करते रहना चाहिए।

इन विविध कोटियों के वर्णन का यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि आर्यसमाज ने वेद का झंडा उठाया है, इसके सामने इतने प्रकार की विचारधाराएँ हैं, जिन्हें हमें सन्मार्ग पर लाना है, वह भी सद्भावना प्रेम-आदर और हितसाधन की दृष्टि से।

ये हैं वेद के प्रति जनता में अनास्था होने के मुख्य कारण।

वेदाध्ययन की परंपरा

अब इस बात पर विचार करना चाहिए कि सृष्टि के आदि से जब से वेद चला आ रहा है, तो इसकी अध्ययन परंपरा तो अवश्य चलती आई होगी, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो वेद हम तक पहुँच ही न पाता। अविच्छिन्न परंपरा द्वारा ही वेद हम तक पहुँचा है, यह बात सभी मानते हैं। रामायणकाल में वेदाध्ययन अच्छी स्थिति में था। वाल्मीकि रामायण में लिखा है

न ऋग्वेदाविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेव प्रभाषितुम्।।—किष्किन्धाकाण्ड

राम ने हनुमान् की योग्यता के विषय में लक्ष्मण से कहा था—बिना ऋक्, यजु और सामवेद के जाने कोई इस प्रकार की बात नहीं कह सकता। रामायण बालकांड सर्ग 18 में ·

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः।।24।।
ते चापि मनुजैव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः।। 25।।

इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि उस समय वेदाध्ययन की परंपरा सर्वसाधारण में भी थी।

महाभारत शातिपर्व अ 232.24 में

अनादि निधना नित्या वाग् उत्सृष्टा स्वयभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

सृष्टि के आरंभ में स्वयंभू परमात्मा से ऐसी वाणी (वेद) का प्रादुर्भाव हुआ, जो नित्य है, जिसका कभी नाश नहीं होता। जो दिव्य है। उसी से संसार मे सब प्रवृत्तियाँ चलती हैं।

महाभारतकाल में भी वेद सबंधी यह धारणा विद्यमान थी। द्रोणपर्व 7 1 में– *'वेदषडग वेदाहं .योऽधीतै चतुरो वेदान्'* वनपर्व 48 70 इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि उस काल में वेदाध्ययन की परपरा विद्यमान थी।

यह भी मानना पड़ता है कि महाभाष्यकार पतंजलि के समय मे *'वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति'* वेद का केवल या तो मंत्रपाठ मात्र अथवा साधारण अध्ययन करके ही विद्वान् समझे जाने लगे थे। उधर निरुक्त के काल मे *'अनर्थका हि मत्राः'* मंत्र के अर्थ की उपेक्षा का वाद भी कुछ न कुछ रहा होगा, क्योंकि उसमें 'कुत्स' का नाम दिया है। इस काल तक *'इत्यधिदैवतम्, इत्यध्यात्मम्'* आदि निर्देशों से यह ज्ञात हो जाता है कि जैसे महाभाष्यकार ने प्रबल पूर्वपक्ष उठा-उठाकर सूत्रों में उत्तरपक्ष का प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी वेद के विषय में प्रबल पूर्वपक्ष उठाकर उनका सभव उत्तरपक्ष दर्शाया है। इस काल के पश्चात् बौद्धकाल में तो हिंसायुक्त यज्ञों आदि के कारण व दूसरे शब्दों में वेद अर्थज्ञान से शून्य केवल यज्ञों में विनियोग का साधन मात्र ही रह गया। यही कारण भारत मे जैन और बौद्ध मत की उत्पत्ति का हुआ। उस समय भी जनता में जिन्हें प्राचीन वैदिक धर्म के अहिंसादि यज्ञों में आस्था थी, वे हिंसापरक यज्ञों से ऊबकर, वेद का यथार्थ ज्ञान न मिलने पर बौद्ध धर्म में चले गए। शकर काल में भी यह सब कुछ रहा, और कह सकते हैं कि यह ढंग ऋग्वेद के उपलब्ध होनेवाले प्रथम वेदभाष्यकार आचार्य स्कंद स्वामी (630 ईस्वी) तक भी रहा, और आगे सायणाचार्य के काल तक भी रहा। ये सबके सब वेदार्थ विषय मे याज्ञिकप्रक्रिया से पराभूत रहे, यह तो स्पष्ट ही है।

इसमें इतना ही विशेष है कि स्कंद स्वामी के लेख से स्पष्ट विदित होता है कि उसके काल में 'मंत्रो के आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधियज्ञ तीनो प्रक्रियाओ मे अर्थ होते हैं' यह परंपरा विदित थी, जिसका निरूपण हम आगे करेगे। उस समय में याज्ञिक पद्धति का ही बोलबाला था, या क्या कारण हुआ कि स्कद ने मंत्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं मे नहीं किया। आचार्य स्कंद स्वामी वेद के सब मंत्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होते हैं, यह केवल स्वय ही मानता हो सो बात नहीं, अपितु वह लिखता है कि निरुक्तकार यास्क के मत में भी प्रत्येक मंत्र का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है।—देखो निरुक्त स्कंद टीका, भाग 3, पृ 35।

हमारा कहना है कि वेदमत्रों के यज्ञपरक ही अर्थ की धारणा ऋषि दयानद के समय तक बराबर रही। इसी के कारण वेद के प्रति सर्वसाधारण को तो क्या, विद्वानो को भी अनास्था हो गई और वे वेदो को व्यर्थ की चीज बताने लगे।

इस लंबे काल में वेद का अध्ययन कहाँ तक था, यद्यपि इस बात का पूरा निर्देश तो नहीं मिलता, पुनरपि जितना कुछ भी जाना जा सकता है, उसके आधार पर यही पता लगता है कि यज्ञयागादि के करने के लिए ही वेदाध्ययन की परंपरा चलती रही। अर्थ शून्य इस यज्ञयागादि के कारण धीरे-धीरे लोगों में यही विश्वास बैठ गया कि वेद केवल संस्कारो व यज्ञादि के लिए ही हैं। जब विद्वानों मे यह धारणा बैठ गई, तो सर्वसाधारण का तो कहना ही क्या।

सायणाचार्य के काल तक वेदाध्ययन की यही प्रक्रिया चलती रही, उसका

भाष्य इस प्रक्रिया का परमपोषक बना। सायण के भाष्य से वेदार्थ की प्रक्रिया एक प्रकार से लुप्तप्राय हो गई, ऐसा ही कहना पडता है। वेदो के अर्थों का पठन-पाठन भारत के किन्हीं स्थान विशेषो मे रहा हो, यह हम नहीं कह सकते। इतना कह सकते है कि पिछले डेढ सौ वर्षों मे वेद का अर्थपूर्वक अध्ययन बहुत ही कम रहा।

वेद और उसकी शाखाएँ

अब हम थोडा-सा शास्त्रीय विषय उपस्थित करते हैं ·

शाखाएँ वेद के व्याख्यान ग्रथ हैं, ऐसा महर्षि दयानद का मंतव्य है (देखो, 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', पृ 291), अर्थात् चार वेद मूल हैं और 1127 उनकी शाखाएँ हैं, दूसरे शब्दो मे उनके व्याख्यान ग्रथ हैं।

शाखाओ की आनुपूर्वी अनित्य है, *"या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या"* (अ 4 3 101 महाभाष्य) यह महाभाष्यकार का मत है, और इसमें उदाहरण 'काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्' ये दिए हैं, जो स्पष्टतया शाखाग्रथ हैं। वेद की आनुपूर्वी को पतजलि मुनि नित्य मानते हैं– *"स्वरो नियत आम्नाये अस्यवामशब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता"* (अ 5 2 59 महाभाष्ये)। इन दोनो प्रमाणो से वेद और शाखा ग्रंथों का भेद भी भगवान् पतजलि के मत में सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट सिद्ध है।

निरुक्त के *'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिमंत्रो वेदे'* (निरुक्त 1.1) तथा *'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति'* (निरुक्त 1 16) इन वचनो से भी वेद की आनुपूर्वी नित्य है, ऐसा यास्क का सिद्धात है, यह अवश्य मानना पडेगा। यद्यपि शाखा के विषय मे यास्क ने स्पष्टतया नहीं लिखा, तथापि *"यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्, यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्'* (निरुक्त 10.5)। इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि वहाँ अर्थ की समानता होने पर भी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी का भेद दर्शाने के लिए ही इन्हे लिखा है। इनकी व्याख्या करता हुआ दुर्गाचार्य लिखता है– *'स एवार्थ:, केवल शाखान्तरमन्यत्'*। अर्थात्–अर्थ समान है, केवल शाखाभेद से वर्णानुपूर्वी का भेद है। निरुक्त के इस स्थल की यदि महाभाष्यकार के *'योऽसावर्थ: स नित्य:, यात्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या'* के साथ तुलना की जाए तो यास्क का अभिप्राय भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यास्क भी मूल वेदों की आनुपूर्वी को नित्य और शाखाओ की आनुपूर्वी को अनित्य मानता है।

शाखाएँ ऋषि-प्रोक्त हैं और उनकी आनुपूर्वी अनित्य है। इसको स्पष्ट करने के लिए एक और प्रमाण देते हैं

महाभाष्यकार पतंजलि *'अनुवादे चरणानाम्'* (अ 2 4 3) के भाष्य में लिखते हैं– *'अनुवदते कठ' कलापस्य'* अर्थात् कठ कलाप के प्रवचन का अनुवाद करता है। इससे व्यक्त है कि कठादि शाखाएँ ऋषियो के प्रवचन हैं और उनमे किन्हीं-किन्हीं शाखाओ की परस्पर पर्याप्त समानता है।

इन प्रमाणो से शाखाग्रथों की आनुपूर्वी के अनित्य होने में यत्किंचित् भी सदेह नहीं रह जाता, यही हम कहना चाहते हैं। शाखाओं का स्वरूप भी हमारे इस कथन से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

अब रह जाती है यह बात कि शाखा व्याख्यानरूप ग्रथ हैं यह कैसे जानें ? इसका उत्तर तो यही है कि जब सूक्ष्म दृष्टि से हम इन शाखाग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तो इनके भिन्न-भिन्न पाठों से यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इसके अनेक उदाहरण हैं। अब हम *'तेन प्रोक्तम्'* (अ 4 3.101) पाणिनि के इस सूत्र का न्यासकार का अर्थ दर्शाते हैं। वह लिखता है .

तेन व्याख्यात तद्ध्यापित वा प्रोक्तमित्युच्यते'

—अ 4.3 101, न्यास, पृ 1005

जिसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि ये कठ, कलाप, पैप्पलाद आदि शाखाएँ वेदों के व्याख्यानरूप ग्रथ ही हैं। प्रोक्त ग्रथ वह है जो व्याख्यान रूप हो या पढाया गया हो। प्रवचन और व्याख्यान समानार्थक शब्द हैं, ऐसा न्यासकार का कहना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग् युजु साम और अथर्व ये चार वेद स्वत प्रमाण हैं, और शाखाएँ प्रोक्त होने से परत प्रमाण हैं। इन शाखा ग्रंथों की कोटि (दर्जा) वह नहीं, जो वेद की है। यह है भेद वेद और शाखा-ग्रंथों का, जिनको सहिता के नाम से कहा जा रहा है।

इतना ही नहीं अपितु कठसहिता के प्रवचनकर्ता के मत में ऋषि मत्रों के द्रष्टा थे और वह मत्र की प्रतीक देकर इस सूक्त का ऋषि वामदेव हैं, ऐसा कहते है—जैसाकि .

वामदेवस्यैतत् पचदश रक्षोघ्न सामिधेन्यो भवन्ति स वामदेव उख्यमग्निमभिस्तमवैक्षत स एतत् सूक्तमपश्यत् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथिवीमिति

—का सं 10 5

अर्थात् 'कृणुष्व पाज ' इस सूक्त का द्रष्टा वामदेव ऋषि है। जो स्वयं वेद की प्रतीक देकर उसका ऋषि बताता है, वह ग्रथ स्वयं वेद कैसे हो सकता है ? यह बात साधारण बुद्धिवाले भी तत्काल समझ सकते हैं।

अब प्रसगात् यहाँ एक और आवश्यक शंका पर विचार कर लेना भी समुचित होगा। वह यह है कि गोपथब्राह्मण (पूर्वार्ध 1.29) मे अथर्ववेद का आरंभ 'शन्नो देवी ' इस मंत्र से होता है, ऐसा माना गया है। जब ऋग् यजु साम के आरंभिक मंत्रो का पाठ वैसा का वैसा हमें वर्तमान में भी उपलब्ध हो रहा है, तो अथर्ववेद का प्रथम मंत्र 'शन्नो देवी ' क्यों न माना जावे। इतना ही नहीं, महाभाष्यकार पतजलि मुनि ने भी महाभाष्य के आरंभ मे लौकिक वैदिक शब्दों का भेद दर्शाते हुए जहाँ ऋग् यजु साम के आरभ में मंत्रों का पाठ वही दिया है जो वर्तमान में

मिलता है, वहाँ चतुर्थ वेद का पाठ उन्होंने 'शन्नो देवी' ही दिया है, इससे पता लगता है कि अथर्ववेद का आरंभ 'शन्नो देवी' से ही होना चाहिए।

वादी की यह शंका पर्याप्त बलवती है, परंतु थोडा विचार करने से यह स्वयं दूर हो जाती है। 'तेन प्रोक्तम्' (अ 4 3.101) सूत्र के भाष्य में लिखा है

> *या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम् कालापकम्, मौदकम्, पैपलादकमिति।*

महाभाष्यकार के इस वचन से स्पष्ट सिद्ध है

(क) काठक, कालापक, पैप्पलादादि प्रोक्त हैं, अर्थात् ऋषियो द्वारा प्रवचन किए हुए वा ऋषिकृत हैं।

(ख) ये काठक पैप्पलादादि शाखा ग्रंथ हैं, वेद नहीं, क्योंकि महाभाष्यकार इनकी आनुपूर्वी (पाठक्रम) को अनित्य मानते हैं।

(ग) ऋग् यजु साम और अथर्व की आनुपूर्वी को *'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता''* (अ 5.2 59 महाभाष्य)—इस प्रमाण से महाभाष्यकार नित्य ही मानते हैं, अनित्य कदापि नहीं। यही कहना पडेगा।

(घ) प्रोक्त, व्याख्यान, प्रवचन और व्याख्यान पर्यायवाची शब्द हैं, यह न्यासकार का मत हम पूर्व दरशा चुके हैं।

इन सबसे यह सिद्ध है कि पतंजलि मुनि पैप्पलादि को शाखा मानते हैं, उसकी आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, उसे वेद नहीं मानते।

अब रही 'शन्नो देवी' के आरभ मे आने की बात, सो महाभाष्य के आरभ में वैदिक शब्दों का उदाहरण मात्र देना अभिप्रेत है। वहाँ वेदों की आरंभिक प्रतीक दर्शाना मुख्य नहीं। यदि वह वेद की आरभिक प्रतीक मानी जावे तो पतंजलि भगवान् के स्ववचनों में ही परस्पर विरोध आवेगा। अत लौकिक वैदिक शब्दों का भेदमात्र दर्शाना यहाँ अभिप्रेत है, यही मानना होगा।

अब रही गोपथब्राह्मण में आए 'शन्नो देवी' इस पाठ की बात। सो यह 'शन्नो देवी' पाठ पैप्पलाद संहिता का है, यह छान्दोग्यमंत्रभाष्य के कर्त्ता गुणविष्णु ने माना है (पृ 6, 48, पृ 117)। पैप्पलाद शाखा महाभाष्यकार के मत से ऋषिप्रोक्त हैं, उसकी आनुपूर्वी अनित्य है, यह भली भाँति सिद्ध हो चुका। अत गोपथब्राह्मण में 'शन्नो देवी.' से अथर्ववेद का आरभ उसको पैप्पलादशाखा का ब्राह्मण होने से, वा किसी अवांतर शाखा का आरंभिक पाठ होने से है, ऐसा ही मानना पड़ेगा।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि 'ये त्रिषप्ताः' आदि अथर्ववेद के आरंभ की प्रतीकें हमें श्रौत, गृह्य तथा अन्य अनेक स्थानों में मिलती हैं।

अरविन्दाश्रम पांडुचेरी से श्री कपाली स्वामी कृत 'ऋग्वेदभाष्य' का प्रथम खंड प्रकाशित हुआ था। उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि उन्हें भी महाभाष्यकार

पतंजलि के *"यद्यप्यर्थो नित्यः या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकम्"* इस वचन के समझने में भ्रान्ति हुई है। वे महाभाष्य के इस वचन को उद्धृत करके लिखते हैं :

> *वेदशब्दार्थनित्यत्वमभ्युपगच्छन् भगवान् पतञ्जलिः पदवर्णवाक्यबन्ध-व्यवस्थानित्यतां नांगीचकार। सा च व्यवस्था प्रकाशनरूपा ऋषिकर्तृका। एवं वेदाना कृतकत्वाकृतकत्वयोरुपपत्तिर्द्रष्टव्या।*

अर्थात् "वेद के शब्दों को नित्य मानकर भी पतंजलि ने वेद के पद वर्ण वाक्य आदि व्यवस्था की नित्यता को स्वीकार नहीं किया। वह पद वर्ण वाक्य व्यवस्था प्रवचनरूप ऋषियों की है। इस प्रकार वेद का अपौरुषेयत्व और ऋषिकर्तृकत्व दोनों की संगति समझ लेनी चाहिए।"

वस्तुत: कपाली स्वामीजी का उपर्युक्त लेख अयुक्त है क्योंकि उन्होंने पतंजलि के एकवचन को ही उद्धृत करके पतजलि के मत मे वेद की वर्णानुपूर्वी की अनित्यता को दर्शाया है। पतंजलि का दूसरा वचन जिसमें स्पष्ट रूप से पतंजलि ने वेद की वर्णानुपूर्वी को नित्य माना है। *'स्वरो नियत आम्नायेऽस्ववामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता'* को छूआ तक नहीं। संभव है उन्हें इस वचन का ज्ञान ही न रहा हो, अस्तु।

पतंजलि के उपर्युक्त दोनों वचनों मे विरोध स्पष्ट भास रहा है। उसका परिहार करना आवश्यक है। अन्यथा पतंजलि का लेख उन्मत्तप्रलापवत् मानना होगा। इस विरोध का परिहार हमारी ऊपर दर्शायी सगति के अनुसार ही हो सकता है अर्थात् पतंजलि के मत मे पैप्पलाद आदि शाखाएँ ऋषिप्रोक्त हैं, अत: वे उनकी वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, और वेद को अपौरुषेय होने से, वे उनकी वर्णानुपूर्वी को नित्य मानते हैं, यह उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है।

शाखाएँ प्रोक्त हैं, वेद का व्याख्यान हैं, यह हम ऊपर भली प्रकार दर्शा चुके। अब यहाँ हम एक और प्रबल शंका का समाधान कर देना भी आवश्यक समझते हैं, जो बहुत से विद्वानो के मन में भी यत्र तत्र देखी जाती है।

महर्षि दयानंद स्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शंका का समाधान

ऐतरेयालोचन, पृ. 127 पर श्री पं. सत्यव्रत सामश्रमीजी ने श्री स्वामीजी के 'शाखा वेदव्याख्यान हैं' इस मत का खडन करते हुए लिखा है

> *हन्त का नाम संहिता शाखेति व्यपदेशॄया तेन महात्मनोररीकृता, यस्या मूलवेदत्वं मत्वा शाखेतिप्रसिद्धानामन्यासां तद्व्याख्यानग्रथत्व मन्तव्य भवेदिति त्वस्माकमज्ञेयमेव।*

अर्थात् "स्वामी दयानंद ने किसको मूलवेद माना है, जिसमें कि शाखा शब्द का

व्यवहार न होता हो, और जिसको मूल मानकर अन्य शाखाओं को उनका व्याख्यानरूप ग्रंथ माना जा सके।"

इस आक्षेप के दो भाग हैं। एक तो यह कि मूल वेद कोई नहीं। दूसरा कोई ऐसी संहिता नहीं जिसका कि शाखा शब्द से व्यवहार न हो।

अब हम इन दोनों आक्षेपों का उत्तर क्रमशः देते हैं।

(क) शतपथब्राह्मण का कर्त्ता याज्ञवल्क्य लिखता है ·

> *तदु हैकेऽन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद्यज्ञन्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् तथैवर्चानूक्तमेवमेवानुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसमिति"* —शत. 1.4.1.35। (तु. काण्व शत. 2.3.4.25)।

इसका भाव यह है कि "किसी शाखावाले *'होता यो विश्ववेदसः'* ऐसा पाठ पढ़ते हैं। सो ऐसा पढा ठीक नहीं। यह मनुष्यकृत पाठ है। वे यज्ञ में मानुषपाठ करते हैं। यज्ञ मे मानुषपाठ पढना यज्ञ की हीनता है। यज्ञ में हीनता न हो, इसलिए जैसा ऋचा का पाठ है, वैसा ही बोले *'होतारं विश्ववेदसम्'* (ऋ 1 21.1)।"

इस प्रमाण से दो बातें सिद्ध होती हैं, प्रथम–शाखाएँ जितनी हैं वे सब मानुष (मनुष्यप्रोक्त वा मनुष्य-संबंध से युक्त) हैं। दूसरा–कोई ऋक् पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्य का कोई संबध नहीं, और वही मनुष्य संबंध से रहित मूलवेद है।

शतपथ के इस स्थल के व्याख्यान में ·

> *होता य इति पाठविपरिणामस्य मनुष्यबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम्। यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यमित्युपसहरति तस्मादिति। कीदृग्विध तर्हि वेदे पठितमिति तदाह होतारमिति* —शतपथ 1.4 1.35., सा. भा., पृ 144

सायण भी *'होता यो विश्ववेदसः'* शाखातर के इस पाठ को मानुष मानता है, और *'होतार विश्ववेदसम्'* को वेद का पाठ मानता है।

(ख) शतपथ ब्राह्मण का सबसे प्राचीन भाष्यकार हरिस्वामी (सन् 639 ई.) जो कि स्कंद स्वामी का शिष्य था, शतपथ-ब्राह्मणभाष्य के उपोद्घात के प्रारंभ में लिखता है ·

> *वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्* (शतपथ, हरिस्वामीभाष्य, हस्तलेख, पृ. 2)।

अर्थात् "वेदों के अपौरुषेय होने से ही उनका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है। उनकी शाखाओ का भी प्रामाण्य तद्हेतुता से अर्थात् वेद के अनुकूल होने से बादरायणादि ने स्वीकार किया है।" हरिस्वामी के इस वचन से दो बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं,

एक तो यह है कि कोई अपौरुषेय वेद अपनी पृथक् सत्ता रखता है, और शाखाएँ उनसे भिन्न हैं। दूसरे उन शाखाओं का प्रामाण्य भी वेदानुकूल होने से ही स्वीकार किया जाता है।

हमारे उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भाँति यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि शतपथकार तथा हरिस्वामी के मत मे शाखाओ से अतिरिक्त मूल वेद अवश्य थे।

अब सत्यव्रत सामश्रमीजी के दूसरे आक्षेप का उत्तर लिखते हैं—वैदिक साहित्य में 'शाखा' शब्द का व्यवहार दो कारणों से होता है। एक तो पाठभेदादि करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता है, वह शाखा का रूप धारण कर लेता है', जैसे तैत्तिरीय संहिता, काठक सहिता, मैत्रायणी संहिता तथा काण्व संहितादि। दूसरा, शाखा शब्द का व्यवहार मूल ग्रथो में बिना किसी परिवर्तन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस सहिता के साथ मे सयुक्त हो जाता है। इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकल सहिता है, शाकल्य ने सहिता पाठ मे कोई परिवर्तन वा परिवर्द्धन किया हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। हॉ निरुक्त अ 6 28 के *"वा इति च थ इति च चकार शाकल्य"* इस पाठ से ऋग्वेद के पदपाठ का कर्तृत्व शाकल्य का सिद्ध होता है। पुराणो मे भी इस शाकल्य को 'पदवित्तम' नाम से पुकारा गया है। पदपाठ का कर्त्ता होने मात्र से ऋक्सहिता के साथ शाकल्य का नाम जोड दिया गया और उसका शाकलसंहिता या शाकलशाखा के नाम से व्यवहार होने लगा। (कई लोगो ने शाकल को शाकलसहिता का प्रवचनकर्त्ता माना है, वह प्रमाणभाव से चिन्त्य है) किसी सहिता का पदपाठ मात्र कर देने से भी उसमे शाखा शब्द का व्यवहार होता है, इसके लिए हम एक स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं

> *उख- शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने।*
> *तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते।।*
> *यस्या- पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिन-।*
> *तां विद्वांसो महाभागा भद्रमश्नुवते महत्।।*
>
> – तैत्तिरीय काण्डानुक्रम, पृष्ठ 9, श्लोक 26, 27

अर्थात् तित्तिरि ने इस तैत्तिरीय सहिता को उख को पढाया। उसने इस शाखा को आत्रेय को पढाया। आत्रेय द्वारा बनाई हुई यह शाखा आत्रेयी कहलाती है, जिसका पदकार आत्रेय है, और वृत्तिकार कुण्डिन है। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्रेय के द्वारा पदपाठ कर देने मात्र से यह तैत्तिरीय संहिता 'आत्रेयी' सहिता के नाम से भी व्यवहृत होने लगी। ठीक वैसी ही दशा शाकलसंहिता की भी समझनी चाहिए।

यह शाखा के विषय में कुछ निवेदन किया। इस पर विद्वानो को गभीरता से

विचार करना चाहिए। शाखा का विषय अतीव गंभीर अध्ययन और हस्तलिखित सामग्री की अपेक्षा करता है, और यह विषय अपने विद्वानों के परस्पर विचारविनिमय से ही हल करने का है। इस विषय पर कभी बड़ी योजनापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

मैं चाहता था कि ऐसे ही अन्य अनेक गंभीर विषयों को यहाँ उपस्थित करता, जिन पर विद्वानों को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, जिन पर आर्यसमाज और ऋषि दयानंद स्वीकृत वेदविषयक मान्यताओं का बहुत कुछ निर्भर है। पर इस प्रकार के विचार 1½ घंटे के वेद सम्मेलन में तो हो नहीं सकते। इसी कारण मुझे इस भाषण में 10-12 पृष्ठ का मैटर प्रेस में भेजने के पश्चात् निकाल देना पड़ा।

आर्यसमाज ही एक ऐसा समाज है जो वेद को प्रमुख मानकर चला है। अत वेद विषय को उठाना और उसके लिए कष्ट करना आर्यसमाज ही कर सकता है, और किससे आशा की जावे। और तो इस विषय में कहाँ तक उदासीन हैं, इसका कुछ दिग्दर्शन हम कर देना चाहते हैं।

आर्यसमाज की संस्थाओं में आजकल वेद का पठनपाठन

स्कूल-कॉलेजों में धर्मशिक्षा का घंटा रहता था, वह भी समाप्त हुआ। जब से नई सरकार आई, उसने धर्म का नाम काट ही दिया। इतना ही नहीं सोचा, या सोचने का यत्न किया, कि भला वेद किस देश या जाति की बपौती हैं। वेद में कोई बात ऐसी नहीं, जो किसी जाति या देश के विरोध में हो। हाँ ! देव और असुरों का वर्णन है। देव भले मनुष्यों को कहते हैं, असुर पापी अत्याचारी परपीड़न करनेवालों को कहते हैं, जो कोई भी हो, जहाँ कहीं भी हो। किन्हीं देशविशेष या जातिविशेष के साथ इन शब्दों का सबंध नहीं। सार्वभौमिक नियमों का नाम धर्म है, जिसका कोई विरोधी नहीं। यह बात सरकार को क्यों समझ में नहीं आती ? आर्यसमाज को सांप्रदायिक कहना सर्वथा मिथ्या है। हमारी संस्थाएँ जो पहले अंग्रेजी सरकार की कृपा पर जीवित रहती थीं, अब इन्होंने वर्तमान सरकार को अपने जीवन का आधार बना लिया है। राज्य की सहायता के बिना इनका निर्वाह नहीं। इन्होंने अपने इन प्रभुओं को उनके कहने से पहले ही धर्मशिक्षा की घंटी निकाल दी। हाँ ! अभी दयानंद या आर्यशब्द को नहीं निकाला, सो भी आगे निकलता ही दिखलाई देता है। कह तो यह रहे थे कि इनमें धर्मशिक्षा की घंटी भी प्राय· लुप्त हो गई। उनमें सन्ध्या वा हवन के मंत्र तो बच्चों को सिखा देते थे और नहीं तो वेद कितने हैं, चार हैं। कौन-कौन से ?—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, चलो वेदों के नाम तो बच्चों को आ जाते थे। सो भी गए। अच्छा देश स्वतंत्र हुआ।

सो इस प्रकार प्राइमरी, मिडिल, हाईस्कूल, इंटर, बी.ए., एमए, के स्कूलों और कॉलेजों से चाहे वे पुत्रों के हों या पुत्रियों के, वेद का नाम गया। हाँ ! एमए में संस्कृत लेनेवालों को कुछ नाममात्र वेद पढाया जाता है। सो उनमें भी

वही सायण और उनके अँगरेजी अनुवादों के आधार पर पढ़ाया जाता है जिससे आर्य-परिवार के दृढ विचार का युवक भी (ठीक अर्थ की व्यवस्था न होने और उक्त ग्रंथ ही पढाई में होने के कारण) पथ-विचलित हो जाता है।

अब ले-देकर हमारे गुरुकुल हैं जो इस दिशा मे बहुत कुछ यत्न कर रहे हैं। संसार का प्रवाह इतना प्रबल है कि इनमे भी अब वेद-शिरोमणि या वेद-वाचस्पति या वेदभास्कर प्रतिवर्ष एक-दो ही बनते होगे। स्वर्गीय महात्मा स्वा श्रद्धानंदजी महाराज के समय मे जो बन गए सो बन गए। अब तो आयुर्वेद की ही प्रधानता प्रतीत हो रही है। वेद के नाम पर स्थापित की गई हमारी इन सस्थाओ की यह अवस्था आर्यसमाज के लिए विचार का विषय बन रही है। आचार्य महानुभाव चाहते हुए भी अपनी विवशता ही प्रकट करते है। अर्थात् वेदवालो को वृत्ति देने पर भी छात्र वेद विषय न लेकर आयुर्वेद ही प्राय लेते हैं, जबकि आयुर्वेद विषय मे वृत्तियाँ भी नही दी जातीं। वेद के अध्ययन-अध्यापन की मुख्यता हमे लानी ही होगी, जिसके लिए आर्य जनता आशा लगाए है। वेदविषय को प्रौढतापूर्वक पढाने की व्यवस्था हमे करनी ही होगी, यही कहना है।

वेद-सबधी कार्य की महती आवश्यकता

हमारे उपर्युक्त सब लिखने का अभिप्राय इतना ही है कि आर्यसमाज को वेद के लिए बहुत कुछ कार्य करना होगा। पौराणिको ने तो वेद को केवल यज्ञपरक कहकर छुट्टी पा ली, पर आर्यसमाज ऐसा नही कर सकता। क्योकि आर्यसमाज ने तो वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है, की घोषणा की हुई है, जिसके लिए वह मनु के *'सर्वज्ञानमय हि स'* वेद सब ज्ञान का भडार है, यह प्रमाण उपस्थित करता है, सर्वविधज्ञान का भडार वेद है, इस बात को वर्तमान प्रत्यक्षवादी ससार के सामने प्रमाणित करना वा हृदय मे बिठा देना कितना महान कार्य है, जो आर्यसमाज के सामने है। इस कार्य मे सहस्रो त्यागी आत्माओ की आहुति पडे, विपुल साधन जुटे, और सुदीर्घ काल तक व्यवस्था ठीक हो तब कहीं आर्यसमाज का यह स्वप्न पूरा हो सकता है। हमे तो यह कार्य असभव प्रतीत नही होता, हॉ, घोर तप, त्याग और परिश्रमसाध्य प्रतीत होता है। आवश्यकता है कि पचास योग्य विद्वानो को सर्वथा निश्चित कर दिया जावे और उनको एक साथ कम से कम एक वर्ष के लिए ग्रथ आदि सर्वसामग्री सहित एक स्थान मे बिठाने की व्यवस्था की जावे। इसका प्रारभ दस वर्ष के लिए दस विद्वानो को एक स्थान मे पूरे पुस्तक सग्रह आदि साधनों सहित बिठाया जावे। कार्य की रूपरेखा पहले अति गभीरता से सोचनी होगी, विद्वान् भी वही लेने होगे, जिनकी वेद मे पूर्णनिष्ठा, उत्कृष्ट मेधा और तीव्र रुचि हो।

[सन् 1958]

भारत में वैज्ञानिक युग का प्रादुर्भाव

पंडित जवाहरलाल नेहरू

हमारे विश्वविद्यालयो पर भारी उत्तरदायित्व है। उनका काम मानवता, सहिष्णुता, विवेक और सत्य की शिक्षा देना है। यदि हमारे देश के विश्वविद्यालय अपने इस कर्तव्य का पालन करे और अपने विद्यार्थियो मे उपरोक्त गुण उत्पन्न करें, तो हमारे देश का कल्याण हो सकता है। पर यदि इसके विपरीत हमारे विद्या के ये मदिर ही यदि सकीर्णता, कट्टरता और क्षुद्र स्वार्थों के घर बन गए, तो राष्ट्र की उन्नति कठिन है। अत विश्वविद्यालयो और अध्यापको पर बडा भारी दायित्व है। वास्तव मे ये ही हमारे राष्ट्र-निर्माता हैं। उन्हें विद्यार्थियों को उत्तम नागरिक तैयार कर राष्ट्र के लिए प्रस्तुत करना है, अभी तक हमारे देश के विश्वविद्यालय भी विदेशी सरकार के प्रभाव में थे, प्रभाव मे न भी सही, मगर सरकार की कृपा बनी रहे, इसका ख्याल उन्हे रखना ही पडता था। राष्ट्रहित और सरकारी हित का मुकाबला होने पर सरकारी हित को ही तरजीह देनी पडती थी, क्योकि सरकारी सहायता के बिना विश्वविद्यालयो का काम चल ही नहीं सकता। परतु अब तो अपनी सरकार है, वह सरकार जो चाहती है कि हमारे देश के युवक स्वतत्र देशों के-से युवक हो। इसलिए अध्यापको और विश्वविद्यालयो का उत्तरदायित्व बहुत बढ गया है और उन्हे अपने इस दायित्व का पालन करना है।

हम भारत मे ऐसा असांप्रदायिक प्रजातंत्र स्थापित करना चाहते हैं, जिसमें सभी को समान अधिकार और धार्मिक स्वतंत्रता रहेगी और जिसमें सांप्रदायिकता, संकीर्णता, कट्टरता या शोषण के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा अत सांप्रदायिक भेदभावों को त्यागकर हमे सयुक्त राष्ट्रनिर्माण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

मेरा पक्का यकीन है कि भारतवर्ष मे शीघ्र ही वैज्ञानिक युग का प्रादुर्भाव होगा। नवभारत की समस्याएँ वैज्ञानिक तरीके से औद्योगिक उन्नति करने पर ही हल हो सकती हैं। विज्ञान के द्वारा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में योजना के अनुसार उन्नति की जाती है और लोगों का विकास वैज्ञानिक ढंग से होता है। विज्ञान से केवल सत्य का ही रहस्योद्घाटन नहीं होता। विज्ञान से जब समाज की उन्नति होती है तो इसका महत्त्व अपेक्षाकृत बढ जाता है।

शोषण और विकास के लिए विज्ञान का प्रयोग सर्वथा अवाछनीय है। आशा

है, भारत भविष्य में होनेवाले युद्धों में शामिल न होगा। भविष्य में और भी भयानक युद्ध होगे क्योंकि शोषण की भावना अभी नहीं मिटी है।

अणु शक्ति के लिए, भारतीय वैज्ञानिक मानव समाज की उन्नति के लिए, इसका अनुसंधान विदेशी वैज्ञानिको की सहायता से करेंगे, किंतु हमारा उद्देश्य मानव-जाति का विनाश नहीं है। कुछ लोग शोषण और साम्राज्य-लिप्सा के चक्कर में वैज्ञानिक साधनों को निजी संपत्ति बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। हम भारत में ऐसी बात नहीं होने देगे। मुझे स्वय राजनीति से प्रेम नहीं है किंतु देश की स्वाधीनता के लिए मुझे इस क्षेत्र में आना पडा है।*

[सन् 1958]

पंडित जवाहरलाल नेहरू विज्ञान महाविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर पधारे थे। उन्होने पुरातत्त्व संग्रहालय का उद्घाटन भी किया था। इस अवसर पर श्री नेहरू ने मौखिक भाषण किया था। यहाँ उनके शिक्षा और विज्ञान विषयक अन्यत्र प्रकाशित विचारों को संकलित किया गया है।

भारतीय संस्कृति

सेठ गोविंददासजी

गुरुकुल कांगडी के हीरक-जयंती महोत्सव के अवसर पर भारतीय संस्कृति सम्मेलन का अध्यक्ष बनाकर आपने मुझसे जो सेवा ली है, उसके लिए मैं आपका अनुगृहीत हूँ।

मैं सनातनधर्मी हूँ, मूर्तिपूजक और श्राद्ध मे विश्वास रखनेवाला। जब जबलपुर में रहता हूँ अपने कौटुम्बिक मंदिर के नित्य दर्शन करता हूँ। गत वर्ष जब मैं बद्रीनाथ की यात्रा को गया उस समय वहाँ ब्रह्मकपाल मे श्राद्ध कर मुझे असीम आनंद मिला था परतु महर्षि स्वामी दयानदजी सरस्वती को मैं आधुनिक भारत के सबसे महान पुरुषो में एक मानता हूँ और पूज्य स्वामी श्रद्धानदजी का कृपापात्र रहा हूँ। मुझ पर परम अनुग्रह कर वे जबलपुर मे मेरे द्वारा सस्थापित राष्ट्रीय हिदी मदिर के एक वार्षिकोत्सव मे सभापति होकर पधारे थे। उनके स्नेह और कृपा को मैं आजीवन विस्मृत नहीं कर सकता और उनके द्वारा स्थापित इस गुरुकुल को मैं नमन करते हुए यह कहना चाहता हूँ कि भारत की सबसे बडी सस्थाओं में यह एक संस्था है और इसने कठिन समय मे भारत की असीम सेवा की है।

संस्कृति की परिभाषा

सस्कृति शब्द की अब तक शायद कोई ऐसी परिभाषा नहीं हो पाई है जिसे सर्वमान्य कहा जा सके। ससार के अनेक देशों के अनेक विद्वानो ने सस्कृति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं।

इस समस्त सृष्टि को मोटे रूप से दो विभागो में बाँटा जा सकता है—एक जड और दूसरा जगम। जड से जगम की उत्पत्ति हुई या जगम से जड की। इसमे चाहे मतभेद हो, परतु जड से जगम का स्थान ऊँचा है, इसमें मतभेद नहीं हो सकता। जगम रचना मे मानव सर्वश्रेष्ठ है। इसका प्रधान कारण यह है कि निसर्ग ने मानव को जो ज्ञान-शक्ति दी है वह अन्य किसी प्राणी को नहीं। यजुर्वेद में मनुष्य को *'अमृतस्य पुत्रः'* कहा है। मानव ने अपनी ज्ञान-शक्ति से इतने बडे दीर्घ काल मे जो कुछ उपार्जित किया है वह सब संस्कृति के अतर्गत आ जाता है।

संस्कृति और सभ्यता का अंतर

संस्कृति की परिभाषा को और अधिक समझने के लिए संस्कृति और सभ्यता के अंतर को समझ लेना चाहिए। संस्कृति और सभ्यता सर्वथा एक नहीं है परंतु दोनों का अंतर इस प्रकार का है कि बहुधा पर्यायवाची माने जाते हैं, यह भूल है।

प्रकृति ने हमें जो कुछ दिया है, उसे काम में लेकर मनुष्य ने जो आधिभौतिक प्रगति की है उसको हम सभ्यता ('सिविलिजेशन) कहते हैं, तथा बुद्धि का सेवन कर मानव जो सृजन करता है, वह संस्कृति (कल्चर) है।

संस्कृति का संबंध अंतरंग से है और सभ्यता का बहिरंग से। संस्कृति आत्मा है और सभ्यता देह। संस्कृति आध्यात्मिक स्तर है और सभ्यता आधिभौतिक।

संस्कृति का विकास निसर्ग द्वारा न होकर मानव द्वारा हुआ। अतः संस्कृति नैसर्गिक वस्तु न होकर मानव-कृत कृत्रिम चीज है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। संसार में संस्कृतियो का विकास सामूहिक रूप में हुआ है। इसलिए संस्कृति एक व्यक्ति के उद्योग का फल न होकर सामूहिक उद्योग का फल है। फिर संस्कृति का विकास भी शनैः-शनैः हुआ है। उसमें परिवर्तन हुए हैं। संस्कृति सदैव एक रूप में ही नहीं रहती। वह स्थिर नहीं है। उसके कुछ तत्त्व चाहे सदा रहनेवाले हों परंतु उनमें परिवर्तन होता ही रहता है। इस परिवर्तन का प्रधान कारण सामाजिक परिवर्तन है और यह परिवर्तन किस प्रकार हुआ यह इतिहास से ज्ञात होता है। हाँ, सस्कृति और सभ्यता दोनों का अन्योन्य संबध अवश्य है। यथार्थ में संस्कृति और सभ्यता उन्नत अथवा विकसित मानव का दोरुखी चित्र है। जब सभ्यों का आचरण सामूहिक हो जाता है तब संस्कृति और सभ्यता का सच्चे रूप में निर्माण होता है।

संस्कृत देश और उनकी भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ

इस समय संसार में प्रधानतया छः संस्कृतियाँ मानी जाती हैं :

1. आर्य (भारतीय) संस्कृति।
2. अनार्य (अफ्रीकी) संस्कृति।
3. मंगोल (चीनी, जापानी) संस्कृति।
4. ईसाई (यूरोप, अमरीकी) संस्कृति।
5. इस्लामी (अरबी-फारसी) संस्कृति।
6. कम्युनिस्ट (रूसी) संस्कृति।

संस्कृति एक देश से दूसरे देश की, एक जाति से दूसरी जाति की, एक समुदाय से दूसरे समुदाय की, एक कुटुंब से दूसरे कुटुंब की, यहाँ तक कि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की भी पृथक् हो सकती है और यह संस्कृति सदा अच्छी हो ऐसा नहीं, बुरी हो ऐसा नहीं, बुरी और अच्छी दोनों होती हैं। इसीलिए बुरी के साथ 'कु' और अच्छी के साथ 'सु' उपसर्ग काम में लाए जाते हैं

सबसे प्राचीन संस्कृत देश

दुनिया के चार देश सबसे पुराने संस्कृत देश माने जाते हैं—भारत, मिस्र, चीन और यूनान। परंतु भारत को छोड़कर अन्य तीन देशों की प्राचीन संस्कृति के आज उन देशों के जीवन में दर्शन नहीं होते। मिस्र, चीन और यूनान की प्राचीन संस्कृति या तो वहाँ के खँडहरों में दिखती है या वहाँ के अजायबघरों में। भारत ही संसार में एकमात्र प्राचीनतम देश है जहाँ की प्राचीनतम संस्कृति की परंपरा आज भी आज के भारतीय जीवन में दृष्टिगोचर होती है।

भारतीय संस्कृति के प्रधान तत्त्व

भारतीय संस्कृति का मुख्य ध्येय है—*'आत्मानं विद्धि'* अर्थात् अपने को जानो। भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता सत्य का अनुसंधान करने का प्रयत्न है और इसके लिए किसी भी बंधन से रहित चिंतन, इसीलिए जो सहिष्णुता हमें भारतीय संस्कृति में दृष्टिगोचर होती है वह अन्य किसी संस्कृति में नहीं।

संसार की भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ वहाँ की विचारधाराओं का परिणाम है। अतः मूल में चाहे उनमें एकता हो पर उनके बाह्य रूप में भिन्नता होना स्वाभाविक है। भारतीय संस्कृति जिस विचारधारा से निकली उस विचारधारा का मूल अध्यात्म है। अध्यात्म का दिग्दर्शन जिस शास्त्र से होता है वह दर्शनशास्त्र है। भारत का दर्शनशास्त्र समस्त संसार के दर्शनशास्त्रों में सबसे ऊँचा रहा है, आज भी है। भारतीय दर्शनशास्त्र सबमें अपना और अपने में सबका दर्शन कराता है। उसका सुंदर निचोड भगवद्गीता के एक ही श्लोक में हुआ है :

> *यो माम् पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।*
> *तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।*

भारतीय संस्कृति धर्मप्राण संस्कृति है। धर्म शब्द का अर्थ हमारे यहाँ बड़ा व्यापक है। 'रिलीजन' अथवा 'मजहब' धर्म शब्द के ठीक अनुवाद नहीं हैं। जिस प्रकार संस्कृति की विविध व्याख्याएँ हैं उसी प्रकार हमारा धर्म शब्द व्यापक होने के कारण धर्म शब्द की भी विभिन्न व्याख्याएँ हैं। धर्म शब्द में मानव का व्यष्टि और समष्टि समस्त जीवन आ जाता है। धर्म शब्द 'धृ' (धारणा करना) धातु में 'मय' प्रत्यय लगाने से बनता है। अर्थ हुआ जो धारण करे अर्थात् *'धारणात् नाम धर्मः।'* अतः धर्म उन सिद्धातों का एकीकरण है जिनसे मानव और मानव-समाज अपने अस्तित्व को धारण करता है। यह अस्तित्व तभी टिक सकता है जब मनुष्य और उसका समाज सन्मार्ग पर चले। इस सन्मार्ग की भी हमारे यहाँ न जाने कहाँ-कहाँ और कितनी-कितनी परिभाषाएँ की गई हैं। परंतु मुझे सबसे अच्छी और व्यापक व्याख्या वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद की जान पड़ी। वे कहते हैं—*'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः'* अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् सिद्धि हो, वह धर्म है। अभ्युदय से लौकिक और निःश्रेयस् से पारलौकिक सिद्धि

की उपलब्धि होती है।

धर्म और संस्कृति दोनों का संस्कारों से संबंध है पर दोनों में एक अंतर है। धर्म का मूल आधार वेद, वेदांग, उपनिषद्, स्मृति, शास्त्र, रामायण, महाभारत और पुराण आदि हैं। संस्कृति का आधार परंपरा भी है। धर्म देश, विदेश अथवा जातिविशेष अथवा समाज विशेष से निरपेक्ष भी रह सकता है किंतु संस्कृति नहीं। जहाँ तक हमारे धर्म का संबंध है वह तो सब धर्मों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है और कहता है *'सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।'*

हमारी संस्कृति का विकास हिमालय के सदृश पर्वतों, वनों और अरण्यों में हुआ है। अतः वह प्रकृति की गोद में पली है। हमारे ऋषि-मुनियों ने विभिन्न दिखनेवाली इस सृष्टि में एकता के दर्शन किए थे। हजारों वर्षों के बाद भी आज के वैज्ञानिक उसके आगे नहीं जा पाए हैं। यह समस्त सृष्टि यथार्थ में एक ही तत्त्व है, सब इसको मानते हैं। इसीलिए कुछ सूक्त इस एकता का सुंदर वर्णन करते हैं : *'अहं ब्रह्मास्मि'* अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, *'तत्त्वमसि'* याने तुम भी हो। *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* अर्थात् सबकुछ ब्रह्म है। अतः *'वसुधैव कुटुबकम्'* समस्त सृष्टि परिवार है। इसीलिए हमारे ऋषि-महर्षियों ने कहा था

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

हमारी धर्मप्राण संस्कृति आध्यात्मिकता की नींव पर खड़ी है। परंतु जो लोग यह मानते हैं कि हमने केवल आकाश की ओर देखा है और भूमि की ओर नहीं, वे बड़ी गलती करते हैं।

एक ओर भारतीय संस्कृति मे आध्यात्मिक नींव पर दार्शनिक बातों का चरमोत्कर्ष हुआ और दूसरी ओर आधिभौतिक नींव पर वैज्ञानिक और कलात्मक बातों का। दर्शन में आज भी भारत संसार का बेजोड़ देश है। विज्ञान में प्राचीनकाल में ज्योतिष, गणित, योगविचार, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, आयुर्वेद आदि में अनेक वैज्ञानिक खोजें हुईं। ललितकला के पाँच मोटे विभाग हैं—स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला। इन पाँचों कलाओं का भी हमारे देश में पूर्णोत्कर्ष हुआ।

आध्यात्मिक क्षेत्र के सिवा मानव ने अपनी ज्ञान-शक्ति के द्वारा जो कुछ उपार्जित और अर्जित किया है, उसके मोटे रूप से दो विभाग किए जा सकते हैं—एक विज्ञान और दूसरा कला। दोनों में ही प्राचीन भारत चरम सीमा को पहुँचा था।

संक्षेप में भारतीय संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. संसार के आज के देशों में केवल भारत ही ऐसा देश है जहाँ के

सामाजिक जीवन में भारत की प्राचीन संस्कृति की परपरा मौजूद है।

2. उसके इस दीर्घ जीवन में कुछ ऐसे सिद्धांत हैं जिससे वह अमर हो गई है। ये सिद्धांत हैं .

(क) उसका अध्यात्म की नींव पर अवलंब।

(ख) सत्य का अनुसंधान करने का प्रयत्न और इसके लिए किसी भी बंधन से रहित चिंतन जो इस संस्कृति में सहिष्णुता लाया।

(ग) समन्वय यह समन्वय विचार में ही नहीं, कृति में भी रहा। वेद और वेदांत में ईश्वरवाद है परतु हमने निरीश्वरवादियों को भी कम महत्त्व नहीं दिया। जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और गौतम बुद्ध को हमने अवतार माना।

(घ) अन्य संस्कृतियो की ग्राह्य वस्तुओं को ग्रहण करने की शक्ति तथा उन्हें अपने में लीन करने की ताकत।

(ङ) परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनों की मान्यता और इस परिवर्तन मे प्रगतिशीलता।

(च) जीवन के समस्त क्षेत्रो को उन्नत करने की ओर उसका ध्यान जिसमें अध्यात्म और अधिभूत सभी आ जाते हैं।

भारतीय संस्कृति का व्यावहारिक पक्ष

यदि एक ओर भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान है तो दूसरी ओर कर्मप्रधान भी। भारतीय संस्कृति की वर्णव्यवस्था और आश्रम प्रणाली इस सस्कृति में कर्म की प्रधानता के द्योतक हैं। वर्ण-व्यवस्था आगे चलकर चाहे जन्म के अनुसार हो गई हो पर आरंभ में वह कर्म के अनुसार थी।

आश्रम प्रणाली मे तो कर्म प्रमुख था ही, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास सब आश्रमों के कर्म स्पष्ट रूप से निर्धारित थे।

- जिस प्रकार हमारे यहाँ चार आश्रम थे उसी प्रकार जीवन के चार आदर्श थे—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।

इस कर्म मार्ग से चलनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को तीन ऋणों से मुक्ति पाना अवश्य होता था। ये तीन ऋण थे—ऋषि गण, देव ऋण, और पितृ ऋण।

और इस प्रकार समस्त जीवन में सोलह संस्कार होते थे जो गर्भाधान से लेकर अग्नि सस्कार तक चलते थे। इसमें प्रधान संस्कार थे उपनयन, समावर्तन और विवाह।

आध्यात्मिक जीवन का आदर्श होते हुए भी उसकी प्राप्ति का प्रधान साधन आधिभौतिक शरीर माना जाता था और इसीलिए कहा गया था *'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'*। मोक्ष की प्राप्ति के लिए जीवन को विशिष्ट मार्ग से चलना पड़ता था। मानव सामाजिक प्राणी है परंतु, समाज व्यक्तियों का समूह है। अतः सामाजिक रचना के लिए व्यक्तिगत जीवन की उच्चता आवश्यक ही नहीं,

अनिवार्य मानी गई थी।

इस सामाजिक प्राणी—मानव के समाज का सगठन निम्न बातों पर निर्भर रहा है ·

1. भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न महत् जनो ने जन्म लिया और उन्होंने अपने काल को एक विशिष्ट दिशा में प्रेरित किया। यह प्रेरणा उन्होंने अपनी कृतियो और कथनों से दी। करनी और कथनी दोनो का सबंध रहा।

2 व्यष्टि और समष्टि दोनों के जीवन के मार्ग निर्धारित हुए, इन मार्गों के निर्धारण में इन महत् जनों की कृति और कथन का अनुसरण हुआ इसीलिए एक सूक्त ही बन गया ·

महाजनो येन गतः स पन्था

3. व्यष्टि और समष्टि इस पथ पर चलाने के लिए समय-समय पर नियम बनाए गए जिन्होने विधि (कानून) का रूप लिया।

4 वे नियम न तोडे जा सकें इसलिए राजसत्ता की स्थापना हुई।

याद रहे संसार में महत् जन वे ही माने गए हैं जिनकी कृतियाँ व्यष्टि और समष्टि के कल्याण के लिए हुई हैं और जिन कृतियों अथवा कथनो से इस कल्याण को प्रेरणा मिली है। इस आधार पर जो नियम बने वे भी व्यष्टि और समष्टि के कल्याण को ही ध्यान में रखकर बनाए गए हैं और इन नियमो के सचालन के लिए जो शासन-व्यवस्था हुई है उसका उद्देश्य भी व्यष्टि और समष्टि का कल्याण ही रहा है।

एक बात ध्यान रखने योग्य है कि व्यष्टि और समष्टि को ठीक पथ पर चलाने के लिए भारत में जो नियम निर्धारित किए गए और जिन्हे आगे चलकर विधि का रूप मिला उन नियमो का निर्धारण राजसत्ता द्वारा नही हुआ। राजसत्ता थी इन विधियों की और इन विधियो के अनुसार सामाजिक सगठन की रक्षा के लिए। इन नियमो और विधियो का निर्माण उन ऋषि-महर्षियों द्वारा होता था जिनका राजसत्ता मे कोई प्रत्यक्ष हाथ नहीं रहता था। इन नियमो और विधियों से सबध रखनेवाली सारी रचना स्मृतियो और शास्त्रो मे हुई है, जिनके रचयिता सांसारिक झंझटों से विलग, स्वार्थ से रहित तपोवनों में निवास करते थे और जिनका सामाजिक स्थान राजाओ से भी ऊँचा माना जाता था। हमारी सस्कृति की यह एक विशेषता रही है।

संसार पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

भारत का न जाने कितने प्राचीनकाल से संसार के अनेक देशो से संबध रहा है। यह संबध सैनिक संबंध कमी भी नहीं रहा। भारत ने अपनी अखंडता का तो सदा प्रयत्न किया परतु किसी भी देश को जीतकर अपने देश का राज्य उस देश पर जमाने का कभी भी यत्न नहीं किया। भारत का जिन देशों से भी संबंध रहा वह

प्रधानतया सास्कृतिक सबंध रहा और भारतीय सस्कृति का देश-देशातरो में जो इतना प्रचार हुआ उसके दो जरिए थे—1. व्यापार और 2 धर्म प्रचार।

भारत के बाहर भारत का ईरान से सबसे प्राचीन सबध था। यूनान से भारत का बहुत प्राचीनकाल से सबध रहा, यूनान के बाद पश्चिम मे रोम का उत्थान हुआ, रोम से भी भारत का बहुत सबध रहा। अरब देश से भी भारत का बहुत सबंध था।

पश्चिमी देशो के साथ पश्चिमी देशों से पूर्वी देशों पर भारतीय सस्कृति का प्रभाव कहीं अधिक और स्पष्ट पडा है। यह प्रभाव प्रधानतया बौद्ध धर्म के प्रचार से पडा है। चीन, जापान, तिब्बत, मचूरिया आदि देशों मे बौद्ध धर्म का फैलाव किसी से छिपा नही है। चीन के ही इतिहासज्ञो के मतानुसार ईसा से 217 वर्ष पूर्व बौद्ध धर्म के प्रचारक चीन पहुँच गए थे।

जहाँ तक हमारे पडोसी देशो का सबध रहा है अर्थात् तिब्बत, बर्मा, सिहलद्वीप, मलाया, स्याम, हिदेशिया के विविध देशो और टापुड, बाली, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि मे तो भारतीय सस्कृति का इतना प्रभाव पडा कि तिब्बत के सिवा यह सारा क्षेत्र बृहत्तर भारत के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया।

ईसा ने जिस भूमि पर अपना उपदेश दिया था वहाँ की भूमि सैकडो वर्ष पहले बौद्ध धर्म के उपदेशो के कारण ईसा के उपदेश के लिए उर्वरा बन चुकी थी।

भारत ने सास्कृतिक दृष्टि से ससार को न जाने कितना और क्या-क्या दिया है। परतु ससार से उसे कुछ नही मिला और उसने कुछ नहीं लिया यह कहना गलत होगा। ज्ञान जहाँ से भी आया अपनी सहिष्णुता की वृत्ति से भारत ने उसे सदा ग्रहण किया है। यह हो सकता है कि आदान-प्रदान में प्रदान अधिक रहा हो और आदान कम परतु आदान भी रहा है और इस आदान का भारत ने अपनी सस्कृति में मुक्तहस्त से मिश्रण किया है। जिस प्रकार ईसाई सस्कृति केवल ईसा के चारों ओर घूमती है और इस्लामी सस्कृति मुहम्मद साहब के, और आधुनिक कम्युनिस्ट सस्कृति कार्लमार्क्स के, उस प्रकार भारत मे नहीं हुआ। इस सस्कृति को किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक जाति ने निर्मित नहीं किया। न जाने कितने अवतारों, कितने ऋषि-मुनियो, कितने तत्त्ववेत्ताओं, कितने दार्शनिको, कितने साहित्यकारों, कितने वैज्ञानिकों, कितने सतों और कितने भक्तो आदि ने इसका निर्माण नहीं, विकास किया है। इस कार्य मे व्यक्तियो के साथ कितनी जातियो का योग है। यह सस्कृति सामासिक है और इस संस्कृति में कितना सम्मिश्रण हुआ है, यह भिन्न-भिन्न विद्वानो, भिन्न-भिन्न जातियो, भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियो, भिन्न-भिन्न रगों, रूपो और वेशभूषाओवालों ने बनाई है। पुराने समय मे आवागमन की दिक्कतो तथा एक-दूसरे से काफी दूर रहने और मार्ग में पहाडो, नदियों, जगलो व मरुस्थलो के कारण एवं दूसरे से पृथक् रहने पर भी सांस्कृतिक

दृष्टि से यहाँ के सब लोग एक हैं। जाति में और धर्म में विभिन्नता रहने पर भी सांस्कृतिक एकता है। ऊपर से थोड़ी बहुत सांस्कृतिक भिन्नता चाहे दृष्टिगोचर हो परंतु मूल में एकता है। सामासिकता और सम्मिश्रण के कारण यह एकता दृढ़ से दृढ़तर होती गई है। सभी ने इस एकता को बनाए रखने का प्रयत्न किया है। दार्शनिक दृष्टि से समस्त सृष्टि में एकता का निरीक्षण *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* और *'वसुधैवकुटुम्बकम्'* के सूक्त, अश्वमेध और राजसूय यज्ञ के सदृश यज्ञों द्वारा इस एकता को बनाए रखने का प्रयत्न, उत्तर की सीमा पर केदारनाथ और बदरीनाथ के मंदिरों में दक्षिण के पुजारियों की प्रतिष्ठा, हर्षवर्धन के समय से सूर्य, शिव और बुद्ध की संयुक्त पूजा, तुलसीदास द्वारा शैवों और वैष्णवों की मैत्री का प्रयत्न, अकबर का दीन-इलाही और गुरुनानक का सिक्ख धर्म और इसी प्रकार के न जाने कितने यत्न इस बात को सिद्ध करते हैं कि इस देश के चिंतकों और कर्मठों का एक, केवल एक आदर्श रहा है कि हर दृष्टि से देश की एकता को स्थापित रखा जाए। भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा गुण है—'विविधता में एकता।'।

भारतीय संस्कृति में जो दोष आ गए

इस सृष्टि की कुछ ऐसी रचना है कि सर्वथा निर्दोष कोई वस्तु है ही नहीं और अच्छी से अच्छी चीजों में भी शनैः-शनैः कुछ दोष आते और बढ़ते जाते हैं। इसीलिए एक दिन जो वस्तु उत्पन्न होती है, काल पाकर उसका नाश भी हो जाता है; चाहे इसमें समय कितना ही क्यों न लगे। उत्पत्ति, विकास और नाश इस सृष्टि की हर चीज का अकाट्य नियम है।

हमारे ऋषि-मुनियों और तत्त्ववेत्ताओं ने इस समस्त सृष्टि मे एक ही तत्त्व ब्रह्म का निरीक्षण कर घोषणा की थी कि यथार्थ में यह समस्त सृष्टि एक ही तत्त्व है और हमारी संस्कृति के व्यापक, उदार, सामासिक और विविधता में एकता के निरीक्षणवाले समस्त सद्‌गुणों का आधार यही खोज थी। मैंने ऊपर कहा है कि हमारी संस्कृति धर्मप्राण संस्कृति है। 'धर्म' शब्द को हम कितने व्यापक अर्थ में लेते हैं इसका भी मैंने पहले कुछ निरूपण किया है। हमारी संस्कृति में संकीर्णता का जो दोष आया वह सकीर्णता भी धर्म बन गई। शूद्रो और स्त्रियों को समान अधिकारों से वंचित रखना, जो मानव को निकृष्ट से निकृष्ट, पशुओं से भी बदतर, कुत्ते-बिल्लियों से भी कहीं हेय स्पर्श योग्य भी न मानना, ऐसे अस्पृश्यों की यदि छाया भी पड़ जाए तो स्नान का विधान, यदि कभी कोई हमारे धर्म को छोड़ किसी अन्य धर्म को ग्रहण कर ले और वापस हमारे धर्म में आना चाहे तो उसे वापस आने का अधिकार न रहना, सकीर्णता की ये पराकाष्ठाएँ हैं।

पुराणों में कहा गया है सतयुग में केवल एक 'हंस' नामक वर्ण था। कर्म के अनुसार एक वर्ण के चार वर्ण हुए और फिर एक-एक वर्ण में कितनी जातियाँ और एक-एक जाति में कितनी उपजातियाँ। इन उपजातियों और जातियों में आपस में न खान-पान और न विवाह संबंध। *'कान्यकुब्जाः द्विजाः श्रेष्ठाः'* यह जिन

कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के संबंध में कहा जाता है उन्हीं के संबंध में यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि 'आठ कनौजिये नौ चूल्हे'। ऐसी स्थिति के लिए भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी ने ठीक लिखा है—'किये तीन तेरह सब चौका-चौका लाय'।

जो समाज किसी समय अपने उपर्युक्त सांस्कृतिक सद्‌गुणों के कारण विकसित होता हुआ उन्नत होता जा रहा था, वही इस एक संकीर्णता के दुर्गुण के कारण टूक-टूक हो गया, इन उच्च-नीच की भावनाओं ने आपसी कलह को पैदा किया। फूट और बैर समस्त समाज में भी आ गए। व्यापक दृष्टि न रहने के कारण लोग अपनी-अपनी उपजातियों और जातियों के दायरे में सीमित हो गए। अगणित रूढियाँ फैलीं। भारतीय समाज और भारत देश की भावनाओं का लोप हुआ और इसका जो स्वाभाविक नतीजा हो सकता था वही निकला। देश शक्तिहीन और निर्बल होकर पराधीन हो गया और इस पराधीनता मे हमने देखा कि इस देश के निवासियों ने विदेशियों से मिलकर अपने देशवासियों के गले काटे हैं।

भारतीय संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति को ऋषि-ऋण, देव-ऋण, और पितृ-ऋण से मुक्त होना आवश्यक माना जाता था। ऋषि-ऋण से मोक्ष पाने के लिए शिक्षा आवश्यक थी। अत उपनयन और समावर्तन दो सस्कार महत्त्वपूर्ण थे। शिक्षा की अवहेलना हुई। उपनयन संस्कार का अर्थ केवल एक सूत की माला को गले में डाल लेना माना जाने लगा। उपनयन व समावर्तन संस्कारों के बीच विद्याध्ययन के लिए 12 वर्ष गुरुकुल में निवास आवश्यक था। उस 12 वर्ष के समय का लोप हो उपनयन और समावर्तन संस्कार एक ही दिन होने लगे। देव-ऋण से मुक्ति पाने के लिए जो यज्ञ आवश्यक थे और जिन यज्ञों की भगवान कृष्ण ने ऐसे नवीन व्याख्या की थी उनकी ओर कोई ध्यान न रहा। केवल एक पितृ-ऋण से मुक्ति पाने के लिए लोग देश की जनसंख्या को बढाने लगे। दूसरे शब्दों मे सन्तानोत्पत्ति पितृ-ऋण से मोक्ष प्राप्त करने का साधन न माना जाकर विषय-वासना की पूर्ति का साधनमात्र रह गई। भारतीय संस्कृति में जिन सोलह सस्कारों का महत्त्व था उन संस्कारों में केवल दो संस्कारों का पालन होने लगा—विवाह संस्कार और अग्नि सस्कार। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो हमारी संस्कृति के चार प्रमुख कर्तव्य थे उनमे धर्म का विस्तृत रूप हो गया और मोक्ष की ओर कोई ध्यान नहीं रहा। अर्थ और काम दो ही जीवन के कर्तव्य हो गए। सच्चे धर्म और मोक्ष की ओर दृष्टि रखे बिना अर्थ और काम का रूप पापमय हो जाता है और जहाँ पाप आया वहाँ बरकत समाप्त हो जाती है। अतः जीवन का अर्थ उद्देश्य बन जाने पर भी देश निर्धन हो गया और कामवृत्ति अनैतिकता लाई जिससे व्यष्टि और समष्टि दोनों के दुखो का पारावार न रहा।

शूद्र और अस्पृश्यों को जब समाज में कोई सम्मानप्रद स्थान ही नहीं रहा तब उन्होंने धर्म-परिवर्तन आरंभ किया। मुसलमानों और ईसाइयों की संख्या बढ चली

और जो कभी आर्य-धर्म के अनुयायी थे उन्होंने अन्य धर्म ग्रहण कर अपने पृथक् अधिकारों की पुकार मचाई।

हमारे देश की स्त्रियाँ ऐसी विदुषी होती थीं कि शंकराचार्य और मंडन मिश्र के शास्त्रार्थ में मंडन मिश्र की पत्नी को निर्णायक नियुक्त किया गया था। वहीं स्त्री-शिक्षा न केवल शून्यवत् हो गई वरन् अनेक ऐसे भी पुरुष विद्वान् हुए, जिन्होंने स्त्री-शिक्षा का विरोध तक किया। पुरुषों को यहाँ देवता नहीं कहते थे पर स्त्रियों को देवियाँ कहते थे और आज भी कहते हैं पर कहने को चाहे उन्हें देवियाँ कहा जाए और भाषणों में *'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवताः'* मनुस्मृति के श्लोक का चाहे यह चरण पढ़ा जाए पर स्त्रियों को पर्दे में घर के भीतर रखा जाने लगा। उनके दो ही कर्त्तव्य रह गए—चौके में खाना बनाना और संतानोत्पत्ति करना।

पुनर्जागरण

परंतु वृद्ध भारत में तरुणाई के तत्त्वों की सर्वथा समाप्ति नहीं हुई थी। जब हम अन्य प्राचीन देशों की ओर दृष्टि डालते हैं तब हम देखते हैं कि जो देश कभी अत्यधिक सुसंस्कृत थे उनका आज के संसार में कोई स्थान ही नहीं रह गया है अथवा उन्होंने अपनी रानी संस्कृति को लात मार किसी नए धर्म या किसी नए वाद को अपनाया है। मिश्र और यूनान, मुसलमान और ईसाई हो गए। चीन लाल हो गया। जैसा ऊपर कहा गया है भारत को छोड़ अन्य प्राचीन देशों की पुरानी सस्कृति या तो उन देशों के खँडहरों में दिखती है अथवा अजायबघरों में। भारत में यह नहीं हुआ। आधुनिक भारत में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए पर पुरानी परपरा का सर्वथा विच्छेद करके नहीं। उस परंपरा में जो दोष आ गए थे, उन दोषों का निवारण करके। अतः इन क्रांतिकारी परिवर्तनों में सुधार और विकास की भावना प्रधान रही। ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहनराय और उनके अनुयायी केशवचंद्र सेन आदि, आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानंद सरस्वती और उनके अनुयायी श्रद्धानंद आदि ने हमारी पुरानी धर्मप्राण संस्कृति से संबंधविच्छेद न कर उसमें जो दोष आए थे उनका निवारण कर समाज में सुधार का कार्य आरंभ किया। हमारे पुनर्जागरण (रिनेसाँ) और सुधार (रिफार्मेसन) के इस काल में भी भारतीय परंपरा के अनुसार अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया। पहले समाज-सुधार का कार्य आरंभ हुआ। हमारी संस्कृति धर्मप्राण है इसलिए धार्मिक सुधारों के बिना यह समाज-सुधार संभव ही नहीं था क्योंकि हमारी संस्कृति में जो दोष आ गए थे और अभी भी हैं उन दोषों को भी धर्म का रूप मिल गया था। दृष्टांत के लिए सती-प्रथा, विधवा-विवाह, जाति-भेद, अस्पृश्यता आदि। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज ने धार्मिक दृष्टि से इन रूढ़ियों का विरोध आरंभ किया। इसके बाद श्री रामकृष्ण परमहंस का समय आया जो न समाज-सुधारक थे और न किसी प्रकार के प्रचारक। वे थे भारतीय धर्मप्राण नैतिक संस्कृति के मूल मूर्तिमन्त प्रतीक। जो समाज अनैतिकता के कारण भ्रष्ट और पतित समाज

हो चला था; श्री रामकृष्ण के दर्शन, वाणी और चरित्र से उसमें पुनः पवित्रता की एक लहर आई। उसी समय हुए उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद जिन्होंने भारत के परतंत्र रहते हुए भी भारतीय धर्मप्राण संस्कृति की आधुनिक संसार में ध्वजा फहराई। इसके बाद आया महात्मा गाँधी का युग। गाँधीजी ने परतंत्र भारत को स्वतंत्रता दिलाने का तो प्रयत्न किया ही परंतु जिस प्रणाली से उन्होंने भारत की आजादी की कोशिश की वह संपूर्ण संसार के मानव-इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। गाँधीजी को जो लोग राजनैतिक नेता मानते हैं वे भूल करते हैं। गाँधीजी ने देश को राजनैतिक स्वतंत्रता दिलाई इसमें संदेह नहीं और इस प्रकार वे इतिहास में एक राजनैतिक नेता भी माने जाएँगे परंतु राजनैतिक स्वतंत्रता का प्रयत्न तो उनके अभिष्ट का एक साधन मात्र था। व्यष्टि और समष्टि के संपूर्ण सांस्कृतिक जीवन का उनका एक जीवन-दर्शन था। वह जीवन-दर्शन केवल भारतीय स्वतंत्रता का साधन नहीं था। वह उससे बड़ा, कहीं बड़ा, कहीं महान था और उस सांस्कृतिक जीवन-दर्शन का केवल भारत के लिए ही नहीं, समस्त आधुनिक संसार के लिए उपयोग था। जहाँ तक गाँधीजी के राजनैतिक कार्य का संबंध है, लोकमान्य तिलक आदि द्वारा उस कार्य की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। गाँधी युग में भारत में बड़े-बड़े व्यक्तियों का विकास हुआ। इनमें गाँधीजी के बाद सबसे महान व्यक्तित्व है गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर का। पराधीनता के काल में भी रवींद्र बाबू ने सारे संसार पर कला के द्वारा भारतीय संस्कृति की एक अद्भुत छाप लगाई।

भारतीय संस्कृति और संसार का भविष्य

यातायात के शीघ्रगामी साधनों के कारण यह दुनिया बहुत छोटी हो गई है। आज किसी देश या किसी देश की संस्कृति पर संसार के अन्य देशों और संस्कृतियों को छोड़ पृथक् रूप से विचार ही नहीं किया जा सकता।

महात्मा गाँधी का जन्म और कार्य केवल भारत की ही एक महान घटना नहीं थी परंतु समस्त विश्व की एक महान घटना थी। भारत में गौतम बुद्ध के बाद और संसार में ईसा के पश्चात् किसी ऐसे महापुरुष का जन्म नहीं हुआ था। फिर गौतम बुद्ध और ईसा के समय तथा इस काल में बड़ा भारी अंतर था। गौतम बुद्ध और ईसा का इतिहास में चाहे बहुत बड़ा महत्त्व हो और उनसे ससार को शनैः-शनैः चाहे प्रेरणा मिली हो परंतु एक तो यह प्रेरणा मानव-जीवन के एक विशिष्ट क्षेत्र में मिली, दूसरे उस प्रेरणा ने व्यष्टि और समष्टि के व्यावहारिक जीवन को उस प्रकार की प्रेरणा नहीं दी जैसी गाँधीजी ने।

मैंने ऊपर कहा है कि मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी इसलिए है कि निसर्ग ने उसे जो ज्ञानशक्ति दी है वह अन्य किसी प्राणी को नहीं। मनुष्य पहले चिंतन करता है तब उस चिंतन के अनुरूप उसकी कृति होती है। गाँधीजी के जीवन-दर्शन ने इस संसार के मेघों रूपी जीवन में एक बिजली-सी कौंधा दी।

बिजली का प्रकाश स्थिर नहीं रहता परंतु अँधेरी रात में यदि काली घटाएँ हों और मार्ग न सूझता हो तो बिजली की वह कौंध मार्ग को इंगित अवश्य कर देती है। गाँधीजी ने जो कुछ कहा और किया उससे भारत और संसार का व्यष्टि और समष्टि जीवन स्थायी रूप से अब तक आलोकित नहीं हुआ है। परंतु भारत और संसार के कल्याण का मार्ग कौन-सा है यह गाँधीजी ने अपनी कथनी और करनी से बता दिया है और आज संसार के समस्त विचारक इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि संसार को सर्वनाश से बचाना है तो उसके लिए केवल एक मार्ग है और वह है गाँधीजी द्वारा बताया हुआ सत्य और अहिंसा का पथ।

महात्मा गाँधी ने कोई सर्वथा नई बात नहीं कही। उन्होंने जो कुछ कहा उसका आधार वही था जिसकी खोज हजारों या लाखों वर्ष पूर्व भारत के ऋषि-मुनियों और तत्त्ववेत्ताओं ने की थी अर्थात् यह समस्त सृष्टि एक ही तत्त्व है। यही गाँधीजी का सत्य है, और यदि यही सत्य है–मैं वही हूँ जो तुम और तुम वही हो जो मैं और समस्त सृष्टि वही है जो तुम और मैं–*'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* तो अहिंसा तो अपने आप आ जाती है, कोई स्वयं अपनी हिंसा आप नहीं करता। फिर भारतीय संस्कृति का अहिंसा सदा ही प्रधान आधार रहा है परंतु यह प्रधान आधार मानव-जीवन के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में है, संपूर्ण मानव जीवन में नहीं। गाँधी ने सत्य की नींव पर संपूर्ण मानव जीवन का अहिंसा आधार माना है।

भारतीय संस्कृति के इसी सत्य के आधार पर भारतीय और संसार के नवजीवन का निर्माण करना है।

इस समय संसार की ऐसी भयानक स्थिति है कि भावी युद्ध के भय से सारे संसार के देश और सारे संसार का मानव-जीवन थर-थर काँप रहा है। अणुबम, उद्जनबम सदृश विनाशकारी आयुधों का निर्माण हो रहा है। हाल ही में रूस के तानशाह खुश्चेव ने अपने एक वक्तव्य में कहा था कि रूस ने इस नाश का एक और परिष्कृत बम बनाया है। भगवान् जाने वह कैसा होगा क्योंकि अणुबमों के विस्फोटों के वृत्त तो हम यदा-कदा सुनते रहते हैं और निर्जन नीर अथवा मरुस्थलों में भी इनका विस्फोट होने से जो हानियाँ होती हैं उनका वर्णन भी जानते रहते हैं परंतु रूस के इस नए आविष्कार का यदि कहीं विस्फोट हो तो उसका क्या नतीजा निकलेगा इससे हम अभी तक अनभिज्ञ हैं। जो कुछ हो सर्वनाश की यह तैयारी चल रही है, अबाधित रूप से चल रही है। भारत को छोड़ संसार के समस्त प्रधान देश दो गुटों में बँट गए हैं। एक गुट का नेतृत्व अमेरिका करता है और दूसरे गुट का नेतृत्व रूस। दोनों एक-दूसरे से घोर घृणा करते हैं। इतने पर भी यदि लड़ाई नहीं होती तो इसका यह कारण नहीं कि दोनों में से कोई भी गुट शांति का उपासक है। लड़ाई न होने का कारण यह है कि दोनों में से एक को भी जीत का विश्वास नहीं। यदि यह हो जाए तो लड़ाई कल न होकर आज और आज न होकर इसी क्षण हो जाए।

एक ओर आधिभौतिक विकास और हर प्रकार के आधिभौतिक सुखों की प्रचुर सामग्री की सृष्टि और दूसरी ओर महानाश का यह निर्माण। विडंबना... भारी विडंबना है। इस विडंबना का प्रधान कारण है अध्यात्म की सर्वथा अवहेलना और अधिभूत में महान आसक्ति।

संसार की विस्फोटक स्थिति में केवल भारत एकमात्र ऐसा देश है जो अपने सांस्कृतिक आधार पर जो कुछ गाँधीजी ने उसे कहा और सिखाया है उसके आधार पर सच्ची शांति चाहता है।

भारत के समय के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का *'पंचशील'* सिद्धांत इसी नींव पर आधारित है।

भारत को पहले अपनी संस्कृति के आधार पर अपना निर्माण करना है और फिर समस्त संसार को उससे प्रेरणा देनी है। मैंने ऊपर भारतीय संस्कृति का वर्णन करते हुए यह कहा है कि भारतीय संस्कृति में एक ओर आध्यात्मिक नींव पर दार्शनिक बातों का चरमोत्कर्ष हुआ और दूसरी ओर आधिभौतिक नींव पर वैज्ञानिक और कलात्मक बातों का। इसी मार्ग से हमारा नवनिर्माण भी होना चाहिए। यदि हमने अध्यात्म को छोड़ दिया और केवल अधिभूत में रम गए तो हमारी दशा भी पश्चिमी देशों के समान हो जाएगी और यदि हमने अधिभूत से आँखें मूँद लीं तो हमारी गरीबी, हमारी भूख हमें राख कर देगी। अध्यात्म और अधिभूत के आधार पर हमें केवल वस्तुओं का ही निर्जीव निर्माण नहीं करना है, अपनी-अपनी नई पीढ़ी भी इसी आधार पर निर्मित करनी है।

स्वाधीनता के पश्चात् हमें यह देश खँडहर के रूप में मिला था। इतना गरीब, इतना अशिक्षित, जितना दुनिया का कोई देश नहीं है। स्वाभाविक रूप से हमारा ध्यान अधिभूत के निर्माण में विशेष रूप से खिंचा। यह देश कृषि-प्रधान है अतः कृषि का उत्पादन बढ़ाना यहाँ आवश्यक है। हमने बड़ी-बड़ी बाँधें बनाना आरंभ किया। बड़ी-बड़ी नहरें और पाताली कूप खोदे। खाद के बड़े-बड़े कारखाने बनाए। उद्योगधंधों में हम काफी पिछड़े हुए थे। स्वतंत्रता के पूर्व यहाँ कपड़े सीने की सुई तक न बनती थी, हमने बड़े-बड़े उद्योगधंधे निर्मित किए। आज इस देश में रेल के इंजन बनते हैं, रेल के डिब्बे बनते हैं, मोटर, कारें बनती हैं, हवाई और समुद्री जहाज बनते हैं। सब प्रकार की मशीनें बनाने का प्रयत्न हो रहा है। आधिभौतिक निर्माण आवश्यक, अत्यंत आवश्यक है। वह तेजी से चला है, खूब तेजी से चला है। निर्माणकर्ताओं को साधुवाद ! अगणित साधुवाद ! जो कोई भी इस देश में बाहर से आता है चाहे वह पूँजीवादी देश से आए अथवा साम्यवादी देश से, हमारा यह आधिभौतिक निर्माण देख चकित हो जाता है, हमारी भूरि-भूरि प्रशंसा करता है।

परंतु इस आधिभौतिक निर्माण से भी अधिक महत्त्व का निर्माण है नई पीढ़ी का निर्माण। वह निर्माण क्या आध्यात्मिकता वाली हमारी धर्मप्राण संस्कृति के

नैतिक आधार पर हो रहा है ? कदापि नहीं। केवल अभी चारों ओर भ्रष्टाचार और घूसखोरी का साम्राज्य फैला हुआ है, इतना ही नहीं यदि नई पीढी का निर्माण उपर्युक्त आदर्शों पर नहीं हुआ तो आगे जो पीढ़ी बननेवाली है वह ऐसी ही भ्रष्टाचारी और घूसखोर बनेगी शायद इससे भी अधिक। इसके लिए हमारी शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन आवश्यक है। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिए कितनी समितियाँ स्थापित हुईं, कितने आयोग बने पर कोई संतोषजनक परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता। शिक्षा मनुष्य को पशु से मानव बनाती है और जैसी शिक्षा-प्रणाली होती है वैसी नई पीढी बन जाती है। मुसोलिनी और हिटलर के आदर्शों की आज हम चाहे कितनी ही निदा क्यों न करें परतु अपने समय मे उन्होंने इटली और जर्मनी में ऐसी शिक्षा-प्रणाली चलाई थी कि उस शिक्षा-प्रणाली द्वारा निर्मित पीढी केवल कहती ही नहीं थी परतु इस बात को पूर्ण रूप से मानती थी कि मुसोलिनी और हिटलर के आदर्श ही ठीक आदर्श हैं और उन्हीं आदर्शों पर चलने से उनके देशों का कल्याण है। क्या हम अपने अधिभूत के निर्माण के साथ ही नई पीढ़ी का निर्माण अपने सांस्कृतिक आदर्शों के अनुसार कर सकेगे ?

जहाँ तक संसार का संबंध है हम ससार को तभी प्रभावित कर सकते हैं जब अपनी कथनी के अनुसार हमारी करनी भी हो जाए और उसका प्रत्यक्ष फल हमारे अपने देश मे दृष्टिगोचर हो। गाँधीजी का दुनिया पर तब प्रभाव पडा जब वे अपने सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चल इस देश को आजाद करा सके।

परंतु एक प्रश्न उठता है, मानव मे देवत्व और पशुत्व दोनो जो हैं। क्या मनुष्य अपने ही पशु पर सवार हो सकेगा। एक छोटे से नाटककार होने के कारण मेरा मनोविज्ञान से भी अनुराग रहा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मेरी यह मान्यता अवश्य है कि निसर्ग ने मनुष्य को जिस प्रकार रचा है, उस रचना में राग-द्वेष व्यक्तिगत रूप में रहते हैं। एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति प्रेम या बैर स्वाभाविक है। छोटे-मोटे एक समुदाय का भी एक-दूसरे समुदाय के प्रति स्नेह या द्वेष हो सकता है। एक व्यक्ति की एक समूह के प्रति भी इस प्रकार की भावनाएँ सभव हैं परतु जो दो बडी-बडी सेनाएँ एक-दूसरे से लडती हैं उनके सैनिक तो एक-दूसरे को जानते तक नहीं हैं तब इन सेनाओ का एक-दूसरे से वैर कैसा ? एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का खून भी कर सकता है। छोटे-मोटे समुदाय भी रक्तपातवाले झगड़े में प्रवृत्त हो सकते हैं, शायद सदा होते रहेंगे। परतु इन बडी-बडी सेनाओं का सामूहिक रक्तपात, अणुबम और उद्जनबम ये तो बंद हो सकते हैं।

अत्यधिक आशावादी व्यक्ति होने के कारण एक बात इन दिनो मेरे मन मे और उठा करती है। जब से रॉकेट और स्पूतनिक ईजाद हुए हैं तब से मेरे मन में उठता रहता है कि निसर्ग की किसी अंतःप्रेरणा से ही तो इन रॉकेटों और

स्पूतनिकों का निर्माण नहीं हो रहा है। मानव की अधिकार-लिप्सा को एक दूसरी प्रकार से संतुष्ट कर निसर्ग इस भूमंडल के संघर्ष और रक्तपात को तो समाप्त नहीं करना चाहती। इस भूमंडल के सिवा और किसी भी गृह-नक्षत्र में प्राणी जगत् नहीं है यह मैं नहीं मानता। हमारे ऋषि-मुनियों के मत के अनुसार तो अनंत ब्रह्मांड हैं और अनंत सूर्य, चंद्र। इन ब्रह्मांडों में अनंत प्रकार की सृष्टि। कुछ शायद खाली भी हों। हमारे भूमंडल का संघर्ष और रक्तपात समाप्त हो। हमारे भूमंडल के निवासी कदाचित् कुछ अन्य ग्रहों और नक्षत्रों में जाकर बसें। वहाँ यदि कोई बस्ती हो तो उससे संघर्ष करें। आज कौन इन बातों का उत्तर दे सकता है? आज तो हमें हमारी पृथ्वी की ओर देखना है। यहीं क्या अभी कम भूमि और साधन हैं। जहाँ ग्रेट ब्रिटेन और जापान में एक वर्गमील पर लगभग सात सौ व्यक्ति निवास करते हैं, भारतवर्ष में लगभग साढे तीन सौ। वहाँ कैनेडा और आस्ट्रेलिया में केवल चार।

हमें आज अपने विचारों को अपनी पृथ्वी तक ही सीमित रखना है परंतु जैसा ऊपर कहा है आज किसी देश पर ससार के अन्य देशों को छोड विचार किया ही नहीं जा सकता। अतः हमारा कल्याण भी संसार के कल्याण पर निर्भर है और संसार का कल्याण हमारी अध्यात्म वाली नींव की धार्मिक और नैतिक संस्कृति के अनुसरण पर, दूसरे शब्दों मे विनोबाजी द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय के सिद्धांतों पर। दो ही बातें हो सकती हैं या तो कोई ऐसा बम बनेगा जो हमारे भूमंडल के टुकड़े-टुकडे कर हमारा सर्वनाश कर देगा या फिर युद्धों और युद्धों के लिए जो सामग्री बन रही है उसकी समाप्ति होकर घृणा नाश हो परस्पर मैत्री और प्रेम का प्रादुर्भाव हो। सारे संसार के देश और मानव एक-दूसरे के सन्निकट आ सच्चे आध्यात्मिक और आधिभौतिक सुख की सृष्टि कर सकेंगे और इसके लिए सारे संसार की एक सरकार बन सकेगी।

[सन् 1960]

गुरुकुल वैदिक ज्ञान से विश्व का मार्गदर्शन कर सकता है

श्रीमती माधुरी शाह
अध्यक्ष, वि. वि. अनुदान आयोग

मान्यवर परिद्रष्टा महोदय, कुलाधिपति महोदय, कुलपति महोदय, उपस्थित विद्वज्जन !

आपने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में आयोजित 'वैदिक शिक्षा राष्ट्रीय कार्यशाला' के उद्घाटन हेतु मुझे आमंत्रित किया–इस सम्मान के लिए मैं आपका आभारी हूँ।

भारत के नवजागरण के आंदोलन में ऋषि दयानंद का स्थान अद्वितीय है। उनसे प्रेरणा लेकर स्वामी श्रद्धानंदजी महाराज ने आज से 80 वर्ष पहले एक नई आशा और नई स्फूर्ति से गंगा नदी के तट पर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की थी। उस समय की शिक्षा-पद्धति से वे संतुष्ट न थे। एक ओर विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़े हुए युवक ब्रिटिश शासन के सचिवालयों में नौकरी की खोज करते थे, दूसरी ओर प्राचीन शिक्षा स्थलों पर चल रही पाठशालाओं में अध्ययन करते हुए विद्यार्थी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सर्वथा विमुख थे। अपने अमर ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' में ऋषि दयानंद ने समग्र शिक्षा का जो मंत्र प्रस्तुत किया था उसको मूर्त रूप देने हेतु महात्मा हंसराज और उनके सहयोगियों ने 1886 में डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर, की स्थापना की थी, किंतु स्वामी श्रद्धानंद और पं. गुरुदत्त डी.ए.वी. कॉलेज की उपलब्धियों से संतुष्ट नहीं थे। अतः उन्होंने गुरुकुल की स्थापना का बीड़ा उठाया, जिसमें कि भारतीय और विदेशी दोनों शिक्षा-पद्धतियों का समन्वय हो और दोनों के गुण ग्रहण करते हुए दोनों के दोषों से मुक्ति हो। गुरुकुल की प्रारंभिक योजना में वेद-वेदांग और संस्कृत साहित्य की शिक्षा के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को भी यथोचित स्थान दिया गया और शिक्षा का माध्यम राष्ट्रीय भाषा हिंदी को रखा गया। गुरुकुल में गुरु-शिष्य परंपरा के अंतर्गत ब्रह्मचर्य, तप, स्वाध्याय, स्वावलंबन और स्वदेशी का विशेष महत्त्व था।

आज जब चहुँओर से हमें शिक्षा संबंधी समस्याओं ने घेर रखा है, वैदिक शिक्षा

के आधारभूत मूल्यों पर गहन विचार की आवश्यकता है। आज देश में 120 से अधिक विश्वविद्यालय हैं, 4,500 कॉलेज हैं, 40000 माध्यमिक पाठशालाएँ हैं और छ' लाख प्राथमिक पाठशालाएँ हैं, उच्च शिक्षा के संस्थानों में लगभग दो लाख अध्यापक काम कर रहे हैं। इक्कीस लाख विद्यार्थी उनमें अध्ययन कर रहे हैं। अढाई लाख विद्यार्थी स्नातकोत्तर संस्थानों में अध्ययन कर रहे हैं। वैज्ञानिक जनशक्ति की संख्या के अनुसार हमारी गणना विश्व के राष्ट्रों में तीसरे स्थान पर है। हमारे उच्चतम वैज्ञानिक विश्व के किसी भी राष्ट्र के वैज्ञानिकों के समकक्ष खड़े हो सकते हैं। लेकिन फिर भी देखा जाए तो वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारी सांस्कृतिक परंपराओं, सामाजिक लक्ष्यों और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल नहीं हो पा रही। हमारे स्नातक-स्तर के कोर्स जो कि पुरानी पद्धति पर आधारित हैं, देश की आधुनिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पा रहे।

यह ठीक है कि विश्वविद्यालय का मुख्य उद्देश्य विद्या का प्रसार और नए अनुसंधान करके जगत् के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करना है। इस कार्य हेतु यह आवश्यक हो जाता है कि विश्वविद्यालयों का वातावरण शुद्ध, शांत और तपोमय हो, जिससे कि विद्योपार्जन और ज्ञान-विज्ञान के अनुसंधान में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो। लेकिन यदि हम यहीं तक विश्वविद्यालय के लक्ष्य को सीमित कर दें तो जनसाधारण के साथ यह एक बहुत भारी अन्याय होगा। आर्यसमाज का नवाँ नियम है, प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिए किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती है यदि शिक्षा-संस्थान अपने अड़ोस-पडोस में जाकर निर्बल वर्ग की और ग्रामवासियों की जरूरतों, इच्छाओं, अभिलाषाओं, कमजोरियों और शक्तियों का अध्ययन करें और उनके साथ मिल-जुलकर अपनी शिक्षा का लाभ उनको देते हुए उनके स्तर को ऊँचा करने की कोशिश करें। इससे एक ओर तो अध्यापकों और विद्यार्थियों में समाज-सेवा की भावना उजागर होगी, दूसरी ओर यह भी जानकारी प्राप्त हो सकेगी कि हमारी शिक्षा में क्या त्रुटियाँ हैं और हमारे पाठ्यक्रम को क्या मोड देना अभीष्ट है ?

इस संदर्भ में मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपके विश्वविद्यालय ने अपने मातृग्राम कांगड़ी को सँभाला है और बिजनौर के जिला अधिकारियों की सहायता से वहाँ ग्राम-विकास का एक अभूतपूर्व कार्यक्रम शुरू किया गया है। मुझे बताया गया है कि इस वर्ष वहाँ 30,000 शहतूत के पौधे और 2,000 सुबबूल के पेड़ लगाने का कार्यक्रम है। इसके अतिरिक्त वहाँ एक बायोगैस प्लांट और पवनचक्की लगाने की योजना भी है जिससे कि घरों में बिजली और पीने का पानी उपलब्ध होगा। कलैक्टर बिजनौर ने निर्बल-आवास, दुकानों के निर्माण, सड़कों को पक्का करने और काम-धंधों को शुरू करने के लिए यथेष्ठ अनुदान और ऋण उपलब्ध कराने का आश्वासन भी दिया है। आशा है आपके सहयोग से ग्रामवासी

इन योजनाओं से पूरा लाभ उठाएँगे।

इस बात को हमें स्पष्ट तौर पर समझ लेना चाहिए कि जो शिक्षा नैतिक मूल्यों के विकास की अवहेलना करती है उसे शिक्षा की संज्ञा नहीं दी जा सकती। नैतिक मूल्यों का विकास और निर्माण में उच्चतम संस्कारों की प्रतिष्ठा किसी भी शिक्षा-प्रणाली का आधारस्तंभ है, यही गुरु-शिष्य परंपरा का मुख्य ध्येय है। गुरु शिष्य को निकटस्थ करके उसकी रक्षा और शिक्षा-दीक्षा करता है, उसकी समस्याओं का निदान करता है, "उसके समक्ष आदर्श जीवन के लक्ष्य उपस्थित करता है, जिससे कि ब्रह्मचारी सन्मार्ग में प्रेरित हो और पापाचरण से बचे। जो धर्मयुक्त कार्य हों उनको ग्रहण करे। विद्वानों का सत्कार करे, माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करे। आज देश को ऐसे ही गुरुकुलों की आवश्यकता है, जहाँ चरित्रवान् और धर्मनिष्ठ गुरु ब्रह्मचारियों के सम्मुख आदर्श जीवन का उदाहरण उपस्थित करने में सदा प्रयत्नशील हों। हमें ऐसे गुरुकुलों की आवश्यकता है जहाँ गुरुजन और ब्रह्मचारी सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्याग में सर्वदा उद्यत हों, जहाँ सब काम धर्म के अनुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके किए जाएँ, जहाँ का वातावरण परोपकार की भावना से ओत-प्रोत हो, जहाँ अविद्या के नाश और विद्या की वृद्धि हेतु अहर्निश यज्ञ रचे जाएँ।

सभी ओर से आवाज उठ रही है कि आज की शिक्षा-पद्धति से शिक्षित बेकारों की संख्या में वृद्धि हो रही है। इसी हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि बहुत-सी सरकारी नौकरियों के लिए स्नातक की उपाधि की शर्त हटा दी जाए। जिस कार्य के लिए जिस गुण की आवश्यकता हो उसी गुण की परख करके नौकरीदाता प्रार्थी को नौकरी प्रदान करें और यह गुण विश्वविद्यालय प्रणाली से बाहर भी प्राप्त किए जा सकते हैं। इसी हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए निम्न छह बिंदु की नीति निर्धारित की है।

(क) किसी भी विभाग अथवा महाविद्यालय में प्रवेश उस विभाग अथवा महाविद्यालय की क्षमता को दृष्टिगत रखते हुए योग्यता के आधार पर देना चाहिए।

(ख) नए विश्वविद्यालय, महाविद्यालय स्थानीय शैक्षणिक आवश्यकताओं के सर्वेक्षण के पश्चात् केवल पिछड़े इलाकों में ही खोले जाएँ।

(ग) माध्यमिक स्तर पर अर्थकरी विद्या का प्रबंध किया जाए।

(घ) स्नातक शिक्षा के पाठ्यक्रम में समुचित संशोधन किए जाएँ जिससे कि स्नातकों को समाज की अर्थव्यवस्था में उचित स्थान प्राप्त करने में कठिनाई न हो।

(ङ) पत्राचार के द्वारा शिक्षा-परीक्षा का प्रबंध विस्तृत किया जाए।

(च) समाज के निर्बल वर्गों के लिए शिक्षा की सुविधाएँ बढ़ाई जाएँ।

आज देश की जनसंख्या, स्वास्थ्य, पर्यावरण, जन-संचार तथा अन्य कितने

ही क्षेत्रों में मध्य स्तर के कारीगरों, शिल्पियों की आवश्यकता है, यदि परंपरागत पाठ्यक्रमों में थोड़ा बहुत अदल-बदल करके इन सामाजिक जरूरतों को पूरा करने के लिए कोई विश्वविद्यालय पहल करेगा तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग उसकी सहायता के लिए तत्पर होगा।

जहाँ ज्ञान-वृद्धि और अनुसंधान का संबंध है वहाँ भी हम चाहेंगे कि ऐसे विषयों पर अनुसंधान हो जिनसे स्थानीय, प्रांतीय तथा राष्ट्रीय समस्याओं के निदान ढूँढने में सहायता मिले।

गुरुकुल कांगड़ी को विश्वविद्यालय स्तर की मान्यता प्राप्त है। इसका अर्थ यह है कि आपने विशेष क्षेत्र में अपना एक परिपक्व स्थान प्राप्त कर लिया है और उस क्षेत्र में आपका स्तर अन्य संस्थाओं से ऊँचा है। भले ही इस विश्वविद्यालय में सामान्य विश्वविद्यालयों की तरह विभिन्न विषयो के अध्ययन-अध्यापन का प्रबंध न हो परंतु अपने चुने हुए क्षेत्र में विश्वविद्यालय की उपलब्धियाँ और प्रतिष्ठा अद्वितीय होनी चाहिए। वेद सत्य विद्या की पुस्तक है। वेद को पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है, अतः वेद मे गहन अनुसंधान करना, वेद का अध्ययन-अध्यापन और विश्व की समस्त भाषाओं में इसका प्रचार करना आपका मुख्य कर्तव्य है। यह प्रश्न आपको स्वयं से पूछना होगा और इसका उत्तर देना होगा कि आप इस दिशा में कितने अग्रसर हैं। इस प्रश्न का उत्तर आज राष्ट्र आपसे माँग रहा है। आपके पास एक बहुत कीमती निधि है। आप उसका कितना प्रयोग कर रहे हैं ? आज देश को मार्गदर्शन की आवश्यकता है। वैदिक ज्योति के आप प्रकाशपुंज हैं। आशा है, गुरुकुल विश्वविद्यालय से ऐसी ज्योति प्रस्फुटित होगी जो न केवल देश का अपितु विश्व का मार्ग प्रशस्त करेगी। इस आशा और आशीर्वाद के साथ के इस राष्ट्रीय महत्त्व की वैदिक शिक्षा कार्यशाला का उद्घाटन करती हूँ।

[सन् 1982]

आर्यसमाज : उपलब्धियाँ, सीमाएँ और अपेक्षाएँ

डॉ. भवानीलाल भारतीय

उन्नीसवीं शताब्दी का युग हमारे इतिहास में विशिष्ट महत्त्व का है। इस काल में यूरोपीय जातियों के भारत में आगमन के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियो का पूर्ण लेखा-जोखा हमारे इतिहासकारों ने लिया है और बहुत विचार के पश्चात् इसे नवजागरण का युग कहा है। वस्तुत मध्यकालीन परिस्थितियों ने हमारे धर्म, समाज तथा राष्ट्रीय जीवनधारा को इतना विकृत, दूषित तथा हीन बना दिया था कि एक बार तो उससे उबारना सर्वथा अशक्य नहीं तो कठिन अवश्य प्रतीत होने लगा। धर्म और उपासना के क्षेत्र में वैदिक एकेश्वरवाद तथा उपनिषद् प्रतिपादित ब्रह्मवाद की तो बात ही दूर रही, पुराणोक्त अवतारवाद तथा बहुदेववाद के सिद्धात भी केवल ग्रथों में ही रह गए और उनके स्थान पर हनुमान और भैरव, शीतला और चामुंडा, मकबरे और मजार, श्मशान और समाधिस्थल, नदी और वृक्ष, पशु और पक्षी पूजा और आराधना के पात्र बन गए। सामाजिक क्षेत्र में कट्टरता, अनुदारता तथा सकीर्ण भावों का प्रचलन हुआ जिसके परिणामस्वरूप नारी को पर्दे मे रखना, उनका बाल्यकाल में ही विवाह करना, विधवाओं का उत्पीडन, मृत पति के साथ उसकी विधवा को जबरदस्ती चिता पर भस्म कर देना, जन्म के साथ ही कन्याओं का वध कर देना आदि अनेक कुप्रथाएँ जन्म ले चुकी थीं। बगाल में कुलीन प्रथा के कारण अपने-आपको आभिजात्य वर्ग का ब्राह्मण माननेवाले लोग अनेक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे, पुन: जीवन-भर उन निर्दोष बालाओ के साथ दांपत्य संबंध रखना भी उनके लिए कठिन हो जाता था, तथापि वे स्त्रियाँ अपने पति के जीवित रहते ही कौमार्य अथवा वैधव्य की-सी स्थिति में रहने के लिए विवश हो जातीं।

श्रम के वर्गीकरण तथा मनुष्य की वैयक्तिक योग्यता एवं अभिरुचि के स्वस्थ आधार पर बनाई गई वर्ण-व्यवस्था सर्वथा नष्ट हो चुकी थी। इसके स्थान पर भारत का बृहत् हिंदू समाज नाना जातियों, उपजातियों, शाखा-प्रशाखाओं तथा वर्गों में विभक्त होकर हतवीर्य, नष्टप्राय तथा नामशेष हो रहा था। मध्यकालीन संकीर्ण चिंतन ने हमारे समाज में अछूत, अन्त्यज तथा दलित कहलानेवाली उन अनेक

जातियो को भी जन्म दिया था जिनसे भोजन अथवा वैवाहिक संबंध रखना तो दूर, उनके निकट संपर्क में आने, एक ही स्थान पर उनके पास बैठने, उनके हाथ की दी हुई वस्तु को खाने से भी पापलिप्त होने की आशका की जाती थी। इधर मुसलमानों के संपर्क ने हमारी कूपमण्डूकता की प्रवृत्ति को अधिकाधिक बढाया, क्योंकि हम यह मानने लगे थे कि अन्य मतावलंबियों के स्पर्श-दोष से हमारा भोजन, निवास, यहाँ तक कि हमारा शरीर भी दूषित हो सकता है।

ईसाई जातियों के भारत आगमन ने हमारे देश मे परिवर्तन की एक नवीन दिशा दिखलाई। इनके माध्यम से हमें समकालीन योरप की गतिविधियों की जानकारी मिली। औद्योगिक उन्नति के कारण यूरोप तथा अमेरिका आदि पश्चिमी देशों में परिवर्तन की जो लहर उत्पन्न हुई थी, उसे मध्यकालीन परपराओं और रूढियों को ढोनेवाली यूरोपीय जातियाँ भी विस्मय-विमुग्ध होकर देख रही थीं। नवीन ज्ञान एव विज्ञान ने मानवी चितन को अधविश्वास, परपरानुपालन तथा रूढिवाद से मुक्त किया और उसे सोचने-विचारने तथा बुद्धि एवं तर्कप्रवण बनाने मे नवीन आयाम प्रदान किए। रेल, तार, डाक आदि के आविष्कारो ने देशों की भौगोलिक सीमाओं को कम किया और प्राच्य तथा पाश्चात्य जातियों का परस्पर सवाद होने लगा।

नवजागरण के आंदोलनों में आर्यसमाज का आंदोलन सर्वप्रमुख है। यो तो नव-जागृति की लहर राजा राममोहन राय के स्फूर्तिदायी व्यक्तित्व के कारण सर्वप्रथम बंगाल मे उत्पन्न हो चुकी थी, किंतु उसकी व्याप्ति केवल बंग देश तक ही सीमित रही। राममोहन राय ने अपने विशाल अध्ययन, उदार दृष्टि तथा लोकहित के व्यापक चिंतन के कारण देश और समाज मे परिवर्तन को गति प्रदान की। तथापि पश्चिमी आदर्शों के प्रति अत्यधिक प्रशंसा एवं संभ्रम के दृष्टिकोण के कारण वे अपने आदोलन को राष्ट्रीयता की उस सुदृढ भूमि पर प्रतिष्ठित नहीं कर पाए, जो आगे चलकर स्वामी दयानंद द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज को प्राप्त हो सकी। राममोहन राय ने धर्म और समाज के क्षेत्र मे सुधार, परिष्कार और परिवर्तन को पूर्ण रूप से अपनाने पर भी राष्ट्रहित का कोई ऐसा व्यापक आधार ढूँढने मे सफलता प्राप्त नहीं की, जिसके कारण संपूर्ण जनमानस को चेतना-सपन्न बनाना संभव होता। उनकी दृष्टि में भारत पर अग्रेजों का राज्य एक दैवी वरदान ही था और वे आनेवाले युगो तक इस राज्य की स्थिरता और दृढता को देखने के इच्छुक थे।

श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर को सामाजिक परिवर्तन का साधन बनाने का वैसा अवसर भी नहीं मिला जो उनके पूर्ववर्ती राजा राममोहन राय को प्राप्त हुआ था। यह अवश्य है कि वैदिक एकेश्वरवाद तथा औपनिषदिक ब्रह्मवाद को ब्राह्म पूजा पद्धति में सर्वोपरि महत्त्व देकर उन्होंने हिंदू धर्म में व्याप्त बहुदेवोपासना, जड़-पूजा तथा अपदेवताओं की अर्चना जैसे अधविश्वासो को धक्का दिया। परंतु केशवचंद्र

सेन ने अपने पूर्ववर्ती ब्राह्म नेताओं के किए-किराये पर पानी फेर दिया जबकि उन्होंने ईसाई मान्यताओं, ईसाई विश्वासों तथा ईसाई ढंग की पूजा-पद्धति की श्रेष्ठता एवं वरेण्यता का प्रतिपादन कर भारतीय हिंदू धर्म की अस्मिता को ही ठेस नहीं पहुँचाई, उस पादरी वर्ग में प्रसन्नता की एक लहर भी उत्पन्न कर दी जो हिंदू धर्म की इस परोक्ष आलोचना को देखकर गद्‌गद हो रहे थे।

यों तो विदेशी शक्तियों ने इस देश में प्रारंभ में ही अपने वाणिज्य और व्यवसाय की स्थापना कर अपनी जड़ों को मजबूत किया था, किंतु उनकी शक्ति में अधिक अभिवृद्धि उस समय हुई जबकि अपने उद्योग, व्यवसाय और व्यापार को सर्वथा सुरक्षित तथा स्थायी बनाने के लिए उन्होंने सैन्य-शक्ति जोड़नी आरंभ की। व्यापारिक प्रतिष्ठानों की रक्षा के लिए एकत्रित यह सेना कालांतर में इस देश की सिक्ख, मराठा, राजपूत, मुसलमान, गोरखा जैसी जातियों को उनके शक्ति-स्रोतों से पृथक् कर किस प्रकार संपूर्ण देश को ही दास बना लेगी, यह इतिहास की एक स्मरणीय किंतु शिक्षाप्रद घटना है जो हमें बताती है कि फिरंगियों पर विश्वास करके हमारे पूर्वजों ने कैसी भूल की थी। परंतु बात केवल राजनैतिक पराधीनता की ही नहीं है। यदि अंग्रेज लोग केवल हमें पराजित करके ही संतोष कर लेते और अपनी ईसाइयत एवं तज्जन्य संस्कृति तथा जीवन-पद्धति को हम पर थोपने का प्रयास नहीं करते तो संभवतः हम उन्हें यहाँ से निकालने में इतनी जल्दबाजी नहीं करते। परंतु लार्ड मैकाले ने अपनी शिक्षा-नीति का प्रचलन कर मानो हमें यह संकेत दे दिया कि उस पद्धति से शिक्षित लोग गोरे शासकों और उनके अधीन रहनेवाले करोड़ों शासितों के बीच मध्यस्थ का कार्य करेंगे। यहाँ तक ही नहीं, इसी शिक्षा-नीति को सफल बनाकर वे काली चमड़ीवाले हिंदुस्तानियों को आचार, विचार, खानपान तथा चिंतन की दृष्टि से गोरा अंग्रेज बनाकर ही दम लेंगे।

इधर तो पश्चिमी शिक्षा तथा यूरोपीय भावधारा में दीक्षित भारत का नवयुवा वर्ग बेतहाशा पश्चिम का अंधानुकरण करने लगा, और इधर ईसाई प्रचारकों के कूटजाल में फँसकर हमारे देश का अबोध, अशिक्षित तथा अंधविश्वासों के पंक में आकंठ मग्न साधारण वर्ग अपनी आस्थाओं से मुँह मोड़कर ईसाई बनने में ही अपना त्राण देखने लगा। सर्वश्री माईकेल मधुसूदन दत्त, नीलकंठ शास्त्री, रामचंद्र बोस तथा पंडिता रमाबाई आदि पठित वर्ग के भारतीय तो ईसाइयों द्वारा की गई हिंदू धर्म की आलोचना का उत्तर देने में सर्वथा अक्षम ही थे, अतः उन्हें स्वधर्म का परित्याग कर ईसाइयत को स्वीकार करने में किंचित विलंब भी नहीं हुआ। दूसरी ओर, अपने धर्म के मौलिक तत्त्वों से अपरिचित साधारण वर्ग के लोगों के द्वारा ईसाई प्रचारकों के आक्रमणों का उत्तर देना तो और भी कठिन हो रहा था।

कुछ इसी प्रकार की परिस्थितियों में गुजरात देशोत्पन्न एक चतुर्थाश्रमी दयानंद सरस्वती ने सामान्यतः समस्त प्राणियों के हित और विशेषत स्वदेश-वासियों की अधोगति को दूर करने की दृष्टि से एक प्रबल आंदोलन की आधारशिला बंबई

महानगर में 10 अप्रैल 1875 को रखी और उसे आर्यसमाज का नाम दिया। स्वामी दयानंद के विचारानुसार संसार की सर्वाधिक प्राचीन, पूर्ण सभ्य तथा नाना प्रकार के आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा भौतिक उपलब्धियों के सर्वोच्च सोपान पर प्रतिष्ठित आर्य जाति के आदर्शों की यदि पुनःस्थापना का प्रयास किया जाए और आर्य सभ्यता, संस्कृति एवं चिंतन के आधारभूत वेदों की शिक्षाओं का पुनः प्रचलन किया जाए तो आर्यावर्त देश अपनी लुप्त परंपराओं और गौरव को एक बार फिर प्राप्त कर सकेगा और आर्यावर्त की उन्नति ही अवशिष्ट संसार की उन्नति का कारण बनेगी। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वामी दयानंद ने आर्यसमाज की स्थापना की थी। इस प्रबल आंदोलन को जन्म देने के पश्चात् वे मात्र आठ वर्षों तक ही जीवित रहे थे, किंतु इसी अल्पावधि में उन्होंने अपने महान तेजस्वी व्यक्तित्व, अपार संकल्पबल तथा अपरिमित प्रज्ञा के द्वारा इस समाज को ऐसी राह पर डाल दिया, जिससे कि आगामी आधी शताब्दी तक वह इस देश की धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रगति का पूर्ण पर्याय बन गया। यहाँ संक्षेप में आर्यसमाज की उन उपलब्धियों तथा सफलताओं की चर्चा आवश्यक है जो उसने अपने शताधिक वर्षों के जीवनकाल में अर्जित की है।

सर्वप्रथम हमें धार्मिक क्षेत्र में आर्यसमाज की उपलब्धियों का विवेचन करना है। हम देख चुके हैं कि स्वामी दयानंद के आविर्भाव काल में हिंदू समाज में प्रचलित पूजा-उपासना की प्रणाली अत्यंत विकृत हो चुकी थी। सच्चिदानंदादि लक्षणों से युक्त परमात्मा के स्थान पर नाना देवी-देवता, जड़ मूर्तियाँ, नदी, पर्वत, वृक्ष आदि हमारे आराध्य देवों का स्थान ले चुके थे। आर्यसमाज ने बताया कि चेतन एवं प्रज्ञावान् मनुष्य के लिए जड़ पदार्थों की पूजा श्रेयस्कर नहीं है। इसी प्रकार आर्यसमाज ने सच्चे धर्म का स्वरूप-निरूपण करते हुए यह स्पष्ट किया कि वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है और यह धर्म धर्मी से सर्वथा अपृथक् रहता है। आर्यसमाज ने धर्म की उसी परिभाषा को मान्यता प्रदान की जो प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा स्वीकृत एवं अनुमोदित है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद के अनुसार धर्म वह तत्त्व है जिससे मनुष्य अपनी इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति करता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य की आध्यात्मिक भावनाओं के विकास के साथ-साथ उसका लौकिक उत्थान भी धर्म-साधना का लक्ष्य है। महर्षि मनु ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच; इंद्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध को धर्म का लक्षण घोषित किया, किंतु साथ ही यह भी कह दिया कि आचार ही मनुष्य का परम धर्म है। स्वामी दयानंद के विचारानुसार सत्य, न्याय, पक्षपातरहित तथा वेदाज्ञा के अनुकूल आचरण ही धर्म है। इस प्रकार विभिन्न परिभाषाओं को प्रस्तुत करने के अनंतर आर्यसमाज ने यह स्पष्ट कर दिया कि धर्म के जो मूलभूत तत्त्व हैं, उन्हें स्वीकार करने में किसी भी देश, वर्ग या समाज के लोगों को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह सार्वभौम, सार्वकालिक तथा सार्वजनीन धर्म ही मनुष्य मात्र के लिए आचरणीय

है। सत्य, अहिंसा, करुणा, सर्वभूतहित, विश्वबंधुत्व आदि धर्म के वे मूल तत्त्व हैं जिन्हें स्वीकार करने में किसी भी व्यक्ति को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

इसके साथ ही आर्यसमाज ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आज संसार में धर्म के नाम पर जो नाना प्रकार के पाखंड, अत्याचार, ढोंग तथा रूढिबद्ध कर्मकांड आदि प्रचलित हैं, उन्हें धर्म कहना उचित नहीं है। यह अत्यंत संतोष का विषय है कि आर्यसमाज द्वारा प्रदत्त धर्म की इस मौलिक किंतु व्यापक परिभाषा को सभी विचारशील एवं प्रबुद्ध लोगों ने स्वीकार किया है। जिन मतों एवं संप्रदायों में धर्म के नाम पर नाना प्रकार के अंधविश्वास, मिथ्या कर्मकांड तथा अनर्थक कर्म प्रचलित थे, उन मतों के अनुयायियों ने भी आर्यसमाज के धर्म-विषयक मंतव्य की गुरुता को अनुभव करते हुए अपने संप्रदाय-तंत्र में पर्याप्त परिशोधन एवं सुधार कर लिए हैं। स्वर्ग, नरक, परलोक आदि के संबंध में जो अवैज्ञानिक धारणाएँ प्रचलित हो चुकी थीं, आज उनका मूलोच्छेद भी हो चुका है। अतः यह कहने मे हमे किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए कि आर्यसमाज ने मनुष्य के मनुष्यत्व को धर्म का पर्याय बताते हुए उसके कर्तव्य कर्मों को ही धर्म कहकर एतद्विषयक सारे भ्रमों का परिहार कर दिया है।

आर्यसमाज ने धर्म का वास्तविक रूप निर्णीत करने के पश्चात् उस धर्म को जानने के लिए, वेदरूपी प्रदीप का परिचय अखिल मानव जाति को कराया। जो लोग वेदों को प्रमाण मानते भी थे, उन्हें भी वेद के वास्तविक स्वरूप, उसकी उत्पत्ति, उसके प्रतिपाद्य विषयों आदि का सम्यक् ज्ञान नहीं था। यह विडंबना ही थी कि वेदों को सारे शास्त्रों का मूलाधार एवं परम प्रमाण माननेवाले भारत के आचार्य और संप्रदाय भी वेदों की विषयवस्तु तथा वैदिक वाङ्मय की परिसीमा के वास्तविक ज्ञान से अनभिज्ञ थे। आर्यसमाज के प्रवर्तक ने इस संबंध में नाना युक्तियाँ एवं प्रमाण आदि देकर वैदिक ज्ञान की आवश्यकता, उपयोगिता, महत्ता तथा सार्वभौमता का प्रतिपादन किया। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि वेदो के वास्तविक अर्थ करने की प्रक्रिया कौन-सी है ? यह एक इतिहाससम्मत तथ्य है कि आर्यसमाज ने वैदिक ज्ञान के पुनरुद्धार तथा उसके प्रचार के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है उसकी महत्ता को निष्पक्ष व्यक्तियो ने स्वीकार भी किया है। वेदों के अध्ययन-अध्यापन, प्रचार-प्रसार तथा इन ग्रंथों पर भाष्य, टीका, व्याख्या, विवेचना आदि के लेखन में आर्यसमाज के विद्वानों ने सार्थक श्रम किया है।

वेदों के प्रामाण्य के सिद्धांत को शास्त्रीय तथा तर्कपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने के साथ-साथ आर्यसमाज का आर्षग्रंथ-प्रमाणवाद का सिद्धात भी भारत के धार्मिक एवं दार्शनिक जगत् में एक क्रांतिकारी उद्‌घोष है। इस मंतव्य के प्रचार के द्वारा आर्यसमाज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी ग्रंथ का केवल संस्कृत में लिखा जाना अथवा किसी मत-संप्रदाय के मान्य ग्रंथों की श्रेणी में आ जाना ही पर्याप्त नहीं है। देखना यह होगा कि क्या इस ग्रंथ में निरूपित बातें बुद्धिवाद, तर्क तथा

सृष्टिक्रम के अनुकूल हैं अथवा प्रतिकूल। यदि किसी धर्म-ग्रंथ कही जानेवाली पुस्तक में मानवी चिंतन को कुंठित करनेवाली, मानव समाज में विषमता, विरोध तथा वैमत्य का प्रचार करनेवाली बातें लिखी हैं तो ऐसे ग्रंथों को अनार्ष मानकर उनका बहिष्कार ही किया जाना चाहिए। इसी प्रसंग में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने यह स्पष्ट किया कि विमल मेधा के धनी, पुरातन ऋषियों की लेखनी से निकला साहित्य ही आर्ष-संज्ञाभूक्त है, क्योंकि इन ग्रंथों में विवेचित बातें बुद्धि तथा विज्ञान के सर्वथा अनुकूल हैं तथा इनसे मनुष्य अपने चिंतन का विकास कर सकता है। इस प्रकार वेदों तथा परवर्ती आर्ष साहित्य को प्रमाण कोटि में रखकर आर्यसमाज ने हमारे शास्त्रीय वाङ्मय का जैसा विवेकपूर्ण विश्लेषण किया है, वह धार्मिक जगत् में एक अभूतपूर्व उपलब्धि ही मानी जाएगी।

आर्यसमाज ने धर्म में आचार-पक्ष को महत्त्व दिया है। इस दृष्टि से पंचमहायज्ञों का नित्य करना, अष्टांग योग की विधि से साधनापूर्वक योगाभ्यास तथा आश्रममर्यादा को स्वीकार करते हुए जीवनयापन, यह आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित धर्म का क्रियात्मक पहलू है। पंचमहायज्ञों में ईश्वर, अग्नि आदि जड़ देवता, माता, पिता, पितामह आदि पितृगण, अतिथि तथा क्षुद्र जीवजंतुओं के संबंध में मनुष्य के कर्तव्यों का विधि-विधान बताया गया है। प्रकारांतर से यों तो सभी मतावलंबी उपर्युक्त यज्ञों का पालन और आचरण करते हैं, किंतु मन्वादि स्मृतिकारों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय विधि से पंच यज्ञों की पद्धति का निर्धारण कर आर्यसमाज ने मानव जाति का असीम उपकार किया है। इसी प्रकार यम-नियमादि योगांगों का सेवन करते हुए धारणा, ध्यान और समाधि रूपी संयम की साधना करने से जिस योग की सिद्धि एवं कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति होती है, वही मनुष्य का परम-पुरुषार्थ है।

आर्यसमाज ने आश्रम धर्म का जिस रूप में निरूपण किया वह शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त, श्रेयस्कर तथा मानव-जीवन के लिए अत्यंत हितकारी है। यह बात नहीं है कि आर्यसमाज के पूर्व आश्रम-प्रणाली का विधान था ही नहीं। आश्रम-व्यवस्था के समस्त नियम स्मृतिकारों तथा धर्मशास्त्रकारों ने विस्तार से वर्णित किए हैं, किंतु उनकी वैज्ञानिक व्याख्या एवं स्वरूप-विवेचना अत्यंत सतर्क ढंग से आर्यसमाज ने की है। उसने ब्रह्मचर्य साधना के लिए प्राचीन गुरुकुल प्रणाली की शिक्षा जारी की, जहाँ रहकर छात्र अपने गुरुजनों के सान्निध्य में विद्योपार्जन करता है। इन गुरुकुलों में उसे केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं सिखलाया जाता, अपितु यहाँ शरीर, मन, आत्मा और बुद्धि का समुचित विकास करने के साधन भी प्रस्तुत किए जाते हैं। गृहस्थ के कर्त्तव्य कर्मों को भी सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित प्रणाली से निभाने के लिए आर्यसमाज ने सदा ही प्रेरणा दी है। उसका दृष्टिकोण मध्यकाल की श्रमण-संस्कृति तथा जैन, बौद्ध विचारधारा से नितांत भिन्न रहा है, जिसमें गृहस्थ जीवन को हेय दृष्टि से

देखा गया है तथा वैराग्यप्रधान भिक्षु जीवन को ही मानव का आदर्श बताया गया है। आर्यसमाज ने मनु के शब्दों मे यह स्पष्ट घोषित किया कि जिस प्रकार नदियाँ और नाले सागर मे जाकर स्थिरता एव शाति प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचारी, वनस्थ एवं संन्यस्त जन भी स्वजीवन निर्वाह के लिए गृहस्थियों के ही नजदीक जाते हैं। इसी प्रकार वाणप्रस्थ व्यवस्था को पुनरुज्जीवित करने तथा संन्यासी वर्ग में प्रचलित पाखडो और रूढ कर्मकांड के आचरणों को पृथक् कर लोकहित की दृष्टि से सर्वत्र भ्रमण करते हुए पारमार्थिक सिद्धि को प्राप्त करना ही संन्यासाश्रमी का लक्ष्य निर्धारित करना आर्यसमाज के एतद्विषयक स्वस्थ चितन का परिचायक है।

आर्यसमाज वैयक्तिक हित की ही भाँति सामाजिक हित को भी महत्त्व देता है। उसने अपने दसवे नियम मे यह स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक तथा सर्वहित के नियमो को पालने मे हमे अपनी वैयक्तिक स्वतत्रता का किचित् परित्याग तो करना ही होगा। वैदिक दृष्टिकोण को आधारबिंदु बनाकर आर्यसमाज ने वर्ण-व्यवस्था को समाज के सतुलित विकास का महत्त्वपूर्ण साधन माना है। आज हम देखते है कि वर्णव्यवस्था पर नाना प्रकार के आरोप-प्रत्योराप लगाए जाते हैं। कभी उसे सामाजिक वैषम्य का प्रतीक कहा जाता है तो कभी ब्राह्मणो की अधिनायक मनोवृत्ति का सूचक। इन आरोपों में अधिक सत्यता नहीं है। पुराकालीन भारतीय ऋषियो ने समाज के सार्वत्रिक विकास के लिए श्रम-विभाजनपूर्वक व्यक्ति के योगदान की दृष्टि से ही वर्ण-व्यवस्था की कल्पना की थी।

इस योजना में अज्ञान एव अविद्या को निर्मूल कर मानव जाति को ज्ञानालोक से प्रकाशित करने का दायित्व ब्राह्मणो का माना गया है। अन्याय और अत्याचार के प्रतिरोध हेतु सन्नद्ध रहने की अपेक्षा क्षत्रिय से की गई है। समाज को भौतिक अभावो से मुक्त कर उसके जीवन को आवश्यक वस्तुओ से परिपूर्ण रखने का दायित्व वैश्यो को सौंपा गया है। किंतु शूद्र समाज की लांछना एवं तिरस्कार का पात्र नहीं है। वह अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा अन्य वर्णस्थो की सेवा द्वारा ही स्वजीविका का उपार्जन करता है। इस प्रकार आर्यसमाज ने वर्ण-व्यवस्था को एक तर्कसगत तथा बुद्धिग्राह्य आधार प्रदान किया है। तथापि जन्मगत जातियों के जटिल जाल से हिदू समाज को मुक्त कर उसे गुण, कर्म पर आधारित सुसंगत वर्ण-व्यवस्था में ढाल देना एक कठिन कार्य है। इस क्षेत्र में बहुत कुछ करने पर भी हमे यह स्वीकार करना होगा कि अभी हमारी गति बहुत धीमी रही है। अंतर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने पर भी यह ध्यान रखना होगा कि विवाह के लिए जिन जोडो का मिलान कराया जाए, वे गुण, कर्म, स्वभाव, अभिरुचि तथा शरीर, मन तथा बुद्धि के विकास की दृष्टि से एक-दूसरे के सर्वथा अनुकूल हों।

आर्यसमाज ने नारी-जागरण के क्षेत्र मे बहुत मूल्यवान कार्य किया है। उस युग की कल्पना कीजिए जबकि नारी पुरुष समाज द्वारा लाछना, प्रताडना, शोषण

तथा अपमान का ही पात्र समझी जाती थी। समान अधिकार दिए जाने की बात तो दूर रही, घर में उसका रहना भी अशुभ एवं अमंगल का सूचक माना जाता था। कन्याओं का जन्म होते ही उनका वध कर दिया जाता था और उधर विधवा नारी का दर्शन ही अकल्याण का प्रतीक बन गया था। ऐसी स्थिति में नारी के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए प्रयास करना तथा उसमें सफलता पा लेना आर्यसमाज की एक महती उपलब्धि ही कही जाएगी। आर्यसमाज ने नारी के उत्थान के लिए जो कार्यक्रम बनाया उसमे वैदिक और उपनिषद्कालीन नारी के आदर्श को सामने रखा गया था। आर्यसमाज की यह मान्यता रही है कि अत्यत पुरातन काल में नारी को महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त रही और वह समाज के सभी वर्गों के आदर तथा सम्मान की पात्र थी। मनुस्मृति का वह श्लोक प्रायः इस सदर्भ मे उद्धृत किया जाता है जिसमें यह कहा गया है कि जहाँ नारियों की पूजा अर्थात् सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। यह सत्य है कि मध्यकालीन स्मृति ग्रंथों तथा धर्मशास्त्र के निबंध-ग्रंथों में नारी के पद की वह गुरुता और महत्ता सुरक्षित नहीं रह सकी जो उसे वैदिक काल मे प्राप्त थी। तथापि आर्यसमाज का यह प्रयत्न रहा कि वह नारी को उसके गौरवपूर्ण पद पर पुन: प्रतिष्ठित करे और समाज मे उसे आदर का स्थान दिलाए।

इसी सदर्भ में हमें आर्यसमाज द्वारा किए गए सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के उस कार्य का भी जायजा लेना होगा जिसके कारण नारी का शोषण, अपमान तथा उत्पीडन बंद हो सका है। इस प्रसंग मे बाल-विवाह का उन्मूलन, बृद्ध एवं अनमेल विवाहों के विरोध में जनमानस को प्रबुद्ध करना, पर्दे की प्रथा का बहिष्कार, नारी-शिक्षा को प्रोत्साहित करना, विधवाओ के पुनर्विवाह को शास्त्रसम्मत ठहराना, दहेज तथा विवाहों में अपव्यय आदि पर रोक लगाने आदि कार्यों को लिया जा सकता है।

दलितोद्धार तथा अस्पृश्यता का निवारण आर्यसमाज की सामाजिक क्रांति के ध्वजवाहक रहे हैं। आर्यसमाज मानव समुदाय की एकता का पक्षपोषक रहा है। उसकी दृष्टि में जन्म, रंग, प्रांत, देश, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव की जो रेखाएँ उभर आई हैं, वे सर्वथा कृत्रिम हैं तथा मानव समाज की उन्नति में बाधक भी हैं। इस दृष्टिबिंदु को सामने रखकर आर्यसमाज ने अस्पृश्यता की भावना को दूर करने तथा दलित एवं छूत समझी जानेवाली जातियों के उद्धार का कार्यक्रम बनाया। कालातर में देश के स्वतत्रता प्राप्त करने तथा भारत के संविधान में देश के सभी नागरिकों को समान अधिकार दिए जाने के परिणामस्वरूप पठित वर्ग में अस्पृश्यता तथा पारस्परिक भेदभाव की बुराई कुछ सीमा तक कम तो हुई, किंतु कट्टर एव संकीर्ण विचारों के लोगों में से इस विकृति को सर्वथा दूर करना संभव नहीं हो सका। तथापि आर्यसमाज के एतद्विषयक प्रयत्नों का महत्त्व कम नहीं होता। आर्यसमाज ने आर्थिक अथवा राजनैतिक संरक्षण देकर दलित जातियों को

यथास्थिति मे रखने का कभी समर्थन नहीं किया। उसकी तो यह धारणा रही है कि प्रत्येक वर्ग को शिक्षा, संस्कार तथा सदाचार की दृष्टि से उन्नत बनने का अवसर मिलना ही चाहिए। इस शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में दलित जातियों में पाई जानेवाली अनेक कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिए आर्यसमाज ने श्लाघनीय प्रयास किया था। इसी का यह परिणाम हुआ कि इस वर्ग के अनेक बालक आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुलों में अध्ययनार्थ प्रविष्ट हुए। वहाँ से अपना अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने अपना जीवन जिस ढंग से व्यतीत किया उससे यह सिद्ध हो गया कि आर्यसमाज जात-पाँत का भेदभाव किए बिना प्रत्येक बालक को सदाचारी, सुशिक्षित तथा सस्कारशील बनाने के लिए कृतसकल्प है। इस प्रकार भारतीय समाज को विषमता, पार्थक्य तथा भेदभाव के वात्याचक्र से मुक्त कर स्वतत्रता, समता तथा बधुत्व का स्वस्थ वातावरण प्रदान करना आर्यसमाज का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

यहाँ तक हमने आर्यसमाज द्वारा धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र में किए गए क्रांतिकारी कार्यों का मूल्याकन करने का प्रयास किया। परंतु यह ध्यान रखना होगा कि आर्यसमाज का मानवजीवन के प्रति दृष्टिकोण समग्रता का है। उसने धर्म, दर्शन और अध्यात्म की ही भाँति सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रो में भी स्वस्थ चिंतन प्रदान किया है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानंद ने विदेशियों द्वारा किए जानेवाले देश के आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होने पदे-पदे यह अनुभव किया था कि जब तक परकीय शासन समाप्त नहीं हो जाता तब तक स्वदेशवासियों को न तो भर पेट खाने के लिए रोटी ही मिलेगी और न वे अपनी उन्नति ही कर पाएँगे। इसी दृष्टि से स्वामीजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम संस्करण मे शासकों द्वारा लागू किए गए उन कारणो की कठोर आलोचना की है जो इस देश के दरिद्र वर्ग का शोषण करते हैं। नमक उत्पादन पर लगाए गए कर, वनों में पैदा होनेवाली घास, लकडी तथा अन्य वस्तुओं को वहाँ से लाकर बेचनेवाले गरीब लकडहारों पर लगाए गए कर, अदालतो मे लागू की गई स्टाम्प ड्यूटी आदि के बारे मे स्वामीजी ने अत्यत प्रभावोत्पादक ढंग से अपने विचार व्यक्त किए हैं तथा शासक वर्ग से अपील की है कि वह दरिद्र वर्ग का शोषण बंद करे। उन्होने कृषि कर्म की प्रशसा करते हुए किसान को राजाओ का भी अन्नदाता बताया और श्रमिक वर्ग के उत्थान को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया।

गोरक्षा तथा अन्य उपयोगी पशुओं के सरक्षण, सवर्धन को वे देश की आर्थिक उन्नति का एक सुदृढ उपाय मानते थे। गोरक्षा के प्रश्न को उन्होने विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से ही देखा था। भावुकता का किंचित् मात्र भी आश्रय लिए बिना उन्होने निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया कि गाय की रक्षा तथा गोधन की वृद्धि देश की आर्थिक उन्नति की रीढ है। गोधन का विनाश राष्ट्र का विनाश है। गोरक्षा की दयानद प्रतिपादित नीति का अनुसरण करते हुए कालांतर मे आर्यसमाज ने

गोसंवर्धन तथा गोसरक्षण की अनेक महत्त्वाकाक्षी योजनाएँ क्रियान्वित कीं। यह एक विडबना ही थी कि भारत के सविधान में गो आदि उपयोगी पशुओं की रक्षा को सुनिश्चित बनाने के लिए विभिन्न धाराओं का समावेश किए जाने पर भी कतिपय कारणो से गोवंश का उत्तरोत्तर ह्रास ही होता गया। परिवर्तित परिस्थितियो मे इस समस्या का हल मात्र आदोलन चलाने में होनेवाला नहीं है। विशुद्ध आर्थिक आधार पर गोरक्षा के महत्त्व को प्रतिपादित करने से ही इस समस्या मे निहित साप्रदायिकता की मनोवृत्ति का उन्मूलन किया जा सकता है। स्वामी दयानद को भी गोरक्षा का आर्थिक पहलू ही वजनदार प्रतीत हुआ था।

प्राय यह कहा जाता है कि आर्यसमाज ने धर्म एवं समाज के क्षेत्रों में तो यत्किंचित कार्य किया है परतु देश को द्रुत गति से समुन्नत बनाने तथा देशवासियों के समक्ष उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयों का संतोषपूर्ण समाधान निकालना उसके वश के बाहर है। इस कथन में आशिक सत्यता तो हो सकती है, किंतु पूर्ण सत्यता नहीं। प्रथम तो आर्यसमाज का यह दृष्टिकोण रहा है कि भारत का प्रमुख हिंदू-समाज यदि अपनी धार्मिक विकृतियों को छोडकर धर्म के स्वस्थ और लोकोन्नति में सहायक रूप को समझ लेता है तथा तदनुकूल आचरण करने के लिए तत्पर हो जाता है तो उसकी लौकिक एव आर्थिक उन्नति भी सुनिश्चित है। इसी प्रकार उसकी यह भी धारणा है कि सामाजिक दृष्टि से सुसंगठित हुए तथा सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन किए बिना समाज के आर्थिक विकास का आधार ही तैयार नहीं होता।

तथापि आर्यसमाज ने यह अनुभव किया कि देश को विविध कला-कौशल, उद्योग-धंधों तथा व्यापार-व्यवसाय की दृष्टि से भी समृद्ध बनाना आवश्यक है। स्वामी दयानद ने अपने जीवनकाल मे ही जर्मनी के प्रो वाइज से पत्रव्यवहार कर उनसे प्रार्थना की थी कि वे इस देश के नवयुवकों को वहाँ रहकर कला-कौशल तथा नाना प्रकार के उद्योग-व्यवसायो मे प्रशिक्षित होने की सुविधा प्रदान करे। इसी प्रकार आर्यसमाज द्वारा सचालित शिक्षण-सस्थाओं में भी छात्रो को नाना प्रकार के कुटीर उद्योगो तथा लघु कुटीर उद्योगो की शिक्षा दी जाती रही। ये सब इस बात के प्रतीक हैं कि आर्यसमाज का मानवी समस्याओ के प्रति दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक, रचनात्मक तथा समग्र रहा है। आर्यसमाज की अतीत काल में प्राप्त उपलब्धियों का एक महत्वपूर्ण कारण भी यही था कि उसने मानवी विकास के सभी पहलुओं को स्पर्श किया था।

भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में आर्यसमाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक दयानंद सरस्वती ने सर्वप्रथम स्वराज्य का नारा दिया तथा यह घोषित किया कि स्वदेशी राज्य सर्वोपरि उत्तम होता है, किंतु विदेशियों का राज्य, चाहे माता-पिता के समान हितकारी ही क्यों न हो, हमारे लिए कभी काम्य नहीं हो सकता। आर्यसमाज ने राष्ट्रीयता का नारा उस समय बुलंद किया जबकि

राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का जातकर्म भी नहीं हुआ था। जिस समय कांग्रेस के अधिवेशनों में महारानी विक्टोरिया की दीर्घायुकामना के प्रस्ताव स्वीकृत होते थे और विदेशी शासन से भारतीयों को प्रशासन सेवाओं में अधिक स्थान दिए जाने की प्रार्थनाएँ की जाती थीं, उस समय आर्यसमाज के व्याख्यान-मचों से स्वराज्य, स्वाधीनता और स्वदेशी का गौरव-गान किया जाता था। स्वदेशी वस्तुओ के उपयोग के लिए स्वामी दयानंद ने अपने संपर्क में आनेवाले भक्तों और शिष्यों को सदा प्रेरणा दी थी। लाहौर आर्यसमाज के प्रथम प्रधान लाला मूलराज तथा मत्री लाला साईंदास स्वदेशी वस्त्रों तथा स्वदेश में बनी वस्तुओं के प्रयोग के कट्टर समर्थक थे।

स्वामी दयानंद प्रतिपादित राष्ट्रवाद का ही यह परिणाम था कि कालांतर में मातृभूमि को स्वतंत्र कराने के लिए श्यामजी कृष्णवर्मा ने लंदन में इडिया हाउस की स्थापना की तथा विनायक दामोदर सावरकर, लाला हरदयाल, मदनलाल धींगडा जैसे क्रातिकारियों को स्वाधीनता-यज्ञ मे आत्महुति देने की प्रेरणा मिली। जब यही क्रांतिकारी विचारधारा भारत मे फैली तो सरदार भगतसिह, रामप्रसाद बिस्मिल, सोहनलाल पाठक, गेंदालाल दीक्षित, ठाकुर रोशनसिह आदि न जाने कितने आर्यसमाजियो ने उसमे दीक्षा ली और देश को स्वतत्र कराने के लिए आत्मबलिदान किया। स्वाधीनता के इस संग्राम मे आर्यसमाज का निर्णायक योगदान रहा है।

इसी प्रकार स्वामी श्रद्धानद, लाला लाजपतराय, भाई परमानद आदि देशभक्तों का प्रेरणा-स्रोत भी आर्यसमाज ही रहा है। महात्मा गाँधी जिस समय दक्षिण अफ्रीका में अपने सत्याग्रह सग्राम को सफलतापूर्वक चलाने के पश्चात् भारत आए तो यहाँ आर्यसमाजों में व्याप्त राष्ट्रीय भावनाओं को देखकर उन्हें बडी प्रसन्नता हुई थी। 1920, 30, 32 तथा 42 के सभी आंदोलनों मे आर्यसमाजियों ने सहस्रो की संख्या में भाग लिया तथा असहयोग, सविनय अवज्ञा, नमक आंदोलन तथा भारत छोडो आदि आंदोलनों में कारागार की यात्राएँ कीं। आर्यसमाज की राष्ट्रीय भावना के प्रति अंग्रेजी सरकार सदा से शंकाशील रही। ब्रिटिश सरकार का गुप्तचर विभाग आर्यसमाज की कार्यपद्धति तथा उसकी प्रचार-प्रणाली को बहुत गहराई से देखता था। आगे चलकर पटियाला राज्य में आर्यसमाजियों पर सरकार के खिलाफ षड्यंत्र करने का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया। महात्मा मुंशीराम ने इस अभियोग में आर्यसमाज का पक्ष लेकर यह सिद्ध किया कि स्वामी दयानंद के मंतव्यों में राष्ट्र के प्रति त्याग एव समर्पण का भाव तो सर्वत्र विद्यमान है, अत· आर्यसमाजियों का राष्ट्रधर्म में दीक्षित होना न तो अपराध ही है और न पाप। आज इतिहास इस तथ्य को पूर्ण रूप से स्वीकार कर चुका है कि भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में आर्यसमाज का संस्थागत योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान रहा है।

स्वामी दयानंद और आर्यसमाज ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने में अपना उल्लेखनीय सहयोग दिया है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने अपनी सूक्ष्मदर्शिता से यह अनुभव कर लिया था कि जब तक भारतवासी हिंदी को अपनी सामान्य संपर्क-भाषा स्वीकार नहीं कर लेंगे और विचारों के आदान-प्रदान के लिए विदेशी भाषा पर ही निर्भर रहेंगे तब तक उनमें सच्ची राष्ट्रीयता का विकास नहीं होगा। इसलिए स्वामीजी ने स्वयं तो अपने विचारों के आदान-प्रदान के लिए हिंदी का प्रयोग किया ही, अपने अनुयायियों को भी आदेश दिया कि वे अपने पारस्परिक विचार-व्यवहार में आर्यभाषा का प्रयोग करें। इसका परिणाम यह निकला कि आर्यसमाज के माध्यम से जो साहित्य प्रणीत हुआ उससे हिंदी के ज्ञानमूलक तथा रसात्मक—दोनों प्रकार के वाङ्मय की अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई। हिंदी पत्रकारिता को आर्यसमाज ने एक नवीन आयाम दिया। हिंदी प्रचार का यह कार्य इस देश की सीमाओं तक ही आबद्ध नहीं रहा। अफ्रीका, मारिशस, फीजी, गायना, सुरीनाम आदि ।वेदेशी उपनिवेशों में बसनेवाले भारतवासियों में हिंदी का प्रचार करने का श्रेय भी आर्यसमाज को ही है। आर्यसमाज का हिंदी से भी अधिक संबंध संस्कृत भाषा से है। स्वामी दयानद स्वयं संस्कृत के प्रौढ विद्वान थे। उपदेशक काल के प्रारंभिक दिनों में वे सस्कृत को ही अपने विचार-विनिमय तथा शास्त्र-चर्चा का माध्यम बनाते रहे। उनकी अधिकाश ग्रथ-रचना भी संस्कृत में हुई है। इस प्रकार संस्कृत के महत्त्व को पुन प्रतिपादित कर आर्यसमाज ने यह सिद्ध कर दिया कि नवजागरण की प्रेरणा के लिए संस्कृत भाषा और साहित्य का पुनरुद्वार अत्यंत आवश्यक है।

आर्यसमाज ने शिक्षा के क्षेत्र में जो सफलता अर्जित की है वह तो भारतीय शिक्षा-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय ही बन चुका है। स्वामी दयानंद स्वयं एक सफल शिक्षाशास्त्री थे। शिक्षा-विषयक उन्होने अपने सूत्रों को सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, व्यवहारभानु, संस्कृतवाक्यप्रबोध तथा वेदभाष्य में यत्र-तत्र कहीं विस्तारपूर्वक, तो कहीं संक्षेप में संकलित किया है। आगे चलकर आर्यसमाज ने डी.ए.वी. शिक्षा-संस्थाओं तथा गुरुकुल पद्धति के द्वारा भारत में राष्ट्रीय शिक्षा-नीति का प्रवर्त्तन किया।

स्वामी दयानंद अनुभव करते थे कि भारत की शिक्षा-नीति में संस्कृत तथा हिंदी जैसी भाषाओं को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। उन्होंने स्वयं अपने जीवनकाल में अनेक शिक्षण-संस्थाएँ प्रारंभ की परंतु जब अनुभव किया कि इनसे यथेष्ठ लाभ नहीं हो रहा है तो उन्हें बंद करना ही उचित समझा। स्वामी दयानंद प्रतिपादित शिक्षा-प्रणाली में गुरु-शिष्य के निकट-संबंधों पर सर्वाधिक बल दिया गया है। साथ ही शिक्षा का आदर्श चरित्रनिर्माण को माना गया है। उनकी धारणा थी कि विदेशी माध्यम से दी गई शिक्षा अधिक लाभकारी नहीं हो सकती। स्वामी दयानंद द्वारा निर्दिष्ट इसी सूत्र को लेकर गुरुकुल कांगड़ी में स्नातक स्तर की विज्ञान की शिक्षा

को मातृभाषा के माध्यम से देने की व्यवस्था तो आज से 60-70 वर्ष पूर्व ही की जा चुकी थी। आर्यसमाज ने जिस शिक्षा-प्रणाली को प्रवर्तित किया उसमे धनी एव दरिद्र की सतान के साथ तुल्य व्यवहार करने तथा पठन-पाठन में उन्हे एक-सी सुविधाएँ देने की बात कही गई है। सर्वोपरि बात तो यह है कि इस शिक्षा-पद्धति मे शिक्षित छात्र आगे चलकर राष्ट्र का एक प्रबुद्ध नागरिक तो बनता ही है उसमे राष्ट्रीय गौरव, स्वाभिमान तथा स्वदेश-भक्ति के भावों का भी समुचित विकास होता है। इधर कन्या-शिक्षा के क्षेत्र मे नवीन क्राति उपस्थित कर आर्यसमाज ने यह स्पष्ट घोषित कर दिया कि समाज के अर्द्धांग नारी को अपने सर्वांगीण विकास के सभी साधन प्राप्त करने के पूर्ण अधिकार है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि धर्म, समाज, संस्कृति, स्वदेश तथा स्वभाषा—इन सभी क्षेत्रो मे नवमूल्यो की स्थापना कर आर्यसमाज ने मुख्यत भारतवर्ष और गौणत विश्व के प्रबुद्ध मानव वर्ग मे एक नवीन वैचारिक क्राति का आरभ किया और उसमे उसे पूर्ण सफलता भी मिली।

इस प्रकार आर्यसमाज की विगतकालीन उपलब्धि का विवेचन करने के पश्चात् हमे यह देखना होगा कि आधी शताब्दी से धिक समय तक पूर्ण सक्रिय रहने के पश्चात् आर्यसमाज के आंदोलन मे शैथि शा और दिग्मूढता का समावेश क्यो और कैसे हुआ। सर्वप्रथम हम धार्मिक को ही ले। स्वामी दयानद ने धर्म को बुद्धिवाद पर आश्रित रखने पर जोर दिया था। उनका आग्रह था कि धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य आदि का निर्धारण करते समय हमे अपनी बुद्धि को काम मे लेना चाहिए। कोई वस्तु इसलिए श्रेष्ठ नहीं हो जाती क्योकि वह परपरा से हमें प्राप्त है और न कोई अन्य वस्तु इसीलिए अग्राह्य होती है, क्योकि वह नवीन है। विचारपूर्वक निर्णय करने के पश्चात् ही हमे धर्माधर्म का निश्चय करना होगा। स्वामी दयानद के इस बुद्धिवाद को स्वीकार करने मे लोगो को कोई कठिनाई नही हुई। परतु आज हम देखते हैं कि धर्म के नाम पर पाखड, अंधविश्वास, मूढ धारणाएँ तथा गुरुडम बढ रहा है। अब तक तो हम अपठित और अज्ञानी लोगों पर ही यह आक्षेप लगाते थे कि वे अधविश्वासी होते हैं, किंतु अब तो पठित एवं प्रबुद्ध लोग भी अधविश्वासो के शिकार हो रहे है। नए-नए बाबाओ, योगिराजों और भगवानो का प्रादुर्भाव यह सिद्ध कर रहा है कि आर्यसमाज का तर्काश्रित धर्म और बुद्धिवाद से प्रबोधित मतवाद लोगों को अस्वीकार्य है। यह सब देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यसमाज के प्रभाव में दिन-प्रतिदिन क्षीणता आ रही है अथवा इस आदोलन की सक्रियता, उग्रता तथा तेजस्विता में निश्चय ही न्यूनता आ गई है।

परतु हमे उन मनोवैज्ञानिक कारणों को भी ढूँढना होगा जो धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज की वर्तमानकालीन असफलता के हेतु हो सकते हैं। प्रथम तो यह कहा जा सकता है कि आर्यसमाज ने धर्म के नाम पर चलनेवाले पाखडों, आडबरो तथा रूढिवाद का खंडन करने में तो अपनी प्रबल शक्ति लगा दी, परतु उसने यह चिता

नहीं की कि धर्म तथा उपासना के वास्तविक स्वरूप तथा उसको आचरण मे लाने की विधि को भी जनता तक पहुँचाया जाए। आध्यात्मिक और पारलौकिक चिंतन चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी क्यों न हो, उसके साधनो मे भी कुछ ऐसा आकर्षण होना चाहिए जिससे कि मनुष्य सहज भाव से उसकी ओर आकृष्ट हो सके। आर्यसमाज ने साकारोपासना, प्रतीक पूजा, पौत्तलिक उपासना आदि का खडन तो किया किंतु भावप्रवण निराकारोपासना की किसी विधि को वह प्रचलित नहीं कर सका, जिसकी ओर आकृष्ट होकर उपासकों और साधको का समूह दौडकर आए। आर्यसमाज की वैयक्तिक और सामूहिक उपासनाएँ शुष्क, नीरस तथा दिखाऊ रह गईं।

एक और कठिनाई भी थी। आर्यसमाजो के उपासना-स्थलो का रख-रखाव, उनकी साजसज्जा तथा व्यवस्था में ऐसा कोई आकर्षण नहीं था, जिसके कारण बहुसख्यक लोग उसकी ओर आकृष्ट होते। सगीत के माध्यम से मनुष्य की मनोवृत्तियो का निग्रह और परिष्कार तो होता ही है वह उसकी एकतानता का भी कारण बनता है। यही 'रण है कि प्रत्येक धार्मिक उपासना-प्रणाली मे सगीत को समुचित स्थान दिया है। पौराणिको के भजन-गान और आरती-पाठ, ईसाइयो का भक्ति-सगीत, र् वालो की वे कव्वालियाँ जो 'इश्क हकीकी' को भावप्रवण शैली से उजागर क है तथा सिक्ख रागियो द्वारा गाई जानेवाली गुरुबानी—ये सभी धार्मिक सगीत के ही विभिन्न रूप है, जो भक्त समाज को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। आर्यसमाज मे सगीत पर आधारित कोई ऐसी उपासना-प्रणाली विकसित नही हो सकी। आर्यसमाज के प्रारभिक दिनो मे तो अमीचद मेहता, वासुदेव, चंद्र कवि तथा इसी कोटि के अन्य गायको, कवियो तथा सगीतज्ञो ने अपनी रचनाओं के द्वारा आर्यसमाज मे भक्ति-सगीत की सरिता को प्रवाहित किया था, किंतु कालांतर मे वह कई कारणो से अवरुद्ध हो गई।

आजकल योग-साधना की ओर अधिकाधिक लोगो का आकर्षण बढता जा रहा है। मॉग के अनुसार ही पातजल योग से भिन्न अनेक प्रकार के साम्प्रदायिक योग-प्रशिक्षण-केंद्र भी खुलते जाते है। महेश योगी की अतींद्रिय ध्यानपद्धति, रजनीश का भोग-मिश्रित योग, ब्रह्मकुमारियो का त्राटक आधारित राजयोग और न जाने कौन-कौन-सी नवीन योग-पद्धतियॉं प्रचलित हो चुकी है, जो विशाल मानव-समूह को निरतर अपनी ओर आकृष्ट कर रही हैं। आर्यसमाज तो महर्षि पतजलि द्वारा उपदिष्ट उस राजयोग का समर्थक है जिसे ईश्वर-प्रणिधान तथा अष्टाग-साधना के द्वारा सिद्ध किया जाता है। यो विगतकाल मे स्वामी लक्ष्मणानद, महात्मा नारायण स्वामी, स्वामी ओमानदतीर्थ आदि अनेक योगियो ने स्वसाधना के द्वारा आर्यसमाज मे रहते हुए योगमार्ग का अनुशासन और उपदेश किया था, किंतु आज आवश्यकता इस बात की है कि योग के प्रति बढते हुए आकर्षण को देखते हुए आर्यसमाज को योग-साधना के वास्तविक स्वरूप तथा क्रियापद्धति से लोगो

को परिचित कराना चाहिए।

परतु धार्मिक विचारो का ठोस तथा प्रभावशाली प्रचार तो साहित्य के द्वारा होता है। स्वामी दयानद ने स्वय साहित्य के माध्यम से धार्मिक जगत् मे जो वैचारिक क्राति की, उसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। आर्यसमाज के प्रारंभिक दिनो मे भी अनेक उत्कृष्ट ग्रथो की रचना के द्वारा स्वामी दयानद के धर्म-विषयक विचारो को प्रसारित किया गया। परंतु स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात् आर्यसमाज के साहित्य-प्रणयन के क्षेत्र मे गतिरोध आ गया। साहित्य का लेखन और प्रकाशन भी पाठक-समुदाय की योग्यता, क्षमता एवं रुचि को देखकर किया जाना चाहिए। सामान्यजनो के लिए जो साहित्य लिखा जाता है वह प्रबुद्ध लोगों के लिए उपयोगी नहीं होता। इसी प्रकार बालको, स्त्रियो, कृषको, मजदूरों, श्रमजीवियों, छात्रों आदि विविध वर्गों के लिए विविध प्रकार का साहित्य लिखा जाना आवश्यक है।

हमे यह स्मरण रखना होगा कि आर्यसमाज का धर्मांदोलन वेदो तथा तदनुवर्ती आर्ष शास्त्र-ग्रथो मे निर्दिष्ट शिक्षाओ, उपदेशो तथा प्रतिपाद्य विषयो को आधार बनाकर चला था। आज वैदिक वाड्मय की विविध विधाओं तथा उसके आनुषंगिक अगो एव उपागों का विशद् वैज्ञानिक अध्ययन विभिन्न भारतीय तथा विदेशी विश्वविद्यालयो में हो रहा है। अत आर्यसमाज का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपना एक स्वतत्र शोध-सस्थान स्थापित करे तथा उसके माध्यम से स्वामी दयानद के दृष्टिकोण को प्रमुखता देते हुए वेद, वेदांग, दर्शन, प्राचीन इतिहास आदि विषयों के ग्रथों का लेखन एव सपादन कराए। सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रश्नो एव समस्याओं में अत्यधिक उलझ जाने के कारण आर्यसमाज के विद्वानो का वैदुष्य तथा उनके चितन की प्रमुखता अभी तक विद्वत्समाज तक पहुँच नहीं पाई है। यही कारण है कि बौद्धिक समाज आर्यसमाज के प्रति प्राय उदासीन-सा रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यसमाज का धर्मांदोलन आज अनेक प्रकार की युगीन चुनौतियो से जूझ रहा है। यदि समस्याओं का सम्यक् आकलन कर उनके निदान के लिए समयबद्ध कार्यक्रम अपनाए जाएँ तो कोई कारण नहीं कि आर्यसमाज पुन· वास्तविक धर्म का ध्वजवाहक नहीं बन सकता।

आर्यसमाज ने विराट् हिंदू समाज के समक्ष उपस्थित तथा उसके विशाल ढाँचे को जीर्ण-शीर्ण करनेवाली विभिन्न सामाजिक कुप्रथाओ को दूर करने के लिए जो प्रयास किए उनका विहगावलोकन हम कर चुके हैं। यह सत्य है कि हमारा समाज आज उस मोड पर पहुँच चुका है जहाँ से वह उन्नति एवं प्रगति के मार्ग पर आगे तो बढ सकता है किंतु पीछे हटकर 16वीं शती के मध्यकाल में पहुँच जाना अब उसके बस का नहीं है। आर्यसमाज ने समाज-सुधार के क्षेत्र मे जो कार्य किए वे आज सर्वसम्मत हो चुके हैं। अब बालविवाह अतीत की वस्तु हो चुकी है, नारी-शिक्षा विवाद का विषय नहीं रहा। पर्दा और अस्पृश्यता के विचार भी समाप्त हो गए।

विधवाओं का उत्पीडन तथा नारी का तिरस्कार एव शोषण भी अतीत काल की वस्तु बन गए। तथापि अभी तक सामाजिक क्षेत्र में बहुत कुछ करणीय है।

सामाजिक कुप्रथाओ और वर्गगत सकीर्णताओ से चाहे हमें मुक्ति मिली हो, किंतु समाज मे नित नए पाखड, अनाचार, फैशन की अधी अनुकरण-प्रवृत्ति, दहेज के नाम पर भीषण शोषण और अत्याचार आदि की दुष्प्रवृत्तियाँ बढ रही है। आज यही सब आर्यसमाज के समक्ष चुनौती के रूप मे आ रहे हैं। नवयुवक वर्ग में बढनेवाली स्वेच्छाचारिता, उद्दडता, अनुशासनहीनता तथा फैशनपरस्ती को कैसे रोका जाए, यह एक बडी समस्या है। आज का जनजीवन राजनीति से प्रभाव ग्रहण करता है, किंतु आज राजनैतिक व्यक्ति जितना आचार-शून्य, कर्त्तव्य-विमुख तथा स्वार्थ-परायण है, उसे देखते हुए उससे अधिक आशा करना व्यर्थ होगा। अत आर्यसमाज का दायित्व और भी बढ जाता है, क्योंकि सार्वजनिक जीवन का शुद्धिकरण आज की प्रमुख आवश्यकता है। जो बात सामाजिक जीवन मे आचारगत मूल्यो की पुन स्थापना को लेकर कही जा सकती है, वही राजनैतिक जीवन पर भी लागू होती है।

भारत को राष्ट्रीय जागृति मे आर्यसमाज का जो शानदार योगदान रहा, उसकी एक झलक हम देख चुके हैं। परंतु यह देखकर अत्यत खेद होता है कि आज इतिहास-लेखन के जो प्रयत्न हो रहे है, उनमे जान-बूझकर आर्यसमाज के एतद्विषयक अवदान को घटाकर दिखाया जाता है। राजनैतिक जीवन मे जो भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, कुनबापरस्ती, सिफारिश तथा रिश्वतखोरी का बोलबाला आज दिखाई दे रहा है, उसके उन्मूलन मे यदि आर्यसमाज किसी न किसी रूप मे कारगर हो सके तो यह उसकी एक बडी उपलब्धि होगी, किंतु उसके लिए उसे नैतिक मूल्यो की पुन स्थापना का एक जोरदार अभियान चलाना होगा। यह भी सत्य है कि हमारी आज की सभी राजनैतिक सस्थाएँ इतनी दूषित तथा भ्रष्ट हो चुकी है कि उनसे कोई आशा नहीं की जा सकती। आर्यसमाज ने अपने अतीत काल मे नैतिक उच्चता के जो मानदड स्थापित किए थे उन्हीं को स्मरण कर हम यह आशा कर सकते हैं कि यदि आज के दूषित, विकृत तथा भ्रष्ट सार्वजनिक जीवन को पुन स्वच्छ बनाने का सकल्प आर्यसमाज के नेता यथा अनुयायी कर ले, तो इसमे उन्हे निश्चय ही सफलता मिलेगी। आर्यसमाज की राष्ट्र के वर्तमान जीवन मे एक अन्य भूमिका यह भी हो सकती है कि साप्रदायिकता के विष ने जिस प्रकार हमारे प्रशासन-तत्र को विषाक्त बनाया है, उसे दूर किया जाए। हम नाम तो लेते है धर्मनिरपेक्षता का, किंतु धर्म के नाम पर नाना पाखडों, मिथ्या कर्मकाडो तथा विद्वेषमूलक धारणाओ का प्रचार करते हमें किंचित् मात्र भी लज्जा नहीं आती। आर्यसमाज की दृष्टि मे कोई भी राज्य सप्रदाय अथवा मत निरपेक्ष तो हो सकता है, किंतु धर्म के शाश्वत मूल्यो की उपेक्षा करने से कोई लाभ नहीं होगा। आर्यसमाज इस सबध मे राजा और प्रजा का सही मार्गदर्शन कर सकता है।

राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार के लिए आर्यसमाज ने जो कार्य किया वह तो इतिहास का एक अमर पृष्ठ बन ही चुका है, किंतु देश के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् भी हिंदी को जो उसका वास्तविक स्थान नहीं मिल पाया, यही हमारे लिए चिंता का विषय है। राजभाषा के संबंध मे जो आज सरकार की स्थिति तथा अन्यमनस्कता है, उसे देखते हुए तो यह आशा नहीं की जा सकती कि निकट भविष्य मे अखिल राष्ट्र की संपर्क-भाषा तथा सरकारी कामकाज की अधिकृत भाषा के रूप मे हिंदी अपना स्थान ग्रहण कर लेगी। अत आज राष्ट्रभाषा-आदोलन को पुन प्राणवान् बनाकर गति देनी होगी। हमे अब प्रांतीय भाषाओं के संबंध मे भी अपना मत निश्चित करना होगा, क्योकि हमारा विरोध विदेशी भाषा अग्रेजी से तो है, किंतु अपने ही देश की क्षेत्रीय भाषाओ से नहीं। यह एक सुनिश्चित बात है कि आज भारत के विभिन्न राज्यो का राजकाज तत्-तत् प्रांतो की भाषाओ मे चलाए जाने के प्रयत्न हो रहे हैं। अत समुचित यही होगा कि हम भी अपने साहित्य को प्रांतीय भाषाओं के माध्यम से प्रकाशित करने के लिए सचेष्ट हो। 'सत्यार्थप्रकाश' तथा ऋषि दयानंद के अन्यान्य ग्रथो का अनुवाद यो तो अनेक स्वदेशी एव विदेशी भाषाओ में हो चुका है, किंतु अब प्रचारात्मक साहित्य भी क्षेत्रीय भाषाओ मे लिखा जाना आवश्यक है। उधर संस्कृत के प्रचार-प्रसार मे आर्यसमाज को एक बार पुन जुट जाना होगा, क्योकि इसी भाषा ने आर्य मनीषा को अभी तक जीवित रखा है और यही भाषा आर्यों के उत्कर्ष, गौरव तथा अस्मिता का प्रतीक रही है।

आर्यसमाज आदोलन की वर्तमान स्थिति तथा उसके मार्ग को अवरुद्ध करनेवाली परिस्थितियो का सिहावलोकन करने के पश्चात् हमे देखना होगा कि भविष्य के लिए हमारा दिशाबोध कैसा और किस प्रकार हो जिससे कि हम इस गौरवमय संस्था को सम्मान और आदर की उसी उच्च वेदी पर पुन प्रतिष्ठित कर सके जहाँ वह पहले थी। इस संबंध में हमारे कुछ रचनात्मक सुझाव हैं जिन्हे संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

आर्यसमाज मूलत एक धार्मिक संस्था है जो विश्व-मानव के समक्ष धर्म का वास्तविक स्वरूप तथा उस पर आचरण करने का संदेश देती है। वर्तमान परिस्थिति मे उचित होगा कि (1) वैदिक धर्म के मौलिक मतव्यो को सारगर्भित, सरल और बोधप्रद भाषा मे जनता के सामने प्रस्तुत किया जाए। (2) अन्यान्य मत-संप्रदायों की तिक्त एव कटु शैली में आलोचना करने की अपेक्षा वैदिक धर्म के उदात्त स्वरूप को ही ओजस्विनी और गरिमा-मंडित शैली में उपस्थित किया जाए। (3) प्रचलित अंधविश्वासो और हानिकर रूढियो के व्यष्टिगत एवं समष्टिगत दुष्परिणामो को उजागर अवश्य किया जाए तथा उनकी अवैज्ञानिकता एव उनसे उत्पन्न हानियो से लोगो को परिचित कराया जाए।

जहाँ तक सामाजिक समस्याओं का प्रश्न है इस संबंध मे आर्यसमाज निम्न कार्य कर सकता है ·

(1) जन्माधारित जाति-प्रथा के दोषो को प्रकट करते हुए गुण, कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के महत्त्व को प्रतिपादित किया जाना चाहिए। आर्य बिरादरी की चर्चा तो भूतकाल में भी हुई थी, किंतु वास्तविक 'आर्यसमाज' के निर्माण का कार्य नहीं हो सका। आज आर्यसमाज मंदिर मे तो हम आर्य हैं, किंतु वहाँ से बाहर निकलते ही खत्री, कायस्थ, अग्रवाल, जाट और स्वर्णकार हो जाते हैं।

(2) अस्पृश्यता को समाप्त करने तथा दलित जातियों, वनवासी समाज तथा पिछडे वर्ग के उत्थान का रचनात्मक कार्यक्रम बनाना आवश्यक है। आज इन वर्गों के लोगो को संसद तथा विधानसभाओ में आरक्षित स्थानों पर बिठाना तथा सरकारी सेवाओ में आरक्षित स्थान दिलाना ही आवश्यक नहीं है, आवश्यकता इस बात की है कि इस वर्ग में प्रचलित बुराइयों से इन्हे पृथक् कर सभ्यसमाज का अग बनाने हेतु प्रयत्न किए जाने चाहिए।

(3) नारी-समाज में सास्कृतिक जागरण लाना आवश्यक है। यों तो भारतीय नारी-शिक्षा, जीविकोपार्जन तथा अन्य क्षेत्रो मे पुरुष वर्ग के समक्ष आ गई है, किंतु इन्हीं कारणो से उनमें जो पश्चिम की अनुकरणवृत्ति, फैशनपरस्ती तथा आधुनिका (Ultra Modern) बनने की प्रवृत्ति पनपने लगी है, उसे दूर कर भारतीय नारी की गरिमा प्रदान की जानी चाहिए। इसके लिए नारी के समक्ष भारतीय सस्कृति का गरिमापूर्ण चित्र उपस्थित किया जाना चाहिए।

(4) सामाजिक कुरीतियो के उच्छेदन के लिए अत्यत जागरूकता के साथ प्रयास किए जाने चाहिए। विवाह तथा अन्य समारोहों मे भारी अपव्यय, दहेज आदि का आग्रह, नवयुवा वर्ग में मदिरा तथा अन्य मादक पदार्थों का सेवन, धूम्रपान की बढती हुई प्रवृत्ति के निवारण के लिए सशक्त अभियान चलाने आवश्यक है। इन कार्यक्रमो मे युवा पीढी का सहयोग लेना भी आवश्यक है।

(5) सर्वोपरि बात तो चरित्र-निर्माण की है। हमे यह स्मरण रखना होगा कि आर्यसमाज के प्रारंभिक युग के आर्यपुरुषो को जो सफलता मिली, उसका प्रमुख कारण उनका उदात्त एव आदर्श चरित्र ही था। एक आर्य की साक्षी से ही न्यायाधीश को अपना निर्णय देने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। आज का नागरिक चरित्र-सकट से ग्रस्त है। इसे उबारना ही राष्ट्र की सबसे बडी सेवा है।

जहाँ तक राजनैतिक क्षेत्र मे देश को मार्गदर्शन देने का प्रश्न है, आर्यसमाज को यह स्मरण रखना होगा कि भारत मे प्रजातात्रिक पद्धति की चर्चा का सूत्रपात सर्वप्रथम स्वामी दयानद ने ही किया था। उन्होने आर्यसमाज के विधान को भी प्रजातत्र का आधार प्रदान किया तथा अपने राजनैतिक विचारों की मीमासा करते समय यह स्पष्ट कर दिया कि एकतंत्री शासन की अपेक्षा जन-भावनाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाला उत्तरदायी शासन कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। परंतु आज की राजनीति मे छल, कपट, धूर्तता तथा चरित्र-प्रणाली चाहे कितनी ही अच्छी तथा श्रेयस्कर क्यों न हो, वह कदापि सफल नहीं हो सकती, यदि हम उसका दुरुपयोग

करने पर उतारू हो जाएँ। आर्यसमाज स्वयं भी प्रजातंत्र के दुरुपयोग के परिणाम भोग रहा है। आज हमारी सभाओ में विद्वान, बुद्धिमान और विचारशील व्यक्ति की अपेक्षा उसी व्यक्ति का आदर होता है जो अपने पक्ष में अधिक से अधिक लोगों का समर्थन जुटा लेता है। यही कारण है कि आज आर्यसमाज में त्यागी, तपस्वी, सन्यासियो की अपेक्षा गुटबंदी करनेवाले नेताओं का ही प्राधान्य है।

दूसरी बात और भी महत्त्वपूर्ण है। हमें आर्यसमाज को शासक दल या अन्य किसी राजनैतिक दल का दुमछल्ला नहीं बनाना है। प्राय देखा गया है कि हम अपने सम्मेलनों, उत्सवों और समारोहों में राजनीतिज्ञों, मंत्रियो तथा प्रशासकों की उपस्थिति से अधिक प्रसन्नता अनुभव करते हैं। मंत्रियों के स्वागत-सत्कार में कभी-कभी तो इतने मग्न हो जाते हैं कि हमें अपने ही विद्वानों और संन्यासियो को यथोचित आदर करने का भी ध्यान नहीं रहता। हमें स्मरण रखना होगा कि आर्यसमाज ने सच्चे ब्राह्मण-समाज के मार्गदर्शन का कर्त्तव्यभार ग्रहण किया है। वह उन राजनीतिज्ञों और स्वार्थी पार्टीबाज व्यक्तियों का पिछलग्गू नहीं हो सकता, जिनके लिए येन-केन प्रकारेण सत्ता प्राप्त करना ही अंतिम लक्ष्य होता है। इसलिए आर्यसमाज को चाहिए कि वह अपने आचरण एव उपदेश के द्वारा राजनैतिक जीवन में उच्चतर मूल्यों की स्थापना के लिए प्रयत्न करे। राजनैतिक भ्रष्टाचार, शोषण और अत्याचार को रोकने के लिए यदि उसे सत्याग्रह तथा बलिदान भी करने पडे, तो इसके लिए उसे तत्पर रहना चाहिए।

आज का युग अर्थप्रधान है। उन्नीसवीं शताब्दी के महान तत्त्वचिंतक तथा स्वामी दयानद के समकालीन कार्ल मार्क्स ने अर्थ को ही मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों का मूल तथा उसकी गतिविधियों का केंद्रबिंदु बताया था। प्राय लोगो को आर्यसमाज से यह शिकायत रही है कि उसने अपनी आर्थिक नीतियो को कभी स्पष्ट रूप से लोगों के समक्ष नहीं रखा। आज के युग में पूँजीपति तथा श्रमिक वर्ग का संघर्ष, आर्थिक दृष्टि से पीडित एव शोषित वर्ग की हितरक्षा, बृहत् उद्योगो का राष्ट्रीयकरण आदि ऐसी समस्याएँ हैं जिनके बारे में आर्यसमाज को अपना स्पष्ट मत बनाना चाहिए। नीतिज्ञ विदुर ने आर्थिक समस्याओ के समाधान मे एक सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहा था कि जो व्यक्ति धनोपार्जन करके भी लोकहित मे व्यय नहीं करता वह समाज में रहने का भी अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी दरिद्रता का तो ढोल पीटता है, किंतु श्रमकणों से अपने शरीर को सिंचित नहीं करता, अर्थात् परिश्रम नहीं करता, वह भी समाज मे जीने का अधिकार नहीं रखता। इस प्रकार दान और परिश्रम के समन्वय से ही आर्थिक स्थितियों को अनुकूल बनाया जा सकता है।

आर्यसमाज को समयानुसार अपनी प्रचार-प्रणाली मे भी परिवर्तन करना चाहिए। जो प्रचारक ग्रामीण जनता के हित की बात कह सकता है वह नागर जनों के लिए भी उपयोगी हो, यह आवश्यक नहीं है। अत प्रचार-प्रणाली में देश, काल,

पात्र और परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन करना ही होगा। नगरों में जो व्याख्यान आयोजित किए जाएँ, उनमें वकील, डाक्टर, प्राध्यापक, छात्र, पत्रकार आदि विभिन्न व्यवसायो के प्रबुद्ध लोगों को आमत्रित किया जाना चाहिए। व्याख्यानदाताओं को इस बात की हिदायत दी जानी चाहिए कि वे अपने विषय को पूर्ण तैयारी के साथ प्रस्तुत करें। व्याख्यानों में मंडनात्मक शैली को स्वीकार करते हुए भी अधविश्वासों, पाखडों तथा मिथ्याचारों पर चोट करने में सकोच नहीं करना चाहिए। वैदिक राजनीति, वैदिक अर्थनीति और वैदिक समाजनीति की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत किए जानेवाले व्याख्यानों को वरीयता देनी चाहिए। प्रचार मे सगीत का महत्त्व निर्विवाद है। उच्च कोटि के शिक्षाप्रद भजनों को संगीत की विविध राग-रागिनियों के माध्यम से प्रस्तुत कर श्रोताओं को रससिक्त एव आनंद-विभोर किया जा सकता है। गान और व्याख्यान को एक साथ प्रस्तुत करना अधिक लाभप्रद नहीं होता, इसका ध्यान रक्खा जाना आवश्यक है।

उपदेश-प्रणाली मे यथेच्छ सुधार एवं परिवर्तन तो तभी आ सकता है जबकि आर्यसमाज में उपदेशकों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था हो। यह स्मरणीय है कि आर्यप्रतिनिधि सभा पजाब ने दयानंद उपदेशक विद्यालय के द्वारा जिन उपदेशको को प्रशिक्षित किया, अथवा उससे भी पूर्व पं भोजदत्त आर्य मुसाफिर ने आगरे में आर्य मुसाफिर विद्यालय के सचालन के द्वारा शास्त्रार्थ-विद्या-निष्णात, तार्किक, वाग्मी तथा विभिन्न मत-सप्रदायो के विशेषज्ञ उपदेशक तैयार किए, उसी प्रकार के उपदेशको का शिक्षण होना आवश्यक है। इसमें हमें ईसाई प्रचारकों की कार्य-पद्धति को भी देखना होगा।

आर्यसमाज ने अपने अतीत काल में जो लोकप्रियता अर्जित की थी, उसका एक प्रमुख कारण था जनसेवा। महामारी, भूकप, दुष्काल आदि आकस्मिक विपदाग्रस्त लोगों को उबारने के लिए आर्यसमाज के दीवानों ने सेवाधर्म का जैसा प्रदर्शन किया, उसी के कारण जनता इसकी ओर आकृष्ट हुई थी। आज उसी सेवा-भावना को पुन: जागृत करना आवश्यक है। कतिपय अन्य सुझाव संकेत रूप मे ही दिए जाते हैं

1 हमें अपने साप्ताहिक और वार्षिक अधिवेशनों को अधिक रोचक, उपयोगी तथा लोकप्रिय बनाना होगा।

2 आर्यसमाज मदिरों को स्वच्छ, सुंदर, आकर्षक तथा रम्य बनाना चाहिए, ताकि वहाँ जाने मात्र से ही लोगो में धर्म एवं आध्यात्मिकता के उच्च भाव जागृत हो सकें।

3 आर्यसमाज के वाणप्रस्थ एवं सन्यासी वर्ग को संगठित कर सेवाकार्य में नियोजित किया जाए।

4. वैचारिक क्राति के लिए स्तरीय साहित्य का प्रकाशन हो तथा शोध-संस्थानों के द्वारा दयानद के विचारो तथा उनके क्रातिकारी दर्शन पर अनुसंधान कार्य

कराए जाएँ।

5. युवाशक्ति को आर्यसमाज की ओर आकृष्ट करने के लिए तदनुरूप कार्यक्रम आयोजित किए जाएँ। एतदर्थ आर्यकुमार सम्मेलन के आंदोलन को पुनरुज्जीवित करना तथा उसी के माध्यम से धार्मिक परीक्षाओं का संचालन किया जाना चाहिए।

6. यज्ञों, सस्कारों और पर्वों को पूर्ण शालीनता तथा शास्त्रीय विधि के अनुसार सपन्न करना चाहिए, ताकि उसका प्रभाव दर्शक वर्ग पर भी पडे।

उपर्युक्त पक्तियो मे हमने आर्यसमाज के अतीत और वर्तमान की ओर देखने का प्रयास तो किया ही है, साथ ही उसके भविष्य के लिए कुछ समयोचित सुझाव भी दिए हैं। इन्हे समुचित विचार के पश्चात् क्रियान्वित किया जाना चाहिए।

दयानंद सरस्वती के सिद्धांत–समय की कसौटी पर

किसी भी महापुरुष के विचारो का अध्ययन उसके जीवनयापन की प्रणाली, शिक्षा, सस्कार तथा उसके मानस पर पडे प्रभावो की पृष्ठभूमि में किया जाना ही समीचीन होता है। इस दृष्टि से दयानंद जैसे युगपुरुष एवं विश्वमानव की विचार-सपत्ति की विवेचना आरभ करने से पूर्व यह ध्यान रखना होगा कि उन्होंने अपने जीवन का बहुलाश एक संन्यासी के रूप में व्यतीत किया था। वे सांसारिक मोहजालो से सर्वथा मुक्त होकर निर्द्वंद्व भाव से विचरने में ही अपने जीवन की सार्थकता नहीं समझ बैठे, कितु वह ऐसे व्यक्ति थे समष्टि हित तथा समस्त प्राणिवर्ग के मगल-विधान के लिए ही पदे-पदे चिंतित रहते थे, व्याकुलता प्रकट करते थे तथा अशेष जन-समाज की पीडा, दुख एव कष्टों के निवारण के लिए सतत प्रयत्नशील भी रहते थे।

दयानद सरस्वती का जन्म भारत के एक ऐसे ब्राह्मण परिवार मे हुआ था जो अपनी धार्मिक आस्थाओ एवं सामाजिक विधि-विधानो की परंपरानुमोदित व्यवस्थाओ के कठोरतापूर्वक पालन में ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझता था। उनका शैशवकालीन पालन-पोषण तथा प्रारंभिक शिक्षा भी परंपरागत ढंग से हुई, जिसमे साप्रदायिक विश्वासों को यथावत् ग्रहण करने तथा पूजा-उपासना के रूढिबद्ध इतिकर्त्तव्यो के कडाई से पालन पर ही निरंतर जोर दिया जाता था। तथापि इसे चमत्कार ही कहा जाएगा कि मध्यकालीन धर्म एवं आस्थाओं के जटिल, संकुल वातावरण मे जन्म लेकर व पलकर भी दयानंद सरस्वती इन्हीं क्षेत्रों में सर्वाधिक क्रातिकारी तथा प्रबुद्ध चितन को उत्पन्न करने में सफल हो सके।

दयानद का जन्म उस युग में हुआ जबकि भारत का जन-मानस पश्चिम की विद्या, बुद्धि, विज्ञान एवं तर्कयुक्त चिंतन के संपर्क में आकर यह समझ पाने मे असमर्थ हो रहा था, कि इस नव-चेतना को वह किस रूप में व किस प्रकार ग्रहण करे। क्या पश्चिमी जीवन-पद्धति को समग्रतः अंगीकार कर लेना उसकी निजी अस्मिता एवं पहचान की समाप्ति की घोषणा तो नहीं होगा ? कुछ इसी प्रकार के

सकल्प-विकल्प भारतीय मानस को झकझोर रहे थे, उद्वेलित कर रहे थे। भारतीय नव-जागरण का आरभ तो दयानंद के जन्म की तिथि के आस-पास से ही माना जा सकता है, जबकि आधुनिक भारत के पितातुल्य राममोहन राय धर्म, समाज तथा देश के व्यापक सदर्भों में विभिन्न सुधारवादी चेष्टाओं में संलग्न थे। इतिहासकारों ने दयानंद के विचारों, कार्यों तथा उनकी उपलब्धियों को भी भारतीय नव-जागरण के इतिहास से जोडा है। आपातत इसमें कोई आपत्ति जैसी बात नहीं है, किंतु यह ध्यान रखना होगा कि पुनरुत्थान के अन्य ज्योतिर्धरों एवं उन्नायकों ने जहाँ पश्चिमी शिक्षा, यूरोपीय चिंतन तथा विचारधाराओं से प्रेरणा ग्रहण की, वहाँ दयानंद को पश्चिम का, किसी भी प्रकार से संस्पर्श तक प्राप्त नहीं था। वे जिस पारिवारिक वातावरण में पले, सामाजिक वातावरण में बढे तथा परंपरागत संस्कृतशास्त्रों के अध्ययन करने का उन्हें जैसा अवसर मिला, उससे पश्चिमीकरण का लेशमात्र भी संपर्क नहीं था। अतः दयानंद के उदाहरण से ही हमें पश्चिमी संस्कृति के रंग में रँगे उन लोगों द्वारा प्रचारित इस मिथ को तोड देना होगा कि भारत के जन-जागरण का एकमात्र श्रेय, अग्रेजी शिक्षा एवं पश्चिमी विचारधारा के प्रचलन को ही है। यह भी एक संयोग ही था कि दयानद को छोडकर राममोहन राय से लेकर गाँधीपर्यंत नवोत्थान के नेता अंग्रेजी शिक्षा एव रीति-नीति से सुपरिचित थे। अकेले दयानंद ही एक ऐसे अपवाद हैं, जो सर्वप्रकारेण पुरातन संस्कृतशास्त्रों में निष्णात होकर भी सर्वथा प्रगतिशील, सामयिक तथा समाज की उन्नति के मार्ग पर ले चलने मे समर्थ कार्यक्रम प्रस्तुत कर सके।

इसी संदर्भ में दयानद के वेद-विषयक विचारों से परिचित होना सर्वथा उचित माना जाएगा। दयानंद वेद को ज्ञान का पर्याय मानते हैं और उनकी दृढ धारणा है कि सृष्टि के प्रारंभ काल में ही मनुष्य को कोई ऐसा ज्ञान अवश्य प्राप्त हुआ था, जो देश, काल एवं व्यक्ति-निरपेक्ष होने के कारण निखिल मनुष्य समाज के लिए उपयोगी, लाभप्रद तथा उन्नति का हेतु था। इसी मूल धारणा को लेकर वे भारत के बृहत्तर आर्यसमाज में प्रचलित इस विचार की सोपपत्तिक मीमांसा प्रस्तुत करते हैं कि मनुष्य मात्र के हित की दृष्टि से प्रदत्त ऐसा ज्ञान वस्तुत ईश्वरीय ज्ञान ही हो सकता है, उसे किसी पुरुष-विशेष की कृति नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि सहस्राब्दियों प्राचीन इस ज्ञान की गरिमा को आज हम विस्मृत कर बैठे हों।

दयानद ने अपने वेद-विषयक विचारों को स्वकीय ग्रंथों मे अनेक स्थानो पर न केवल सूत्रित ही किया है, किंतु अनेकत्र उनकी विशद् व्याख्या एवं विवेचना भी की है। उन्होने वेदों की नित्यता, अपौरुषेयता तथा उनके सर्वज्ञानमयत्व की स्थापना उसी प्रकार की है, जो भारतीय परपराओं में सर्वथा अनुमोदित एवं स्वीकृत रही है। तथापि दयानद की वेद-विषयक व्याख्या एवं विवेचना को ही इस बात का श्रेय है कि वेदों पर किए जानेवाले आक्षेपो एवं आपत्तियो का सतर्क उत्तर भी इसी

प्रकार की व्याख्या-प्रणाली से दिया जाना संभव है। यहाँ किंचित् विस्तार में जाकर दयानंद के वेद-विषयक विचारों की आलोचना करना अनुपयुक्त न होगा।

दयानंद ने वेद के नित्यत्व, अपौरुषेयत्व अथवा ईश्वर-कर्तृव्य आदि से संबंधित जो विचार प्रस्तुत किए, उनसे मोटे तौर पर भारतीय परंपरा के किसी भी वेदार्थ-चिंतक अथवा वेदाभ्यासी विद्वान की असहमति नहीं है। तथापि प्रायः यह आक्षेप किया जाता रहा है कि दयानंद की वेदार्थ-प्रणाली उन भाष्यकारों द्वारा मान्य पद्धति को स्वीकार कर नहीं चलती, जिसका अनुसरण करते हुए भाष्यकार सायण आदि ने वेदभाष्य लिखे हैं। परंतु यहाँ भी दयानंद के विचारों में किसी प्रकार का कोई दुराव, छिपाव या विप्रतिपत्ति नहीं हैं। वे यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सायणादि के भाष्य तो उस युग में लिखे गए थे जबकि वेदार्थ-चिंतन की सर्वाधिक प्राचीन-प्रणाली, जो स्वयं वेद के रचनाकाल के अत्यंत निकट की रही होगी, प्रायः नष्ट ही हो गई थी तथा उस युग में भाष्यकार यह मानकर चलता था कि वेदमंत्रों की रचना किसी न किसी कर्म-विशेष की सिद्धि के लिए ही हुई है। यह भी कि कर्म-विशेष का सकेत देने तथा उनकी कार्यविधि को बतलाने के अतिरिक्त उस मत्र का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है।

दयानंद इस प्रकार के याज्ञिक अर्थों को पूरे तौर पर चुनौती भी नहीं देते। वेद मनुष्य के लिए हितकारक कर्मकांड के प्रयोजक हैं, मंत्रों का विनियोजन मानव-कल्याण के लिए किए जानेवाले क्रियाकांडों से होना चाहिए, इस धारणा से सिद्धांततः सहमत होते हुए भी वे यह स्वीकार नहीं करते कि मंत्रों की रचना या उनका दर्शन, मात्र कर्मकाड की सिद्धि के लिए ही हुआ था। उनकी धारणा है कि यदि वस्तुतः वेदों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में हम स्वीकार करते हैं तो उनमें प्रतिपादित विचार नितांत उदार, व्यापक, प्राणिमात्र के लिए हितकारक तथा सन्मार्ग-प्रेरक होने चाहिए। इसी आधार पर वे वेदमंत्रो के मुख्यतः पारमार्थिक तथा व्यावहारिक, अन्य शब्दों में आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक और विभिन्न विद्या-तत्त्वों के प्रतिपादित अर्थों के पक्षपोषक हैं।

दयानंद के वेदार्थ-चितन मे अनेक युगांतकारी विचार एवं धारणाएँ प्रतिफलित हुई हैं। उन्होंने वेदवादियों मे प्रचलित इस धारणा का प्रबल खंडन किया कि मत्र-सहिताओं की ही भाँति ब्राह्मण-ग्रथों को भी वेद संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। चाहे मध्यकाल के सूत्रकारों तथा वेदाभ्यासियो में यह विचार बद्धमूल ही क्यों न रहा हो कि मंत्रों के ही तुल्य ब्राह्मण भाग का भी प्रामाण्य स्वीकार किया जाना चाहिए, किंतु दयानंद अपनी सुचिंतित विचारसरणि के आधार पर यह स्पष्ट कर देते हैं कि मंत्र भाग को एक ही स्तर पर नहीं रखा जा सकता। निश्चय ही ब्राह्मण-ग्रंथ वेदों के व्याख्यान होने से वेदार्थ के मुख्य सहायक ग्रंथों की कोटि में तो अग्रणी स्थान रखते हैं, किंतु मनुष्य-बुद्धि-रचित होने से उनका महत्त्व वेदों से न्यून ही होगा। इस प्रकार वेद संज्ञा का पुनर्निधारण कर दयानंद ने वैदिक

अध्ययन को एक नवीन दिशा प्रदान की।

जब हम यह मान लेते हैं कि वेदो का प्रणयन या वेद-ज्ञान का प्रकाश मानव जाति के व्यापक हित की दृष्टि से किसी अद्वितीय सत्ता ने किया है, तो इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकार भी मनुष्य मात्र को स्वतः ही मिल जाता है। यह एक विडंबना ही थी कि जिस वेदज्ञान का दर्शन और प्रचार विभिन्न वर्गों, वर्णों, लिंगो तथा श्रेणियों के लोगों ने किया तथा मंत्रो मे निहित शिक्षाओं को मनुष्य मात्र के लिए हितकारी माना उसी वेद के अध्ययन, चिंतन तथा मनन पर मध्यकाल की प्रतिगामी शक्तियों ने नाना प्रकार के प्रतिबध लगा दिए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वेदाध्ययन पर इस प्रकार के प्रतिबंध मध्यकाल के उसी तमसाच्छन्न युग मे लगाए गए थे, जबकि वेदो को वर्गविशेष की सपत्ति समझा गया तथा अन्य वर्ग या वर्ण के लोगों को उससे वंचित कर दिया गया। दयानंद जैसे उदारभावापन्न एवं मनुष्य मात्र की एकता में विश्वास रखनेवाले महापुरुष के लिए तो यह स्वाभाविक ही था कि वे वेदाध्ययन पर लगे प्रतिबधो का डटकर विरोध करते तथा इस दैवप्रदत्त 'कल्याणी वाणी' के अवरुद्ध प्रवाह को लोकहित की दृष्टि से खोल देते।

दयानद से पूर्व का वैदिक चिंतन कितना रूढिबद्ध, जड तथा विवेकबुद्धि-रहित हो गया था, इसके विषय में तो इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि यों तो मध्यकालीन सभी दार्शनिकों, मीमासकों तथा धर्माचार्यों ने वेद के नित्यत्व, ईश्वर-कर्तृत्व तथा उसके सर्वोपरि प्रामाण्य की स्थापना मे अपनी सूक्ष्मतम बौद्धिक शक्तियों को भी लगा दिया था, परंतु जिन वेदो की प्रामाणिकता का वे इतनी दृढता से समर्थन कर रहे हैं, स्वय उन वेदो में क्या कुछ लिखा है, पाठक-समुदाय के लिए उसका क्या उपयोग है, इससे वे नितात अनभिज्ञ ही रहे। दयानंद के वेद-विषयक मतव्यों की सर्वोपरि विशेषता यही है कि वे इन्हे न केवल सत्य विद्याओ का ग्रंथ ही घोषित करते है, अपितु उनका अध्ययन, अध्यापन, पठन-पाठन एवं मनन-चितन मानव जाति के लिए नितांत उपयोगी तथा आवश्यक है, यह भी घोषित करते हैं। दयानद के काल में ही पश्चिमी विद्वानों का ध्यान भी वेदों की ओर आकृष्ट हो चुका था। अनेक यूरोपीय विद्वान् वेदों के अध्ययन, वेद-विषयक ग्रथो के लेखन, वेदों के पाठ-सपादन आदि कार्यों मे लगे हुए थे। यद्यपि दयानंद किसी भी यूरोपीय भाषा की अभिज्ञता नहीं रखते थे, तथापि वे येन-केन प्रकारेण वेदाभ्यास की इस पाश्चात्य प्रणाली से अपने को परिचित रख रहे थे। तुलनात्मक भाषाविज्ञान, नृतत्वविज्ञान, समाजशास्त्र तथा देवगाथावाद के आधार पर पश्चिमी वेदज्ञों का वेदाध्ययन-विषयक यह प्रयास चाहे उनके विद्या-व्यासग को कितना ही सूचित करे, यह भी स्पष्ट है कि इन नवीन प्रणालियों से वेद के हार्द को समझना उनके लिए सभव न था। दयानद ने पाश्चात्य विद्वानों के वेद-विषयक कार्यों का मूल्यांकन कर यह सुविचारित निर्णय दिया कि इन वेदज्ञों का वेदाध्ययन तो अभी

प्रारंभिक स्थिति में ही है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अपने सहज ज्ञान तथा ऋतुंभरा प्रज्ञा के बल पर वेदमहोदधि का मंथन कर जिन रत्नों को अनायास ही प्राप्त कर लिया था, उन्हे प्राप्त करने में तो इन्हें बहुत समय लगेगा।

यह तो सत्य है कि अनेक कारणों से दयानंद द्वारा अन्वेषित वेदार्थ पद्धति को यथोचित मान्यता तथा आदर प्राप्त नहीं हुआ। इसमें जहाँ पश्चिमी वेद-विदों द्वारा आविष्कृत वेदार्थ की प्रणालियों का अंधानुकरण करनेवाले भारतीय विद्वानों का पूर्वाग्रह-युक्त दृष्टिकोण एक बड़ा कारण रहा है, वहाँ यह भी स्वीकार करना होगा कि भारत के वेदाभ्यासियों का दल भी परंपरागत याज्ञिक शैली की मूढ़ कारा से अपने को मुक्त नहीं करा सका है। फलत दयानंदकृत वेदार्थ को अपेक्षित प्रशस्ति प्राप्त नहीं हुई। तथापि यह निश्चित है कि वेदार्थ को स्पष्ट करने में दयानद ने जिस दिशा का सकेत किया है, अंतत उस ओर आए बिना हम संसार के इस प्राचीनतम वाड्मय के अभिप्राय को भली भाँति हृदयंगम नहीं कर सकेंगे।

धार्मिक विषयो के ऊहापोह में भारतीय परंपरा शास्त्रीय प्रामाण्य को सर्वाधिक महत्त्व देती है। इसका कारण प्राचीन ग्रथों मे मात्र विश्वास भाव ही नहीं है, किंतु हमारी यह मान्यता है कि जिन परावरज्ञ ऋषियो ने इन ग्रथों का निर्माण किया था, वे महामेधासंपन्न, विमल ज्ञान के भडार तथा लोकहित को दृष्टिपथ में रखकर शास्त्र रचना करनेवाले व्यक्ति थे। कालातर मे एक ऐसा युग भी आया, जबकि सामान्य बुद्धि के लोगो ने शास्त्रप्रणेता कहलाने की इच्छा से अनेक ग्रथों की रचना कर डाली। परवर्ती युग के इस ग्रथ-समुदाय में कहीं भी वैचारिक निर्मलता, शैली की उदात्तता तथा दृष्टिकोण की विशदता के दर्शन नहीं होते। इसके विपरीत इन ग्रंथों में मनुष्य के चिंतन की जडता, उसकी गतानुगतिक दृष्टि तथा प्रगतिशील शक्तियों को अवरुद्ध करने का मनोभाव ही प्रकट होता है। शताब्दियो के पश्चात् शास्त्र नाम से अभिहित किए जानेवाले ग्रंथों की प्रामाणिकता तथा उनकी गुणवत्ता का निर्धारण करने का अवसर उस समय आया जबकि मथुरा की संस्कृत पाठशाला में व्याकरण का शिक्षण करनेवाले एक प्रज्ञाचक्षु संन्यासी दंडी विरजानंद ने यह स्पष्ट किया कि अब समय आ गया है जबकि हमें आर्ष एवं अनार्ष शास्त्रो में भेद करना होगा और अनार्ष ग्रंथजाल से मुक्ति पानी होगी। विरजानंद ने आर्ष ग्रथो और अनार्ष ग्रंथों में विवेक करने के अनेक सूत्र प्रस्तुत किए थे, परंतु उनकी एतद्विषयक सर्वोपरि स्थापना यही थी कि आर्ष ग्रथो मे जहाँ सार्वभौम भाव परिलक्षित होते हैं, वहाँ अनार्ष ग्रथ सांप्रदायिक विद्वेष एव मताग्रह की संकीर्णता से युक्त होते हैं।

स्वामी विरजानद के आर्ष-ग्रथ-प्रमाणवाद के इसी सूत्र को लेकर दयानंद ने अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया कि धर्म, अध्यात्म, दर्शन, कर्मकांड–प्रत्येक क्षेत्र में आर्ष ग्रंथों को ही मान्यता देनी होगी, क्योंकि यही वे ग्रंथ हैं, जो सब प्रकार के सांप्रदायिक भावों से सर्वथा असंपृक्त, मानव के व्यापक हित की दृष्टि से युक्त

तथा मनुष्य के विवेक तथा बुद्धिवाद को जागृत करनेवाले हैं, जबकि अनार्ष ग्रंथो की रचना तो मनुष्य की चिंतन-शक्ति को कुंठित करती है तथा उसे मानसिक जडता, प्रतिगामिता तथा रूढिवादिता का शिकार बनाती है। देवेंद्रनाथ मुखोपाध्याय के शब्दों में, "विगत पाँच हजार वर्षों की अवधि में इस आर्य भूमि में अनेक आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ परंतु उनमें कोई भी ऋषि महर्षि-प्रवर्तित ज्ञान के पुनरुद्धार मे अपना योगदान नहीं कर सका। शंकर, रामानुज एवं मध्व आदि ने जितना परिश्रम अपने-अपने संप्रदायों के संगठन में किया उतना आर्ष ज्ञान के पुनरुद्धार में नहीं।" यह श्रेय दयानंद को ही जाता है कि संस्कृत भाषा मे निबद्ध तथा शास्त्र नाम से प्रसिद्ध विशाल ग्रंथ-समुदाय की सम्यक् परीक्षा के अनंतर उन्होने यह स्पष्ट घोषणा की—अब समय आ गया है जबकि *'बाबा वाक्य प्रमाणम्'* को छोडकर हमे आर्ष एव अनार्ष का विवेक करना होगा तथा यह देखना होगा कि वे ग्रंथ कौन-से हैं जो हमे उन्नतिगामी बनाते हैं, जो हमारी बुद्धि एवं विचारशक्ति का विकास करते हैं, हमारी मनोवृत्तियों को निर्मल एव पवित्र बनाते हैं तथा हमें अभ्युदय एव निःश्रेयस के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे ही ग्रंथ हमारे लिए पठनीय एव विचारणीय हैं। संस्कृत भाषा में लिखे होने मात्र से ही कोई ग्रथ प्रामाण्य कोटि में नहीं आ जाता।

वेद प्रामाण्य और आर्ष ग्रंथों की वरीयता का सिद्धांत स्वीकार कर लेने के पश्चात् दयानंद के लिए यह अत्यत सहज हो गया था कि धर्म के नाम पर प्रचलित उन सहस्रों मिथ्या रूढ़ियों, जटिल कर्मकांडों, अंधविश्वासो तथा मूढ धारणाओ का वे प्रबल प्रतिवाद करते, जो वैदिक धर्म मे स्वीकृत उच्च आध्यात्मिक विश्वासो, उदात्त उपासना-पद्धतियों तथा प्राणिमात्र के हित के लिए प्रवर्तित क्रियाकांडो के स्थान पर प्रचलित हो गए थे।

दयानंद के द्वारा किए गए धर्म के नाम पर प्रचलित मिथ्या विश्वासों के प्रबल खंडन को लक्ष्य में रखकर प्रायः लोग उन्हें संकुचित दृष्टियुक्त, अनुदार भावापन्न, अन्य संप्रदायों के प्रति द्वेषबुद्धि रखने जैसे लांछन भी लगा बैठते हैं। निश्चय ही दयानंद ने जिसे असत्य समझा, जिसे अन्याययुक्त माना तथा जिसे अधर्म कहा, उसका तीव्र खंडन करने मे उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। परतु उनका यह खंडन-कुठार उसी वस्तु या विचार पर गिरता था, जो मानव जाति के लिए हानिकारक, उसकी एकता का विनाशक तथा पतन की ओर ले जानेवाला होता था। (खेद है कि खंडन-मडन में प्रयुक्त दयानंद की तथ्यपूर्ण, तथा साथ ही बिना किसी लाग-लपेटवाली भाषा के अभिप्राय को न समझकर उन्हें कटुभाषी, खंडन-पटु आदि न जाने क्या-क्या कह दिया जाता है) खंडन-मंडन की प्रयोजनीयता का उल्लेख करते हुए दयानन्द ने अपने विख्यात ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' की भूमिका तथा इसके उत्तरार्द्ध के प्रत्येक अध्याय के आरंभ में लिखी गई अनुभूमिकाओं में यह स्पष्ट कर दिया कि उनका मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं, वे-वे सबमें अविरुद्ध होने से, उनको स्वीकार करके

जो-जो मत-मतातरो में मिथ्या बाते हैं, उनका खडन किया है। वस्तुत दयानद की दृष्टि मे धर्म तो एक ही है। ऐसा धर्म जो वस्तु का स्वभाव होने के कारण अखडनीय ही होता है। अत धर्म का तो खडन हो ही नहीं सकता। दयानद ने तो विभिन्न सप्रदायों मे प्रचलित अधविश्वासों, युक्ति, तर्क एवं विज्ञान के विरुद्ध उन मिथ्या धारणाओं का ही खडन किया है, जो मत-संप्रदायों के अनुयायियों मे पारस्परिक द्वेष एव फूट का सचार करती हैं। अत. दयानंद को अन्य मतों के प्रति असहिष्णु कहना अन्यायपूर्ण है। दयानंद ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे प्रथम दृष्टि में ही किसी सप्रदाय-विशेष के ग्रथ को आलोचना की दृष्टि से नहीं देखते, अपितु उसके गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन करने के पश्चात् ही उनके सबध में अपनी धारणा बनाते हैं। सप्रदायो मे पाए जानेवाले दोषों को प्रकाशित करने का उनका लक्ष्य भी यही होता था कि लोग सत्य एव असत्य का निर्णय करे ताकि सच्चाई को ग्रहण करने तथा मिथ्या को त्यागने का वे सामर्थ्य प्राप्त कर सकें। इसी अभिप्राय को उन्होने अन्यत्र भी व्यक्त किया है।

दयानद द्वारा किए गए खंडन-मडन के पीछे उनके दृष्टिकोण की विवेचना के प्रसग मे डॉ रघुवश को पुन उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा। उनके शब्दो मे, "स्वामी दयानद ने सत्य धर्म एक ही माना है और उनकी दृष्टि मे वह धर्म वही हो सकता है जो श्रेष्ठ मानव-मूल्यो की रचनात्मक प्रक्रिया को गतिशील रखने मे सक्षम हो सके। बाद के समन्वयवादियो और अतर्राष्ट्रीयतावादियो ने दयानद को कट्टरपथी और खडन-मडन करनेवाले सुधारक के रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, परतु वस्तुस्थिति यह है कि उनके जैसा उदार मानवतावादी नेता दूसरा नहीं रहा है।"

दयानद से एक शिकायत ईसाई तथा मुसलमान वर्ग के उन लोगो को भी रही, जो उनके खडन-मडन के पीछे निहित भाव को समझने में असमर्थ रहे थे। उन्होंने यह समझने का यत्न नही किया कि दयानद का सबसे अधिक विरोध तो धर्म के नाम पर व्यवसाय करनेवाले पंडे-पुजारियो, महतो और मठाधीशो से था। दयानद ने यदि इस्लाम और ईसाइयत की आलोचना की, तो इसलिए नहीं कि वे उन्हें भारत से इतर देशो मे उत्पन्न सेमेटिक विचारधारा का वाहक समझते थे, अपितु उनकी आलोचना के लक्ष्य तो इन सप्रदायो मे विद्यमान असत्य, अधविश्वास यथा मूढ धारणाएँ ही रहीं।

एक बात और भी थी। दयानंद यह जानते थे कि इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारकगण हिंदू धर्म मे प्रचलित रूढियों, अधविश्वासों, तथा अनेक मूर्खतापूर्ण विधि-विधानों की ओट में पिछडे वर्ग के लोगो को मत-परिवर्तन की प्रेरणा देते रहते है। उनका कहना था कि जो स्वयं कॉच के घरों मे निवास करते हैं, उन्हे दूसरो पर पत्थर फेकने का क्या अधिकार है ? इसी तथ्य को लक्ष्य मे रखकर उन्होंने ईसाई मत एव इस्लाम की तथ्यपूर्ण आलोचना की, मानो उन्हे सचेत कर दिया कि

उनकी स्थिति भी उन हिंदू धर्म के अनुयायियों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है जो अपनी कमजोरियों के कारण पादरियों और मौलवियों की आलोचना का शिकार बनते हैं। उदारभावापन्न लोग, चाहे वे ईसाई थे या मुसलमान, स्वामी दयानद के दृष्टिकोण की वास्तविकता को समझकर सदा उनके प्रशंसक बने रहे। भारत में मुस्लिम नव-जागरण के अग्रदूत सैयद अहमद खाँ, अजमेर से प्रकाशित होनेवाले राजपूताना गजट के सपादक मुशी मुरादअली जैसे व्यापक दृष्टिकोण के मुसलमान तथा बरेली के पादरी डॉ स्कॉट जैसे विचारशील ईसाई धर्मयाजक, दयानद के मित्र, प्रशसक तथा भक्त कहलाने में गर्व का अनुभव करते थे। यह दूसरी बात है, कि कालातर में भारत में ही कुछ ऐसी राजनैतिक एव सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं, जिनके कारण स्वामी दयानद द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज ईसाई तथा मुसलमानो से बहुत अधिक मधुर संबंध नहीं रख सका, किंतु उन पर यहाँ विचार करना अप्रासंगिक है।

दयानंद के दार्शनिक विचार

दयानद को समाज सशोधक, धर्माचार्य तथा राष्ट्रनिर्माता युगपुरुष के रूप मे तो प्राय: स्मरण किया जाता रहा है, किंतु उनके दार्शनिक विचारों का बहुत कम ऊहापोह हुआ है। एतद्विषयक भ्रम यहाँ तक फैल गया कि अनेक अहम्मन्य प्रकृति के लोगो ने तो दयानद में दार्शनिकता का नितांत अभाव ही घोषित कर दिया तथा उनके द्वारा प्रकट किए गए दार्शनिक विचारों को भी अतिसामान्य, छिछला तथा अनति गंभीर कहने का प्रयास किया। तथ्य यह है कि दयानद के संपूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व के पीछे एक अत्यत स्पष्ट, सुविचारित तथा सतर्क चिंताधारा कार्य कर रही थी। यदि दयानंद दर्शन में वैसी यथार्थवादिता, गहराई तथा स्पष्टता न होती, तो इसमें सदेह ही है कि वे अपने विचारों को जनसामान्य तक पहुँचा पाते तथा बहुसंख्यक समाज उनका अनुयायी बन जाता।

दयानद ने विश्व-प्रपंच की व्याख्या यथार्थवादी दृष्टि से की है। उनका दर्शन जीवेश्वर के भेद तथा प्रकृति की अनादिता के सिद्धांत पर आधारित है। इस दृष्टि से वे शांकर वेदात के प्रखर आलोचक भी हैं। उनकी दार्शनिक विचारधारा जहाँ वैदिक एव औपनिषदिक दार्शनिक चिंतन पर पूर्णतया आधारित है, वहाँ प्रबल युक्तियों एवं प्रमाणों से उसे परिपुष्ट भी किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे उपनिषदों के उन वाक्यो की अनदेखी कर जाते हैं, जो एकाधिक बार अद्वैतवाद का समर्थन करते हैं। वे ऐसे वाक्यो की सगति स्वतत्र रूप से लगाते हैं और उनका कहना है कि यदि प्रसंगानुसार ऐसे अभेदपरक प्रतीत होनेवाले उपनिषद् वचनों का सम्यक् विचार किया जाए, तो उनसे शांकर सिद्धांत को पुष्ट करना असंभव ही हो जाएगा।

दयानंद का शंकर पर स्पष्ट आरोप है कि उन्होंने न केवल उपनिषदों की, अपितु वेदांत सूत्रों की भी व्याख्या स्वाभिमत के अनुकूल ही की है, और ऐसा करते

समय वे यह विस्मृत कर जाते हैं कि सूत्रकार ऋषि का आशय निश्चय ही वह नहीं है जो उनकी व्याख्या में लिखा जा रहा है। आचार्य शंकर पर वैयासिक सूत्रों के अर्थों में खींचतान का आरोप दयानंद ने ही लगाया था, ऐसी बात नहीं है। पुनर्जागरण के ही एक अन्य कर्णधार तथा अपने-आपको महान वेदांती कहनेवाले स्वामी विवेकानंद ने इस संबंध मे लिखा था—"शंकर अद्वैतवादी थे, इसलिए उन्होंने सभी सूत्रों की केवल अद्वैत मत में व्याख्या करने की चेष्टा की है।" उन्होंने एक व्याख्यान मे यहाँ तक कह दिया था कि "शंकराचार्य जैसे बड़े-बड़े भाष्यकारों ने अपने मत की पुष्टि के लिए जगह-जगह पर शास्त्रो का ऐसा अर्थ किया है जो मेरे विचार मे समीचीन नहीं है।" दयानंद ने भी लगभग ऐसा ही कहा है।

परंतु बात केवल अद्वैतवाद के दार्शनिक पक्ष या सैद्धांतिक पहलू की ही नहीं थी। दयानंद तो व्यवहारवादी, यथार्थ-दृष्टि-संपन्न दार्शनिक थे। उन्होंने यह स्पष्ट अनुभव किया था कि शांकर अद्वैतवाद और मायावाद ने देशवासियों को कर्मशील जीवन से विरत कर उन्हें स्वप्नलोकवासी, परलोक-चिंतन करनेवाले, मात्र मोक्षकामी ही बना दिया है। समाज और राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों को सर्वथा विस्मृत कर *'अहं ब्रह्मास्मि'* और *'तत्त्वमसि'* के तथाकथित महावाक्यों की मीमांसा करनेवालों ने दर्शन जगत् में ख्याति के चाहे जैसे झंडे गाड़ दिए हों, किंतु उनसे देश तथा समाज का हित तो कदापि नहीं हुआ। जन-सेवा, लोक-हित के लिए स्वार्थ-त्याग, देश और जाति के व्यापक कल्याण की सिद्धि के लिए समर्पण-भाव आदि के उदात्त तत्त्व उन वेदांतवादियों में यदा-कदा ही दिखाई पड़ते हैं। अतः यदि हमें अपने जीवन को जड, निष्क्रिय तथा पलायनोन्मुख नहीं बनाना है, तो वेदांत की मोहमयी मदिरा का त्याग करना ही होगा, यह दयानंद की पक्की धारणा थी।

इस प्रकार शांकर मत का सर्वभावेन निरसन करने के पश्चात् दयानंद ने जीवेश्वर-भेदभाव के पोषक द्वैत सिद्धांत (अथवा जीव, ईश्वर एवं प्रकृति की त्रिविध अनादि सत्ताओं को स्वीकार करनेवाले त्रैतवाद) की स्थापना की। उन्होंने जीवेश्वर-संबंधों की विवेचना करते हुए इनमें परस्पर उपास्य-उपासक, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, मित्र-मित्र तथा सेव्य-सेवक भावों को स्वीकार किया।

भारत के दार्शनिक चिंतन को दयानंद की एक अन्य महत्त्वपूर्ण देन, उनके आर्ष-ग्रंथ-प्रामाण्य के सिद्धांत से ही अनुस्यूत हुई है। वे यह मानते हैं कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा वेदांत एवं मीमांसा—छहों वैदिक दर्शन एक-दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' के, तृतीय तथा अष्टम समुल्लास में षड्दर्शन-समन्वय का उल्लेख किया है तथा एतद्विषयक चर्चा को सूत्र रूप में उठाया है। यदि उन्हें समय मिलता तो संभवतः वे सभी दर्शनों की समन्वयात्मक दृष्टि से व्याख्या भी करते। दर्शन-सूत्रों में सामंजस्य स्थापित करने का यह श्लाघनीय प्रयास उनके इसी मंतव्य पर आधारित था कि सांख्यादि

दर्शनों के प्रणेता कपिल आदि—साक्षात्कृतधर्मा, जीवन एवं जगत् के रहस्यो को हस्तामलकवत् जाननेवाले, परावरज्ञ कोटि के ऋषि थे। अत ऋषियो के कथन में कोई मौलिक मतभेद नहीं हो सकता, शैली-भेद भले ही हो।

दयानंद का दर्शन जीव एवं ईश्वर के परस्पर भेद के विचार पर आधारित है। अत मूलत दयानंद ने जीव के लिए ससार के स्रष्टा एव विधाता परमात्मा की प्रणतिपुरस्सर उपासना करने का ही विधान किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वैदिक साहित्य तथा विचारधारा मे ज्ञान, कर्म एव भक्ति (उपासना) की त्रिपुटी को परस्पर-विरोधी तत्त्वों के रूप में प्रस्तुत न कर एक-दूसरे के पूरक के रूप में विवेचित किया गया है। यह एक विडबना ही थी कि कालांतर मे शकराचार्य जैसे ज्ञानमार्गी दार्शनिकों ने ज्ञान और कर्म में छत्तीस का संबंध ठहराया और इन्हें परस्पर-विरोधी घोषित किया। इसी की प्रतिक्रिया वैष्णव सप्रदाय के भक्त आचार्यों में हुई, जिन्होने ज्ञान एवं कर्म का आत्यतिक बहिष्कार कर मात्र भक्ति को ही कलिकाल में परमात्मा की प्राप्ति का एकमेव साधन बताया। यह मध्यकालीन भक्ति भी कैसी थी ? जो सामाजिक दायित्वों तथा सामाजिक संदर्भों से व्यक्ति को सर्वथा विच्छिन्न कर एक ऐसी आवेशपूर्ण स्थिति में ले आती थी, जिसके वशवर्ती होकर मनुष्य अपने सभी सासारिक इतिकर्तव्यों से मुँह मोड लेता था।

दयानद ने वैष्णवों की इस आवेशमयी भक्ति का डटकर विरोध किया जो केवल एक बार के नाम स्मरण मात्र से ही अथवा तुलसी-दल समर्पित कर देने मात्र से ही जीवन के लिए मोक्ष का द्वार खोल देने का दावा करती थी, चाहे भक्त का वैयक्तिक जीवन कैसा ही अपराधपूर्ण क्यों न हो तथा उसके कर्म कितने ही दोषों से भरे क्यों न हों ? देवता की प्रतिमा के समक्ष एक पुष्प समर्पित कर देने, गंगादि तीर्थों में एक बार गोता लगा लेने अथवा गलत-सही किसी भी तरीके से नारायण के नाम का एक बार उच्चारण कर लेने से ही मनुष्य भव-पाशो से मुक्त होकर परमात्मा के परमधाम का अधिकारी हो जाती है। ऐसे भावो एव आस्थाओं ने भारतवासियों की पुरुषार्थवृत्ति को कुंठित कर उन्हें दैववादी, प्रारब्धवादी, अकर्मण्य एव पलायनवादी बना दिया है, यह दयानंद का सुदृढ विश्वास था।

दयानंद का भक्तिवाद

तथापि इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना अनुचित ही होगा कि दयानद एक शुष्क विचारक एव तार्किक तथा *'वेदाभ्यासजडमति मीमांसक'* का ही व्यक्तित्व लेकर देश के सार्वजनिक जीवन के मच पर अवतरित हुए थे। स्वय के अनुसार उन्होंने सार्वजनिक जीवन को सर्वतोमुखी उन्नत बनाने का जो महद् अनुष्ठान आरंभ किया था, वह प्रबल ईश्वर विश्वास के बल पर ही किया गया था। दयानंद परमात्मा के अनन्य उपासक हैं। वे समर्पणशील भावना लेकर जगन्नाटक सूत्रधार के सम्मुख आनेवाले एक विनम्र सेवक हैं, जिन्होने अत्यंत भावप्रवण होकर अपने आराध्यदेव से कहा, "आपका तो स्वभाव ही है कि अंगीकृत को कभी नहीं छोडते।" वेदों पर

आधारित दयानंद का यह भक्ति सिद्धांत 'आर्याभिविनय' में सगृहीत विभिन्न मन्त्रों की व्याख्याओं में पदे-पदे प्रकट हो रहा है।

अपने ग्रंथों में यत्र-तत्र उपासना की चर्चा करते हुए दयानद ने योग-साधना पर अत्यधिक बल दिया है। चाहे हम 'सत्यार्थप्रकाश' वर्णित उपासना प्रकरण (सप्तम समुल्लास) को लें अथवा 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' मे विवेचित 'उपासना विषय' को देखें, हमें सर्वत्र योगांगों का विवेचन ही मिलेगा। दयानद ने स्वयं पातंजल योग-पद्धति का अनुकरण कर समाधि अवस्था का साक्षात्कार किया था। यम, नियमादि की व्यवस्थित साधना के अनतर वे योग के विभिन्न सोपानो पर चढते हुए निर्विकल्पक समाधि की स्थिति को प्राप्त कर पाए थे। परतु मध्य युग में योग के नाम पर जैसी अटपटी एवं भ्रष्ट साधनाएँ चल पडी थीं, दयानद का उनसे स्पष्ट वैमत्य था। वे न तो हठयोग की उन साधनाओ के पक्षपोषक थे जो केवल शारीरिक क्रियाओं को ही महत्त्व देती हैं और न वे योग के नाम पर नाना गुह्य एवं रहस्यपूर्ण बातो को ही प्रश्रय देना चाहते थे। उपासना, धर्म, अध्यात्म एव दर्शन के क्षेत्र में दयानद की सर्वोपरि देन तो यही है कि वे पुरातन विश्वासो, धारणाओं तथा पद्धतियो से केवल इसलिए चिपटे रहने का उपदेश नहीं देते कि ये प्राचीन हैं, अत. हमारे लिए आचरणीय तथा मान्य हैं। वे मनुष्य के विवेक को जागृत करना चाहते हैं। जिन वेदो को सर्वोपरि प्रमाण मानने के लिए उन्हें प्राय दोषी ठहराया जाता है, उन वेदों के प्रति भी वे मानव जाति का विश्वास इसलिए जगाना चाहते हैं, कि वे वेदो को पूर्णतया बुद्धिसगत, तर्कयुक्त एवं सृष्टि-रचना के शाश्वत नियमों के सर्वथा अनुकूल मानते है। दयानद की मानव जाति को यदि कोई एकमात्र महत्त्वपूर्ण देन है, तो वह यही है कि वे मनुष्य को अपनी बुद्धि, विवेक-शक्ति तथा चिंतन-प्रणाली का प्रयोग करने के लिए कहते हैं, किसी बात को केवल इसलिए मान लेने के लिए नहीं कहते कि वह हमारे शास्त्रकारो का आदेश है, पूर्वजो की प्रणाली है, अथवा महाजनो से समर्थित आप्तवाक्य है।

दयानंद का सामाजिक दर्शन

दयानंद जितने बडे धर्मसंशोधक, धर्म-व्याख्याता अथवा धर्माचार्य है, एक समाज-शास्त्री, समाज-सस्कारक तथा सामाजिक नेता के रूप मे उनका व्यक्तित्व भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यों तो वे उन्नीसवीं शती के उन समाज-सुधारकों की ही परपरा में आते हैं, जिन्होने वृहत्तर हिंदू समाज मे व्याप्त नाना बुराइयों, मूर्खतापूर्ण रीति-रिवाजों तथा पुरातन सडी-गली प्रथाओं के विरोध मे आवाज उठाई थी, किंतु दयानद का यह सुधारक रूप भी एक उग्र क्रातिकारी, समाज को आमूलचूल बदलनेवाले, युगप्रवर्तक तथा क्रांतद्रष्टा की प्रभा से परिवेष्टित है। भारतीय समाज मे व्याप्त नाना बुराइयों, विषमताओं, शोषण की प्रवृत्तियों तथा अत्याचारमूलक प्रथाओं को नष्ट करने के लिए दयानंद के प्रयासो का सर्वत्र सब कालों में अभिनंदन हुआ है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन

को खोखला बनानेवाली भीषण प्रथाओ का उन्होंने जिस प्रकार डटकर विरोध किया था, यह सब आज इतिहासकार की विवेचना मे आ चुका है। अत' बाल-विवाह के उन्मूलन, विधवाओं की स्थिति को सुधारने, नारी को समाज में उच्चतर स्थिति प्रदान कराने, दलित एव अस्पृश्य कही जानेवाली जातियो को उनका अधिकार दिलवाने, जन्मजात जाति-प्रथा के दोषो की ओर जन-समाज का ध्यान आकृष्ट करने आदि से सबधित उनके कार्यों का पुन विचार करना पिष्टपेषण ही होगा।

परतु हमे यह भी ध्यान रखना होगा कि दयानद के तुरंत पश्चात् ही हमारे देश मे एक ऐसा चितक वर्ग उत्पन्न हो गया था, जो न केवल सुधारवाद का विरोधी था, अपितु जो प्रत्येक प्राचीन प्रथा के औचित्य को सिद्ध करने तथा सर्वथा जर्जर, मृतप्राय एव हानिकर रूढियो का शब्दाडबर युक्त एव आलकारिक व्याख्यान प्रणाली का सहारा लेकर समर्थन भी करता था। इन लोगो ने सुधारक वर्ग के कार्यों का अवमूल्यन तो किया ही, उन पर अनेक प्रकार से छींटाकशी भी की। सभवत वे सुधारको द्वारा सामाजिक बुराइयो की कटु आलोचना से भी चिढ गए थे, परतु सुधारको के इस प्रकार अग्निजिह्व हो जाने के कारणो की उन्होने कभी मीमासा नहीं की। यदि वे ऐसा करते तो निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते कि रूढियो और बुराइयो की समालोचना बिना किसी लागलपेट के ही करनी होती है, तभी उसका अभीष्ट फल भी प्राप्त होता है। कोमल शब्दावली का प्रयोग कर हम शताब्दियो से किए जानेवाले उन निर्मम अत्याचारो को समाप्त नहीं करा सकते, जिनके कारण दीर्घ काल तक हमारी प्रगति अवरुद्ध होती रही है।

[सन् 1983]

दयानंद और हिंदी-पत्रकारिता

पद्मश्री आचार्य क्षेमचंद्र 'सुमन'

सम्मान्य कुलपतिजी, प्राध्यापकवृद तथा अन्य साहित्य-प्रेमी मित्रो !

सर्वप्रथम मैं 'महर्षि दयानंद निर्वाण शताब्दी व्याख्यानमाला' के संयोजक डॉ विष्णुदत्त 'राकेश' का हार्दिक आभारी हूँ जिन्होंने मुझे ऐसे शिक्षण-सस्थान मे 'दयानद और हिंदी-पत्रकारिता' विषय पर भाषण देने के लिए आमत्रित किया है, जिसके सस्थापक अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानद (महात्मा मुंशीराम) महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती के अनन्य अनुयायी होने के साथ-साथ उच्चकोटि के पत्रकार भी थे। उन्होने स्वामी दयानद द्वारा सस्थापित आर्यसमाज के सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए ज़हाँ एक कुशल एवं प्रखर पत्रकार के रूप मे देश का उचित दिशा-निर्देश किया था वहाँ सन् 1902 मे शिवालिक पर्वत की पावन उपत्यका मे पतितपावनी भागीरथी के पुनीत तट पर अवस्थित ऐसे तपोवन में इस संस्था की स्थापना की थी जिसके सबध मे *'उपह्वरे गिरीणा सगमे च नदीनाम्'* की वैदिक सूक्ति नितांत उपयुक्त सिद्ध होती है।

उन दिनो अपनी पुरानी भूमि में इस महान विद्या-मंदिर का परिसर इतना नयनाभिराम तथा आकर्षक प्रतीत होता था कि उसकी मनोरमता और भव्यता से अभिभूत होकर यहाँ की विशिष्टता तथा सस्था के प्राण मुशीरामजी की प्रशसा भारत-भक्त श्री सी.एफ एड्रूज ने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-संग्राम मे लिप्त गाँधीजी को लिखे अपने एक पत्र में इस प्रकार की थी—"जिस भारत को मैं जानता था, जिस भारत से मैं प्रेम करता था, जो भारत मेरे सपनो में था, वह मुझे यहाँ देखने को मिला। मैंने अपने सम्मुख उस मातृभूमि को देखा जो न शोकातुर थी, और न श्रान्त-क्लान्त, जिसमें अनन्य अनश्वर वन था, जो वसंत के समान ताजा व नवयौवन से परिपूर्ण था। यहाँ गुरुकुल में यह नवभारत विद्यमान है।" तब स्वामीजी केवल 'मुशीराम' के नाम से जाने जाते थे और गाँधीजी भी 'महात्मा' के विशेषण से विभूषित नहीं हुए थे। बाद में दोनों का पुण्यस्मरण 'महात्मा' नाम से होने लगा। यह नामकरण भी दोनों ने परस्पर ही किया था। गाँधीजी ने मुंशीरामजी को 'महात्मा' नाम से सबोधित करते हुए 21 अक्तूबर सन् 1914 को जो पत्र लिखा था, उसका कुछ अंश इस प्रकार है

"प्रिय महात्माजी,

मि एड्रूज ने आपके नाम और काम का इतना परिचय दिया है कि मै अनुभव कर रहा हूँ कि मैं किसी अजनबी को पत्र नहीं लिख रहा। इसलिए आशा करता हूँ कि आप मुझे आपको 'महात्माजी' लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और एड्रूज साहब आपकी चर्चा करते हुए आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। उन्होने मुझे आपकी संस्था गुरुकुल को देखने के लिए अधीर बना दिया है।

आपका—मोहनदास गॉधी"

इस पत्र के 6 महीने बाद गॉधीजी जब भारत आए तब वे गुरुकुल मे पधारे। गुरुकुल की ओर से उन्हे जो मानपत्र 8 अप्रैल, सन् 1915 को दिया गया था उसमे गॉधीजी को भी 'महात्मा' नाम से सबोधित किया गया था। इस प्रकार दोनो महात्माओ के सम्मिलन से इस सस्था का जो गौरव बढा, वह अब इतिहास का विषय हो गया है। ऐसी राष्ट्रीय महत्त्व की सस्था मे 'दयानद और हिदी-पत्रकारिता' विषय पर अपने विचार प्रकट करने मे मै अपना अहोभाग्य मानता हूँ।

आर्यसमाज हमारे देश की उन क्रातिकारी सस्थाओ मे है, जिसने पराधीनता के दिनो मे यहाँ की जनता को सास्कृतिक और धार्मिक जागृति का पावन सदेश देने के साथ-साथ उसे साहित्यिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे आगे बढाने के लिए ऐसे अनेक कार्यकर्त्ता प्रदान किए, जिन्होने अपने उज्ज्वल अतीत के स्वर्णिम सपनो को सँजोकर हमारे वर्तमान को सँभाला और इस देश को सुखद भविष्य के आलोकमय पथ पर अग्रसर किया। हमे यह लिखने मे तनिक भी सकोच नहीं है कि भारतीय स्वतत्रता के जनक राष्ट्रपिता महात्मा गॉधी ने हमारे देश को पराधीनता के पाशविक पाश से मुक्ति दिलाने के लिए जो-जो कार्यक्रम निर्धारित किए और जो साधन उन्होने इसकी सपूर्ति के लिए अपनाए वे सब महर्षि स्वामी दयानद सरस्वती द्वारा प्रणीत 'सत्यार्थप्रकाश' और उनके द्वारा संस्थापित 'आर्य समाज' के युगातरकारी आंदोलन के ही मूल प्रेरणा-बिदु थे। महर्षि दयानद ने अपनी घनघोर तपस्या तथा अनन्य कर्तव्य-निष्ठा से जहाँ देश को सांस्कृतिक दृष्टि से सुपुष्ट और समृद्ध किया वहाँ महात्मा गॉधी ने राजनीतिक दृष्टि से उसे आगे बढाया। हमारी तो ऐसी भी मान्यता है कि यदि इस पुण्यभूमि पर महर्षि दयानद जैसा दूरदर्शी युग-पुरुष अवतरित न हुआ होता और उसके द्वारा सस्थापित 'आर्यसमाज' ने विभिन्न क्षेत्रों में अपने कर्मठ कार्यकर्त्ता न झोके होते तो कदाचित् आज भारत की स्थिति कुछ और ही होती। इसका ज्वलत प्रमाण उनके अमर ग्रथ 'सत्यार्थप्रकाश' मे लिखे गए ये विचार हैं—"कोई कितना ही करे, परतु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" स्वामीजी के इन शब्दो मे सर्वप्रथम 'स्वराज्य' की भावना प्रकट हुई थी।

देश और समाज मे प्रचलित अनेक रूढियों और कुरीतियो को देखकर महर्षि

दयानंद ने अपने क्रांतिकारी विचारों के द्वारा जो प्रबल एवं अभूतपूर्व नवजागरण किया उसी का मूल रूप 'आर्यसमाज' है। आर्यसमाज ने न केवल धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक कार्यकर्त्ता उत्पन्न किए, प्रत्युत साहित्यिक तथा राजनीतिक आंदोलनो में भी उसने बढ़-चढकर भाग लिया। अतीत काल के भारतीय राष्ट्रीय आंदोलनों के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डाले तो ऐसी अनेक विभूतियों के नाम हमारे समक्ष उभरकर आएँगे जिन्होने न केवल इस देश के सांस्कृतिक उन्नयन में उल्लेखनीय योगदान दिया अपितु राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में भी उनका नाम स्वर्णाक्षरों मे अकित है। ऐसे महापुरुषो मे स्वामी श्रद्धानंद और लाला लाजपतराय आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसे भी अनेक क्रातिकारी विचारक और कार्यकर्त्ता आर्यसमाज ने देश को दिए जिन्होने भारतीय स्वतंत्रता के लिए विदेशों मे जाकर उल्लेखनीय कार्य किया। ऐसे महानुभावों मे सर्वश्री भाई परमानद, लाला हरदयाल, श्यामजी कृष्ण वर्मा, राजा महेद्रप्रताप, भवानीदयाल संन्यासी और तोताराम सनाढ्य आदि के नाम हमारे सामने एक उदात्त आदर्श प्रस्तुत करते हैं। सशस्त्र क्राति के द्वारा जिन आर्य तरुणो ने स्वाधीनता के पावन यज्ञ मे अपने प्राणो की अमर आहुति दी उनमें भी अधिकाशत आर्यसमाज के सुधारवादी आदोलन से ही प्रेरित थे। ऐसे बलि-पथियो मे अमर शहीद सरदार भगतसिह के अतिरिक्त रामप्रसाद बिस्मिल, चद्रशेखर आजाद और रोशनलाल जैसे क्रातिकारियो के नाम वरेण्य हैं।

आर्यसमाज एक ऐसी सर्वतोमुखी विकासशील सस्था है जिसके द्वारा राष्ट्र मे न केवल धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे अभूतपूर्व जागरण हुआ, प्रत्युत शिक्षा तथा समाज-सुधार के क्षेत्र मे भी इसकी देन अनन्य है। इसके द्वारा जहाँ विधवा-विवाह, बाल-विवाह-निषेध, हरिजनोद्धार तथा स्वदेशी-प्रचार के अनेक क्रातिकारी कार्यक्रम सचालित हुए वहाँ इसके गुरुकुलो और डी ए वी कॉलेजों ने भी शिक्षा के क्षेत्र मे उल्लेखनीय कार्य किया। यहाँ तक कि इन शिक्षा-सस्थाओं मे प्रशिक्षित और दीक्षित स्नातकों ने न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशो मे जाकर सांस्कृतिक क्षेत्रों मे उल्लेखनीय कार्य किया, प्रत्युत विदेशो मे भी भारत और भारतीयता के गौरव की अभिवृद्धि की। राष्ट्रभाषा हिंदी के सर्वांगीण विकास मे योगदान देने के साथ-साथ उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र मे भी अपनी ज्वलंत प्रतिभा का परिचय दिया। यह निर्विवाद सत्य है कि यदि आर्यसमाज के द्वारा वैचारिक क्षेत्र मे ऐसे क्रातिकारी परिवर्तन न हुए होते तो हिंदी साहित्य को सर्वश्री प्रेमचंद, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल और राहुल साकृत्यायन जैसे प्रखर और मेधावी कथाकार कैसे उपलब्ध होते ! पत्रकारिता के क्षेत्र में अतीत काल मे जिन्होंने राष्ट्र का सही मार्ग-प्रदर्शन किया उनमे भी ऐसे ही महानुभाव अग्रगण्य रहे जो आर्यसमाज तथा महर्षि स्वामी दयानद के सिद्धातों के कट्टर अनुयायी थे। ऐसे पत्रकारो में स्वामी श्रद्धानंद के अतिरिक्त सर्वश्री रुद्रदत्त शर्मा संपादकाचार्य,

पद्मसिंह शर्मा, राधामोहन गोकुलजी, गणेशशकर विद्यार्थी, विजयसिह पथिक, इंद्र विद्यावाचस्पति, सत्यदेव विद्यालंकार, सत्यकाम विद्यालंकार और हरिशंकर शर्मा आदि के नाम विशेष परिगणनीय हैं।

जिन दिनों हमारे देश में आर्यसमाज के सस्थापक महर्षि दयानंद सरस्वती का अवतरण हुआ था उन दिनो यहाँ सन् 1857 की अमर क्रांति के उपरात मुगल साम्राज्य सर्वथा ध्वस्त हो चुका था और अंग्रेजी शासन की जडें मजबूती से जमने के साथ महारानी विक्टोरिया की घोषणा से देश मे विचार-स्वातत्र्य की भावना उद्भूत हो गई थी। देश के कोने-कोने में ईसाइयो ने जहाँ अपने धर्म के प्रचार के लिए अनेक केंद्र स्थापित कर लिए थे वहाँ बगाल में राजा राममोहन राय और केशवचद्र सेन निरतर 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्थान' की आवाज ऊँची कर रहे थे। दुर्भाग्यवश ये दोनों महानुभाव क्योंकि संस्कृत के पंडित न थे, अत इन्होंने अपने-अपने धार्मिक आदोलनो की नींव पाश्चात्य जीवन-प्रणाली के आधार पर डाली थी। इसके विपरीत महर्षि दयानंद ने आर्यसमाज के द्वारा आर्यभावना-मूलक संस्कृति का प्रचार करने की दिशा में देश का उल्लेखनीय नेतृत्व किया था। उक्त दोनो महानुभावो का झुकाव जहाँ ईसाइयत और पाश्चात्य जीवन-पद्धति की ओर था वहाँ महर्षि दयानद भारतीय सस्कृति की प्रतिष्ठापना की ओर अग्रसर थे। यदि हम यह कहे तो कदाचित् अप्रासगिक न होगा कि केशवचद्र सेन की पश्चिमोन्मुखी विचारधारा को पूर्वाभिमुख करने का श्रेय भी महर्षि दयानद को ही है। इसी प्रकार हमे यह मानने मे भी कोई सकोच नहीं है कि केशवचद्र सेन से हुए संपर्क के कारण ही महर्षि दयानद ने जहाँ हिदी मे व्याख्यान देना शुरू किया वहाँ उनके आग्रह पर ही उन्होने वस्त्र धारण करना प्रारभ किया था। महर्षि से केशवचद्र सेन की भेट सन् 1872 मे जब कलकत्ता मे हुई थी तब स्वामीजी सस्कृत मे ही भाषण दिया करते थे और शरीर पर कोई वस्त्र धारण न करके *'कौपीनवत' खलु भाग्यवत.'* के अनुसार केवल कौपीन ही पहनते थे। श्री सेन प्राय अपने विचार अग्रेजी के द्वारा ही प्रकट किया करते थे। वे स्वामीजी की विचारधारा को जानना-समझना चाहते थे, किंतु सस्कृत भाषा से सर्वथा अपरिचित होने के कारण वे उससे वचित थे। स्वामीजी के अग्रेजी-ज्ञान से विहीन होने के प्रति उन्होने जो भाव प्रकट किए थे वे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्होने कहा था—"शोक है कि वेदो का अद्वितीय विद्वान् अग्रेजी नहीं जानता, अन्यथा इग्लैंड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता।" इस पर स्वामीजी ने जो भाव प्रकट किए थे उन्होने भी श्री सेन को हतप्रभ कर दिया था। स्वामीजी ने कहा था—"शोक है कि ब्रह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगो को उस भाषा मे उपदेश देता है कि जिसे वे नहीं समझते।" इन दोनों महानुभावो का यह स्नेह-संपर्क देश के लिए यहाँ तक लाभकारी सिद्ध हुआ कि उसके कारण स्वामीजी ने पूर्णत हिंदी को अपना लिया और अपने महत्त्वपूर्ण ग्रथ 'सत्यार्थ

प्रकाश' की रचना संस्कृत में न करके हिंदी में की। इस प्रकार हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि केशवचंद्र सेन देश के ऐसे पहले राष्ट्रीय नेता थे जिन्होंने 'राष्ट्रभाषा हिंदी' के महत्त्व को समझकर स्वामीजी को हिंदी-लेखन और भाषण के प्रति उन्मुख किया था। श्री सेन की राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति कितनी निष्ठा थी, उसका परिचय आप उनके 'सुलभ समाचार' नामक बंगला पत्र में प्रकाशित इन शब्दों से भली भाँति प्राप्त कर सकते हैं—"बिना एकता के भारतवर्ष का उद्धार नहीं हो सकता। भारतवर्ष की उस एकता का उपाय क्या है। इस समय भारतवर्ष में जितनी भाषाएँ प्रचलित हैं, उनमें हिंदी ही ऐसी भाषा है जो सर्वत्र प्रचलित है—सबसे अधिक बोली और समझी जाती है। इसलिए यदि हिंदी को सारे भारत की एकमात्र भाषा बना दिया जाए तो सारे देश की एकता संपन्न हो सकती है। एक भाषा के बिना एकता नहीं हो सकती।"

श्री केशवचंद्र सेन तथा राममोहन राय से हुई भेंट के उपरांत स्वामीजी ने जब 7 अप्रैल, सन् 1875 को बंबई मे 'आर्यसमाज' की स्थापना की थी उस समय भी उन्होंने हिंदी को 'आर्य भाषा' का पावन अभिधान देकर आर्यसमाज के 35वें उपनियम में अपनी हिंदी-निष्ठा इस प्रकार अभिव्यक्त की थी—"सब आर्यों और आर्यसमाजियो को सस्कृत व आर्य भाषा (हिंदी) जाननी चाहिए।" स्वामीजी द्वारा संस्थापित आर्यसमाज ने जहाँ समस्त देश में भारतीयता तथा राष्ट्रीयता का प्रबल प्रचार किया वहाँ हिंदी-प्रचार के क्षेत्र में उनकी देन स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है। हिंदी साहित्य के विगत इतिहास पर यदि हम दृष्टि-निक्षेप करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि हिंदी की वर्तमान प्रगति में स्वामीजी तथा उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज का बहुत बडा योगदान है। क्योंकि उन्होंने यह अनुभव किया था कि हिंदी ही सारे देश मे समान रूप से बोली और समझी जाती है, इसलिए उन्होंने हिंदी को ही सर्वथा अपनाकर अपने ग्रंथ भी इसी भाषा में लिखने प्रारंभ कर दिए थे। आपने पुरानी सधुक्कडी हिंदी को अपनाकर उसे सर्वथा नई विचार-भूमि प्रदान की थी। वे भाषा को साहित्यिक दृष्टि से अलंकृत नहीं करते थे, बल्कि एक समाज-सुधारक का दृष्टिकोण ही उनकी भाषा में परिलक्षित होता है। उनके 'सत्यार्थप्रकाश' के द्वितीय सस्करण की भूमिका के इन शब्दों से उनकी इस मान्यता पर और भी व्यापक प्रकाश पडता है—"जिस समय मैंने यह ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' बनाया था उस समय और उससे पूर्व सस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नहीं था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रंथ को भाषा-व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।" स्वामीजी के हिंदी-प्रेम का परिचय हमें उस पत्र से भी मिल जाता है जो उन्होंने प्रख्यात थियोसोफिस्ट मैडम ब्लेवेट्स्की को लिखा था। उस पत्र में स्वामीजी ने स्पष्ट रूप से यह संकेत किया था

कि—"जिस पत्र का हमसे उत्तर चाहें, उसकी नागरी कराकर हमारे पास भेजा करें।" इसी प्रकार एक बार 13 जुलाई सन् 1879 को आपने अपने एक विदेशी मित्र कर्नल अल्काट को अपनी भावनाएँ इस प्रकार लिखी थीं—"मुझे सुनकर खुशी हुई कि आपने नागरी पढना आरभ कर दिया है।" यहाँ यह स्मरणीय है कि स्वामीजी अपने संपर्क में आनेवाले प्राय सभी व्यक्तियों को हिंदी पढने की प्रेरणा देते रहते थे। यह स्वामीजी द्वारा सस्थापित आर्यसमाज के अनेक कर्मठ कार्यकर्ताओं का ही प्रताप था कि सारे देश मे हिंदी का प्रचार तथा प्रसार तेजी से हो गया। स्वामीजी के समकालीन प्राय सभी नेताओं, सुधारकों और साहित्यकारों ने उनकी विचारधारा से प्रभावित होकर हिदी-प्रसार को अपने जीवन का प्रमुख ध्येय बनाया। स्वामीजी की विचारधारा से जहाँ महात्मा गाँधी ने प्रबल प्रेरणा ग्रहण की थी वहाँ भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र ने भी उनके सुधारवादी आदोलन मे खुलकर साथ दिया था। भारतेंदुजी तो स्वामीजी से इतने प्रभावित थे कि उन्होने उनका नाम अपनी 'कवि बचन सुधा' नामक पत्रिका के सपादक-मडल में भी समाविष्ट कर लिया था। इस पत्र मे स्वामीजी के कार्यों का विवरण भी यदा-कदा प्रकाशित होता रहता था।

महर्षि दयानंद ने जिन दिनो आर्यसमाज की स्थापना की थी, तब देश में उर्दू का बोलबाला था और पत्र-पत्रिकाएँ भी प्राय उर्दू मे ही प्रकाशित होती थीं। सर्वप्रथम आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से ही देश मे हिंदी के प्रचार और प्रसार को विशेष सहयोग मिला था। इसका सुपुष्ट प्रमाण डॉ रामरतन भटनागर के शोध प्रबंध के इस उद्धरण से मिलता है—"उर्दू के मध्य मे हिंदी की नींव दृढ करनेवाली संस्था थी आर्यसमाज। अपने मासिक पत्रो तथा समाचार-पत्रो के प्रकाशन के द्वारा उसने हिंदी के प्रभावशाली पृष्ठपोषण का कार्य किया। सर्वप्रथम सन् 1870 में शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश) से मुशी बख्तावर सिह ने 'आर्य दर्पण' नामक साप्ताहिक पत्र प्रारंभ किया और उसके बाद से अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आर्यसमाज की ओर से होता चला आ रहा है।" इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि आर्यसमाज की सस्थापना से लगभग 5 वर्ष पूर्व ही महर्षि दयानंद के विचारो से प्रेरित होकर मुंशी बख्तावर सिह ने इस साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारभ किया था। इन्हीं बख्तावर सिह ने सन् 1875 मे 'आर्यभूषण' नामक मासिक भी निकाला था। 'वैदिक यत्रालय' अजमेर के व्यवस्थापक और महर्षि दयानंद के अनन्य शिष्य श्री मनीषी समर्थदान ने अजमेर से सन् 1889 मे 'राजस्थान समाचार' नामक पत्र का सपादन और प्रकाशन भी किया था। महर्षि दयानंद ने हिंदी को 'आर्यभाषा' के गौरवपूर्ण अभिधान से अभिषिक्त करके उसे सर्वथा नई विचार-भूमि प्रदान की थी। वे अपनी भाषा को साहित्यिक दृष्टि से अलकृत नहीं करते थे, प्रत्युत एक समाज-सुधारक का दृष्टिकोण ही उनकी समस्त कृतियो मे परिलक्षित होता है। एक बार जब पंजाब

के किसी सज्जन ने उनके समस्त ग्रथो का उर्दू में अनुवाद करने की उनसे अनुज्ञा माँगी तो उन्होने बड़े प्रेम से जो उत्तर उसे दिया था, वह आज भी हिंदी की स्थिति को अत्यंत दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करता है। उन्होंने लिखा था—"भाई, मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लगेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्यभाषा का सीखना अपना कर्तव्य समझेगे। अनुवाद तो विदेशियो के लिए हुआ करते हैं।"

वास्तव में महर्षि दयानंद की यह भावना अक्षरश: चरितार्थ हुई और देश के कोने-कोने में उनके क्रांतिकारी विचारों को जानने और समझने के लिए ही उनके अनेक भक्तो ने आर्यभाषा पढी थी। हिंदी के व्यवहार, प्रचार तथा प्रसार के प्रति वे कितने जागरूक रहते थे, इसका ज्वलंत प्रमाण उनका वह पत्र है जो उन्होंने 7 अक्तूबर, 1878 को दिल्ली से श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखा था—"अबकी बार भी वेदभाष्य के लिफाफे पर देवनागरी नहीं लिखी गई, इसीलिए तुम बाबू हरिश्चंद्र चितामणि से कहो कि अभी इस पत्र के देखते ही देवनागरी जाननेवाला एक मुशी रख लें, जिससे कि काम ठीक-ठीक से हो, नहीं तो वेदभाष्य के लिफाफो पर रजिस्टर के अनुसार ग्राहको का पता किसी देवनागरी जाननेवाले से लिखवा लिया करें।"

महर्षि के उक्त शब्द लगभग एक शती पूर्व के हैं। यह सही है कि देश की जनता ने महर्षि दयानद की इस भावना का सच्चे ह्रदय से आदर किया, किंतु राजनीति से आक्रात वातावरण मे आज भी जहाँ-तहाँ हिंदी-विरोध का स्वर उभरता रहता है। जो लोग अहिंदीभाषियो की असुविधा की दुहाई देकर हिंदी के विकास का मार्ग अवरुद्ध करते रहते हैं वे यह कैसे भूल जाते हैं कि 1869 के काशी-शास्त्रार्थ के अनतर आर्यसमाज की स्थापना से तीन वर्ष पूर्व सन् 1872 में महर्षि दयानंद जब कलकत्ता गए थे तब राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, जस्टिस शारदाचरण मित्र और ईश्वरचंद्र विद्यासागर प्रभृति सज्जनो ने उनसे सस्कृत मे अपने सिद्धातों का प्रचार करने के बजाय हिदी को अपने प्रचार का माध्यम बनाने का अनुरोध किया था। महर्षि दयानद उस समय विश्व-कवि रवींद्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर के विशेष अनुरोध पर कलकत्ता गए थे। 5 फरवरी, सन् 1870 को प्रयाग के कुभ मेले में उनसे महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर की भेंट हुई थी। अपने कलकत्ता-प्रवास मे महर्षि दयानंद ने अन्य सभी सज्जनो के समक्ष वहाँ पर एक 'वेद विद्यालय' की संस्थापना का प्रस्ताव भी रखा था, जो सन् 1883 में स्थापित हो सका था। कितु कुछ दिन बाद ही वह बंद हो गया। यह भी एक विचित्र संयोग की बात है कि महर्षि दयानद ने इन सज्जनों के अनुरोध पर अपनी योग-साधना का जो विशद् वर्णन प्रस्तुत किया था, उसे हम उनकी प्रथम जीवनी कह सकते हैं। यह कहानी महर्षि ने उस समय कलकत्ता

में सुनाई थी जब वे सन् 1872 में कलकत्ता गए थे। उस समय तक आर्यसमाज की स्थापना भी नहीं हुई थी। आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् सन् 1875 में पूना के कुछ सज्जनों के आग्रह पर भी स्वामीजी ने अपना परिचय सक्षेप में प्रस्तुत किया था। इसे हम स्वामीजी की द्वितीय जीवनी कह सकते हैं। महर्षि की तृतीय जीवनी बंकिमचंद्र चटर्जी के 'बंग दर्शन' नामक पत्र मे सन् 1878 मे प्रकाशित हुई थी। इसके अनन्तर हिंदी भाषा मे लिखित स्वामीजी की 'आत्म-कथा' अंग्रेजी में अनूदित होकर 1879-80 में 'थियोसोफिस्ट' नामक पत्र में प्रकाशित हुई थी। स्वामीजी के निधन के उपरात सन् 1884 मे प्रोफेसर मैक्समूलर के 'बायग्राफिकल एस्सेज' नामक निबंध-संग्रह में भी उनकी यह जीवनी समाविष्ट की गई थी। उसी वर्ष इग्लैंड के 'पाल माल गजट' में भी उनकी एक जीवनी छपी थी। यह सब स्वामीजी के विचारों से अवगत होने के लिए उन महानुभावों के प्रयत्नो से ही संभव हो सका था, जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं थी।

महर्षि दयानंद द्वारा निर्दिष्ट विचारो को साकार रूप देने के लिए जहाँ अनेक डी.ए.वी. कॉलेजों और गुरुकुलों की संस्थापना हुई वहाँ सैद्धातिक भावनाओं के प्रचार के लिए अनेक ऐसे विद्यालयो की स्थापना भी हुई, जहाँ प्रखर तार्किक वक्ता तैयार किए जा सकें। ऐसे विद्यालयों मे गुरुकुल कागडी और डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर के अतिरिक्त 'आर्य मुसाफिर विद्यालय' आगरा, 'दयानंद उपदेशक विद्यालय' तथा 'दयानंद ब्राह्म महाविद्यालय', लाहौर के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके बाद तो देश मे गुरुकुलो का जाल ही फैल गया और कई स्थानों पर ऐसी संस्थाओ का सूत्रपात हुआ। इन सस्थाओ मे स्वामी दर्शनानद सरस्वती द्वारा संस्थापित गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर और गुरुकुल, वृंदावन के नाम विशेष महत्त्व रखते हैं। इन सभी सस्थाओं ने जहाँ आर्यसमाज को अनेक उच्चकोटि के विद्वान्, वक्ता, प्रचारक और उपदेशक प्रदान किए वहाँ भारत तथा विदेशों में प्रचलित विभिन्न धर्मों, सप्रदायों और मतों के सिद्धातों की जानकारी रखनेवाले अनेक शास्त्रार्थ महारथी भी तैयार किए। शिक्षा के क्षेत्र मे यह नया प्रयोग करने के साथ-साथ अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए आर्यसमाज के माध्यम से पत्रो के प्रकाशन की दिशा में जो क्रातिकारी कार्य हुआ, उससे जहाँ हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचलन का कार्य देश मे प्रचुरता से आगे बढा वहाँ उससे अनेक सुलेखक और पत्रकार भी उत्पन्न हुए। पहले तो आर्य पत्र-पत्रिकाएँ उर्दू में ही प्रकाशित होती थीं, परतु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उक्त सस्थाओ और क्रियात्मक व्यवहार के कारण हिंदी का प्रचलन हुआ त्यो-त्यों इस दिशा मे भी प्रगति होती गई। स्वामी दयानदजी की प्रेरणा एव प्रोत्साहन से सन् 1879 मे उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने भी 'सज्जन कीर्ति सुधाकर' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया था। इस पत्र पर मेवाड का 'राज्य-चिह्न' प्रकाशित हुआ करता था और यह पत्र अनेक वर्ष तक अत्यत सफलतापूर्वक प्रकाशित होता रहा था।

लगभग 50 वर्ष तक चलने के उपरात यह केवल सरकारी गजट हो गया था और इसमें अग्रेजी तथा हिदी मे शासकीय विज्ञप्तियो की ही भरमार रहने लगी थी। जब स्वामीजी अजमेर मे 'परोपकारिणी सभा' को ले गए थे तब उनकी प्रेरणा पर आर्यसमाज, अजमेर के प्रथम प्रधानमत्री श्री मुन्नालाल शर्मा के सपादन मे वहाँ से सन् 1881 मे 'देश हितैषी' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन भी हुआ था। इस पत्र के प्रत्येक अक मे आर्य विचारधारा को अपनाने की प्रेरणा जिस कविता द्वारा दी जाती थी वह इस प्रकार है

> *"अप्रीति रीति कुरीति छोडो, आर्य्यपन मे चित धरो।*
> *बहुदिवस सोये मत्त हो, अब सभ्यता मे रुचि करो।।*
> *यह देश हितैषी है चली, तुम देश-हितैषी जन रहो।*
> *पर-प्रीति-उन्नति देश चाहो, देश-हितैषी कर गहो।।"*

आर्यसमाज के आदोलन के प्रारभिक वर्षों मे मेरठ का वही महत्त्व था, जो किसी समय पजाब मे लाहौर का था। फलत सबसे पहले यहाँ सन् 1878 मे (आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात्) 'आर्यसमाचार' नामक साप्ताहिक पत्र श्री कल्याणराय के सपादकत्व मे प्रकाशित हुआ। स्वामीजी ने मेरठ मे ही 16 अगस्त, सन् 1880 को 'परोपकारिणी सभा' की स्थापना की थी और उसकी रजिस्ट्री विधिवत् 19 अगस्त को हुई थी। मेरठ को इस बात का सौभाग्य प्राप्त है कि स्वामीजी सर्वप्रथम मार्च सन् 1886 मे उस समय यहाँ पधारे थे जबकि वे हरिद्वार के कुभ के मेले में सम्मिलित होने के लिए जा रहे थे। दूसरी बार वे जनवरी, 1877 मे और तीसरी बार 26 अगस्त 1878 को पधारे थे। उन दिनो एक मास से अधिक अवधि तक उन्होने यहाँ निवास किया था। अपने इसी निवास-काल मे उन्होने यहाँ 19 सितबर, 1878 को आर्यसमाज की स्थापना की थी। चौथी बार 15 जनवरी, 1879 को वे दिल्ली से मेरठ पधारे और 18 दिन तक यहाँ निवास किया। यहाँ पर ही उन्होंने कुभ मेले मे वितरित करने के लिए विज्ञापन आदि छपवाए थे। पाँचवीं बार 3 मई, 1879 को वे हरिद्वार-कुभ से लौटते हुए कर्नल अल्काट और मैडम ब्लेवेट्स्की को सहारनपुर से अपने साथ लेकर मेरठ पधारे थे। यहाँ सार्वजनिक सभा मे इन दोनों ने ईसाई धर्म के महत्त्व पर अपने विचार प्रकट किए थे और स्वामीजी ने वैदिक धर्म की महत्ता प्रतिष्ठापित की थी। छठी बार स्वामीजी 4 जुलाई, 1887 को पधारे थे और 15 सितबर तक ठहरे थे। इसी समय स्वामीजी ने पंडिता रमाबाई को (जो उनसे वैशेषिक दर्शन पढना चाहती थीं) कलकत्ता से यहाँ बुलाया था। स्वामीजी चाहते थे कि रमाबाई आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर स्त्री जाति में शिक्षा और वैदिक धर्म का प्रचार करे। परंतु स्वामीजी की यह इच्छा पूर्ण न हो सकी और कलकत्ता वापस लौटने के कुछ दिन बाद ही वे ईसाई धर्म मे दीक्षित हो गईं। मेरठ से विदाई के समय रमाबाई

को 125 रुपए और कपडे का एक थान आर्यसमाज की ओर से भेंट किया गया था।

स्वामीजी के मेरठ में निरतर पधारने के कारण वहाँ की जनता में आर्यसमाज और उसके सिद्धातो के प्रति जो अनन्य अनुराग जगा था उसी का सुपरिणाम यह हुआ कि सन् 1878 में यहाँ से 'आर्य समाचार' साप्ताहिक निकला था। सन् 1897 में श्री तुलसीराम स्वामी ने 'वेद प्रकाश' नामक मासिक पत्र यहाँ से प्रारंभ किया और इसमें धारावाहिक रूप से उन्होने 'सामवेद' का भाष्य प्रकाशित किया। बाद में उन्होने सन् 1907 मे 'दयानद पत्रिका' नामक एक और मासिक पत्रिका भी निकाली। श्री रघुवीरशरण दुबलिश के भास्कर प्रेस से सन् 1912 में 'भास्कर' तथा 1913 मे 'भारत महिला' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुए। बाबू घासीराम एमए ने सन् 1917 मे 'आर्य समाचार' को फिर से मासिक रूप में निकाला। इसके प्रत्येक अंक के प्रथम पृष्ठ पर वेद-मत्रों की व्याख्या दी जाती थी। इन पत्रो के अतिरिक्त श्री विश्वम्भरसहाय 'प्रेमी' द्वारा सपादित मासिक 'तपोभूमि' और 'मातृभूमि' (साप्ताहिक) तथा श्रीमती उर्मिला शास्त्री द्वारा सपादित 'जन्म-भूमि', (साप्ताहिक) और सत्यवती स्नातिका का 'किसान सेवक' (साप्ताहिक) भी अपनी उल्लेखनीय विशेषता रखते थे। 'तपोभूमि' का 'भारतीय सभ्यता अक' उल्लेखनीय सामग्री से परिपूर्ण था। आजकल श्री विश्वम्भरसहाय 'विनोद' भी अपने दैनिक 'प्रभात' के माध्यम से आर्यसमाज के सिद्धातो के प्रचार में अग्रणी कार्य कर रहे हैं। इस प्रसंग मे यह तथ्य भी विशेष रूप से उल्लेख्य है कि हिदी के ख्याति-लब्ध साहित्यकार महापंडित राहुल साकृत्यायन का पहला हिंदी-लेख सन् 1916 में मेरठ से श्री रघुवीरशरण दुबलिश के सपादन मे प्रकाशित होनेवाले 'भास्कर' नामक पत्र मे छपा था। उन दिनो राहुलजी आगरा के 'आर्य मुसाफिर विद्यालय' मे पढा करते थे और 'केदारनाथ विद्यार्थी' के नाम से जाने जाते थे। प्रख्यात आर्य विद्वान् पडित गणेशदत्त शर्मा 'इद्र' के सपादन में प्रकाशित 'बाल मनोरंजन' (1914), 'हिदी सर्वस्व' (1915) तथा 'चद्रप्रभा' (1917) भी अपने समय के अच्छे पत्र थे।

आर्यसमाज की स्थापना के बाद सन् 1879 मे स्वामी दयानदजी की प्रेरणा पर फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) से 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इसका नाम पहले 'भारत कुदशा प्रमर्दक' था, बाद में स्वामीजी ने नाम बदल दिया था। इस पत्र का सपादन कुछ समय तक पडित गणेशप्रसाद शर्मा ने भी किया था। इन्हीं दिनों स्वामी श्रद्धानंदजी ने (जब वे महात्मा मुंशीराम थे) कन्या महाविद्यालय जालंधर के सस्थापक लाला देवराज के सहयोग से 'सद्धर्म प्रचारक' (साप्ताहिक) सबसे पहले उर्दू मे निकाला। इसका पहला अक 19 फरवरी, 1889 को प्रकाशित हुआ था। एक दिन एक व्यक्ति ने महात्मा मुशीराम से ताना कसते हुए कहा—"दयानद के इतने कट्टर शिष्य बनते हो पर महर्षि ने तो सारा साहित्य

हिंदी मे लिखा है। आपका 'सद्धर्म प्रचारक' उर्दू में क्यो निकलता है ?" महात्मा मुंशीराम के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। पर 'कार्य वा साधयेयम् शरीरं वा पातयेयम्' के दृढ विश्वासी मुशीरामजी ने अगले ही दिन पत्र मे यह घोषणा कर दी–" 'सद्धर्म प्रचारक' अब हिंदी मे ही प्रकाशित होगा।" मित्रों, हितैषियों तथा आत्मीयों--सभी ने समझाया कि "हिंदी में कौन पढेगा ? पजाब में तो हिंदी केवल स्त्रियाँ ही पढती हैं। पत्र घाटे मे पहले ही चल रहा है। अब यह और घाटा कैसे पूरा करोगे ?" मुशीरामजी का उन सबको एक ही उत्तर था–"देश की राष्ट्रभाषा हिंदी है। आर्यसमाज के प्रत्येक सदस्य के लिए हिंदी का ज्ञान और व्यवहार अनिवार्य बताया गया है। अगर गुजराती होते हुए महर्षि दयानद हिंदी में ग्रंथ लिख सकते हैं और भाषण दे सकते हैं तो हम उनके अनुयायी क्या तनिक भी त्याग नहीं कर सकते ?" फलत 'सद्धर्म प्रचारक' की सामग्री रातों-रात उर्दू से हिदी मे कर दी गई। अब 'प्रचारक' नियमित रूप से हिंदी मे निकलने लगा। वस्तुत पजाब मे उस समय हिदी का यह सबसे पहला और एकमात्र हिदी साप्ताहिक पत्र था।

इसके बाद तो महात्मा मुशीराम में हिंदी के प्रति इतनी अनन्य निष्ठा जगी कि उन्होने 'गुरुकुल कागडी' की स्थापना करके उसके माध्यम से राष्ट्रीयता, राष्ट्रभाषा और वैदिक साहित्य के उन्नयन में उल्लेखनीय कार्य किया, और एक दिन वह भी आया जब वे अपनी इस हिंदी-सेवा के कारण 'अखिल भारतीय हिंदी साहित्य-सम्मेलन' के भागलपुर-अधिवेशन के अध्यक्ष मनोनीत हुए। उन्होने गुरुकुल कागडी के द्वारा राष्ट्रभाषा हिदी के माध्यम से उच्च-से-उच्च वैज्ञानिक शिक्षा देने का संकल्प भी पूर्ण किया। मेरी तो ऐसी मान्यता है कि यदि महात्मा मुंशीराम गुरुकुल कागडी की स्थापना न करते तो 'हिंदी पत्रकारिता' का जो रूप हम आज देख रहे हैं वैसा कदापि न होता। गुरुकुल कागडी से शिक्षा ग्रहण करके निकले हुए अनेक स्नातको ने हिंदी-पत्रकारिता को विकसित करके उसका पथ प्रशस्त करने मे प्रशंसनीय एव अभिनदनीय योगदान दिया है। महात्मा मुशीरामजी ने न केवल स्वयं 'आदर्श पत्रकार' के रूप में अपने गौरव को प्रतिष्ठित किया, प्रत्युत अपने दोनो पुत्रो (हरिश्चद्र वेदालंकार और इंद्र विद्यावाचस्पति) को भी इस कटकाकीर्ण पथ का पथिक बनने की प्रेरणा दी और जब वे 'महात्मा मुशीराम' से 'स्वामी श्रद्धानंद' बन गए और पूर्णत गुरुकुल के कार्यों मे ही व्यस्त हो गए तो 'सद्धर्म प्रचारक' का संपादन अनेक वर्षों तक इंद्रजी ने ही किया था। 'सद्धर्म प्रचारक' के सपादन का भार अपने पुत्र को सौंपकर उन्होने गुरुकुल कांगडी से 'श्रद्धा' नाम से एक साप्ताहिक भी प्रकाशित करना प्रारंभ किया था। हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित देखने की भावना उनमे इतनी प्रबल हो गई थी कि उन्होंने अपनी आत्म-कथा भी 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से हिंदी में ही लिखी। सन् 1911 के दिल्ली-दरबार के समय स्वामी श्रद्धानंद ने 'सद्धर्म प्रचारक'

को लगभग एक मास तक 'गुरुकुल कांगडी' से ही दैनिक रूप में निकाला था। साप्ताहिक की पत्रकारिता से दैनिक की पत्रकारिता की उन्होने अपने पुत्र प्रो इंद्र को जो दीक्षा दी थी, वह इस प्रकार फलवती हुई कि उनकी प्रेरणा पर न केवल उन्होने दिल्ली से दैनिक 'विजय' प्रकाशित किया, बल्कि कालांतर में 'अर्जुन', 'वीर अर्जुन', 'नवराष्ट्र' और 'जनसत्ता' दैनिक के सपादक के रूप में 'हिंदी पत्रकारिता' की जो नींव डाली उसी पर आज उसका यह भव्य भवन खडा है।

स्वामीजी के द्वारा सस्थापित 'गुरुकुल कागडी' के स्नातकों ने इन पत्रों में पत्रकारिता की विधिवत् दीक्षा लेकर देश के विभिन्न क्षेत्रो में फैलकर जो हिंदी पत्र निकाले, बाद में वही राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार का सशक्त माध्यम बने। यहाँ तक कि सन् 1919 मे अमृतसर मे हुए कांग्रेस के अधिवेशन का जब स्वामीजी को स्वागताध्यक्ष बनाया गया तब काग्रेस के मच से कदाचित् सबसे पहले हिंदी मे भाषण देनेवाले वे ही अकेले व्यक्ति थे। उससे पूर्व कांग्रेस की सारी कार्यवाही अग्रेजी में ही हुआ करती थी। उनका स्वागतभाषण भी बिल्कुल निराला था। उसमे उन्होने देश के भविष्य की कल्पना इस प्रकार की थी—"यदि जाति को स्वतत्र देखना चाहते हो तो स्वय सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सतान के सदाचार की बुनियाद रख दो। जब सदाचारी ब्रह्मचारी शिक्षक हो और शिक्षा-पद्धति राष्ट्रीय हो तभी जाति की आवश्यकताओ को पूरा करनेवाले नौजवान मिलेगे। नहीं तो इसी तरह आपकी सतान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम बनी रहेगी। मैं अपने सब भाई-बहनों से एक याचना करूँगा। इस पवित्र जातीय मदिर में बैठे हुए अपने हृदयो को मातृभूमि के प्रेम-जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो और मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न पूरा हो।"

बबई मे सन् 1875 मे आर्यसमाज की स्थापना के बाद वहाँ की प्रतिनिधि सभा की ओर से 'आर्य प्रकाश' नाम से एक मासिक का प्रकाशन सन् 1886 मे प्रारभ हुआ था। उन्हीं दिनो लाहौर से गुरुदत्त विद्यार्थी और आर्य पथिक लेखराम के संपादन मे 'वैदिक मैगजीन' (1881) और 'धर्मोपदेश' (1882) नामक मासिक प्रकाशित हुए थे। इनमे से पहला पत्र अंग्रेजी मे निकलता था। यह समय ऐसा था जब सब ओर से हिंदी पत्रो के प्रकाशन में प्रगति होने लगी थी। प्रख्यात तार्किक विद्वान् पंडित कृपाराम शर्मा (बाद में स्वामी दर्शनानंद) ने काशी मे सन् 1882 मे 'तिमिर नाशक प्रेस' की स्थापना करके उसकी ओर से 'तिमिर नाशक' पत्र का संपादन-प्रकाशन किया था। यह पत्र अन्य मतावलबियों के लिए बम का गोला था। सन् 1880 में जहाँ अजमेर से 'परोपकारिणी सभा' ने 'परोपकारी' (1901) तथा 'अनाथ रक्षक' (1902) का प्रकाशन प्रारभ किया वहाँ राजस्थान और मालवा की 'आर्य प्रतिनिधि सभा' की ओर से 'आर्य मार्तण्ड' नामक मासिक 1895

में अजमेर से प्रकाशित हुआ। इनमें से पहले दोनों पत्रों के संपादक पंडित पद्मसिंह शर्मा थे और दूसरा श्री रामसहाय आर्योपदेशक (बाद में ओमभक्त वानप्रस्थ) के संपादकत्व में निकला था। आजकल 'आर्य मार्तण्ड' का प्रकाशन बंद है और 'परोपकारी' का संपादन डॉ. धर्मवीर बड़ी ही दक्षता से कर रहे हैं। पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ की 'दयानंद पीठ' का अध्यक्ष होने से पूर्व इसका संपादन डॉ भवानीलाल भारतीय किया करते थे। 1890 में इटावा से महर्षि दयानंद के अनन्य अनुयायी पं भीमसेन शर्मा के संपादकत्व में 'आर्य सिद्धांत' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। यही भीमसेन शर्मा बाद में सनातनधर्मी हो गए और 'ब्राह्मण सर्वस्व' नामक मासिक निकालने लगे थे। सन् 1887 में कलकत्ता से 'आर्यावर्त' नामक जो साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ था वह 1897 में राँची चला गया था और बाद में 1898 में वह दानापुर (पटना) से प्रकाशित होने लगा था। उन दिनों इसके संपादक रुद्रदत्त संपादकाचार्य थे। कुछ दिनों तक यह पत्र भागलपुर से भी निकला था। सन् 1891 में इसके संपादक श्री क्षेत्रपाल शर्मा थे, जो बाद में 'सुख संचारक कंपनी' मथुरा के अधिपति बने थे।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का साप्ताहिक पत्र 'आर्यमित्र' सन् 1888 में सबसे पहले मुरादाबाद से निकला था। बाद में अनेक वर्षों तक यह आगरा से प्रकाशित होता रहा और आजकल लखनऊ से निकल रहा है। इसके आदिसपादक संपादकाचार्य पडित रुद्रदत्त शर्मा थे। 'आर्यमित्र' में आने से पूर्व उन्होंने 'आर्य विनय' (1884) नामक पाक्षिक पत्र का संपादन भी किया था। इस पत्र का संपादन कुछ समय तक पंडित बदरीदत्त जोशी ने भी किया था। यह पत्र पहले आर्यसमाज मुरादाबाद की ओर से प्रकाशित होता था और बाद मे वह 'आर्यमित्र' के रूप में बदलकर आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का साप्ताहिक मुखपत्र हो गया। इसका नामकरण पंडित बदरीदत्त जोशी ने किया था। यह सौभाग्य की बात है कि 'आर्यमित्र' को ऐसे कितने ही कुशल संपादक मिले जिनकी संपादन-पटुता और लेखन-शैली आज भी हिंदी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रख्यात वैदिक विद्वान् श्री रामदत्त शुक्ल के पिता श्री नंदकुमार देव शर्मा सन् 1908 में इसके संपादक थे। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि जिन दिनों पंडित हरिशंकर शर्मा इसका संपादन करते थे उन दिनों 'आर्यमित्र' की गणना उच्चकोटि के साप्ताहिक पत्रों में की जाती थी। 'आर्यमित्र' ही आर्य जगत् का ऐसा अकेला पत्र है जिसके संपादन में अनेक ऐसे सज्जनो ने सहयोग दिया है जो हिंदी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रख्यात लेखक श्री लक्ष्मीधर बाजपेयी ने कई वर्ष तक 'सर्वानंद' नाम से इसका संपादन किया था। 'विशाल भारत' और 'मधुकर' के भूतपूर्व ख्याति-प्राप्त संपादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी कलकत्ता जाने से पूर्व उसे कृतार्थ किया था। सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ सत्येन्द्र और कहानीकार श्री रामचंद्र श्रीवास्तव 'चंद्र' ने जहाँ इसके संपादन

में सहयोग दिया था वहाँ इन पंक्तियों का लेखक भी 1939 में इसका सहकारी संपादक रहा था। उन दिनों श्री बाबूराम एमए इसके संपादक थे और हैदराबाद मे छिड़े 'आर्य सत्याग्रह' के कारण यह अर्धसाप्ताहिक हो गया था। 'कल्पना' हैदराबाद के संपादक-मंडल के एक सदस्य और हैदराबाद से प्रकाशित होनेवाले 'संकल्प' नामक मासिक पत्र के आदिसंपादक मधुसूदन चतुर्वेदी ने भी काफी समय तक इसका संपादन किया था। संस्कृत के विद्वान् डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री तर्कशिरोमणि भी अपने जीवन के किशोर-काल में कुछ दिन तक इसके संपादक रहे थे। चतुर्वेदभाष्यकार श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने 'आर्यमित्र' का संपादन उन दिनों किया था, जब इसका प्रकाशन आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर के श्री मथुराप्रसाद शिवहरे के निर्देशन में आगरा से होता था।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा पुरस्कृत श्री ऋषिदेव विद्यालंकार उन दिनों इसके संपादक थे, जब आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुख्य कार्यालय लखनऊ में बन जाने के कारण वह आगरा की बजाय वहाँ से प्रकाशित होने लगा था। गुरुकुल कांगडी के प्राचीन स्नातक श्री धर्मपाल विद्यालंकार भी कुछ दिनों तक इसके संपादक रहे थे। महाविद्यालय, ज्वालापुर के स्नातक श्री गोपालदत्त जोशी ने भी उन दिनों लगभग पाँच वर्ष तक इसका संपादन किया था, जब वे लखनऊ मे रहते थे। गुरुकुल, ज्वालापुर के दूसरे स्नातक श्री सच्चिदानंद शास्त्री ने भी थोडे दिन इसके संपादन में सहयोग दिया था। समय-समय पर कई बार गुरुकुल, वृन्दावन के स्नातक श्री उमेशचंद्र आयुर्वेदशिरोमणि ने भी इसका संपादन किया था और आजकल आचार्य रमेशचंद्र एमए इसके संपादक हैं। श्री हरिशंकर शर्मा के सपादन के दिनों में इसकी साज-सज्जा तथा सामग्री की प्रशंसा उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचंद ने भी की थी। 'आर्यमित्र' ही हिंदी में अकेला ऐसा पत्र है जो अपने जीवन के प्रारंभ से आज तक अत्यंत सफलतापूर्वक प्रकाशित हो रहा है। दो बार यह बीच मे दैनिक रूप में भी प्रकाशित हुआ था। एक बार श्री हरिशंकर शर्मा संपादन करते थे और दूसरी बार लगभग आठ मास तक श्री भारतेन्द्रनाथ साहित्यालकार ने भी इसके सपादन में अपना सहयोग दिया था। 'आर्यमित्र' ने अपनी शक्ति, सामर्थ्य और सीमाओं के अनुरूप आर्य सिद्धांतो का प्रतिपादन एवं प्रचार करने के अतिरिक्त आर्य जगत् में साहित्यिक जागरण लाने की दिशा में भी पर्याप्त सहयोग दिया था। हिंदी के लेखकों में बहुत-से ऐसे हैं जो अपने साहित्यिक विकास के प्रारंभिक काल में 'आर्यमित्र' में ही लिखा करते थे। हिंदी की सुप्रसिद्ध कहानी-लेखिका श्रीमती चंद्रकिरण सौनरेक्सा की पहली कहानी भी उस समय 'आर्यमित्र' में प्रकाशित हुई थी जबकि मैं सन् 1939 में उसमें कार्य करता था। श्रीमती सौनरेक्सा को उसकी 'आदमखोर' नामक कृति पर अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का 'सेकसरिया पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी, महाविद्यालय, ज्वालापुर और गुरुकुल,

वृंदावन के अनेक स्नातक भी 'आर्यमित्र' के माध्यम से ही आगे बढ़े थे। डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम' और डॉ. सूर्यदेव शर्मा किसी समय 'आर्यमित्र' के विशिष्ट कवियों में थे।

'आर्यमित्र' के आदिसंपादक पंडित रुद्रदत्त शर्मा संपादकाचार्य हिंदी के उन स्वनामधन्य पत्रकारों में थे कि हिंदी का कोई ऐसा नामी पत्र नहीं, जिसका संपादन उन्होंने न किया हो। 'आर्यमित्र' के अतिरिक्त उन्होंने 'आर्यावर्त' और 'भारत मित्र' का भी संपादन किया था। अपने पत्रकार-जीवन का प्रारंभ उन्होंने आगरा के 'प्रेमपत्र' नामक पाक्षिक के संपादन से किया था और जिन दिनों वे 'भारत मित्र' (कलकत्ता) में थे उन दिनों उसके 22 जून, 1879 के अंक में एक चिट्ठी इस आशय की भी छपी थी कि स्वामी दयानंद से वेद पढ़ने के लिए कई एक अमरीकन पादरी बंबई आए हुए हैं। स्वामीजी के लेख भी उन दिनों यदाकदा 'भारत मित्र' में प्रकाशित हुआ करते थे और 30 अक्तूबर, सन् 1883 को जब स्वामीजी का देहावसान हुआ था तब उसके 2 नवंबर के अंक में यह समाचार भी प्रकाशित हुआ था। महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती के देहावसान के उपरांत सन् 1895 में बरेली से 'आर्य पत्र' (मासिक) और सन् 1896 में खीरी (उत्तर प्रदेश) से 'आर्य भास्कर' नामक पत्र भी प्रकाशित हुए थे। इनमें से पहले पत्र के संपादक श्री पूरणमल थे।

जिन दिनों महर्षि स्वामी दयानंद देश में सामाजिक जागरण का अपना अभूतपूर्व अभियान चला रहे थे उन दिनों जिन अनेक राज-परिवारों में उनके क्रांतिकारी विचारों का अमर आलोक पहुँचा था उनमें कालाकाँकर (उत्तर प्रदेश) का परिवार अन्यतम था। वहाँ के राजा रामपालसिंह ने लंदन से सन् 1883 में जो हिंदी पत्र 'हिंदोस्थान' नाम से निकाला था, उसे उन्होंने भारत में आकर सन् 1885 में दैनिक रूप दे दिया और उसके प्रथम संपादक का दायित्व महामना मदनमोहन मालवीय को सौंपा। जब उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस में मालवीयजी का धारावाहिक भाषण सुना तो वे उन पर मुग्ध हो गए और उन्होंने मालवीयजी को वहाँ पर ही 'हिंदोस्थान' का संपादन-भार सँभालने को सहमत कर लिया था। बाद में 'हिंदोस्थान' के संपादन में श्री बालमुकुंद गुप्त और पं. प्रतापनारायण मिश्र ने भी सहयोग दिया था। राजा रामपाल सिंह के पौत्र कुँवर सुरेशसिंह ने भी 1938-39 में कालाकाँकर से 'कुमार' नामक युवकोपयोगी मासिक पत्र प्रकाशित किया था। उनकी प्रेरणा से ही उन्हीं दिनों श्री सुमित्रानंदन पंत के संपादन में 'रूपाभ' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्र भी प्रकाशित हुआ था। अमेठी राज्य (उत्तर प्रदेश) में भी आर्यसमाज का काफी प्रचार था। वहाँ के राजकुमार रणंजयसिंह द्वारा संचालित 'मनस्वी' नामक मासिक पत्र का मैंने सन् 1939-40 में आठ मास तक संपादन किया था। काशी के दैनिक 'आज' और 'ज्ञानमंडल लिमिटेड' के संचालक श्री शिवप्रसाद गुप्त भी आर्यसमाज के सुधारवादी आंदोलन से पर्याप्त

प्रभावित थे और कदाचित् उससे प्रेरित होकर ही उन्होंने बाद में 'आज' दैनिक का प्रकाशन किया था। इसका ज्वलंत प्रमाण हमें इस बात से मिलता है कि जब वे विदेश यात्रा पर जा रहे थे तब अपने निजी सचिव के रूप में वे श्री हरिशंकर शर्मा (सुपुत्र कविवर नाथूराम शंकर शर्मा) को अपने साथ ले जाना चाहते थे।

इस शताब्दी के प्रारंभ में एक ओर जहाँ सन् 1900 में आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य प्रदेश की ओर से 'आर्य सेवक' नामक पाक्षिक श्री गणेशप्रसाद शर्मा के संपादन में प्रकाशित हुआ था, वहाँ आर्यसमाज कलकत्ता की ओर से 'आर्यावर्त' (1922) का प्रकाशन हुआ था। इस शती के तीसरे दशक में जहाँ बंगाल-बिहार की आर्य प्रतिनिधि सभा में सन् 1924 में श्री जयदेव शर्मा के संपादकत्व में 'आर्य जीवन' नामक पत्र का प्रकाशन किया था वहीं आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से भी सन् 1914 में 'आर्य' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुआ था। इस पत्र के आदिसंपादक श्री चमूपति एम.ए. थे। बाद में लगभग 6 वर्ष तक श्री अवनींद्रकुमार विद्यालंकार ने इसका संपादन किया और फिर श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति भी इसके संपादक रहे थे। बहुत दिन बाद न जाने किस कारण से प्रतिनिधि सभा की ओर से 'आर्य' की बजाय 'आर्योदय' प्रकाशित होने लगा और इसके संपादक कई वर्ष तक श्री भारतेन्द्रनाथ साहित्यालंकार रहे थे। जब प्रतिनिधि सभा का विभाजन हरियाणा और पंजाब के रूप में अलग-अलग हो गया तब एक की ओर से 'आर्य मर्यादा' प्रकाशित होने लगा और दूसरी ने 'आर्य ज्योति' का प्रकाशन प्रारंभ किया। 'आर्य मर्यादा' का संपादन श्री जगदेवसिंह 'सिद्धांती' किया करते थे और 'आर्य ज्योति' के संपादक श्री हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार रहे थे। श्री सिद्धांतीजी के संपादन-काल में 'आर्य मर्यादा' में पर्याप्त सुपुष्ट सामग्री समाविष्ट रहती थी। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि श्री सिद्धांतीजी ने श्री रघुवीर सिंह शास्त्री के सहयोग से 'सम्राट्' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी स्वतंत्र रूप से दिल्ली से प्रकाशित किया था, जो कई वर्ष तक आर्य जगत् की प्रशंसनीय सेवा करता रहा। आजकल यह पत्र मासिक रूप में श्री चंद्रमोहन शास्त्री के संपादन में अच्छी साज-सज्जा में प्रकाशित हो रहा है। श्री भारतेन्द्रनाथ ने 'आर्योदय' से पृथक् होकर स्वतंत्र रूप से 'दयानंद संस्थान' नामक संस्था की स्थापना करके उसकी ओर से 'जनज्ञान' नामक जो मासिक प्रारंभ किया था उसका संपादन श्री भारतेन्द्रनाथजी की जीवन-संगिनी श्रीमती राकेश रानी कर रही हैं। यदि यहाँ पर 'आर्य सभा' के साप्ताहिक पत्र 'राजधर्म' का उल्लेख न किया गया तो यह विवरण अधूरा ही रह जाएगा। श्री अग्निवेश द्वारा संपादित इस पत्र में जहाँ सांस्कृतिक सामग्री प्रचुर परिमाण में रहती थी वहाँ राजनीतिक चेतना जाग्रत करने की दिशा में भी इस पत्र ने प्रशंसनीय भूमिका निबाही थी। इस संदर्भ मे बिहार प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के पत्र 'आर्य सकल्प' तथा मध्य दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा के 'आर्य जीवन' के नाम स्मरणीय हैं। आर्यसमाज फोर्ट बंबई की ओर से प्रकाशित

'आर्य विजय' (मासिक) भी पिछले 20 वर्ष से नियमित रूप से निकल रहा है। गुरुकुल कांगड़ी के प्राचीन स्नातक श्री विनायकराव विद्यालंकार ने 1946 में हैदराबाद (दक्षिण) से 'आर्यभानु' नामक जो पत्र प्रकाशित किया था वह उस राज्य का पहला हिंदी पत्र था। इस पत्र के सहायक संपादक श्री कृष्णदत्त थे। इस संदर्भ में सन् 1938-39 के आर्य सत्याग्रह के अवसर पर श्री हरिश्चंद्र विद्यार्थी के संपादन में शोलापुर से प्रकाशित 'दिग्विजय' का नाम भी उल्लेख्य है।

गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के पत्र 'भारतोदय' (1909) का नाम हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसके संपादन के दिनों में समालोचक–मूर्धन्य पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अनेक साहित्यिक समस्याओं और आंदोलनों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला था। उन दिनों का हिंदी का ऐसा कोई प्रमुख साहित्यकार या कवि नहीं था, जो इसमें न लिखता हो। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्रप्रसाद का 'समाज-संशोधन' शीर्षक पहला लेख 'भारतोदय' के सितंबर, 1920 के अंक में 'राजेंद्रप्रसाद पांडेय' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उस अवसर पर उन्होंने पंडित पद्मसिंह शर्मा को जो पत्र लिखा था उससे उनकी शालीनता और विनम्रता का परिचय मिलता है। उन्होंने लिखा था–" 'सरस्वती' मे जो लेख देने की आज्ञा की गई सो अनुल्लंघनीय न होने पर भी लेखक के असामर्थ्योपहत होने से विलंबसाध्य होगी।. प्रथम तो ऐसा विषय नहीं सूझता जिस पर हिंदी-रसिको का अनुराग हो। द्वितीयतः हिंदी-लेख में भी सामर्थ्य नहीं। आप कुछ विषय-निर्देश करें तो कुछ यत्न हो। 'समाज-संशोधन' वाला लेख आपको इतना पसंद होगा, यह मुझे कभी धारणा नहीं थी, यदि उधर 'भारतोदय' कृतार्थ हुआ तो इधर मैं भी कृतार्थ हुआ।" राजेंद्र बाबू का वह लेख स्त्रियों की शिक्षा और सामाजिक स्थिति के संबंध में था। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने जहाँ पत्रकारिता के क्षेत्र में नए मानदंड स्थापित किए, वहाँ 'भारतोदय' के माध्यम से उन्होंने जो अनेक लेखक बनाए थे राजेंद्र बाबू भी उन्हीं में से एक थे। शर्माजी के द्वारा दिए गए इस प्रोत्साहन का उल्लेख उन्होंने सार्वजनिक रूप से सन् 1959 में उस समय किया था जब वे गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के 'स्वर्ण जयन्ती समारोह' में सम्मिलित होने वहाँ गए थे। उन्होंने तब न केवल पद्मसिह शर्मा के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित किया था, अपितु 'गुरुकुल' को भी अपनी 'मातृ संस्था' मानते हुए यह उद्‌गार प्रकट किए थे, "इस संस्था के अनन्य सूत्रधार पंडित पद्मसिंह शर्मा ने ही मेरा हिंदी का सबसे पहला लेख यहाँ के मासिक मुखपत्र 'भारतोदय' में प्रकाशित किया था, अतः इस नाते यह शिक्षण-संस्था मेरी भी है और मैं इस भूमि में आकर अपने को धन्य अनुभव कर रहा हूँ।" कविताकामिनीकांत नाथूराम शंकर शर्मा जैसे उत्कृष्ट कवि को हिंदी-जगत् के समक्ष प्रस्तुत करना पद्मसिंह शर्मा जैसे गुण-ग्राहक

संपादक का ही काम था। आचार्य पद्मसिंह शर्मा के संपादन में 'भारतोदय' इतना सुंदर निकलता था कि संपादकाचार्य अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने अपने 'समाचार पत्रों का इतिहास' नामक ग्रंथ में यह लिखकर उसकी आशंका की थी, "मासिक पत्रों में भाषा और विचारों की दृष्टि से ज्वालापुर के गुरुकुल महाविद्यालय का 'भारतोदय' सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।" पंडित पद्मसिंह शर्मा के बाद आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने भी इसका संपादन किया था। उनके समय में भी वे इसके संयुक्त-संपादक रहे थे। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य है कि सुप्रसिद्ध आर्य कवि श्री नाथूरामशंकर शर्मा के सुपुत्र श्री हरिशंकर शर्मा ने भी 'भारतोदय' का कुछ दिन तक संपादन किया था। महाविद्यालय के स्नातक श्री प्रेमचंद शास्त्री काव्यतीर्थ ने उन दिनों इसका संपादन किया था जब यह मुरादाबाद के 'शर्मा मशीन प्रिंटिंग प्रेस' में मुद्रित होता था। इसके बाद यह सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री भीमसेन शर्मा (आगरावाले) के सुपुत्र डॉ. हरिदत्त शास्त्री के संपादन में संस्कृत और हिंदी में प्रकाशित होना प्रारंभ हुआ था, जो आजकल केवल संस्कृत में निकल रहा है।

इस प्रकार जहाँ आर्यसमाज के लिए कार्यक्षेत्र तैयार करने का पुनीत कार्य यह सभी पत्र कर रहे थे वहाँ गंभीर सैद्धांतिक लेखों के द्वारा वैदिक धर्म के महत्त्व को बढ़ाने और वेदों के अनुशीलन को निरंतर गतिशील बनाने के लिए मेरठ के सामवेद-भाष्यकार श्री तुलसीराम स्वामी का पत्र 'वेदप्रकाश' (मासिक) अत्यंत प्रशंसनीय कार्य कर रहा था। पहले यह साप्ताहिक रूप में कानपुर से सन् 1884 में श्री राधाकृष्ण गुप्त के संपादन में प्रकाशित होता था। मेरठ के 'वेदप्रकाश' के कुल 180 अंक प्रकाशित हुए थे, जिनकी पृष्ठ संख्या 3877 है। 'वेदप्रकाश' मे यज्ञ, शास्त्रार्थ, मृतक दाह, मृतक श्राद्ध, वेदार्थ, विधवा-विवाह, क्षमा, दया, प्रायश्चित्त, खान-पान, छुआछूत, कर्मकांड, उपासना, भूत-प्रेत, पुराण, तंत्र तथा भगवत-खंडन आदि लगभग 200 विषयों पर शोध-सामग्री से परिपूर्ण अत्यंत प्रामाणिक और गंभीर लेख प्रकाशित हुए थे। ये लेख आर्य-सिद्धांत-संबंधी ज्ञान प्राप्त करने के लिए बड़े ही उपयोगी हैं। विरोधियों के प्रश्नों के उत्तर देने तथा संपादकीय टिप्पणियों द्वारा आर्यसमाज को उपयोगी दिशा-निर्देश देने आदि में इसके संपादक श्री तुलसीराम स्वामी बडी रुचि लेते थे। आर्यसमाज में साहित्यिक चेतना उत्पन्न करना जहाँ 'भारतोदय' का लक्ष्य था वहाँ 'वेदप्रकाश' का उद्देश्य उसमें बौद्धिक तथा वैदिक भावना बढाना था। हर्ष क्रा विषय है कि आजकल भी 'वेदप्रकाश' प्रख्यात आर्य प्रकाशक गोविंदराम हासानंद, दिल्ली की ओर से प्रकाशित हो रहा है और इसके आदरणीय संपादक श्री स्वामी जगदीश्वरानंद (जगदीशचंद्र विद्यार्थी) हैं। इस प्रसंग में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा के पिता श्री गोवर्धन बी.ए. द्वारा संपादित और सन् 1915 में दिल्ली से प्रकाशित 'प्रह्लाद' साप्ताहिक का नाम भी विशेष महत्त्व

रखता है।

प्रख्यात आर्य पत्रकार श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा के संपादकत्व में 'विकास' नामक जो साप्ताहिक पत्र सहारनपुर से प्रकाशित हुआ था उससे भी विशेषतः पश्चिमोत्तर भारत और सामान्यतः समस्त देश में 'आर्य विचारधारा' के प्रचार एवं प्रसार में उल्लेखनीय सहयोग मिला था। अजमेर में सन् 1933 में संपन्न हुई 'दयानंद-निर्वाण अर्ध शताब्दी' के अवसर पर प्रकाशित उसका 'आर्यसमाज अंक' आज भी अपनी विशिष्टता के लिए याद किया जाता है। इस विशेषांक का संपादन राज्यरत्न आत्माराम अमृतसरी ने किया था। श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा बाद में नागपुर चले गए और उन्होंने मध्यप्रदेश को अपनी कर्मभूमि बनाया। कई वर्ष तक वे मध्यप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री रहे और उसकी ओर से प्रकाशित होनेवाले 'आर्य सेवक' का सफल संपादन भी किया था। इन्होंने वहाँ से स्वतंत्र रूप से 'आलोक' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया था और आजकल 'भारत गो सेवक समाज' के पत्र 'गोधन' का संपादन कर रहे हैं। कई वर्ष तक शर्माजी ने 'माहेश्वरी' साप्ताहिक और 'आर्यकुमार' का भी संपादन किया था। 'आर्यकुमार' का प्रारंभ उस समय हुआ था जबकि आर्यसमाज के पुराने कर्मठ नेता डॉ. केशवदेव शास्त्री ने अपने घनघोर प्रयत्न से सन् 1909 में 'आर्यकुमार परिषद्' की स्थापना करके उसका पहला अधिवेशन सहारनपुर में किया था। इस अधिवेशन की अध्यक्षता लाला लाजपतराय ने की थी। डॉ. केशवदेव शास्त्री ही उसके आदिसंपादक थे। पहले यह पत्र साप्ताहिक रूप मे प्रकाशित होता था, कुछ दिन तक द्वैमासिक भी रहा था, और बाद में मासिक हो गया था। मेरठ के श्री विश्वम्भरसहाय 'प्रेमी' और दिल्ली के डॉक्टर युद्धवीर सिंह ने भी कई वर्ष तक 'आर्यकुमार' का संपादन किया था। सन् 1919 में भी फतहपुर (उत्तर प्रदेश) से 'आर्यकुमार' नामक एक और पत्र प्रकाशित हुआ था और इसका संपादन श्री मथुराप्रसाद करते थे।

आर्यसमाज की पत्रकारिता के इतिहास में डॉक्टर केशवदेव शास्त्री का नाम विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने आर्य युवकों में वैदिक धर्म के प्रति आस्था जगाकर उनका नैतिक चरित्र उठाने की दृष्टि से सन् 1910 में 'नवजीवन' नामक एक और मासिक पत्र का संपादन-प्रकाशन काशी से किया था। वास्तव में शास्त्रीजी ने इसका उपयोग धर्मपाल बी.ए. और सुनीति देवी (गुजरानवाला गुरुकुल के हैडमास्टर श्री सुखदयाल एम.ए. की बहन) के विवाह-सबंध के प्रचार-साफल्य और तत्संबधी आंदोलन में बढ़-चढकर किया था। इस विवाह-समारोह में देश-विदेश के लगभग 500 से अधिक आर्य-परिवार सम्मिलित हुए थे। डॉ. केशवदेव शास्त्री के सहसा अमरीका चले जाने के कारण जब इसका प्रकाशन स्टार प्रेस प्रयाग की ओर से होने लगा था तब इसका संपादन श्री चंद्रशेखर वाजपेयी किया करते थे। किंतु यह उनसे चल नहीं सका और फिर बंद हो गया। बाद मे यह पत्र

श्री द्वारकाप्रसाद 'सेवक' के सपादन में सन् 1915 में इंदौर से कई वर्ष तक सफलतापूर्वक प्रकाशित हुआ। सेवकजी बडे की कर्मठ और अध्यवसायी पत्रकार थे। उन्होने अजमेर से भी 'वैदिक संदेश' नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। इसमें बडे क्रांतिकारी लेख प्रकाशित होते थे। राज्यरत्न मास्टर आत्माराम अमृतसरी के संपादन में सन् 1919 में कोल्हापुर से प्रकाशित 'वैदिक मार्तण्ड' नामक द्विमासिक पत्र भी अपने समय मे अत्यंत उल्लेखनीय था। किसी समय प्रख्यात आर्य नेता श्री गगाप्रसाद उपाध्याय के संपादन में प्रकाशित 'वेदोदय' नामक मासित्र पत्र भी इलाहाबाद से बडे ठाट-बाट से निकला करता था। बाद में उपाध्यायजी के सुयोग पुत्र श्री विश्वप्रकाश के निरीक्षण मे यह सन् 1934 तक बराबर प्रकाशित होता रहा और फिर आर्थिक क्षति के कारण इसे स्थगित कर देना पडा। इस पत्र में उपाध्यायजी के अतिरिक्त अनेक आर्य विद्वानों के बडे गंभीर लेख प्रकाशित हुआ करते थे। दिल्ली के मासिक 'श्रद्धानंद' और 'शुद्धि समाचार' भी अच्छी सामग्री देते थे। इन दोनों पत्रों का सपादन स्वामी चिदानद संन्यासी किया करते थे। काशी के 'श्री सनातन धर्म' नामक पत्र के प्रत्युत्तर मे प्रख्यात पत्रकार श्री राधामोहन गोकुलजी ने कलकत्ता से सन् 1909 में 'सत्य सनातन धर्म' नामक पत्र निकाला था। गोकुलजी ने नागपुर के 'प्रणवीर' साप्ताहिक और आगरा के 'वैभव' नामक दैनिक का भी संपादन किया था।

उन दिनो आर्य सिद्धातों को व्यापक रूप से जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की दिशा मे जो अनेक आर्य पत्रकार अपना योगदान दे रहे थे उनमे प्रख्यात वैदिक विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की सेवाएँ सर्वथा अविस्मरणीय हैं। उन्होंने 'स्वाध्याय मंडल औंध (सतारा)' से 'वैदिक धर्म' नामक मासिक पत्र के द्वारा आर्य जगत् की बहुत सेवा की थी। उनके द्वारा किए गए वेद-भाष्यों और आर्य-साहित्य-संबधी टिप्पणियों को पढने के लिए लोग लालायित रहा करते थे। यह उल्लेखनीय है कि अनेक विघ्न-बाधाओ से जूझते हुए 'वैदिक धर्म' उसी धूमधाम से निकला तथा सातवलेकरजी के निधन के बाद भी कई वर्ष तक उनके सुपुत्र श्री वसन्त श्रीपाद सातवलेकर ने उसे निर्विघ्न रूप से प्रकाशित किया। यह खेद का विषय है कि दिसंबर 1975 के अक में अपनी 'विनम्र निवेदन' शीर्षक पंक्तियों में इसके संचालको ने उसे बंद करने की घोषणा इस प्रकार की थी--"आगामी वर्ष से वैदिक धर्म' का प्रकाशन प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण बंद करना पड रहा है, इसलिए हम दुखित है।" निरंतर 56 वर्ष तक प्रकाशित होने के बाद 'आर्यसमाज स्थापना शताब्दी' के दिनों में इसका बंद होना निश्चय ही एक भारी आघात है। इसी प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण अजमेर के 'वेद सस्थान' की पत्रिका 'सविता' भी अपनी उल्लेखनीय विशेषता रखती है। इसका संपादन स्वामी विद्यानद 'विदेह' के कनिष्ठ पुत्र श्री अभयदेव शर्मा करते हैं और इसका प्रकाशन अब भी नियमित रूप से हो रहा है। रामलाल कपूर ट्रस्ट,

वाराणसी की ओर से प्रकाशित होनेवाली 'वेद वाणी' नामक पत्रिका का भी अपना उल्लेखनीय स्थान रहा है। इसका संपादन पहले श्री ब्रह्मदत्त 'जिज्ञासु' किया करते थे और अब यह पत्रिका श्री युधिष्ठिर मीमांसक के संपादन में सोनीपत (हरियाणा) से प्रकाशित होती है, जहाँ पर ट्रस्ट का कार्यालय वाराणसी से स्थानांतरित हो गया है। श्री गुरुदत्त वैद्य के निरीक्षण में प्रकाशित 'अखिल भारतीय शाश्वत संस्कृति परिषद्' की मासिक पत्रिका 'शाश्वत वाणी' में भी अच्छी सैद्धांतिक सामग्री रहती है। इसका संपादन श्री अशोक कौशिक करते हैं। श्री राजपाल शास्त्री का दिल्ली से प्रकाशित 'मधुर लोक' और श्री ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम' का 'तपोभूमि' भी अच्छे मासिक पत्र हैं।

इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त मेरे संपादन में सन् 1937-38 में सहारनपुर से प्रकाशित होनेवाला साप्ताहिक 'आर्य' भी अपनी अल्पकालीन जीवन-यात्रा में आर्यजगत् में पर्याप्त समादृत हुआ था। इसके संचालक और आदिसंपादक श्री शीतलप्रसाद विद्यार्थी थे, जिन्होंने सन् 1924 में श्री प्रियरत्न आर्ष (बाद में स्वामी ब्रह्ममुनि) के सहयोग से 'शांति' नामक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की थी। इस पत्रिका में वैदिक वाङ्मय और आर्यसमाज से संबंधित प्रचुर प्रेरक सामग्री रहा करती थी। अजमेर से सन् 1938-39 में श्री दत्तात्रेय बाब्ले के संपादन में प्रकाशित 'अजय' (मासिक) और 'विजय' (साप्ताहिक) का भी आर्यजगत् में अत्यंत उल्लेखनीय स्थान रहा था। ऐसी ही सामग्री से परिपूर्ण 'आर्य सदेश' नामक एक साप्ताहिक पत्र आगरा से स्वामी परमानंद के संरक्षण में सन् 1939 में प्रकाशित हुआ था, जो 6-7 मास ही जीवित रह सका। इसका सपादन श्री हरिशंकर शर्मा किया करते थे। मैं भी इसी पत्र में सहकारी संपादक रहा था। वास्तव में पं हरिशंकर शर्मा के निरीक्षण में इस पत्र से ही मैंने पत्रकारिता की विधिवत् दीक्षा ली थी। गुरुवर पद्मसिह शर्मा के पवित्र सान्निध्य और आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ के आचार्यत्व में 'पत्रकारिता' की जो वर्णमाला मैंने अपने शिक्षण-काल में गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर मे सीखी थी उसका अभ्यास सहारनुपर मे किया और श्री हरिशंकर शर्मा के पुण्य पुनीत निरीक्षण में मैं वहाँ विधिवत् पत्रकार बना। श्री शर्माजी ने 'आर्यमित्र' से त्यागपत्र देकर उसका संपादन करने से पूर्व 'निराला' और 'प्रभाकर' नामक पत्रों का सपादन भी किया था। कुछ दिन तक वे आगरा के गयाप्रसाद एंड संस प्रकाशक की ओर से सचालित एवं प्रकाशित 'साधना' नामक पत्रिका के संपादक भी रहे थे। उन्होंने आगरा से प्रकाशित आध्यात्मिक मासिक 'कर्मयोग' का भी संपादन किया था।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली की ओर से डॉ. केशवदेव शास्त्री के संपादन में सन् 1927 में प्रकाशित 'सार्वदेशिक' मासिक हिंदी के उन पत्रों में था, जिसके पाठक भारत के अतिरिक्त विदेशों में भी थे। 'सार्वदेशिक' के एक संपादक प्रो. सुधारक एम.ए. को उनकी 'क्रियात्मक मनोविज्ञान' नामक पुस्तक पर अखिल

भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का 'मगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ था। श्री रघुनाथप्रसाद पाठक 'सार्वदेशिक' के सहकारी संपादक थे। इन दोनों महानुभावों ने इसे पौष्टिक सामग्री और प्रेरक विचारों से परिपूर्ण करके सर्वांगीण बनाया था। अब यह साप्ताहिक रूप मे अत्यत साधारण कलेवर में प्रकाशित होता है। इसी शृंखला में गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी का मुखपत्र 'गुरुकुल पत्रिका' भी है। पहले यह 'गुरुकुल' नाम से साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता था और अब मासिक है तथा सस्कृत में प्रकाशित होता है। कुछ दिन तक यह 'गुरुकुल समाचार' नाम से भी प्रकाशित हुआ था। गुरुकुल कांगडी के स्नातकों के सगठन 'स्नातक मडल' की ओर से प्रकाशित 'अलंकार' का नाम भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। पहले यह पत्र श्री सत्यव्रत सिद्धांतालंकार के संपादन में सन् 1924 में निकला था और बाद में यह श्री देवशर्मा विद्यालंकार के संपादन में सन् 1934 में प्रकाशित हुआ था। यहाँ गुरुकुल के ही स्नातक श्री विश्वनाथ विद्यालंकार और श्री चद्रमणि विद्यालंकार के संपादन में सन् 1921 मे प्रकाशित 'वैदिक आदर्श' नामक मासिक का नाम भी उल्लेखनीय है। सन् 1953 मे श्री जे पी चौधरी काव्यतीर्थ के संपादन में प्रकाशित पत्रिका 'पाखंड खंडिनी पताका' का भी अपनी सामग्री के कारण विशिष्ट महत्त्व था।

इन पत्रों के अतिरिक्त और भी बहुत-से ऐसे पत्र हैं, जिन्होंने अपने उद्देश्यो की पूर्ति के साथ-साथ हिंदी के प्रचार और प्रसार मे बहुत योग दिया। ऐसे पत्रो में 'शकर' (मुरादाबाद) 'दिवाकर' (आगरा), 'वेद पथ' (ज्वालापुर), 'न्याय' (अजमेर), 'सजय' नया 'दयानंद सदेश' (दिल्ली) और 'आर्य ससार' (कलकत्ता) के नाम विशेष परिगणनीय हैं। इनमे से 'शकर' का सपादन पं बदरीदत्त जोशी और आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने, 'दिवाकर' का संपादन सर्वश्री मधुसूदन, चतुर्वेदी, श्रीशचद्र शुक्ल, विष्णुदत्त कपूर और हरिदत्त शास्त्री ने, 'न्याय' का सपादन श्री विश्वदेव शर्मा ने, 'संजय' का संपादन श्री भद्रसेन गुप्त ने, 'दयानद संदेश' का सपादन आचार्य राजेद्रनाथ शास्त्री (आजकल सच्चिदानद योगी) ने और 'आर्य ससार' का संपादन श्री रमाकात उपाध्याय ने किया था। 'दिवाकर' ने अपने विशेषांको के कारण किसी समय हिंदी जगत् में बडी धूम मचाई थी। इसके 'वेदांक' और 'शिक्षांक' अपनी महत्त्वपूर्ण, सुसपादित और सुपुष्ट सामग्री के कारण आज भी याद किए जाते हैं। 'वेदाक' का संपादन आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने किया था। आचार्यजी ने ही 'शकर' (मुरादाबाद) के 'दयानंद जन्म शताब्दी अक' का सपादन किया था। 'संजय' का 'महाभारत अंक' और 'दयानद सन्देश' का 'कर्मवीर अक' तथा 'असिधारा अक' सर्वथा उपादेय सामग्री से परिपूर्ण थे। इन दोनों के सपादक गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के स्नातक हैं। हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश) से प्रकाशित होनेवाली अस्तगत 'कल्पना' और 'अजन्ता' के संपादक डॉ आर्येन्द्र शर्मा और वशीधर विद्यालकार भी आर्यसमाज की ही

विभूति हैं। इनमें से पहले गुरुकुल, बदायूँ के स्नातक हैं और दूसरे गुरुकुल कांगड़ी के। अजमेर का साप्ताहिक 'न्याय' श्री विश्वदेव शर्मा के संपादन में 2 अक्टूबर, 1966 से दैनिक हो गया है और उसके प्रथम अंक का विमोचन तथा उद्घाटन मैंने ही किया था। 'न्याय' अब भी बड़ी शान से प्रकाशित हो रहा है।

आर्यसमाज के क्षेत्र में कार्य करनेवाले पत्रकारों ने जहाँ वैदिक धर्म के प्रचार, राष्ट्रीय जागरण और समाज-सुधार की दिशा में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया, वहाँ स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में भी वे पीछे नहीं रहे। इसी पावन उद्देश्य को सामने रखकर जहाँ लाला देवराज ने जालंधर में 'कन्या महाविद्यालय' की स्थापना की, वहाँ उन्होंने अपने विद्यालय की ओर से 'पांचाल पंडिता' नामक पत्रिका भी प्रकाशित की थी। पहले वह आधी अंग्रेजी में और आधी हिंदी में प्रकाशित होती थी, किंतु बाद में इसे पूर्णतः हिंदी-पत्रिका ही बना दिया गया था। फिर इसमें अंतिम चार पृष्ठ छोटी बालिकाओं के लिए भी बढा दिए गए और उसका नाम 'सुकुमारी' रख दिया गया। इस प्रकार इस पत्र ने जहाँ नारी-जागरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था वहाँ महिलाओं में लेखन की अभिरुचि भी उत्पन्न की थी। 'पांचाल पंडिता' से पूर्व लाहौर से 'भारत भगिनी' (1888) नामक पत्रिका वहाँ के बैरिस्टर श्री रामरोशनलालजी की धर्मपत्नी श्रीमती हरदेवीजी कई वर्षों से निकाल रही थीं। श्री हरदेवीजी सुप्रसिद्ध एक्जीक्यूटिव इंजीनियर श्री रामकन्हैयालालजी की सुपुत्री थीं जिनका पुनर्विवाह सुप्रसिद्ध आर्य प्रचारक श्री अलखधारीजी के प्रयत्न से उक्त बैरिस्टर महोदय के साथ संपन्न हुआ था। इसी शृंखला में कन्या गुरुकुल, कनखल (हरिद्वार) की ओर से सन् 1938 में प्रकाशित 'उषा' का नाम भी स्मरणीय है। इसकी संपादिका श्रीमती शकुंतला 'जलविद' थीं। इसी नाम की एक पत्रिका सन् 1913 में गुरुकुल कांगडी से भी प्रकाशित हुई थी, जो 1920 तक सफलतापूर्वक चली थी। 'आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा' की ओर से भी 'आर्य संदेश' नामक मासिक हिंदी और गुजराती में निकलता था, जिसका सपादन श्री राजेंद्र पंडित किया करते थे। 'जात-पाँत तोडक मंगल' के श्री संतराम बी.ए. ने कन्या महाविद्यालय जालंधर से 'भारती' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन सन् 1920 में किया था और वहाँ से ही सन् 1922 में 'जलविद सखा' पत्रिका भी प्रकाशित हुई थी। इन्हीं श्री संतरामजी ने सन् 1914 में 'जात-पाँत तोडक मंडल' की ओर से 'उषा' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया था और उन्हीं दिनों में 'आर्य प्रभा' नामक एक और मासिक पत्रिका को भी जन्म दिया था, जो सन् 1918 में साप्ताहिक हो गई थी। उनके द्वारा संपादित 'युगांतर' नामक मासिक का नाम भी हिंदी-पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना उल्लेखनीय स्थान रखता है। सन् 1926 में श्री दीनानाथ सिद्धांतालंकार के संपादन में सर गंगाराम ट्रस्ट सोसाइटी, लाहौर, की ओर से प्रकाशित 'विधवा-बंधु' (मासिक) भी अपने समय का अच्छा पत्र था।

'विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान' की ओर से सुप्रसिद्ध आर्य विद्वान् श्री विश्वबधु शास्त्री के साधु आश्रम, होशियारपुर से प्रकाशित होनेवाली मासिक पत्रिका 'विश्व-ज्योति' का नाम भी अपनी शोध-सामग्री के कारण चिरस्मरणीय रहेगा। यह अब भी निरंतर प्रकाशित हो रही है। इसके विशेषांक हिंदी-साहित्य की अतुल निधि हैं। 'अमृतधारा' के आविष्कारक वैद्य ठाकुरदत्तजी भी आर्यसमाजी थे। वे अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के 1941 के दिसंबर मास मे सपन्न हुए अबोहर-अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने भी सन् 1910 में 'देशोपकारक' नामक एक पाक्षिक पत्र प्रकाशित किया था। लाहौर से प्रकाशित होनेवाली 'खरी बात' मासिक पत्रिका के सपादक श्री दुर्गादास भास्कर भी आर्यसमाजी थे। हिंदी भवन, लाहौर, की ओर से प्रकाशित 'भारती' पत्रिका की भी किसी समय हिंदी-जगत् में बडी धूम थी। इसका संपादन श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिद' और हरिकृष्ण 'प्रेमी' करते थे। वहाँ से 'कमल' नाम से बालकों का एक मासिक पत्र भी प्रकाशित हुआ था, जिसका संपादन श्री संतराम 'विचित्र' किया करते थे। इससे पूर्व 'विचित्र' जी ने अलमोडा (उत्तर प्रदेश) के 'नटखट' नाम से एक अन्य बालोपयोगी मासिक पत्र भी संपादित किया था। 'विचित्र' जी अपने जीवन के प्रारंभ मे आर्यसमाज की अनेक गतिविधियों में बढ-चढकर भाग लिया करते थे और उन दिनों वे 'विचित्र' उपनाम के स्थान पर 'आर्य पथिक' लिखा करते थे। हिंदी भवन लाहौर के सचालक श्री देवचंद्र नारंग प्रख्यात इतिहासवेत्ता श्री जयचंद्र विद्यालकार के छोटे भाई थे और भारत-विभाजन से पूर्व लाहौर में आततायियों द्वारा कत्ल कर दिए गए थे।

यदि यहाँ श्री खुशहालचन्द 'खुरसन्द' (बाद में आनंद स्वामी) के लाहौर से सन् 1929 में प्रकाशित 'दैनिक हिंदी मिलाप' और कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले श्री मिहिरचंद्र धीमान के 'जागृति' (कलकत्ता) का उल्लेख न किया गया तो यह विवरण अधूरा ही रह जाएगा। इन दोनों पत्रों ने अपनी-अपनी सीमाओं के अनुरूप आर्य जगत् की उल्लेखनीय सेवाएँ की हैं। 'हिंदी मिलाप' को चलाने में यद्यपि इसके सचालकों को पर्याप्त आर्थिक हानि उठानी पडी है, किंतु अब भी यह जालंधर और हैदराबाद से बराबर प्रकाशित हो रहा है। भारत-विभाजन के एकदम बाद यह कुछ वर्ष तक दिल्ली से भी प्रकाशित होता रहा था और इसका सपादन श्री लेखराम किया करते थे। अगस्त-क्रांति के दिनों में जब मैं सन् 1943 में लाहौर में गिरफ्तार करके नजरबंद किया गया था तब मैं भी 'दैनिक हिंदी मिलाप' में सहकारी संपादक था। उन दिनों भी इसके संपादक श्री लेखराम ही थे, जो मेरे साथ फिरोजपुर जेल में नजरबंद कर दिए गए थे। 'जागृति' पहले साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता था, परंतु बाद में वह दैनिक हो गया था। जिन दिनो यह साप्ताहिक था तब मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव भी अपने देहांत से पूर्व कई वर्ष तक इसका संपादन करते रहे थे। उनके बाद इसके संपादन का

भार श्री जगदीशचंद्र 'हिमकर' ने सँभाला था। इसी क्रम में पंजाब की सुप्रसिद्ध समाज-सेविका श्रीमती शन्नो देवी की दैनिक 'शक्ति' का उल्लेख भी अत्यंत आवश्यक एवं अनिवार्य है। 'शक्ति' के माध्यम से शन्नोदेवीजी ने हिंदी-प्रचार के कार्य के साथ-साथ वहाँ के हिंदू समाज में फैले हुए जात-पाँत के विष को ही सर्वथा निर्मूल नहीं किया, बल्कि वहाँ की जनता में समाज-सुधार की भावनाएँ भी मजबूत कीं। 'शक्ति' का संपादन श्री मोहनसिंह सेंगर किया करते थे। पंजाब की जनता में हिंदी के प्रति निष्ठा जगाने और उसमें विशुद्ध भारतीयता का संदेश प्रचारित करने की पुनीत भावना से प्रेरित होकर श्री भीमसेन विद्यालंकार ने भी 'हिंदी संदेश' नामक मासिक पत्र निकाला था। उन्हीं दिनो उन्होंने शहीदे-धर्म महाशय राजपाल की पुण्य स्मृति में राजपाल एंड संस, लाहौर की ओर से प्रकाशित 'राजपाल' नामक मासिक पत्र का भी संपादन किया था। बाद में इसका नाम बदलकर 'बलिदान' कर दिया गया था। इसका संपादन कुछ दिन तक श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने भी किया था। पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय की शहादत के बाद श्री अमरनाथ विद्यालंकार के संपादन मे प्रकाशित 'पंजाब केसरी' भी अपने समय का उल्लेखनीय साप्ताहिक था। इसी क्रम में महाशय कृष्ण के सुपुत्र श्री वीरेंद्र के 'वीर प्रताप' तथा के. नरेंद्र के 'वीर अर्जुन' का नाम भी लिया जा सकता है। सुप्रसिद्ध हिंदू नेता भाई परमानंद द्वारा संचालित और जालंधर से श्री धर्मवीर एम ए के संपादन में प्रकाशित 'आकाशवाणी' का नाम भी स्मरणीय है। नई दिल्ली से सन् 1938-39 में भाई परमानंद ने 'हिंदू' (साप्ताहिक) भी प्रकाशित किया था। इसके संपादक श्री हरिश्चंद्र विद्यालंकार थे। इसके उपरात पजाब के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला जगत नारायण और उनके सुपुत्र श्री रमेशचंद्र ने जालंधर के 'पंजाब केसरी' तथा 'हिंद समाचार' दैनिक अत्यंत सफलतापूर्वक प्रकाशित किए। यह अत्यंत संताप का विषय है कि पंजाब मे सांप्रदायिक सौमनस्य स्थापित करने के सराहनीय प्रयास में पिता-पुत्र दोनों ही पजाब के उग्रवादियों द्वारा शहीद हो गए।

यदि इस प्रसंग मे बिहार की अमर विभूति और प्रख्यात हिंदी-प्रेमी स्वामी भवानीदयाल संन्यासी द्वारा प्रकाशित पत्रों का उल्लेख न किया गया तो भारी भूल होगी। वे अकेले ही हिंदी के ऐसे अनन्य सेवक थे जिन्होने भारत से बाहर दक्षिण अफ्रीका के डरबन नगर से 'धर्मवीर' नामक एक साप्ताहिक पत्र सन् 1917 में प्रकाशित किया था और उसके द्वारा प्रवासी भारतीयों की सेवा करने के साथ-साथ वैदिक सिद्धांतों और आर्य भाषा हिंदी के प्रचार तथा प्रसार में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया था। यह पत्र आर्य पथिक प लेखराम की पुण्य स्मृति में प्रकाशित किया गया था। उन्होंने केवल हिंदी-प्रचार की दृष्टि से 'हिंदी' नामक एक मासिक पत्रिका भी वहाँ से प्रकाशित की थी। जब वे बिहार में थे तब उन्होंने बिहार प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्य-भार ही नहीं सँभाला, बल्कि उसकी

ओर से प्रकाशित होनेवाले मासिक पत्र 'आर्यावर्त' के संपादन में भी सहयोग दिया था। जिन दिनों वे लगभग 7-8 वर्ष भारत में रहे थे उन्होंने सबसे पहले बिहार प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से अपनी पितृभूमि सहसराम में एक वैदिक पाठशाला भी खोली थी। कानपुर में हुई 'अखिल भारतीय कांग्रेस' की अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडू को अपने अध्यक्षीय भाषण का श्रीगणेश हिंदी में करने की प्रेरणा भी आपने ही दी थी। फलस्वरूप श्रीमती नायडू ने अपने भाषण का प्रारंभ हिंदी में करके बाद में अंग्रेजी का भाषण पढ़ा था। नेपाल से उन्होंने 'हिंदी' का जो 'दीपावली अंक' प्रकाशित किया था उस विशेषांक के लिए अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन में 500 रुपए का पुरस्कार देकर आपकी हिंदी-सेवाओं का सम्मान किया गया था। यह पत्रिका उन्होंने अपनी स्वर्गीय सहधर्मिणी श्रीमती जगरानी देवी की प्रेरणा से प्रकाशित की थी। कदाचित् यह बात बहुत कम लोग जानते होंगे कि स्वामी भवानीदयाल का जन्म दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था। बिहार तो उनके पूर्वजों की जन्मभूमि रहा था। 'हिंदी' के प्रकाशन में उन्हें सर्वश्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मणनारायण गर्दे और मूलचंद्र अग्रवाल से भी पर्याप्त सहयोग मिला था। सन् 1925 में जब वे दक्षिण अफ्रीका छोड़कर भारत में आए थे तो यहाँ के स्वाधीनता-आंदोलन में भी उन्होंने बढ़-चढ़कर भाग लिया था। जब वे डॉ. राजेंद्रप्रसाद के साथ हजारी बाग जेल में थे तो उन्होंने जेल में भी एक हस्तलिखित पत्रिका निकाली थी। उस पत्रिका के 'कृष्णांक', 'दिवाली अंक' और 'सत्याग्रह अंक' अपनी विशेष सामग्री के लिए आज भी याद किए जाते हैं। लगभग 1200 पृष्ठ की सामग्री के ये सभी विशेषांक बाद में 'बिहार विद्यापीठ' को दे दिए गए थे। सन् 1931 में वे अखिल भारतीय हिंदी संपादक सम्मेलन के अध्यक्ष बनाए गए थे और उसी वर्ष देवघर (बिहार) में हुए 'बिहार प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन' के दशम अधिवेशन की अध्यक्षता भी उन्होंने की थी।

आर्यसमाज के अनेक विद्वानों, सुधारकों तथा साहित्यकारों ने जहाँ अपने अनेक मासिक और साप्ताहिक पत्रों के माध्यम से हिंदी-पत्रकारिता को एक नवीनतम आलोक प्रदान किया वहाँ 'दैनिक पत्रकारिता' को आधुनिकतम रूप में प्रतिष्ठित और सुनियोजित करने में भी वे पीछे नहीं रहे। उन्होंने जहाँ इसका साहित्यिक रूप निखारा वहाँ इसे एक 'राष्ट्रीय अभिव्यक्ति' भी प्रदान की। इस क्षेत्र में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातकों की सेवाएँ सर्वथा अभिनंदनीय एवं स्तुत्य कही जा सकती हैं। स्वामी श्रद्धानंद ने अपने 'सद्धर्म प्रचारक' के द्वारा गुरुकुल के स्नातकों में दैनिक की पत्रकारिता का जो रूप प्रतिष्ठित किया था उसी का प्रयोग उनके सुपुत्र प्रो. इंद्र विद्यावाचस्पति ने अपने 'सत्यवादी' और 'विजय' नामक दैनिक पत्रों में किया। 'विजय' दैनिक के संपादन में इंद्रजी के बड़े भाई हरिश्चंद्र वेदालंकार का भी बहुत बड़ा सहयोग था। कुछ दिन बाद

सन् 1923 भ इद्रजी के संपादकत्व में दिल्ली से दैनिक 'अर्जुन' का विधिवत् प्रकाशन हुआ। 'अर्जुन' ने अपने समय में सामान्यतः आर्यजगत् और विशेषत सारे देश की जो उल्लेखनीय सेवा की वह सब पर भली भाँति प्रकट है। प्रो. इंद्र ने अपने सपादन-काल में इसके माध्यम से जहाँ देश में राष्ट्रीय जागरण किया वहाँ देश को अनेक उच्चकोटि के पत्रकार भी प्रदान किए। आज हिंदी-पत्रकारिता के क्षेत्र में गुरुकुल कांगड़ी के जितने भी स्नातक कार्य कर रहे हैं उन सबका क्रियात्मक प्रशिक्षण प्रो. इंद्र के ही निरीक्षण में 'अर्जुन' के द्वारा सपन्न हुआ था। प्रो इंद्र जहाँ उच्चकोटि के पत्रकार लेखक और वक्ता थे, वहाँ वे वर्षों तक 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' के प्रधान भी रहे थे। उन्हीं दिनों आपने तीन खंडों में 'आर्यसमाज का इतिहास' भी लिखा था। इस 'अर्जुन' का नाम ही बाद में बदलकर 'वीर अर्जुन' हो गया था। श्री लेखराम बीए और इंद्रजी के सुपुत्र श्री जयंत वाचस्पति ने भी बहुत दिन तक 'वीर अर्जुन साप्ताहिक का संपादन किया था। आर्थिक विषयों की एकमात्र हिदी पत्रिका 'संपदा' के यशस्वी संपादक श्री कृष्णचंद्र विद्यालंकार साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' के आदिसंपादक थे। अगस्त-क्रांति के अमर शहीद श्री रमेशचंद्र आर्य ने भी 'वीर अर्जुन' मे कार्य किया था। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि भारत-विभाजन के उपरांत जब 'वीर अर्जुन' की आर्थिक स्थिति खराब हो गई तो इद्रजी ने उसे बंद करके 'जनसत्ता' दैनिक का संपादन सँभाल लिया था। यही 'वीर अर्जुन' बाद में कुछ वर्ष तक आर्यसमाज के पुराने नेता महाशय कृष्ण के उद्योग से दिल्ली से दैनिक रूप में प्रकाशित होता रहा था। आजकल यह साप्ध दैनिक के रूप मे निकल रहा है। महाशय कृष्ण ने लाहौर से भी एक बार सन् 1936 में 'प्रभात' नाम से एक दैनिक पत्र निकालना प्रारभ किया था, किंतु वह कुछ ही दिन में बद हो गया था। इसका सपादन कानपुर के युवा पत्रकार श्री छैलबिहारी दीक्षित 'कटक' ने किया था।

गुरुकुल कागडी के पुराने स्नातकों मे पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रो इंद्र के बाद श्री सत्यदेव विद्यालकार का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। आज हिदी मे जितने भी उल्लेखनीय दैनिक पत्र हैं उनमे से प्राय अधिकांश की आधार-शिला रखने मे उनका प्रमुख हाथ रहा था। उन्होंने जहाँ दैनिक हिदुस्तान' का प्रारंभ किया वहाँ 'नवभारत टाइम्स' के आदिसंपादक भी वे ही रहे थे। दैनिक 'अमर भारत' और 'विश्वमित्र' के नई दिल्ली-संस्करण भी उन्हीं के संपादन मे प्रकाशित हुए थे। उनके बाद श्री सत्यकाम विद्यालंकार का नाम आता है। श्री सत्यकामजी ने दिल्ली के 'नवयुग' नामक दैनिक का संपादन करने के साथ-साथ अनेक और भी पत्रों का संपादन किया था। ऐसे पत्रों मे ला देशबंधु गुप्ता के 'तेज' (उर्दू) की ओर से प्रकाशित होनेवाला 'विजय' साप्ताहिक उल्लेखनीय है। साप्ताहिक 'धर्मयुग' के संपादक के रूप मे उन्होने जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी उसका उदात्त परिष्कार उनके द्वारा संपादित 'नवनीत' में देखने को मिला था। गुरुकुल के एक

और स्नातक श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा संपादित 'आजकल' तथा 'विश्व दर्शन' नामक मासिक भी अपनी विशिष्टता के लिए विख्यात हैं। उन्होंने कुछ समय तक प्रख्यात कहानी-पत्रिका 'सारिका' का संपादन भी किया था। यहाँ गुरुकुल कांगडी से सन् 1921 में प्रकाशित और सर्वश्री विश्वनाथ विद्यालंकार, चंद्रमणि विद्यालंकार तथा देवराज सिद्धांतालंकार द्वारा संपादित 'वैदिक संदेश' का नाम भी स्मरणीय है। इसी प्रकार श्री विश्वनाथ विद्यालंकार के संपादन में आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर की ओर से सन् 1933 में प्रकाशित 'वैदिक विज्ञान' (मासिक) का नाम अपनी विशिष्ट सामग्री के कारण अत्यंत महत्त्व रखता है। श्री नरेंद्र विद्यावाचस्पति के संपादन में नागपुर से प्रकाशित मासिक 'प्रतिभा' भी अपनी विशिष्ट सामग्री और साज-सज्जा के लिए स्मरणीय है। गुरुकुल कांगडी के एक और स्नातक श्री प्रताप विद्यालंकार ने मिर्जापुर से जो 'अभियान' नामक साहित्यिक मासिक पत्र निकाला था वह अपनी विशेषता के लिए आज भी याद किया जाता है।

इन पत्रों और पत्रकारों के अतिरिक्त गुरुकुल कांगडी के जिन स्नातको ने पत्रकारिता के माध्यम से जनता की सेवा की उनमें सर्वश्री अवनींद्रकुमार विद्यालंकार, रामगोपाल विद्यालंकार, दीनानाथ सिद्धांतालंकार, हरिश्चंद्र विद्यालंकार, युधिष्ठिर विद्यालंकार, यज्ञदत्त विद्यालंकार, आनंदस्वरूप विद्यालकार, वेदव्रत विद्यालंकार, शिवकुमार विद्यालंकार, क्षितीशकुमार वेदालंकार, ब्रह्मदत्त विद्यालंकार, यशपाल वेदालंकार, सच्चिदानद विद्यालंकार, आनंद विद्यालंकार, सतीश दत्तात्रेय विद्यालंकार और कृष्णचंद्र मेहता विद्यालंकार आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। 'दैनिक हिंदुस्तान' से सेवा-निवृत्ति के उपरात श्री क्षितीश वेदालंकार आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के पत्र 'आर्य जगत्' का संपादन जिस निष्ठा और तत्परता से कर रहे हैं वह सर्वथा स्तुत्य कहा जा सकता है। श्री विद्यासागर विद्यालकार भी दिल्ली से 'प्रकर' नामक साहित्यिक पत्र का प्रकाशन अत्यंत सफलता से कर रहे हैं। झाँसी और कानपुर से प्रकाशित होनेवाला दैनिक 'जागरण' भी आर्य-परिवार की ही देन है। इसके संचालक श्री पूर्णचंद्र गुप्त आर्यसमाज के अच्छे कार्यकर्ता हैं। कुछ दिन तक जागरण प्रकाशन की ओर से 'कंचन प्रभा' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित हुई थी। इनके अतिरिक्त और भी ऐसे बहुत-से महानुभाव हैं, जिन्होंने आर्यसमाजी क्षेत्र से अलग रहकर भी राष्ट्रभाषा हिंदी के उन्नयन एवं पत्रकारिता के उत्कर्ष में अपना उल्लेखनीय सहयोग दिया था। ऐसे महानुभावों में सर्वश्री मूलचंद्र अग्रवाल और मातासेवक पाठक (विश्वमित्र), श्रीराम शर्मा (विशाल भारत), रमाशंकर त्रिपाठी (लोकमान्य) तथा 'विद्यार्थी' एवं 'खिलौना' के संपादक रामजीलाल शर्मा (हिंदी प्रेस, प्रयाग के संचालक) के नाम विशेष रूप से स्मरणीय हैं। इनमें से श्री रामजीलाल शर्मा हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रधानमंत्री रहे थे

और प्रयाग जाने से पूर्व वे अजमेर के 'वैदिक मन्त्रालय' के व्यवस्थापक भी रहे थे। यहाँ सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड, दिल्ली द्वारा प्रकाशित और श्री ब्रह्मदत्त स्नातक द्वारा सपादित 'पुण्यभूमि' (साप्ताहिक) का उल्लेख अत्यावश्यक है। पिछले दिनो दिल्ली से अभिविनय भारथी के सपादन मे 'वेदोद्धारिणी' नामक जो त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होनी प्रारभ हुई है वह भी शोध तथा अनुसधान की प्रचुर सामग्री से परिपूर्ण होती है। इस प्रसग मे गुरुकुल, इद्रप्रस्थ से प्रकाशित पाक्षिक 'मत्र-द्रष्टा' का नाम भी उल्लेखनीय है। इस पत्र का सपादन स्वामी शक्तिवेश करते है।

'धर्मयुग' के यशस्वी सपादक डॉ धर्मवीर भारती आर्य माता की सुयोग्य सतान है। उनकी पत्रकारिता मे जो प्रखरता, गभीरता और निर्भीकता है, उसे आर्यसमाज की ही देन माना जाना चाहिए। 'नवभारत टाइम्स' के भूतपूर्व सपादक तथा हिदी के मूर्धन्य पत्रकार श्री अक्षयकुमार जैन को उनके आर्यसमाजी पितामह से सदाचार और धार्मिक प्रगतिशीलता के सस्कार विरासत मे मिले है। इनके पितामह प्रख्यात आर्यकवि श्री नाथूराम शकर शर्मा के शिष्य थे। 'नवभारत टाइम्स' के युवा सहसपादक डॉ वेदप्रताप वैदिक इदौर के कट्टर आर्यसमाजी परिवार की ही देन है। 'नवनीत' के वर्तमान सपादक श्री नारायणदत्त की प्रारभिक शिक्षा भी गुरुकुल कागडी मे ही हुई है और उन पर आर्यसमाज की गहरी छाप है।

देश के अन्य भू-भागो की भॉति आर्यसमाज का विस्तार विदेशों मे भी प्रचुर परिमाण मे हुआ है। जहॉ-जहॉ भी आर्यसमाज के कार्यकर्त्ता गए, यह स्वाभाविक ही था कि उन्होने वहॉ-वहॉ ही अपनी भावधारा तथा सिद्धातो के प्रचार तथा प्रसार के लिए पत्र-पत्रिकाओ का सहारा लिया। यदि यहॉ ऐसे पत्रो और पत्रकारो का उल्लेख न किया गया तो यह विवरण अधूरा ही रह जाएगा। उत्तर प्रदेश के कालाकॉकर राज्य के राजा रामपालसिह ने सर्वप्रथम लदन से सन् 1883 में 'हिदोस्थान' नामक त्रैमासिक पत्र का प्रकाशन हिदी मे किया था, जो वहाँ से लगभग दो वर्ष तक बडी सफलतापूर्वक प्रकाशित हुआ था। आरभ मे यह पत्र हिदी, उर्दू और अग्रेजी मे निकला था, किंतु बाद मे यह केवल हिदी मे ही प्रकाशित होने लगा था। स्वदेश लौटने पर इसे उन्होंने दैनिक रूप मे प्रकाशित किया था जिसका उल्लेख यथास्थान हो चुका है। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह मे महात्मा गाँधीजी के अनन्य सहयोगी स्वामी भवानीदयाल सन्यासी की पत्रकारिता के क्षेत्र मे की गई सेवाओं का उल्लेख भी हम पहले कर चुके हैं।

इसी प्रकार सूरिनाम से 'प्रकाश' साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ और त्रिनिदाद से 'ज्योति' नामक मासिक पत्र निकला। फीजी के उत्साही आर्यों ने भी इस दिशा मे उल्लेखनीय कार्य किया और 'वैदिक संदेश' नामक एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया। बाद में 'फीजी समाचार', 'जय फीजी', 'फीजी सदेश', और

'जागृति' नामक पत्रों का प्रकाशन भी वहाँ के आर्यजनो के उत्साह से हुआ। मारीशस में वहाँ की आर्य सभा का पत्र 'आर्योदय' अब भी यथाविधि प्रकाशित हो रहा है। सन् 1908 मे वहाँ से डॉ मणिलाल ने 'हिंदुस्तानी' नामक पत्र प्रकाशित किया था, जो काफी दिन तक आर्यसमाज के विचारो के प्रसार का माध्यम रहा। मारीशस की हिंदी-पत्रकारिता के इतिहास में पं रामअवध और किष्टो प काशीनाथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पं काशीनाथ ने वहाँ से 'आर्य पत्रिका' तथा 'आर्यवीर' का सपादन किया था और पं रामअवध ने 'मारीशस मित्र' नामक पत्र का प्रकाशन किया था। इस संदर्भ में श्री ब्रजनाथ 'माधव' वाजपेयी का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है, जो मूलत भारतवंशी मारीशियन थे और अपने जीवन के अतिम दिनों में पटना आ गए थे और यहाँ 'हिंदुस्तान समाचार' और 'आर्यावर्त' में कार्य करते थे। मारीशस की पत्रकारिता के क्षेत्र मे उनकी देन अनन्य है।

उक्त देशो के अतिरिक्त ब्रिटिश गयाना, डच गयाना, पूर्वी अफ्रीका, केनिया, युगाडा, जजीबार, टगेनिका, बर्मा, पोर्तुगीज, पूर्वी अफ्रीका, स्याम (थाईलैंड), मलाया, सुमात्रा, जावा, ईरान और लंदन आदि अनेक देशो मे आर्यसमाज का क्रातिकारी आदोलन अनेक दशको से पहुँच चुका है और इसके अनेक कार्यकर्त्ताओं तथा नेताओ ने समय-समय पर वहाँ जाकर अपनी भावधारा का प्रसार किया है। इस प्रसग मे बर्मा से श्री रामलाल के सपादन मे प्रकाशित होनेवाली 'आर्य युवक जागृति' पत्रिका का नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। प्राय इन सभी देशो में आर्यसमाज के माध्यम से अनेक शिक्षा-सस्थाएँ और प्रचारक हिंदी को प्रतिष्ठित करने में सलग्न हैं। यहाँ तक कि सीलोन मे भी आर्यसमाज के क्रांतिकारी आंदोलन का उद्घोष पहुँच चुका है। अमरीका मे तो प्रख्यात आर्य नेता डॉ केशवदेव शास्त्री और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अपनी ओजस्वी वक्तृताओ और लेखो से वहाँ की जनता में वैदिक विचारधारा का जो प्रचार किया था वह इतिहास मे स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। उक्त दोनों ही महानुभाव हिंदी के सुलेखक तथा पत्रकार थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानद द्वारा संस्थापित आर्यसमाज ने हिदी-पत्रकारिता के क्षेत्र मे अनन्य और अभूतपूर्व योगदान दिया है। अत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यसमाज के माध्यम से हिंदी साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई है, वह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जाता है। वास्तव में आर्यसमाज ऐसा शानदार भट्टा है, जिसने पिछले सौ वर्षों में हिंदी-पत्रकारिता के भवन को अगणित चट्टानें, ईंटें और स्वर्णिम कलश-कँगूरे प्रदान किये हैं।

[सन् 1984]

दयानंद, गाँधी और मार्क्स

डॉ. प्रभाकर माचवे

कुलपतिजी तथा आदरणीय मित्रो,

मैं सर्वप्रथम गुरुकुल (कागडी) के कुलपति तथा प्राध्यापक डॉ विष्णुदत्त 'राकेश' का बहुत आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे आपके सम्मुख उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के तीन श्रेष्ठ विचारकों का शुभ-स्मरण और तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए यहाँ बुलाया। महापुरुष जीवन-मार्ग के दिशा-दर्शक दीपस्तंभ हैं। उनके जीवन चिंतन के आलोक मे ही हम आगे बढते हैं, आदर्श के लिए संघर्ष की और कितनी भी गई-गुजरी परिस्थिति में मानवता के लिए भावी आशा की प्रेरणा और प्रोत्साहन पाते हैं।

इन व्याख्यानों मे मैं तीनों महान-सुधारकों और नवीन वैचारिक आम्नाय और आयाम निर्माताओं के जीवन और विचारों का आलेख प्रस्तुत करूँगा। तत्पश्चात् कुछ तुलनात्मक प्रश्न उठाऊँगा, जिनका विश्लेषण आज के भारतीय सामाजिक-सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य में आवश्यक और उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी मेरी मान्यता है। हर महान विचारक की एक ऐतिहासिक महत्ता होती है, और उसी के साथ-साथ दिक्काल की सीमा मे ही हर विचार का यथोचित मूल्यांकन होना चाहिए। प्रत्येक विचार के मूल में युग होता है, परंतु उसकी परिणति युग-युग के लिए प्रासगिक और सार्थक होने मे ही निहित है। इसी दृष्टि से, हम पहले तीनों नवीन मत-उन्नायकों का अलग-अलग विचार करेंगे, और उनके सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभावों का समग्रता में विचार करेंगे। आज के भारत को ध्यान में रखकर शास्त्र और शास्त्र-विरोध, धर्म और धर्मनिरपेक्षता, रूढ़ि और पाखंड-खंडन, मत-वाद और समाज-विकास आदि पर पुनर्विचार आवश्यक है। अन्यथा सही अर्थ में न तो 'सत्य के अर्थ पर प्रकाश' पड़ेगा, न 'पूँजी' की गुलामी से मुक्ति मिलेगी, न 'हिंद स्वराज्य' और 'नवजीवन' के लाभ 'हरिजन' को भी मिल सकेंगे। संक्षेप में इस चर्चा में 1824 से 1948 यानी स्वामी दयानंद सरस्वती के जन्म से महात्मा गाँधी के महा-निर्वाण की शती की भारतीय चेतना की चर्चा होगी, और यूरोप में और विश्व में कार्लमार्क्स के वैचारिक प्रभाव की भी।

महर्षि दयानंद सरस्वती

महात्मा गॉधी ने लिखा—"महर्षि दयानद हिदुस्तान के आधुनिक ऋषियो मे, सुधारको और श्रेष्ठ पुरुषों मे एक थे। उनके जीवन का प्रभाव हिदुस्तान पर बहुत अधिक पडा है।" रवींद्रनाथ ठाकुर ने लिखा "मेरा सादर प्रणाम हो उस महान गुरु दयानद को, जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास मे सत्य और इतिहास को देखा और जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अगो को प्रदीप्त कर दिया—जिसने देश की पतितावस्था में सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।" योगी अरविद ने कहा है—"उनके ध्यान से मेरे समक्ष आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्तिसपन्न मूर्ति उपस्थित होती है।—वे स्वय दृढ चट्टान थे। उनमे वह शक्ति थी जो चट्टान पर घन चलाकर पदार्थो को सुदृढ व सुडौल बना सके। प्राचीन सभ्यता मे विज्ञान के बहुत से गुप्त भेद विद्यमान है, जिनमे से कुछ को अर्वाचीन विद्याओ ने ढूँढ लिया है, उनका परिवर्तन किया है और उन्हे अधिक समृद्ध व स्पष्ट कर दिया है, किंतु बहुत से दूसरे अभी तक निगूढ ही बने हुए हैं। इसलिए दयानंद की इस धारणा मे कोई अवास्तविकता नहीं है कि वेदो मे विज्ञान-सम्मत तथा धार्मिक सत्य निहित है।" नेताजी सुभाषचद्र बोस ने कहा—"मैं स्वामी दयानद को एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक तथा कर्मयोगी मानता हूँ। संगठन कार्यों के सामर्थ्य और प्रसार की दृष्टि से आर्यसमाज अनुपम सस्था है—रामकृष्ण मिशन ने बगाल मे जो कुछ किया, उससे कहीं अधिक आर्यसमाज ने पंजाब और सयुक्त प्रात मे किया।" पजाब-केसरी लाला लाजपतराय उन्हें अपना गुरु और धर्मपिता मानते थे। "मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे गुरु ने मुझे स्वतंत्रतापूर्वक विचार करना, बोलना और कर्तव्य-पालन सिखाया। और मेरी माता आर्यसमाज ने मुझे एक सस्था मे बद्ध होकर नियमानुवर्तित्व का पाठ दिया।"

भारत के राष्ट्र नेता ही नहीं अन्य धर्मीय और अन्य क्षेत्रो के महापुरुषो ने दयानद का महत्त्व इन शब्दो मे वर्णित किया है

(1) साधु टी एन वासवानी—"ऋषि के अप्रतिम ब्रह्मचर्य, सत्य सग्राम और घोर तपस्या के लिए अपने हृदय के पूज्य भावो से प्रेरित होकर मैं उनकी वदना करता हूँ। मैं ऋषि को शक्ति-सुत अर्थात् कर्मवीर योद्धा समझकर आदर करता हूँ।"

(2) प्रिंसिपल एस के रुद्र ईसाई थे। पर उन्होंने लिखा—"इसका श्रेय स्वामी दयानद को ही है कि हिंदू लोग आधी शताब्दी में ही रूढ़िवाद और पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा छोडकर अत्यत शुद्ध ईश्वरवाद को मानने लगे।"

(3) जी एस आरुडेल थियोसाफिकल सोसायटी के भारतीय प्रणेता थे। वे मानते थे कि "महर्षि दयानद भारतवर्ष के सर्वोत्तम महापुरुषों में से एक थे। उन्होने भारत मे राष्ट्रीय शिक्षा का विचार पैदा किया।"

(4) श्री विजयराघवाचारियर ने कहा—"आपने न केवल उन लोगों को जिन्होंने आपको विष दे दिया था क्षमा कर दिया। प्रत्युत, वह अपूर्व काम किया कि उन्हे मुकदमे और दंड के चंगुल से छुड़ाया।"

विदेश के कई महामनीषियों ने दयानंद के प्रति बहुत महत्त्वपूर्ण उद्‌गार व्यक्त किए हैं।

(1) "यह पुरुष-सिंह उनमें से एक था जिन्हें यूरोप प्रायः उस समय भुला देता है जबकि वह भारत के संबंध में अपनी धारणा बनाता है, किंतु एक दिन यूरोप को अपनी भूल मानकर उसे याद करने के लिए बाधित होना पड़ेगा, क्योंकि उनमें कर्मयोगी, विचारक और नेता की प्रतिभा का दुर्लभ सम्मिश्रण था।

"दयानंद ने अस्पृश्यता वा अछूतपन के अन्याय को सहन नहीं किया और उससे अधिक उनके अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई नहीं हुआ। भारत में स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में भी दयानंद ने बडी उदारता व साहस से काम लिया। वास्तव में राष्ट्रीय भावना और जनजागृति के विचार को क्रियात्मक रूप देने में सबसे अधिक प्रबल शक्ति उसी की थी। वह पुनर्निर्माण और राष्ट्र संगठन के अत्यंत उत्साही पैगबरों मे से था।"

—फ्रांसिसी लेखक रोम्याँ रोला

(2) हमें वेदों के अध्ययन को प्रोत्साहन देने और यह सिद्ध करने में कि मूर्तिपूजा वेदसम्मत नहीं है, स्वामी दयानंद के महान उपकार को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। आर्यसमाज के प्रवर्तक वर्तमान जाति-भेद की मूर्खता और उसकी हानियों के विरुद्ध अपने अनुयायियों को तैयार करने के अतिरिक्त यदि और कुछ भी न करते तो भी वह वर्तमान भारत के बडे नेता के रूप में अवश्य सम्मान पा जाते।

—जर्मन प्रोफेसर डॉ विण्टरनीज

(3) स्वामी दयानद सरस्वती ने हिंदू धर्म के सुधार का बडा कार्य किया और जहाँ तक समाज-सुधार का संबंध है, वह बडे उदार हृदय थे। वे अपने विचारों को वेदों पर आधारित और उन्हें ऋषियों के ज्ञान पर अवलबित मानते थे। उन्होंने वेदो पर बड़े-बडे भाष्य किए, जिससे मालूम होता है कि वे पूर्ण अधीत थे। उनका स्वाध्याय बडा व्यापक था।

—जर्मन विद्वान मैक्समूलर

(4) स्वामी दयानंद के उच्च व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में निस्संदेह सर्वत्र प्रशंसा की जा सकती है। वे सर्वथा पवित्र तथा अपने सिद्धांतों के अनुसार आचरण करनेवाले महानुभाव थे। वह सत्य के अत्यधिक प्रेमी थे।

—रेवरेण्ड सी. एफ. एंड्रूज

अक्सर स्वामी दयानंद को मुस्लिम-विरोधी कहा जाता है। पर चार बडे मुस्लिम विचारक नेताओं की श्रद्धाजलि कुछ दूसरी ही कथा कहती है ·

(1) मै देखता हूँ कि कोई भी हिदू जब आर्यसमाज में आता है तो उसमे बहुत विशेषता आ जाती है। उसके अदर उत्साह, देशभक्ति, कर्मशीलता और एक तरह की अजीब स्प्रिट काम करने लगती है।

देश के कामो में ही लीजिए, जब तक और लोग स्वराज्य का स्वप्न् देख रहे थे, स्वामी दयानद और आर्यसमाज अपनी पुस्तको द्वारा उसका प्रचार करने लगे थे।

मैं खुशी के साथ कहता हूँ कि असहयोग के जमाने से पहले करीब 30 फीसदी आर्यसमाजी स्वराज्य के कार्यों मे हिस्सा लेनेवाले और लीडर थे, जबकि और सुसाइटियो के मुश्किल से 2-3 फीसदी आदमी ही स्वराज्य का काम करते थे।

—मौलाना हसरत मुहानी

(2) स्वामी दयानद महान सस्कृतज्ञ और वेदज्ञाता थे। वे विद्वान् ही नहीं किंतु एक अत्यत श्रेष्ठ पुरुष भी थे। वे परमहस के गुणो से विभूषित थे। उन्होने केवल एक ज्योतिर्मय निराकार परमेश्वर की आराधना करने की शिक्षा दी। हमारा स्वामीजी से घनिष्ठ सबध था, और हम उनका आदर करते थे। वह ऐसे विद्वान् और श्रेष्ठ पुरुष थे कि अन्य मतावलबी भी उनका मान करते थे।

—सर सैयद अहमद खाँ

(3) महर्षि दयानंद भारत-माता के उन प्रसिद्ध और उच्च आत्माओ मे से थे, जिनका नाम ससार के इतिहास मे सदा चमकते हुए सितारे की तरह प्रकाशित रहेगा। वह भारतमाता के उन सपूतो मे से थे, जिनके व्यक्तित्व पर जितना भी अभिमान किया जाए, थोडा है। नैपोलियन और सिकदर जैसे अनेक सम्राट् एव विजेता ससार मे हो चुके है, परतु महर्षि उन सबसे बढकर थे।

—खदीजा बेगम एम ए

(4) ईसाइयत और पश्चिमी सभ्यता के मुख्य हमले से भारतीयो को सावधान करने का सेहरा यदि किसी व्यक्ति के सिर बॉधने का सौभाग्य प्राप्त हो तो स्वामी दयानदजी की ओर इशारा किया जा सकता है। 19वीं सदी मे स्वामी दयानदजी ने भारत के लिए जो अमूल्य काम किया है, उससे हिदू जाति के साथ-साथ मुसलमानो तथा दूसरे धर्मावलबियो को भी बहुत लाभ पहुँचा है।

—पीर मुहम्मद यूनिस

वस्तुत इन श्रद्धाजलियो के बाद इस गुरुकुल मे दयानद के जीवन और कार्य की विशेषताओ के बारे मे और कुछ कहना मेरे लिए सूर्य को दीपक दिखाने और 'उल्टे बॉस बरेली जाए' वाली लोकोक्ति का पुनरुच्चार होगा। परतु चूँकि यह तुलनात्मक अध्ययन की पुस्तिका उन अनेक पाठको के पास भी जाएगी, जो आर्यसमाज के अनुयायी नहीं होगे या जो महर्षि के जीवन के प्रमुख तथ्यो से अपरिचित होगे, इसलिए मै जल्दी से उनके जीवन की रूपरेखा और उनकी

उपलब्धियों पर कुछ कहकर मुख्य विषय की ओर मुड़ूँगा।

गुजरात में काठियावाड में मोरवी में एक शिवभक्त नैष्ठिक ब्राह्मण अबाशंकर की संतान मूलशंकर दयानंद ने पाँच वर्ष में विद्यारंभ करके, चौदहवें वर्ष में सारा यजुर्वेद कंठस्थ कर लिया। चौदहवें वर्ष में शिवरात्रि के जागरण मे शिवमंदिर में एक चुहिया को शिव-मूर्ति पर चढकर नैवेद्य खाते देखकर दयानंद के मन में शंका जागी कि जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ शिव है क्या वह एक चुहिया को भी नहीं हटा सकता ? मूर्ति-पूजा से उनका विश्वास उठ गया। 1841 मे उनकी बहन की हैजे से मृत्यु ने उनके मन में वैराग्य उत्पन्न कर दिया। पिता ने अंतर्मुखी पुत्र के विवाह की ठानी। पर वे घर छोडकर भाग गए। समर्थ रामदास स्वामी भी विवाह-मडप से भाग गए थे। उन्होने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया। अब वे 14 वर्षों तक हिमालय मे घूमते रहे। 1860 में जब वे मथुरा में पहुँचे तो उन्हे प्रज्ञाचक्षु विरजानद गुरु के रूप में मिले। उनके साथ ढाई वर्षों तक वे वेदाध्ययन करते रहे। नैष्ठिक सन्यासी बनकर उन्होने हरिद्वार के कुभ मेले मे पाखड खडिनी पताका फहराई और मूर्तिपूजा विरोध का प्रचार आरम किया। 1869 मे काशी मे गए और पडितो के साथ संस्कृत में शास्त्रार्थ किया। यहीं पर केशवचंद्र सेन नामक ब्राह्मसमाज के नेता ने कहा कि संस्कृत मे शास्त्रार्थ न करके हिंदी में कीजिए। गुरु विरजानद ने 1863 मे उन्हे जो संदेश दिया था कि "प्राचीन वैदिक धर्म का ज्ञान मातृभूमि में फैलाओ।" उसी को उन्होने अपना जीवन-मत्र बना लिया।

1872 में स्वामी दयानद कलकत्ता पहुँचे। ब्राह्मसमाजियो को लगा कि दयानद उनके अनुयायी बन जाएँगे। पर ब्राह्मसमाजी न आत्मा के पुनर्जन्म को, न वेद की अंतिम और प्रमाणातीत सत्ता को मानते थे। सो उन्होने अपना धर्म चलाने का निश्चय किया। 1874 मे पहला आर्यसमाज स्थापित हुआ। 1877 मे वे पजाब गए। दो महीनो के भीतर लाहौर मे उन्होने आर्यसमाज का मुख्यालय बनाया। उनके उपदेश उन तरुणों के मन मे बहुत अच्छा प्रभाव कर गए जो पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित थे, और हिंदू रूढिवादिता और अधविश्वासो को छोडना चाहते थे, और साथ ईसाई नहीं बनना चाहते थे। 1878 मे दयानद मैडेम ब्लैवत्स्की और कर्नल आलकाट नामक थियोसोफिकल सोसायटी के नेताओ के सपर्क मे आए। पहले वे चाहते थे कि दयानद थियोसोफिस्टो के साथ मिलकर उनके कार्यक्रम का प्रचार करे, परतु वह नहीं हो सका।

दयानद अपना प्रचार-कार्य ज्यो-ज्यो बढाते गए, उनका विरोध भी बढता गया। उन्हे नदियों मे डुबाकर मारने का प्रयत्न किया गया। काशी, लाहौर, पूना मे उन पर पत्थर फेंके गए। बाजारो में उन्हें अपमानित किया गया। पर उन्होने किसी की परवाह नहीं की। उनका प्रभाव बढता गया। वे अपने अमर ग्रथो का, सत्यार्थप्रकाश और संस्कार विधि, ऋग्वेद भाष्य-भूमिका और सातवे मडल तक

ऋग्वेद का भाष्य और बाद मे यजुर्वेद भाष्य आदि अनेक छोटे-बडे ग्रथो का प्रणयन करते गए। स्कूल, कॉलेज, गुरुकुल, सस्कृत पाठशालाओ की स्थापना की। उन्होने विधवाश्रम भी स्थापित किए। 1883 मे उन्हे जोधपुर के महाराज ने बुलाया, जहॉं वे बीमार पड गए। एक मुस्लिम नर्तकी, जो राजा की रखैल थी उसने अपने को अपमानित अनुभव कर एक रसोइए के हाथों कॉंच पीसकर भोजनार्थ देकर दयानद पर विष प्रयोग किया। महर्षि अक्टूबर 1883 मे दिवगत हो गए।

उनके द्वारा प्रचारित दर्शन और समाज-सुधार की निम्न दस विशेषताओ का लोहा जो आर्यसमाजी नही भी है, वे भी मानते हैं।

(1) वेद ईश्वर प्रणीत है। उनके ज्ञान का सृष्टि प्रक्रिया से पूर्ण मेल है। वे स्वत प्रमाण है। दूसरे किसी भी ग्रथ के ज्ञान का सृष्टि की बातों से इतना मेल नहीं। वेद ही मानव समाज के वैज्ञानिक और पारमार्थिक विचारो के उद्‌गम है। वेदांत ही श्रेष्ठतम दर्शन है।

(2) मूर्ति-पूजा व्यर्थ है। पौरोहित अनुष्ठान झूठे हैं। अवतारवाद और तीर्थाटन की बाते केवल पौराणिक कपोल-कल्पना पर आधारित हैं। अट्ठारह पुराण मूल्यवान नहीं।

(3) जातिभेद एकदम गलत है। गुण कर्म विभाग ही जातियॉं हैं, जन्मना नहीं। अत मनुष्य मनुष्य मे ऊॅंच-नीच का भेद करना यह अत्यत अवैदिक धारणा है।

(4) अन्य धर्मों का अवलबन करनेवाले वैदिक धर्म को अपना सकते हैं। जो हिदू धर्म-परिवर्तन से मुस्लिम, ईसाई या अन्य धर्मीय हुए हैं, वे पुन हिदू हो सकते हैं।

(5) स्त्रियो की जागृति के पक्ष में, दयानद द्वारा माता को प्रथम स्थान दिया गया (पिता को द्वितीय, आचार्य को तृतीय)। उन्होने बाल-विवाह, प्रीति विवाह प्रोत्साहन,, विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन, कुछ विशेष परिस्थितियो में नियोग को भी मान्यता दी। शिक्षा के क्षेत्र मे स्त्री और पुरुष मे वे भेद नहीं करते थे।

(6) दयानद ने परदेश-पर्यटन को निषिद्ध नहीं माना। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन और परीक्षित करके वहॉं की अच्छी बातो को अपनाने पर बल दिया।

(7) ब्रह्म यज्ञ--सध्या, नियमित वेद पठन
देव यज्ञ--अग्नि की उपासना
पितृ यज्ञ--बडो की सेवा
अतिथि यज्ञ--विद्वान, अतिथि, सन्यासी को भोजन देना
बलि यज्ञ--अध, पगु, अनाथ, पशु-पक्षी को अन्न दान

(8) शाकाहार और गो-रक्षा का महत्त्व। 'गो करुणानिधि' ग्रंथ मे इस पर विशेष आग्रह किया गया।

(9) योग के चमत्कार निरे तमाशे हैं। दयानंद की ऐसे झूठे प्रचारक योगियों

से अनास्था थी। 'पायोनियर' के संपादक मि सिनेट को उन्होंने लिखा।

(10) छुआछूत न मानी जाए। अस्पृश्यता वेदसम्मत नहीं है।

महर्षि के विचार-रत्नों मे से यहाँ नौ वाक्य उन्हीं के शब्दो मे उद्धत किए जा रहे है, जिनसे उनके सिद्धांतों की सर्वव्यापकता में संदेह नहीं होगा।

(1) ईश्वर विश्वास—मैंने इस धर्म-कार्य का सर्वशक्तिमान सत्य ग्राहक और न्याय सबंधी परमात्मा के चरण मे शीश धर उसी के सहाय के अवलब से आरभ किया है। (भ्राति निवारण भूमिका)

(2) जीवनोद्देश्य—सुनने और प्रश्नोत्तर होने के पश्चात् सज्जनों को यही योग्य है कि सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करके स्वय सदा आनदित होकर सबको आनदित किया करे। (ज्येष्ठ बदी 12 स 1940, 2 जून सन् 1883 का विज्ञापन)

(3) अन्यायाचरण के साथ असहयोग—चाहे कोई हो, जब तक मैं न्यायाचरण देखता हूँ, मेल करता हूँ, और जब अन्यायाचरण प्रकट होता है, फिर उससे मेल नहीं करता, इसमे कोई हरिश्चद्र हो व अन्य कोई हो। (19 मार्च 1877 के कर्नल आल्काट के नाम लिखे पत्र से)

(4) आर्यावर्त देश की स्वाभाविक सनातन विद्या सस्कृत ही है—उसी से देश का कल्याण होगा। अन्य भाषा से नहीं। (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम सस्करण की लिखित प्रति मे चौदहवे समुल्लास का लेख)

(5) स्वामी-सेवक का पारस्परिक बर्ताव—स्वामी सेवक के साथ ऐसा बरते जैसा अपने हस्तपादादि अगो की रक्षा के लिए बर्तते है। सेवक स्वामियो के लिए ऐसे बरते कि जैसे अन्न, जल, वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिए होते हैं। (व्यवहार भानु)

(6) सार्वदेशिक भावना—यद्यपि मैं आर्यावर्त देश मे उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मतमतांतरो की झूठी बातो का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नतिवालों के साथ भी बर्तता हूँ। जैसा स्वदेशवालो के साथ मनुष्योन्नति के विषय मे बर्तता हूँ वैसा विदेशियो के साथ भी, तथा सब सज्जनो को भी बर्तना योग्य है। ('सत्यार्थप्रकाश', भूमिका)

(7) मनुष्य—जो बलवान होकर निर्बलो की रक्षा करता है वही मनुष्य कहलाता है, और जो स्वार्थवश होकर परहानि मात्र करता रहता है, वह मानो पशुओ का भी बडा भाई है।

(8) राज्य—इस परपरा की सृष्टि मे अभिमानी, अत्याचारी, अविद्वान लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। ('सत्यार्थप्रकाश' 11)

(9) दुख सागर—विद्वानों के विरोध से अविद्वानो मे विरोध बढकर अनेकविध दुख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों

को प्रिय है, सब मनुष्यो को दुख सागर मे डुबा दिया है।

दयानंद के विचारों से जो सहमत नहीं थे, उन्होंने उनके विरोध मे बहुत-सी बातें बिना तथ्य या तर्क के आधार पर लिखी हैं। दयानंद हर भारतवासी को शुद्ध और निर्मल चरित्र का सकल्पवान व्यक्ति बनाना चाहते थे। वे उसमे आत्मशक्ति का विस्तार करना चाहते थे। अत उन्होने ईसाई मत का खडन किया। ईसाई मत आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता। यदि पुनर्जन्म मे विश्वास नहीं करेगे तो मनुष्य मनुष्य में जो जन्मत विषमता पाई जाती है, जो दुख मनुष्य को अकारण भोगने पडते हैं, उनका अर्थ कैसे समझाया जाए ? यदि पुनर्जन्म न हो तो ईश्वर को अन्यायी मानना होगा, जो मनुष्यो मे विभेद पैदा करता है। यदि ईसाई मानते हैं, वैसे पाप को क्षमा कर देनेवाला परमात्मा हो, तो वह दड कभी देगा ही नहीं। मनुष्य बुरे कर्म करता है तो उसकी सजा उसे मिलनी ही चाहिए। अकेला क्राइस्ट मानव मात्र के पापो का भार अपने ऊपर कैसे ले सकेगा ? ईसा का अपौरुषेय जन्म, ईसा का पानी पर चलना, पॉच रोटियो से पॉच हजार लोगो को खिलाना ऐसे चमत्कारो का भी महर्षि ने विरोध किया। वे मूर्तिपूजा मात्र के विरोधी थे। ईसा की प्रतिमा या सलीब या क्रास की पूजा को भी वे अधश्रद्धा मानते थे। इस प्रकार से बुद्धिनिष्ठ, वैज्ञानिक दृष्टि अपनाकर दयानद ने अन्य धर्मो की कट्टरता का विरोध किया।

इस्लाम पर दयानद का आक्षेप यह था कि अल्लाह यदि सर्व-दयालु और प्राणी मात्र के प्रति कृपावत है, तो फिर वह कुछ व्यक्ति विशेष या मिल्लत के बदो पर ही खास तौर से मिहरबान क्यो है ? क्या ईश्वरीय करुणा या अल्लाह की रहम के यो हिस्से हो सकते हैं ? यदि अल्लाह प्राणी मात्र के लिए दया रखता है, तो पशु-बलि का विधान क्यो धर्मसम्मत है ? काफिरो के प्रति जिहाद कैसे समर्थनीय है ? चूँकि कुरआन में ऐसा पक्षपात है, तो वह ईश्वरीय वाणी कैसे हो सकती है, यह दयानद का प्रश्न है। बाइबल या कुरान को वे साक्षात्कारवाले ग्रथ नहीं मानते। दोनों ग्रथो मे चमत्कारो का वे खडन करते हैं।

बौद्ध, जैन और चार्वाक आदि नास्तिक मतो की भी दयानद ने आलोचना की है। निरीश्वरवाद का वे विरोध करते हैं। चार्वाक मत के बाद तो उसके जो उपपन्थ हुए वे दयानंद को मान्य नहीं हैं। धर्म मे ऐसे केवल प्रत्यक्ष प्रामाण्य, केवल इस शरीर या ससार तक भौतिकवादी दृष्टि को सीमित रखना दयानद को स्वीकार नहीं। बौद्धो का 'सब्बा सखारा अनिच्चा' (सब सस्कार अनित्य है) यह जितना एकागी और त्रुटिपूर्ण दयानद को लगा, वैसे ही चार्वाकवादियो का केवल इद्रिय-सुख का समर्थन भी एकागी है। वस्तुत सुख-दुख एक सापेक्ष और व्यामिश्र अनुभूति है।

उन्होने वेद के सही अर्थ न जानने से हिंदुओ मे भी कितने पथ-उपपंथ होते गए और हिंदुओं की एकता कैसे निर्बल होती गई, इसे भी अपनी स्पष्टोक्ति से

अघोरेखित किया है। दयानद सब प्रकार के मत्र गढनेवाले, माला पूजने और तरह-तरह के वेष धारण करनेवाले साधुओ की साधुता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। हिंदू धर्म की अवनति का मुख्य कारण उसके ये स्वार्थी, अधश्रद्धा फैलानेवाले ढोगी तथाकथित धर्म प्रचारक है। हिदू धर्म मे जो सुधारक पथ हुए जैसे ब्राह्म समाज या प्रार्थना समाज उनके विदेश के विचारो से आतकित होने की आलोचना दयानद ने की है। दयानद के अनुसार ये लोग प्रच्छन्न ईसाई है और उनमे देशभक्ति की कमी है। वे खान-पान, विवाह आदि मे कोई नियम नहीं मानते, अत उनकी नैतिकता सुविधाभोगी है, ऐसा दयानद का मत है।

महाभारत पूर्व वैदिक आर्य भारत को दयानद आदर्श समाज-व्यवस्था मानते थे। तब आर्य शाति, समृद्धि और आस्था से भरे हुए थे। महाभारत के बाद बहुत-सी बुराइयाँ हिंदू समाज मे आ गईं। दयानद चार आश्रमो पर आधारित समाज-व्यवस्था को आदर्श मानते थे। वे चार पुरुषार्थों मे सयम और सतुलन पर बल देते थे। जाति-प्रथा के आरभ मे वर्ण आदि का महत्त्व रहा हो, अब यह कहना कि 'ब्राह्मण मुख से पैदा हुआ और शूद्र पैर से' अर्थशून्य है। मनुष्य का कर्म आयु के 25 या 26वे वर्ष मे निश्चित करना चाहिए, गुण कर्म के अनुसार। मनुष्यो मे कुछ भेद तो ईश्वर-निर्मित है, कुछ मनुष्य-निर्मित। मनुष्य-निर्मित भेद एकदम बेमानी है।

दयानद के स्पष्ट विचार थे कि किसी भी समाज मे आवश्यकता से अधिक धन जमा हो जाना सब तरह की ईर्ष्या, द्वेष, लोभ-मोह और घृणा भेद का मूल है। पूँजी ही विलासिता की जननी है। अत उसका समाज के सत्कार्य के लिए विनियोग आवश्यक है। दयानद विदेशी भाषा और विदेशी सत्ता के प्रखर विरोधी थे। वे चाहते थे कि वेदकालीन भारत का पुनराविर्भाव कार्य हो तो सब समस्याओ का निदान पाया जाए।

दयानद के निर्वाण के बाद एक शताब्दी बीत गई। 1893 मे ही ॲग्लो-वैदिक कॉलेज, लाहौर के दो दलो मे मतभेद आरभ हो गए। दयानद वैदिक शिक्षा और अनिवार्य सस्कृत के पक्ष मे थे। 1902 मे हरिद्वार मे गुरुकुल स्थापित हुआ। बाद में अग्रेजी भी शिक्षा का विषय बन गई। कई आर्यसमाजी कॉलेज अन्य कॉलेजों की तरह उपाधि वितरण के केंद्र मात्र बन गए। 1877 मे फिरोजपुर मे पहला अनाथालय खोला गया। अकाल के समय उसमे कई असहाय बालको को सुरक्षा मिली। 1905 मे कागडा पार्वत्य क्षेत्र मे भूचाल आया। आर्यसमाज ने बडा सेवा-कार्य किया। आर्यसमाज ने राष्ट्रीय आदोलन मे सक्रिय भाग लिया। ब्रिटिश शासन के दमन का उसे शिकार होना पडा। आर्यसमाज प्राचीन परपरा को रखकर उसके साथ-साथ भविष्य की ओर भी देखता था। अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करना चाहता था, जो बात पचास वर्ष बाद विनोबा भावे ने फिर से दुहराई। आर्यसमाज ने देश मे कर्मण्यता की चेतना फैलाई। आत्मावलबन पर आग्रह रखा। अध्यवसाय, मितव्यय, दूरदर्शिता, निर्व्यसनशीलता का जीवन में

मूल्यों की तरह प्रचार-प्रसार किया। हिंदू समाज के एक बड़े हिस्से को उत्तर भारत में आर्यसमाज ने अनुशासनबद्ध किया। यह सारा श्रेय दयानंद के विलक्षण व्यक्तित्व और नेतृत्व को जाता है।

लाला लाजपतराय की 'आर्यसमाज के इतिहास' नामक पुस्तक की 1915 में सिडने वेब ने भूमिका लिखी। उसमें दयानंद को मार्टिन लूथर जैसा सुधारक और योरपीय रिफार्मेशन के नेता की तरह इतिहास का शलाका-पुरुष माना गया है। पांडेय की पुस्तक 'दी आर्यसमाज एंड इंडियन नैशनैलिज्म' में दयानद की तुलना 'भारतीय एलिजाह या जोन दि बैप्टिस्ट' से की है, जो भारत को पुन: अपने प्राचीन गौरवशाली सुवर्णयुग में ले जाना चाहते हैं। वे वर्तमान को अतीत से अनुप्रेरित करना चाहते थे। दयानंद की प्रेरणा से आर्यसमाज ने अनेक श्रेष्ठ लेखक, इतिहासकार, देशभक्त, विद्वान शिक्षाशास्त्री और सामाजिक कार्यकर्त्ता देश को दिए।

महात्मा गाँधी

महर्षि दयानद के बाद हम महात्मा गाँधी की विचारधारा पर आते हैं। गाँधीजी के जीवन और कार्य से हम सब इतने सुपरिचित हैं कि मैं उसके बारे मे और कुछ नहीं कहूँगा। सीधे उनके विचारदर्शन की विशिष्टताओ पर आना चाहता हूँ। कहा जाता है कि मोहनदास गाँधी जब अफ्रीका से भारत आए तो एक आर्यसमाज की सभा मे उन्हें 'महात्मा' उपाधि दी गई। गुजरात में सौराष्ट्र के पोरबंदर के एक वैश्य परिवार मे उनका जन्म हुआ था। जब वे हाईस्कूल में थे तब उनका एक तगडा और बहिर्मुखी मुस्लिम छात्र-बधु शेख महताब पहला मित्र बना। पिता की मृत्यु 1887 में हुई तब उनका विवाह उनकी उम्र से थोडी बडी कस्तूरबा से हो चुका था। एक राजचद्र कवि नामक जैन आशु कवि का गाँधी के मन पर बडा प्रभाव पडा, जिनकी सन् 1930 में अकाल मृत्यु हो गई। गाँधीजी के बचपन मे और कोई बडे मित्र या ऐसी पुस्तकें जिनका उनके मन पर प्रभाव पडा हो, उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक उन्होने जरूर लिखा। उनकी माँ और उनकी पत्नी कस्तूरबा यही दो बडे प्रभाव इंग्लैंड जाने से पहले के मिलते हैं।

1888 मे गाँधी साउदपटन, इंग्लैंड वकील बनने के लिए, पानी के जहाज से गए। अग्रेजी भाषा उन्हे बहुत कठिन जान पडती थी। घरवाले भी 'विलायत में जाकर छोरा बिगड जाएगा' इसी मत के थे। इंग्लैड में उनका तीन वर्ष का निवास कई दृष्टियों से बहुत अर्थपूर्ण था। यहीं उन्होंने बाइबिल पढी। गीता का एडविन आरनाल्ड का अग्रेजी अनुवाद पढा। उनकी आत्मकथा मे वर्णन है कि उस समय के अग्रेज-परस्त भारतीय छात्रों की तरह उन्होंने अपनी जीवन-पद्धति को ढालने की कितनी कोशिश की--विलायती नाच सीखा, फ्रेच सीखने की कोशिश की। पर सबसे विरक्ति होती गई। शाकाहारी सभा के मेबर बने, सबसे अधिक प्रभाव रस्किन की 'अटू दि लास्ट' का पडा। भारतीय नेताओ के इंग्लैड

निवास और उस कार्य-काल में अंग्रेजी सभ्यता के स्पर्श मे आने पर होनेवाला मन का द्वंद्व और अधिकाश विरक्ति के अनेक उदाहरण हैं। दयानंद को छोडकर प्राय सभी भारतीय नेताओं ने, उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के नवजागरण काल में विलायत की यात्रा की। तिलक, गोखले, रवींद्रनाथ ठाकुर, अरविंद, राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, विवेकानद, सावरकर, एम एन राय, राधाकृष्णन्, कृष्णमूर्ति, इकबाल, कुमारस्वामी, नेहरू किसी का भी नाम ले—उन पर विलायत का, या पश्चिम का अनुकूल, प्रतिकूल और अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पडा है। यदि गॉधी इग्लैड न जाते और मैक्समूलर की पुस्तक 'हिदू धर्म से हमे क्या सीखना है ?' न पढते तो 'हिद स्वराज्य' कैसे लिखते ? रस्किन की पुस्तक का अनुवाद 'सर्वोदय' कैसे करते। टालस्टाय से पत्र-व्यवहार और थोरो की 'पैसिव रेजिस्टेंस' से प्रभावित नया सत्याग्रह का मार्ग कैसे खोज निकालते ?

गॉधीजी के बारे मे और एक महत्त्वपूर्ण बात हमे भूलनी नहीं चाहिए। वे बचपन से मुस्लिम सस्कृति के सपर्क मे आए। अप्रैल 1893 मे वे दक्षिण अफ्रीका मे डरबन में एक मुस्लिम व्यापारी फर्म के वकील बनकर गए। वहाँ 1914 की जुलाई तक वे रहे। सेठ अब्दुल्ला के विरोधियो से गॉधीजी ने समझौते से झगडे निपटाने का मार्ग सुझाया। दक्षिण अफ्रीका मे काले-गोरे का 'जातीय' (एथ्निक) विरोध—अहिनकुलवत् विरोध—वे प्रत्यक्षदर्शी बनकर देख सके। तमिल बँधुआ मजदूरो की हालत उन्होने देखी और शारीरिक दमन के वे शिकार बने। एक ओर जैन और ईसाई सस्कारोवाली अहिसा, दूसरी ओर ईसाइयत और सभ्यता का नाम लेनेवाली गोरी सरकार के साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शोषण के पजे। मुँह मे राम नाम बगल मे छुरी। कई आतकवादी तो पश्चिम मे जाकर और अधिक विप्लवी हो गए। गॉधीजी ने दूसरा और अधिक कठिन मार्ग अपनाया। अफ्रीका मे काले लोग रेल मे, घोडागाडी मे गोरों के साथ बैठ नहीं सकते थे। गॉधी ने सोचा, भारत मे हम अछूतो और दलितो के साथ कैसा व्यवहार करते है ? क्या वह मानवीय है ? जोहानसबर्ग जाते समय 'स्टेज कोच' मे और ट्रेन मे उन्हें अपमानित होना पडा। गॉधी को गोखले और दादा भाई नौरोजी का आशीर्वाद मिला। आरभ से ही गॉधी अनेक भाषा-भाषियो, अनेक प्रदेशो, अनेक धर्म-पथो के लोगो के सपर्क मे आए। काश ऐसा सयोग और नेताओ के जीवन में आता !

गॉधी साप्ताहिक 'इडियन ओपीनियन' पत्र निकालने लगे। पादरी हेनरी पोलक ने उन्हे रस्किन का 'अटू दि लास्ट' पढने को दिया। बोअर युद्ध मे 1899 से 1902 तक गॉधी ने धर्मयुद्ध के अनुसार अपना दक्षिण अफ्रीका सत्याग्रह स्थगित किया। उन्होंने एंबुलेंस कोर मे सहायता दी। जुलू विद्रोह (1906-7) मे वालंटियर बने। गॉधी के जीवन मे चार बार ऐसा आशिक हिंसा का समर्थन मिलता है, जबकि वे कट्टर अहिंसा के पुजारी थे। अहिसा को ही ईश्वर मानते थे। एक तो वोअर युद्ध के समय, दूसरी बार उन्होने सेना का समर्थन कश्मीर

पर हमलावरों के आक्रमण के समय किया। उससे पहले बछडे को साबरमती आश्रम मे गोली मारकर 'मर्सी किलिंग' का उन्होंने समर्थन किया और एपेडिसाइटिस के आपरेशन में शरीर पर शल्य-क्रिया उन्होंने होने दी, यद्यपि वे चेचक का टीका लेने के विरुद्ध थे।

1915 में गॉधी भारत लौटे। शातिनिकेतन मे गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर के वे और सी.एफ. एण्ड्रयूज अतिथि बने। बनारस हिंदू युनिवर्सिटी में उन्होने महाराजाओं के गहनो-कपडों का मजाक उडाते हुए एक तीव्र भाषण दिया। राजकुमार शुक्ल नामक किसान ने गॉधी से चपारण के निलहे मजदूरो की दुर्दशा देखने के लिए आग्रह किया। यही से 'सत्याग्रह' की शुरुआत भारत मे हुई। पहले सत्याग्रह आदोलन की विशेषताएँ थीं—पहले किसी भी अन्याय की पूरी जॉच करना, किसानो के बच्चो के लिए स्कूल खोलना, जो अन्याय कर रहे थे उन लोगों को कानून से सजा दिलवाना, यानी दड देने का अधिकार अपने हाथ मे न लेना। 1918 मे गॉधी ने अहमदाबाद के ततु मिल-मजदूरो के मामले मे मालिक और श्रमिको मे पच फैसलेवाली बात, समझौते से सुलह कराने की बात शुरू की। एरिक एरिकसन गॉधीजी के पिता की मृत्यु का प्रसग और अहमदाबाद की हडताल को अपने 'गॉधीज ट्रूथ' मे बडा मनोवैज्ञानिक महत्त्व देते हैं। 1919 से गॉधी राजनैतिक प्रश्नो से पूरी तरह जुड गए। परतु रचनात्मक कार्यक्रम भी साथ-साथ चलता रहा।

'आमार जीवन आमार बानी' गॉधी रवींद्र की इस उक्ति को अपने आटोग्राफ की तरह देते थे। उनका जीवन एक खुली पुस्तक थी। साबरमती और सेवाग्राम के आश्रमो मे गॉधीजी ने ग्यारह व्रतो को अपने जीवन मे अपनाया और अपने अनुयायियो को भी उन्हे अपनाने को कहा

> *अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असग्रह,*
> *शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन,*
> *सर्वधर्मी समानत्व, स्वदेशी, स्पर्श—भावना,*
> *ही एकादश सेवावी नम्रत्वे दृढनिश्चये।।*

विनोबा भावे ने दो अनुष्टुपो मे ये ग्यारह व्रत गूँथे हैं। ये अनुष्टुप आश्रम की सवेरे-शाम की प्रार्थना के अग थे। गॉधी अपने विचारो को बराबर विकासमान रखते गए। अपने-आपको बदलते-सुधारते गए। जैसे उनका वेश। इग्लैड मे थ्री पीस सूट पहनते थे, बोअर युद्ध के समय सैनिक पोशाक स्वयसेवक के नाते, फिर दक्षिण अफ्रीका मे कोट और पतलून, फिर भारत मे कठियावाडी पगडी-अँगरखा-धोती, टोपी-कुर्ता, अत मे धोती और एक उत्तरीय (जाडे मे शाल)। एक-एक करके वे अपनी आवश्यकताएँ कम करते गए। अत मे नमक सत्याग्रह के समय नमक छोड दिया सो छोड ही दिया। बगाल मे फूका पद्धति देखकर गाय का दूध छोड दिया,

तो बाद मे बकरी का दूध ही लेने लगे। गाँधी का भोजन में भी हाथ-कुटे चावल, हाथ-पिसे आटे का प्रयोग चलता रहा। मसाले उन्होंने छोड़ दिए। आजीवन उन्होने कोई मिठाई नहीं खाई, चाय, कॉफी नहीं पी। और व्यसन तो दूर की बात है। एक सादा झोपडी मे अपने हाथो से अपने वस्त्रों के लिए सूत कातते। और इतना बडा कार्य किया। उन्होने भारतीय किसानो के साथ अपने को एकाकार कर लिया।

1931 मे जब रोम्याँ रोलॉ गाँधी से मिले तो उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा—"उनका मन निरतर प्रयोग करता जाता है। उनकी कर्मण्यता में एक सीधी रेखा नहीं होती। दस साल पहले उन्होने क्या कहा, उससे आज उन्हे जाँचना ठीक नहीं होगा।" वे जब कहते थे कि "स्वराज्य की लडाई और पाखाना सफाई मे सबध है", तो वे सिर्फ चौकानेवाले शब्द मात्र नहीं थे। वे जीवन को एक समग्र इकाई की तरह मानकर चलते थे। उनके लिए शरीर, मन और आत्मा 'दस्त, दिल और दिमाग' (हेड, हार्ट एड हैड) तीन अलग-अलग चीजे नहीं थीं। ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग का समन्वय ही उनका सच्चा जीवनयोग था।

गाँधी मे पूर्व और पश्चिम की विचारधाराओ का विलक्षण मिश्रण मिलता है। दयानद पश्चिम-विरोधी थे, धार्मिक दृष्टि से। वैदिक धर्म उनकी दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ था। इस्लाम और ईसाई धर्म का इसी कारण से खंडन करते हैं। पर गाँधी सर्व-धर्म-समभाव लेकर चलते है। गाँधी की दृष्टि मे मानव अपूर्ण है, उसके बनाए सब धर्म अपूर्ण है। यह 'हर्फे आखिर' माननेवाले कट्टरपथी धर्मो के 'फण्डामेंटालिज्म' का सीधा जवाब था। इस तरह का 'एकमात्र सत्य मेरे पास है' और सब विश्वास असत्य हैं, मानना अय्यातोल्ला खोमैनी या हिटलर या तत्सम अविवेक पर आश्रित अनुदार विचारो को जन्म देता है।

यहाँ गाँधीजी के राजनैतिक दर्शन के कुछ सिद्धातो को जानना जरूरी है। पॉल पावर ने गाँधी की 'राष्ट्र' सबधी विचारधारा का विश्लेषण इन शब्दो मे किया "कर्म या श्रम, पृथ्वी और जीवन का नारी-पक्ष गाँधीजी के समाज-दर्शन के तीन प्रधान प्रतीक हैं, (एस एस नेहरू के जर्मन लेख डाई सोजियालिडी इन स्टाटे गाँधीज) यहाँ नारी तत्त्व से तात्पर्य है करुणा या समन्वय से। कभी-कभी गाँधी 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग समाज-व्यवस्था के अर्थ में करते थे। वे कभी-कभी एक समान इतिहास और नियति वाली जनता की इकाई को राष्ट्र कहते थे। विन्स्टन चर्चिल जैसे ब्रिटिश भारत मे अनेक भाषाओं, धर्मों, पंथो के कारण कई राष्ट्र देखते थे, पर गाँधी सब भारतीयो को एक ही राष्ट्र का अंग मानते थे। उनके निकट राष्ट्रीयता केवल राजनैतिक विचारधारा नहीं, बल्कि भौगोलिक-सास्कृतिक अभिव्यजना थी।"

एक ओर उदारमतवादी यूरोपीय राजनीतिज्ञ हैं जो फ्रेंच राज्य-क्रांति के बाद जन-जन के 'स्वतत्रता, समता, बधुता' के नारे को प्रधान मानते थे। दूसरी ओर

इटली के ग्युसेपे मैजिनी का अतर्राष्ट्रीयता पर आधारित उत्तरदायित्व का सिद्धांत था। आयरलैंड के डी वैलेरा के या जापानी राज-भक्तिपूर्ण राष्ट्र-प्रेम से गाँधी का सिद्धात भिन्न था। एक ही देश में अनेक सास्कृतिक इकाइयों होने पर भी उनका एक राष्ट्र बन सकता है, यह बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता की कल्पना गाँधीजी को पसंद थी। 'माडर्न रिव्यू' के अक्टूबर 1953 के अक मे एण्टनी एलेनजिट्टम ने 'ग्युसेपे मैजिनी और महात्मा गाँधी' के बीच मे तुलना और समानता की चर्चा की है। गाँधी ने 'इडियन ओपीनियन' के जून 27, 1908 के अंक मे अमेरिका का उदाहरण देकर लिखा था कि वहाँ भी तो कई तरह के लोग, कई धर्म वर्ण, भाषाएँ, बोलनेवाले हैं, जो संयुक्त राष्ट्र बन गए है। भारत के लिए यह क्यों सभव नहीं ? जब लार्ड बर्कनहेड ने कहा कि भारत राष्ट्र नहीं है, तब 'यग इंडिया' मे जुलाई 23, 1925 के अंक मे गाँधीजी ने साग्रह लिखा—"हमारी दृढ धारणा है कि सारे व्यावहारिक मामलो मे भारत एक राष्ट्र है।"

सच्ची बात यह थी कि गाँधीजी कभी भी केवल भौतिक जगत् और उसके सैन्य, शस्त्र, सत्ता पर आधारित शक्तिशाली राष्ट्र-तत्र मे विश्वास नहीं करते थे। उनके विचार से ऐसे राष्ट्र का कोई अर्थ नहीं था, जिसका आधार आध्यात्मिक न हो, जिसके पीछे परमात्मा का अधिष्ठान न हो। अत उनके विचार से आदर्श राज्य रामराज्य ही हो सकता है। वे विकेद्रीकरणवाले ग्राम-राज्य मे विश्वास करते थे। वे पूर्णत अराजकतावाद मे विश्वास नहीं करते थे। टालस्टाय की तरह वे राष्ट्रहीन अवस्था दुनिया मे हो जाएगी, ऐसा नहीं मानते थे। कम्युनिस्टो की तरह जन-जातियो पर आधारित छोटे-छोटे राष्ट्रो की आत्म-स्वतंत्रतावाली बात भी सही नहीं मानते थे। पी सी जोशी से उनका इस सबध मे विचार-विनिमय प्यारेलाल की 'महात्मा गाँधी पूर्णाहुति' ग्रथ मे विस्तार से दिया गया है। वे प्राचीन धर्म-राज्य के बदले प्रजाराज्य चाहते थे। वे राजा जैसे किसी एक व्यक्ति-सस्था मे विश्वास नही करते थे। बनारस हिदू विश्वविद्यालय मे 1916 मे उनका राजाओ की वेश-भूषा पर कडा भाषण इसका प्रमाण है कि वे उस तरह के ऐश्वर्य-प्रदर्शन और सामती वैभव-विलास को गलत मानते थे।

गाँधी धर्म-संस्था और राष्ट्र-सस्था के एकीकरण के विरोधी थे। पोप हो या दलाईलामा, गाँधी यह मानने से इकार करते थे कि राष्ट्र का सूत्र किसी धर्म-प्रचारक के हाथो मे हो। यो गाँधी महाभारत के इस वचन मे विश्वास करते थे—*'असाधुश्चैव पुरुषो लभते शीलम् एकदा।'* (12-259-11) हर पापी के भविष्य मे सत बनने की आशा है। इस कारण से वे ईसाइयों के इस मत के बहुत निकट थे कि "पाप से घृणा करो, न कि पापी से।" उनके लेखे राष्ट्र जैसी संस्था मे अपने आप कोई सद्गुण या दुर्गुण नहीं छिपे हैं। परतु उसके उपयोग पर यह निर्भर करता है कि क्या परिणाम निकलता है। यो राष्ट्र भी एक उपकरण मात्र है। मैक्स वेबर के कथन के बहुत करीब गाँधीजी का यह मतविश्वास था कि

"राष्ट्र एक तांत्रिक साधन-मात्र है, वह अपने-आपमें कोई मूल्य या साधन नहीं।"

टी.एच. ग्रीन आदि पाश्चात्य नीतिशास्त्रज्ञ राष्ट्र की नैतिक जिम्मेदारी की बात करते हैं। पर गाँधीजी राष्ट्र संस्था को ऐसी कोई इयत्ता या महत्ता नहीं देते। गाँधीजी जन-साधारण में विश्वास करते हैं। और इस कारण से प्रत्येक व्यक्ति के अच्छे होने पर जोर देते हैं। वे नहीं मानते कि राष्ट्र जैसी कोई सत्ता दंड के सहारे मनुष्य मात्र को सुधार सकती है। वे इसी कारण से ग्राम-पंचायत से शुरू करना चाहते हैं। छोटी-छोटी इकाइयों से वे अपना आदर्श राज्य बनाते हैं। उनके लेखे सत्य और अहिंसा व्यक्तिमात्र का कर्त्तव्य और धर्म है। उसी में से आगे चलकर राष्ट्र बनते हैं, जो अच्छे और बुरे मार्गों का और नीतियों का अनुसरण करते हैं। इसलिए राष्ट्र सुधर सकते हैं, अच्छे या बुरे हो सकते हैं। और यह सब व्यक्ति के सुधार पर निर्भर करता है।

गाँधीजी का साम्यवाद के संबंध में क्या रुख था और साम्यवादी उन्हें क्या-क्या समझते रहे, यह दर्शनीय है। गाँधीजी ने गत महायुद्ध के समय जेल-यात्रा मे कार्ल मार्क्स के 'डास कैपीटल' और एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन आदि की कुछ किताबें पढ़ीं। परंतु मार्क्सवादी पार्टियों के भारत में और भारत के बाहर के कारनामों से वे बिल्कुल अनभिज्ञ रहे हों, ऐसा नहीं माना जा सकता। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी भी कभी उन्हें ग्रामीण प्रतिक्रियावादी, कभी पूँजीवादियों का एजेंट और बाद में महान राष्ट्रीय नेता कहती रही।

गाँधीजी 1917 वाली रूस की अक्टूबर क्रांति के बाद कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रति दो-तीन तरह के रुख रखते रहे एक तो उस साम्यवाद से भारत को कोई खतरा नहीं है। दूसरे सोवियत कम्युनिज्म के बारे में हम बहुत कम जानते हैं, तीसरे, कम्युनिज्म में निहित हिंसा, नास्तिकता और वर्ग-युद्ध के सिद्धांत का विरोध। 1914 में गाँधीजी को सोवियत रूस से निमंत्रण मिला था, वे यहाँ के स्वतंत्रता आंदोलन की सहायता करना चाहते थे। परंतु गाँधीजी ने उसे अस्वीकार कर दिया। 'यंग इंडिया' में उन्होने लिखा, "मुझे किसी भी प्रकार के हिंसक उद्देश्य के लिए उपयोग में लाना असफल होगा।" 1928 में गाँधीजी ने कहा, "मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे वोल्शेविज्म का पूरा अर्थ समझ में नहीं आया है। मुझे बताया गया है कि यह वाद वैयक्तिक संपत्ति का नाश चाहता है। अपरिग्रह के नैतिक आदर्श का अर्थनीति के क्षेत्र में प्रयोग ही शायद यह विचारधारा थी। यदि यही काम शांतिपूर्ण तरीकों से किया जाए तो यह आदर्श बात होगी, परंतु जहाँ तक मैं जानता हूँ वोल्शेविक विचारधारा हिंसा-शक्ति से परहेज नहीं करती। उलटे वैयक्तिक-संपत्ति के विनाश की पूरी अनुमति देती है। यदि यह सच है तो ऐसा वोल्शेविक राज अधिक समय तक नहीं चल सकेगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिंसा पर आधारित कोई भी चीज चिरस्थायी नहीं हो सकती। परंतु इस विचारधारा के पीछे लेनिन जैसी महान आत्माओं और अनेक नर-नारियों का त्याग

और बलिदान है और वह व्यर्थ नहीं जाता।"

एक वर्ष बाद गाँधी पर यह आरोप लगाया गया कि वे उस साम्राज्यवाद-विरोधी संघ के सदस्य हैं, जिसका कम्युनिस्टों ने नेतृत्व किया था। रोम्याँ रोलाँ, जार्ज लैन्सबेरी, अलबर्ट आइन्स्टाइन, मादाम सुन्यातसेन आदि इस संघ के विरोधी थे और उन्होने गाँधीजी पर यह आरोप लगाया। गाँधीजी नहीं जानते थे कि इस संघ का मूल संचालन मास्को से होता है। नेहरू भी इस संघ के सदस्य थे, 1930 तक। बाद में उन्हें इस 'लीग एगेन्स्ट इम्पीरियलिज्म' ने अपनी सदस्यता से वंचित कर दिया (नेहरूजी की 'बंच आफ ओल्ड लेटर्स' पृ 114 तथा ब्रेचेर की जीवनी के पृष्ठ 113-115)। 1930 के बाद तक गाँधीजी साम्यवाद की ओर एक अद्‌भुत-रम्य दृष्टि से देखते थे। अपने-आपको वे अहिंसक साम्यवादी मानते थे।

दूसरे महायुद्ध के आरंभ में गाँधीजी कम्युनिस्ट कूटनीतिज्ञता से आगाह हुए। 1938 में हिटलर और पश्चिम के जनतंत्रों के बीच म्युनिख समझौते पर लिखते हुए गाँधी ने सोवियत रूस के बारे में लिखा कि "यहाँ का तानाशाह रक्त के समुद्र मे चलकर शाति का सपना देखता है।" युद्ध शुरू होने पर एक वर्ष बाद अगस्त 23, 1939 की जर्मन-सोवियत संधि को और पोलैंड या दोनों राष्ट्रों के आक्रमणों को उन्होंने 'दुखद' बतलाया। फिर भी उन्हें कुछ आशा थी। जून 1941 के बाद सोवियत-जर्मन सधि टूटने पर गाँधी को अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद उतना ही आक्षेपार्ह लगा जितना नाजीवाद। 1944 में गाँधीजी ने भारतीय साम्यवादी दल के मत्री के साथ हुई चर्चा में रूस के अवसरवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोध-विस्मरण प्रश्न पर गाँधीजी को लगी ठेस उन्होंने व्यक्त की है। 'भारत जब गुलाम है तब गुलाम जनता का कैसा युद्ध ?" गाँधी ने पूछा। गाँधीजी भारतीय साम्यवादी दल से, इस प्रकार से दूर हटते गए। और अपने जीवन के अंत तक वे उसे क्षमा न कर सके। 1946 में उन्होंने यहाँ तक लिखा कि भारतीय साम्यवादी 'अच्छे-बुरे, सत्य-असत्य के बीच में कोई भेद-भाव नहीं करते।" फिर भी व्यक्तिगत रूप से उन्होंने साम्यवादियों के हृदयपरिवर्तन में विश्वास नहीं छोड़ा। गाँधीजी ने इटली के फासिस्टवाद और जर्मनी के नाजीवाद की जिन कारणों से बुराई की, ठीक वही दोष उन्हे साम्यवाद में भी दिखाई दिए।

पचगणी में जुलाई, 1946 के अंतिम सप्ताह में लुई फिशर की गाँधीजी से जो बातचीत हुई, जिसका ब्यौरा प्यारेलालजी ने 4-8-1946 के 'हरिजन' में दिया था, उससे यह पता चलता है :

गाँधीजी ने कहा—"हमारे समाजवादी भाइयों की त्याग और सेवा की भावना के लिए मेरे मन में बहुत प्रशंसा-भावना है, फिर भी मैंने उनके और मेरे तरीकों मे जो तीखा अंतर है उसे कभी नहीं छिपाया है। वे तो स्पष्टतः खुलेआम हिंसा में विश्वास करते हैं और उसके साथ जो कुछ भी उसमें छिपा है उसमें भी। मैं अहिंसा में पूरी तरह विश्वास करता हूँ।"

इससे चर्चा समाजवाद की ओर मुड़ी। फिशर ने बीच में बात काटते हुए कहा, "तो वे भी समाजवादी हैं और आप भी हैं।"

गाँधीजी ने उत्तर दिया, "मैं हूँ, वे नहीं हैं। उनमें से बहुत-से नहीं जनमे थे तब का मैं समाजवादी हूँ। जोहानसबर्ग में एक कट्टर समाजवादी की नजर में भी समाजवादी था। पर वह बात तो अब न यहाँ की है न वहाँ की। मेरी बात तो तब भी रहेगी जब समाजवाद भी नहीं रहेगा।"

"आपके समाजवाद का क्या मतलब है ?"

"मेरे समाजवाद का अर्थ है 'अंतिम व्यक्ति तक भी' या सर्वोदय। मैं अंधों, बहरों और गूँगों की राख पर नहीं खड़ा होना चाहता। उनके समाजवाद में, शायद इन लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। उनका एकमात्र उद्देश्य है भौतिक प्रगति। उदाहरणार्थ–अमेरिका चाहता है कि हर नागरिक के पास एक कार हो जाए। मैं नहीं चाहता। मैं तो अपने व्यक्तित्व के पूरे साधन चाहता हूँ। यदि मैं चाँद तक सीढ़ियाँ बनाना चाहूँ तो उसकी मुझे स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं ऐसा कुछ करना चाहता हूँ। उस तरह के समाजवाद में कोई व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं है। वहाँ तो तुम्हारे पास किसी चीज पर अधिकार नहीं। अपने शरीर पर भी नहीं।"

"मेरे और उनके समाजवाद में यह फर्क है। मेरे समाजवाद में यह होगा कि सरकार किसी चीज पर कोई अधिकार या सत्ता नहीं रखेगी। रूस में तो राज्य ही सर्वसत्ताधारी है। वहाँ तो आप कोई गुनाह न करें तो भी सुनता हूँ, किसी समय आप गिरफ्तार हो जा सकते हो। वहाँ आपको चाहे जहाँ भेज सकते हैं।"

"क्या आपके आदर्श समाजवाद में, राज्य बच्चों को शिक्षित करने का यत्न नहीं करेगा ?"

"सभी राज्य करते हैं। अमेरिका भी।"

"तो अमेरिका रूस से बहुत भिन्न नहीं है।"

"असल में आप तानाशाही के विरुद्ध हैं।"

"समाजवाद तो तानाशाही है या फिर आरामकुर्सी का दर्शनमात्र है।"

ऐसी यह बातचीत चलती रही जिसमें गाँधीजी ने समाजवाद और साम्यवाद के मिश्रण की भी बात की। लुई फिशर ने स्वीकार किया कि मार्क्स के मूल सिद्धांतों को पहले लेनिन ने क्रांति द्वारा जमीन पर उतारा, और बाद में स्तालिन ने और भी उन्हें विकृत कर दिया। और इस प्रक्रिया में मूल उद्देश्य से समाजवाद दूर-दूर होता चला गया–ठीक जैसे धर्म अपने मूल स्थान से बदलकर रूढ़ियों से जकड़ जाता है।

मानव समता की बात सभी करते हैं। पर क्या वह संभव है ? और संभव भी हो तो कहाँ तक ?

गाँधीजी यंत्रों के विरुद्ध थे, ऐसा भी एक प्रवाद फैलाया गया है, पर वे मोटर,

रेल, घड़ी, टेलीफोन, माइक्रोफोन, सीने की मशीन आदि का उपयोग करते थे। बाइसिकल के भी विरुद्ध नहीं थे। वस्तुतः वे मशीन के गलत उपयोग के विरुद्ध थे। वे यांत्रिकता के विरुद्ध थे। मैक्स वेबर ने अपने समाजशास्त्र के ग्रंथों में लिखा है कि कार्ल मार्क्स अपने वर्ग-विग्रह मिटाने के व्यापक औद्योगीकरण के सिद्धांत के प्रचार के जोश में भूल गया कि यंत्रों के साथ जो फुरसत आएगी, जो इफरात से उत्पादन होगा उसमें मनुष्य कैसे अकेला पड़ता चला जाएगा ? यह आत्म-निर्वासन उसके लिए शाप की तरह सिद्ध होगा। और इसीलिए उन्होंने 'मनुष्य और मशीन' के सिलसिले में कहा था :

मैं तो बिना किसी हिचकिचाहट से दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि दुनिया में मास प्रोडक्सन (विशाल परिमाण पर उत्पादन) का पागलपन ही आज की दुनिया के सारे संकटों का मूल है। यह भी मैं क्षण-भर को मान लूँ कि मशीन से सारी मानव जाति की सब जरूरतें पूरी की जा सकेंगी, फिर भी उससे उत्पादन कुछ ही क्षेत्रों में केंद्रित हो जाएगा। और फिर वितरण को नियंत्रित करने के लिए उलटे और व्यवस्था करनी पड़ेगी। यदि उत्पादन और वितरण, अपने-अपने क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार स्वयं नियंत्रित होते चलें तो फिर अप्रामाणिकता को और सट्टेबाजी को प्रश्रय नहीं मिल सकेगा।

वस्तुतः मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो, यह सिद्धांत अस्तेय व्रत पर निर्भर है। वेदों में कहा गया है :

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
न अर्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी।।

(अर्थ—संकुचित दृष्टिवाले मनुष्य को मिली हुई धनराशि व्यर्थ है। उसके घर में यह राशि नहीं संचित है, बल्कि उसका मरण संचित है। जो भाई-बहन को नहीं देता, सुपात्र को नहीं देता और केवल अपने तर्क ही देख पाता है, ऐसा आदमी पाप रूप है।)

अर्थोत्पादन की प्रत्येक सीढ़ी के बारे में गाँधीजी के विचार उपयोगी हो सकते हैं। उत्पादन, वितरण, विनिमय, उपभोग—सभी क्षेत्रों में। खेतों में उपज की ही बात लें तो गाँधीजी जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं की कृषि के पक्ष में थे, केवल नगद मुनाफा दिलानेवाली पैदाइश या 'कैश क्रॉप' के पक्ष में नहीं थे। तमाखू या अफीम की खेती से ज्यादा मुनाफा होता है तो उसी को बो रहे हैं, चावल या गेहूँ के लिए विदेशों के आगे हाथ पसार रहे हैं, यह बात गाँधीजी पसंद नहीं करते थे। गन्ने या कपास की उपज में भी ध्यान विदेशी मुद्रार्जन पर रखने की बात उनकी समझ में नहीं आती थी। कृषि में वे आत्म-निर्भरता को प्राथमिकता देना

चाहते थे।

अन्न और वस्त्र में स्वावलंबन पर जोर देने से गाँधीजी दस्तकारी या हस्तोद्योग को महत्त्व देते थे। वे तंतु-मिल व्यवसाय में भी मालिक और मजदूर दोनों पक्षों में परस्पर-सहयोग और परस्पर-चर्चा से लाभ का वितरण चाहते थे। अहमदाबाद में किए हुए ऐतिहासिक उपवास में से विश्वस्त का सिद्धांत उन्हें सूझा। वे बनिया जाति के थे इसलिए नहीं, पर सचमुच उनका विश्वास था कि जैसे कोई कारीगर एक विशेष गुण या कला में निष्णात होता है, वैसे ही व्यापारी व्यवसाय कला में माहिर हो सकता है। और उसके लिए उसे भी कामगर को जैसे पारिश्रमिक मिलता है, वैसा पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए।

'गाँधी और मार्क्स' नामक पुस्तिका (लेखक : किशोरीलाल घ. मश्रूवाला) की भूमिका में विनोबा भावे ने इस 'ट्रस्टी' या विश्वस्त वृत्ति की उत्पत्ति का मूल स्रोत गीता को माना है। गीता में बार-बार मनुष्य को ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने की प्रेरणा है। ऐसा कुशल कर्मयोग बन जाता है। इसी कर्म में फलाकांक्षा छोड़ने की बात है। और मनुष्य वहाँ अंततः ईश्वर के हाथों का एक उपकरण, *'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'* हो जाता है। प्रश्न इतना ही है कि अध्यात्म के क्षेत्र में जैसी 'कृष्णार्पणमस्तु' बुद्धि होती है, क्या व्यवसाय के क्षेत्र में भी वैसा कुछ संभव है ?

ऐसे अनेक उदाहरण द्रव्य के अर्जन करनेवालों को मिलते हैं, जहाँ अर्जक को अर्जन के मार्ग, या अर्जन की प्रक्रिया छूती नहीं। ऐसे भी उदाहरण हैं कि विलास की वस्तुओं के उत्पादक एकदम अविलासी हैं, या व्यसन की वस्तुओं के उत्पादक स्वयं निर्व्यसनी हैं। अतः यह आवश्यक नहीं कि वस्तु की वस्तुमत्ता उसे बनानेवाले या उसे बेचनेवाले के साथ चिपटकर ही चले।

भारत के धनिक वर्ग ने भी गाँधी को समर्थन दिया, जैसे दरिद्रनारायण ने। गाँधीजी के अनुयायी कई परस्पर-विरोधी विचारधाराओं वाले थे : क्रांतिकारी, आतंकवादी भी थे, और लिबरल-नरमदल वाले भी। अर्थव्यवसाय और साम्यवाद-समाजवाद के मामले में भी उनके शिष्य एकमत नहीं रखते थे। मैं जब सन् 40 में सेवाग्राम में था तब आचार्य नरेंद्रदेव भी वहाँ स्वास्थ्य-लाभ करने आए थे, सरदार पृथ्वीसिंह जैसे क्रांतिकारी भी वहाँ थे। और सनातनी और आर्यसमाजी, शिया और सुन्नी, दिगंबर और श्वेतांबर, शैन बौद्ध और जैनबौद्ध, महायानी और हीनयानी, कैथोलिक और प्रोटस्टेंट, रूढ़िवादी और आधुनिकतावादी सब तरह के शिष्य गाँधीजी के आसपास आन जुटे थे।

गाँधी ने अपने मन को मुक्त रखा था। चाहे अर्थशास्त्र हो या राजनीति, धर्म-अध्यात्म हो या नास्तिकता-धर्म-विरोध, गाँधीजी ने इन सब प्रश्नों पर बहुत गहराई से विचार और मनन किया था, एक निपुण भारतीय किसान या मजदूर की दृष्टि को अपनाकर। कितना कुछ विदेशी विचारधाराओं में हमें ग्राह्य है,

कितना हमारे अनुकूल है, इन सब बातों पर उन्होंने काफी ध्यान दिया था, ऐसा लगता है। इसलिए उनकी बातें न केवल भारत में कई वर्षों तक सही रहेंगी, पर दुनिया के अन्य देशों को भी उनसे बहुत कुछ सीखने और ग्रहण करने योग्य मिलेगा, ऐसा भी कहा जा सकता है—अर्थात् उतनी ही मात्रा में जितना भारत के और अन्य देशों के बीच मानवी परंपरा और प्रगति के बीच समानताएँ हैं।

साम्य या समता शब्द को एकरूपता का पर्यायवाची नहीं मान लेना चाहिए। जो बात अमेरिका के लिए उचित होगी, वह ज्यों-की-त्यों हर भारतीय के लिए भी होगी, यह मानना उतना ही भ्रमपूर्ण है जितना कि जो बात हर रूसी के लिए उचित होगी, वह ज्यों-की-त्यों हर भारतीय के लिए भी उचित होगी, यह मानना। यह दोनो मान्यताएँ मनुष्य-स्वभाव के यांत्रिक और जड मनोविज्ञान पर आधारित हैं। मनुष्य अपने स्थान-काल परिवेश की भौतिक उपज होता है उतना ही उसका चिंतन-भावना संस्कारो की उपज के साथ-साथ, उसके अपने परिवेश से जुड़े संबंधों और उसे बदल सकने की क्षमताओं पर निर्भर रहता है। एक आदिवासी या दुनिया की वैज्ञानिक प्रगति से कटा हुआ एक तिब्बती या अफ्रीकी कहीं अधिक भलामानुस या सत्प्रवृत्त इंसान हो. सकता है, और एक सारी सुख-सुविधाओं में पलनेवाला आधुनिकतम व्यक्ति भी अत्यंत स्वार्थी और असत् प्रयोजनों से कर्म करनेवाला हो सकता है। मनुष्य की अच्छाई-बुराई या मानदड केवल उसके आस-पास के भौतिक साधनों की सख्या या गुण मान लेना, मनुष्य के साथ अन्याय करना है। गाँधीजी ने इस बात को अपने जीवन में घटित किया और प्रत्येक कर्म और वचन में उसे सिद्ध किया।

मनीषी मार्क्स

कार्ल मार्क्स का जन्म मई, 5, 1818 को प्रशिया में राइन प्रदेश के त्रियेर नगर में हुआ। अब यह पश्चिम जर्मनी में है। उसके पिता हाइनरिश वकील थे, कांट और वाल्तेयर की पुस्तकों के प्रेमी। प्रशिया में संविधान बनाने के आदोलन में उन्होंने भाग लिया। उसकी माँ हेनरिट्टा प्रेसबर्ग हालैंड से थी, और आजीवन एक अक्षर जर्मन का ठीक से बोल न सकी। कार्ल छह बरस का था तब उसका बाप्तिस्मा हुआ। वे यहूदी थे। त्रियेर के हाईस्कूल में कार्ल 1830 से 35 तक पढ़े। ग्रीक भाषा, रोमन पुराण, कलाओं का इतिहास उनके विषय थे। जब वे बौन युनिवर्सिटी में पढ़ने गए, अन्य छात्रों की तरह वे ऊधमी थे, उन्होंने एक द्वंद्वयुद्ध लडा, एक दिन की जेल भी उन्हें काटनी पडी, अधिक शराब पीकर अनुशासनहीनता के लिए। आजीवन उन्होंने केवल एक दिन जेल में काटा।

अक्टूबर 1836 में मार्क्स बर्लिन चले गए, कानून और दर्शन के विद्यार्थी बने। यहाँ वे हेगेल के दर्शन के संपर्क में आए। 'यंग हेगेलियन्स' के सदस्य बने। ब्रूनो बाउएर के व्याख्यानों के वे मुरीद बने, जिसमें यह सिद्ध किया जाता था कि जीसस क्राइस्ट कोई सचमुच का ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था, केवल एक

काल्पनिक पुरुष था। ब्रूनो को नास्तिकता का प्रचार करने के कारण नौकरी से हाथ धोना पड़ा। एडाल्फ रूटेनबेर्ग नामक एक पत्रकार मार्क्स का मित्र बना। वह समाजवादी विचारों के कारण जेल भुगत चुका था। अप्रैल 1841 में मार्क्स ने जैना विश्वविद्यालय में 'दिमाक्रुतस और एपीकूरस के दर्शनों में अंतर' विषय पर 'डाक्टरल डेसरटेशन' लिखा। उपाधि प्राप्त की। इसी समय लुडविग फ्वारबाख की पुस्तक 'डास बेस्सेन डेस क्रिस्टेनडुम' (1841, 'ईसाइयत का सार') से वह बहुत प्रभावित हुआ। कोलेन से निकलनेवाले 'राईनीशे जाइटुंग' पत्रिका में मार्क्स लेख लिखने लगे। फ्वारबाख के भौतिकवाद का हेगेल के द्वंद्ववादी तर्क से मार्क्स समर्थन करने लगे। इसी समय मार्क्स ने प्रेस की स्वतंत्रता पर एक लेख लिखा। मार्क्स 1842 में इस पत्रिका के संपादक बने। कई विषयों पर उन्होंने संपादकीय लिखे, प्रशिया की सरकार ने पत्रिका बंद करवा दी, रूसी सरकार के दबाव में। मार्क्स पैरिस चले गए फ्रेंच कम्युनिज्म का अध्ययन करने।

पच्चीस वर्ष की आयु में मार्क्स का विवाह जेनी फॉं वेस्टफालेन के साथ हुआ, वह उनसे चार बरस बडी थी। वह फौजी और प्रशासनिक कुल से आयी थी। जेनी के पिता फ्रेंच समाजवादी संत सिमौं के अनुयायी थे और कार्ल को चाहते थे। 1844 में उसने अपनी पहली पुस्तक 'ओकोनोमीश फिलासाफिशे मानुस्क्रिप्टे हाउस डेम जाहरे' लिखी, हेगेलवादी अर्नाल्डि रूज के साथ वह प्रतिवर्ष साम्यवादी चिंतन प्रकाशित करने जा रहा था। इन लेखो में उसने अपना प्रसिद्ध वाक्य लिखा—'धर्म जनता की अफीम है'। फ्रांस से निर्वासित होकर मार्क्स ब्रुसेल्स गया। वेल्जियम में उसने अपनी प्रशिया की नागरिकता छोड दी। यहाँ साम्यवादी यहूदी धर्मप्रचारक (रबाई) मोजेस हेस्स के प्रभाव में आया। और हेगेल के विरोध में पुस्तक लिखी 'डी हाईलिगे फामिली' (पवित्र परिवार)। इसके बाद 1845-46 में लिखी 'डी डॉइश्शईडियोलोजी' में अपने भौतिकवादी विचारों की, इतिहास की आर्थिक संबंधों से व्याख्या की नींव रखी। फ्रांसीसी समाजवादी प्रूधों ने 'दरिद्रता का दर्शन' (मिजेरदला फिलोसोफी) 1846 में लिखी, उसका जवाब अगले साल मार्क्स ने 'दर्शन की दरिद्रता' (फिलोसोफी दला मिजेर) लिख डाला। इसके बाद आया वह प्रसिद्ध ग्रंथ जिसने विश्व के इतिहास में बहुत बडी क्रांति निर्मित की—'दि कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' 1847 में एंगेल्स के साथ लिखा। मार्क्स अब लंदन पहुँच गए। और वहीं बड़े कष्ट का जीवन बिताया। मार्क्स पुन: पैरिस और राइनलैंड बुलाए गए। पर वहाँ जर्मन शरणार्थियों के बीच वे बहुत अलोकप्रिय हुए, चूँकि उन्होंने श्रमिकों को जनतांत्रिक बूर्जुवाजी के साथ मिलकर राजनैतिक कार्यक्रम बनाने का निर्देश दिया। जून 1849 में वे संसदीय जनतंत्र के पक्ष में और रूस पर आक्रमण करने के लिए लेख लिखते रहे। मजदूर यूनियन के क्रांतिकारी नेता आंद्रेस गौटचाक जब पकडे गए, तो उनके स्थान पर मार्क्स ने पहली राइनलैंड डेमोक्रेटिक कांग्रेस 1848 में बुलाई। जीवन-भर मार्क्स केवल

लेख और पुस्तकें लिखते रहे। सार्वजनिक सभा में या भीड में व्याख्यान उन्होंने केवल एक बार दिया, मजदूरों के सामने, कोलोन की सडकों पर। उन पर मुकदमा चला और उन्होंने आत्मसमर्थन किया। छोड दिए गए, धन्यवाद सहित।

अगस्त 1849 के बाद मार्क्स बडे दैन्य में लंदन में सोहो स्क्वेअर में दो कमरों के मकान में रहने लगे। चार बच्चे हो गए थे। सदा कर्जे में रहता। एक बेटा गिउडो बिना दवादारू के मर गया। बेटी फ्रांजिस्का की मौत पर उसके कफन के लिए माँ दर-दर भीख माँगती रही। कर्जदार आते तो बेटियों को झूठ बोलकर बताने के लिए कहा जाता--"मार्क्स घर में नहीं है।" मार्क्स की पत्नी बीच-बीच में बेहोश हो जाने लगी। इस समय मार्क्स को आर्थिक आधार मिला 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' नामक अमरीका की पत्रिका के संपादक होरेस ग्रीले और चार्ल्स दाना से। 1851 से 1862 तक पाँच सौ लेख और संपादकीय मार्क्स ने इस पत्रिका में लिखे--दुनियाभर के विषयों पर, भारत, चीन, ब्रिटेन, स्पेन सब पर। 1859 में मार्क्स ने अर्थशास्त्र पर अपनी पहली पुस्तक लिखी।

ब्रिटिश म्यूजियम में बैठकर बराबर सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक प्रश्नों पर मार्क्स शोध करते रहते। 1864 में लंदन मे अंग्रेजी ट्रेड यूनियन नेताओं ने एक सभा बुलाई। मार्क्स मंच पर चुपचाप बैठे रहे। पर उन्होंने फर्स्ट इंटरनेशनल की इस आधार-सभा के बाद संविधान और नियमावलि बनाई। 1869 तक इसके आठ लाख सदस्य बन गए। 1870 तक मार्क्स को यूरोप में कोई नहीं जानता था। पैरिस कम्यून के बाद वे एकदम 'लंदन के सबसे निदित और आतंक-प्रचारक व्यक्ति' बन गए। पैरिस कम्यून को मई 30, 1871 मे दमन का शिकार होना पडा। मार्क्स ने लिखा कि यह 'विश्व की पहली मजदूरों की तानाशाही' (डिक्टेटरशिप आफ दि प्रालितारियेत) है। 1867 में लंदन में मजदूरों को मताधिकार मिला। मिखाइल अलैक्सैंद्रोविच बाकुनिन को 1848 में मार्क्स ने 'रूसी एजेंट' कहा था। इस कारण से क्रांतिकारी बाकुनिन मार्क्स को 'जर्मन तानाशाही वृत्ति का यहूदी' मानता था। बाकुनिन ने इटली, स्विटजरलैंड, फ्रांस में युवकों का एक गुप्त दल सगठित किया--इटरनेशनल अलायेंस आफ सोशल डेमोक्रेसी। मार्क्स ने उसे अपने इंटरनेशनल में प्रवेश नहीं दिया। बाकुनिन मार्क्स की डिक्टेटरी नीति के विरोध में दल जमा करने लगा। मार्क्स ने बाकुनिन का चरित्रहनन किया कि नेचायेक नामक विद्यार्थी नेता जो हत्यारा और ब्लैकमेलर था उसके साथ बाकुनिन की साठ-गाँठ है। 1872 की हेग की इंटरनेशनल कांग्रेस में मार्क्स ने बाकुनिन को हराया। यही एकमात्र इटरनेशनल थी जिसमें मार्क्स उपस्थित थे।

अगले दशक में मार्क्स 'डास कापिटाल' (पूँजी) ग्रंथ लिखने में डूब गए। इस बीच वे रूसी भाषा भी सीखे। पर मन कहीं जम नहीं रहा था। एक भी काम पूरा नहीं कर पाते। वे रूसी जारशाही का तख्ता पलटने के लिए यूरोप में युद्ध की

प्रतीक्षा करने लगे। जार अलेक्जांद्र द्वितीय की 1881 में रूस में हत्या मार्क्स के अनुसार 'एक ऐतिहासिक अनिवार्य घटना' थी। 1875 में गोथा प्रोग्राम की मार्क्स ने कटु आलोचना की। जर्मन डेमोक्रटिक सोशलिस्ट बच्चों को बँधुआ मजदूर बनाने के विरोध में थे। मार्क्स ने उसका भी विरोध किया। 1879 में जब फ्रांस में सोशलिस्ट वर्कर्स फेडरेशन बनी तो उसके नेता जूल ग्विस्दे मार्क्स की सलाह लेने लंदन गए। अंतिम दिनों में मार्क्स कई स्वास्थ्य केंद्रों में घूमते रहे। एलजीयर्स पहुँचे। पत्नी की मृत्यु दिसंबर 2, 1881 को हुई, बड़ी बेटी जेनी लांगुएत की जनवरी 11, 1883 को। फेफड़े के फोडे से मार्क्स की मृत्यु लंदन में मार्च 14, 1883 को हुई।

मार्क्स का चरित्र विचित्र विरोधाभासों से भरा था। लगते थे वे बड़े उग्र सर्वनिषेधक विद्रोही, पर भीतर से थे वे एक विवश बौद्धिक। पावेल पन्नेनकोव नामक एक रूसी लेखक ने 1846 में मार्क्स को वाद-विवाद करते हुए देखा था। उसने लिखा है कि "मार्क्स तानाशाही ढंग से बोलता था, विरोध उसे बिल्कुल पसंद नहीं था।" भीड़ के सामने मार्क्स बहुत घबडा जाता था, झगडे-टंटे से दूर रहता था। कभी किसी जुलूस में वह नहीं गया। उसकी पत्नी ने लिखा है कि वह सभाओं को भी टालता था। वह साथियों के छोटे-छोटे संगठनों में बहुत मुखर और यशस्वी रहता था। पिता के नाते वह वत्सल था, जीसस क्राइस्ट का 'बच्चों से प्रेम' उसे पसंद था। हर चीज में वह 'संघर्ष' देखता था। एक और भाषा सीखना एक और हथियार पाने के बराबर मानता था। उपन्यास बहुत पढ़ता था, विशेषत: वाल्टर स्काट और वाल्जाक के। शेक्सपियर तो पूरे मार्क्स-परिवार के देवता थे। मार्क्स की नौकरानी हेलेन डेमुथ को एक अवैध बेटा हुआ फ्रेडरिख। एंगेल्स जब मर रहा था तो उसने यह रहस्य बताया कि यह पुत्र मार्क्स से ही था।

मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की वर्ग-संघर्षवाली आर्थिक व्याख्या पूँजीवाद में मनुष्य का अलगाव (एलियेनेशन), पूँजीवाद में निहित उसके नाश के बीज, क्रांति की दो व्याख्याएँ एक सामयिक, और दूसरी चिरंतन आदि सब सुपरिचित हैं। परंतु मार्क्सवाद की यूरोप और भारत में कैसी परिणति हुई, यह दर्शनीय है।

जर्मनी में एंगेल्स के बाद कार्ल काउट्स्की (1854-38) 'डी न्यूई जाईट' के संपादक ने मार्क्स को आर्थिक चिंतक के नाते प्रस्तुत किया है। काउट्स्की किसान और मजदूरों की एकता का समर्थन नहीं करता। मजदूर ही अन्यायी राज्य को उलटने में सक्षम होंगे, ऐसा उसका मानना है। वह शांति के मार्ग से सत्ता-परिवर्तन संभव मानता है। जर्मनी में ही बेर्नस्टाइन (1850-1932) ने 1896 में लिखना आरंभ किया कि मार्क्सवाद का 'संशोधन' आवश्यक है। पोलैंड के रोजा लक्सेमबुर्ग ने भी काउट्स्की के साथ-साथ बेर्नस्टाइन का विरोध किया। मजदूरों

के मूल्य--सिद्धांत को लेकर यह विरोध बढ़ा। बेर्नस्टाइन ने जर्मन, डच, अंग्रेजी सांख्यिकों के आधार पर मार्क्स के 'पूँजी' सिद्धांत को झुठलाने का यत्न किया। उसके अनुसार मार्क्स का विश्लेषण वैज्ञानिक नहीं था, चूँकि वह हेगेल और रिकार्डो के सिद्धांतों पर आधारित था। आर्थिक स्थिति निरंतर परिवर्तनशील थी। काउट्स्की का तर्क यह था कि ज्यों-ज्यों उद्योग बढ़ते जाते हैं, कृषि भी उन पर निर्भर होती जाती है। कृषि भी यांत्रिक और उद्योग-प्रधान होती जाती है। रोजा लक्सेमबुर्ग का कहना था कि पूँजीवाद के अंतर्विरोध वित्त के अंतर्राष्ट्रीय विनियोग और उपनिवेशवाद से बढ़ते जाते हैं, जिनसे युद्ध की अनिवार्यता बढती है, और ऐसे समय जनशक्ति सत्ता हथिया सकती है, क्रांतिकारी ढंग से।

युद्ध और शांति के प्रश्न पर मतभेद बढते गए। जर्मन राइश्टाग के सोशल डैमाक्रेटों ने प्रथम विश्वयुद्ध के पहले, युद्ध को वित्तीय सहायता देने का समर्थन किया। युद्ध-विरोधी जर्मन मार्क्सवादी थे लीबकनेख्ट और लुक्सेमबुर्ग। लुक्सेमबुर्ग ने 1913 में 'डी आकुमुलेशन डेस कापिताल्स' में तर्क दिया कि मार्क्स ने पूँजी खंड-2 में जो बात कही है उसमें परस्पर विरोध हैं। इस विदुषी के अनुसार पूँजी का संग्रहण अनिश्चित और अनंतकाल तक चलेगा यह भी मार्क्स का मत है, और मार्क्स यह भी कहता है कि पूँजी के भीतर अंतर्विरोध होकर मजदूर वर्ग द्वारा उस पर अधिकार प्राप्त होता जाएगा। लुक्सेमबुर्ग का कहना है कि मार्क्स अतिसरलीकरण कर रहे हैं, और मानकर चलते हैं कि दुनिया में पूँजीपति और श्रमिक ये दो वर्ग सदा ही रहेंगे। पूँजी अपने देश में से उठकर अन्य देशों में उपनिवेश बनाएगी। उसका अंत तो उसी दिन होगा कि जब पूँजीवादी देशों के बाहर भी उसका प्रभुत्व समाप्त हो जाएगा यानी वह एक अंतिम सीमा तक पहुँच जाएगा। इस पर बहुत बहस होती रही है।

आस्ट्रिया के समाजवादियों में ओटो बाउएर (1881-1938) ने अपने 'डी नात्सनालिटाहेनफ़्रागे उण्ड डी सोजियाल डीमोक्राटी' (1906 'राष्ट्रीयताओं का प्रश्न और सामाजिक जनतंत्र') में जो आत्मनिर्णय के प्रश्न उठाए उनका विचार लेनिन ने भी किया है। हिल्फ़ेरडिंग ने लिखा कि बैंकों तथा औद्योगिक मोनोपोलियों (एकाधिकारों) के प्रभाव और अधिकार में पूँजी कैसे आती जाती है इससे लेनिन भी प्रभावित हुआ और 1916 में लेनिन ने लेख लिखा 'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की सर्वोच्च स्थिति'।

सोवियत रूस में मार्क्स के विचारों की परिणति का अध्ययन महत्त्वपूर्ण विषय है। 'डास कापिटाल' 1872 में रूसी में अनुवादित हुआ। गिओर्गी प्लेखोनोव (1856-1918) ने मार्क्सवाद को रूसियों से परिचित कराया। पर लेनिन उसे व्यवहार में लाया। 1894 में लेनिन ने अपने 'जनता के मित्र' लेख में मार्क्स के 'भौतिकवादी सामाजिक संबंध' और 'आदर्शवादी सामाजिक संबंधों' के बीच अंतर पर बल दिया। रूसी पूँजीवाद पर मार्क्स के विचारों को 1897-99 में घटित करते

हुए किसानों की भूमिका पर लिखते हुए 'दि डेवेलपमेंट आफ एशियन कम्युनिज्म' में लेनिन लिखते हैं :

"हम मार्क्स के विचारों को संपूर्ण और अपरिवर्तनीय या अखंडनीय नहीं मानते। हम इससे उलटे इतना ही मानते हैं कि विज्ञान की एक कोनशिला मार्क्स के सिद्धांतों ने स्थापित की। समाजवादियों को इस विज्ञान को आगे बढ़ाना चाहिए। रूसी समाजवादियों को तो इस सिद्धांत का एक स्वतंत्र स्पष्टीकरण आवश्यक है।"

लेनिन ने 'व्यावसायिक क्रांतिकारियों' के प्रशिक्षण पर अपनी दृष्टि जमाई। 1921 के वसंत में पार्टी की दसवीं कांग्रेस में क्रांसटाड में नाविक विद्रोह हुआ और देहातों में किसान असंतुष्ट हो रहे थे, तब लेनिन ने सब तरह के विरोध को निर्मम भाव से दबाने और उस पर रोक लगाने का आग्रह किया। इसी में से स्तालिनवाद का आगे उदय हुआ जिसने अपने विरोधियों के संपूर्ण विनाश का कदम उठाया।

स्तालिन ने 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद' शब्द दिया। लेनिन की 1924 में मृत्यु के बाद सोवियत संघ के विकास कार्य को उसने बड़े उत्साह से उठाया। मार्क्सवाद के मूल द्वंद्ववाद की मान्यता थी कि वाद का प्रतिवाद होता है; परंतु वाद में से ही प्रतिवाद जन्म लेता है। अत वाद पूर्णतः नष्ट नहीं होता। उसमें कुछ रह जाता है जो प्रतिवाद में परिणत हो जाता है। दोनों अंततः संवाद की स्थिति में पहुँचते हैं। मार्क्सवाद की यह भी मान्यता थी कि विकास धीमे-धीमे न होकर, छलाँग से, सहसा एकदम होता है। इसके लिए भीतर के अंतर्विरोधों को प्रकट होना चाहिए। स्तालिन के शब्दों में "प्रत्येक वस्तु और प्राकृतिक घटना के भीतर सकारात्मक और नकारात्मक दो तत्त्व होते हैं, इसलिए उसमें अंतर्निहित परस्पर विरोध होता है। यह अंतस्संघर्ष ही विकास की प्रक्रिया है।"

स्तालिन और कार्ल मार्क्स में बहुत अंतर आ गया। कार्ल मार्क्स ने शोषित जनता की बढती हुई क्रांति-चेतना, बौद्धिकता और वर्ग-हित के ज्ञान पर जोर दिया। स्तालिन अधिक अधीर थे, उन्होंने 'प्रालितारियेत' (जनता) के बदले 'डिक्टेटरशिप' (तानाशाही) पर जोर दिया। वह आत्मनिष्ठता के बदले वस्तुनिष्ठ अधिक थे। इसलिए वह प्रसिद्ध कथा स्तालिन के बारे में है कि एक बार पुश्किन की प्रतिमा बनाने के लिए शिल्पीजनों से कहा गया। कई माडल आए। जो पसंद किया गया उसमें स्तालिन की प्रतिमा बनी थी, और उसके हाथ में एक ग्रंथ दिखाया गया था जिस पर 'पुश्किन-ग्रंथावली' लिखा था। और एक कहानी है, स्तालिन के पास दो कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख अधिकारी पहुँचे। एक स्थानीय था, जो स्तालिन से एकनिष्ठ था। दूसरा दूसरे देश का था और विरोधी था। स्तालिन ने कहा : "दूसरे को पहले भेजो"। इसी का परिणाम यह हुआ कि त्रात्स्की से स्तालिन की नहीं बनी। स्तालिन के ही शिष्य ख्रुश्चोव बाद में उनके

विरोधी हो गए। स्तालिन के ताबूत में से उनका मृत शरीर निकालकर अन्यत्र दफनाया गया। एक दशक तक स्तालिन का नाम वहाँ नहीं लिया जाता था। अब क्रेमलिन की पास की दीवार पर मार्सल झुकोव आदि के साथ स्तालिन की भी अर्द्धप्रतिमा है।

भाषा और आत्म-निर्णय के अधिकार के बारे में स्तालिन के वक्तव्य इस बात के साक्षी हैं कि वह मार्क्सवाद को आगे बढ़ाता रहा, या आज जो रूस और चीन में मतभेद उभरे उनके बीज उसी काल में बो दिए गए। स्तालिन दूर-द्रष्टा नहीं था। उसकी द्रुतगामी और निकट की सफलताओं में दिलचस्पी थी। परिणाम यह हुआ कि उसकी पुत्री ही उसकी सबसे बड़ी आलोचक हो गई, देश से बाहर निकल गई।

लिऑं त्रात्स्की (1879-1940) की मृत्यु पर मैंने, पटना से प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' 'आरती' पत्रिका निकालते थे, उसमें 'इस्क्रा' नामक एक लेख छद्मनाम से लिखा था। रूसी क्रांति के 1905 और 1917 के दोनों बड़े पर्वों में त्रात्स्की की बड़ी भूमिका थी। लेनिन की मृत्यु के बाद त्रात्स्की और स्तालिन में शत्रुता बढ़ गई। त्रात्स्की की मान्यता थी कि पिछड़े हुए कृषि-प्रधान देशों में क्रांति किसानों को लेकर चलेगी। वहाँ खेती में सुधार और समाजवादी विकास की गति भिन्न होगी। औद्योगिक, पूँजीवादी देशों में मजदूर क्रांति लाएँगे। इस तरह से 'क्रांति एक चिरंतन प्रक्रिया है' यह त्रात्स्की का विश्वास था। स्तालिन मानता था कि क्रांति एक ही वर्ग से, किसान या मजदूर या बौद्धिक कार्यकर्ता के सहारे अलग-अलग घटित हो सकती है। त्रात्स्की चाहता था कि क्रांति का शिक्षण विभिन्न स्तरों में विभिन्न प्रकार से देना चाहिए। क्रांति का 'निर्यात' हो सकता है। वह कम्युनिस्ट पार्टी में नौकरशाही ढंग की संरचना के विरुद्ध था। वह अंतिम क्रांतिकारी विद्रोह को भी, वैज्ञानिक प्रयोग के ढंग पर हर ब्यौरे और विवरण को ध्यान में रखकर, सफल बनाना चाहता था। स्तालिन में अधिनायकवाद, विभूति-तत्त्व और प्रधान नेता के व्यक्तित्व के जादू पर अधिक आस्था थी। परिणाम स्पष्ट है—अमेरिका में एक हथौड़े से स्तालिन के पुराने शत्रु त्रात्स्की की हत्या कर दी गई। किसने की यह पता नहीं चला।

चीन में मार्क्सवाद को माओ-त्से-तुंग लाए। 1930 के बाद वे मार्क्सवाद में चीनी परंपरित विचारों और संस्कृति का मिश्रण करते रहे। समाजवादी समाज के अंतर्विरोध के बारे में माओ का विचार यह है कि वह दो प्रकार का है—एक तो 'हम और हमारे शत्रु'—इसका इलाज क्रांति ही है। दूसरा विरोध ऐसे परस्पर-विच्छेदक ढंग का नहीं है, जैसे समाजवादी राज्य में शासन और शासित के बीच विरोध, या दो प्रकार की कम्युनिस्ट पार्टियों का आपसी विरोध, या एक ही कम्युनिस्ट राज्य में एक प्रदेश और दूसरे प्रदेश में विरोध—इनका इलाज बंधुत्वपूर्ण आलोचना और आत्म-विश्लेषण है। माओ के अनुसार यह विरोध सामान्य

और विशिष्ट दोनों हो सकते हैं। एक ही समय में दोनों का सह-अस्तित्व संभव है, क्षम्य है। ये विरोध कभी बहुत स्पष्ट और कभी बहुत अस्पष्ट हो सकते हैं। कुछ प्राथमिक, कुछ द्वैतीयिक प्रकार के हो सकते हैं। यह स्तालिनवादी अनमनीय सिद्धांतनिष्ठ मार्क्सवाद-लेनिनवाद से बहुत भिन्न है।

चीनी साम्यवाद ने कनफ्यूशियस (कांग-फ़ू) के दर्शन के प्रति जैसा रुख अपनाया, और जैसे वह बदलता गया, उससे मार्क्स की इतिहास विश्लेषण की द्वंद्वात्मक भौतिकवादी और आर्थिक उत्पादन-संबंधों पर आधारित दृष्टि से वह बहुत दूर की चीज है। चीन की विशाल लोक संख्या और प्राचीन सभ्यता का भी इस प्रकार के परिवर्तनवादी विचारों में हाथ था। 1958 में 'बड़ी लंबी छलाँग' और 1966 में 'सांस्कृतिक क्रांति' के अध्ययन से यह पता चलता है कि शायद माओ अंतिम दिनों में अधिनायकवादी होते जा रहे थे। और अपनी पत्नी और 'चांडाल चौकड़ी' (गैंग आफ फोर) की गिरफ्त में अधिक थे। चीन के कम्युनिस्ट मानते हैं कि सोवियत रूस की तरह उनके नेता या शासक बूर्ज्वा या 'मैनेजरीयल' नहीं हो गए हैं। माओ किसान नेता और यूनान की लाल मुक्तिवाहिनी का नेता था अतः वह सारी प्रजा को साथ ले चलने में विश्वास करता था। चीनी ताओवाद का प्रभाव माओ के चिंतन पर है, विशेषतः मनुष्य और प्रकृति के संबंधों के मामले में वह मार्क्स-एंगेल्स की स्थापनाओं का अंध अनुयायी नहीं। संक्षेप में चीनी साम्यवाद कम कट्टर है, अधिक उदारवादी है।

युगोस्लाविया में जोसिप ब्राज टीटो के सोवियत रूस और स्तालिन से 1948 में अलग होने पर एक अलग तरह का साम्यवाद पनपा। वह नौकरशाही और राष्ट्रीयता के अंध आग्रह का विरोधी है। टीटो मानता था कि कारखानों पर श्रमिकों का पूर्ण हक हो। अन्य बातों में वह वैसा ही पूँजीवाद-विरोधी है, जैसे स्तालिनवादी हैं।

क्यूबा में फिदेल कास्त्रो का मार्क्सवाद सब प्रकार के अन्यायों के विरोध में तीसरी दुनिया का प्रतिनिधि है। वह फ्रांसीसी क्रांति से अधिक प्रेरणा लेता है। मार्क्सवाद के कट्टरपन, नौकरशाही, पंथ बनाने के पक्ष के विरोध में कास्त्रो अपनी आवाज बार-बार उठाते हैं। एक तरह से कास्त्रो मार्क्सवाद का 'विद्रोही' रूप है, जैसे वैदिक धर्म का बुद्ध या अन्य नास्तिक धर्म विकल्प चाहते थे। कास्त्रो का कहना है कि वही शुद्ध मार्क्सवादी है। कास्त्रो पहले राष्ट्रवादी है, मार्क्सवादी बाद में।

युरोकम्यूनिज्म में अस्तित्ववाद (नीत्शे, कीर्केगार्द, फ्रायड) को मिलाकर चलनेवाले कई चिंतक हैं। अब मार्क्सवादी मक्का एक ही किताब, एक ही हर्फे आखिर, एक ही मुल्ला और एक ही मिल्लत की तरह 'फंडामेंटलिस्ट' नहीं रहा। वहाँ भी कई पंथ-उपपंथ, शाखा-प्रशाखाएँ हो गई हैं। यह डेढ़ सौ वर्षों की विश्व में मार्क्सवाद की विचार-यात्रा है।

अब हम भारत की ओर मुड़े और विशेषतः हिंदी प्रदेशों की ओर जहाँ मार्क्सवाद का प्रभाव बहुत देर से आया। बंगाल और महाराष्ट्र में यह प्रभाव अधिक जोरों से फैला—1927 में कम्युनिस्ट पार्टी की भारत में स्थापना के बाद। कई कांग्रेस समाजवादी बाद में कम्युनिस्ट पार्टी में गए। बाद में कई कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सिस्ट) में गए। इस सारी आतंकवादी, क्रांतिवादी, विप्लवी आंदोलन की मार्क्सवाद को अपनाने की प्रक्रिया में, और उससे बाद में 'स्वप्नभंग' की स्थिति में आने में राहुल सांकृत्यायन के 'नए भारत के नए नेता' पुस्तक में कई उत्तम उदाहरण हैं। लेखक राहुलजी स्वयं बाद में कम्युनिस्ट पार्टी से 1948 से 1957 तक बाहर रहे। आत्मनिर्वासित या निष्कासित, जो भी कह लें।

इस सिलसिले में एक महत्त्वपूर्ण मत मानवेंद्रनाथ राय का है (मूल नाम नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य, जन्म : फरवरी 22, 1887 कलकत्ता के पास एक गाँव, मृत्यु जनवरी 1954, देहरादून)। वे लेनिन के अत्यंत निकट पहुँचे। कई नाम बदलकर बटाविया से जापान, चीन होते हुए 1916 में सान फ्रांसिस्को पहुँचे। न्यूयार्क में पकड़े गए। मेक्सिको में 1917 में पहुँचे, 1919 में पहली कम्युनिस्ट पार्टी मेक्सिको में स्थापित की। बोरोदिन के निमंत्रण पर 1920 में दूसरी विश्व कार्मिटार्न कांग्रेस में पहुँचे। लेनिन के प्रस्ताव का उन्होंने विरोध किया, और राय के संशोधन को लेनिन ने माना। किसी स्कूल, कॉलेज की शिक्षा न पाए हुए राय सात भाषाओं के पंडित थे, संस्कृत, बांग्ला, अंग्रेजी, जर्मन, रूसी, इस्पाहानी, फ्रेंच। राय कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के प्रेसिडियम के सदस्य बने। और एशिया में साम्यवादी आंदोलनों के संगठन का कार्य उन्हें सौंपा गया।

1927 में बोरोदिन के साथ काम करने राय को भेजा गया, स्तालिन से उनके मतभेद हुए। राय को 1929 में कार्मिटार्न से निष्कासित किया गया। वह डॉ. महमूद के नाम से दिसंबर 30 को भारत लौटे और जुलाई 21, 1931 को वे पकड़े गए। जेल से छूटने पर वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य बने। मौलाना आजाद के मुकाबले में रामगढ़ कांग्रेस के अध्यक्षपद के लिए खड़े हुए, हार गए। राय ने अपनी रैडिकल डैमोक्रेटिक पार्टी बनाई। ऐलेन गॉट्सचॉक से 1937 में विवाह किया। गत महायुद्ध में वे फासिस्ट विरोधी मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध प्रचारक बन गए। अपनी पार्टी भंग की। रैडिकल ह्यूमैनिस्ट दल देहरादून में स्थापित किया। यहाँ मार्क्स की राय द्वारा आलोचना हमारे लिए अर्थपूर्ण है। एम. एन. राय की मरणोपरांत प्रकाशित 'रीज़न, रोमैंटिसिज्म एंड रिवोल्यूशन' (दो खंड) पुस्तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उसमें मार्क्सवाद पर राय के निम्न मौलिक आक्षेप हैं :

(1) मार्क्सवाद कोई मौलिक दर्शन नहीं। फ्रांसीसी क्रांति से मार्क्स ने बहुत कुछ लिया, जो कि 'बूर्ज्वा' क्रांति थी। जैसे प्लेखेनोव ने 'भौतिकवाद के इतिहास' में कहा है, "मार्क्सवाद का इतिहास-विश्लेषण पुरानी ऐतिहासिक कल्पनाओं का

ही एक न्यायसंगत परिपाक है।" इतिहास की आर्थिक व्याख्या के बीज मार्क्स के पहले अनेक विचारकों में थे।

(2) मार्क्स अपने पूर्ववर्तियों को 'युटोपीयन रोमांटिक' कहता है, जबकि मार्क्स स्वयं एक बहुत बड़ा रोमैंटिक है। उसी के कारण क्रांति की कल्पना परस्पर-विरोधों की शिकार हो गई। द्वंद्ववाद तर्क पर आधारित वैज्ञानिक प्रक्रिया है, मानव की बुद्धि और प्रज्ञा का उसे आधार है। मार्क्स क्रोध और हिंसा को क्रांति में प्रधानता देता है, जो कि निरी अ-बुद्धिवादी प्रक्रियाएँ हैं। मार्क्स कहता है—"दुनिया को बदलने से आदमी अपने-आपको बदलता है।" दुनिया आदमी से बड़ी है, सबसे बड़ी, आदमी से भी बडी और हमेशा रहेगी। अंश से अंशी, खंड से पूर्ण बड़ा होने से यह 'बदलना' सदा सीमित रहेगा।

(3) क्रांतिकारी चमत्कारी पुरुष नहीं होता। मार्क्स मानकर चलता है कि मनुष्य इतिहास के हाथ की कठपुतली है। उसमें कोई नैतिक संकल्प जैसी चीज है ही नहीं। मार्क्स मानकर चलता है कि इतिहास में परिवर्तन कुछ संगठित अल्पसंख्यक दल ही घटित करेंगे। व्यक्ति की अपार संभावनाओं के प्रति मार्क्स सशंक है।

(4) इस प्रकार मार्क्स का इतिहास-दर्शन और क्रांति सिद्धांत पार्टी द्वारा 'प्रालितारियत' का क्रांतिकारी हरावल पैदा करने में एक प्रकार का 'सुपरमैन' (वैश्वानर) निर्मित करने के पंथ का समर्थन करता है। इसी में से तानाशाही और तानाशाह पैदा होते हैं, जो लोकतंत्र का विकल्प नहीं हो सकता।

(5) साम्यवाद किसी 'क्वारंटाइन' जैसी स्थिति में सदा नहीं रह सकता। रूसी साम्यवाद ने यूरोप में फैलते हुए उदारमतवाद को पूँजीवादी अत शत्रुवत् और अछूत मानकर एक ऐसी मानसिकता पैदा की कि एक ओर पूँजीवादी समाज के विज्ञान और तंत्रज्ञान से उत्पन्न मनुष्य के सामूहिक उत्पादन का तो रूसी लाभ ले, पर उसके द्वारा मानव को मिलनेवाले अवकाश और दासता से मुक्ति को साहित्य-संगीत-कला में 'ह्रासोन्मुख पूँजीवादी अप-संस्कृति' माने, यह परस्पर-विरोधी बातें हैं।

(6) इसी कारण से रूसी साम्यवाद बार-बार साहित्य, कला, नाटक आदि में सब प्रकार की अमूर्तता, व्यक्तिगत भावनाशीलता का विरोध करके 'समाजवादी यथार्थवाद' और सोवियत श्रमिक को ही नया नायक मानकर उसका गौरव गुणगान करने में व्यस्त हो गया। रूसी साम्यवादी साहित्य-समीक्षा अत्यंत सीमित बन गई।

(7) भारत में पूँजीवादी और उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी दोनों मिलकर राष्ट्रवाद को बढ़ावा दे रहे थे। मुस्लिम राष्ट्रों में सामंतवादी-जमींदार तंत्र के मुल्ला-मौलवी तो और भी प्रतिक्रांतिवादी थे। अतः राजनीति में रहस्यवाद का प्रचार करनेवाले गाँधीभक्त कांग्रेसी या हिंदुत्वनिष्ठ या मुस्लिमलीगी सब एक ही

थैली के चट्टे-बट्टे थे। ये सब अ-बुद्धिवादी थे।

(8) महात्मा गाँधी का दर्शन नया नहीं था। रूसी-स्विस दार्शनिक डेविड कोइगन ने 'मैन आफ रिनेसाँ' को 'मैन ऑफ रिवोल्यूशन' के विरोध में उपस्थित करके विधायक या रचनात्मक तत्त्व नकारात्मक तत्त्वों से किस प्रकार से-अधिक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान हैं; और व्यक्ति की नैतिकता बढ़ाने में सहायक है यह फ्रांज मेहरिंग ने 'हिस्ट्री आफ फिलासाफी' में स्पष्ट किया है। अंततः फासिज्म इसीलिए धर्म और रहस्यवाद का सहारा लेता है। हिटलर का 'स्वस्तिक' और 'आर्य' श्रेष्ठता का सिद्धांत कैसे निकला ? राय ने भविष्यवाणी की 1952 में कि जैसे 1931 में नेहरू ने राष्ट्रीयता और समाजवाद को मिलाकर अंततः गाँधीवाद की शरण ली, वैसे चीन में भी राष्ट्रवाद के सब पहलू उभरेंगे और समाजवाद के बदले तानाशाही वहाँ क्रांतिकारी साम्यवाद को खा जाएगी। 'वैज्ञानिक राजनीति' के स्थान पर रोमैंटिक या अबुद्धिवादी राजनीति अपने रंग में बार-बार एशिया में उभरती जाती है।

राय ने कहा था कि राजनीति सत्ता के लिए छीन-झपट और अर्थशास्त्र केवल स्वार्थ और कपट बन जाता है। अतः नैतिकता को महत्त्व देना चाहिए। समाज को मनुष्य ने बनाया, मनुष्य को समाज ने नहीं। राष्ट्र समाज का पर्यायवाची नहीं। जनतंत्र का उसके मूल व्यक्ति नागरिक से आरंभ करना होगा। मार्क्स ने पूँजीवादी समाज के बारे में जो कुछ भविष्यवाणी की थी वह सच नहीं निकली। क्रांति और प्रतिक्रांति के परस्पर संघात से, विश्व युद्धों में साम्यवाद की प्रथम बलि हुई। राय अंतिम दिनों में वेदांत के बहुत निकट पहुँचे थे और 25 जनवरी 1954 के 'रैडिकल ह्यूमैनिस्ट' में लिखते हैं कि "मैं एक धार्मिक, दयालु, नैतिक, सभ्य मनुष्य को कहीं अधिक पसंद करूँगा, बनिस्पत बीसवीं सदी के इन बर्बर 'नियांडरथेलर' से। यदि धर्म के सहारे जनजीवन में कुछ नैतिक भावना जागृत की जा सके तो उसमें क्या आपत्ति हो सकती है।"

एम.एन. राय पर इतने विस्तार से लिखने का अर्थ अन्य साम्यवादी विचारकों डाँगे और डी.डी. कोसंबी, नंबूदरीपाद और देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, स्वामी सहजानंद और राहुल सांकृत्यायन के महत्त्व को कम करना नहीं है। आज मार्क्सवाद पर प्रायः जो कुछ इन नेताओं और लेखकों ने लिखा है वह चर्वित-चर्वण मात्र है। बहुत कम उसमें विचारों को नई दिशा देनेवाला है। बानी देशपांडे के वेदांत और मार्क्सवाद में कल्पना अधिक है।

[जन 1984]

प्राचीन भारत में मानव-मूल्यों का निरूपण

डॉ. कृष्णदत्त वाजपेयी

विश्व के इतिहास में प्राचीनता तथा स्थायित्व की दृष्टि से भारतीय संस्कृति का विशिष्ट स्थान है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर आधुनिक काल तक इस देश की संस्कृति का विकास अनेक रूपों में हुआ। इस संस्कृति के बाह्य पक्ष के अंतर्गत आवास-विकास, खान-पान, वस्त्राभरण तथा विविध लौकिक आचार हैं। इसका आंतरिक पक्ष दर्शन या चिंतन है।

किसी देश या मानव-समाज की उन्नति का पता इस बात से चलता है कि वह दर्शन या विचारपक्ष की स्थिति क्या और उस दर्शन को कहाँ तक कार्य-रूप में परिणत किया जा सका। इस प्रकार दर्शन का न केवल सैद्धांतिक रूप होता है प्रत्युत् व्यावहारिक भी।

दर्शन मानव-संस्कृति की आत्मा है। दर्शन के विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह मानव के नृतत्वीय तथा सामाजिक विकास से परिचित हो। उसे यह जानना चाहिए कि सभ्यता के प्रारंभिक चरण से लेकर अब तक मानव किन-किन ऐतिहासिक परिस्थितियों से गुजरा है और इस कालक्रम में चिंतन के किन-किन रूपों ने लोक-जीवन को प्रभावित किया है। स्पष्ट है कि दर्शन का घनिष्ठ संबंध इतिहास नृतत्त्व तथा समाजशास्त्र से है।

भारतीय दर्शन के अध्येता के लिए पुरातत्व के तीनों चरणों का ज्ञान अपेक्षित है। प्रथम प्राक्इतिहास, जब मानव के निवास शिलागृह थे और वह वन्य-जीवन की स्थिति में था। दूसरा आद्य इतिहास [ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी से लेकर ई. पूर्व छठी तक] जब सभ्यता का विकास व्यवस्थित ढंग से हो गया था और जब उच्चस्तरीय वैदिक साहित्य का सृजन हुआ। तीसरा ऐतिहासिक काल (ईसवी पूर्व छठी शती से लेकर आधुनिक काल तक।)।

पुरातत्वीय परिप्रेक्ष्य में भारतीय दर्शन का सिंहावलोकन लाभप्रद होगा। प्रथम युग में, आधुनिक अर्थों में, सभ्यता का निर्माण नहीं हो पाया। वनचर जनों का जीवन मूलतः भौतिक था। पर्वतों की कंदराओं या तरुतलों में निवास करनेवाले और उदर-पोषण हेतु अहेरी-जीवन बितानेवाले चिंतन के क्षेत्र में क्या कर सकते थे ? उन आदिम गिरि-जनों द्वारा निर्मित पत्थरों के विविध अनगढ़ (कभी-कभी

सुगढ़) हथियार तथा उनके द्वारा निर्मित गुहा-चित्र (जो हाल के अन्वेषणों में सहस्रों की संख्या में, विशेषतः मध्यप्रदेश में प्राप्त हुई हैं) उन लोगों के भौतिक जीवन पर रोचक प्रकाश डालते हैं।

परंतु जब हम भारतीय इतिहास के आद्य काल में प्रवेश करते हैं तब क्रमशः भौतिक जीवन के साथ चिंतन-क्षेत्र का विकसित रूप उद्घाटित होता है। हडप्पा संस्कृति के अनेक केंद्रों का पता अब चल चुका है, जिससे ज्ञात हुआ है कि उत्तर-पश्चिम भारत में एक समृद्ध नगर-संस्कृति का निर्माण ईसवी पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में हो गया था। इस संस्कृति का विकास 1700 ई.पू. तक जारी रहा। उत्तरी पंजाब से लेकर ताप्ती नदी के तट तक तथा बलोचिस्तान से लेकर उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले तक इस सभ्यता का विस्तार हुआ।

सिंधु घाटी में हडप्पा, मोहनजोदडो आदि स्थलों को खुदाई में आद्यतिहासिक भौतिक सभ्यता के प्रचुर अवशेष मिले हैं। उत्खनन में बहुसंख्यक अभिलिखित मुहरें भी प्राप्त हुई हैं। *यह बात उल्लेखनीय कि इन मुहरों के लेख कतिपय वैदिक* सूक्तों के ही अंश हैं।

संसार की प्राचीन सभ्यताओं में भारत को यह गौरव प्राप्त है कि आद्यतिहासिक युग में यहाँ उच्च साहित्य का सृजन हुआ। ऋग्वेद आदि चारों वेद स्तरेय एवं शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रंथों तथा मुख्य उपनिषदों एवं अनेक सूत्र-ग्रंथों का निर्माण इस युग में हुआ। इन ग्रंथों में न केवल साहित्यिक उत्कर्ष दर्शनीय हैं, अपितु सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक अध्ययन की दृष्टि से उनका बहुत महत्त्व है। भारतीय दर्शन का प्रारंभ ऋग्वेद काल से ही मानना युक्तिसंगत है जिसमें मानव-मूल्यों का आकलन है।

वैदिक साहित्य में मानव की महत्ता तथा उसके लौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक निःश्रेयस् हेतु जो निर्मित हुए उन्होंने एक व्यापक जीवन-दर्शन का निर्माण किया। इस दर्शन में सत्य, क्रूरता, त्याग और परोपकार को महत्त्व प्रदान किया गया। स्वतंत्र चिंतन और वसुधैव कुटुंबकम् की भावनाओं को बल दिया गया और ऐहिक तथा आध्यात्मिक चिंतन में मधुर समन्वय स्थापित किए गए।

वैदिक विचारधाराओं का विकास भारतीय इतिहास में निरंतर जारी रहा। देश-काल के अनुरूप उसमें परिवर्तन भी होते रहे और उनकी व्याख्याएँ भी की जाती रहीं। मानव की श्रेष्ठता, उसका व्यवस्थित जीवन, जिसमें आनंद और शांति का समावेश हो और आध्यात्मिक चिंतन वैदिक दर्शन के मूल मंत्र हैं। न केवल परवर्ती भारतीय साहित्य में अपितु बहुविध पुरातत्वीय कृतियों में इन मूल मंत्रों को निरूपित किया गया। 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' का कथन समस्त मानव को कल्याणप्रद मार्ग पर चलने का शुभ संदेश है। अथर्ववेद में भूमि को माता तथा मानव को उसका पुत्र कहा गया : *"माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः"*। सिंधु घाटी में तथा भारत के ताम्राश्ययुगीन अन्य स्थलों से पकी मिट्टी की बहुसंख्यक 'मातृदेवी'

प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनकी पूजा प्रचलित थी। ये प्रतिमाएँ अथर्ववेद की उक्त सूक्तियाँ चरितार्थ करती हैं।

प्राकृतिक शक्तियों और उनके प्रतिनिधि रूप में देवों की कल्पना का विकास भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण देन है। यह कल्पना इस देश में विविध रूपों में प्रतिफलित हुई। वैदिक-पौराणिक धर्म में ही नहीं, जैन तथा बौद्ध धर्मों में भी प्रतिमा को वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ। इन धर्मों के माध्यम से संस्कृति का विकास हुआ जिसने इस देश में ही नहीं देश के बाहर लंका, बर्मा, थाईलैंड, कंबोडिया, जावा, सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत, मध्य एशिया, चीन, जापान आदि देशों के बहुसंख्यक जनों को भी प्रभावित किया।

साहित्य के अतिरिक्त मूर्तिकला, स्थापत्य कला, चित्रकला, नाट्यकला, संगीत तथा बहुसंख्यक शिलालेखों, ताम्रपत्रों और मुद्राओं का अध्ययन भारतीय मूल्यों के व्यापक ज्ञान के लिए अत्यंत आवश्यक है। इस लोक या परलोक के प्रति जिन वैचारिक सिद्धांतों का प्रणयन भारतीय दार्शनिकों ने किया उनका मूर्त रूप देश और देश के बाहर आज भी उपलब्ध है। ललितकलाओं को भारत में सौंदर्य एवं अनुभव तथा शील के संवर्धन का माध्यम माना गया, न कि कुत्सित भावों एवं अंधविश्वासों का साधन।

ऐतिहासिक स्रोतों के विवेचन से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। पहली बात यह है कि भारतीयों ने प्राचीन काल में ऐहिक जीवन की उपेक्षा नहीं की। इस जीवन में उन्होंने चारूत्व तत्त्व, आनंद तथा शांति को समन्वित किया। भगवान् बुद्ध, तीर्थंकर महावीर या भगवान् विष्णु की प्रतिमा में केवल अंग-प्रत्यंगों का सुचारु गठन दृष्टव्य है अपितु चक्रवर्ती और योगी की भावनाओं की सराहनीय अभिव्यक्ति भी है। हमारा प्राचीन साहित्य, अजंता और बाघ की चित्रित गुफाओं साँची एलोरा, सामल्लपुर, तंजोर आदि के स्तूप और मंदिर तथा बहुसंख्यक कलाकृतियाँ भारतीय दर्शन के इस तत्त्व का उद्घोष करती हैं।

दूसरी बात यह है कि अनेक सभ्य देशों के साथ भारत के सांस्कृतिक संबंध ईसवी पूर्व तीसरी सहस्राब्दी से लेकर पूर्व मध्यकाल तक बने रहे। "ऐश्यंट इंडिया लिव्ड इन स्प्लेन्डिड आइसोलेशन" (प्राचीन भारतीय कूपमंडूकवत् रहे) आदि पाश्चात्य विचारों को अब निरस्त किया जा चुका है। रास्तों और कठिनाइयों की परवाह न कर स्थल या जल मार्ग से भारतीय लोग विदेशों में जाते थे। बहुसंख्यक लोग वहीं बस जाते और वहाँ के स्थानीय लोगों में मिल-जुल जाते थे। भारतीय संस्कृति का प्रचार, जिसमें दार्शनिक सिद्धांत भी सम्मिलित थे, जिस आत्मीयता के साथ विदेशों में संपन्न हुआ उसका उदाहरण विश्व के इतिहास में अन्यत्र न मिलेगा। मनु का कथन यहाँ उल्लेखनीय है :

स्वद्देश प्रसूतस्य एकाशादग्जन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

इस कथन में व्याप्त संदेश निज धर्म या चरित्र का पालन है। इसे भारतीय मनीषियों ने विदेशों में बड़ी तत्परता के साथ स्नेहपूर्ण ढंग से फैलाया। इसके साक्षी श्रीलंका, हिंदचीन, हिंदेशिया, तिब्बत, मध्य एशिया, चीन, जापान आदि देशों में आज तक विद्यमान विविध स्मारक हैं।

तीसरा तथ्य यह है कि ईरान, यूनान, रोम आदि की विकसित सभ्यता के लोग भी भारतीय जीवन-मूल्यों से प्रभावित हुए। भारत पर सिकंदर के आक्रमण के पश्चात् यूनानियों के साथ हमारे संपर्क बढ़ने लगे। मौर्य साम्राज्य का अंत होने के बाद उत्तर-पश्चिम भारत पर यूनानियों तथा शक पह्लवों का अधिकार हुआ। उनके बाद कुषाणों ने अपनी सत्ता भारत तक बढ़ा ली। शकों की एक शाखा ने पश्चिमी भारत पर अपना आधिपत्य लगभग तीन शताब्दियों तक बनाए रखा। यह एक रोचक तथ्य है कि इन विदेशी शासकों पर भारतीय संस्कृति का प्रभूत प्रभाव पड़ा। ईसवी पूर्व दूसरी शती के यूनानी शासक अगाथाक्लोज की ताँबे की अनेक मुद्राओं पर श्रीकृष्ण और बलराम की मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं। यूनानियों, शकों, पह्लवों और कुषाणों के बहुसंख्यक सिक्कों पर नगर-देवता, लक्ष्मी, शिव, उमा, स्कंद, गणेश, विशाख, महासेन, इंद्र आदि भारतीय देवों की मूर्तियाँ अंकित हैं। उत्तर-पश्चिम भारत पर शासन करनेवाले अनेक विदेशी शासकों ने भारतीय लिपि खरोष्टी और ब्राह्मी तथा भारतीय भाषा प्राकृत को अपने सिक्कों पर स्थान दिया। इतना ही नहीं, भारतीय प्रतीक चक्र, वैदिकावृक्ष, वृषभ गज आदि का अंकन भी उनकी मुद्राओं पर मिला है। अनेक विदेशियों ने अपने नाम भारतीय रखे यथा—इंद्रमित्र, वासुदेव, केदार आदि।

ईसवी पूर्व तीसरी शती के अंत में विदिशा (मध्यप्रदेश) के शुंग शासक भागभद्र के समय में तक्षशिला के यूनानी शासक अंतलिकित का राजदूत हैलियोदोर विदिशा आया। यहाँ पर स्थित प्रसिद्ध विष्णु मंदिर के सामने पत्थर के एक विशाल गरुड़ध्वज की स्थापना की। इस स्तंभ पर अंकित लेख में हैलियोदोर ने अपने को भगवान् (विष्णु का भक्त) लिखा है। स्तंभ पर भारतीय दर्शन का साररूप यह श्लोक भी उत्कीर्ण है :

त्रिणि अमृतपदानि इअ सुअनुष्ठितानि।
नैयंति स्वर्ग दम चाग अप्रमाद।।

(अर्थात् दम, त्याग और अप्रमाद ये तीन अमृत-पद हैं, जिनका सम्यक् विधिवत् अनुष्ठान करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है)।

भारत, नेपाल, तिब्बत, हिंदचीन तथा हिंदेशिया में प्राप्त अनेक अभिलेखों में

बुद्ध को ज्ञान, अनुकंपा और कारुण्य का प्रतीक कहा गया है। जैनतीर्थंकरों एवं विष्णु शिव, लक्ष्मी आदि देवों की अभ्यर्थना भी अनेक अभिलेखों में द्रष्टव्य है।

मौर्य सम्राट् अशोक के शिलालेख विशेष महत्त्व के हैं। इस शासक ने भारतीय दर्शन के नीतिमूलक सिद्धांतों पर बल दिया। अन्य विजयों की अपेक्षा उसने धर्म-विजय को उत्कृष्ट बताया। अपने तेरहवें शिलालेख में उसने लिखा है :

तं च यो विजयो मजतु यो धर्मविजयो।
सो हिदलोकिको परलोकिको।।

धर्म-विजय को अशोक ने इहलोक तथा परलोक—दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण बताया है। अशोक के सातवें शिलालेख में दया, दान, सत्य, पवित्रता, मार्दव तथा साधुता पर विशेष बल दिया गया है, जो वास्तविक मानव-मूल्य हैं।

[सन् 1984]

महर्षि दयानंद और भारतेंदु

डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

भारतवर्ष के इतिहास में ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी अत्यंत महत्त्वपूर्ण शताब्दी है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टियों से इस शताब्दी में ऐसे अनेक परिवर्तन हुए जो उसे पिछली शताब्दियों से अलग करते हैं। राजनीतिक दृष्टि से भारत का शासन-सूत्र ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकलकर ब्रिटेन के मंत्रिमंडल के हाथ चला गया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप देश में नवीन आधुनिक शिक्षा का प्रचार हुआ और वैज्ञानिक आविष्कार प्रचलित हुए। रेल, तार, डाक-व्यवस्था, प्रेस आदि ने उन्नीसवीं शताब्दी के जीवन-क्रम, विचार-पद्धति और सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित कर वैज्ञानिकता को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप मध्ययुगीन पौराणिकता, अंधविश्वासों और अंधपरंपराओं को जबरदस्त आघात पहुँचा। उन्नीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी देन पंडों-पुरोहितों के एकाधिपत्य का समाप्त हो जाना है। नवीन शिक्षा के फलस्वरूप जिस अंग्रेजी शिक्षित मध्य वर्ग का जन्म हुआ वह पुरातनत्व का बंधन काटकर आगे बढ़ा और अपनी चेतना द्वारा नवोत्थान या नवजागरण की भावना को जन्म दिया। प्रेस के प्रचलित हो जाने से प्राचीन साहित्य प्रकाश में आया और देश में आत्म-गरिमा की वृद्धि हुई। साथ ही पाश्चात्य विचारों ने मध्य वर्ग के मन और मस्तिष्क का मंथन करना प्रारंभ कर दिया। पश्चिम की एक जीवित जाति के संपर्क में आकर जीवन में नवस्फूर्ति और चेतना का संचार हुआ और फलतः देश में नवोदित आंदोलनों का जन्म हुआ। इन आंदोलनों के कर्णधारों में महर्षि दयानंद और भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाम अत्यंत आदर और श्रद्धा के साथ लिए जाते हैं। दोनों ही आधुनिक भारत के निर्माता थे। दोनों ही भारतीय नवोत्थान के जाज्वल्यमान प्रतीक थे।

महर्षि दयानंद सरस्वती का जन्म सन् 1824 (सं. 1881 वि., टंकारा, गुजरात) और देहावसान सन् 1883 (सं. 1940 वि., कार्तिक अमावस्या, अजमेर, राजस्थान) में हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म 9 दिसंबर सन् 1850 (भाद्रपद शुक्ल 7 ऋषि सप्तमी, सं 1907 वि.) में और निधन 6 जनवरी सन् 1885 में हुआ। सन् 1857 में सिपाही विद्रोह हुआ और सन् 1885 में इंडियन नेशनल

कांग्रेस की स्थापना हुई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय महर्षि दयानंद और भारतेंदु का आविर्भाव हुआ वह राष्ट्रीय भावना के जाग्रत होने का समय था। इसके अतिरिक्त सन् 1828 में बंगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना से देश में धार्मिक एवं सामाजिक सुधारवादी आंदोलनों की परंपरा ने भी राष्ट्रीयता का पोषण किया। भारत के नवनिर्माण के क्षेत्र में जो स्थान महर्षि दयानंद का था, वही स्थान समाज तथा साहित्य के क्षेत्र में भारतेंदु का था। भारतीय जागृति में दोनों का योगदान था। दोनों के विशाल व्यक्तित्वों ने जो चेतना उत्पन्न की, उससे जन-जीवन का परिष्कार हुआ। महर्षि दयानंद ने गुरु विरजानंद के आदेश पर आर्यसमाज की स्थापना 10 अप्रैल, 1875 ई. (चैत्र शुक्ल 5, सं. 1932 वि.) को बंबई में की। क्योंकि भारतेंदु वैष्णव भक्त थे, इसलिए उन्होंने तदीय समाज की स्थापना की जिसके फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति का प्रचार हुआ। दोनों महापुरुष लेखक थे। महर्षि दयानंद ने 'सत्यार्थप्रकाश' (सं. 1939 वि.) 'संस्कार विधि', 'ऋग्वेदभाष्य भूमिका', 'ऋग्वेद भाष्य' (7वें मंडल तक), 'यजुर्वेद भाष्य' तथा अन्य कतिपय छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की। भारतेंदु ने अपनी अल्पायु में लगभग 138 ग्रंथों की रचना की। वे कवि, नाटककार, उपन्यासकार आदि के रूप में प्रसिद्ध हैं।

महर्षि दयानंद की यह मान्यता थी कि वेदों का मंत्र भाग ईश्वरकृत और स्वतःप्रमाण है तथा ब्राह्मण, उपनिषद् आदि मनुष्यकृत और परतःप्रमाण हैं, राम-कृष्ण अवतारी पुरुष नहीं महापुरुष हैं, मूर्ति-पूजा अवैदिक है, जातिभेद जन्म से नहीं गुणकर्मानुसार और परिवर्तनशील है, विवाह आदि सामाजिक विषयों में स्त्रियों और पुरुषों के समानाधिकार हैं। दार्शनिक दृष्टि से उनका मत था कि सब पदार्थों का आदि मूल परमेश है जो सच्चिदानंद स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, अजन्मा, दयालु, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी आदि है और उसी की उपासना करनी चाहिए। सभी सत्यविद्याओं का मूल वेदों में है। जीवन का उद्देश्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना है। संसार का उपकार करना हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। हमें अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहकर सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। भारतवर्ष तथा अन्य देशों में स्थापित आर्यसमाज की शाखाएँ महर्षि दयानंद के इन उद्देश्यों की पूर्ति में रत हैं। समाज में प्रचलित ऊँचनीच की भावना, अंधविश्वासों, अंधपरंपराओं, कुरीतियों, कुप्रथाओं, के वे घोर विरोधी थे। भारतेंदु भी वैदिक धर्मानुयायी थे। वे वेदों को अपौरुषेय मानते थे। वेद-निंदकों की उन्होंने भर्त्सना की है। उनकी काव्य-रचनाएँ तथा नाटक और भाषण इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। किंतु महर्षि दयानंद और भारतेंदु में थोड़ा मतवैभिन्न्य है यहाँ। भारतेंदु श्री कृष्णचंद्र को साक्षात् भगवान मानते थे। उन्हें लीलावतारी मानते थे। वे कृष्ण के परम भक्त थे, जिसका प्रमाण उनकी 'श्री चंद्रावली नाटिका' में उपलब्ध है। इस थोड़े से मतभेद के अतिरिक्त दोनों में मत-साम्य ही अधिक है। राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन आदि

नव-जागृति के सदेशवाहकों के साथ-साथ महर्षि दयानंद और भारतेंदु ने जीवन में लगा घुन दूर करने के लिए देश को प्रेरणा प्रदान की। दोनों ने देश के विभिन्न भागों की यात्रा कर साहित्य और समाज की सेवा की। दोनों ही पश्चिम के अंधानुकरण के विरोधी थे। सन् 1867 मे भारतेंदु ने चौखंभा स्कूल की स्थापना की जिससे आधुनिक शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में काफी सहायता मिली। वे स्त्रियों को निर्भीक और स्वतत्र होते देखना चाहते थे। 'नीलदेवी' गीति-रूपक में उनका यही दृष्टिकोण है। आर्यसमाज की भाँति ही उन्होने गो-रक्षा प्रचार और मदिरा-मांस-सेवन रोकने का पुनीत प्रयास किया। तात्पर्य यह है कि दोनो महापुरुष जीर्णशीर्ण भारतीय जीवन मे नया प्रकाश भर देना चाहते थे।

दोनों ही परम देशभक्त थे। वे अपनी मातृभूमि के लिए अनेक सुनहरे सपने देखा करते थे। अग्रेजो की नीति से वे क्षुब्ध रहते थे। उनके मन में एक ऐसे भारत की कल्पना थी जो किसी समय जगद्गुरु था, जो वैभवपूर्ण था। उनका ध्यान प्राचीन आर्य गौरव की ओर आकृष्ट हो जाता था। वे फिर से भारत को सभ्यता और सस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर आसीन, ज्ञान-गरिमा से मंडित, सर्वपूज्य और जगत्वंद्य देश के रूप में देखना चाहते थे। भारत की तत्कालीन दुर्दशा देखकर दोनों को मर्मांतक पीडा होती थी। रोग, महर्घ, कर, आलस्य, धनहीनता, बलहीनता, अविद्या, पारस्परिक फूट और कलह, पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण, अंधविश्वास, छुआछूत, भूत-प्रेत और अप-देवताओं मे विश्वास आदि को दूर कर वे दोनों चारों ओर छाए हुए अंधकार को दूर करना चाहते थे। पाखंड और दंभ को दूर कर उनका लक्ष्य भारतीय समाज की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना था, अविद्या (व्यापक अर्थ में) दूर करना था। वे स्वाधीनता का सूर्योदय होते देखना चाहते थे। राष्ट्रीय हित का ध्यान उनके लिए सर्वोपरि था।

महर्षि दयानंद और भारतेंदु की राष्ट्रीयता का मूलमंत्र 'निज भाषा उन्नति' था। इसके बिना न ज्ञान-वृद्धि हो सकती है और न आत्म-गौरव और गरिमा प्राप्त हो सकती है। महर्षि दयानद ने जिस जोर से हिंदी का पक्ष-समर्थन किया, उसके कारण न केवल गुजरात, वरन् सारा देश राष्ट्रीयता के क्षेत्र में आगे बढा। वे स्वयं हिंदी के बडे अच्छे ज्ञाता थे। भारतीय राष्ट्रीयता के आराधक होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक था। हिंदी की उन्नति करना उनके लिए सांस्कृतिक जागरण का चिह्न था। स्वर्गीय रामधारी सिंह 'दिनकर' के कथनानुसार जब महर्षि दयानंद कलकत्ता गए थे, तब वे केशवचंद्र सेन के साथ ही ठहरे थे। उन दिनो स्वामीजी, 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना संस्कृत में कर रहे थे। केशवचंद्र सेन के कहने पर ही उन्हें इस बात का ध्यान हुआ कि जनता के दिल और दिमाग में हलचल मचाने का काम संस्कृत नहीं कर सकती। यह काम केवल हिंदी के द्वारा किया जा सकता है। परिणामत· स्वामीजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना हिंदी मे की, हिंदी गद्य को एक नई शैली प्रदान की और जनता के बीच वे हिंदी में ही व्याख्यान

देने लगे। वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि हिंदी को अपनाए बिना भारत को अपनी राष्ट्रभाषा नहीं मिलेगी। हिंदी को अपनाकर वे देश का भाषा-भेद मिटा देना चाहते थे। वे हिंदी को आर्यभाषा कहते थे और अपने अनुयायियों के लिए आर्यभाषा का ज्ञान अनिवार्य समझते थे। उनके प्रयत्न से पंजाब और युक्त प्रांत में हिंदी का प्रचार बडी तेजी से हुआ। आगे चलकर हिंदी के लिए जो आग्रह गाँधी करनेवाले थे, उसका पूरा पूर्वाभास हमें स्वामी दयानंद में दिखाई देता है।

और भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी-प्रेम की साक्षात् मूर्ति थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उनका सारा व्यक्तित्व और कृतित्व हिंदीमय था। हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में वे आधुनिकता और प्रगतिशीलता के जनक माने जाते हैं। उन्होंने हिंदी को राधा-कृष्ण के केलि-कुंजों से निकालकर आधुनिक भावों और विचारों से पुष्ट किया। वे हिंदी के द्वारा देशी जीवन की अवरुद्ध गति को गतिमान बनाने की उत्कट अभिलाषा रखते थे। निज-भाषा-ज्ञान-विहीन व्यक्ति न घर का, न घाट का। पतिदेव जब 'देहरा' पूजते तो स्त्री 'भूत' पूजती थी। इसी से जब तक घर-घर में स्त्री और पुरुष विद्या-बुद्धि-निधान न बन जाते तब तक उन्नति की कोई आशा नहीं थी। यह कार्य निज भाषा की उन्नति के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था। अंग्रेज लोग अंग्रेजी में अनेक त्रुटियाँ होते हुए भी अपनी भाषा पर गर्व करते थे। उसी प्रकार भारतवासियों को भी अपनी भाषा की, अनुवादों और मौलिक रचनाओं द्वारा 'विद्या के भौन' बनना चाहिए। 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' (1877) में धर्म, युद्ध, विद्या, कला, विज्ञान, काव्य आदि के समझने के लिए वे निज भाषा की महत्ता बताते हुए कहते हैं :

सौंप्यौ ब्राह्मन को धरम तेई जानत वेद।
तासों निज मत को लह्यो कोऊ कबहुँ न भेद।।
तिन जो भाष्यो सोइ कियो अनुचित जदपि लखात।
सपनहुँ नहि जानी कछू अपने मन की बात।।
पढे संस्कृत बहुत बिध अंग्रेजी हू आप।
भाषा चतुर नहीं भये हिय को मिट्यो न ताप।।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेंदु निज-भाषा-ज्ञान द्वारा समाज से मूढता और कूपमंडूकता का ही निवारण करना चाहते थे, वरन् पंडों-पुजारियों का एकाधिपत्य भी समाप्त कर देना चाहते थे। हिंदी के प्रति अवहेलना और उसका अपमान उन्हें कदापि सहन नहीं था। हिंदी उनकी राष्ट्रीयता का प्रतीक थी। हिंदी की उन्नति और उसके ज्ञान द्वारा वे समाज-धर्म का सुधार करना और राष्ट्रीय एकता और अखंडता को पुष्ट करना चाहते थे।

इस प्रकार महर्षि दयानंद और भारतेंदु दोनों के लिए देशोन्नति हिंदी के बिना संभव नहीं थी। दोनों ने अपने-अपने ग्रंथों में उस समय 'स्वराज्य' का मंत्र

दिया जब 1857 के बाद सारा भारत आतंकित था और स्वतन्त्रता की बात करना मौत को निमंत्रण देने के समान समझा जाता था।

भारतीय नवोत्थान की एक विशेषता थी नारी का उत्कर्ष। हमारे देश में सैद्धांतिक रूप में नारी गृहलक्ष्मी समझी जाती है और यह कहा गया है कि जहाँ नारी का आदर होता है वहाँ देवता रमण करते हैं। गार्गी, मैत्रेयी आदि के उदाहरणों द्वारा यह भी बताया गया है कि वैदिक काल से लेकर मुसलमानी शासन काल के प्रारभ होने तक भारतीय नारी उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी, धार्मिक कृत्यों में पुरुष का साथ देती थी, राजनीति में भाग लेती थी, पर्दा नहीं करती थी, अर्थात् वह सच्चे अर्थों में पुरुष की सहधर्मिणी थी। किंतु भारतीय इतिहास के मध्य युग में उसकी स्थिति शोचनीय हो गई। वह घर की चहारदीवारी में बंद हो गई। महर्षि दयानंद ने फिर से उसे उसका उचित स्थान दिलाने की चेष्टा की। उन्होने बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और बहुविवाह का खंडन किया और नारी के प्रति क्रूरता का विरोध किया। उन्होंने नारी को उच्च-से-उच्च शिक्षा प्रदान करने, उसे समानाधिकार देने की घोषणा की। इसी प्रकार नवोत्थान-काल मे भारतेदु ने भी स्त्रियो की उन्नति के लिए आंदोलन किया। भारतीय नारी की हीन दशा देखकर उन्हे अत्यत दु ख होता था। 'पूर्णप्रकाश और चद्रप्रभा' उपन्यास में उन्होंने वृद्ध-विवाह का विरोध कि॰ है। वे चाहते थे कि भारतीय नारी अपना स्वत्व पहचाने और देश की संपत्ति-विप त्ते समझे। महर्षि दयानंद की भाँति उन्हें भी विश्वास था कि भारतीय नारी सव :: हीनावस्था में नहीं थी। वे उन्हें आधुनिक शिक्षा-नीर-क्षीर-विवेक के साथ--देने के पक्षपाती थे। उनके पिता ने तो अपने घर की लडकियो को एक मिशनरी स्कूल मे पढने भेजा ही था, किंतु भारतेदु ने नारी-शिक्षा के लिए आधुनिक शिक्षण-संस्था भी स्थापित की, इस दृष्टि से वे महर्षि दयानंद के अत्यत निकट थे। उनकी 'नीलदेवी' नामक नाट्य-कृति उनके नारी-सबंधी दृष्टिकोण पर अच्छा प्रकाश डालती है।

जहाँ तक शिक्षा का संबध है महर्षि दयानंद और भारतेंदु के समय तक भारत की प्राचीन शिक्षण-प्रणाली का ह्रास हो चुका था और नवीन यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान और साहित्य की शिक्षा प्रारभ हो गई थी। महर्षि ने प्राचीन संस्कृत-शिक्षा पर तो बल दिया ही, साथ ही नवीन यूरोपीय शिक्षा का भी समर्थन किया और इस प्रकार वे प्राचीन और नवीन का समन्वय उपस्थित करना चाहते थे ताकि भारतवासी अपनी सांस्कृतिक पीठिका के साथ आधुनिक वैज्ञानिक युग में पदार्पण कर सकें। उनके आदर्श का अनुसरण करने की दृष्टि से आज देश मे अनेक शिक्षण सस्थाएँ कार्यरत हैं। गुरुकुलो मे भी उनके आदर्शों का पालन किया जाता है। अनेक कन्या महाविद्यालय भी देश मे हैं। भारतेंदु ने अपनी 'भारत भिक्षा', 'भारतवीरत्व', 'मानसोपायन', 'मनोमुकुलमाला' आदि रचनाओं मे ब्रिटिश सुशासित भूमि के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए और उसके गुण-दोषों की ओर ध्यान आकृष्ट

करते हुए, यूरोपीय शिक्षा द्वारा देशवासियों को उन्नति पथगामी होते देखना चाहा है और निज भाषा में किए गए अनुवादों द्वारा ज्ञान-संवर्द्धन का आह्वान कर अंधकार को प्रकाश में बदल देना चाहा है। उन्हें पश्चिम का अंधानुकरण पसंद नहीं था। किंतु वे कहते थे कि 'अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़'। कालगति के अनुसार देशवासियों को उन्नति की ओर अग्रसर करने की उनकी उत्कट इच्छा थी।

वास्तव में भारतीय नवोत्थान ने जिन दो महापुरुषों को जन्म दिया उनमें हिंदी की दृष्टि से महर्षि दयानंद और भारतेंदु का शीर्ष स्थान है। इसीलिए दोनों के राजनीतिक विचारों में साम्य था। आधुनिक अर्थ में स्वराज्य की माँग तो दोनों में से किसी ने नहीं की। किंतु उन्होंने स्वराज्य की भावना का मंत्र फूँका। विदेशी शासन उन्हें फूटी आँखों भी नहीं भाता था। भारतेंदु हरिश्चंद्र की 'भारत-दुर्दशा' नामक नाट्य-कृति और अनेक काव्य-कृतियों में उनका यह दृष्टिकोण देखने को मिलता है। महर्षि का वेद-प्रचार राष्ट्रीय भावना पुष्ट करने का एक साधन था। एक अंग्रेज लेखक के अनुसार वे छद्मवेश में क्रांतिकारी थे। यही कारण था जिससे बीसवीं शताब्दी में स्वाधीनता-संग्राम के समय आर्यसमाजी राष्ट्रीय आंदोलन में घुल-मिल गए। दोनों में मानवता और विश्वबंधुत्व की भावना थी। दोनों ने आदर्श भारत की कल्पना की। उनमें से किसी ने कोई राजनीतिक संगठन स्थापित नहीं किया था, किंतु उनमें आत्मनिर्भरता और स्वतंत्रता की भावना थी। इसीलिए दोनों अंग्रेज सरकार की आँखों में खटकते थे। जन-मानस में स्वाभिमान जाग्रत कर वे चाहते थे कि भारतवासी सिंह के समान गर्जन करें। स्वराज्य और स्वदेशी की तरफ वे जनता को ले जाना चाहते थे। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' में महर्षि ने राज्य के स्वरूप, राजा तथा जनता के अधिकार, दंड-व्यवस्था, कानून आदि के संबंध में अपने विशद् एवं व्यापक विचार प्रकट किए हैं।

अभी तक मैंने दोनों महापुरुषों के विचार-साम्य के संबंध में अपना मत व्यक्त किया। किंतु एक बात में दोनों में मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। यह तो निश्चित है कि दोनों महापुरुषों में हिंदुत्व (भारतीयता) की भावना प्रबल थी। वे हिंदुओं को भारत की रीढ समझते थे। इसलिए हिंदुत्व पर ध्यान केंद्रित करना स्वाभाविक था--वैसे वे संकीर्ण सांप्रदायिकता के विरुद्ध और विश्वबंधुत्व के समर्थक थे। सुधारवादी दोनों थे। महर्षि दयानंद आर्यसमाज की स्थापना द्वारा जो कार्य संपन्न करना चाहते थे वही कार्य भारतेंदु कोई संप्रदाय या समाज स्थापित करने के बजाय परंपरा से चले आ रहे स्वयं हिंदू धर्म या सनातन धर्म में ही देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप सुधार उपस्थित करना चाहते थे। सनातन धर्म के सुधार के अंतर्गत उनके सभी सामाजिक, धार्मिक सुधार, अछूतोद्धार, नारी का उत्थान, भाषोद्धार, स्वराज्य की भावना, मांस-मद्यनिषेध, बलि-प्रथा का विरोध आदि सभी कुछ समाहित था। इसलिए उन्हें एक अलग 'दयानंदी' विचारधारा अच्छी न लगती थी। वे सामाजिक और धार्मिक सुधार उसी प्रकार चाहते थे जिस प्रकार

महर्षि दयानंद चाहते थे। किंतु अति का अतिक्रमण करते हुए और पश्चिम के चकाचौंध से बचकर (ब्रह्मसमाज)। उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक सुधारवादी संस्थाएँ उत्पन्न हो गई थीं, यह उन्हें पसंद न था। मतमतांतर उन्हें अच्छे नहीं लगते थे। इसीलिए प्राचीन सनातन धर्म के प्रति आर्यसमाज की भावना का वे अपने ढंग से खंडन करते थे। इस दृष्टि से 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' (खंड 6, संख्या 12-13, जून-जुलाई, 1879) में उनका 'दयानंद सरस्वती' शीर्षक लेख देखने योग्य है। साथ ही उनके ये शब्द भी देखिए :

भारत में एहि समय भई है एब कुछ बिनहिं प्रमान हो दुइ-रंगी।
आधे पुराने पुरानहिं मानें आधे भए किरिस्तान हो दुइ-रंगी।।
क्या तो गदहा को चना चढ़ावैं कि होइ दयानंद जाएँ हो दुइ-रंगी।
क्या तो पढ़ैं कैथी कोठिवलिये कि होइ बरिस्टर धाय हो दुइ-रंगी।।
एही से भारत नास भया सब जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइ-रंगी।
होउ एकमत भाई सबै अब छोड़हु चाल–कुचाल हो दुइ-रंगी।।

वास्तव में भारतेंदु प्राचीन सनातन धर्म को नवीन रूप प्रदान करना चाहते थे। सबको तीन-तेरह होते देखना उन्हें पसंद न था। वे अतिवादियों से सहमत न हो पाते थे, फिर वे चाहे प्राचीन धर्म का ढोंग भरनेवाले कूपमडूक ब्राह्मण हों या आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी हों या ईसाइयत का दम भरनेवाले नवशिक्षित भारतीय।

भारतेंदु का केवल इस मामले में महर्षि दयानंद से असहमत होना आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। दो महापुरुषों में पूर्ण मतैक्य हो, यह न तो संभव है और न स्वाभाविक।

अन्यथा, दोनों राष्ट्रीय नवजागरण के अग्रदूत थे। वे भारतीय जीवन का फिर से संस्कार करना चाहते थे। पूर्व और पश्चिम का समन्वय उपस्थित कर दूषित परंपराओं, अंधविश्वासों, अंधपरंपराओं आदि का निवारण करना उनका लक्ष्य था। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की सर्वप्रधानता में विश्वास कर उन्होंने सामाजिक एवं धार्मिक प्रगतिशीलता और राष्ट्रीय चेतना की जागृति में जो अपूर्व योग प्रदान किया, वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। दोनों आधुनिक भारत के निर्माता थे। महर्षि दयानंद यदि तपोमूर्ति थे, तो भारतेंदु रसमूर्ति थे और वे हिंदू समाज को पुनर्जन्म देने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। वे मनुष्य और मानवता के शिल्पी थे। दोनों कर्मवीर और चिंतक थे। वर्तमान हिंदू विचारधारा में उन्होंने अत्यंत महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़े। दोनों का उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक सत्य के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में लाना था। आधुनिक भारत के मार्ग-दर्शक महर्षि दयानंद और भारतेंदु को मैं सादर श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

[सन् 1985]

दयानंद और प्रेमचंद

•

श्री मदनगोपाल

[1]

महर्षि दयानंद के निधन के समय प्रेमचंद की आयु तीन वर्ष की थी। उनका असली नाम धनपतराय था। उनकी शिक्षा काशी में हुई, वही काशी जहाँ स्वामी दयानंद का कड़ा विरोध हुआ था।

जब धनपतराय स्कूल में पढ़ रहे थे तब आर्यसमाज ने उत्तर भारत के जनजीवन में एक नई चेतना का संचार किया। महर्षि के समय हुए वाद-विवादों की गूँज अभी भी सुनाई दे रही थी। महर्षि के अकाट्य तर्कों ने धार्मिक अंधविश्वासों और रूढ़िवादी संकीर्णताओं की बुनियादें हिला दी थीं। उस युग के एक महान सुधारवादी भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपनी पत्रिका 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के सहायक संपादकों की सूची में महर्षिजी का नाम भी सम्मिलित किया था, क्योंकि महर्षिजी की कुछ कृतियाँ उस पत्रिका में छपी थीं। जनता द्वारा नई विचारधारा का स्वागत पुरातनपंथी संकीर्णताओं के मुँह पर कड़ा तमाचा था। प्रेमचंद ही शायद ऐसे प्रथम साहित्यकार थे जिन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से महर्षि का संदेश घर-घर पहुँचाया। अपने सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण वह जल्द ही जन-जन में लोकप्रिय हो गए और प्रमुख आर्यसमाजी साहित्यकार के रूप में साहित्य गगन पर छा गए। उनकी कृतियों में प्रचारक की ध्वनि नहीं है, और न ही नारेबाजी है। इनके स्थान पर हमें सुधारवादी और शिक्षात्मक स्वर सुनाई देता है। उनके आर्यसमाजी विचार थोथे नहीं लगते।

प्रेमचंद की सर्वप्रथम नौकरी अट्ठारह रुपए महीने पर चुनार के मिशनरी स्कूल में लगी थी। एक मैट्रिक पास को उन दिनों अट्ठारह रुपए वेतन मिलना बड़ी बात थी। प्रेमचंद ने स्वयं लिखा है कि नौकरी मिलते ही जब वह घर की ओर चले तो उनके पाँव जमीन पर न पड़ते थे। परंतु ईसाई मिशनरी स्कूल में उनका टिकना आसान नहीं था। वह कुछ ही महीने वहाँ काम कर पाए। चुनार में गोरे लोगों की पलटन तैनात थी। प्रेमचंद स्वतंत्र विचारों के व्यक्ति थे, बड़े स्वाभिमानी। गोरे सिपाहियों और स्थानीय युवकों के खेल में झड़प के सिलसिले

में बात आगे बढ़ी और धनपतराय को स्कूल से निकाल दिया गया। जितने दिन रहे परिस्थिति अनुकूल नहीं थी। स्कूल तो मिशनरियों का था ही। यहाँ उन पादरियों का भी अड्डा था जो ईसाई मत का प्रचार करते थे और गरीब किसानों तथा अछूतों को प्रलोभन देकर ईसाई धर्म के लपेट में ले रहे थे। यही कारण था कि इस छोटे से नगर में दो गिरजाघर थे। आगे चलकर प्रेमचंद ने अकाल और विपदाग्रस्त लोगों के धर्मपरिवर्तन के बारे में कहानियाँ भी लिखीं।

कहानियों से पहले मैं उनके उपन्यासों को लेता हूँ। प्रारंभिक तीन उर्दू कृतिया हैं 'असरारे माबिद', 'हमखुर्मा व हमसवाब' और 'किशना'। 'असरारे माबिद' अधूरा रहा। इसका हिंदी में अनुवाद नहीं हुआ। 'किशना' का भी नहीं हुआ (इस उपन्यास की तो अभी तक एक भी प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है।) 'हमखुर्मा व हमसवाब' की कुछ प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इन तीनों में से कौन-सी पुस्तक कब लिखी गई और कब प्रकाशित हुई, इसके बारे में मतभेद हैं। 'असरारे माबिद' बनारस की पाक्षिक उर्दू पत्रिका 'आवाजे खल्क' में छपा। पहली किस्त 9 अक्तूबर, 1903 को, और आखिरी किस्त फरवरी 1905 को, लेखक का नाम था 'नवाबराय इलाहाबादी'। प्रेमचंद इसे पूरा नहीं कर सके। आगे चलकर 'किशना' के आधार पर 'गबन' लिखा। 'हमखुर्मा व हमसवाब' का हिंदी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ, यह था 'प्रेमा'। 'असरारे माबिद' का उन्होंने कहीं जिक्र नहीं किया। शायद इसलिए कि इस उपन्यास में विशेष फक्कड़पन तो है ही, थोड़ी अश्लीलता भी है। इसकी पात्र रामकली एक महंत के प्रेमपाश में फँसी है। बाजारू प्रवृत्ति की औरत है। महंत से इतनी घनिष्ठता है कि घर के जेवर चुराकर उसे दे देती है। 'हमखुर्मा व हमसवाब' में भी हमें रामकली का किरदार मिलता है। वहाँ वह विधवा है। महंतजी वहाँ भी हैं। दोनों उपन्यासों में महंत या पुजारियों की खिल्ली उड़ाई गई है। ऐसे ही जैसे आर्यसमाजी प्रचारक उनकी कुरीतियों का भंडा फोड़कर दिखलाते थे। 'हमखुर्मा व हमसवाब' आर्यसमाजी रंग में रँगा है। तब प्रेमचंद की आर्यसमाज में पूरी आस्था थी। वह समाज-सुधार के इच्छुक थे। यह पुस्तक प्रेमचंद को प्रिय भी थी। उर्दू में इसके शायद तीन संस्करण निकले। हिंदी में इसका उल्था कर 'प्रेमा' शीर्षक से प्रकाशित करवाया। फिर बीस वर्ष बाद इसके 'प्लाट' में थोड़ा परिवर्तन कर इसे 'प्रतिज्ञा' के नाम से छपवाया।

उपन्यास का नायक अमृतराय स्वयं प्रेमचंद का मुखपात्र है। आरंभ में प्रेमचंद की आकांक्षा थी वकील बनने की। स्वयं वकील नहीं बने, परंतु अमृतराय को वकील का जामा पहनाया। यही नहीं, अमृतराय का एक विधवा से विवाह भी करवाया। हिंदी उपन्यास में यह नई बात थी। स्वयं प्रेमचंद ने भी एक बाल-विधवा से विवाह किए। महर्षि ने विधवाओं के लिए नियोग की प्रथा को पुनर्जीवित करने का प्रचार किया था। परंतु कितने ही आर्यसमाजियों ने विधवा-विवाह का प्रचार किया। महर्षिजी ने इसका विरोध नहीं किया। यही नहीं, आर्य मेसेंजर में विधवाओं

के विवाह संबंधी विज्ञापन भी छपते थे। महर्षिजी ने उन्हें देखा था।

'हमखुर्मा व हमसवाब' उपन्यास के नायक अमृतराय ने प्रचारक धनुषधारी का व्याख्यान सुना। इतने प्रभावित हुए कि कुछ अंश भी नोट कर लिए। जब अमृतराय ने अपने मित्र दाननाथ को बतलाया कि उसने धनुषधारी का व्याख्यान सुना था तो दाननाथ ने व्याख्यान का विषय पूछा। अमृतराय ने कहा--"जाति की उन्नति के सिवा दूसरी कौन-सी बात हो सकती थी ? लाला साहब ने अपना जीवन इसी काम के हेतु अर्पण कर दिया है। आज ऐसा सच्चा देशभक्त और निष्काम जाति-सेवक इस देश मे नहीं है। यह दूसरी बात है कि कोई उनके सिद्धांतों को माने या न माने। मगर उनके व्याख्यानो के सुनने का आनद कई बार प्राप्त किया है। मगर आज की स्पीच मे तो बात ही और थी। ऐसा जान पडता है कि उनकी जबान में जादू भरा है। शब्द वही होते हैं जो हम रोजमर्रा काम मे लाया करते हैं। विचार भी वही होते हैं जिनकी हमारे यहाँ प्रतिदिन चर्चा रहती है। मगर उनके बोलने का ढग कुछ ऐसा अपूर्व है कि दिल को लुभा लेता है।"

अमृतराय बह गए। आदर्श के नाम पर किसी भी विधवा से विवाह का सकल्प किया।

जब इस तरह का सदेश उनकी मगेतर प्रेमा के पिता बदरी प्रसाद के पास पहुँचा तो उन्होंने अमृतराय को लिखा--"हमने सुना है कि अब आप सनातन धर्म को त्याग करके ईसाइयो की उस मंडली मे जा मिले हैं जिसको लोग भूल से सामाजिक सुधार सभा कहते हैं। इसलिए अब हम अति शोक के साथ कहते हैं कि हम आपसे कोई बात नहीं कर सकते।" अमृतराय को धक्का लगता है। संघर्ष था देशभक्ति और आत्मस्वार्थ के बीच। लेखक के अनुसार देशभक्ति ने आत्मस्वार्थ को परास्त कर दिया। अमृतराय ने बदरी प्रसाद को लिखा--"कृपा पत्र आया। पढकर बहुत दुख हुआ। आपने मेरी बहुत दिनो की बँधी हुई आशा तोड दी। खैर, जैसा आप उचित समझे वैसा करें। मैंने जब से होश सँभाला है तब से मैं बराबर सामाजिक सुधार का पक्ष करता हूँ। मुझे विश्वास है कि हमारे देश की उन्नति का इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। आप देश जिसको सनातन धर्म समझ बैठे हैं वह अविद्या और असभ्यता का प्रत्यक्ष स्वरूप है। आपका कृपाकांक्षी--अमृतराय।"

प्रेमा का विवाह अमृतराय के परममित्र दाननाथ से हो जाता है।

अमृतराय पूर्णा के पति के गंगा में डूब जाने पर उसे सहानुभूति दिखलाते हैं। दिल में बैठा सुधारक कहता है, पूर्णा का दूसरा विवाह होना चाहिए। पूर्णा को मनाया जाता है। जब विधवा-विवाह का समाचार शहर मे फैलता है तो बदरी प्रसाद के घर पर इसकी चर्चा होती है। विद्वान और धनाढ्य लोग इकट्ठे होते हैं, शादी को रोकने के तरीकों पर बहस होती है।

पंडित भृगुदत्त : विधवा-विवाह वर्जित है। कोई हमसे शास्त्रार्थ कर ले। वेद-पुराण में कहीं ऐसा अधिकार कोई दिखा दे तो हम आज से पंडिताई करना छोड़ दें।

बहुत से लोग चिल्लाए : हाँ-हाँ, जरूर शास्त्रार्थ हो।

लोगों को शास्त्रार्थ पर उतारू देखकर बदरी प्रसाद बोले : किससे करोगे शास्त्रार्थ ? मान लो वह शास्त्रार्थ न करे। तब ?

सेठ धूनीमल : बिना शास्त्रार्थ किए विवाह कर लेंगे ? थाने में रपट करा दूँगा।

ठाकुर जोरावर सिंह : कोई ठट्ठा है ब्याह करना। सिर काट लूँगा। लहू की नदी बह जाएगी।

राव साहब : बारात की बारात काट डाली जाएगी।

सैकड़ों आदमी आकर डट गए और आग में ईंधन लगाने लगे।

एक : जरूर से जरूर सिर गंजा कर दिया जाए।

दूसरा : घर में आग लगा देंगे। सब बारात जल-भुन जाएगी।

तीसरा : पहले उस स्त्री का गला घोंट देंगे।

एक ओर विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं, दूसरी ओर लठैतों के सरदार ठाकुर जोरावर सिंह अमृतराय को खत भेजते हैं। लिखा था : हमने सुना है कि आप विधवा ब्राह्मणी से विवाह करनेवाले हैं। हम आपसे कहे देते हैं कि भूलकर भी ऐसा न कीजिएगा। नहीं तो आप जानें और आपका काम।

अमृतराय प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। रसूखवाले हैं। विवाह संपन्न हो जाता है। विरोधी दल दाँत पीसता रह जाता है।

सेठ धूनीमल पंडित भृगुदत्त से कहते हैं : महाराज, कुछ ऐसा यत्न कीजिए कि इस दुष्ट का सत्यानाश हो जाए। कोई नामलेवा न बचे।

भृगुदत्त : सर्वथा नाश न कर दूँ तो ब्राह्मण नहीं। आज के सातवें दिन उनका नाश हो जाएगा।

सेठजी : द्रव्य जो लगे बेखटक कोठी से मँगा लेना।

भृगुदत्त : इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल पाँच सौ ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराना होगा।

एक ओर अंधविश्वास और अविद्या का वातावरण है दूसरी ओर एक ब्राह्मणी विधवा का एक क्षत्रिय अविवाहित पुरुष से विवाह, जातीय सीमाओं को लाँघकर प्रेमचंद ने अंतर्जातीय विवाह का प्रचार किया।

अमृतराय और पूर्णा के विवाह के बाद भी प्रेमा के हृदय में अमृतराय की मूर्ति ज्यों की त्यों रही। यह बात दाननाथ को खटकी। दाननाथ को अमृतराय से इतनी ईर्ष्या थी कि वह अमृतराय को मारने चला। प्रेमा ने पूर्णा को सावधान किया। परिणाम यह हुआ कि दाननाथ और पूर्णा एक-दूसरे को गोली का निशाना

बना देते हैं। प्रेमा विधवा हो जाती है। तब प्रेमचंद अमृतराय का विवाह विधवा प्रेमा से करवा देते हैं। यह समाज-सुधार और देशोद्धार के हित में है। देशोद्धार की भावना अगले उपन्यास 'जलवाए ईसार', हिंदी में 'वरदान' में भी है। इस उपन्यास के नायक की माँ सुवामा अष्टभुजी देवी से वरदान माँगती है। देवी की उसके कान में आवाज आती है—सुवामा, मैं तुमसे बहुत खुश हूँ। माँग, क्या माँगती है।

मैं जो कुछ माँगूँगी, क्या देवीजी देंगी ?

हाँ, मिलेगा।

मैंने बड़ी तपस्या की है। इसके लिए भारी वरदान माँगूँगी।

क्या लेगी ? कुबेर का धन ?

नहीं।

इंद्र का बल ?

नहीं।

सरस्वती की विद्या ?

नहीं।

संसार का सबसे उत्तम पदार्थ माँगती है।

वह क्या है ?

सपूत बेटा जो कुल का नाम रोशन करे ?

नहीं।

जो माँ-बाप की सेवा करे ?

नहीं।

जो विद्वान् और बलवान् हो ?

नहीं।

फिर सपूत बेटा किसे कहती है ?

जो अपने देश-का उपकार करे।

इस उपन्यास का नायक सुवामा का बेटा प्रतापचद है जो संन्यास लेकर बालाजी का नाम ग्रहण करता है।

कुछ समालोचकों ने बालाजी का आधार स्वामी विवेकानंद बतलाया है। इस धारणा का मुख्य कारण यह है कि जिस समय 'वरदान' लिखा जा रहा था उन्हीं दिनों प्रेमचंद ने विवेकानद पर एक लेख 'जमाना' में छपवाया था। स्वामी विवेकानंद द्वारा लिखी गई किसी पुस्तक का उर्दू अनुवाद भी 'अदीब' में छपवाया था।

परंतु बालाजी का चरित्र विवेकानंद पर नहीं स्वामी दयानंद पर ढाला गया है—'अभी बहुत दिन नहीं गुजरे कि प्रतापचंद एक गुमनाम आदमी था। आज उसका नाम बच्चे-बच्चे की जबान पर है। क्या उनके पास कारूँ का खजाना

था? पनघट पर जब औरतें कूल्हों पर घडे रक्खे पानी के लिए आती हैं तब बालाजी ही के चर्चे होते हैं और उन्हीं के जस गाए जाते हैं। अनाज के खेतों में उन्हीं की बडाई होती है। यही कौमी खिदमतगार का इनाम है। कलकत्ता में जब वह गए, फूलों की बरसा हुई। हजारों मन फूल पैरों तले रौंद डाले गए। उस दिन मंदिर में देवताओं को फूलों की बास न मिली। रंगीनमिजाजों के गले में फूलों के गजरे न दिखाई दिए। जब वह भागीरथी के किनारे पानी में सूर्यास्त की बहार देख रहे थे तो कई औरतें पानी भरने आईं और घडों को पानी में घुमा-घुमाकर बातें करने लगीं।

एक ने कहा : बहन, तूने सुना नहीं, बालाजी आए हैं।

दूसरी बोली : हमारे ऐसे भाग कहाँ जो उनके दर्शन मिले।

तीसरी बोली : तू चलने पर राजी हो तो मैं तेरे साथ चलूँ। वह आज अपनी गौशाला देखने आएँगे। कौन दूर है। गऊओं के लिए खली और दाना भी ले जाना। एक पंथ दो काज हो जाएँगे।

चौथी बोली : ऐसा न करेंगी तो बडा पाप होगा। देख, जब से इनका गौशाला खुला है, लडकों को दोनों वक्त दूध पीने को मिल जाता है नहीं तो रूखी रोटियों को तरसते थे।

आगे लिखा है : "बालाजी ने गाँव-गाँव में गौशाले खुलवा दिए। उनका सिद्धांत था कि हमारी कौमी तबाही और जवाल का असली सबब हमारा जिस्मानी जौफ और जातों की बेजा 'तफरीक' है। हमारे बच्चे रूखी रोटियो को तरसते हैं और दूध-घी की खुशबू भी उनके नाक तक नहीं पहुँचने पाती आज तक जितने ऋषि और महात्मा हो गुजरे हैं उन सबने उस तफरीक के मिटाने की कोशिशें की हैं। महात्मा बुद्ध पहले बुजुर्ग थे जिन्होंने हिंदुओं की पेशानी पर से इस बे-इंसाफी और जुल्म का दाग मिटाना चाहा और उन्हें बहुत कुछ कामयाबी भी हुई। उनके बाद श्री शंकराचार्य, श्री रामानुज, श्री चैतन्य, श्री रामकृष्ण, श्रीस्वामी दयानंद और स्वामी रामतीर्थ। सभी महात्माओं ने यही तालीम दी कि अपने भाइयों को अपना भाई समझो। नादान भाई भी तुम्हारा भाई है। उसे नीचा मत समझो। तुम्हारी मुक्ति एकता से होगी, तफरीक से नहीं।" यही था आर्यसमाज का संदेश। यही था महर्षि दयानंद का संदेश। इन दिनों प्रेमचद विधिवत आर्यसमाज के सदस्य थे। फरवरी, 1913 में मझगाँव से निगम को लिखा : "मेरे जिम्मे हमीरपुर आर्यसमाज के दस रुपए बाकी हैं। बार-बार तकाजा हुआ है, मगर तंगदस्ती ने इजाजत न दी कि अदा कर दूँ। आप अगर एफोर्ड कर सकें तो बरारास्त मेरे नाम से हमीरपुर आर्यसमाज के सेक्रेटरी के नाम दस रुपए का मनीआर्डर कर दें। ममनून हूँगा। तकलीफ तो होगी मगर मेरी खातिर इतना सहना पडेगा क्योंकि यहाँ अब जलसा भी अनकरीब होनेवाला है। मुकर्रर अर्ज यह है कि यह दस रुपए जरूर भेज देवें। मैंने जनवरी में अदा करने का

इतमी वायदा किया है।"

एक महीने बाद फिर याद कराया "अगर आपने हमीरपुर समाज के नाम दस रुपए न रवाना किए हों तो बराहे करम अब कर दीजिए, क्योंकि मैं 14 मार्च को वहाँ जाऊँगा और तकाजा नहीं सहना चाहता।"

शायद यही जलसा था जिसके बारे में आर्यसमाज प्रचारक मौलवी आलिम फाजिल श्री महेश प्रसाद ने लिखा है कि गर्मियों में दो सहयोगियोंसहित वह महोबा गए। प्रेमचंद वहाँ सब-डिप्टी इंसपेक्टर तैनात थे। तीनों प्रेमचंद के घर पर ठहरे। उनके अपने शब्दों मे · हम तीनों का सत्कार उन्होंने निरंतर सात-आठ रोज तक जिस प्रेम और नम्रता के साथ किया था उसको हम कभी नहीं भूल सकते। जिन विषयों पर चर्चा हुई उनमें से दो इस प्रकार थे ·

1. आर्यसमाज और उसके कार्य संबंधी बाते और

2 ईसाइयों के उस कार्य के बारे में जो उस समय केवल महोबा में ही नहीं बल्कि हमीरपुर जिले में भी हो रहा था। प्रेमचंद ने बतलाया कि हमारी सामाजिक बुराइयों का ही फल है कि महोबा अथवा बुदेलखंड के स्थानो में हिंदुओं के अनेक लडकी-लडके ईसाइयों के घेरे मे पहुँच गए।

इन्हीं दिनो प्रेमचद ने इसी विषय पर एक कहानी लिखी। शीर्षक था, 'खूने सफेद'। अकालग्रस्त लोग अपने घर-बार छोडकर रोजी के लिए मीलों दूर जाते हैं। एक परिवार था जादोराम और देवकी का। उनका बच्चा साधोराम बुखार में पडा था। माँ-बाप काम में लगे हैं। बच्चा पादरी मोहनदास के खेमे की ओर आकर्षित होता है। पादरी उसे प्यार करता है, खाने को बिस्कुट और केले देता है। साधो बहुत प्रसन्न है। अगले दिन भी वहीं जाता है। माँ-बाप उसे तलाश करते हैं, परंतु निष्फल। वे निराश हो जाते हैं। उधर साधो को क्रिस्तान बनाकर पुणे भेज दिया जाता है।

अकाल के बाद इस क्षेत्र में खुशहाली आती है। जादोराम का परिवार संपन्न हो जाता है। उसका छोटा बेटा माधो और लडकी गिरि भी उसके काम में हाथ बँटाते हैं। एक दिन साधो साइकिल पर चढकर आ धमकता है। माँ-बाप की बाछे खिल जाती हैं। परंतु ग्रामीण समाज ईसाई बेटे को नहीं स्वीकारता। साधो प्रायश्चित करने को तैयार है। नादानी से हुए कार्य के लिए दड भोगने को भी तैयार है परंतु गाँव के ठाकुर लोग लाल आँखे निकालकर कहते हैं–"ठकुराइन ! बिरादरी की तो तुम खुद मर्यादा करती हो। लडका चाहे किसी रास्ते पर जाए, लेकिन बिरादरी चूँ तक न करे। ऐसी बिरादरी कहीं और होगी। हम साफ-साफ कहे देते हैं कि अगर यह लडका तुम्हारे घर में रहा तो बिरादरी भी बता देगी कि वह क्या कर सकती है।"

साधो को छुआछूत और खाने-पीने के बारे में सलाह दी जाती है। माँ-बाप निस्सहाय हैं। साधो तीक्ष्ण शब्दों में कहता है, "क्या मान लूँ ? यही कि अपनों

में गैर बनकर रहूँ, अपमान सहूँ। मिट्टी का घडा भी मेरे छूने से अशुद्ध हो जाए। न, यह मेरे किए न होगा। मैं इतना निर्लज्ज नहीं हूँ।"

आगे चलकर वह कहता है—"मैं अपने घर में रहने आया हूँ। अगर यह नहीं है तो मेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि जितनी जल्दी हो सके यहाँ से भाग जाऊँ। जिनका खून सफेद है उनके बीच में रहना व्यर्थ है।" और साधो बाईसिकिल पर चढकर वहीं जाता है जहाँ से तंग होकर वह आया था। उसी क्षेत्र में जहाँ कोई अपना न था।

प्रेमचद ईसाइयों द्वारा प्रचार का विरोध करते थे। उनका दृष्टिकोण वही था जो आर्यसमाज का। दयानारायण निगम एक उर्दू साप्ताहिक निकालना चाहते थे। प्रेमचंद ने महोबा से लिखा "हफ्तेवार का नोटिस आपने निकाल ही दिया। जरा तबियत तो अच्छी होने देते। देखिए क्या कामयाबी होती है। आपका हफ्तेवार कामरेड के नमूने का होना चाहिए नाम हिंदू मौजू था। शायद इस नाम का कोई परचा पंजाब से निकलने लगा है। मगर (आपके) अखबार का नमूना कामरेड ही हो, पालिसी हिंदू। अब मेरा हिंदुस्तानी कौम पर ऐतबार नहीं रहा और उसकी कोशिश फजूल है।"

[2]

महर्षि दयानंद ने लिखा है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था। वेदों से विमुख होने के कारण ही महाभारत का युद्ध हुआ। अज्ञान और अंधकार के बढने से लोग भ्रमयुक्त होकर मनमानी करने लगे। ईसाई प्रचारक भारत के लोगों को धडाधड ईसाई बना रहे थे। स्वामी दयानंद ने उन्हें ललकारा। शास्त्रार्थ हुए। शास्त्रार्थ तो कट्टरपंथी मूर्तिपूजा के समर्थकों, ईसाइयों और मुस्लिम विद्वानो से भी हुए। महर्षि का एक लक्ष्य था ईसाई मत का विरोध। ईसाई मत विदेशी सत्ता का भी प्रतीक था।

कुरान का कोई हिंदी संस्करण नहीं था। इसलिए महर्षिजी ने विशेष प्रयत्न करके इसका अनुवाद करवाया। 'सत्यार्थप्रकाश' के पहले संस्करण मे इस्लाम के बारे में समुल्लास नहीं था। यह दूसरे संस्करण में दिया गया। मुसलमानो द्वारा स्वामीजी का विशेष विरोध नहीं हुआ। जब लाहौर में ब्रह्मसमाज के अनुयाइयो ने उन्हे समर्थन देने से इंकार कर दिया तो मुस्लिम डॉक्टर खान बहादुर रहीम खान ने उनके ठहरने का प्रबध किया। अमृतसर मे जिस मकान में आर्यसमाज की नींव रखी गई वह मियाँ जानमुहम्मद का था। सर सैयद अहमद के घर पर स्वामीजी ने शास्त्रार्थ किया। सर सैयद ने अपने घर पर भोज के लिए निमंत्रण भी दिया। यह स्वीकारा नहीं गया। इसके कारणों की बात आगे होगी। निधन के समय भी उनका उपचार एक मुस्लिम डॉक्टर अलीमर्दन खान कर रहे थे।

यह कहना अनुचित न होगा कि उन दिनों हिंदू और मुसलमानो के बीच

सौहार्द था। दयानंद का विशेष प्रहार ईसाई मत पर था। समाज-सुधार आर्य धर्म के प्रचार का मुख्य अंग था और समाज-सुधार अप्रत्यक्ष रूप में राष्ट्र को विदेशी सत्ता के विरुद्ध तैयार करना था। आगे चलकर आर्यसमाज के समर्थकों की राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। अपनी पुस्तक 'दि सन आफ इंडिया' में ए.डी. रेनकर्ट ने लिखा है कि बंगाल की 1905 की क्रांति महर्षि दयानंद की आर्यसमाज की धार्मिकता, राष्ट्रीयता का परिणाम था। संयुक्त प्रांत (आज का उत्तर प्रदेश) और मध्य प्रदेश जैसे प्रांतों में आर्यसमाज ही राजनीतिक राष्ट्रीयता का केंद्र बनी। सच तो यह है कि बीसवीं शताब्दी के आरंभ में आर्यसमाजी भारी संख्या में राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पडे। पंजाब गवर्नर डैंजिल इबटसन ने लिखा है कि प्रांत के प्रत्येक जिले के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेटों ने उन्हें बतलाया था कि वहाँ की आर्यसमाजें ही विद्रोह का गढ बनी थीं। इबटसन के उत्तराधिकारी माइकल ओडवायर ने भी कहा था—"हालाँकि हिंदू जनसंख्या का पाँच प्रतिशत से अधिक भाग आर्यसमाज में नहीं है फिर भी (1907 से 1918 तक) राजद्रोह से संबधित लोगों में से अधिकांश आर्यसमाजी ही थे।" लाला लाजपतराय, अजीतसिंह, भाई परमानद, श्रद्धानंद, राजा महेंद्रप्रताप, इद्र विद्यावाचस्पति, एम.जी. रानाडे, सत्यानंद ढींगडा इत्यादि कितने ही राष्ट्रवादी आर्यसमाज के अनुयायी थे।

इनमें से कितने ही लेखक थे परंतु साहित्यकार केवल प्रेमचंद थे। सरकारी नौकरी होते हुए भी वह राष्ट्रवादी थे। उन्होंने 'सोजे वतन' की भूमिका में लिखा : "हर एक कौम का इल्मी अदब अपने जमाने की सच्ची तस्वीर होता है। जो खयालात कौम के दिमागों को मुतहर्रिक करते हैं और जो जजबात कौम के दिलों मे गूँजते रहे वह नज्म व नसर के सफहों में ऐसी सफाई से नजर आते हैं जैसे आइने में सूरत। हमारे लिटरेचर का इबतिदाई दौर वह था कि लोग गफलत के नशे में मतवाले हो रहे थे। इस जमाने की अदबी यादगार वजुज आशिकाना गजलों और चंद किस्सों के और कुछ नहीं। दूसरा दौर उसे समझना चाहिए जब कौम के नए और पुराने खयालात मे जिंदगी और मौत की लडाई शुरू हुई और तमद्दुन की तजवीज सोची जाने लगी। इस जमाने के किस्से व हिकायात ज्यादातर इस्लाह और तजदीद ही का पहलू लिए हुए हैं। अब हिंदुस्तान के कौमी खयालात ने बलोगियत के जीने पर एक कदम और बढाया है और हुब्बे वतन के जजबात लोगों के दिलों में सर उभारने लगे हैं। क्योंकर मुमकिन था कि इसका असर अदब पर न पडता। ये चंद कहानियाँ इस असर का आगाज हैं और यकीन है ज्यों-ज्यों हमारे ख्याल रकीह होते जाएँगे, इस रंग के लिटरेचर को रोज अफ्जूँ फरोग होता जाएगा। हमारे मुल्क को ऐसी किताबों की अशद जरूरत है जो नई नसल के जिगर पर हुब्बे वतन की अजमत का नक्शा जमाए (नवाबराय)।"

देशप्रेम की इन पाँच कहानियों को विद्रोहात्मक माना गया। पुस्तक पर प्रेस

का नाम नहीं छपा था। इसलिए सरकार की सी. आई. डी. ने पूछताछ की। पता चला कि 'नवाबराय' तो धनपतराय का कल्मी नाम है और धनपतराय महोबा मे डिप्टी इंस्पेक्टर आफ स्कूल्स तैनात है। धनपतराय की तलब हुई। रातो-रात सफर कर कलक्टर के यहॉ पेशी हुई। उसकी मेज पर 'सोजे वतन' की एक प्रति पड़ी थी। कलक्टर ने कहा, इन कहानियो में राजद्रोह भरा पडा है। मुगल राज होता तो तुम्हारे हाथ काट दिए जाते। अंग्रेजी राज की बरकत है कि तुम्हें छोड दिया जाता है। स्टाक में सारी पुस्तकें सरकार के हवाले कर दी गईं। इन्हें नष्ट कर दिया गया।

हुक्म हुआ आगे से लिखना बंद और किसी लेख के प्रकाशन से पहले सरकारी अनुमति आवश्यक है। धनपतराय ने अपने मित्रों को बतलाया कि बच गए वरना माडले की हवा खानी पडती। उन्होने निगम को लिखा कि भविष्य मे सरकारी अनुमति लेनी होगी, विषय कुछ भी हो। चाहे लेख हाथी दॉत पर ही क्यों न लिखा हो। इस पर निगम ने प्रेमचंद के कल्मी नाम का सुझाव दिया।

'जलवाए ईसार' (वरदान) इन्हीं दिनों लिखा जा रहा था। इस पर नाम नवाबराय ही दिया गया। हम देख चुके है कि सुवामा की इच्छा है कि उसका पुत्र प्रतापचद्र देशोद्धार करे और यह कि नायक का चरित्र दयानद पर ढाला गया है। आगे चलकर प्रेमचद ने इस तरह की कहानियॉं भी लिखीं जिनसे स्वाभिमान और राष्ट्रीयता की भावना उजागर हो। जलियॉवाला हत्याकाड के बाद प्रेमचंद के दिल पर एक भारी बोझ था। गोरखपुर मे गॉधीजी का भाषण सुना और अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। बाद में लेखन के माध्यम से राष्ट्रीय सग्राम मे अपना योगदान दिया। उन्हें गॉधी युग का प्रमुख साहित्यकार माना जाता है। उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल थी, इतनी प्रबल कि उनकी विचारधारा भी बदली। महात्मा गॉंधी के नेतृत्व मे काग्रेस ने खिलाफत आंदोलन को अपना समर्थन दिया। प्रेमचद ने भी इसी नीति का समर्थन किया। मौलाना मुहम्मद अली और शौकतअली की प्रशसा की और उनकी तुलना राम-लखन की जोडी से की। दस वर्ष पूर्व हिदुस्तानी कौम मे आस्था न रखनेवाले प्रेमचंद अब राष्ट्रीय विचारधारा का अनुसरण कर रहे थे। इस विचारधारा का आधार था हिंदू-मुस्लिम मतभेदो को दूर करना।

महर्षि दयानद के जीवन-काल मे हिदुओ और मुसलमानो के बीच विशेष मतभेद नही थे। जब महर्षिजी से पूछा गया कि क्या एक मुसलमान आर्य हो सकता है तो उन्होने कहा, हॉं। परतु जब झेलम आर्यसमाज एक मुस्लिम का शुद्धीकरण करने जा रही थी तो महर्षिजी ने उन्हे कहा, अभी अवसर नहीं आया है।

1877 मे, जब महर्षिजी आगरा मे थे तब मिर्जापुर के एक मुसलमान ने गाय की कुर्बानी की घोषणा की। वहॉं के हिदुओ ने कुर्बानी को रोकने का प्रयत्न

किया। इसी मंशा का मजिस्ट्रेट से हुक्म दिलवाया। वाद-विवाद चला। इस बीच एक दूसरा मजिस्ट्रेट आ गया। उसने आदेश दिया कि गाय उस मुसलमान की निजी संपत्ति है। वह जैसा चाहे कर सकता है। यदि किसी को आपत्ति है तो 5 सप्ताह के भीतर अदालत जा सकता है।

वाद-विवाद ने जोर पकड़ा। भारतेंदु ने अपनी पत्रिका में भर्त्सना की और कहा कि बहुसंख्यक जाति की उपेक्षा कर अल्पसंख्यक जाति को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। तभी महर्षिजी ने गोवध के विरुद्ध आंदोलन चलाया। इन्हीं दिनों अंग्रेजों ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच फूट की योजना बनाई। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के तुरंत बाद अंग्रेज शासक मुसलमानों का दमन कर रहे थे। परंतु बीस वर्षों बाद उन्होंने देखा कि हिंदुओं में जनचेतना आ रही है। और इस पर अंकुश लगाने का एक ही मात्र तरीका था जनता में फूट डालना, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच टकराव की स्थिति पैदा करना। 'एक्सपेंशन आफ ब्रिटिश इंपायर' में सैसीले ने इस सिद्धांत का विश्लेषण किया। एक अंग्रेज गवर्नर ने तो यहाँ तक कहा कि यदि उसकी दो बीवियाँ हों, एक हिंदू और दूसरी मुस्लिम, तो वह मुस्लिम बीवी को अधिक प्यार करेगा। इसी नीति के अंतर्गत अलीगढ़ मुस्लिम कॉलेज और बाद में विश्वविद्यालय की नींव पड़ी। यहाँ के प्रिंसिपल और अन्य नेताओं ने मुसलमानो को अलग कौम की परिभाषा दी।

एक समय सर सैयद अहमद खान ने कहा था, भारतीय कौम से मेरा मतलब है दोनों हिंदू और मुसलमानों से। मेरे लिए इस बात का बिल्कुल महत्त्व नहीं है कि किसी व्यक्ति का क्या धर्म है। क्योंकि धर्म हमें दिखलाई नहीं देता। जो दिखलाई देता है वह यह है कि हिंदू हो या मुसलमान, सब एक ही देश में रहते हैं और एक ही राजा की प्रजा हैं। हमारे जीवनस्रोत एक ही हैं और जब अकाल पडता है तो सब लोग साथ ही भुगतते हैं। यही कारण है कि मैं हिंदुस्तान में रहनेवाले हिंदुओं और मुसलमानो को हिंदू कहता हूँ।

उन्होने यह भी कहा था कि काश ! मेरी एक ही आँख होती ताकि मैं हिंदुओं और मुसलमानो को एक ही ऑख से देख पाता। अंग्रेजों ने मुसलमानों को प्रोत्साहन देकर उन्हें उकसाया कि काउंसिल में उन्हें अलग से प्रतिनिधित्व मिले। सर आगा खान के नेतृत्व मे एक प्रतिनिधिमडल वायसराय से मिला। मुस्लिम लीग का गठन हुआ। हिंदू-मुस्लिम एकता की बात करते-करते दोनो के बीच भेद-भाव बढता गया और इसी के परिणामस्वरूप आगे चलकर देश का बँटवारा हुआ। इस बँटवारे की नींव महर्षिजी के जीवन-काल में पड़ी थी। फिर भी समय-समय पर एकता के प्रयत्न होते रहे। पहले विश्वयुद्ध के दौरान हिंदू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर खडे थे। जलियाँवाला हत्याकांड के बाद कांग्रेस ने असहयोग आदोलन चलाया। तब प्रेमचद ने मुहम्मद अली और शौकत अली भाइयो को रामलखन की जोडी कहा। जो बाते हिंदू-मुस्लिम एकता के रास्ते में

अड़चन बनतीं, उनका विरोध करना आवश्यक था। जब राजस्थान में मलकाना राजपूतों की शुद्धि का आदोलन चला और मुसलमानों ने बवेला मचाया तो प्रेमचंद ने शुद्धि आंदोलन के विरुद्ध एक कडा लेख लिखा। "इधर मैंने उर्दू लिखना बंद कर रखा है। फुर्सत ही नहीं मिलती। लेकिन मलकाना शुद्धि पर एक मुखतसर-सा मजमून लिख रहा हूँ। मुझे इस तहरीक से सख्त इखतिलाफ है। तीन-चार दिन में भेजूँगा। आर्यसमाज वाले भिन्नाएँगे, लेकिन मुझे उम्मीद है कि आप मजमून को जमाना में जगह देंगे।"

"आर्यसमाज वाले भिन्नाएँगे।" ये शब्द उसी व्यक्ति के हैं जो दस वर्ष पूर्व आर्यसमाज का विधिवत सदस्य था और जो हिंदुस्तानी कौम नहीं, हिंदू धर्म का समर्थक था। यह परिवर्तन समय के साथ आया था। प्रेमचंद का अब प्रयत्न था कि हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे के निकट आएँ। उर्दू रिसालों में हिंदी लेखकों के बारे में लिखा तो हिंदी पत्रिकाओं में इस्लाम के महापुरुषों के बारे में। 'नवी का नीति निर्वाह', 'फातिहा'। माधुरी में 'मंदिर और मस्जिद' कहानी लिखी। 1924 में 'कर्बला' नाटक प्रकाशित किया। मुसलमानो ने आपत्ति की तो लिखा कि ख्वाजा हसन नजामी ने भगवान् कृष्ण की जीवनी छापी। मैं इस्लाम के महापुरुषों के बारे में वैसा ही कुछ कर रहा हूँ। प्रेमचंद जानते थे कि हिंदू-मुस्लिम झगडों के पीछे अंग्रेजों का हाथ है।

'कायाकल्प' में इस विषय पर विस्तार से लिखा। "आगरा के हिंदुओं और मुसलमानों के बीच आए दिन झगड़े होते रहते हैं। छोटी-छोटी बातो पर दंगे-फिसाद हो जाते हैं। बस एक बहाना चाहिए। बनिए ने डंडी मार दी तो मुसलमान दुकान पर धावा बोल देते हैं। किसी जुलाहे ने हिंदू के पानी के घडे को छू दिया तो मुहल्ले में फौजदारी हो गई। सोहन सईद के कुत्तो मे लडाई हो गई तो हिंदू-मुस्लिम फिसाद। सैकडों आदमी घायल हो गए। दोनों ही जातियों के सिरफिरे मजहब के नाम पर दंगे के लिए तैयार हैं। सबेरे ख्वाजा साहिब जिलाधीश को सलाम करने जाते हैं और शाम को बाबू यशोदानद। दोनों ही अपनी-अपनी राजनीतिक भक्ति का राग अलापते हैं। ठाकुरद्वारे में ईश्वर कीर्तन की जगह मुस्लिम नबियों की निदा होती है। मस्जिदो में नमाज की जगह हिंदू देवताओ की दुर्गति। हिंदुओं ने महावीर दल बनाया। मुसलमानों ने अलीगोल सजाया।"

जब पजाब से आगरा आए एक मौलवी साहब ने गाय की कुर्बानी देने की सलाह दी तो हिंदुओं में खलबली-सी मच गई। यशोदानद मुसलमानों के नेता ख्वाजा साहब के पास गए और पूछा कि क्यो वहाँ गाय की कुर्बानी की जा रही है जहाँ आज तक कभी नहीं हुई। क्यों नई रस्म निकाली जा रही है। ख्वाजा साहब उत्तर देते हैं कि "कुर्बानी (करना) हमारा हक है। अभी तक हम आपके जजबात का लिहाज करते थे। हम अपने हकों को भूल गए थे। जब आप लोग

अपने हकों के सामने हमारे जजबात की परवाह नहीं करते तो हम क्यों आपके जजबात की परवाह करें। मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको हक हासिल है लेकिन 500 वर्षों में आपके यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती।"

प्रेमचंद का मुखपात्र चक्रधर कहता है, "अहिंसा का सिद्धांत गऊओं के लिए नहीं मनुष्यों के लिए भी तो है। एक गाय की कुर्बानी बचाने के लिए सैकड़ों पुरुषों की कुर्बानी क्यों दी जाए ?" चक्रधर की सूझबूझ के परिणामस्वरूप गाय को छोड़ दिया जाता है। ख्वाजा महमूद कहते हैं, "काश ! तुम जैसे समझदार तुम्हारे और भाई होते, मगर यहाँ तो लोग हमें मलेच्छ कहते हैं। यहाँ तक कि हमें कुत्तों से भी नाकिस समझते हैं। उनकी थालियों में कुत्ते खाते हैं, पर मुसलमान उनके गिलास में पानी नहीं पी सकता। अब कुछ-कुछ उम्मीद हो रही है कि शायद दोनों कौमों में इत्तफाक हो जाए।"

चक्रधर का मत है : "मैं तो नीति ही को धर्म समझता हूँ और सभी संप्रदायों की नीति एक-सी है। अगर अतर है तो बहुत थोडा। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं। हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए। बुरे हिंदू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितने बुरे मुसलमान से अच्छा हिंदू. संसार का भावी धर्म, सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा।"

महर्षिजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' की भूमिका में लिखा : "इस ग्रंथ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाए किंतु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह सत्य को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्वान का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दे। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनंद में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेवाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों में सत्य को छोडकर असत्य में झुक जाता है। परंतु इस ग्रंथ में ऐसी बात नहीं रखी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है किंतु जिस मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।" कलकत्ता प्रवास के दिनों में केशवचंद्र सेन ने महर्षिजी को परामर्श दिया

था कि जनता तक पहुँचने के लिए उन्हें हिंदी को अपनाना चाहिए। महर्षिजी ने उस परामर्श को ग्रहण किया। 'सत्यार्थप्रकाश' के दूसरे संस्करण की भूमिका में उन्होंने लिखा : "जिस समय मैंने यह ग्रंथ बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था। इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रथ को भाषा व्याकरण अनुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।"

महर्षिजी के निधन के बाद तत्कालीन संयुक्त प्रांत में हिंदी का खूब प्रचार हुआ। देवनागरी लिपि के प्रयोग के लिए एक विज्ञापन सरकार को दिया गया।

धनपतराय का जन्म कायस्थ परिवार में हुआ था। और कायस्थ लोगों पर फारसी और उर्दू का अच्छा चयन था। राजभाषा उर्दू जीविका का साधन भी थी। यह स्वाभाविक था कि वे उर्दू-फारसी पढते। परतु उन्हें हिंदी से भी प्यार होगा, क्योंकि मैट्रिक की तैयारी से पूर्व उनके अपने अनुसार एक बेलदार उनसे हिंदी पढ़ने आया करता था। हिंदी का ज्ञान होगा तभी तो उसे पढा सकते। 1904 में उन्होंने हिंदी की एक विशेष परीक्षा पास की। 'हमखुर्मा व हमसवाब' के प्रकाशन के तुरंत बाद इसका हिंदी रूपांतर 'प्रेमा' के नाम से प्रकाशित करवाया। जिन दिनों प्रेमचंद कानपुर मे स्कूल मास्टर थे, निगम के साथ वह बालमुकुद गुप्त को मिलने रेलवे स्टेशन पर गए। गुप्तजी उन दिनों 'भारत मित्र' का संपादन कर रहे थे। यह उर्दू के जाने-माने लेखक और सपादक रह चुके थे और लाहौर का 'कोहिनूर' छोडकर हिंदी मे आए थे। वह 'जमाना' में भी लिखते थे। प्रेमचद उनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे। फिर आर्यसमाज जोर पकड रहा था। 'वरदान' मे मुंशी संजीवनलाल अपनी पुत्री बिरजन से कहते हैं कि 'बेटी, तुम तो संस्कृत पढती हो। जिस पुस्तक की तुम बात करती हो वह तो भाषा में है।'

बिरजन उत्तर देती है, 'तो मैं भी भाषा ही पढ़ूँगी। इसमे कैसी अच्छी-अच्छी कहानियाँ हैं। मेरी किताब मे तो एक कहानी भी नहीं है।'

तब तक हिदी जीविका का साधन नहीं बन पाई। फिर भी प्रेमचद की इस भाषा मे रुचि थी। मई, 1910 मे निगम से पूछते हैं 'हिदी पर्चे का क्या हश्र हुआ ? यानी उसकी तजवीज खटाई मे पड गई या बाकी है। निकलनेवाला हो तो हिंदी मे लिखने की आदत डालूँ।' आदत डालने से स्पष्ट है कि वह हिंदी लिखते थे। बस आदत नहीं थी। चार वर्ष बाद 'प्रताप' के असरार से मजबूर होकर एक मुख्तसर-सा किस्सा हिंदी मे उसके विजयादशमी नवबर के लिए लिखा है। हिंदी लिखनी तो आती नहीं मगर कुछ कलम तोडमोड दिया है।

शीघ्र ही हिंदी में उन्हे मान्यता मिली। प्रेमचद ने निगम को लिखा : 'उर्दू मे अब गुजर नहीं है। यह मालूम होता है कि बालमुकुद गुप्त मरहूम की तरह

मैं भी हिंदी में जिंदगी सर्फ कर दूँगा। उर्दू नवीसी में किस हिंदू को फैज हुआ जो मुझे हो जाएगा।' जो मान्यता 'सप्त सरोज' और 'नवनिधि' को मिली वह उर्दू में 'प्रेम पचीसी' को नहीं मिल पाई। फिर भी प्रेमचंद ने उर्दू में 'बाजारे हुस्न' लिखा। 'गोशा-ए-आर्फियत' और 'चौगाने हस्ती' परंतु 'बाजारे हुस्न' बाद मे छपा। इसका हिंदी रूपांतर 'सेवासदन' पहले छपा। ऐसे ही 'गोशा-ए-आर्फियत' बाद में छपा। इसका हिंदी रूपांतर पहले। 'रंगभूमि' भी पहले हिंदी ही में छपी, हालाँकि यह भी पहले उर्दू में लिखी गई थी। क्योंकि कथानक में भारी परिवर्तन कर दिया था, इसलिए 'चौगाने हस्ती' का उर्दू रूपांतर इकबाल सहर हितगामी से मुआवजा देकर करवाया। उर्दू मे लिखा हुआ यह प्रेमचद का आखिरी उपन्यास था। 'कायाकल्प', 'गबन', 'निर्मला', 'कर्मभूमि', 'गोदान' 'मंगल सूत्र', पहले हिंदी मे लिखे गए। प्रेमचंद की बडी ख्याति हुई, धूम मच गई। उन्हें उपन्यास सम्राट् की सज्ञा दी गई।

[3]

उन्नीसवीं शताब्दी मे गुजरात, काठियावाड मे दो महापुरुषों ने जन्म लिया। एक नें मौरवी के निकट, दूसरे ने पोरबदर में। दोनों स्थान एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं। ये दो महापुरुष थे महर्षि दयानंद और महात्मा मोहनदास कर्मचंद गॉधी। दोनो में बडी समानता है। एक ने जिस कार्य को जहॉ छोडा दूसरे ने उसे आगे चलाया। स्वदेशी का प्रचार स्वामी दयानंद ने भी किया था। गाँधीजी ने इसे जनआंदोलन का रूप दिया। महर्षिजी ने केशवचद्र सेन की सलाह पर संस्कृत को त्याग हिंदी को अपनाया, गाँधीजी ने हिदी का राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रचार किया। स्वामी दयानद ने अग्रेजी सरकार द्वारा नमक और चीनी पर टैक्स की कडी आलोचना की। गॉधीजी ने नमक सत्याग्रह आदोलन चलाकर ब्रिटिश सरकार की जडे हिला दीं। महर्षिजी ने स्त्रियो में पर्दे की प्रथा, उनमे अज्ञान तथा अविद्या और विभिन्न प्रकार की कुरीतियो के विरुद्ध आवाज उठाई। गाँधीजी ने महिलाओ को राष्ट्रीय सग्राम में पुरुषों का साझेदार बनाया। महर्षि ने छुआछूत के और अधविश्वास के विरुद्ध लोगो को प्रेरित किया। गॉधीजी ने अस्पृश्यता के विरुद्ध बडा भारी आदोलन चलाया। आज छुआछूत के विरुद्ध आदोलन के संदर्भ मे हम प्रेमचंद की भूमिका की चर्चा करेगे।

महर्षि दयानद ने वर्णव्यवस्था का आधार, जन्म नहीं, कर्म बतलाया था और मानव जाति के हर व्यक्ति के समान अधिकारो पर बल दिया। 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम सस्करण के समय उन्होने तीन उच्च वर्णों और चौथे वर्ण के बीच इतना भेदभाव किया था कि शूद्रो को वेद पढने की अनुमति नहीं थी। जब दूसरा सस्करण निकला तो इस भेदभाव को दूर कर चौथे वर्ण को भी समान अधिकार दिए।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों और कहानियो में जन्म-आधारित वर्णव्यवस्था की

कड़ी आलोचना की। चमार, भंगी, कुँजड़े, धोबी इत्यादि जातियों पर हो रहे अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई। चाहे वह अन्याय धर्म के ठेकेदारों द्वारा हो या जमींदारों या अफसरशाही द्वारा। वे अछूतों के लिए न्याय के पक्ष में और उनके आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए लडते रहे। उनकी अपनी पत्रिका थी 'हंस'। अगस्त, 1933 के अंक के कवर पर उन्होंने डॉ. भीमराव अंबेडकर की तस्वीर छापी और लिखा : 'आपने सतत उद्योग से अनेक परीक्षाएँ पास करके विद्वत्ता प्राप्त की है और यह प्रमाणित कर दिया है कि अछूत कहलानेवाली जातियों को किन्हीं असाधारण उपकरणों से ईश्वर ने नहीं बनाया। इस समय आप विश्वविख्यात व्यक्तियों में हैं।' अछूतों पर समाज द्वारा अन्याय का आधार था धर्म के नाम पर मठाधीशों, महंतों और पुजारियों की अनुमति। प्रेमचंद ने अपनी आरंभिक कृतियों से लेकर अंत तक ऐसे ब्राह्मणों का मजाक उडाया। तेरह वर्ष की आयु में लिखी गई 'मेरी पहली रचना' में प्रेमचंद ने दूर के रिश्ते मे मामूँ के रोमांस का जिक्र किया है। अधेड उम्र तक अविवाहित, ये मामूँ एक चमारिन पर लट्टू हो गए थे। नीच जातवालों ने मामूँ की वह पिटाई की कि वे भाग गए। यह व्यंग्य प्रेमचंद के छुआछूत का ही एक अंग था। अपने उपन्यास 'कर्मभूमि' में तो छुआछूत का विरोध एक जनआंदोलन का रूप धारण कर लेता है। उपन्यास का नायक, एक ऊँचे परिवार का युवक, अमरकांत अपने पिता को छोडकर बीस-पच्चीस चमारों की बस्ती में जाकर रहने लगता है। गंदे घरों में वह स्वयं झाडू लगाता है। गाँव के चमारों को स्वच्छ जीवन की शिक्षा देता है। एक पाठशाला खोलकर वह बच्चों को पढाता भी है। अमरकांत के अनुसार शराब और मुर्दा गाय के मांस के सेवन के अतिरिक्त चमारों मे ऐसी कोई बुराई नहीं है जिसके आधार पर उन्हें सवर्ण हिंदू पतित कह सके। गूदड चौधरी को छोड़ थोडे ही ऐसे चमार थे जिनमें शराब पीने की क्षमता हो। हाँ मुर्दा गाय का मांस सब खाते थे। एक गाय की लाश को देखकर बच्चे खुशी से उछलने-कूदने लगते हैं। अमरकात के दिल में उनके प्रति घृणा हो जाती है। सुधारवाद लुप्त-सा हो जाता है और वह गाँव से भाग खडा होना चाहता है। परतु अमरकांत को देखकर कुछ लोग गाय के मांस खाने का विरोध करते हैं। मुन्नी भी सत्याग्रह करती है। अंत में मांस खाने के विरोधियों की विजय होती है और मांस नहीं खाया जाता।

उधर नगर में भी मदिर-प्रवेश आंदोलन चल रहा है। ठाकुरद्वारे में कथा हो रही है। ब्रह्मचारी ने देखा, दरी से थोडी दूर जूतों के पास अछूत बैठे हैं। सवर्णवाले कहते हैं कि अनर्थ हो गया। चमारों ने ठाकुरद्वारे में प्रवेश कर इसे भ्रष्ट कर दिया है। ब्रह्मचारीजी सहमत हैं। उन्हें अमरकांत के पिता समरकांत का भी पूरा समर्थन प्राप्त है। समरकांत ने चमारों को मार भगाने के आदेश दिए। ब्रह्मचारी और सवर्णों के लिए जूते बनानेवाले चमार अपवित्र थे परंतु उनके द्वारा

बनाए गए जूते पवित्र चीज थे। ब्रह्मचारी के हुक्म से लोगों ने पवित्र जूतो से अपवित्र चमारो की मरम्मत शुरू की। उधर अछूतों के समर्थक डडों से जवाब देनेवाले थे कि शाति कुमार ने स्थिति सँभाल ली। वह ब्रह्मचारी को ललकारकर कहते हैं "अंधभक्तों की ऑंख मे धूल झोंककर यह हलवे बहुत दिन खाने को नहीं मिलेगे, महाराज ! अब वह समय आ रहा है जब भगवान् भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं।'

शातिकुमार ने अछूतों को ठाकुरजी के दर्शन के लिए उत्तेजित किया। मंदिर-प्रवेश का प्रश्न अछूतो के लिए शायद इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना उच्चवर्णवालो के लिए। कुछ ने तो यहाँ तक कहा : 'अपना मदिर लिए रहें। हमें क्या करेना है।' परन्तु शांतिकुमार के लिए मदिर-प्रवेश प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है। वह अछूतो को उकसाते हैं। अछूत आगे बढते हैं। ज्यों-ज्यों अछूत मदिर के समीप आते जाते हैं, उनकी हिम्मत टूटती जाती है। जिस अधिकार से वचित रहे, उसके लिए उनके मन मे कोई तीव्र इच्छा नहीं। वह विश्वास जो न्याय व ज्ञान से पैदा होता है वहाँ है। समूह की धौस जमाकर विजय पाने की आशा ही उन्हे आगे बढा रही है। वे ठाकुरद्वारे तक पहुँच जाते हैं। मौखिक युद्ध होता है। फिर डंडों द्वारा प्रहार। भगदड मच जाती है। शातिकुमार डडा खाकर गिर पडते हैं। अब आन का प्रश्न बन जाता है। अछूत मदिर के बाहर धरना देते हैं और मदिर मे दर्शनो के लिए जानेवालों का रास्ता बद कर देते हैं। पुलिस बुलाई जाती है। गोली चलती है। चमार डटे रहते हैं, हालाँकि उनका नेतृत्व करनेवाले भाग खडे होते हैं। नैना एक ऐसे नेता स्वामी आत्मानंद के बारे मे कहती है 'यह महाशय सन्यासी बनते हैं फिर भी इतने डरपोक। पहले तो गरीबों को भडकाया और जब मार पडी तो सबसे आगे भाग खडे हुए।'

अत मे अमरकात की बहन ने अछूतों का नेतृत्व सँभाला। अब तो अमरकांत भी गोली नहीं चलवा सकते थे। अछूतों की विजय होती है। लाशे गंगा के किनारे जला दी जाती है और अगले दिन मदिर-प्रवेश होता है। एक बडा भारी समारोह होता है।

प्रेमचंद ने अछूतो के प्रश्न को नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलुओ के प्रकाश में देखने का प्रयत्न किया है। यदि अछूत मदिर मे प्रवेश करते हैं तो वास्तविक लाभ, अधिक आमदनी तो मठाधीशो की होती है। उन्हीं मठाधीशों का जिनके बारे में नैना कहती है 'आधी रात तक इसी मदिर मे जुआ खेलते हो, पैसे-पैसे पर ईमान बेचते हो, झूठी गवाहियाँ देते हो, द्वार-द्वार भीख माँगते हो। फिर भी तुम धर्म के ठेकेदार हो। तुम्हारे तो स्पर्श से ही देवताओं को कलक लगता है।'

गूदड़ चौधरी को पूर्वजन्म के सस्कारों में बिल्कुल विश्वास नहीं है। वह बेटे से कहता है : 'यह सब मन को समझाने की बात है बेटा। जिसमें गरीबों को

अपनी दशा पर संतोष रहे और अमीरों के रागरंग में किसी तरह की बाधा न पड़े। लोग समझते रहें कि भगवान् ने हमको गरीब बना दिया, आदमी का क्या दोष। पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल-बच्चे तक काम में लगे रहें और पेट-पर भोजन न मिले और एक-एक अफसर को दस-दस हजार की तलब मिले। दस तोडे रुपए गधे से भी न उठे।'

प्रेमचंद अछूतों के लिए मंदिरों के दरवाजे खुलवा देते हैं परंतु वह मानते हैं कि अछूतों के साथ खान-पान और ब्याह-शादी के रास्ते में कठिनाइयाँ हैं। जब हिंदुओं में एक साथ बैठकर खाने-पीने की प्रथा नहीं है तो अछूतों के साथ कैसे हो सकती है। अमरकांत को खान-पान में केवल एक परंपरागत प्रथा की झलक मिलती है। वह गूदड चौधरी से कहता है : 'यह तो अपनी-अपनी प्रथा है। चीन एक बहुत बडा देश है। वहाँ बहुत से आदमी बुद्ध भगवान् को मानते हैं। उनके धर्म में किसी जानवर को मारना पाप है। इसलिए वे लोग मरे हुए जानवर ही खाते हैं। कुत्ते, बिल्ली, गीदड, किसी को भी नहीं छोड़ते। तो क्या वह हमसे नीच हैं ?' स्वयं उत्तर देता है : 'कभी नहीं।'

स्वयं महर्षि दयानंद ने सर सैयद अहमद खान के यहाँ से भोज का निमंत्रण स्वीकार नहीं किया था। एक मौलवी साहब के प्रश्न के उत्तर में कहा कि खाने-पीने और विवाह के रीति-रिवाज या प्रतिबंधों का संबंध धर्म या अधर्म से नहीं है। इनका आधार है स्थानीय अनुयाइयों के साथ व्यवहार में। इनकी अवहेलना करना हानिकारक हो सकता है क्योंकि उसके सहधर्मी उसका बहिष्कार कर देंगे और उनको उस सज्जन की बुद्धिमत्ता के लाभों से वंचित रहना होगा।

ब्राह्मणों और पुजारियों के खाने-पीने और रूढिवादी तरीकों का प्रेमचंद ने अपनी कृतियों में मजाक उडाया है। एक पात्र पं मोटेराम हैं। इसका परिचय हमें पहली बार 'जलवा-ए-इसार' (वरदान) में मिलता है। इसने प्रेमचद का जीवन-भर साथ दिया। प्रेमचंद ने इसका विभिन्न परिस्थितियों में व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रण किया है। सत्याग्रह आंदोलन में उसकी क्या भूमिका रही होगी, वह उसी शीर्षक की कहानी से विदित है। 'पडितजी भूख-हडताल करते हैं। पेट में चूहे दौड रहे हैं। आधी रात को अवसर मिलते ही वह मिठाई की थाली को साफ कर देते हैं।' 'संपादक मोटेराम शास्त्री' से वे अपनी पत्रिका की प्रसार सख्या बढा-चढाकर बतलाते हैं परंतु उन्हीं का मित्र कलई खोल देता है। एक बार तो इसी क्रम की एक कहानी के संबंध में लखनऊ के शालिगराम शास्त्री ने उन पर तथा माधुरी पर मान-हानि का दावा भी किया। माधुरी के सपादक—प्रेमचद जी सहसंपादक थे—ने बडे जोश से मुकदमा लड़ा। हिंदी पत्रकारिता जगत में यह अपनी तरह का पहला मुकदमा था। जब प्रेमचंद फिल्मों के काम करने बंबई गए तो मोटेराम को अपने साथ ले जाकर मोटेराम की डायरी लिखवाई। 'मोटर की छींटें' कहानी में भी पंडितजी का मजाक उडाया गया। 'मंत्र' कहानी में वह जिन लोगों से घृणा

करते हैं वे ही उनकी तीमारदारी करते हैं। पंडितजी का हृदय परिवर्तन होता है। इसी नाम की एक अन्य कहानी में एक चित्र है डॉ चड्ढा का और दूसरा है अछूत झंडेवाले भक्त का। भक्त भी गरीब है। सन की रस्सी बनाकर गुजर करता है। पत्नी लकड़ी चुनती है। दिन को कमाया रात को खाया। अगले दिन महाजन से उधार पर सन मिलने की आशंका रहती है। गरीब होते हुए भी भक्त महान व्यक्ति है। किसी को साँप डस ले, एकदम निःशुल्क मंत्र पढ़कर उपचार करता है। जब इसके इकलौते बेटे की हालत खराब होती है तो यह उसे डॉक्टर चड्ढा के पास ले जाता है। डॉ साहिब का गोल्फ खेलने का समय हो रहा है। भक्त गिड़गिड़ाता है परंतु डॉ. चड्ढा गोल्फ खेलने चले जाते हैं और भक्त का लडका मर जाता है। बूढा और बुढ़िया दुखी हैं। दोनों अपना जीवन व्यतीत करते हैं। एक दिन चड्ढा के लडके को साँप डस लेता है। खबर बूढे तक पहुँचती है। अभी तक साँप डसने की खबर पाकर भक्तजी भागे जाते थे। आज डॉ चड्ढा के लडके को साँप द्वारा डसने की खबर पर उन्हें संतोष-सा होता है। बदले की भावना जागृत होती है। वह नहीं जाता। परंतु ज्यो-ज्यों समय बीतता जाता है उसका मनोबल उसे पुकारता है। वह चुपके से उठकर डॉ चड्ढा के घर पहुँचता है और लडके पर झाडा कर उसे जिंदा कर देता है। डॉ चड्ढा विस्मित खडे देख रहे हैं। वह उसे इनाम देना चाहते हैं परतु भक्त डॉ चड्ढा को घृणा की दृष्टि से देखता हुआ बाहर चला जाता है। तब चड्ढा को याद आती है कि यह भक्त जी वही व्यक्ति है जिसके बीमार लडके को उसने देखने से इंकार किया था। निम्न जाति के लोग महान हैं।

'मंदिर' नाम की कहानी में एक चमारिन विधवा का एकमात्र पुत्र बीमार है। स्वप्न मे उसका पति कहता है कि मंदिर में जाकर ठाकुरजी की मूर्ति के पाँव पडो, लडका ठीक हो जाएगा। पुत्र की हालत कुछ सुधरती है। माँ बहुत कृतज्ञ है। फिर जब लडके की हालत गंभीर हो जाती है तो उसे याद आती है कि वह भगवान् के चरणों में उपासना करने नहीं गई। यह इसी का परिणाम है। वह अपने गहने गिरवी रखकर दो रुपए उगाहती है। फूल, धूप और बताशे लेकर मंदिर जाती है। पुजारी फूल तो ले लेता है, परंतु उसे ठाकुरजी की मूर्ति तक नहीं जाने देता। एक रुपया लेकर वह ताबीज देता है और कहता है इसे बाँध दे, उपचार हो जाएगा। चमारिन विधवा घर लौटती है। बच्चे की हालत खराब हो जाती है। आधी रात को बच्चे की देह ठंडी पड रही है। तीन बजे वह उसे मंदिर ले जाती है और ठाकुरजी के चरणों तक पहुँचने का प्रयत्न करती है। ठाकुरद्वारे का दरवाजा भी खोल लेती है। तब पंडे जग जाते हैं और विधवा की पिटाई करते हैं। धक्के में बच्चा गिर पड़ता है और मर जाता है। उसे मरा देखकर घायल माँ भी मर जाती है। दोनों लाशें भगवान् के घर में पडी हैं और चारो ओर खडे हैं निर्दयी धर्म के ठेकेदार।

'ठाकुर का कुआँ' भी एक चमारिन की कहानी है। हरिजन बस्ती के कुएँ में एक जानवर की लाश पड़ी है। बदबू आ रही है। जोखू बीमार है। उसे पानी की प्यास लगी है। उस कुएँ का पानी पिया नहीं जा सकता और ठाकुरों के कुएँ से पानी लेने पर प्रतिबंध है, फिर भी आधी रात जोखू की पत्नी वहाँ पानी भरने जाती है। घडा जगत तक पहुँचा कि ठाकुर ने घर का दरवाजा खोला। डर के मारे घड़ा धडाम से कुएँ मे गिरा। जोखू की पत्नी घर की ओर भागी। यह कहानी पीढ़ियो से चले आ रहे अत्याचारों की ओर संकेत है।

'दूध का दाम' कहानी में मूँगी मेहतरानी बाबू महेशनाथ के तीन लड़कियों के बाद हुए एकमात्र लडके सुरेश को अपना दूध पिलाती है, हालाँकि उसका अपना लडका मंगल दुबला होता चला जाता है। आगे चलकर मंगल अनाथ हो जाता है। सुरेश इस बच्चे पर रौब जमाता है। जब मंगल रौब नहीं मानता तो उसे घर से बाहर निकाल दिया जाता है। वह घर के दरवाजे के बाहर नीम के पेड के तले पडा रहता है। उसका साथी एक कुत्ता टामी है। भूख ने मंगल को परेशान कर रखा है, टामी को भी। मंगल देखता है सुरेश का नौकर झूठी पत्तलें फेंक रहा है। मंगल उसे उठा लेता है और टामी के साथ खाता है। उसे याद आता है कि सुरेश ने उसकी अपनी माँ का दूध पिया था। आज उसे इसका दाम मिल रहा है।

'सद्‌गति' भी अछूतो पर अत्याचार की कहानी है। एक चमार अपनी लडकी के विवाह के मुहूर्त के लिए पंडितजी के पास जाता है। वह भूखा है। बीमार भी है, परंतु पंडितजी उसे काम पर लगा देते हैं। काम बेगार का है, परंतु वह कहता है, 'पंडित तो पडित है। कहीं साइत ठीक न विचारे तो फिर सत्यानाश ही हो जाए। जभी तो संसार में (इनका) इतना मान है। साइत का तो सब खेल है। जिसे चाहे बना दे, जिसे चाहे बिगाड दे।' पडितजी के प्रति यही श्रद्धा प्राणलेवा बनती है। चमार हुक्म बजा लाता है। वह बाहर झाडू लगाता है, गोबर से लीपता है। खलिहान से भूसा उठाता है, लकडी चीरता है। बेचारा खाली पेट है। पंडितजी पकवान उड़ाते हैं। उसे पूछते भी नहीं। नीच जाति का जो है, उसे लकडी काटने पर लगा देते हैं। गाँठ नहीं फटती, उस चमार का पेट पीठ में घुसा जाता है। कुल्हाडी उठाना भी पहाड मालूम होता है। तब पडित ललकारते हैं। चमार कुल्हाडी चलाते-चलाते मर जाता है। अब समस्या है उसकी लाश उठाने की। एक गोंड चमारों के मुहल्ले में जाकर खबर करता है और कह देता है कि लाश उठाओगे तो पुलिस पकड लेगी। चमार लोग लाश उठाने नहीं जाते। यदि पंडिनजी फँसते हैं तो फँसने दो। उसकी चमारिन आकर रोने-चिल्लाने लगती है। लाश कुएँ के रास्ते में पड़ी है। लोग पानी लेने भी नहीं जा सकते। लाश से दुर्गंध आने लगती है। आधी रात पडितजी रस्सी का फंदा कसकर लाश को घसीटते हैं और गाँव के बाहर ले जाते हैं। लौटकर स्नान करते हैं, गंगाजल

छिड़कते हैं और दुर्गा-पाठ करते हैं। उधर चमार की लाश को खेत में गीदड़, गिद्ध और कौए नोच रहे हैं। प्रेमचंद कहते हैं—'यही जीवनपर्यंत की भक्ति और निष्ठा का पुरस्कार था।' सद्गति में ब्राह्मण के भयानक चित्रण की बड़ी प्रतिक्रिया हुई। प्रेमचंद को 'घृणा का प्रचारक' उपाधि दी गई। उनकी कृतियों की तुलना किपलिंग की कृतियों से की गई। 'यदि प्रेमचंद इस युग के प्रतिनिधि मान लिए जाएँ तो अब से पचास वर्ष बाद पढ़नेवाले कहेंगे कि उस समय हिंदुओं या खासकर ब्राह्मण का जीवन घृणा का जीवन था और ब्राह्मणों की जाति बड़ी ही जालिम, स्वार्थी, पाखंडी और घृणा के योग्य है,' (पचास वर्ष हो गए)।

दिसंबर, 1933 के 'हंस' में प्रेमचंद ने इस लेख पर टिप्पणी की। शीर्षक था 'जीवन में घृणा का स्थान : साहित्य में घृणा की उपयोगिता।' प्रेमचंद ने लिखा—'निंदा, क्रोध और घृणा सभी दुर्गुण हैं। लेकिन मानव जीवन में से अगर इन दुर्गुणों को निकाल दिया जाए तो संसार नरक हो जाएगा।' उनका मत था 'बुराइयों से छुटकारा पाने में घृणा भी उपयोगी हो सकती है। पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अंदर जितनी ही प्रचंड घृणा हो सकती है उतनी ही कल्याणकारी होगी।'

'हर एक कट्टरपंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नहीं कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के हथकंडों से जाहिर है। ऐसी असामाजिक, अराष्ट्रीय, अमानुषिक भावनाओं के प्रति जितनी भी घृणा फैलाई जाए वह थोड़ी है। केवल भावनाओ के प्रति, व्यक्ति के प्रति नहीं, क्योंकि वर्णाश्रम के संचालक हमारे वैसे ही भाई हैं जैसे आलोचक महोदय के।' इन्हीं दिनों प्रेमचंद ने बनारसीदास चतुर्वेदी को एक पत्र में लिखा 'मेरी कल्पना का ब्राह्मण त्याग और सेवा की मूर्ति होता है। (यदि किसी व्यक्ति में ये दोनों बातें हैं तो वह ब्राह्मण है)। मेरे विचार में पुजारी और पंडे भोले-भाले लोगों के अंधविश्वास का फायदा उठाकर उन्हें लूटते हैं जो बगुले भगत हैं और जिनका दृष्टिकोण संकुचित है। मैं उन्हें हिंदू समाज का शाप मानता हूँ। इन्हीं लोगों ने हमारे समाज का बेड़ा गर्क किया है। इन लोगों का व्यंगात्मक मजाक ही उचित है। और मैंने यही कुछ किया है। यह निर्मल और इनके भाईबंद राष्ट्रवादियों का चोला पहन लेते हैं परंतु इनमें पंडे जाति की सारी कमजोरियाँ हैं और ये लोग आक्षेप करते हैं हमारे जैसे लोगों पर, जो समाज के स्तर को ऊँचा उठाना चाहते हैं।'

'कफन' में प्रसव-वेदना से कराह रही बुधिया का पति माधव कहता है कि तड़पने से तो मर जाना ही अच्छा है। फिर मरना ही है तो जल्दी से क्यों नहीं मर जाती। माधव और उसका पिता घीसू दोनों आलसी हैं। मजूरी ढूँढ़ते, यदि मिलती तो करते भी परंतु टालमटोल कर। अवसर मिलते ही खेतों से आलू-मटर

चुरा लेते। एक-दूसरे पर विश्वास नहीं। माधव बुधिया की सुध लेने भीतर इसलिए नहीं जाता कि कहीं उसका बाप अलाव से निकालकर आलू सफाचट न कर दे। दोनों ही कमजोर हैं। उनका जीवन दर्शन कहता है कि जहाँ मजदूरी करनेवाले और मेहनत करनेवाले किसान भूखे मरते हैं, वहाँ उनकी मेहनत से लाभ उठानेवाले मौज करते हैं। यदि भूखों ही मरना है तो काम करके भूखे क्यों मरें। यदि झूठ बोलकर पैसा इकट्ठा किया जा सके तो क्यों न झूठ बोला जाए। बाप और बेटा जाकर बुधिया के कफन के लिए पैसा इकट्ठा करते हैं और जब कुछ धन मिल जाता है तो शराब की दुकान पर पकवान खाते हैं और शराब से धुत हो जाते हैं। बुधिया उन्हें जीवन में तो पकवान नहीं खिला सकी परंतु प्राण देकर आज माधव और घीसू के आनंद का कारण बनी। इस तरह कफन के लिए इकट्ठे किए पैसे उड़ा दिए जाते हैं। यह समाज-व्यवस्था पर कड़ा प्रहार है। जिसका कड़ा विरोध महर्षिजी ने किया था। अत में मैं कहना चाहूँगा कि प्रेमचंद समय के साथ चलते थे। मई 1923 में 'मलकाना राजपूतों की शुद्धि' के विरुद्ध लिखा था कि आर्यसमाजवाले भिन्नाएँगे। तब उनका मत था कि आर्यसमाजवाले सांप्रदायिक रंग में डूबे हैं। चार वर्ष बाद यहाँ गुरुकुल कांगड़ी में तीन दिन ठहरने पर उनका दृष्टिकोण बदला और अगले आठ वर्षों बाद—निधन के कुछ ही महीने पूर्व लाहौर आर्यसमाज के अंतर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के अवसर पर दिए गए भाषण में कहा ·

"आर्यसमाज ने इस सम्मेलन का नाम आर्यभाषा सम्मेलन शायद इसलिए रखा है कि यह समाज के अतर्गत उन भाषाओं का सम्मेलन है जिनमें आर्यसमाज ने धर्म का प्रचार किया है और उनमे उर्दू और हिंदी दोनों का दर्जा बराबर है। मैं तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक सस्था समझता हूँ उतना ही तहजीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। बल्कि आप क्षमा करें तो मैं कहूँगा कि उसके तहजीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामों से ज्यादा प्रसिद्ध और रोशन हैं। आर्यसमाज ने साबित कर दिया है कि समाज की सेवा ही किसी धर्म के सजीव होने का लक्षण है। सेवा का ऐसा कौन-सा क्षेत्र है जिसमें उसकी कीर्ति की ध्वजा न उड रही हो। कौमी जिंदगी की समस्याओं को हल करने में उसने जिस दूरदेशी का सबूत दिया है उस पर हम गर्व कर सकते हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया, लड़कियों की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति-भेद-भाव और खान-पान के छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्मसमाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा पर वह थोड़े से अंग्रेजी पढे-लिखों तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्यसमाज ने ही उठाया। अंधविश्वास और धर्म के नाम पर किए जानेवाले हजारों अनाचारों

की कब्र उसने खोदी, हालाँकि मुर्दे को उसमें दफ़न न कर सका और अभी तक उसका जहरीला दुर्गंध उडकर-उडकर समाज को दूषित कर रहा है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्यसमाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी सस्था ने उठाया हो। उसके उपदेशकों ने वेदों और वेदांगों के गहन विषयों को जन-साधारण की संपत्ति बना दिया जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई-कई लीवरवाले ताले लगे हुए थे। आज आर्यसमाज के उत्सवों और गुरुकुलों के जलसों से हजारो मामूली लियाकत के स्त्री-पुरुष सिर्फ विद्वानों के भाषण सुनने का आनंद उठाने के लिए खिंचे चले जाते हैं। गुरुकुलाश्रम को नया जन्म देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को संपूर्ण बनाने का महान उद्योग किया है। सपूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा का जो सर्वांगपूर्ण हो, जिसमें मन, बुद्धि, चरित्र और देह, सभी के विकास का अवसर मिले। शिक्षा का वर्तमान आदर्श यही है। मेरे खयाल मे वह चिरसत्य है। वह शिक्षा जो सिर्फ अक्ल तक ही रह जाए, अधूरी है। जिन सस्थाओं मे युवकों मे समाज से पृथक् रहनेवाली मनोवृत्ति पैदा हो, जो अमीर और गरीब के भेद को न सिर्फ कायम रखें बल्कि और मजबूत करें, जहाँ पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाए कि उसमें मुश्किलों का सामना करने की शक्ति न रह जाए, जहाँ कला और संयम में कोई मेल न हो, जहाँ की कला केवल नाचने-गाने और नकल करने में ही जाहिर हो, उस शिक्षा का मैं कायल नहीं हूँ। शायद ही मुल्क में कोई ऐसी शिक्षा-संस्था हो जिसने कौम की पुकार का इतनी जवाँमर्दी से स्वागत किया हो। अगर विद्या हममें सेवा और त्याग का भाव न लाए, अगर विद्या हमें आदर्श के लिए सीना खोलकर खडा होना न सिखाए, अगर विद्या हममें स्वाभिमान न पैदा करे, और हमें समाज के जीवन-प्रवाह से अलग रखे तो उस विद्या से हमारी अविद्या अच्छी। और आर्यसमाज ने हमारी भाषा के साथ जों उपकार किया है उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण यह है कि स्वामी दयानंद ने इसी भाषा में 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा और उस वक्त लिखा जब उसकी इतनी चर्चा न थी। उनकी बारीक नजर ने देख लिया कि अगर जनता में प्रकाश ले जाना है तो उसके लिए हिंदी भाषा ही अकेला साधन है, और गुरुकुलों ने हिंदी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने भाषा-प्रेम को और भी सिद्ध कर दिया है।"

[सन् 1985]

भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानंद

श्री विष्णु प्रभाकर

सम्मान्य कुलपति महोदय, प्राध्यापकवृन्द तथा अन्य साहित्य-प्रेमी स्नेही जनो !

सबसे पहले मैं विश्वविद्यालय के कुलपति सम्मान्य श्री रामचंद्र शर्मा तथा 'श्रद्धानंद राष्ट्रीय प्रसार व्याख्यान माला' के सयोजक मित्रवर डॉक्टर विष्णुदत्त 'राकेश' का हार्दिक आभारी हूँ जिन्होंने मुझे एक ऐसे राष्ट्रीय शिक्षण सस्थान मे भाषण देने के लिए आमंत्रित किया जिसकी स्थापना स्वयं उस व्यक्ति ने की थी जो आज मेरे व्याख्यान का विषय है।

मैं आज क्या हूँ, मैं स्वयं नहीं जानता। जानने की विशेष चिंता भी नहीं है। जो हूँ, सो हूँ पर जो हूँ उसके निर्माण में किस-किसका योगदान रहा है इसका लेखा-जोखा लेता हूँ तो सबसे पहले और सबसे ऊपर 'आर्यसमाज' का नाम दृष्टिपथ में आता है। मैं आज आर्यसमाज में 'नहीं' हूँ पर आर्यसमाज तो मेरे रक्त मांस में इस तरह रच-बस गया है कि मुक्ति पाना चाहूँ तो भी न पा सकूँ।

मुझमें आज जो कुछ भी, जितना कुछ भी, शुभ और सुंदर है वह मेरी अपनी कमाई नहीं है। वह तो मुझे आधुनिक भारत के दो युग-निर्माताओं की कृपा से सहज ही प्राप्त हो गया है। वे युगपुरुष हैं स्वामी दयानंद और महात्मा गाँधी। उन दोनों की पावन छाया मेरी सदा रक्षा करती रही है और करती भी रहेगी।

स्वामी दयानंद के बाद आर्यसमाज के जिस दूसरे व्यक्ति ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वह स्वामी श्रद्धानंद ही आज मेरे व्याख्यान का विषय है। जिन व्यक्तियों ने अनायास ही मुझे उनकी चरित्र रूपी गंगा में डुबकियाँ लगाने का अवसर प्रदान किया उनके प्रति आभार प्रकट करना मात्र शिष्टाचार होगा। मन की भावना को प्रकट करनेवाली भाषा का तो अभी आविष्कार ही नहीं हुआ है।

इस भाषण में जो विचार प्रकट हुए हैं वे नितांत मेरे हैं। प्रार्थना है कि उनके पीछे कोई गूढार्थ खोजने की चेष्टा आप न करें। हर व्यक्ति को देखने का एक ही कोण नहीं होता। अनेक होते हैं। उन अनेकों में मेरा भी 'एक' है, न इससे अधिक, न इससे कम।

तो इस क्षमायाचना के साथ अनुमति चाहता हूँ अपना भाषण शुरू करने की :

"विशाल शरीर में विशाल आत्मा' स्वामी श्रद्धानंद इस सत्य के मूर्तिमान स्वरूप थे। महात्मा गाँधी के शब्दों में, "वे अपने विश्वास का पालन करते थे। उन विश्वासों के लिए उन्हें कष्ट झेलने पड़े। भय के सामने उन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया। उनसे बढकर बहादुर आदमी मैंने संसार में दूसरा नहीं देखा। मरने का उन्हें डर नहीं था क्योंकि वे सच्चे आस्तिक और ईश्वरभक्त थे। मैं साक्षी हूँ कि देश के लिए अपना शरीर भेंट कर देने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी। वे अनाथ बंधु थे। अछूतों के लिए जितना उन्होंने किया उससे अधिक हिंदुस्तान में किसी दूसरे व्यक्ति ने नहीं किया."

उनके मृत्यु का वरण कर लेने के बाद गाँधीजी ने लिखा था, "मृत्यु किसी समय भी सुखदायक होती है। उस वीर के लिए दुगुनी सुखदायक होती है जो अपने ध्येय और सत्य के लिए प्राणों का विसर्जन करता है। इसलिए मैं उनकी मृत्यु पर शोक नहीं मना सकता। उनसे और उनके अनुयायियों से मुझे एक प्रकार से ईर्ष्या होती है क्योंकि यद्यपि श्रद्धानंदजी मर गए हैं तथापि वे जीवित हैं। वे उससे भी अधिक सच्चे अर्थ में जीवित हैं जब वे अपनी विशाल देह के साथ हमारे बीच में विचरण करते थे। जिस कुल में उनका जन्म हुआ और जिस देश के साथ उनका संबंध था वे उनकी इस प्रकार की शानदार मृत्यु पर बधाई के पात्र हैं। वे वीर के समान जिए और वीर के समान मरे."

गाँधीजी में मनुष्य को पहचानने की अद्भुत क्षमता थी। अनेक मतभेदों के बावजूद उनका यह मूल्यांकन इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने स्वामीजी को मात्र साहसी और वीर पुरुष ही नहीं कहा है बल्कि भय को जीतनेवाला कहा है और जो भय को जीत लेता है वह घृणा को भी जीत लेता है। वह सचमुच पुरुषों में पुरुष और नरों में नर होता है अर्थात् वह नारायण का सखा नर होता है।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू अनेक नेताओं के कटु आलोचक रहे हैं। वे अपनी भावनाओं को छिपाना नहीं जानते। अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' में स्वामी श्रद्धानंद का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने उनका जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है वह किसी भी शब्दशिल्पी के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है। वह लिखते हैं–"विशुद्ध शारीरिक साहस का अथवा किसी भी शुभकार्य के लिए शारीरिक कष्ट सहन करने एवं उस कार्य के लिए मृत्यु तक की परवाह न करनेवाले गुणों का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि हम सभी व्यक्ति ऐसे अद्भुत साहस करते ही हैं। स्वामी श्रद्धानंद में इस प्रकार का निर्भीकतापूर्ण साहस आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान था। वृद्धावस्था में भी उनकी उन्नत सीधी आकृति, संन्यासी के वेश में भव्य मूर्ति, दीर्घकाया, शाहाना सूरत, अंतर्भेदी दीप्त नयन और कभी-कभी दूसरों की कमजोरियों पर चेहरे पर उभर आनेवाली झुँझलाहट या गुस्से की छाया का गुजरना--मैं इस जीवंत मूर्ति को कैसे भूल

सकता हूँ। प्राय: यह तस्वीर मेरी आँखो के सामने आ खडी होती है।"

इस शब्द-चित्र में नेहरूजी ने भी जिस एक गुण को विशेष रूप से रेखांकित किया है वह निर्भीकता ही है। और कवि तो क्रांतदृष्टा होता है। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर स्वामीजी के अंतर मे झाँकते हुए न केवल उनकी निर्भीकता को वरण करते हैं बल्कि सत्य के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा को भी पहचान लेते हैं, "श्रद्धानंदजी की भारत को देन उनकी सत्य मे अगाध श्रद्धा है। श्रद्धानद यह नाम ही उनकी उस भावना का परिचायक है। वे नित्यप्रति श्रद्धावान थे और उसी मे आनंद मनाते थे। उनके लिए सत्य और जीवन एक हो गए थे। सत्य ही जीवन था और जीवन ही सत्य था। उनकी मृत्यु उनके निर्भीक और अनथक प्रयत्नो के अमर चित्रो को आलोकित करती हुई एक प्रकाश-किरण की तरह हमारे सामने आती है।"

विश्व-कवि की तरह ही भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू अपनी अप्रतिम काव्यमयी भाषा मे अपने 'अनुराग के इस आराध्य देवता' की मूर्ति का रेखाकन इस प्रकार करती है, "मैं सदैव अनुभव करती रही हूँ कि स्वामी श्रद्धानद भारत के वीर काल की एक दिव्य विभूति थे। अपने भव्य और उन्नत व्यक्तित्व के द्वारा वे अपने साथियो में देवता की तरह विचरण करते थे। वह एक बडे शिक्षा केंद्र गुरुकुल काँगडी के (सस्थापक) मुख्याधिष्ठाता भी रहे। यद्यपि उन्होने कभी किसी बडे विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त नहीं की थी तो भी वे अपने जीवन के अतिम क्षण तक जो शहादत से आलोकित हो उठा था, साहस और कर्मयोग की अनुपम मूर्ति रहे और भारतीय जीवन के धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र मे और राष्ट्र-सुधार के कार्यों मे इन गुणो का सुदर और सटीक परिचय देते रहे। मानव समाज की सेवा के सबध मे उनके भावो का मैं बहुत आदर करती हूँ।"

देश ही नही, देश के बाहर भी 'कल्याणमार्ग के इस पथिक' की कर्त्तव्यनिष्ठा, मानव मात्र के प्रति प्रेम, सत्य के प्रति अगाध निष्ठा और आत्मत्याग और कष्ट सहन करने की अद्भुत क्षमता की तीव्र ज्योति जगमगा उठी थी। भारत-भक्त प्रेममूर्ति सी.एफ. एड्रयूज उनकी 'स्वच्छ और निर्मल मैत्री' पर सदा गर्व करते रहे। उनकी मृत्यु पर उन्होने कहा था, "उनकी पुण्य-स्मृति का सम्मान करने का एकमात्र मार्ग यही है कि हम उन निर्धनो को जिन्हे वे अपने अतरतम् से प्यार करते थे, अपना प्रभु समझे।"

और ग्रेट ब्रिटेन के मजदूर दल के नेता तथा एक समय के प्रधानमत्री रेम्जे मैकडानल्ड उनके रूप पर, जो अतर के आलोक से आलोकित था, मुग्ध होकर कह उठे थे– "वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि ईसा की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित माडल सामने रखना चाहे तो मै इस भव्य मूर्ति की ओर सकेत करूँगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सैट पीटर के चित्र के लिए नमूना माँगेगा तो मैं उसे इस जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा दूँगा।"

ऊपर हमने दो राष्ट्र पुरुषों, दो सर्जकों और दो भारत-भक्त विदेशियों के द्वारा किया गया उनका बोलता मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इस मूल्यांकन में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे मात्र शब्द नहीं हैं बल्कि 'अर्थ' का समन्वित रूप हैं। अर्थ पहले होता है, शब्द मात्र उसे आकार देते हैं। इसी कारण संभवत· शब्द को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म ही स्रष्टा है और शब्द भी स्रष्टा है। लेकिन शब्द किसी नई वस्तु का सृजन नहीं करता बल्कि जो अर्थ पहले से मौजूद है उसे ही रूपायित करता है। इसे यों कहना और भी सार्थक होगा कि स्वामी श्रद्धानंद ने जो जीवन जिया था उसी को उपरोक्त महापुरुषों ने शब्दों में रूपायित किया है। अनादिकाल से कवि शब्दों के माध्यम से जीने की इसी कला को नाना रूपों में रेखांकित करता आया है या कहें पुन· सर्जित करता आया है।

लेकिन क्या यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि जो व्यक्ति जीवन को इतनी ऊँचाइयों पर प्रतिष्ठित कर सका, वह प्रारंभ में वही सब कुछ करता था जो छोटे-मोटे विलासी जमींदार और रईस करते रहे हैं। तब उस व्यक्ति का नाम था मुंशीराम और मास-मदिरा और नारी, कुछ भी नहीं छूटा था उससे। लेकिन पतन के उस मोहक मार्ग पर आगे बढते हुए भी उसमे ऐसा कुछ था जो एक आवारा व्यक्ति को अंतत मसीहा बना देता है। अपराजेय कथा-शिल्पी शरत् ने पाप की कौन-सी गली मे पैर नहीं रखा ? कौन-सा कुकर्म नहीं किया ? पर फिर भी वह गर्व से यह कह सके, "मेरा जीवन अतत· मानो एक उपन्यास ही है। इस उपन्यास में सब कुछ किया है पर छोटा काम कभी नहीं किया है। जब मरूँगा निर्मल खाता छोड जाऊँगा। उसके बीच स्याही का दाग कहीं भी नहीं होगा।"*

यह छोटा काम क्या है, इसकी व्याख्या इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी महत्त्वपूर्ण यह बात है कि इस प्रकार का दावा करनेवालों में वह कौन-सी विशेषता होती है जो उन्हें 'कल्याण मार्ग का पथिक' बना देती है और भीतर की इसानियत को नष्ट नहीं होने देती।

ऐसे मनुष्यों के भीतर एक कुरेदना होती है, एक जिज्ञासा होती है कि जो है, उससे आगे कुछ और है। उससे इतर भी कुछ और है। उनकी चिंतन की प्रक्रिया और तलाश निरतर प्रवहमान रहती है। 'नेति-नेति' न इति, न इति, इतना ही नहीं, इतना ही नही, और भी है। यहीं तक नहीं, यहीं तक नहीं–और आगे भी है। यही नहीं है, कुछ और भी है।

वैज्ञानिक युग में सत्य से बढकर सत्य की तलाश का महत्त्व होता है। जो महाप्राण हैं वे अंधी-गलियो में विचरण करते हुए भी तलाश का दीया जलाए रहते हैं। यह दीया ही उन्हें अपने सही मार्ग को खोज लेने मे मदद करता है। आवारा या पथभ्रष्ट व्यक्ति नितात गुणहीन नहीं होता, केवल दिशाहीन होता है। ऊर्जा

---

* 'आवारा मसीहा', पृष्ठ 111

उसमें होती है बल्कि कुछ अधिक ही होती है और जब इस ऊर्जा को दिशा मिल जाती है तो वह मसीहा ही बनता है।

स्वामी श्रद्धानंद आर्यसमाज के प्रथम पंक्ति के नेताओं में अन्यतम थे। पर यह योग्यता उन्हें विरासत में नहीं मिली थी। इस विश्वास को उन्होंने स्वयं अर्जित किया था। जो विरासत में मिलता है उसका सही-सही मूल्य हम नहीं आँक सकते पर जो हम स्वयं अर्जित करते हैं वह हमारा वास्तविक मूलधन होता है। उस मूलधन को प्राप्त करने की योग्यता भी होनी चाहिए। उसी योग्यता का नाम है तलाश। इसी तलाश ने कहाँ-कहाँ नहीं भटकाया मुंशीराम को। विरासत में उन्हें विलासिता के साथ-साथ धर्म में अटूट आस्था भी मिली थी। जिन दिनों वह अपने पिताजी के साथ बनारस में रह रहे थे उन दिनों सारी विलासिता के बावजूद वह नित्यप्रति विश्वनाथ के दर्शन करने जाया करते थे। एक दिन क्या हुआ कि पुलिस कांस्टेबिल ने उन्हें अंदर जाने से रोक दिया, कहा—"अभी रीवाँ की महारानी दर्शन कर रही हैं। उनके बाद आप जा सकेंगे।"

उस क्षण मुंशीराम के मन में यह प्रश्न उभरा, "विश्वनाथ तो विश्व के स्वामी हैं। उनकी दृष्टि में सभी समान हैं फिर उन्हीं के दरबार में रीवाँ की महारानी के साथ यह पक्षपात क्यों ?" यही प्रश्न आगे चलकर उत्कट तलाश में परिणित हो गया। तलाश की इस प्रक्रिया में वह ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हुए। और वह आकर्षण इस सीमा तक बढा कि वह बपतिस्मा लेने को तैयार हो गए। इसी इरादे से एक दिन वह ईसाई धर्माध्यक्ष के पास पहुँचे। लेकिन वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वे तो एक नन के प्रणयपाश में आबद्ध हैं। मन पर फिर आघात हुआ। सोचने लगे कि अगर धर्माध्यक्ष भी वही कुछ करते हैं जो करने पर हम विलासी कहलाते हैं तो, हममें और उनमें अंतर क्या है ?

प्रश्नाकुलता की इस स्थिति में उन्होंने मंदिरों में व्यभिचार के अड्डों को पनपते देखा। उन्होंने देखा कि जब कोई नारी माँ नहीं बन सकती तो, कोई दूसरी नारी उसे संतान प्राप्त कराने के लिए इन तथाकथित धर्माध्यक्षों के पास ले जाती हैं और वे धर्मपिशाच समाज में धर्मप्राण महापुरुषों के रूप में पूजे जाते हैं।

एक बार तीर्थाटन करते हुए वे मथुरा पहुँचे। मंदिर में दर्शन के समय उन्होंने एक युवती की चीख सुनी। दृष्टि उठाकर उस ओर देखा तो पाया कि एक गुसाईं महाशय एक युवती का हाथ पकडकर भीतर खींचने की चेष्टा कर रहे हैं। वे तुरंत वहाँ पहुँचे। उन्हें देखकर गुसाईं महाशय बोले, "यह बालिका भीड में घबरा गई है। मैं इसे शांत करने की चेष्टा कर रहा हूँ।"

युवती ने तुरंत प्रतिवाद किया, "यह झूठ बोलता है। मैं साधु समझकर इसके पैर छू रही थी कि इसने मुझे दबोच लिया।"

मुंशीरामजी ने उस युवती को उसके परिवार के पास पहुँचा दिया। पर

उनका मन और भी उद्वेलित हो उठा। कैसा है यह धर्म ? कैसे हैं यह धर्म के सरक्षक, संवाहक ? लेकिन अभी ऐसी घटनाओं का अंत नहीं आया था। उस दिन उनकी पीडा का पार नहीं रहा जिस दिन उन्होने देखा कि एक राजा साहब देवी के प्रतीक के रूप मे एक निर्वसना युवती की उपासना कर रहे हैं।

ऐसी घटनाओ ने मुशीराम को नास्तिक बना दिया। लेकिन अचानक कुरेदना की इस अवधि मे एक ऐसी घटना घटी जिसने उनके जीवन की धारा को बदल दिया। उनके पिता श्री नानकचंदजी शहर कोतवाल के पद पर काम कर रहे थे। जिस समय वह बरेली मे कार्यरत थे उसी समय स्वामी दयानंद सरस्वती अपनी प्रचार यात्रा के दौरान वहाँ आए। वह धार्मिक भ्रष्टाचार पर तीव्र आक्रमण करते थे। उनके आक्रमण से तिलमिलाकर कुछ धर्मांध व्यक्ति उनकी सभाओ मे विघ्न डालते थे। बरेल मे ऐसा न हो, यह देखने का भार श्री नानकचद को सौंपा गया। नानकचंद ने स्वामी दयानद का व्याख्यान सुना। वह सनातन धर्म के अनुयायी थे, फिर भी वह उनके व्याख्यान से बहुत प्रभावित हुए। घर लौटकर उन्होने अपने नास्तिक बेटे से कहा, "एक दडी स्वामी इस शहर मे पधारे हैं। वे योगी भी हैं और प्रखर विद्वान भी। उनका भाषण सुनकर तुम्हारे सशय जरूर दूर हो जाएँगे। कल मेरे साथ चलना।"

और अगले दिन मुशीराम पिता के साथ स्वामी दयानंद का व्याख्यान सुनने के लिए गए। वहाँ क्या हुआ उसका वर्णन स्वय उन्होंने इस प्रकार किया है, "दूसरे दिन बेगम बाग की कोठी मे पिताजी के साथ पहुँचा। वहाँ व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देखकर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई। और जब पादरी स्कॉट और दो-तीन अन्य योरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढी। अभी दस मिनट भी वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन मे विचार किया यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्ति-युक्त बातें करता है। व्याख्यान परमात्मा के निज नाम 'ओऽम' पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद मैं कभी भूल नहीं सकता। एक नास्तिक को आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।"

मुंशीराम के जीवन मे यह एक ऐसा मोड था, जिसके उस ओर प्रकाश-ही-प्रकाश बिखरा पडा था। इसलिए शीघ्र ही यह स्थिति आ गई कि प्रतिदिन स्वामीजी के साथ होनेवाले प्रश्नोत्तर सुनने के लिए वह उनके प्रत्येक व्याख्यान में उपस्थित रहने लगे। वे अपनी शंकाओं का निवारण भी करवाते थे। उन्हीं के शब्दों मे, "यद्यपि आचार्य दयानंद के उपदेशों ने मुझे मोहित कर लिया था तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पंडित दयानंद स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कना शक्ति का सामना करनेवाला न रहे। मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था, इतना कि एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले

पर पाँच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मुहर लग गई। मैंने कहा, "महाराज ! आपकी तर्कना शक्ति बडी तीक्ष्ण है। आपने मुझे चुप तो कर दिया परंतु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ति (अस्तित्व) है।"

दूसरी बार फिर तैयारी करके गया परंतु परिणाम पूर्ववत् ही निकला। तीसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया परतु मेरे तर्क को फिर पछाड मिली। मैंने फिर अंतिम उत्तर यही दिया, "महाराज, आपकी तर्कना शक्ति बडी प्रबल है। आपने मुझे चुप तो करा दिया परतु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ति है।"

महाराज पहले हँसे, फिर गंभीर स्वर मे कहा, "देखो। तुमने प्रश्न किए, मैंने उत्तर दिए—यह मुक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूँगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वय तुम्हे विश्वासी बना देगे।"

कैसा सहज, विनम्र और तर्कसंगत उत्तर दिया स्वामीजी ने। उसे प्रभु की ज्योति कहें या अंतर की ज्योति कहे या स्वतःस्फूर्त ज्योति कहे, जब वह भासमान होती है तभी मनुष्य का अंतर और बाह्य आलोकित होता है।

मुंशीराम बहुत भटके लेकिन अब जैसे उन्हे दिशा मिल गई थी। आवारा को मसीहा बना देनेवाली दिशा। उसकी दिशा के कारण विलासी और नास्तिक मुंशीराम ने महात्मा मुशीराम और फिर हुतात्मा श्रद्धानद का विरुद पाकर वह ख्याति अर्जित की जिसका वर्णन पीछे हो चुका है। वर्षों बाद सन् 1925 मे महर्षि दयानद के प्रति आभार प्रकट करते हुए स्वामी श्रद्धानंद ने लिखा—"ऋषिवर, तुम्हे भौतिक शरीर त्यागे 41 वर्ष हो चुके, परतु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय-पटल पर ज्यो की त्यों अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओ की काया पलट दी है, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है परतु अपने विषय मे मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन-लाभ करने के योग्य बनाया।"

स्वामी दयानंद के ग्रथो के स्वाध्याय से कैसे धीरे-धीरे उनका मन सत्य के आलोक रे आलोकित होता गया यह लबी कहानी है पर इस कुरेदना के बीज तो बचपन से स्वय उनके अतर मे मौजूद थे। एक दिन वह स्कूल नहीं गए। पिताजी ने पूछा, तो कह दिया, "आज छुट्टी है।" लेकिन बाद मे उन्हे पता लगा कि बालक मुंशीराम ने झूठ बोला है। स्कूल मे छुट्टी नहीं थी। पिताजी की आत्मिक ग्लानि का पार नहीं था। पुत्र ने पिताजी के वेदना को रूप लेते देखा तो अंतर में संघर्ष मच उठा। अंत मे उन्होंने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और फिर

कभी झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा की।

इसी तरह जब शराब पीने के कारण बहुत कर्ज चढ़ गया तो उनकी पतिपरायणा पत्नी ने अपने हाथ के कड़े बेच देने में सकोच नहीं किया। कोई उपदेश नहीं, प्रतारणा का एक शब्द नहीं, मुशीराम का हृदय आत्म-ग्लानि से टीस उठा। उन्होने अपने पतन की कहानी सुनाते हुए हृदय खोलकर रख दिया और क्षमा कर देने की प्रार्थना की लेकिन उस देवी ने यही कहा, "आप मेरे स्वामी हैं, यह सब सुनाकर मुझे पाप क्यो चढाते हैं। मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं नित्य आपकी सेवा करूँ।"

उस रात दोनो पति-पत्नी बिना भोजन किए ही सो गए। उस दिन उनके मन पर जो प्रभाव पडा, उसकी गूँज उनके इन शब्दो में सुनी जा सकती है, "पौराणिक युग में जिस प्रकार आर्य महिलाओं ने सतीत्व का पालन किया, उसी के प्रताप से भारत भूमि रसातल को नहीं पहुँची और उसमें अब तक पुनरुत्थान की शक्ति विद्यमान है। यही मेरा निज का अनुभव है।"

बडे प्रयत्नो के बाद उनके पिता उनकी नियुक्ति नायब तहसीलदार के पद पर कराने में सफल हो गए थे। इसी अवधि में एक बार सेना ने बरेली के पास पडाव डाला। उसे रसद पहुँचाने का दायित्व नायब तहसीलदार के नाते उन पर था। उन्होने प्रबध किया भी पर, गोरे तो सामान लेकर उसका मूल्य चुकाने मे विश्वास नहीं करते थे। कुछ सैनिक एक अडेवाले के अडे बिना मूल्य दिए ही उठा ले गए। मुशीरामजी को पता लगा तो वे कर्नल के पास पहुँचे पर वह तो उल्टा उन्हीं को गुस्ताख कहने लगा। मुशीराम तो फौलाद के बने हुए थे, अन्याय कैसे सह सकते थे—बोले, "मैं यह अपमान नहीं सह सकता। मैं अपने आदमियों को ले जा रहा हूँ। आप जो कर सकते हों कर ले।"

और वे देखते-देखते घोड़े पर सवार होकर ऑखो से ओझल हो गए। शिकायत कमिश्नर के पास पहुँची। उसने आदेश दिया कि मुशीराम कर्नल से माफी मॉगे। क्षण भर के लिए अतर में सघर्ष का तुमुलनाद उठा पर दूसरे ही क्षण वे कमरे से बाहर आए और नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

परेशान पिता ने उन्हे वकील बनाने का निश्चय किया। वकालत की परीक्षा तो वे अनेक कारणो से पास न कर सके पर मुख्तार अवश्य बन गए। तब पता लगा कि शीघ्र ही यह नियम बननेवाला है कि जो व्यक्ति बी ए पास न होगा वह वकालत की परीक्षा में न बैठ सकेगा। इसलिए उन्होने फिर वकालत की परीक्षा मे बैठने का निश्चय किया। परिश्रम भी खूब किया पर एक परचे मे दो अक से रह गए। किसी ने सुझाया कि रजिस्ट्रार को रिश्वत दो, पास हो जाओगे पर वे नहीं माने। इस तरह वे वकील नहीं ही बन सके, मुख्तार ही रहे।

यह उनके भौतिक जीवन मे होनेवाले सघर्ष की एक झलक मात्र है लेकिन वे तो किसी और जीवन के लिए बने थे। स्वामी दयानद के प्रभाव मे आकर वे

आर्यसमाज की ओर झुक रहे थे। निरतर स्वाध्याय करते थे। 'सत्यार्थप्रकाश' भी पढा। जब उनके मन में उठनेवाली सभी शंकाओं का समाधान हो गया तभी वे आर्यसमाज के सदस्य बने। अपने पहले ही भाषण में उन्होंने कहा था, "हमारे विचार और कर्म में एकरूपता होनी चाहिए। जो वैदिक धर्म के सिद्धांतों के अनुरूप अपना जीवन नहीं जी सकता उसे उपदेश देने का अधिकार नहीं है। भाडे के टट्टुओं से धर्म का प्रचार नहीं हो सकता। इस पवित्र काम के लिए निस्वार्थ और त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है।"

उनका यह भाषण सुनकर आर्यसमाज के वयोवृद्ध नेता लाला साईंदास ने कहा था, "आर्यसमाज में एक नई स्पिरिट का प्रवेश हुआ है, देखें वह इसे तारती है या डुबोती है।" इतिहास साक्षी है स्वामी श्रद्धानंद जीवन भर अपने उस पहले व्याख्यान को ही सार्थक करते रहे। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि स्वामी दयानंद द्वारा स्थापित आर्यसमाज को सही रूप देने में, पुष्पित और पल्लवित करने में जिन व्यक्तियों का योगदान कसौटी पर कसा जाकर कंचन प्रमाणित हुआ है, उनमें स्वामी श्रद्धानंद का नाम इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरो में लिखा हुआ है।

एक बार आर्यसमाज का सदस्य बनकर फिर उन्होंने पीछे मुडकर नहीं देखा। आगे और आगे ही बढते गए। कैसा संघर्ष करना पडा उन्हें, आज तो इसकी कल्पना करना भी कठिन है। घर और बाहर विरोध ही विरोध था। घर का विरोध तो बहुत शीघ्र समाप्त हो गया। प्रारभ मे उन्हें कई बार अपने पिताजी से टकराना पड़ा। उस दिन वे लाहौर जा रहे थे। पिताजी ने आदेश दिया, "जाओ बेटा ! ठाकुरजी को माथा टेक जाओ।"

बेटे के सामने प्रश्न था कि क्या वह पिताजी की आज्ञा मानकर अपने सिद्धांत की उपेक्षा करे या सिद्धांत पर दृढ रह पिताजी की अवहेलना करे। कई क्षण एक तुमुलनाद घुमडता रहा अंतर में। अत में वे बोले, "पिताजी, सांसारिक व्यवहार में आप जो कहेंगे मैं वही करूँगा, पर जिन सिद्धांतों को मैंने स्वीकार किया है उनके विरुद्ध कुछ न कर सकूँगा।"

पिताजी का क्रोध भडक उठा, बोले, "क्या तुम ठाकुरजी को निरा पत्थर समझते हो।"

शांत मन मुंशीराम ने उत्तर दिया, "पिताजी ! परम प्रभु के बाद आप ही मेरे लिए पूज्य हैं पर क्या आप चाहेंगे कि आपकी संतान मक्कार हो।"

पिता हतप्रभ से बोले, "नहीं तो। मैं ऐसा कभी नहीं चाहूँगा।"

उन्होंने कहा, "जिन मूर्तियों में मेरा विश्वास नहीं उनके आगे सिर झुकाना क्या मक्कारी नहीं होगी।"

उस स्पष्ट उत्तर ने पिताजी को और भी परेशान कर दिया। कह उठे, "आज मुझे विश्वास हो गया कि मरने के बाद कोई मुझे पानी भी न देगा।"

फिर एक क्षण रुके, बोले, "अच्छा ! अब जाओ, देर हो जाएगी।"

लेकिन ये ही पिताजी एक दिन इतने बदल गए कि जब वे जालधर आए तो मुशीराम साप्ताहिक सत्सग मे गए हुए थे। उनके आने का समाचार पाकर तुरत सेवा में उपस्थित हुए। पिताजी ने पूछा—"क्या सत्सग समाप्त हो गया।" पुत्र ने उत्तर दिया, "केवल भजन-आरती रह गई थी। आपके आने का समाचार पाकर जल्दी चला आया।"

पिताजी ने बडे प्रेम से कहा, "क्या जल्दी थी। समाज का अधिवेशन समाप्त करके ही आना चाहिए था।"

मुंशीराम चकित थे। हुआ यह कि आते समय वे 'सत्यार्थप्रकाश' और 'पंच महायज्ञ विधि' पिताजी के कमरे मे छोड आए थे। पिताजी ने उन्हे देखा। अपने एक मित्र से उन्हे पढवाकर सुना। इतने प्रभावित हुए कि बोले, "हम तो अविद्या में पडे रहे। निरर्थक क्रिया-कर्म करते रहे। हमारा मोक्ष कैसे होगा। अब हम वैदिक साधना करेगे।"

पुत्र ने पिता की जीवनधारा बदल दी थी। यहाँ तक कि मृत्यु शैया पर भी उन्होने ईशोपनिषद् और वैदिक हवन कराने की इच्छा प्रकट की थी। घर मे ही नहीं, समाज मे भी वे सारे विरोधो के बावजूद सफलता की सीढियाँ चढते जा रहे थे। लाला साईंदास की अतर्वेधी दृष्टि ने जिस ऊर्जा को पहचान लिया था वह निर्जीव ऊर्जा नहीं थी। वह सजीव शक्ति थी·जिसे दिशा की खोज नहीं करनी पडती बल्कि दिशा स्वय चलकर उसके पास आती है। इसलिए मुशीराम जहाँ भी गए नवजागरण का सदेश लेकर गए। शब्दो के द्वारा नहीं बल्कि अर्थ अर्थात् कर्म के द्वारा। उस क्षण से वे सदा दूसरो के लिए ही जिए।

उन दिनो शास्त्रार्थ खूब होते थे और वे संस्कृत मे ही होते थे। और प्राय वे व्यक्ति ही शास्त्रार्थ करते थे जो जन्म से ब्राह्मण होते थे। लेकिन मुशीराम ने निश्चय किया कि वे स्वय शास्त्रार्थ करेगे। उन्होंने वेदों का अध्ययन किया। धर्मशास्त्र पढे और अपनी विवेक-बुद्धि के द्वारा सत्य अर्थ को जान लिया।

अब उन्होने आर्यसमाज के सिद्धांतों के प्रचार के साथ-साथ पडितो को चुनौती देनी आरभ कर दी। समाज मे खलबली मच गई पर वे विचलित नहीं हुए। वे अपनी दृष्टि खुली रखते थे। जो शुभ और शुद्ध होता उसे ग्रहण करने मे उन्होने कभी आनाकानी नहीं की। यही कारण था कि आर्यसमाज के तत्कालीन नेता पं गुरुदत्त और आर्य मुसाफिर प लेखराम से उन्हें बहुत सहयोग मिला। प गुरुदत्त तो उनके पथप्रदर्शक ही थे पर शीघ्र ही ये दोनो महानुभाव यह संसार छोडकर चले गए। मुंशीरामजी की वेदना का पार न था पर वे नाना रूपो में नाना प्रकार से आर्यसमाज का प्रचार करते रहे। सड़क पर खडे होकर भाषण दिया, घर-घर जाकर चंदा माँगा। वे रूढियों पर प्रबल प्रहार करते थे। जन्म के स्थान पर उन्होंने गुणकर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया। वे अपने

विश्वासों को जीने में विश्वास करते थे। उन्होंने अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए 'सद्धर्म प्रचारक' नामक पत्रिका भी उर्दू में निकालनी शुरू की।

इन सब बातों के कारण उन्हें लोग उग्र क्रांतिकारी कहने लगे थे। जालधर के आर्यसमाजी इसी कारण 'एक स्ट्रीम रैडिकल पार्टी' के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। लेकिन जब किसी समाज की शक्ति बढ जाती है, पग-पग पर सफलता उसके चरण चूमने लगती है, वह नए प्रकाश, नई ज्योति से भासमान होने लगता है तब उसे बाहरी खतरों से उतना डर नहीं रहता जितना अदर के खतरो से। किसी भी समाज की प्रगति और अगति का कारण उसके अपने भीतर छिपा रहता है। आर्यसमाज के साथ भी यही हुआ।

उसकी चर्चा करने से पूर्व उनके पारिवारिक जीवन की एक झलक देख लेना भी आवश्यक है। वे तीव्र गति से आगे बढ रहे थे। काम करने की अद्‌भुत क्षमता थी उनमे। उन्हें जालंधर आर्यसमाज का प्रधान चुना गया और शीघ्र ही वह महात्मा मुंशीराम के नाम से विख्यात हो गए। इसी समय उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। उनका अतिम सदेश था, "मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक पढी-लिखी और रूपवती सेविका मिल जाएगी पर इन बच्चों को न भूलना।"

मुशीराम अपनी पत्नी को पहचानते थे, जानते थे कि दुर्दिनो मे उसी ने उनकी रक्षा की थी। उन्होने निश्चय कि वे दूसरा विवाह नहीं करेगे। पिता के साथ वे बच्चों की माँ भी बनेगे। बाद मे उनके बडे भाई ने उन्हे बच्चो की चिता से मुक्त कर दिया और इस प्रकार सब बंधनो से मुक्त होकर उन्होने अपने जीवन को पूर्ण रूप से समाज की सेवा में अर्पित कर दिया।

[2]

भारतीय नवजागरण में स्वामी श्रद्धानद की क्या भूमिका रही है इसका आकलन करने से पूर्व उन्नीसवीं सदी के भारत पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। यह सदी भारतीय मेधा की सबसे बडी पहचान है। वहाँ मात्र प्रश्न ही नहीं गूँजते बल्कि, उन प्रश्नों को उठानेवाले कर्म की तूफानी लहरो से जूझते भी दिखाई देते हैं। तमस के विरुद्ध बेलाग लडाई लडने और आत्म-बलिदान करने की अद्‌भुत क्षमता दिखाई देती है उनमें।

भले ही अपने स्वरूप में सामती रहा हो पर सन् 1857 का स्वाधीनता-सग्राम न केवल नए भारत के निर्माण का प्रतीक है बल्कि उस जागृति का भी प्रतीक है, जो अपने ही भीतर पनप रही अधकार की शक्तियों से जूझने की राह दिखाती है। अंग्रेजों ने अमानुषिक अत्याचार द्वारा हमारे स्वाधीनता संग्राम को दबा जरूर दिया परंतु उसी के कारण जहाँ एक ओर 'एक देश' की प्राचीन कल्पना फिर से रूप लेती दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर यह अनुभूति भी तीव्र होती है कि

राजनैतिक स्वतत्रता से पहले हमे अपने ही अंतर में पनप रहे नाना रूप, अंध-विश्वासों, सामाजिक कुरीतियो और अविद्या के अंधकार से मुक्ति पानी होगी। एक के बाद एक उभरनेवाले सुधार आदोलन इसी अनुभूति का परिणाम हैं। ये आंदोलन हमे अपने उज्ज्वल भूत और विकृत होते वर्तमान की समझ ही नहीं देते, बल्कि एक गरिमामय भविष्य बनाने की प्रेरणा भी देते हैं।

सन् 1857 की क्राति से पूर्व सन् 1828 ई मे नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय ने जिस ब्राह्मसमाज की स्थापना की थी वह पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित था। उसने सती-प्रथा, बाल-विवाह, जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था आदि सामाजिक कुरीतियो का घोर विरोध किया और स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि का प्रबल समर्थन किया। बंबई मे इसी समाज के आधार पर प्रार्थना समाज की नींव पडी। उसके नेताओ मे प्रमुख थे डॉ भडारकर और न्यायमूर्ति रानाडे। इसके अतिरिक्त शेष उत्तर भारत मे जिस आदोलन का व्यापक प्रभाव हुआ वह आर्यसमाज के झडे के नीचे आरभ हुआ था। इस समाज की स्थापना स्वामी दयानद सरस्वती ने सन् 1875 मे की थी। स्वामीजी जन्म से गुजराती थे और राजा राममोहन राय के विपरीत प्राच्य सभ्यता के उपासक थे। वे संस्कृत के पडित थे। उन्होने वेदो के आधार पर बाल-विवाह, अनमेल विवाह, अशिक्षा, छूतछात, मूर्ति-पूजा और जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रबल विरोध किया और विधवा-विवाह, अतर्जातीय विवाह, स्त्री-शिक्षा, कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था तथा विदेश-यात्रा का पूर्ण समर्थन किया।

मुशीराम ने खूब देख-परखकर अपने को इसी उभरती हुई शक्ति के प्रति समर्पित कर दिया था और यह समर्पण सपूर्ण था। लेकिन जैसा हमने कहा है कि निरंतर विकसित होती हुई शक्तियो को बाहरी संकटों से उतना डर नहीं होता जितना आतरिक सकटो से। यह सकट पहले मतभेद के रूप मे उभरता है। मतभेद जब तक रचनात्मक रूप मे रहते है वे किसी भी समाज की शक्ति ही बनते हैं लेकिन जाने-अनजाने ऐसा भी होने लगता है कि उन मतभेदों के साथ व्यक्ति का अहम् जुड जाता है, तब वे ही मतभेद जो प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर सकते थे, घुन बनकर समाज को अदर ही अदर कमजोर करने लगते हैं।

दुर्भाग्य से आर्यसमाज के साथ भी कमोबेश ऐसा ही हुआ। वह शीघ्र ही दो दलों मे बँट गया। इतिहास साक्षी है कि दोनो दलो के अग्रणी नेताओं ने उन मतभेदों को रचनात्मक रूप देने की पूरी कोशिश की इसलिए जहाँ एक ओर पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के सरक्षण में दयानद एंग्लो वैदिक शिक्षा-संस्थाओं का उदय हुआ वहीं दूसरी ओर स्वामी श्रद्धानद के प्रयत्नो से गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली ने जन्म लिया। पं इद्र विद्यावाचस्पति ने, जिन्होंने अपने पिता महात्मा मुंशीराम को बहुत पास से देखा था और मतभेद होने पर अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखने का साहस भी दिखाया था, उन्होने अपनी पुस्तक 'मेरे पिता'

परिस्थितियों में काम करना पड़ता था उन दिनों, इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उन दिनों गंगा पर बने नावों के कच्चे पुलों को पार करके ही गुरुकुल पहुँचा जा सकता था। किसी-किसी वर्ष तो ठीक उत्सव के दिनों में अधिक वर्षा हो जाने के कारण गंगा में जल बढ़ जाता था और पुल टूट जाता था। तब प्रधानजी कंधे पर पीला दुपट्टा डालकर और लंबी लाठी हाथ में लेकर ब्रह्मचारियों में आते थे और कहते थे कि चलो पुल बनाएँगे।

और सचमुच ब्रह्मचारी, उनके अधिष्ठाता और कारीगर सब मिलकर कुछ ही घंटों में पुल तैयार कर देते थे। एक बार पुल बनने में कुछ देर हो गई और दर्शक कनखल की ओर किनारे पर जमा होने लगे, तब इंद्रजी के शब्दों में, "प्रधानजी ने उसी समय खाने का बहुत-सा सामान गुरुकुल से मँगवाकर तनेडों पर परली पार भेज दिया और कहला भेजा कि आप लोग वापिस न जाएँ। हम सब पुल पूरा होने पर ही खाना खाएँगे। इस पर जो यात्री तैरना जानते थे, गंगा में कूद पड़े और पुल बनाने में हमारी सहायता करने लगे। जहाँ तक याद है दिन के दो बजे तक पुल पूरा हो गया और गुरुकुलवासी यात्रियों को साथ लेकर गुरुकुल की ओर रवाना हो गए।"*

यह एक झलक मात्र है उन प्रारंभिक कठिनाइयों की जिनसे मुंशीराम को जूझना पड़ा था। जो नए पथ का निर्माण करते हैं उन्हें तपना ही पड़ता है। बिना तपे तो प्रभु भी वरदान नहीं देते पर यँही तपना शरीर सुखाना नहीं है, पराई पीर में तपना है। शब्द को पकड़ना नहीं है, अर्थ को जीना है। लाला मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानंद तक पहुँचने की यह यात्रा पराई पीड में तपने और शब्द के अर्थ को रूपायित करने की ही यात्रा है।

स्वामी दयानंद ने पहचान लिया था कि अंदर के तमस और बाहर के झंझावातों से जूझने के लिए सबसे पहले शिक्षा की परम आवश्यकता है, इसीलिए प्रचार के साथ-साथ वैदिक पाठशालाएँ स्थापित करने का भी प्रयत्न किया था उन्होंने और उनके बाद उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में जो काम किया उसे सभी ने एक स्वर में अभूतपूर्व कहा है। एक समय तो सारे भारत में दयानंद एंग्लो वैदिक स्कूल-कॉलेजों, गुरुकुलों और कन्या महाविद्यालयों का जाल बिछ गया था।

उनकी सफलता-असफलता और औचित्य-अनौचित्य पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक है। इतना जान लेना पर्याप्त है कि अतीत संस्कृति का अपूर्व भंडार है। उसको नकारकर न तो वर्तमान का निर्माण किया जा सकता है, न भविष्य की कल्पना की जा सकती है। महात्मा मुंशीराम पुरातन शिक्षा-पद्धति को अपनाकर पुरातन का मात्र अमूर्त गुणगान ही नहीं करना चाहते थे बल्कि जो

* अमर शहीद स्वामी श्रद्धानंद : मेरे पिता—इंद्र विद्यावाचस्पति, पृ. 90

नवीन है उसमें समोकर उसे ठोस व्यावहारिक भूमि पर परख-देखना चाहते थे। वह कितने सफल हुए, हुए भी या नहीं, यह प्रश्न भी यहाँ कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि विजय मंजिल तक पहुँच जाने का नाम नहीं है। उसकी कसौटी तो उद्देश्य को पाने के लिए किए जानेवाला अनवरत संघर्ष है। महान वही व्यक्ति होता है जो विचार को कर्म में रूपांतरित करने का लक्ष्य सामने रखता है। महात्मा गाँधी से किसी ने पूछा था—"आप महान क्यों हैं ?"

महात्माजी ने उत्तर दिया था कि "वे महान नहीं हैं लेकिन अगर महान होने का अर्थ है कि उनके विचार उनके कर्म से दस कदम पीछे रहते हैं तो संभवतः वह महान हो सकते हैं।"

महात्मा मुंशीराम को इसी अर्थ मे महान कहा जा सकता है। भारत के सामाजिक और राजनीतिक नवजागरण में अकेले गुरुकुल कांगड़ी का जो योगदान रहा है उसका तटस्थ मूल्यांकन यदि किया जाए तो उसके परिणाम पर कोई भी देश गर्व कर सकता है।

हिंदी ही देश की राष्ट्रभाषा है, इस तथ्य को पिछली शताब्दी में ही देश के सभी मनीषियों ने स्वीकार कर लिया था और इनमें प्राय वे महानुभाव थे जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं थी। स्वामी दयानंद की मातृभाषा हिदी नहीं थी। स्वामी श्रद्धानंद की मातृभाषा भी हिंदी नहीं थी पर उनके नेतृत्व में और उनकी प्रेरणा से हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए आर्यसमाज और गुरुकुल कांगडी ने जो कुछ किया, उसकी प्रशसा सभी ने की है।

स्वामीजी के कारण ही सबसे पहले आर्यसमाज ने यह आवाज उठाई कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ होनी चाहिए। महात्मा मुंशीराम ने इस संबंध में गुरुकुल कांगडी के माध्यम से अनेक क्रियात्मक परीक्षण किए। यहाँ के स्नातकों ने वैज्ञानिक विषयों पर मौलिक ग्रथ लिखे। पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया। यहीं पर सबसे पहले इस शताब्दी के प्रथम चरणों में, हिंदी के माध्यम द्वारा वैज्ञानिक विषयों की उच्च शिक्षा देना आरंभ किया गया और हिंदी में विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकों के अभाव को भी दूर करने का सफल प्रयत्न किया। महात्मा मुशीराम के अनुरोध पर जिन दो व्यक्तियों ने आज से 80 वर्ष पहले (1908) रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, विद्युतशास्त्र, भौतिक और रसायनविज्ञान जैसे विषयों की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कीं वे थे सर्वश्री महेशचरण सिन्हा (1882-1942) और गोवर्धन शास्त्री (1891-1927)। बाद में तो गुरुकुल के स्नातकों सहित अनेक विद्वान् इस क्षेत्र में आए। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में अनुवादों द्वारा हिंदी साहित्य को समृद्ध करनेवाले विद्वानों में भी गुरुकुल के स्नातक प्रमुख रहे हैं। पर प्रारंभ में यह काम करना निश्चय ही बहुत कठिन रहा होगा। आज भी अच्छी पाठ्य-पुस्तकों का अभाव खटकता रहता है तो आज से अस्सी वर्ष पहले स्थिति क्या रही होगी, पर महात्मा मुंशीराम तो सच्चे अर्थों में कर्मयोगी थे। उन्होंने यह

प्रमाणित करके कि हिंदी के माध्यम से किसी भी विषय में उच्च से उच्च शिक्षा दी जा सकती है, बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को चकित कर दिया। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"

यही सब देखकर महात्मा गाँधी ने महामना पं. मदनमोहन मालवीय से कहा था, "गंगा के किनारे हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानंद हिंदी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी की गंगा के किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं।"

हिंदी साहित्य की विविध विधाओं को विशेषकर जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-वृत्तांत आदि को तो गुरुकुल के स्नातकों ने पुष्ट किया ही है, उन्होंने शिकार और वन-भ्रमण की रोमांचक यात्रा-कथाएँ भी प्रस्तुत की हैं। लेकिन राष्ट्र में नवचेतना जगाने की दृष्टि से दो क्षेत्रों में उनका योगदान बहुत ही सराहनीय रहा है, एक अनुसंधान के क्षेत्र में, दूसरा पत्रकारिता के क्षेत्र में। किसी भी जाति या धर्म की स्वास्थ्य रक्षा के लिए निरंतर खोज करते रहना बहुत आवश्यक है। प्रारंभिक वर्षों में गुरुकुल कांगडी में भारत के इतिहास को तथा वैदिक देवताओं और ऋषियों को लेकर काफी काम हुआ। अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ प्रकाशित हुए। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति उनके निष्कर्षों तथा स्थापनाओं से सहमत हो पर ऐसा कार्य चिंतन को धार ही नहीं देता बल्कि कट्टर सिद्धांतवादी होने से भी बचाता है। इसीलिए कभी-कभी तीव्र मतभेद भी उभरे पर जैसा हम कह आए हैं मतभेद के पीछे दुर्भावना न हो तो वह स्वास्थ्यकर ही होता है।

अनुसंधान के क्षेत्र की तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी गुरुकुल के स्नातकों ने अभूतपूर्व जागरूकता और विवेक-बुद्धि का परिचय दिया है। प्रारंभ में प्रचार-कार्य के लिए, स्वयं स्वामी दयानंद की प्रेरणा से साप्ताहिक और मासिक पत्रिकाओं का जो सिलसिला आरंभ हुआ था वह अंततः व्यापक राष्ट्रीय चेतना में कैसे परिवर्तित हो गया, उसका विस्तृत विवेचन बंधुवर क्षेमचंद्र सुमन ने दो वर्ष पूर्व यहीं पर 'महर्षि दयानंद निर्वाण शताब्दी व्याख्यान-माला' के अंतर्गत दिए व्याख्यान* में किया था। वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचे उससे हम भी सहमत हैं कि "आर्यसमाज के माध्यम से हिंदी साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई वह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जाता है।"

हम इस बात से भी सहमत हैं कि यदि महात्मा मुंशीराम गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना न करते तो हिंदी पत्रकारिता का जो रूप हम आज देख रहे हैं वैसा संभवतः नहीं ही होता। गुरुकुल के स्नातकों ने इस क्षेत्र में जो योगदान दिया

* दयानंद और हिंदी पत्रकारिता—8 फरवरी, 1985

वह हर दृष्टि से प्रशंसनीय और अभिनंदनीय है। महात्मा मुंशीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' नाम का एक साप्ताहिक पत्र उर्दू में निकाला था। इसका पहला अंक 19 फरवरी 1884 को प्रकाशित हुआ था। कई वर्ष यह उर्दू में ही निकलता रहा पर एक दिन अचानक किसी ने उन पर व्यग्य करते हुए कहा, "स्वामी दयानंद के शिष्य बनते हो और पत्रिका उर्दू मे निकालते हो।"

इस व्यंग्य से महात्मा मुंशीराम के अंतर में जैसे तुमुलनाद मच उठा। और अंतत उन्होंने 1 मार्च, 1907 से 'सद्धर्म प्रचारक' की भाषा हिंदी कर दी। मित्रों ने बहुत समझाया कि पत्रिका पहले ही घाटे में चल रही है अब हिंदी में उसे कौन पढेगा। पजाब मे तो हिंदी केवल स्त्रियाँ ही पढती हैं। उनका उत्तर था, "देश की राष्ट्रभाषा हिंदी है। स्वामी दयानंद जब गुजराती होते हुए हिंदी में ग्रंथ लिख सकते हैं तो हम उनके अनुयायी थोडा-सा त्याग भी नहीं कर सकते। हमारे लिए तो हिंदी का पढना-पढाना अनिवार्य है।" और सचमुच इस निश्चय का सुखद परिणाम हुआ। केवल इस पत्र को पढने के लिए ही बहुत-से लोगों ने हिंदी सीखी।

महात्मा मुंशीराम स्वय ही आदर्श स्थापित करके नहीं रह गए बल्कि उन्होंने अपने दोनो पुत्रो सर्वश्री हरिश्चद्र वेदालंकार और इद्र विद्यावाचस्पति को भी इसी मार्ग का पथिक बना दिया। उन्होने सन् 1918 में 'श्रद्धा' नाम से एक और साप्ताहिक निकाला था। कुछ दिन तक 'सद्धर्म प्रचारक' दैनिक के रूप मे भी निकलता रहा। उन्हीं की प्रेरणा से प्रो इंद्र ने न केवल 'सद्धर्म प्रचारक' का संपादन किया, न केवल दिल्ली से दैनिक 'विजय' प्रकाशित किया बल्कि कालातर में 'अर्जुन', 'वीर अर्जुन', 'नवराष्ट्र' और 'जनसत्ता' जैसे सशक्त साप्ताहिक और दैनिक पत्र निकालकर हिंदी पत्रकारिता की जो नींव डाली थी सुमनजी के शब्दों में, "उसी पर आज हिंदी पत्रकारिता का यह भव्य भवन खडा है।" इंद्रजी के सपादकीय अपने संतुलित और सारगर्भित चिंतन के लिए बहुत लोकप्रिय हुए।

राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति उनकी ऐसी अनन्य सक्रिय भक्ति देखकर ही हिंदी साहित्य सम्मेलन ने सन् 1913 मे उन्हे भागलपुर, बिहार में होनेवाले अपने चौथे वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने घोषणा की थी—"पर भाषा में विचार उठने से जहाँ सभ्यता विदेशी होगी, वहाँ राष्ट्र भी भारतीय न रहेगा। भाषा ही तो जातियो के जीवन का साधन होती है। बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र संगठित होना वैसा ही दुष्कर है जैसे बिना जल के मीन का जीवन।"

उन्होंने उर्दूभाषी होते हुए भी अपनी आत्मकथा 'कल्याणमार्ग का पथिक' हिंदी में लिखी।* इसमें उन्होंने अपनी जीवन-गाथा का और उसमे आनेवाले

* ज्ञानमडल, काशी, 1924

उतार-चढ़ावों का, बड़ी बेबाकी से चित्रण किया है। भारत में उस समय वैसा साहस केवल महात्मा गाँधी ही दिखा सके थे।

अठारह वर्ष गुरुकुल के आचार्य पद पर सुशोभित रहकर जहाँ एक ओर उन्होंने ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का पुनरुद्धार किया, छात्रों में राष्ट्रीयता और निर्भीकता के भाव जागृत किए और राष्ट्रभाषा को समृद्ध किया, वहाँ अनेक विदेशियों को भी आकर्षित किया। कुछ व्यक्ति यहाँ हिंदी पढ़ने के लिए आते थे। कुछ यहाँ हो रहे प्रयोगों से आकर्षित होकर आते थे और यहाँ के वातावरण पर मुग्ध हो जाते थे। प्रो. इंद्र ने अपने पिता की जीवनी में ऐसे अनेक प्रसंगों का रोचक वर्णन किया है। उनके शब्दों में, "1909-10 के लगभग दिल्ली के सेंट स्टीफंस कॉलेज से गुरुकुल के संबंध ऐसे हो गए थे जसे दो बहनों के होते हैं। दीनबंधु सी.एफ. एंड्रयूज और प्रिंसिपल रुद्र का पिताजी से स्नेह हो गया था। इसे अकारण स्नेह का नाम ही देना चाहिए क्योंकि न तो उसमें किसी का कुछ स्वार्थ था और न ही धर्म अथवा संस्कृति की समानता थी। केवल प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही यह स्नेह पैदा हुआ था।"*

लेकिन एक और वर्ग था जो वहाँ यह जानने के लिए आता था कि यहाँ विदेशी शासन को उखाड़ने का कौन-सा षड्यंत्र चल रहा है। गुप्तचर विभाग अजीब-अजीब खबरें सरकार को देता था। जैसे वहाँ ऐसे चित्र लटके हुए हैं जिनमें दिखाया गया है कि गोरों के आने से पहले भारत क्या था और उनके आने के बाद क्या हो गया। उसने लाला लाजपतराय, सर अजीत सिंह और भाई परमानंद को आर्यसमाज के साथ जोड़कर उसे बागी संस्था मान लिया। इस संबंध में 1914 ई. में मजदूर दल के एक नेता श्री रेमजे मैकडानल्ड ने, जो बाद में इंग्लैंड के प्रधानमंत्री बने, लिखा था, "इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाज के संबंध में जितने भी संदेह किए जाते हैं वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिए गए हैं। पुलिस के अफसरों ने इसके संबंध में गुप्त रिपोर्ट दी है और अधिकांश एंग्लो इंडियन लोगों ने इसकी निंदा की है। अध्यापकों में एक भी अंग्रेज नहीं है। अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिए पंजाब यूनीवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें यहाँ काम में नहीं लाई जातीं। विद्यार्थियों को विद्यालय से उसकी अपनी उपाधियाँ दी जाती हैं। सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घबराए हुए सरकारी अधिकारी के मुँह से उसके लिए पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परंतु गुरुकुल के विषय में यह अंतिम राय नहीं हो सकती। मैकाले के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र में यह पहला प्रशस्त प्रयत्न किया गया है। मैकाले के प्रयत्नों के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असंतुष्ट हैं। किंतु जहाँ तक मुझे मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने इस असंतोष को कार्यरूप में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया।"

---

* ज्ञानमंडल, काशी, पृ. 90

दि न्यू स्टेट्समैन ने तो यहाँ तक लिख दिया था, "आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से प्रायः शून्य, प्रतिभाहीन ब्रिटिश अधिकारी एकाएक घबरा जाते हैं। वे नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं। इसलिए वे इसमें राजद्रोह का संदेह करने के आदी हो गए हैं।"

संदेह की यह नींव बहुत पहले पड़ चुकी थी। जालंधर में मुंशीरामजी सवेरे घूमने जाया करते थे। वहाँ के डिप्टी कमिश्नर कर्नल हार्कोट भी जाते थे। दोनों में खूब बातें होती थीं। लेकिन जब कर्नल को पता लगा कि मुंशीराम आर्यसमाजी हैं तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले[1]—"आप और आर्यसमाजी। आप तो बड़े धार्मिक आदमी हैं। आप आर्यसमाजी नहीं हो सकते।" उन्होंने उत्तर दिया कि वे आर्यसमाजी ही नहीं प्रत्युत स्थानीय आर्यसमाज के प्रधान भी हैं। तब साहब बोले, "परंतु लाहौर आर्यसमाज तो एक पोलिटिकल संस्था है। जालंधर आर्यसमाज चाहे न हो।" तब मुंशीराम ने कर्नल साहब को आर्यसमाज के मंतव्य तथा उद्देश्य समझाए और बतलाया कि वे लोग आर्य तथा श्रेष्ठ पुरुष बनना चाहते हैं। इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रेष्ठों पर उनसे गिरे हुए पुरुष राज न कर सकें। इस पर साहब बड़े उदार भाव से बोले, "फिर हमारे यहाँ ठहरने का उचित हेतु न रहेगा।"

इस घटना से पता लगता है कि शुरू से ही गोरे हाकिम आर्यसमाज को संदेह की दृष्टि से देखते थे। तब गुरुकुल पर उनकी कोपदृष्टि पड़ना स्वाभाविक था। एक समय तो स्थिति बहुत भयंकर हो गई थी। शंकाओं के घेरे में घिरे गुरुकुल को गोरी सरकार ने किसी गहरे षड्यंत्र का केंद्र मान लिया था और उस पर आक्रमण करने की तैयारी कर रही थी कि महात्मा मुंशीराम ने स्वयं शेर की गुफा में पहुँचकर उनसे बात करने का निश्चय किया। प्रो. इंद्र ने लिखा है,[2] "उस दिन की बातचीत में जो बीजपात हुआ वह कुछ वर्षों में भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की तीर्थयात्रा के रूप में फलीभूत हुआ। वायसराय के गुरुकुल आगमन को शायद कुछ लोग सरकारी अफसर द्वारा एक शिक्षण-संस्था के निरीक्षण का रूप दें, परंतु जिन लोगों ने उस घटना को आदि से अंत तक देखा था, उन्हें यह विश्वास हो गया है कि वायसराय का गुरुकुल आगमन केवल सरकारी दौरे का हिस्सा नहीं था प्रत्युत उसमें कुछ प्रयोजन और भावुकता का अंश भी था।"

भावुकता का एक कारण महात्मा मुंशीराम का भव्य व्यक्तित्व भी था जो अनायास ही उनके बड़े से बड़े विरोधी को भी उनके प्रति स्नेह और आदर से भर देता था। प जवाहरलाल नेहरू के मूल्यांकन मे उसकी गंध है। उस समय

1 कल्याण मार्ग का पथिक, पृ 100 (सार्वदेशिक का विशेषाक 14-12-65)

2 अमर शहीद स्वामी श्रद्धानद मेरे पिता—इद्र विद्यावाचस्पति, पृ 123

के संयुक्त प्रांत के गवर्नर लार्ड मेस्टन, मजदूर नेता रेमजे मैकडोनल्ड, दीनबंधु सी.एफ एंड्रयूज तथा प्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार श्री फैल्प्स आदि कुछ प्रसिद्ध व्यक्ति उनके व्यक्तित्व के आकर्षण से खिंचकर ही उनके हो रहे थे।

वायसराय के गुरुकुल आगमन से जहाँ एक ओर कोहरे के बादल छँट गए, दूसरी ओर उग्रवादियों ने इस यात्रा को संदेह की दृष्टि से देखा। आगे हम देखेंगे कि कैसे स्वामी श्रद्धानंद भारत के स्वाधीनता संग्राम में कूद पडे थे। वह खुशामदी कैसे हो सकते थे। वह तो बस यही चाहते थे कि गुरुकुल एक स्वतंत्र शिक्षा-संस्थान बना रहे। उसे न दाएँ जाना है, न बाएँ। उसे तो भारतवासियों के अंतर में हीन-भावना का जो अंधकार पुंजीभूत हो उठा है उसे दूर करना है। बिना स्वयं शक्तिशाली हुए शत्रु से कैसे लोहा लिया जा सकता है। सच्चा जननायक हर कदम बहुत सोच-समझकर उठाता है, भावुकता के वशीभूत नहीं होता। इसी कारण जब सरकार ने आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा तो उसी दृढता से उन्होंने उसे एकदम अस्वीकार कर दिया। दूसरी बार सोचा तक नहीं। उनके भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व के पीछे दृढ विश्वास की एक ऐसी दीवार थी जिसे भेद पाना किसी के लिए संभव नहीं था।

उन्होंने शिक्षा को लोकप्रिय बनाने का क्षेत्र केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं रखा था। आर्य कन्या पाठशालाओं और गुरुकुलो को भी उन्होंने समान महत्त्व दिया। इन आर्य कन्या पाठशालाओं के द्वारा ही तो हिंदी ने घरों में प्रवेश पाया था। कन्या महाविद्यालय, जालंधर की नींव कैसे पडी इसकी चर्चा करते हुए अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है, "कुछ स्वस्थ होने पर इसी मास मे (अक्तूबर, 1888) एक नए काम की बुनियाद डाली गई जिसने मेरे चिरकाल के विचार को क्रिया में परिणत कर दिया।"*

इसी वर्ष उनका संबंध भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से हुआ। और यहाँ से शुरू होकर यह संबंध कैसे सन् 1919 मे असहयोग आंदोलन में कूद पडने तक पहुँच गया, इसकी कहानी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म और विकास की कहानी है। महात्मा गाँधी से उनके संबंध सन् 1917 में विधिवत् संन्यास ग्रहण करने और स्वामी श्रद्धानंद नाम धारण करने से पूर्व ही घनिष्ठ हो चुके थे। निमित्त बने थे दीनबंधु सी.एफ. एन्ड्रयूज। गुरुकुल की चर्चा करते हुए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में गाँधीजी को लिखा था, "जिस भारत को मैं जानता था, जिस भारत को मैं प्रेम करता था, जो भारत मेरे सपनों में था, वह मुझे यहाँ देखने को मिला।"

तब न तो मुंशीरामजी महात्मा बने थे और न गाँधीजी। बाद में दोनों ने एक-दूसरे को महात्मा कहकर पुकारा और फिर वह शब्द सदा के लिए उनसे जुड़ गया। 21 अक्तूबर, 1914 के पत्र में गाँधीजी ने उन्हें 'प्रिय महात्माजी'

---

* कल्याण मार्ग का पथिक, पृ 109

कहकर संबोधित करते हुए लिखा, "आप मुझे 'महात्माजी' लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और एंड्रयूज साहब आपकी चर्चा करते हुए आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। उन्होंने मुझे आपकी संस्था गुरुकुल देखने के लिए अधीर बना दिया है. ।"

6 माह बाद गाँधीजी गुरुकुल आए तब 8 अप्रैल, 1915 को उन्हें जो मानपत्र दिया गया उसमें उन्हें 'महात्मा' नाम से संबोधित किया गया था। स्वामी श्रद्धानंद और आर्यसमाज स्वाधीनता संग्राम से इतने सहज भाव से जुड गए, यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। स्वामी दयानंद ने अपने 'सत्यार्थप्रकाश' में बहुत पहले लिख दिया था–"कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" इन शब्दों के पीछे जो भावना है उसी की नींव पर तो भारत का स्वाधीनता संग्राम पुष्पित-पल्लवित होकर परवान चढा। उसके असंख्य बलिदानी, हिंसक और अहिंसक दोनों प्रकार के सैनिकों में आर्यसमाज की भट्टी से तपकर निकले सैनिकों की संख्या किसी भी दृष्टि से नगण्य नहीं है।

स्वामीजी का कांग्रेस से संबध बहुत पहले हो चुका था। वे गाँधीजी के दक्षिण अफ्रीका में किए गए आंदोलन से भी परिचित थे। श्री गोखले की अपील पर गुरुकुल के विद्यार्थियों ने घी-दूध छोडकर और मजदूरी करके उन दिनों पंद्रह सौ रुपए गाँधीजी के लिए भेजे थे। पर वे क्रियात्मक राजनीति में गाँधीजी के सत्याग्रह शुरू करने पर ही कूदे।

रोलेट एक्ट के विरोध में 30 मार्च, 1919 को गाँधीजी ने पूर्ण हडताल करने का आह्वान किया। दिल्ली में उस दिन सचमुच पूर्ण हडताल रही लेकिन रेलवे स्टेशन के एक ठेकेदार ने दुकान बंद करने से इंकार कर दिया। इस पर भीड और पुलिस में कुछ कहा-सुनी हो गई। उसके बाद पुलिस ने दो स्वयंसेवकों को गिरफ्तार कर लिया। भीड में उत्तेजना फैल गई। गोली चलने और लोगों के मरने तथा घायल होने के समाचार आने लगे। स्वामीजी फिर भी सबको शांत रहने को कहते रहे। बीस-पच्चीस हजार की भीड बडे संयत भाव से सभा करने के बाद लौट चली। वे चाँदनी चौक में घंटाघर के पास पहुँचे ही थे कि अचानक कहीं गोली चल गई। लोग विक्षुब्ध हो उठे। उसके बाद वहाँ जो कुछ हुआ उसका वर्णन प्रो इंद्र के शब्दों में जो स्वयं वहाँ मौजूद थे, करना उचित होगा, "लोग नारे लगाने में व्यस्त थे और तेजी से आगे बढते जा रहे थे। सिपाही भीड को अपनी ओर आता देखकर घबरा गए और तीन-चार कदम पीछे हटकर अपनी बंदूकों को ऐसे ढग से सँभालने लगे जैसे गोली छोडने के समय सँभालते हैं इतने में एक बंदूक चल गई। सरकार का बयान था कि गोली भूल से चल गई पर लोग विक्षुब्ध हो गए। स्वामीजी ने लोगों को वहीं ठहरने का आदेश दिया और स्वय आगे बढ़कर सिपाहियों के ठीक सामने जाकर खडे हो गए; पूछा, "तुमने गोली क्यों चलाई ?"

इस प्रश्न पर कोई उत्तर न देकर कई सिपाहियों ने अपनी बंदूकों की संगीन स्वामीजी की ओर बढ़ाते हुए कहा, "हट जाओ, नहीं तो हम छेद देंगे।"

स्वामीजी एक कदम और बढ़ गए। अब संगीन की नोक स्वामीजी की छाती को छू रही थी। स्वामीजी ने बड़े ऊँचे स्वर में कहा, "मार दो।"

यह दृश्य शायद मिनट भर रहा होगा। इतने में एक अंग्रेज अफसर घोड़ा भगाते हुए वहाँ आया। उसके आने पर सिपाहियों ने बंदूकें नीची कर लीं। स्वामीजी ने अफसर से पूछा, "गोली क्यों चलाई गई ?"

अफसर ने बहुत अस्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया, "गोली भूल से चल गई थी।"

यह कहकर उसने सिपाहियों को पीछे हटकर भीड के लिए रास्ता छोड़ने का हुक्म दे दिया। सिपाही पीछे हट गए और जनता ने अपना कोलाहलपूर्ण प्रयास जारी रखा..

इस घटना के दूरगामी परिणाम हुए। उस दिन हिंदू और मुसलमान दोनों का रक्त बहा था। 'हम' शब्द में 'ह' से हिंदू और 'म' से मुसलमान कहने का रिवाज उसी समय से चला है। शहीदों के अंतिम सस्कार के समय जो दृश्य दिल्ली में देखने को आए वे अद्‌भुत थे। चार अप्रैल को दोपहर की नमाज के बाद जामा मस्जिद में मुसलमानों का एक विशाल जलसा हो रहा था तभी मौलाना अब्दुल्ला चूडीवाले ने आवाज दी, "स्वामी श्रद्धानंदजी की तकरीर भी होनी चाहिए।"

तुरंत कुछ नौजवान नया बाजार जाकर स्वामीजी को लिवा लाए और स्वामी श्रद्धानंद ने 'अल्ला हो अकबर' के नारों के बीच वेदमंत्रों का पाठ करते हुए भाषण दिया। हम नहीं जानते उससे पहले कभी ऐसा हुआ हो। यही नहीं, 6 अप्रैल को फतेहपुरी मस्जिद में भी उनका भाषण हुआ।

और जलियाँबाग के हत्याकाड के बाद जब कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हुआ, स्वागताध्यक्ष के रूप में उसका सारा भार उन्होंने ही उठाया। यहाँ भी वह नवजागरण का सदेश लेकर आए। पहली बार उन्होंने ही कांग्रेस के मंच से ठेठ मुहावरेदार हिंदी में भाषण दिया। पहली बार कांग्रेस का ध्यान अस्पृश्यता निवारण और दलितोद्धार की ओर खींचा। एक ओर गाँधीजी की अहिंसा का पूर्ण समर्थन करते हुए कहा, "ओडायर और डायर जानसन और ओबरायन ये सब हमारे ही तो भाई हैं। एक ही पिता की तो सतान हैं। उनके अदर क्रोध और असाधुता के जो भाव हैं वे ही हमारे शत्रु हैं।" दूसरी ओर उन्होने यह चेतावनी भी दी, "यदि जाति को स्वतंत्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सतान के सदाचार की बुनियाद रखो। जब सदाचारी ब्रह्मचारी शिक्षक हों और शिक्षा-पद्धति राष्ट्रीय हो तभी जाति की आवश्यकताओं को पूरा

1 अमर शहीद स्वामी श्रद्धानद मेरे पिता—इद्र विद्यावाचस्पति, पृ 153

करनेवाले नौजवान मिलेंगे। नहीं तो इसी तरह आपकी संतान विदेशी विचारो और विदेशी सभ्यता की गुलाम बनी रहेगी. ।"

उनके कार्य और प्रभाव की चर्चा करते हुए श्री नटराजन ने अपने पत्र 'इडियन सोशल रिफार्मर' में लिखा था, "भारत की पवित्रता के स्रोत एवं काषाय वस्त्रों के वेश मे वह विशाल तेजस्वी तथा प्रभावशाली मूर्ति जिसके चेहरे पर शक्ति और तेज चमक रहा था, साधारण से साधारण दर्शक की भी स्वयं सेवा करते हुए और महान सगठन के छोटे-छोटे कार्य का भी स्वयं निरीक्षण करते हुए यहाँ-वहाँ सभी जगह व्याप्त दीख पडती थी।"

वे सिक्खों के गुरु के वाग के सत्याग्रह में भाग लेकर जेल भी गए लेकिन जब चौरा-चौरी काड के बाद गाँधीजी ने अपना असहयोग आदोलन स्थगित कर दिया तब उनका मन टूट गया लेकिन मतभेद का कारण केवल इतना ही नहीं था। गाँधीजी ने आर्यसमाज और स्वामी दयानद के सबध मे कुछ ऐसी बाते कहीं थीं जिनके कारण आर्यसमाजी उत्तेजित हो उठे थे। स्वामीजी के मन को भी ठेस लगी और गाँधीजी से उनका मतभेद हो गया। गाँधीजी ने इस मतभेद की चर्चा करते हुए लिखा था, "उस मतभेद से मुझ पर उनका बाल-सुलभ स्वभाव प्रकट हुआ। परिणाम का विचार किए बिना उन्हे जैसा मालूम था उन्होने सच्ची बात कह दी। वे अति साहसी थे। समय बीतने के साथ-साथ हम दोनों के स्वभाव का जो अतर था उसे मैं देखता गया किंतु उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई।"

काग्रेस की सांप्रदायिक नीति से वह असहमत थे परतु किसी साप्रदायिक सस्था की ओर से चुनाव लडकर काग्रेस का विरोध करने की नीति का भी समर्थन उन्होने नहीं किया। एक समय आया जब गाँधीजी ने अस्पृश्यता मिटाने के लिए प्राणों की बाजी लगा दी परंतु जब स्वामीजी श्रद्धानद ने अस्पृश्यता मिटाने के लिए प्रस्ताव पेश किया था तब काग्रेस के नेताओं ने उनका उपहास उडाया था। दुखी होकर उन्होने अलग से दलितोद्धार सभा की स्थापना की और अपना काम शुरू कर दिया। गाँधीजी के ही शब्दो मे "वह इसमे आधा-आधा सुधार नहीं चाहते थे। अगर उनकी चलती तो बात की बात मे हिंदू धर्म से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करते। हरेक मदिर को, हरेक कुएँ को बराबरी के हक के साथ अछूतो के लिए खोल देते और इसका फल भुगत लेते।"

फल भुगत लेने की तैयारी के कारण ही उनका मुसलमान मित्रो से मतभेद शुरू हो गया। शुद्धि आंदोलन के समय तो विवाद और वितंडा का कोई अत ही नहीं रहा। सत्याग्रह आदोलन के एकाएक स्थगित हो जाने के कारण देश का जन-मानस क्षुब्ध हो उठा और फिर निराशा से भर गया। और उसका अत हुआ हिंदू-मुस्लिम झगडों मे। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के लिए केवल किसी एक घटना या किसी एक व्यक्ति को दोषी ठहराना इतिहास के साथ अन्याय करना होगा।

मुस्लिम और ईसाई मित्र विश्वास करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को उनके धर्म में दीक्षित किया जा सकता है। वे ऐसा करते भी थे। क्यों कर पाते थे इसके बारे में बहुत-से लोग बहुत-सी बातें कहते हैं उसका विश्लेषण करना न तो यहाँ संभव है, न वांछित ही। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि एक वर्ग की दृष्टि में उसी की प्रतिक्रियास्वरूप स्वामी दयानंद ने घोषणा की कि प्रत्येक व्यक्ति आर्य हो सकता है। स्वामी श्रद्धानंद इसी मान्यता को कार्यान्वित कर रहे थे। जब मौलाना मुहम्मद अली ने कांग्रेस के मंच से अछूतो को बाँटने का प्रस्ताव रखा तो इस मान्यता के प्रति उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया। और अंतत इसी मान्यता की वेदी पर उन्हें अपने प्राणों का विसर्जन करना पडा। गाँधीजी ने इस विसर्जन को 'महिमामय मृत्यु' कहकर सम्मानित किया। और एक समय के उनके प्रबल प्रतिद्वद्वी लाला लाजपतराय कह उठे थे, "आज स्वामी श्रद्धानद ने मुझे पराजित कर दिया।"

इस बलिदान के बहुत से लोगों ने बहुत से अर्थ लगाए हैं पर प्रश्न यहाँ यह उठता है कि क्या स्वामी श्रद्धानदजी मुस्लिम-विरोधी थे। क्या यह मात्र एक संयोग ही है कि जिस मजहब के पैरोकार ने उनके प्राण लिए उसी मजहब के एक दूसरे पैरोकार ने उन्हें मृत्यु के मुँह से निकाला था और गोली लगने पर सबसे पहले उसी को प्राण-रक्षा के लिए बुलाया गया था। और क्या यह भी सयोग ही है कि जब उनका बलिदान हुआ तब भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का अधिवेशन गोहाटी में हो रहा था। उसकी सफलता की कामना करते हुए उन्होने अपनी रोग-शैया से जो संदेश भेजा था वह इस प्रकार था, "भारत की स्वतत्रता हिंदू-मुस्लिम एकता, भाईचारे पर निर्भर करती है।" उनकी शहादत का समाचार पाकर स्वयं महात्मा गाँधी ने यह शोक-प्रस्ताव रखा था :

"अखिल भारतीय कांग्रेस का यह अधिवेशन स्वामी श्रद्धानदजी की कायरता और कष्टपूर्ण हत्या पर क्षोभ प्रकट करता है। भारत माता के देशभक्त और वीर सपूत की दुखद मृत्यु से ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति होना सभव नहीं है।

"उनका जीवन और जीवन की विशिष्टताएँ अपने देश और धर्म की सेवा पर अर्पित रहीं। उन्होंने निर्भीकता और दृढ़ता के साथ सदैव असहायो, पतितों और दीन-दुखियो को सहारा दिया।" (1926)

वह प्रतिवर्ष ईद के अवसर पर जो संदेश देते थे वे इस संबध मे उनके सोच और चिंतन के प्रतीक हैं। सन् 1925 में उन्होंने अपने संदेश में हिंदुओ से कहा था, "परमात्मा तो सारे ससार का पिता है, यदि तुम्हे इस बात पर विश्वास है तो प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए और मनुष्य मात्र को भाई समझना चाहिए। क्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज से तीन दिन तक अमल से दोगे। आज मुसलमान स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, युवा, नए कपडे पहनकर अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे हैं। क्या वह श्रद्धा उनके अंदर

घर कर गई है। यदि ऐसा होगा तो वे अपने त्यौहारो पर हिंदुओ का दिल दुखाने की कोई बात नहीं करेंगे।"

हिंदू-मुस्लिम एकता के पुराने दिनों की याद करते हुए उन्होंने एक बार कहा था, "परस्पर मनोमालिन्य की इतनी दुर्घटनाएँ घट जाने के बाद भी वह अद्भुत दृश्य मेरी आँखों के सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है और मैं इसी आशा पर जिंदा हूँ कि आपस के संदेह की सब घटनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाएँगी। धर्म और सत्य का सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ फिर उदय होगा और फिर वैसे स्वर्णिम दृश्य देखने में आएँगे।"

हिदू सगठन का मतलब उनके लिए मुस्लिम-विरोध नहीं था, बल्कि हिंदुओं के अपने अतर के कलुष को धोना था। उन्होने स्पष्ट शब्दो में कहा था, "हिंदुओं की तुलनात्मक दृष्टि से अवनति का मुख्य कारण बाल-विवाह और बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह न होना है। हिंदु-मुसलमानो के बीच दगों और द्वेष का कारण हिंदू बाल-विधवाओ की समस्या है इस संघर्ष से बचने का सर्वोत्तम मार्ग यह है कि हम अपनी स्त्रियो और बच्चो की रक्षा और देखभाल का प्रबध स्वय करे।

"और यह भी कि यदि हिदू जाति को नाश से बचाना है तो वर्तमान जाति-भेद की प्रथा जिसने हिंदुओं को हजारो जाति-उपजातियों मे बाँट रखा है, अंत कर देना चाहिए।"

स्वामीजी से कुछ बातो को लेकर मतभेद हो सकता है पर उनका सबसे बडा शत्रु भी उन पर यह दोष नहीं लगा सकता कि वे छद्म ओढते थे। आर्यसमाज की वेदी पर से अपने पहले भाषण में उन्होने कहा था, "हम सबके कर्तव्य और मतव्य एक होने चाहिए" जीवन के अतिम क्षण तक अपने इसी आदेश का वह स्वयं पालन करते रहे। वे तो बच्चे की तरह सरल प्राण थे। घृणा और द्वेष उन्हें छू तक न गए थे। सघर्ष केवल कुछ मूल्यो को लेकर था। उनका मूल्याकन उनको उनके काल से जोडकर ही किया जा सकता है। श्रद्धा, गहरी धार्मिक भावना और त्यागमय जीवन से ओत-प्रोत, स्पष्टवादी और अति साहसी, जिस काम को हाथ मे लेते उसी के हो रहते। लिजलिजापन उन्हे जरा भी प्रिय नहीं था। अपने दोष निःसंकोच भाव से खोलकर रख देते थे। दूसरे के दोषों से परेशान हो उठते थे। अत्याचार का विरोध करना उनका सहज स्वभाव था। बहुत जल्दी वे अगली पंक्ति में इसलिए आ जाते थे कि उनका अंतर्मन बाहरी से तनिक भी भिन्न नहीं था। अपने विश्वास को जीना जानते थे और दूसरे के विश्वास की रक्षा करते थे।

सन् 1926 के चुनाव में वे लाला लाजपतराय की नेशनलिस्ट पार्टी का समर्थन कर रहे थे। उनके पुत्र प्रो इंद्र कांग्रेस के समर्थक थे। जब लालाजी ने इंद्रजी का हठ तोडने के लिए उन्हें स्वामीजी के सामने पेश किया तो उन्होंने यही कहा, "मैंने इसे विचार और कर्म की पूरी स्वतंत्रता दे रखी है।"

उनके ये ही गुण उनकी महानता की कसौटी थे। कभी-कभी उनकी दृढ़ता, उनकी उदारता को ढक भी लेती थी और कूटनीति से अनभिज्ञ उनका सहज विश्वासी मन गलतफहमी पैदा करने का कारण हो जाता था। जब उन्होंने आर्यसमाज मे आने का निश्चय कर लिया था तब उन्होने अपने स्नेही पिता तक की चिता नहीं की थी। आर्यसमाज के सिद्धातो मे उन्हें इतना विश्वास था कि युवावस्था मे पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया और समय आने पर अपनी संतान का विवाह, जाति-पॅाति के बंधनो को तोडकर किया। अपने ही गुरुकुल में उन्हे बार-बार अपने सहयोगियों से सघर्ष करना पडा। हर तूफान को उन्होने हॅंसते-हॅंसते अपनी वज्र जैसी छाती पर सहा लेकिन टस से मस नहीं हुए।

अपनी अस्मिता की पहचान में भटक रहे इस युग में उनका मूल्याकन इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि हम मानसिक दासता से मुक्ति पाकर जिस मार्ग को सही समझते हैं उसी को सबके प्रति द्वेषरहित होकर और पूर्वाग्रह से मुक्त कर सहज भाव से ग्रहण करे और फिर अधूरापन हमारे मार्ग की बाधा न बने।

यही होगा हमारा उनके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता का ज्ञापन।

अत मे एक बार फिर मैं कुलपति श्री रामचद्र शर्मा और हिंदी विभाग के अध्यक्ष प्रो विष्णुदत्त राकेश के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूॅ कि उन्होने मुझे इतने दिन तक एक महान पावन चरित्र के साथ रहने का सुअवसर दिया। ऐसे पावन चरित्रो की पावन छाया मे ही तो हमे प्राणदायिनी वायु प्राप्त होती है।

उनकी पावन स्मृति को मेरे शत-शत प्रणाम।

उजाले अपनी यादो के हमारे साथ रहने दो,
न जाने जिंदगी की किस गली मे शाम हो जाए।

[सन् 1987]

भारतीय मनीषा के प्रतीक : पंडित इंद्र विद्यावाचस्पति

डॉ. विजयेंद्र स्नातक

स्वर्गीय पंडित इद्र विद्यावाचस्पति का स्मरण करते समय बीसवीं शताब्दी के भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और शैक्षिक आंदोलनों का चित्र हमारे स्मृति-पटल पर अपनी विविध भूमिकाओ के साथ उपस्थित हो जाता है। राजनीतिक क्षेत्र में लोकमान्य तिलक, गोखले और महात्मा गाँधी द्वारा प्रवर्तित आंदोलनों तथा धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र मे स्वामी श्रद्धानंद द्वारा प्राचीन संस्कृति तथा शिक्षा-पद्धति की पुनःस्थापना के मौलिक प्रयत्न उभरकर सामने आते हैं। पुनर्जागरण की एक अद्भुत लहर उस युग में सर्वत्र लक्षित की जा सकती है।

नवजागरण के इस वातावरण मे पंडित इंद्रजी का जन्म जालंधर शहर में 9 नवंबर सन् 1889 को एक प्रतिष्ठित समृद्ध परिवार में हुआ। इनके पिता महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानंद) एक सुप्रसिद्ध वकील थे। महात्मा मुंशीराम का परिवार वैभवशाली था। मुंशीरामजी ने अपनी वकालत से यश और धन अर्जित किया था। आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी और आर्यसमाज पंजाब में नई शक्ति के रूप में उदित होकर सामाजिक जागरण का केंद्र बन रहा था। बालक इंद्र ने घर और बाहर, बदलते हुए समाज को देखा था। अपने पिता और मामाओं के निकट संपर्क में रहते हुए तत्कालीन परिस्थितियों का जीवंत परिचय प्राप्त किया था। शैशवावस्था से ही उनके मन में नैतिक चेतना का उदय हो गया था। उनके परिवार में उनके बडे भाई हरिश्चंद्र और दो बहनें थीं। बड़े भाई हरिश्चंद्र गुरुकुल से स्नातक होकर विदेश चले गए थे और वहाँ से वापस नहीं आए।

वैदिक शिक्षा-पद्धति के जो स्वप्न महात्मा मुंशीरामजी अपने मन में सँजोए हुए थे उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने पहले गुजराँवाला में दोमंजिली एक कोठी लेकर गुरुकुल की स्थापना की थी। बालक इंद्र का गुरुकुलीय जीवन इसी कोठी में ही प्रारंभ हुआ था। मुंशीरामजी ने गुरुकुल खोल तो दिया किंतु उनका मन गुजराँवाला के शहरी माहौल से संतुष्ट न था अतः उन्होंने तीस हजार रुपए

एकत्र करने का संकल्प किया और सौभाग्य से उन्हें बिजनौर निवासी मुशी अमनसिह ने गगा के किनारे, हरिद्वार के समीप बसा अपनी जमींदारी का 'कांगडी गॉव' भेट कर दिया। यह कागडी गॉव आज विश्वविख्यात शिक्षास्थली के रूप मे प्रसिद्ध है। नवीन विश्वविद्यालय तो अब कागडी में नहीं है किंतु उसने अपने जन्मस्थान के नाम को नहीं छोडा है। गुरुकुल के पुराने स्थान का वर्णन करते हुए इद्रजी ने लिखा है–"हमारे रहने का स्थान खैर और वेरी के घने जंगलो से घिरा था। कही-कहीं बिल्व के पेड थे, इन पेडों की बहुतायत के कारण वह जगल वस्तुत 'कटकाकीर्ण' शब्द का अधिकारी था। नीचे कौंटे, ऊपर कॉटे और चारो तरफ भी कॉटे-ही-कॉटे। स्नान के लिए सिर्फ गगा की धारा थी। और क्रीडा क्षेत्र का आनद गगा तट की बालू से लिया जाता था। ऐसी दुनिया मे हम रहते थे।" शहर में जाना सर्वथा निषिद्ध था। कागडी मे पहुँचने के पश्चात् पाँच वर्ष तक ब्रह्मचारियों ने गगा का पुल पार करके कनखल में भी पाँव नहीं रखा था। छात्रावस्था मे ब्रह्मचारी इंद्र कवि और मत्रकार के रूप में उभरने लगा था। विचारक और चितक की मनोभूमि में उतरकर समस्याओं का हल खोजने की प्रवृत्ति उसमे किशोरावस्था में ही लक्षित होने लगी थी। बचपन मे बीमार रहने के कारण शारीरिक दुर्बलता और बीमारियो का चक्र उनके साथ निरतर लगा रहा। तीन बार निमोनिया के प्रबल हमले हुए और उसी आयु में प्लूरिसी का घातक हमला भी उन्हे झेलना पडा। इन भयकर बीमारियों को इद्रजी ने जिस साहस और धैर्य के साथ सहन किया वह उनकी तितिक्षा की कठिन परीक्षा थी। इंद्रजी का एक फेफडा इन बीमारियों ने खराब कर दिया था फिर भी एक फेफडे के साथ इद्रजी ने इकहत्तर वर्ष तक सक्रिय और संघर्षमय जीवन व्यतीत कर राष्ट्र-सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया।

इद्रजी के पिता ने कभी अपने पुत्र को बैरिस्टर बनाने का स्वप्न देखा था किंतु पुत्र के मन में इसके प्रति कोई उत्साह नहीं था। बैरिस्टर बनकर राष्ट्रसेवा का अवसर हाथ से निकल जाएगा। अपने जीवन को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मानव सेवा को प्रथम कर्त्तव्य समझा जाए और तदनुसार आचरण किया जाए तथा आर्यों की जन्मभूमि आर्यावर्त को उसी ऊँचे स्थान पर पहुँचाना, जिस पर और सभ्य देश पहुँचे हुए हैं। यह सब मानसिक, सामाजिक, नैतिक और राष्ट्रीय स्वाधीनता के बिना असंभव है। अत: बैरिस्टर बनना राष्ट्र-सेवा के पुनीत कर्त्तव्य मे बाधक ही बनना है। छात्र जीवन में इंद्रजी का यह विचार हो गया था कि–"दासों का धर्म कभी नहीं फैलता। अत: आर्यसमाज को स्वाधीनता-प्राप्ति में योगदान करना चाहिए।" इंद्रजी के एक मामा प्रख्यात बैरिस्टर थे किंतु इंद्रजी के मन में कभी मामा के समान बैरिस्टर बनकर धनोपार्जन की इच्छा पैदा नहीं हुई। वस्तुतः इंद्रजी का जीवन एक समर्पित जीवन था। छात्र जीवन में ही उन्होंने राष्ट्रभक्ति का यह गीत लिखा था :

हे मातृभूमि तेरे चरणों मे सिर नवाऊँ
मैं भक्ति भेंट अपनी तेरी शरण में लाऊँ।
तेरे ही काम आऊँ, तेरा ही मंत्र गाऊँ,
मन और देह तुझ पर बलिदान मै चढाऊँ।

छात्र जीवन से ही राष्ट्रगौरव और राष्ट्रभक्ति को अपना लक्ष्य बना लेने पर इंद्रजी को किसी एक मत या पंथ में रहना उचित नहीं लगता था। उनकी विचारधारा में उच्चस्तरीय उदारता और विराटता का समावेश हो गया था। राष्ट्रसेवा के धरातल पर उनका दृष्टिकोण व्यापक होने के साथ सबके सुख की कामना से ओत-प्रोत होकर बुद्धिवादी बन गया था। आर्यसमाज और ऋषि दयानद के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी वे भागवत पुराण जैसे ग्रथ की प्रशंसा करते थे। राजनीति को वह राष्ट्र के संदर्भ में उपयोगी मानते थे और आर्यसमाज जैसी संस्था को भी राजनीति में भाग लेने की प्रेरणा देते थे। उनके मन में आर्यसमाज ने, जिसे उसके सस्थापक ने सर्वांगपूर्ण बनाया था, राजनीति का बहिष्कार करके अपने आपको समय से पीछे डाल दिया है। आर्यसमाज संसार का उपकार करना चाहता है तो उसे राजनीति को स्वीकार करना चाहिए।" इस प्रकार के विचार उन्होने आज से लगभग पचास वर्ष पहले व्यक्त किए थे। 'प्रचारक' नामक पत्र मे अपने विचार प्रकट करते हुए इंद्रजी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है–"राजनीतिक सिद्धातों का आर्यसमाज प्रचार करे और दलगत राजनीति में पडे बगैर राजनीति प्रणाली में सशोधन का कार्य करे।" यह प्रश्न आज भी आर्यसमाज के सामने विवादास्पद रूप में उपस्थित हैं और उपयुक्त समाधान के अभाव में दलगत राजनीति में उलझा पडा है।

पडित इंद्रजी ने अपने छात्र जीवन में ही राष्ट्रसेवा को अपना प्रथम कर्त्तव्य मान लिया और राजनीतिक विचारधारा के लिए उन्होंने लोकमान्य तिलक को अपने गुरु रूप में स्वीकार कर लिया था। उस समय भारत के राजनीतिक क्षितिज पर महात्मा गाँधी का उदय नहीं हुआ था। कितु कालांतर में जब महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका से आदोलन की संघर्षमयी भूमिका निभाकर भारत आ गए और उन्होने कांग्रेस में शामिल होकर असहयोग आंदोलन का शंखनाद किया तब इंद्रजी पर भी उसका प्रभाव पडा और इंद्रजी काग्रेस के सक्रिय सदस्य हो गए। 'कांग्रेस के सदस्य हो जाने पर उन्होंने अपने समाचार पत्रो द्वारा ब्रिटिश शासन का विरोध और कांग्रेस का समर्थन प्रारंभ कर दिया। कांग्रेस में वैचारिक मतभेद का वातावरण पैदा होने पर स्वराज्य पार्टी में शामिल होकर पूरे तौर पर कांग्रेस की सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया। काग्रेस का स्पेशल अधिवेशन दिल्ली में मौलाना आजाद की अध्यक्षता में बुलाया गया। पंडित इंद्रजी उसके मंत्री थे। इसके बाद तो आप निरंतर कांग्रेस में एक नेता के रूप में कार्य करते रहे। उनके

राजनीतिक जीवन में कई बार झंझावात के प्रसंग भी आए किंतु वे कभी मंतव्य से डिगे नहीं, चट्टान की तरह अटल बने रहे और एक बार तो अपने पिता स्वामी श्रद्धानद के विरोध में भी उन्हें कार्य करना पड़ा। यह प्रसंग केंद्रीय असेंबली के उम्मीदवारों के समर्थन का था। कांग्रेस पार्टी श्रीप्रकाश का और स्वामी श्रद्धानंद, घनश्यामदास बिडला का पक्ष लेकर कार्य कर रहे थे। इद्रजी ने इस समय कांग्रेसी सदस्य श्रीप्रकाश का साथ दिया। इतना ही नहीं, लाला लाजपतराय और स्वामीजी के अनुरोध को अस्वीकार करते हुए उन्होंने लालाजी से विनम्रतापूर्वक स्पष्ट शब्दो मे कहा—"मैं अपनी आत्मा की आवाज के अनुसार काम करता हूँ अत मैं यही उचित समझता हूँ कि राजनीतिक चुनाव में कांग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है।" इंद्रजी की चारित्रिक दृढता की यह घटना एक ऐसा प्रखर प्रमाण है जो उनके व्यक्तित्व को विद्या और बुद्धि का धनी होने के साथ साहस, धैर्य, निर्भीकता, स्पष्टवादिता आदि गुणो को उजागर करती है।

सन् 1930 से इंद्रजी के जीवन में विराट परिवर्तन आया। इस परिवर्तन को उन्होंने कई बार अपनी डायरी में भिन्न-भिन्न शब्दों में व्यक्त किया। शब्द-भेद होने पर भी भावभेद नहीं है। उन्होंने लिखा है कि "अब तो दिल से यही आवाज उठती है कि वह समय आ गया है जब सर्वतोभावेन देश-सेवा में लग जाऊँ और अपना जीवन सार्वजनिक जीवन को अर्पण कर दूँ। आर्यसमाज तथा अन्य उपयोगी कार्यों में योग दूँगा तो वह भी देश-सेवा को मानकर ही दूँगा। कभी धनी बनने की कामना नहीं करूँगा और प्राप्त धन को विलास का साधन न समझूँगा। सार्वजनिक जीवन में शिथिलता न आए, यह ध्यान रखूँगा। अपने कर्तव्य-पथ पर निःशंक भाव से चलते जाना ही धर्म और नीति की दृष्टि से उत्तम समझूँगा।" डायरी के इन वाक्यों से इंद्रजी की मानसिकता का जो रूप उद्घाटित होता है वह एक शात, संयमी, स्थितप्रज्ञ, विवेकी व्यक्ति का अनुकरणीय रूप है। राजनीति के भँवर जाल में डूबते-उतराते हुए भी अपने सिद्धात और मंतव्य की नौका को अडिग बनाए रखना बिमल विवेक, श्रद्धा और आस्था का ही प्रमाण है। इसी सुदृढ सिद्धांत-भूमि पर इंद्रजी निष्कंप दीपशिखा की भाँति सदैव प्रकाश फैलाते रहे।

पंडित इद्रजी के जीवन में समाचार पत्र और पत्रकारिता का प्रमुख स्थान रहा है। छात्रावास से ही उनका रुझान पत्र-संपादन की ओर रहा था। 'सत्यप्रकाश' और 'असत्य विचारक' नाम के दो हस्तलिखित पत्र अपने ज्येष्ठ भ्राता हरिश्चंद्र के सहयोग से निकालते थे। यह पत्र-प्रकाशन बचपन का विनोद ही था किंतु इसकी प्रेरणा पत्रकारिता-प्रेम से ही उन्हें मिली थी। गुरुकुल में अध्ययन करते समय 'सद्धर्म प्रचारक' के संपादन तथा लेख आदि लिखने का अवसर मिला। स्नातक बनने के बाद गुरुकुल में अध्यापक के रूप में कार्य करते हुए भी उन्होंने कुछ समय तक स्वतंत्र रूप से इस पत्र का संपादन किया। उसके

बाद दिल्ली आने पर 'सत्यवादी' शीर्षक से एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया यह सन् 1923 की बात है। उन दिनों हिंदी साप्ताहिक या दैनिक पत्र के लिए दिल्ली में अनुकूल वातावरण नहीं था। एक हिंदी दैनिक 'वैभव' नाम से रुक-थमकर प्रकाशित होता था। कुछ मित्रों के आग्रह पर उन्होंने 'दैनिक वैभव' का संपादक बनना स्वीकार कर लिया। यह दैनिक पत्र हैंडप्रेस में छपता था और आकार-प्रकार तथा मुद्रण की दृष्टि से पडित इंद्रजी की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं था। अत 'विजय' नामक पत्र का प्रकाशन दिल्ली से प्रारंभ किया। यह दिल्ली और पंजाब का सर्वप्रथम दैनिक पत्र था। इसी का नाम बदलकर दो साल बाद 'अर्जुन' नामक दैनिक समाचार पत्र का प्रारभ सन् 1923 में हुआ। यह दिल्ली का लोकप्रिय दैनिक था। पहले यह सायंकालीन था किंतु बाद में यह प्रात कालीन हो गया था। पडित इंद्रजी बबई से भी हिंदी 'नवराष्ट्र' का सपादन कर चुके थे। इसके बाद 'वीर अर्जुन' और 'जनसत्ता' का भी संपादन किया। इतने अधिक पत्रों के संपादन से जुडे रहने पर भी पडित इंद्र ने अपने स्वाभिमान पर कभी आँच नहीं आने दी। पत्रकारिता के सबंध में उनके नैतिक मानदंड थे जिनका वे दृढतापूर्वक निर्वाह करते थे। उनके मतानुसार स्वतंत्रता-पूर्व पत्रकारिता एक मिशन थी। प्रत्येक पत्रकार अपने आपको देश का सिपाही समझता था। परंतु स्वतत्रता के पश्चात् जिस प्रकार राजनीति एक पेशा बन गई, उसी प्रकार पत्रकारिता भी। इंद्रजी ने हिंदी पत्रकारिता को जो मान-मर्यादा प्रदान की वह पहले कोई संपादक नहीं दे सका था। उन्होने पत्रों के पूँजीपति मालिकों के आदेश कभी नहीं माने और अपनी मर्यादा में रहकर संपादन करते रहे। आधा दर्जन पत्रो का प्रकाशन-सपादन करने पर भी तीस साल की पत्रकारिता में एक पैसा भी नहीं बचाया। सब सरकार ले गई। उनकी दृष्टि में पत्र सार्वजनिक जीवन के साधन मात्र हैं, कमाने की चीज नहीं। उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध में 'वीर अर्जुन' से जब त्यागपत्र दिया तो उनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी किंतु अपने आदर्श और सिद्धांत की रक्षा के लिए अपनी लेखनी को पूँजी के आगे झुकने से इंकार कर दिया और लेखनी को वंदनीय बनाए रखा। पडितजी ने दिल्ली नगर में हिंदी को स्थापित करने में अपनी पत्रकारिता द्वारा जो योगदान किया वह अप्रतिम है। आज दिल्ली में हिंदी के छोटे-बडे दैनिक साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं की संख्या लगभग चार दर्जन है। पंडितजी की प्रतिभा और परिश्रम की ही यह देन है।

पंडित इंद्र विद्यावाचस्पति का एक प्रमुख कार्यक्षेत्र आर्यसमाज भी था। आर्यसमाज और गुरुकुल दोनों में विविध रूपों में कार्य करते हुए पंडितजी ने अपनी योग्यता, प्रतिभा और कार्यकुशलता का जो परिचय दिया वह अविस्मरणीय है। आर्यप्रतिनिधि सभा, सार्वदेशिक सभा, हिंदी आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री, उपमंत्री, प्रधान, उपप्रधान आदि पदों पर पंडितजी ने सन् 1921 से सन् 1950

तक जिस निष्ठा, त्याग, तपस्या तथा कर्मठता के साथ कार्य किया वह आर्यसमाज के इतिहास मे अमिट अक्षरों मे अकित रहेगा। आर्यसमाज के प्रचारोदिष्ट कार्यों से भी पंडितजी का घनिष्ठ सबध रहा। सन् 1925 मे मथुरा मे दयानद जन्म शती महोत्सव, हैदराबाद आर्य सत्याग्रह, गुरुकुल का स्वर्ण जयंती उत्सव, सार्वदेशिक सभा का जयंती उत्सव पडितजी के महत्त्वपूर्ण निर्देशन और सहयोग से संपन्न हुए। गुरुकुल कागडी के निर्माण में पडितजी के योगदान से साधारणजन भी भली भाँति परिचित हैं। गुरुकुल मे आयुर्वेद तथा नवीन चिकित्सा पद्धति का प्रशिक्षण, विज्ञान का उच्चस्तरीय अध्यापन, गुरुकुल को विश्वविद्यालय का समकक्ष स्तर दिलाना आदि कार्यों का श्रेय आपको ही है। आर्यों के सगठन के लिए सार्वदेशिक सभा के अंतर्गत आर्यवीर दल का गठन भी आपके मंत्रित्व काल मे हुआ। 'सत्यार्थप्रकाश' के विरोध मे सिंध प्रांत मे मुस्लिमलीग ने जो चचड आदोलन चलाया था उसका मुँहतोड जवाब आपके द्वारा ही दिया गया था। इस कार्य के समय इद्रजी ही सार्वदेशिक सभा के मत्री थे। इस संघर्ष में विजय का श्रेय आपको ही है।

पडित इद्र विद्यावाचस्पति को आजीवन गुरुकुल कांगडी के उन्नयन, उत्कर्ष और अभ्युदय की चिता बनी रही। उनके जीवन का अधिकाश श्रेष्ठकाल गुरुकुल मे रहकर तथा गुरुकुल की समस्याओ से जूझने मे व्यतीत हुआ। उन्होने अपनी डायरी मे अनेक स्थलो पर गुरुकुल के विषय मे अपने उद्‌गार प्रकट किए हैं। गुरुकुल के विकास की योजनाओ पर उनका सतत ध्यान बना रहा। अपने कार्यकाल में वे भारत के प्रधानमत्री, उत्तरप्रदेश के मुख्यमत्री, भारत के प्रमुख वैज्ञानिक डॉ भटनागर तथा अनेक राजनीतिक क्षेत्र के जाने-माने व्यक्तियों को गुरुकुल मे आमत्रित करते रहे। गुरुकुल और आर्यसमाज के स्वरूप-विकास की उन्हे सदा चिता बनी रहती थी। गुरुकुल को उन्होने तीन छात्रों से प्रारंभ होते देखा था और भारत के सुप्रसिद्ध शिक्षा मदिर के रूप मे विश्वविद्यालय को नवीन आकार ग्रहण करते भी देखा। वे स्वय सभी परिवर्तनो के द्रष्टा रहे। उन्होने छात्रों को सरसों के तेल के दीपक के प्रकाश मे पढते देखा और मिट्टी तेल (केरोसिन आयल) के लैंप के प्रकाश मे चमकती आश्रम की दीवारो को देखा। इस परिवर्तन को पिच्चासी वर्ष पूर्व गुरुकुल मे महान क्रातिकारी परिवर्तन समझा गया था। आज तो उसी गुरुकुल में न तो सरसों के तेल के दीये हैं और न मिट्टी के तेल के लैप। पडितजी स्वय बिजली के मरकरी बल्ब और ट्यूब लाइट के प्रकाश में पढते रहे। भौतिक परिवर्तनो के साथ गुरुकुल के समस्त परिदृश्य में जो आमूल परिवर्तन हुआ, इंद्रजी का उसमें बडा हाथ है। पाठविधि और आश्रम के अनुशासन में भी परिवर्तन आ गया है। मैं उसकी चर्चा इस समय नहीं करना चाहता।

पंडित इंद्रजी गुरुकुल के विद्यालकार उपाधिधारी स्नातक थे। इस परीक्षा के बाद शोध-उपाधि के रूप मे विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की जाती थी। पडित

इंद्रजी ने गुरुकुल के महाविद्यालय विभाग में सात वर्ष वैदिक साहित्य और इतिहास का अध्यापन किया था। उपाध्याय के रूप में कार्य करने पर इन्हें अनुसंधान की विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की गई। गुरुकुल में अध्यापन करते समय इन्होंने ब्रह्मचारियों को 'भारत दुर्दशा' नाटक के अभिनय की शिक्षा दी और गुरुकुल में रंगमंच का प्रवेश कराया। पंडितजी की व्यापक दृष्टि का यह भी एक निदर्शन है।

पंडित इंद्रजी का व्यक्तित्व उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण बहुआयामी था। राजनीति, समाज, धर्म, संस्कृति, पत्रकारिता आदि के साथ भारतीय साहित्य और इतिहास में उनकी गहरी पैठ थी। उन्होंने अपने जीवन में लगभग चार दर्जन छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखीं। उनका लेखन-कर्म उपन्यास, कविता, जीवनी, संस्मरण, निबंध, इतिहास आदि विधाओं में फैला हुआ है। संस्कृत भाषा में भी इन्होंने छंदोबद्ध रचना की है। 'भारत का इतिहास' और 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' संस्कृत भाषा में ही लिखने की योजना बनाई थी। 'भारतेतिह्यम्' उनकी संस्कृत भाषा की श्लोकबद्ध अधूरी कृति है। 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण जर्मन साम्राज्य का उत्थान और पतन', 'क्रांतिमार्ग के पथिक', 'जवाहरलाल नेहरू', 'महर्षि दयानंद', 'मेरे पिता', 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त', 'आर्यसमाज का इतिहास', 'हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति', 'सम्राट् रघु', 'स्वतंत्र भारत की रूपरेखा', 'जीवन संग्राम', 'स्वराज्य और चरित्र निर्माण', 'शाहआलम की आँखें', 'जीवन की झाँकियाँ', 'सरला की भाभी', 'आत्मबलिदान', 'अपराधी कौन', 'जमींदार', 'स्वतंत्र भारत की रूपरेखा', आदि प्रसिद्ध पुस्तकें उनकी कारयित्री प्रतिभा का परिचय देती हैं। इन पुस्तकों में उनका रचना-वैविध्य तो स्पष्ट झलकता ही है, साथ ही शैली एव अभिव्यंजना के सौष्ठव की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पंडितजी का साहित्यिक रचना ससार जितना व्यापक था, उनकी रचनाधर्मिता भी इतनी ही विराट फलक पर फैली हुई थी। जब लेखक की दृष्टि पाठक के ज्ञानवर्धन और मनोरंजन से जुडकर प्रतिभा का उपयोग करती है तब उसकी कृतियों का लक्ष्य पाठक की चित्तवृत्ति का परिष्कार करना भी होता है। पंडितजी के लेखन में इस अंतर्दृष्टि का संधान कठिन नहीं है। पंडितजी की शैली में ऋजुता, मार्दव, प्रांजलता और सौष्ठव के साथ पाठक को आकर्षण के सूत्र में बाँधने की अद्भुत कला लक्षित होती है। 'पंडितजी ने अपनी जेल यात्रा को इसलिए वरदान माना है कि उन्हें लिखने का पर्याप्त समय जेल के एकांतवास में सुलभ हो सका। पंडितजी काव्यमर्मज्ञ, सहृदय कवि थे। संस्कृत में काव्य-रचना का क्रम तो उन्होंने शरीर-त्याग से चार-पाँच दिन पहले तक जारी रखा था। यदि पंडितजी कुछ समय और जीवित रहते तो संस्कृत साहित्य का तथा भारत का इतिहास संस्कृत भाषा में श्लोकबद्ध रूप में छोड जाते।

भारतीय मनीषा के प्रतीक पंडित इंद्रजी आदर्शवादी, संस्कारी, बुद्धिवादी, विचारक और चिंतक राष्ट्रपुरुष थे। जब मैं उन्हें राष्ट्रपुरुष शब्द से व्यवहृत करता हूँ तब उनकी जो प्रतिमा मेरे अंतर्नेत्रों के सामने उभरती है वह राष्ट्र के लिए उत्सर्गमयी भावनाओं से ओत-प्रोत, दिव्याकार की ओजस्वी प्रतिमा होती है। उन्होंने राष्ट्र-सेवा के लिए जिन क्षेत्रों में कार्य किया उनमें निर्लिप्त भाव से, निस्वार्थ भाव से अपने वर्चस्व को सुरक्षित रखकर ही किया था। महात्मा गाँधी और कांग्रेस में आस्था रखते हुए भी जब उन्हें अपने सिद्धांत पर आघात प्रतीत हुआ, उन्होंने महात्मा गाँधी की अहिंसा की परिभाषा को अस्वीकार करते हुए सन् 1941 में कांग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया। उनकी मान्यता थी कि गाँधीजी की अहिंसा की परिभाषा एक अस्वाभाविक परिभाषा है जिसे वास्तव में कांग्रेस जन भी मन से स्वीकार नहीं करते किंतु गाँधीजी को नाराज नहीं करना चाहते। पंडितजी ने कांग्रेस के ध्येय में आए हुए 'शांतिमय उपाय' शब्द का यह अभिप्राय स्वीकार नहीं किया कि आत्मरक्षा में भी हिंसात्मक उपाय का प्रयोग नहीं करना चाहिए। महात्मा गाँधी के प्रभावशाली व्यक्तित्व और नेतृत्व को चुनौती देकर कांग्रेस से त्यागपत्र देने का साहस और कोई व्यक्ति नहीं कर सका। पंडितजी की सिद्धांतप्रियता और निर्भीकता का यह अप्रतिम निदर्शन है।

समाचार-पत्रों के संदर्भ में पंडितजी की दृढ़ता और निडरता के अनेक अवसर आए। पचास हजार रुपए के दावे की धमकी, समाचार-पत्र में हड़ताल कराने की धमकी, विज्ञापन न देने की धमकी, हत्या करने की धमकी आदि अनेक ऐसे प्रसंग हैं जब पंडितजी अपने आदर्श और मंतव्य की रक्षा के लिए चट्टान की तरह दृढ़ बने रहे, न तो किसी धमकी से झुके और न धमकी से भयभीत हुए। इस दृढ़ता के पीछे उनका अविचल ईश्वर-विश्वास ही कारण था। ब्रिटिश सरकार से जूझना तो उनके स्वभाव का अंग हो गया था। समाचार-पत्रों के संपादक और प्रकाशक के नाते उनसे अनेक बार जमानत माँगी गई। जेब खाली होने पर भी उन्होंने अपने ईश्वर-विश्वास के भरोसे जमानत देना स्वीकार किया किंतु एक बार भी माफी नहीं माँगी। एक-दो बार तो ठीक जमानत के दिन कहीं से चैक आ गया और अखबार तथा प्रेस जब्त होने से बच गए। इंद्रजी की मान्यता थी कि यह चैक ईश्वर-कृपा का ही फल है। ऐसा अविचल और अटूट ईश्वर-विश्वास उनकी आदर्शवादिता का सूचक है। 'जनसत्ता' से त्याग-पत्र देते समय भी उन्होंने जिस साहस और निस्पृहता का परिचय दिया था वह पत्रकारिता के इतिहास की अभूतपूर्व घटना है।

जैसा कि मैंने पहले कहा है, पं. इंद्रजी को शरीर-सृष्टि तो अपने पिता के अनुरूप मिली थी किंतु बचपन से ही खाँसी-बुखार ने उन्हें रोगी बना दिया था। तीन बार निमोनिया का प्रकोप हुआ। किशोरावस्था में प्लूरिसी रोग ने उनके फेफड़े को जर्जर कर दिया और आजीवन एक फेफड़े से जीवन-यात्रा पूरी करने

पर बाध्य किया किंतु पंडितजी ने एक क्षण को भी निराश और संत्रस्त होकर दैन्य और कार्पण्य का परिचय नहीं दिया। अपनी पहली पत्नी विद्या के निधन के बाद अपनी संतति के पालन-पोषण के लिए विवाह करना और जीवनसाथी खोजना गृहस्थ धर्म समझा। चद्रवती जैसी पतिपरायण साध्वी पत्नी पाकर जीवन की सूनी राह को सुखी बनाया और अपनी सतति को सब प्रकार योग्य बनाने में पत्नी का सहयोग प्राप्त किया। रोगों से लडना-जूझना तो उनके नित्य-कर्म में शामिल हो गया था किंतु जीवन की संध्या वेला में घर के चिकने फर्श पर आपका पैर फिसल गया, हिप-बोन टूट गई। हिप-बोन को ठीक करने की क्रिया अत्यंत वेदनापूर्ण होती है। टूटी हड्डी में छेद करके गरारी डलवाना अत्यंत कष्टप्रद होता है। इद्रजी ने चेतनावस्था में यह क्रिया पूरी की और मुख से आह तक नहीं निकाली। डॉक्टर विस्मयविमुग्ध होकर पडितजी को देखते रह गए। इस दुर्दिन के समय ही दिल्ली में सस्कृति सम्मेलन हुआ जिसके स्वागताध्यक्ष पडित इद्रजी थे। इंद्रजी स्ट्रेचर पर लेटे हुए सम्मेलन में पहुँचे और स्वागत भाषण दिया। डॉ भगवानदास इस सम्मेलन के सभापति थे और पडितजी की हिम्मत और आत्मबल की भूरि-भूरि प्रशसा कर रहे थे।

पं इंद्रजी का संपूर्ण जीवन आशावाद, ईश्वर-विश्वास, मनस्विता, संकल्प-शक्ति और अडिग आस्था के बल पर झझावातों के वात्या-चक्र में भी निष्कंप दीपशिखा की भाँति दीप्त और आलोकपूर्ण बना रहा। अर्जुन की दो प्रतिज्ञाओं पर पडितजी की सच्ची निष्ठा थी—*'न दैन्य न पलायनम्।'* शुभ सकल्पजनित कार्य के मार्ग की कठिनाइयों से घबराकर उसे बीच में छोड देना उन्होने सीखा ही न था। दीनता और भीरु होकर पलायन वे जानते ही नही थे। *'विघ्नै पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमान' प्रारभ उत्तमजना' न परित्यजति'* मे उनका अटूट विश्वास था। रोग-शैय्या पर भी उनका ध्यान अपने शुभ सकल्प पर लगा रहता था। जब उन्होंने गुरुकुल को विश्वविद्यालय का पूर्ण दर्जा दिलाने का सकल्प किया तो मार्ग के सारे अवरोधो को दूर करने और ध्येय तक पहुँचने मे उन्हें जो करना पडा वह *'मनस्वी कार्यार्थी न गणपति दु ख न च सुखम्'*—का मूर्तिमान रूप था।

पं इद्रजी के आदर्श तीन व्यक्ति थे। पहले व्यक्ति थे महर्षि दयानंद सरस्वती जिनको वह अपना नीतिशास्त्र और आचार मर्यादा का गुरु मानते थे। दूसरे आदर्श व्यक्ति थे उनके पिता स्वामी श्रद्धानद जिनको वे अपने कार्य की प्रेरक शक्ति मानते थे। स्वामीजी के प्रति आदर का भाव उनके मन मे सदैव बना रहा। शैशव में आदर और सम्मान के साथ आतक भी था। उनकी खडाऊँ की आवाज को वह उनकी उपस्थिति मानते थे। अपने पिता की मानस उपस्थिति ने उन्हे कभी विपथगामी नहीं होने दिया। तीसरे आदर्श व्यक्ति थे महात्मा गाँधी जिन्हे वे राजनीति और राष्ट्रोत्सर्ग की दिशा में अपना मार्ग-दर्शक मानते थे। राजनीति में उनका प्रवेश लोकमान्य तिलक के समर्पित जीवन को देखकर हुआ

था किंतु तिलकजी का देहावसान शीघ्र हो जाने के कारण उनका निकट संपर्क नहीं बन सका।

जिन क्षेत्रों में इंद्रजी ने अपनी अभिरुचि से कार्य किया उनमें भारतीय संस्कृति, शिक्षा, स्वराज्य, साहित्य, धर्म और संचार माध्यम (पत्रकारिता) है। इन सभी क्षेत्रो में उनका प्रदेय उच्च स्तर का है। एक विद्या-विवेकसंपन्न राष्ट्र पुरुष ही इतने व्यापक क्षेत्र मे कार्य कर सकता है। मैंने जिन क्षेत्रों का संकेत किया है उन सबमें पडितजी का स्थान वरेण्य रहा है। शिक्षा-क्षेत्र मे तो उनका अधिकांश समय कांगडी गुरुकुल की सेवा में व्यतीत हुआ। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए वे राष्ट्रीय काग्रेस कमेटी मे विभिन्न पदो पर रहकर कार्य करते रहे। काग्रेस के मत्री और अध्यक्ष पद पर भी उन्होंने राष्ट्र-समर्पित भाव से छब्बीस वर्ष तक कार्य किया। साहित्य के क्षेत्र में वे सर्जक के रूप में आजीवन संलग्न रहे और लगभग चार दर्जन पुस्तकें प्रकाशित कर छोड गए हैं। हिंदी-साहित्य सम्मेलन के सभापति पद को भी उन्होने सुशोभित किया था। आर्यसमाज के कार्यों मे उनका ध्यान वैदिक धर्म के प्राचीन आदर्शों की ओर सतत् बना रहा। उन्होंने धार्मिक कट्टरता या पाखड का कभी समर्थन नहीं किया। सनातन धर्म में स्वीकृत आदर्श ग्रथों के प्रति उनका आदर-भाव और उदार दृष्टिकोण बना रहा। सचार-माध्यम में पत्रकारिता उनका प्रिय विषय था। पत्रकारिता को आदर्शोन्मुख बनाए रखने के लिए उन्होंने जो किया वह सर्वविदित है। इन समस्त विषयो का समेकित रूप हम भारतीय मनीषा में प्लावित उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण मे देख सकते हैं।

X X X

मैंने इस सक्षिप्त भाषण में जानबूझकर अपने व्यक्तिगत सस्मरणो की चर्चा नहीं की है। केतु जिन संस्मरणों का संबध सस्थागत है उनका यदि मै उल्लेख कर दूँ तो शा१५८ यह असगत न होगा। पडितजी से मेरा प्रथम परिचय तो सन् 1933 मे हुआ था। वह भी परिचय नहीं, मात्र साक्षात्कार ही था। उस समय मैं गुरुकुल वृदावन में विद्यार्थी था और वहाँ की विद्यापरिषद् का मत्री था। गुरुकुल के उत्सव उन दिनो बडे भव्य समारोहपूर्वक मनाए जाते थे। उत्सव के समय किसी सभा या परिषद् का सभापति होना बडे गौरव और सम्मान का विषय समझा जाता था। विद्यापरिषद् के मत्री होने के नाते मैंने अपनी ओर से पत्र लिखकर पंडितजी को विद्यापरिषद् के अधिवेशन का सभापति होने का निमंत्रण भेज दिया। गुरुकुल के आचार्यजी से भी मैंने न तो कोई अनुमति ली और न उनसे चर्चा ही की। पडितजी इंद्रजी ने एक बालक के निमत्रण को स्वीकार कर सभापति बनना स्वीकार कर लिया। मैं इस स्वीकृति को अपनी महान विजय मानकर प्रसन्नता से चहक उठा और सर्वत्र इस विजय का उद्घोष करता फिरा। गुरुकुल के आचार्य ने बताया कि वे दो वर्ष से लगातार पडित इंद्रजी को गुरुकुल के उत्सव पर निमंत्रित करते रहे हैं किंतु पडितजी की स्वीकृति प्राप्त नहीं कर सके। पंडितजी गुरुकुल पधारे

तो आचार्यजी ने उपालंभ भरे स्वर में उनसे कहा—"पंडितजी, हम दो वर्ष से आपको निमंत्रित करते आ रहे हैं किंतु आपने हमारा निमंत्रण स्वीकार न कर एक ब्रह्मचारी का निमंत्रण स्वीकार कर लिया।" पंडितजी ने मेरी उपस्थिति में जो उत्तर दिया वह उनकी उदारता, सरलता और वत्सलता का द्योतक है। पंडितजी ने कहा : "आचार्यजी, मैं विद्यार्थियो के बीच रहना पसंद करता हूँ, मुझे यदि बालक निमंत्रण देता है तो उसे आशीर्वाद देकर प्रसन्न करना चाहता हूँ। बालक विजयेंद्र का निमंत्रण भक्तिभाव से भरा निमंत्रण था, उसे अस्वीकार करने का साहस मैं बटोर नहीं सका, और वृंदावन पहुँच गया।" पंडितजी की इस अहेतु की कृपा को मैं कभी भूल नहीं सका।

दिल्ली आ जाने पर मैं पंडितजी के निकट सपर्क में आया। मैंने पंडितजी को स्मरण दिलाया कि मैं वही विद्यार्थी हूँ जिसने सोलह वर्ष पहले आपको गुरुकुल वृंदावन के उत्सव पर विद्यापरिषद् का सभापति बनाकर बुलाया था। पंडितजी को वह बात याद थी और उसी के आधार पर मैं पंडितजी का प्रिय शिष्य बन गया था। मैं दिल्ली विश्वविद्यालय मे अध्यापक था किंतु गुरुकुलों की उपाधियो को विश्वविद्यालय में कोई मान्यता नहीं थी। पंडितजी दिल्ली विश्वविद्यालय कोर्ट के सदस्य थे। मैंने पंडितजी का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया कि गुरुकुल कागडी की उपाधि अलकार और गुरुकुल वृंदावन की उपाधि 'शिरोमणि' को भारत के स्वतंत्र हो जाने पर भी कोई मान्यता नहीं है। आप कोर्ट की मीटिंग मे इस प्रश्न को उठा दें तो इन उपाधियों को सहज ही मान्यता प्राप्त हो जाएगी और गुरुकुल के स्नातक एम ए कक्षाओ मे प्रवेश पा सकेंगे। पडितजी ने मुझसे प्रस्ताव तैयार करने को कहा और कोर्ट की बैठक में वह प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव के विरोध में जो भाषण हुए उनकी चर्चा तो अनावश्यक है किंतु उस समय जो उत्तर दिया गया वह प्रत्यक्ष-प्रमाण जैसा जीवत उत्तर था। पंडितजी ने कहा—"अलंकार उपाधिधारी का ज्ञान कैसा होता है इसका ज्वलंत उदाहरण मैं हूँ। मैंने हिंदी, संस्कृत और अग्रेजी तीनों भाषाओं का ज्ञान अलकार परीक्षा उत्तीर्ण करके अर्जित किया है। किसी विद्यालय या पाठशाला में एक दिन भी अध्ययन नहीं किया। गुरुकुल कागडी के आश्रम में बैठकर ही यह ज्ञान प्राप्त किया वही मेरी संपत्ति है। मेरे प्रस्ताव का समर्थन करनेवाले पं विजयेंद्रजी गुरुकुल वृंदावन के शिरोमणि उपाधिधारी हैं। उन्होंने, शास्त्री, बी ए, एम ए आदि उपाधियाँ तो विभिन्न विश्वविद्यालयों से प्राप्त की हैं किंतु विश्वविद्यालय में जाकर किसी गुरु से विद्याध्ययन नहीं किया। जो ज्ञान उनके पास है वह गुरुकुल शिक्षा-पद्धति की देन है। स्वाध्याय से ही उन्होंने सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर गुरुकुल की परीक्षाओं की पठनविधि तथा अध्यापक मडली पर दृष्टि डाली जाए तो किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय से निम्न स्तर की नहीं मिलेगी।"

पंडितजी ने अपने लंबे भाषण में गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली, पाठ विधि और व्यापक दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए कोर्ट की उसी बैठक में गुरुकुल की अलंकार और शिरोमणि परीक्षाओं को दिल्ली विश्वविद्यालय की बी.ए. परीक्षा के समकक्ष स्वीकृति दिला दी। इस स्वीकृति के बाद केंद्रीय सरकारी सेवा में भी इन उपाधियों को बीए के समतुल्य माना जाने लगा। इस स्वीकृति में भी पंडितजी का ही मुख्य योगदान है। गुरुकुल स्नातक अब सीधे एम.ए. परीक्षा में प्रवेश पाते हैं।

गुरुकुल कांगड़ी को विश्वविद्यालय स्तर की मान्यता प्राप्त होने पर यहाँ की पाठविधि में कुछ परिवर्तन करना उचित प्रतीत हुआ। पंडितजी उस समय उप-कुलपति पद पर आसीन थे। उन्होंने एक उप-समिति का गठन किया और पाठ्यक्रम को नया रूप दिया। मुझे उस समय पंडितजी के साथ काम करने का अवसर मिला और मैंने देखा कि साहित्य, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व, वैदिक वाङ्मय आदि विविध क्षेत्रों में पंडितजी की गहरी पैठ थी और पाठ्यक्रम समिति का उनके परामर्शों से अद्‌भुत दिशा-निर्देश प्राप्त होता था। मुझे दो बार गुरुकुल भूमि में एक-एक सप्ताह ठहरकर एमए कक्षा के छात्रों को पढाने का भी सुयोग प्राप्त हुआ था। अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र मे उनकी दृष्टि भारतीय तत्त्व चिंता से सदैव जुडी रहती थी। उनके तत्त्वचिंतन के मूल में भारतीय मनीषा की ही प्रधानता रहती थी। शैशव से युवावस्था तक गुरुकुल आश्रम के अनुशासन मे रहकर उन्होंने जो संस्कार सँजोए थे वे उनके रोम-रोम में व्याप्त थे। उन सस्कारों को पंडितजी कभी भुला नहीं सके। आधुनिक युग के वैज्ञानिक और तकनीकी यांत्रिक आविष्कारों से पडितजी किसी चाकचक्य मे नहीं फँसे वरन् इन आविष्कारों को भारतीय परिवेश में ग्रहण करने का पथ बनाते रहे। पंडितजी जब ससद सदस्य थे उस समय कई विद्वानों ने उन्हे गुरुकुल को आधुनिक विश्वविद्यालय का रूप देने का परामर्श दिया। पडितजी ने सभी परामर्शों को ध्यानपूर्वक सुना किंतु भारतीय मनीषा के भूल से उच्छिन्न होकर किसी पाश्चात्य सरणि की कलम बनना स्वीकार नहीं किया। पंडितजी का संसद सदस्यता का काल, उनकी अस्वस्थता मे अधिक बीता। यदि पंडितजी उस समय पूर्ण स्वस्थ होते तो अपने भाषणों और विचारों से ससद को भारतीय संस्कारों की संसद बनाने में अवश्य अपना योग देते।

सक्षेप मे, पडितजी एक सास्कृतिक राष्ट्र पुरुष थे। बीसवीं शताब्दी में जिन महापुरुषों ने भारत को स्वाधीन बनाने और भारत की अस्मिता को पुनःस्थापित करने में योग दिया उनमे पं इद्रजी की बडे गौरव के साथ गणना होगी। कागडी गुरुकुल विश्वविद्यालय को इस बात का गर्व करना चाहिए कि प इद्रजी इसके प्रथम छात्र, प्रथम स्नातक और प्रथम उपकुलपति थे। उनकी सेवाभावना और सद्‌प्रयासों से गुरुकुल को आधुनिक विश्वविद्यालय का स्तर प्राप्त हुआ। उनकी

जन्मशती के अवसर पर हम उनका श्रद्धावनत भाव से स्मरण करते हैं। हमारी आकांक्षा है कि हम उनके पुनीत जीवनादर्शों से प्रेरणा लेकर भारतीय मनीषा के उज्ज्वल ऋत-सत्य को मानव कल्याण के लिए विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने में संलग्न हों। हमारी कामना है कि गुरुकुल की इस पावन भूमि में पं. इंद्रजी विद्यावाचस्पति की अव्यक्त वाणी और अमूर्त आकृति सदा विद्यमान रहे और हमें भी कल्याण मार्ग का पथिक बनाकर अपने पथ का अनुसरण करने की क्षमता प्रदान करे।

अंत में, मैं गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के कुलपति तथा हिंदी विभाग के अध्यक्ष डॉ विष्णुदत्त राकेश के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मुझे इस पावन भूमि में आने और पं इंद्र विद्यावाचस्पति को उनकी जन्मशती के अवसर पर श्रद्धांजलि अर्पित करने का सौभाग्य प्रदान किया।

[सन् 1990]

महर्षि दयानंद और उनका हिंदी-गद्य

डॉ. अम्बाप्रसाद सुमन

सर्वप्रथम मैं इस विश्वविद्यालय के निष्ठावान् सुयोग्य कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार तथा प्रसार व्याख्यान माला के संयोजक प्रिय भाई डॉ विष्णुदत्त 'राकेश' के प्रति धन्यवादपूर्वक आभार व्यक्त करता हूँ कि उन्होंने मुझे यह गौरव प्रदान किया कि मैं इस सारस्वत सभा मे उपस्थित होकर 'महर्षि दयानंद और उनका हिंदी-गद्य' विषय शीर्षक पर उस भाषा में अपने विचार प्रस्तुत करूँ, जो विश्वभाषा, राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा कही जाने का अधिकार रखती है तथा स्वतंत्र भारत के सविधान के अनुच्छेद 343 के अंतर्गत जिसे भारतीय संघ की 'राजभाषा' घोषित किया गया है और जिसे महर्षि दयानंद सरस्वती ने आर्य-भाषा नाम दिया था। सारे हिंद का प्रतिनिधित्व करने के कारण वही भाषा **हिंदी** नाम से पुकारी गई। वही हिंदी 'ब्राह्मी लिपि' की वंशजा 'देवनागरी लिपि' में लिखी जाती है। संविधान में देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली भाषा को ही **हिंदी** की संज्ञा प्रदान की गई है। **हिंदी** नाम हमारे राष्ट्र की ओर स्पष्टरूपेण इंगन करता है। महर्षि दयानंद सरस्वती की लेखनी से उद्भूत हिंदी गद्य का विश्लेषण करना ही इस व्याख्यान का प्रमुख लक्ष्य है।

'साहित्य' से तात्पर्य है 'भाव या विचार'। हृदयोद्भूत भाव और बुद्ध्युद्भूत विचाररूपी रत्न भाषा की मंजूषा में ही सुरक्षित रह सकते हैं। अत: भाषा का बहुत महत्त्व है। भाषा लिपि के कलेवर में साकार रूप धारण करती है। हिंदी भाषा जिस देवनागरी लिपि में लिखी जाती है उस लिपि का जन्म ईसा की नवीं शताब्दी तक हो गया था। प्राप्त भारतीय शिलापट्टों पर इसके प्रमाण मिलते हैं।

अब मूर्धन्य भाषाशास्त्री यह मानते हैं कि वर्तमान हिंदी उस मूल आर्य भाषा से विकसित है जिसकी कोख से एक परंपरा वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत की विकसित हुई और दूसरी परंपरा में प्रथम प्राकृत, द्वितीय प्राकृत, तृतीय प्राकृत और हिंदी (खड़ी बोली) विकसित हुई।

राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए यह महत्त्व प्रथम विचारणीय है। ऋग्वेद में वाणी का उद्घोष है :

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्। —ऋक् 10.125.3

इस व्याख्यान के विषय का प्रतिपादन महर्षि दयानंद प्रणीत तीन ग्रथों के आधार पर ही मुख्य रूप से किया गया है। उनके नाम हैं :

1. **सत्यार्थप्रकाश** (द्वितीय संस्करण), विरजानंद वैदिक संस्थान गाजियाबाद, स. 2016 वि.।

2. **ऋग्वेद भाष्य भूमिका,** आर्य साहित्य मंडल लिमि अजमेर, स 2016 वि.।

3. **ऋग्वेद भाष्य,** वैदिक यत्रालय अजमेर सं 1971 वि. प्रथम भागात्मकम्, सं. 1973 वि द्वितीय भागात्मकम्।

समुपस्थित मनीषी विद्वानों के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करने में मुझे अधिक प्रसन्नता इसलिए भी है कि मेरी उपस्थानाओ को अधीती विद्वानों की प्रतिक्रियाओं के आलोक में कुछ परिष्कार, परिवर्तन और परिवर्द्धन भी प्राप्त होगा। संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि भवभूति ने अपने नाटक 'उत्तररामचरित' का एक स्थल एक कवि को सुनाया था। उस स्थल के एक श्लोक का चरणांश भवभूति ने लिखा था–*अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरसीत।* इसे सुनकर आठवीं शती के उस कालिदास नामक कवि ने भवभूति को सलाह दी थी कि यदि इस पंक्ति के **एवं** के स्थान पर **एव** कर दिया जाए तो इसमे राम और सीता के प्रेम की अभिव्यक्ति में और अधिक कवित्व का सौंदर्य बढ जाएगा। गुणग्राही भवभूति ने उस संशोधन को सहर्ष स्वीकार किया था। मैं साहित्यसर्जना की यात्रा मे स्वभाव से महाकवि भवभूति का अनुगामी रहा हूँ।

ऋग्वेद (4.58 3) मे एक मंत्र आया है ·

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धोवृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश।।

पतजलि ने इस मत्र का अर्थ करते हुए कहा है कि वह महोदेव **'शब्द वृषभ'** है, जिसके चार सींग, तीन पाँव, दो सिर और सात हाथ हैं। वह तीन स्थानों पर बँधा है।[1] भाषाशास्त्र के व्याकरणिक विश्लेषण का यह प्रथम निदर्शन है।

इस विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय को मै इसलिए भी हार्दिक साधुवाद अर्पित करता हूँ कि उन्होने मुझे विवेचन-विश्लेषण के लिए ऐसा विषय दिया, जिस पर गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में ही सिद्धांततः तथा साहित्य-समाज-कल्याणत चिंतन, मनन और विवेचन किया जाना चाहिए था।

ऐसे सारस्वत समारोह सहज रूप से शिक्षा देवी के चित्र को अद्भुत आभा और सुषमा प्रदान किया करते हैं।

महाकवि शिरोमणि कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' नाटक का दुष्यंत

1 **चार सींग**–नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। **तीन पाद**–वर्तमान काल, भूतकाल और भविष्यत् काल। **दो सिर**–नित्य शब्द और अनित्य शब्द। **सात हाथ**–सात विभक्तियाँ। **बंधन के तीन स्थान**–नाभि, छाती और कठ।

जब अकेली शकुंतला का चित्र बनाकर अपने मित्र माढव्य को दिखाता है, तब दुष्यंत का मन उस चित्र को पूर्ण नहीं मानता। जब तक वह शकुंतला के पूर्ण परिवेश और पर्यावरण को नहीं बना लेता, तब तक दुष्यंत चित्रकला को सौंदर्यशालिनी, संतुष्टिकारिणी एवं आनंददायिनी नहीं मानता। अतः मित्र माढव्य से कहता है :

कार्या सैकतलीन हसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्ण हरिणा गौरी गुरोः पावनाः।
शाखालंबित वल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमाना मृगीम्।।
—अभिज्ञान शाकुं. अंक 6. श्लोक 17

सिद्ध है कि इसी प्रकार के सारस्वत समारोहों के वातावरण से शिक्षारूपी देवी का चित्र सुषमायुक्त, जीवत, प्राणवत और गुणवत बना करता है। ऐसे ही समारोहों से ब्रह्मयज्ञ की अर्चियाँ ऊर्ध्वगामिनी बनती हैं।

भारतीय धर्म और दर्शन की परंपरा में दो धाराएँ प्रमुख रही हैं :

(1) मुनि-परंपरा, (2) ऋषि-परंपरा।

मुनि-परंपरा एकआयामी और ऋषि-परंपरा बहुआयामी थी। मुनि-परंपरा को हम स्थिर या अचल परंपरा भी कह सकते हैं। ऋषि-परपरा जंगम या चल परपरा थी। वह परिव्राजक परंपरा भी कहलाती थी। मुनि सरोवर की भाँति एक स्थान पर ही रहकर प्रायः अपने सदाचरण और चरित्र से मानव-समाज का कल्याण करते थे। मुनि के लिए चरित्र प्रधान था, अध्ययन प्रधान न था। ऋषि के लिए चरित्र और अध्ययन दोनों ही अनिवार्य थे। ऋषि मेघों की भाँति जगह-जगह जाकर समाज पर भद्राणि की वर्षा करते थे। यजुर्वेद के ऋषि ने परमेश्वर से प्रार्थना की थी *'यद्भद्रन्तन्न आसुव'।*

महर्षि दयानंद सरस्वती परिव्राजक थे। वे ऋषि-परंपरा के आकाश में समुज्ज्वल सूर्य थे। वे ऐसे आप्त पुरुष थे जिनके हाथों में वेद और तर्क की तलवारें थीं। गायत्री और सावित्री में उन्होंने गायत्री का वरण किया था। भारत की ऋषि-परंपरा की धरित्री पर जिन दो विभूतियों ने ब्रह्मचर्य के बाद सीधा सन्यास ग्रहण किया, वे हैं आदि शंकराचार्य और महर्षि दयानंद। दोनों ऋषि दक्षिण भारत की विभूतियाँ थे। शंकराचार्य ने केवल संस्कृत भाषा के माध्यम से देश को जगाया, लेकिन महर्षि दयानंद ने संस्कृत तथा हिंदी के माध्यम से देश में जागरण का शंखनाद किया।

भारतीय संस्कृति पर वेदांत दर्शन का प्रभाव प्रमुख रहा है। शंकराचार्य ने अद्वैत दर्शन, माध्वाचार्य ने द्वैत दर्शन, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत दर्शन, विष्णु स्वामी एवं वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत दर्शन और निंबार्काचार्य ने द्वैताद्वैत दर्शन का

प्रचार किया था। अद्वैतवादी दर्शन के विरोध में द्वैतवादी दार्शनिकों का मंडल उठा था और द्वैतवादी दार्शनिकों के विरोध में त्रैतवादी महर्षि दयानंद उठे थे। त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि माननेवाला वाद।

महाभारतकार महर्षि व्यास (महा सात व शांतिपर्व, 267.16) कहते हैं कि इंद्रियों से श्रेष्ठ चित्त, चित्त से श्रेष्ठ मन और मन से श्रेष्ठ बुद्धि है। महर्षि दयानंद सरस्वती बुद्धिवादी थे। उनकी बुद्धि के दोनों हाथों में ज्ञान-विज्ञान के कमल-पुष्प थे। उन्होंने वेद-रचना-काल से संबद्ध पाश्चात्य उपस्थापना का खंडन किया था।

'कामायनी' के रचयिता महाकवि प्रसाद के मतानुसार यह कहा जा सकता है कि विचार की धरित्री पर प्रवाहित होनेवाली एक ही 'चिंताधारा' बुद्धिधारा, मनीषाधारा, मतिधारा, आशाधारा आदि अनेक नामों से भी पुकारी जाती है इसलिए बुद्धिवादी महर्षि दयानंद सरस्वती को हम चिंतावान्, आशावान्, मतिमान् और मनीषावान् भी कह सकते हैं। 'कामायनी' के चिता सर्ग में प्रसादजी कहते हैं—"बुद्धि मनीषा मति आशा चिता तेरे है कितने नाम।" यहाँ प्रसादजी 'चिंता' का प्रयोग 'चितन' अर्थ में कर रहे हैं। संस्कृत साहित्य मे 'चिंता' का प्रयोग 'चिंतन' अर्थ मे भी होता था। चिंतन मे 'मनीषा' अर्थात् 'ज्ञान' की लहर भी उठती है। स्वामी दयानद 'मनीषावान्' थे अर्थात् 'ज्ञानवान्' थे। 'वेद' शब्द का अर्थ भी 'ज्ञान' है। तात्पर्य यह कि महर्षि दयानंद 'वेदवान्' थे अर्थात् वैदिक संहिताओं के गूढ़ ज्ञाता थे।

ऐतरेय उपनिषद् मे मन की 16 भावनाएँ मानी गई हैं। उनमें मति (चितनशीलता) और मनीषा (सतर्क विचारशीलता) भी आती हैं। इसलिए महर्षि दयानंद को मनीषावान् कहना परमोपयुक्त है।

कविता का अंकुर हृदय की भूमि मे और गद्य का अंकुर बुद्धि की भूमि में उगता और बढता है। बुद्धिवादी ऋषि दयानद की वाणी और लेखनी ने हिंदी-गद्य को विस्तार दिया था और उसकी अभिव्यजना-शक्ति को प्रभाविनी बनाया था। भारतीय हिंदू-समाज और हिदी भाषा को महर्षि दयानद ने जो स्वरूप प्रदान किया, उसी से प्रेरणा लेकर भारतेदु हरिश्चद्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी और महात्मा गॉधी ने अपनी कर्मभूमियों को सुधारा, सँवारा और उर्वरा बनाया था। जिस हिंदी भाषा को भारतेंदु ने 'निजभाषा' कहा जिसका परिष्कार-प्रसार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया और जिसे महात्मा गॉधी ने राष्ट्रभाषा कहा, उसके प्रथम समर्थक और प्रचारक महर्षि दयानंद थे। महामना मालवीय की वही हिंदी थी, जो महर्षि दयानंद की थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मालवीयजी से तीन वर्ष छोटे और महात्मा गाँधीजी से पाँच वर्ष बड़े थे। भारतेदु के जीवनकाल में 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना हो चुकी थी।

'सत्यार्थप्रकाश' के पृष्ठों के ऑगन में हम उस हिदी के दर्शन करते हैं जो आर्य संस्कृति की कोख से जन्मी थी और वेद-मंत्रों के भाष्य के अनुकूल थी।

सन् 1824 ई. में स्वामी दयानंद सरस्वती का जन्म काठियावाड़ के टंकारा ग्राम में हुआ था। उस समय वे वास्तव में मूलशकर नामधारी थे। बाल्यावस्था में बालक मूलशंकर गुजराती भाषा ही बोलता था। प्रज्ञाचक्षु दंडी स्वामी विरजानंदजी का शिष्यत्व ग्रहण करने पर मूलशंकर सस्कृत का निष्ठावान् विद्यार्थी बन गया था। गुजराती भाषा-भाषी मूलशंकर की मातृभाषा गुजराती और अर्जित भाषाएँ संस्कृत और हिंदी थीं। अनंतश्री दयानंद ऐसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे जो गुजराती हिंदी के ज्ञाता तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान् प्रसिद्ध हुए।

'सत्यार्थप्रकाश' का प्रथम सस्करण स्वामी दयानदजी ने 51 वर्ष की अवस्था में लिखा था। फिर द्वितीय सस्करण शुद्ध करके स्वामीजी ने 58 वर्ष की अवस्था में प्रकाशित कराया। 'सत्यार्थप्रकाश' के द्वितीय सस्करण से पहले स्वामीजी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और 'ऋग्वेद भाष्य' हिंदी भाषा में लिख चुके थे। स्वामीजी ने कुल 59 वर्ष की आयु पाई थी। सन् 1883 ई में वे निर्वाण को प्राप्त हो गए थे। जब स्वामीजी की अवस्था 49 वर्ष की थी, तब उन्होंने हिंदी में बोलना-लिखना आरभ किया था। उससे पहले तो वे गुजराती और संस्कृत भाषा ही बोलते थे। भाषणो में धारा-प्रवाह सस्कृत बोलनेवाले सन्यासियो मे महर्षि दयानद सरस्वती का नाम शीर्षस्थ है। अत उनकी हिंदी सस्कृतबहुल-शब्द-विन्यास से सयुक्त है। जिसने वेद की **वाणी** और **देवता** को समझ लिया हो, वह **शब्द** और **अर्थ** के महत्त्व को भी जान लेता है। छादोग्य उपनिषद् (प्रपाठक 3, खड 12 1) मे ऋषि कहता है कि वाणी ही गायत्री है, क्योंकि वाणी ही सब प्राणियो को गाती है और रक्षा करती है।

ऋषि दयानद से पहले जनपदीय खडी बोली के दो रूप प्रचलित थे— 1 दिल्ली-आगरा की बोली। 2. दिल्ली-मेरठ की बोली। दिल्ली-आगरा की बोली में ब्रजीपन और दिल्ली-मेरठ की बोली मे उर्दूपन प्रधान था। दयानंद सरस्वती ने दोनों को एक करके उसमे सस्कृत शब्द-बहुलता का पुट दिया था।

स्वामीजी की हिदी-वाक्य-रचना मे एकाकी सस्कृत शब्द ही प्रयुक्त नहीं हैं, अपितु संस्कृत के सामासिक शब्द भी पर्याप्त सख्या में पाए जाते हैं। 'सत्यार्थप्रकाश' (द्वितीय सस्करण) की भूमिका में स्वामीजी लिखते हैं—

"जिस समय मैंने यह ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व **संस्कृत भाषण** करने, **पठन-पाठन** मे संस्कृत ही बोलने और **जन्मभूमि** की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी।"

उपर्युक्त उद्धरण 58वर्षीय स्वामीजी की हिंदी भाषा का नमूना है। उद्धृत उक्त वाक्य में हिंदी के तत्सम शब्दो का प्रयोग अधिक है। अरबी-फारसी का एक भी शब्द उक्त वाक्य मे नहीं है। **संस्कृत भाषण, पठनपाठन** और **जन्मभूमि** जैसे तीन सामासिक शब्द भी हैं। स्वामीजी ने अपनी हिंदी में **जानकारी शब्द** न

लिखकर संस्कृत शब्द **परिज्ञान** लिखा है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ऐसी ही हिंदी के हिमायती थे। अतः स्वामीजी भारतेंदु के सारस्वत आदर्श थे।

'सत्यार्थप्रकाश' (द्वितीय संस्करण) के अवलोकन से विदित होता है कि स्वामीजी अरबी का **बल्कि** न लिखकर संस्कृत का **प्रत्युत** लिखते थे। विशेषण शब्द **दसवाँ** न लिखकर **दशवाँ** लिखते थे। उनकी हिंदी में **वह** सर्वनाम की जगह **सो** सर्वनाम मिलता है। खडी बोली के **वह** सर्वनाम का मूलस्रोत **सो है=सो=सओ=ओस=ओह=वोह=वह**। तुलसीकृत 'मानस' की अवधी भाषा में **ओह** का प्रयोग मिलता है। लक्ष्मण-शक्ति के समय विलाप करते हुए राम कहते हैं :

> *जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू।।*
>
> —तुलसी, रामच., लंका 61

रखता हूँ क्रियापद के स्थान पर स्वामीजी **धरता हूँ** का प्रयोग करते थे। उच्चरित अवस्था के आधार पर 'सत्यार्थप्रकाश' मे भूतकालिक क्रिया **रखा** के स्थान पर **रक्खा** का प्रयोग मिलता है।

सो सर्वनाम और **धरता हूँ** क्रिया का प्रयोग सिद्ध करता है कि स्वामीजी की हिंदी पर कुछ ब्रजभाषा का भी प्रभाव है। इसका कारण हमें उनका मथुरा-निवास ही लगता है, जब वे स्वामी विरजानदजी से विद्या प्राप्त कर रहे थे।

द्वितीय संस्करण वाले 'सत्यार्थप्रकाश' में ऐसे तत्सम शब्द भी प्रयुक्त हैं, जो लिंग में सस्कृत-व्याकरण के अनुसार हैं।

विजय और **पराजय** हिंदी भाषा में स्त्रीलिंग हैं, लेकिन संस्कृत में ये पुंलिंग हैं। 'सत्यार्थप्रकाश' में इनका प्रयोग पुलिंग में ही हुआ है। शुद्ध हिंदी में आज पूर्वकालिक क्रियाएँ **पाकर, देखकर** आदि लिखी जाती हैं। स्वामीजी के 'सत्यार्थप्रकाश' में **पाके, देखके** क्रियाएँ मिलती हैं। स्वामीजी द्वारा लिखित प्राय: **पाके, देखके** रूप ही 'सत्यार्थप्रकाश' मे मिलते हैं। यह भी ब्रजभाषा प्रभाव है।

हिंदी में कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जो दोनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं—**दही** और **सामर्थ्य** ऐसे ही शब्द हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल **सामर्थ्य** को पुंलिंग में प्रयुक्त करते थे और मैं **सामर्थ्य** को स्त्रीलिंग में मानता हूँ। हिंदी के कुछ लेखक **आत्मा** को पुलिंग में और अधिसंख्यक स्त्रीलिंग में लिखते हैं।

स्वामीजी ने शुद्ध करके 'सत्यार्थप्रकाश' को पुन: सन् 1882 ई. में लिखा था। उसमे **विजय** और **पराजय** संज्ञाओं के प्रयोग पुलिंग में देखकर पाठकों को आश्चर्य नहीं करना चाहिए। जिस व्यक्ति की मातृभाषा गुजराती हो और विद्या-प्राप्ति के समय संस्कार संस्कृत भाषा के पड़ गए हों, उसकी लेखनी यदि **विजय** और **पराजय** भाववाचक संज्ञाओं को पुंलिंग में लिख देती है, तो उसे

अनुचित नहीं मानना चाहिए। फिर यह भी देखना चाहिए कि आज सन् 1991 ई. है, तब सन् 1882 ई था। अर्थात् एक सौ वर्ष से भी अधिक का समय बीत गया।[1]

आश्चर्य तो इस बात पर करना चाहिए कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने **तारीख** को पुंलिंग में, पं विद्यानिवास मिश्र ने **गोल** को स्त्रीलिंग में, पं. किशोरीदास वाजपेयी ने **सरसों** को पुंलिंग में और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने **थप्पड़** को स्त्रीलिंग में लिखा है।

उपस्थित श्रोताओं को यह जानकर परम आश्चर्य होगा कि हिंदी के परिष्कारक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् 1938 ई में अपनी रुग्णावस्था का हाल एक पत्र में पं किशोरीदास वाजपेयी को लिखा था। उस पत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने **दलिया** शब्द को स्त्रीलिंग में लिखा, 'दलिया' शब्द हिंदी में पुंलिंग है। आचार्य द्विवेदी ने लिखा था ·

जरा-सी दलिया और शाक खा लेता था।

यदि स्वामी दयानंद ने **विजय** और **पराजय** को हिंदी में पुंलिंग लिख भी दिया, तो कोई आश्चर्य नहीं। वे संस्कृत के पंडित थे और उनकी मातृभाषा गुजराती थी।

कठोपनिषद् (अ. 1. व 2/7) में एक शब्द **कुशलानुशिष्ट** आया है, जिसका अर्थ है 'ज्ञानी गुरु द्वारा सुशिक्षित'। महर्षि दयानंद वेद, दर्शन और व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान सन्यासी स्वामी विरजानंदजी के सुशिक्षित शिष्य थे। अत महर्षि दयानंद सरस्वती विख्यात 'कुशलानुशिष्ट' थे। महर्षि दयानद को अपने पूर्व संस्कारों के फलस्वरूप तथा गुरुजी के आशीर्वाद से अष्टांगमयी[2] बुद्धिवाली मेधा प्राप्त थी। वह मेधा जिसके लिए देवगण और पितर परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

शास्त्रार्थ मार्तंड महर्षि दयानंद ने भारतवर्ष के आकाशमंडल की दसों दिशाएँ तो वेदध्वनि से गुंजायमान की ही थीं, साथ में अपनी शास्त्रार्थमयी वाणी और लेखनी से हिंदी गद्य की अभिव्यजना शक्ति को भी बलवती बनाया था। खड़ी बोली हिंदी गद्य को जो तर्क-वितर्कमयी शक्ति इंशा, लल्लूलालजी, सदासुखलाल और सदलमिश्र न दे सके, वह शक्ति हिंदीगद्य को वैदिक संस्कृति के उद्गाता महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती ने प्रदान की थी।

---

1 *"चाँद भी तेरे सामने चकोर भी तेरे सामने,*
इन्तखाब–ए–हुस्न देख कोशिश–ए–रायगाँ न देख।"

–अदीब सहारनपुरी

2. बुद्धि के आठ अग (1) शुश्रूषा, (2) श्रवण, (3) ग्रहण, (4) धारणा, (5) ऊहा, (6) अपोह, (7) अर्थज्ञान, (8) तत्त्वबोध।

हिंदी का वह दिन परम सौभाग्य का दिन था, जिस दिन कलकत्ता के एक कॉलेज में स्वामी दयानदजी के सस्कृत-भाषण को महेशचंद्र न्यायरत्न ने बंगला भाषा में साथ-साथ अनूदित किया था। महेशचद्र न्यायरत्न उस भाषण का ठीक अनुवाद बँगला में प्रस्तुत न कर सके थे। स्वामीजी के उस भाषण को बंगाली नेता श्री केशवचद्र सेन ने भी सुना था और स्वामी दयानदजी से विनम्र निवेदन किया था कि 'स्वामीजी! यदि आप अपने भाषण सस्कृत के बजाय हिंदी में किया करें, तो इस देश का परम कल्याण होगा।" स्वामीजी ने केशवचंद्र सेन का परामर्श मान लिया था। यह बात सन् 1873 ई की है। तब स्वामीजी की अवस्था 49 वर्ष की थी। उसके बाद स्वामीजी हिदी का अलख जगाते रहे थे।

आज जो खडी बोली हिंदी-गद्य का स्वरूप है, उसके प्रमुख प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चद्र थे। भारतेदु हरिश्चद्र ने अपने निबंधो में जिस हिंदी-गद्य को प्रस्तुत किया है, उसकी प्रेरणा उन्हे स्वामी दयानद के 'सत्यार्थप्रकाश' से मिली थी। जिस समय 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ था, उस समय भारतेंदु हरिश्चद्र की अवस्था 25 वर्ष की थी। और महावीरप्रसाद द्विवेदी तब 11 वर्ष के थे। हमारा विश्वास है कि समाज-सुधारक हिदी साहित्यकार भारतेदु हरिश्चंद्र ने 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम सस्करण को और महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने द्वितीय सस्करण को अवश्य पढा होगा। द्वितीय सस्करणवाले 'सत्यार्थप्रकाश' के समय भारतेदु हरिश्चद्र 32 वर्ष के और महावीरप्रसाद द्विवेदी 18 वर्ष के हो गए थे। हिदी साहित्य का भारतेदु युग और महावीरप्रसाद द्विवेदी-युग हिंदू-समाज की विकृत रूढियो के उन्मूलन का युग रहा है, और उन युगों पर महर्षि दयानंद के समाज-सुधार-आदोलन का प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है। दोनो युगों के साहित्यकारो ने सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना महर्षि दयानद प्रवर्तित आर्यसमाज के आंदोलनो से ही प्राप्त की थी। भारत की भूमि पर हिदी का जो वृक्ष हमे द्विवेदी-युग में दिखाई पडता है, उसको अकुर रूप मे भारतीय जनता महर्षि दयानद के समय में देख चुकी थी। अछूतोद्धार, बाल-विवाह-अवरोध, विधवा-विवाह, जाति-पॉति—भेद-उन्मूलन और राष्ट्रभाषा-प्रेम को लक्ष्य मानकर स्वामीजी चले थे और उसी लक्ष्य के लिए भारतवर्ष में भ्रमण करके अलख जगाया था। भारतेदु-युग और द्विवेदी-युग के हिंदी गद्य में हमें उन्हीं विषय-वस्तुओं का प्रतिपादन मिलता है, जिनके लिए ऋषि दयानद ने झंडा उठाया था।

किसी देश की जनता का जब विचारमूलक बुद्धिबल जागता है, तब उसके साहित्य की गद्यात्मक अभिव्यजना में शक्ति आती है। साहित्यकार तब तर्क-वितर्क के साथ अपनी वाङ्मयी अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसी स्थिति में भाषा के गद्य में 'साधारण' वाक्य कम और 'मिश्र' एवं 'संयुक्त' वाक्य अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। महर्षि दयानंद के हिंदी गद्य में भी हमें 'मिश्र' और 'सयुक्त' वाक्य ही अधिक मिलते हैं। 'साधारण' वाक्य बहुत कम। शास्त्रार्थ के समय बुद्धिरूपी पर्वत से

प्रवाहित होनेवाली वाणी रूपी सरिता बहुत वेगवती बनकर, अग्रसर होती है। इसलिए वाक्य प्राय 'मिश्र' या 'संयुक्त' ही बनते हैं।

मिश्रवाक्य

द्वितीय संस्करणवाले 'सत्यार्थप्रकाश' के अष्टम समुल्लास के पृष्ठ 182 पर स्वामीजी का वाक्य है—

"जो प्रथम न हो, अंत में न रहे, वह वर्तमान मे भी नहीं है।"

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में स्वामीजी लिखते हैं

'यह भी जानना आवश्यक है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है।' (पृ 500)

"जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं।" (पृ 504)

संयुक्त वाक्य

"मोक्षमूलर की उक्ति है कि तुम तीन गति वाले घोडो के ऊपर स्थित होकर जल्दी आओ, जहाँ आपके पुजारी कण्पो के मध्य मे है।" (ऋग्वेदभाष्यम्, पृ 859)

"हे भगवन्! इस सब शांति से हमको विद्या, बुद्धि, विज्ञान, आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिए तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढाइए।" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ 10)

"ऐसे सिद्धातो को स्वीकार करता हूँ और जो मत-मतातर के परस्पर झगडे हैं, उनको मैं पसद नहीं करता।" (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ 587)

हृदयोद्भूत भावुकता में वाक्य छोटा और साधारण निकलता है। बुद्धिजन्मा विचार मे वाक्य लबा निकलता है अर्थात् 'मिश्र' या 'संयुक्त' महर्षि दयानंद बुद्धिवादी तार्किक थे। अत· उनकी भाषा-शैली मिश्र-सयुक्त वाक्य-समन्वित थी।

साराश यह कि महर्षि दयानंद का हिंदी-गद्य संस्कृतबहुल शब्दों का एक ऐसा गद्य है, जिसमे अधिकतर मिश्र और संयुक्त वाक्य ही मिलते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि महर्षि दयानंद की मनोभूमि का निर्माण संस्कृत भाषा के स्स्कारों से हुआ था। उन्होंने वैदिक साहित्य और पाणिनि की अष्टाध्यायी का विशेष अध्ययन किया था। उनकी मानसिकता संस्कृत भाषा की ऊर्जा से ऊर्जस्वित थी। उनकी हिंदी का पोषण संस्कृत भाषा की गोद में ही हुआ था। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके सस्कारों से ही बनता है। सस्कार ही भाषा के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। भाषा-शैली व्यक्ति का व्यक्तित्व भी है। ऐतरेय उपनिषद् का ऋषि कहता है कि मन वाणी का पूर्वरूप है। अत. महर्षि दयानद की भाषा के द्वारा हम उनके मन को जान सकते हैं।

महर्षि दयानंद का वह हिंदी-गद्य जो वेदमत्रों के व्याख्यात्मक अनुवाद के रूप में मिलता है, वह 'अर्थ-विज्ञान' की दृष्टि से एक क्रांति ही माना जाएगा। उनके दो ग्रंथ इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—1 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 2. 'ऋग्वेद

भाष्य'। स्वामीजी के ये दोनों ग्रंथ **अग्नि, आदित्य, सविता, इंद्र, वरुण, शिव, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, वात, मरुत** आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा बतलाते हैं अर्थात् उपर्युक्त सभी शब्द **परमात्मा** शब्द के पर्यायवाची हैं। सारांश यह है कि वेद भाष्य के रूप में स्वामीजी का हिंदी-गद्य बहुदेववाद का खंडन और एकेश्वरवाद का मंडन है। इस मंडन के लिए स्वामीजी ने पाणिनि की अष्टाध्यायी की धातुओं के अर्थों का सहारा लिया है।

महर्षि दयानंद के वेदमंत्र भाष्यपरक हिंदी-गद्य में मानव जीवन की झाँकी मिलती है। स्वामीजी का एक हिंदी-गद्य मानव की समानता और आर्य-संस्कृति का पक्षधर है। स्वामीजी ने वेदों के भाष्य द्वारा जिस एकेश्वरवाद का समर्थन किया, उसकी संपुष्टि भागवत ग्रंथ (स्कंध 10. अ 2.28) भी करता है।

महर्षि दयानंद के हिंदी-गद्य के स्वरूप की विवेचना में मेरी जो यह छोटी-सी तथा सामान्य-सी उपस्थापना है, उसे शांतिपूर्वक आपने सुना। इसके लिए मैं आपका बहुत आभारी हूँ और पुनः हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

मेरी उपस्थापना के आलोक में यदि इस विश्वविद्यालय के शोध पंडित महर्षि स्वामी दयानंद की हिंदी भाषा का विस्तृत एवं गहन भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करेंगे, तो मुझे परम प्रसन्नता होगी। *महर्षि दयानंदो विजयतेतराम्।*

जय हिंदी ! जय नागरी ! जय मनीषी महर्षि दयानंद ! जय आर्य-संस्कृति ॥

[सन् 1991]

प्राचीन भारत में नैतिक मूल्यों की अवधारणा

डॉ. शिवशेखर मिश्र

मानव समाज मे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं--एक केंद्रोन्मुखी अथवा अंतःप्रसारी (Centripetal), दूसरी वृत्तोन्मुखी अथवा बाह्यप्रसारी (Centrifugal)। भारतीय संस्कृति अपने मूल में अंतःप्रसारी है। वह संसार मे रहते हुए भी आदर्शोन्मुखी है और बाहर रहकर भी अंतःस्थ है, आत्मस्थ है। प्राचीन महर्षियों द्वारा समाज की उन्नति हेतु प्रतिपादित समस्त योजनाओं का आधार यही प्रवृत्ति है। भारतीय शिक्षा-पद्धति भी इसी मूल प्रवृत्ति पर आश्रित है।

प्राचीन भारत के नैतिक मूल्यों के समुचित आकलन हेतु हिंदुत्व के व्यावहारिक पक्ष पर विचार करना अत्यंतावश्यक है। डॉ राधाकृष्णन् के मत मे हिंदुत्व एक विचारधारा की अपेक्षा जीवन-सरणि के रूप में प्रशस्त है। जहाँ एक ओर विचार के क्षेत्र में हिंदू धर्म में पूर्ण स्वतंत्रता है, वहीं दूसरी ओर मनुष्य व्यावहारिक क्षेत्र के कठोर नियमो से बँधा हुआ है।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है उसकी आध्यात्मिक भावना जिसके लिए नैतिक मूल्यों का अनुसरण आवश्यक है। धर्मग्रथों के अनुसार मनुष्य जीवन के पुरुषार्थ सुष्टय नाम से प्रसिद्ध चार प्रमुख साधन हैं--धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से मोक्ष परम पुरुषार्थ है और जीवन का चरम लक्ष्य है। वह अदृष्ट है। उसे प्राप्त करने का मुख्य साधन धर्म है जो सबके मूल में स्थित है। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण 'यतोऽभ्युदयं निःश्रेयसिद्धिः स धर्मः' बतलाया है अर्थात् जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण या मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है। अतः धर्म दृष्टादृष्ट है। अर्थ और काम पुरुषार्थ का संबंध लौकिक जीवन से है। अतः वे दृष्ट हैं। कौटिल्य ने 'अर्थ एवं प्रधानः' कहकर अर्थ की प्रधानताकार की है। उनका कथन है कि धर्म और काम के मूल अर्थ है--*"अर्थमूलौ हि कामौ।"* अर्थ का लक्षण कौटिल्य के अनुसार इस प्रकार है : *"विद्याभूमिहिरण्यपशुयभांडोपरस्करम् मित्रादीनामर्जनमर्जिस्य विवर्धनमर्थः"* अर्थात् विद्या, भूमि, सुवर्णादि, हाथी, घोड़ा, आदि पशु अन्न, गृहोपयोगी लौह, काष्ठ,

मृत्तिका आदि के विभिन्न पात्र तथा मित्रादि की प्राप्ति तथा उनकी निरंतर वृद्धि करना अर्थ है। अर्थशास्त्र का संबंध केवल धन से संबंधित शास्त्र से नहीं है वरन् आत्मविद्या, वेदत्रयी, धन, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, दण्डनीति अथवा राजनीतिशास्त्र आदि के ज्ञान से है *"आतीमकीमपी—वार्तादिण्डनीतिश्वेति विद्याः"*। इसी प्रकार काम का भी व्यापक अर्थ है। वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार *"श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा-घ्राणानामात्मसंयुक्ते मनसाऽधिष्ठितानां स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः"* अर्थात् आत्म से युक्त मन द्वारा कर्ण, त्वचा, चक्षु जिह्वा, घ्राण—इन पाँच इंद्रियों द्वारा आनद-प्राप्ति की प्रवृत्ति को काम कहा है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है *"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ"* (गीता 7.11) अर्थात् धर्म के अनुकूल काम मैं ही हूँ। इस प्रकार धर्मानुकूल अर्थ और काम का सेवन करता हुआ मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है अथवा दृष्ट से दृष्टादृष्ट द्वारा अदृष्ट की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है।

पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि एक साथ एक ही समय मे संभव नहीं है। अर्थ पुरुषार्थ में पदार्थ की प्रधानता है तथा काम मनोरंजन अथवा आनंद की प्रमुखता है। धर्म में अदृष्ट का अंग भी है, मोक्ष का संबंध पूर्णतया अदृष्ट से है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए प्राचीन महर्षियों ने इनके समुचित पालन हेतु मनुष्य की अपेक्षित सौ वर्ष की आयु को चार भागों मे विभक्त कर दिया जिन्हें आश्रम कहते हैं। इस विभाजन द्वारा प्रत्येक पुरुषार्थ का विधिवत् पालन किया जा सकता है। प्रत्येक आश्रम की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि मनुष्य शनैः-शनैः आत्मज्ञान के चरम लक्ष्य मोक्ष तक सरलता से पहुँच सके। इन आश्रमों का पुरुषार्थ से घनिष्ठ संबंध है।

हिंदू विचारधारा के अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग सग्रह नहीं वरन् त्याग और परोपकार है। उसका संपूर्ण जीवन धर्मप्रधान है। उसका प्रारंभ ब्रह्मचर्याश्रम से होता है। जिसका उद्देश्य शिक्षा तथा अनुशासन द्वारा शरीर एवं मन को शुद्ध तथा स्वस्थ रखना है। यह अवस्था धर्मसंग्रह की है और निवृत्ति-प्रधान है। इसकी अवधि 25 वर्ष की आयु तक है। इसके पश्चात् वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। यद्यपि इसका संबंध अर्थ और काम पुरुषार्थों से होने के कारण प्रवृत्तिप्रधान है किंतु धर्मानुकूल अर्थ और काम का सेवन करता हुआ त्यागमय भोग का जीवन बिताता है अर्थात् गृहस्थ धर्म की अनुज्ञा से भोगों को भोग, पर भोगासक्त न हो। भोग विधेय है किंतु उसके साथ त्याग भी अपेक्षित है। गृहस्थाश्रम की अवधि 50 वर्ष की आयु तक है। जब मनुष्य में वासना का क्षय होने लगे तो वह वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे। वह सहधर्मिणी को संग लेकर वन में रहे। मनुष्य पुनः धर्म की ओर लौटता है और मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। कठिन तप और अनुशासन का पालन करता हुआ मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है। 75 वर्ष की आयु तक इस आश्रम में रहता हुआ वह आश्रम-मंदिर के अंतिम शिखर संन्यास में प्रविष्ट होता

है। यह पूर्ण निवृत्ति का आश्रम है। इसका सबध मोक्ष से है। इस आश्रम मे उसे न मृत्यु का ध्यान रहता है, न जीवन का--

'नाभिनन्देत त्यागम नाभिनन्देत् जीवनम्'। संसार की समस्त वस्तुओं को त्याग करने के कारण ही वह सन्यासिन् कहलाता है।

पुरुषार्थचतुष्टय के समुचित पालन करने के लिए ससार और शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया गया है। संस्कार-दोष और इद्रिय-दोष के कारण अविद्या का उदय होता है-- *'संस्कारदोषादिन्द्रियदोषाच्च अविद्या।'* अविद्या पतित विघातक प्रवृत्तियों से रक्षा करने और विद्या-जनित उत्कृष्ट प्रवृत्तियो को प्रेरित करना ही शिक्षा कहा गया है।

भारतीय शिक्षा की श्रेणियाँ हैं

1 माता के प्रभाव से प्राप्त शिक्षा
2 पिता के प्रभाव से प्राप्त शिक्षा
3 आचार्य के प्रभाव से प्राप्त शिक्षा

जन्म के पूर्व माता के उदर मे रहते हुए ही बालक की शिक्षा का प्रारभ हो जाता है। उस समय केवल शरीर का ही निर्माण नहीं होता वरन् माता के विचारो के अनुकूल प्राण, मन, बुद्धि तथा इद्रियो का विकास होता है। जन्म से पूर्व गर्भाधान, पुंसवन, सीमातोन्नयन आदि सस्कारो के सपादन से द्विजातियो के गर्भ और बीज के दोषों की शुद्धि होती है। जन्म लेने पर बालक का सर्वप्रथम सबध माता से होता है और माता के सान्निध्य मे रहकर बालक पिता के सपर्क मे आकर उसके आचार, विचारादि से प्रभावित होता है। इस प्रकार माता-पिता द्वारा सपादित सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौलकर्म--ये आठ मलापनयन सस्कार कहलाते हैं। ये पिता द्वारा सपादित होने के कारण पितृकर्तृका कहलाते हैं। इनके द्वारा बालक की शुद्धि होती है और उसकी आतरिक वृत्तियो का विकास होता है। इनके अतिरिक्त कर्णवेध, उपनयन, व्रतादेश, वेदस्वाध्याय, केशांत, स्नान, विवाह, अग्निपरिग्रह--ये आठ अतिशयाधान सस्कार कहलाते हैं। आचार्य द्वारा संपादित होने के कारण इन्हें 'आचार्यकर्तृका' भी कहते हैं।

मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण के बालक का पॉचवे वर्ष, क्षत्रिय के बालक का छठे तथा वैश्य के बालक का आठवे वर्ष मे उपनयन सस्कार करना चाहिए। 'उपनयन' का अर्थ है समीप ले जाना। बालक को विद्याध्ययन हेतु गुरु के पास ले जाया जाता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के अनुसार बालक गुरु के समीप जाकर 'उपैम्यहम् भवन्तम्' कहता था। तब गुरु उसके सिर पर दाहिना हाथ रखकर अपने व्यक्तित्व की छाप छोडता था और तब से वह ब्रह्मचारी बन जाता था। गुरु उसे वेदों का अध्ययन कराते थे और अप्रत्यक्ष रूप से आचार, विचार एव सांसारिक व्यवहारो का ज्ञान कराते थे। गुरु के गृह में 25 वर्ष की अवस्था तक

वह अध्ययन करता था, तत्पश्चात् उसका समावर्तन संस्कार होता था। समावर्तन का अर्थ है लौटना। शिष्य अपने घर लौटकर विवाह से संपन्न होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस अवस्था में आने पर उसकी शिक्षा पूर्ण समझी जाती थी। वैसे मनुष्य जीवन के अंतिम स्तर तक शिक्षा प्राप्त करता रहता है। भारतीय शिक्षा में प्रत्येक स्नातक के लिए तीन प्रमुख उद्देश्य हैं–

1 मातृदेवो भव, 2 पितृदेवो भव, 3 आचार्यदेवो भव।

शिक्षा प्राप्त करने पर ब्रह्मचारी मे अहंकार पैदा हो सकता है। इसीलिए उसे गुरु के चरणो में आत्म-समर्पण करके आश्रम में जीवन बिताने तथा भिक्षा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करने के लिए कहा गया है। राजाओ के बालकों के लिए भी यही व्यवस्था थी।

वर्ण-व्यवस्था मे भी त्याग और भोग का सुदर समन्वय प्राप्त होता है। चारो वर्णों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भोग की दृष्टि से ससार का सारा सम्मान ब्राह्मण के चरणो में अर्पित होना चाहिए किंतु त्याग यह है कि वह उसे विष समझकर उसके प्रति उदासीन रहे

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।

पृथ्वी पर शासन का अधिकार क्षत्रिय को प्राप्त था किंतु यह सत्ता उसके भोग के लिए नहीं थी वरन् त्याग का उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित करने के लिए पृथ्वी का स्वामी होते हुए भी जब राष्ट्र पर संकट उपस्थित होता था तब वह आत्मोत्सर्ग के लिए तैयार रहता था। युद्ध-क्षेत्र में वह सबसे आगे प्रस्थान करता था। इसी प्रकार वैश्य के हाथो मे कृषि, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग-धधे आदि सौंपे गए थे, किंतु ऐसा नहीं था कि वह व्यक्तिगत संपत्ति के अर्जन में लग जाए। उसका मुख्य कर्तव्य था राष्ट्र को समृद्ध बनाना। अत में शूद्र का सारा जीवन त्यागमय था। शूद्र अन्य वर्णों की इच्छा के अनुसार उनकी सेवा करते थे। समाज में उन्हें भी उच्च स्थान प्राप्त था। उन्हे कोई हीन दृष्टि से नहीं देखता था। वे अपनी इच्छा से तीनो वर्णों के लोगो से मिल सकते थे। इस प्रकार चारों वर्णों के लोग अपने कर्तव्यो का पालन करते हुए जीवन का शेष भाग पारलौकिक जीवन के चिंतन मे लगाते थे। वे अपना कार्य करते हुए अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते थे।

वर्णाश्रम-व्यवस्था समाज के लिए अत्यत उपयोगी थी। वर्ण-व्यवस्था का संबंध सामाजिक उत्थान से था और आश्रम-व्यवस्था का संबंध व्यक्ति के लौकिक एवं पारलौकिक विकास से था। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में तादात्म्य स्थापित करना इस व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य था। मनुष्यों के सात्विक, राजसिक व तामसिक गुणों पर ही वर्णाश्रम-व्यवस्था खड़ी है। शनैः-शनैः त्याग करने का उपदेश देते हुए व्यक्ति और समाज को उन्नत अवस्था तक पहुँचने का प्रयास इस व्यवस्था द्वारा किया गया है।

शिक्षा के क्षेत्र में आश्रम-व्यवस्था की भाँति वर्ण-व्यवस्था भी सहायक है। वेदो का अध्ययन तीनों वर्णों के लिए आवश्यक था। ब्राह्मण छात्र जो आगे चलकर पुरोहित का कार्य करना चाहते थे, उन्हें ऋचाओ का विस्तृत अध्ययन करवाया था। उन्हें यज्ञादि-सबंधी ऋचाएँ कंठस्थ करनी पडती थीं। अन्य सर्वसाधारण छात्र उनका साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन करते थे। अन्य वर्ग के लोग वेदाध्ययन समाप्त कर अन्य लौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करते थे। क्षत्रिय बालक धनुर्विद्या का विशेष अध्ययन और अभ्यास करते थे। वैश्य बालक गणित तथा व्यवहार सबधी शिल्पो और कलाओं का विशिष्ट अध्ययन करते थे।

वैदिक ज्ञान एव साहित्य की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन के अतिम स्तर पर पहुँचने तक शिक्षा प्राप्त करता रहता है। ब्रह्मचर्याश्रम में रहता हुआ बालक वैदिक सहिताओं का विशेष अध्ययन करता था। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार कर्म-कांड आदि का अध्ययन करता था जिसका कार्यान्वयन उसे गृहस्थ आश्रम मे करना पडता था। ब्राह्मण-ग्रथो मे इसका विशद् विवेचन प्राप्त होता है। वानप्रस्थ मे प्रवेश करने पर मनुष्य अरण्य में अध्ययन करने योग्य आरण्यक ग्रथो का अध्ययन करता था, जैसाकि सायणाचार्य का कथन है—*'अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते'।* सन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने पर उपनिषदों का अध्ययन, मनन तथा चिंतन किया जाता था।

'षद्लृविशरणगत्यवसादनेषु' के अनुसार सद् धातु के पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अंत में 'क्विप्', प्रत्यय लगाने से 'उपनिषद्' शब्द बनता है। सद् धातु का सामान्य अर्थ बैठना है। 'उप' और 'नि' उपसर्ग लगने से इसका अर्थ है—निश्चित रूप से किसी के समीप बैठना। गहन वनों में वृक्षो की छाया के नीचे गुरु के समीप बैठकर गूढ विचारों का समावेश उपनिषद् मे प्राप्त होता है। अमरकोषकार उपनिषद् शब्द का अर्थ *'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्'* अर्थात् गूढ धर्म एवं रहस्य बतलाते हैं। सद् धातु के तीन अर्थ और हैं—विशरण (विनाश), गति (ज्ञान और प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। इन अर्थों के आधार पर उपनिषद् की व्याख्या इस प्रकार है : *'उपनिषादयति सर्वानर्थकरससारं विनाशयति ससारकारणभूतामविद्या च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्'* अर्थात् जो समस्त अनर्थों को जन्म देनेवाले संसार का नाश करती, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है।

प्रत्येक भारतीय के मन पर प्रारंभ से ही इस बात की धारणा दृढ कर दी जाती थी कि इस पर जन्म से ही कितना उत्तरदायित्व है। उसे अपने जीवन में तीन ऋण चुकाने पडते हैं—पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा देव ऋण। पितृ ऋण का संबंध पारिवारिक जीवन से है तथा ऋषि ऋण एवं देव ऋण का संबंध सामाजिक जीवन से। पितृ ऋण से तात्पर्य पुत्र पर पिता के ऋण से है। प्रत्येक व्यक्ति पर माता-पिता का ऋण होता है जो उसे जन्म देते हैं। इस ऋण को

चुकाने के लिए मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह वंश-परंपरा को अविच्छिन्न रूप से चलाते रहने के लिए उत्तम सतान को जन्म दे। गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के कारण मनुष्य का यह दायित्व हो जाता है कि वह गुरु से प्राप्त ज्ञान को निरतर प्रज्वलित करता रहे। वेदाध्ययन एवं ज्ञानोपार्जन द्वारा समाज मे ज्ञान की ज्योति सदा जगमगाती रहती है और व्यक्ति गुरु ऋण से उऋण हो जाता है। संसार मे जन्म लेने के कारण तथा प्रशस्त जीवन बिताने के कारण मनुष्य ईश्वर का ऋणी है। धर्मशास्त्रों के अनुसार यज्ञादि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके इस ऋण से मुक्ति होती है। इसी प्रसंग मे पच महायज्ञों का विधान किया गया है जिनका सपादन प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। ये पंचमहायज्ञ इस प्रकार हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ तथा भूतयज्ञ। मनु ने इनका लक्षण इस प्रकार बतलाया है

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ· पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो वलिभौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। —मनु 3 70

अर्थात् अध्ययन, अध्यापन द्वारा सतत् ज्ञान का विकास करना ब्रह्मयज्ञ, पितरों को अन्न, जलादि देकर तर्पण करना पितृ यज्ञ, दैनिक अग्निहोत्रादि का संपादन देवयज्ञ, पशु-पक्षियों आदि को अन्नादि द्वारा सतुष्ट करना भूतयज्ञ तथा अतिथि का समुचित सत्कार नृयज्ञ है।

इस प्रकार आंतरिक एव बाह्य वृत्तियों के विकास द्वारा परमार्थ की सिद्धि प्राचीन भारतीय शिक्षा का आदर्श है।

[सन् 1994]

पर्यावरण, वेद की दृष्टि में

•

आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालंकार

वेदों का संदेश है कि मानव शुद्ध वायु में श्वास ले, शुद्ध जल का पान करे, शुद्ध अन्न का भोजन करे, शुद्ध मिट्टी में खेले-कूदे, शुद्ध भूमि में खेती करे। ऐसा होने पर ही उसे वेद-प्रतिपादित सौ वर्ष या सौ से भी अधिक वर्ष की आयु प्राप्त हो सकती है। परंतु आज न केवल हमारे देश में, अपितु विदेशों में भी प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि मनुष्य को न शुद्ध वायु सुलभ है, न शुद्ध जल सुलभ है, न शुद्ध अन्न सुलभ है, न शुद्ध मिट्टी और शुद्ध भूमि सुलभ है। कल-कारखानों से निकले अपद्रव्य, धुआँ, गैस, कूड़ा-कचरा, वन-विनाश आदि इस प्रदूषण के कारण हैं। प्रदूषण इस स्थिति तक पहुँच गया है कि कई स्थानों पर तेजाबी वर्षा तक हो रही है। उत्तरपूर्वी अमेरिका, उत्तरी यूरोप और कनाडा में तेजाबी वर्षा संहारक रूप ले चुकी है। वहाँ नदी-तालाबों के जीव-जंतु तथा भूमि की वनस्पतियाँ इस वर्षा से विनष्ट हो रही हैं, बडे-बड़े भवन विकृत हो रहे हैं तथा पीने का पानी प्रदूषित हो रहा है। 18 जुलाई, 1983 के दिन भारत में भी बंबई में तेजाबयुक्त वर्षा हो चुकी है। यदि प्रदूषण निरंतर बढ़ता गया तो वह दिन दूर नहीं जब यह भूमि मानव तथा अन्य प्राणियो के निवासयोग्य नहीं रह जाएगी।

पर्यावरण-प्रदूषण की चिंताजनक स्थिति को देखकर 5 जून, 1972 को बारह संयुक्त राष्ट्रों की एक बैठक इस विषय पर विचार करने के लिए स्टाकहोम (स्वीडन) में आयोजित हुई थी, जिसके फलस्वरूप विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पर्यावरण-सुरक्षा हेतु प्रभावशाली कदम उठाए गए। उक्त गोष्ठी में भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने भी 'पर्यावरण की बिगड़ती स्थिति एवं उसका विश्व के भविष्य पर प्रभाव' विषय पर भाषण दिया था। उसके पश्चात् भारत में पर्यावरण-प्रदूषण का अध्ययन करने, उसे रोकने के उपाय सुझाने एवं उनके क्रियान्वयन करने हेतु अनेक सरकारी, अर्ध-सरकारी तथा व्यक्तिगत या जनता की ओर से सामूहिक प्रयास होते रहे हैं तथा आज भी अनेक संस्थाएँ इस दिशा में कार्यरत हैं। जहाँ सरकार ने पर्यावरण-अधिनियम की घोषणा की है तथा

सरकार के पर्यावरण-विभाग द्वारा पर्यावरण-शोध हेतु अनेक पुरस्कार दिए जा रहे हैं, वहाँ जनता द्वारा चिपको-आदोलन जैसे आदौलनों का भी सूत्रपात हुआ है। प्रस्तुत लघु लेख में हम यह दर्शाना चाहते हैं कि वेद का पर्यावरण के विषय में क्या विचार है।

1. वायु

स्वच्छ वायुमंडल का महत्त्व

स्वच्छ वायु का सेवन ही प्राणियो के लिए हितकर है यह बात वेद के निम्न मत्रो से प्रकट होती है

वात आ वातु भेषज शभु मयोभु नो हृदे।
प्रण आयूषि तारिषत्।। –ऋ 10 186 1

अर्थात् वायु हमे ऐसा ओषध प्रदान करे, जो हमारे हृदय के लिए शातिकर एव आरोग्यकर हो, वायु हमारे आयु के दिनो को बढाए।

यददो वात ते गृहे ऽमृतस्य निधिर्हित ।
ततो नो देहि जीवसे।। –ऋ 10 186 3

अर्थात् हे वायु ! जो तेरे घर मे अमृत की निधि रखी हुई है, उसमे से कुछ अश हमें भी प्रदान कर, जिससे हम दीर्घजीवी हों।

यह वायु के अदर विद्यमान अमृत की निधि ओषजन या प्राणवायु है, जो हमे प्राण देती है तथा शारीरिक मलो को विनष्ट करती है। उक्त मत्रो से यह भी सूचित होता है कि प्रदूषित वायु मे श्वास लेने से मनुष्य अल्पजीवी तथा स्वच्छ वायु मे कार्बन-द्विओषिद की मात्रा कम तथा ओषजन की मात्रा अधिक होती है। उसमे श्वास लेने से हमे कैसे लाभ पहुँचता है, इसका वर्णन वेद के निम्नलिखित मत्रों मे किया गया है

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावत ।
दक्ष ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद् रप ।।
आ वात वाहि भेषज वि वात वाहि यद् रप ।
त्व हि विश्वभेषजो देवाना दूत ईयसे।।

–ऋ 10 137 2,3 अथर्व 4 13,2,3

"ये श्वास-निश्वास रूप दो वायुएँ चलती हैं, एक बाहर से फेफडो के रक्त-समुद्र तक और दूसरी फेफड़ों से बाहर के वायु-मंडल तक। इनमें से पहली, हे मनुष्य, तुझे बल प्राप्त कराए और दूसरी रक्त में जो दोष है उसे अपने साथ बाहर ले

जाए। हे शुद्ध वायु, तू अपने साथ ओषध को ला। हे वायु, शरीर में जो मल हैं उसे तू बाहर निकाल। तू सब रोगों की दवा है, तू देवों का दूत होकर विचरता है।"

हमारा हृदय शरीर के अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिए फेफड़ों की सूक्ष्म रक्त-नलिकाओं में पहुँचा देता है। जब हम स्वच्छ वायु में श्वास लेते हैं तब वह स्वच्छ वायु फेफड़ों में पहुँचकर सूक्ष्म रक्त-नलिकाओं में विद्यमान अशुद्ध रक्त से संपृक्त होकर अपने ओषजन के द्वारा अशुद्ध रक्त को शुद्ध करके बाहर निकलनेवाले निःश्वास के साथ रक्त के मल को बाहर निकाल देती है। परंतु यदि हम प्रदूषित वायु में श्वास ले तो यह प्रक्रिया नहीं हो पाती।

वनस्पतियों द्वारा वायु-शोधन

कार्बन-द्विओषिद की मात्रा आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर वायु प्रदूषित हो जाता है। वैज्ञानिक लोग बताते हैं कि प्राणी ओषजन ग्रहण करते हैं तथा कार्बन-द्विओषिद छोड़ते हैं, किंतु वनस्पतियाँ कार्बन-द्विओषिद ग्रहण करती हैं तथा ओषजन छोड़ती है। वनस्पतियों द्वारा ओषजन छोड़ने की यह प्रक्रिया प्रायः दिन में ही होती है, रात्रि में वे भी ओषजन ग्रहण करती तथा कार्बन द्विओषिद छोड़ती हैं। पर कुछ वनस्पतियाँ ऐसी भी हैं जो रात्रि में भी ओषजन ही छोड़ती हैं। कार्बन-द्विओषिद को चूसने के कारण वनस्पतियाँ वायु-शोधन का कार्य करती हैं। इसलिए वायु-प्रदूषण से बचाव के लिए सबसे कारगर उपाय वनस्पति-आरोपण है। वेद कहता है कि वन में वनस्पतियाँ उगाओ—*वनस्पति वन आस्थापयध्वम्*—ऋ 10.101.11। यदि वनस्पति को काटना भी पड़े तो ऐसे काटें कि उसमें सैकड़ों स्थानों पर फिर अंकुर फूट आएँ। वेद का कथन है कि हे वनस्पति, इस तेज कुल्हाड़े ने महान सौभाग्य के लिए तुझे काटा है, तू शतांकुर होती हुई बढ़, तेरा उपयोग करके हम सहस्रांकुर होते हुए वृद्धि को प्राप्त करें :

> *अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय।*
> *अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह, सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।।*
> —यजु 5.43

हे ओषधि, तू दीर्घायु होती हुई शत अंकुरों से बढ़ :

> *अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात्।* —यजु 12.100

'वनस्पति हमारे लिए मधुमान् हो, सूर्य हमारे लिए मधुमान् हो, भूमियाँ हमारे लिए मधुमती हों' यह कहता हुआ वेद सूचित करता है कि सूर्य और भूमि से वनस्पतियों में मधु उत्पन्न होता है, जिससे वे हमारे लिए लाभदायक होती हैं :

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवंतु नः।। —यजु 13.29

प्रारंभ मे वनस्पति शब्द वृक्ष-सामान्य का ही वाचक था। बाद मे वृक्ष, ओषधि, वनस्पति, वानस्पत्य इन सबमे अतर किया जाने लगा। वृक्ष सभी पेडो का वाची रहा, ओषधि उन्हे कहा गया जिनकी आयु फल पकने तक की ही होती है, फल पकने पर वे सूख जाती हैं। वनस्पति वे कहलाए जिनमें बिना फूल के फल आ जाता है, जैसे बड, पीपल आदि। वानस्पत्य नाम उन्हें दिया गया, जिनमे फूल आकर फल लगता है।[1] उत्तरकाल मे कर्मकांड मे वनस्पति शब्द से यूप या यज्ञस्तंभ अर्थ ग्रहण किया जाने लगा। वैदिक आप्री नामक देवताओं मे 'वनस्पति' भी पठित है, जिसके विषय मे यास्कीय निरुक्त में लिखा है कि इसका अर्थ कात्थक्य नामक आचार्य यूप (यज्ञ-स्तंभ) करते हैं, किंतु आचार्य शाकपूणि इससे अग्नि का ग्रहण करते हैं।[2]

फूलों-फलो से लदी हुई ओषधियाँ नित्य भूमि पर लहलहाती रहें, ऐसा वर्णन भी वेद मे मिलता है—*ओषधीः प्रतिमोदध्व पुष्पवतीः प्रसूवरीः*—(ऋ 10.97 3)। वेद यह भी कहता है कि ओषधियों का मूल, मध्य, अग्र, पत्ते, फूल सभी कुछ मधुमय हों—*मधुमन्मूल मधुमदग्रमासा मधुमन्मध्य वीरुधां बभूव। मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासाम्*—अथर्व 8 7 12। 'पृथिवी पर जितनी भी सहस्रो पत्तोंवाली ओषधियाँ हैं, वे सब हमें प्रदूषण-जनित मृत्यु से छुडाएँ' ऐसी प्रार्थना भी वेद में उपलब्ध होती है

यावती कियतीश्चेमा पृथिव्यामध्योषधी।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वहस।। —अथर्व 8 7.13

यहाँ 'सहस्रपर्णी' शब्द साभिप्राय है, क्योंकि पत्तो मे ही प्रदूषण को हरने की शक्ति विशेष होती है। 'अहस्' शब्द सस्कृत में बडे व्यापक अर्थ मे आता है, जिसमें किसी भी प्रकार की क्षति समाविष्ट है, चाहे वह भौतिक क्षति हो, चाहे नैतिक।

वेद मनुष्य को प्रेरित करता है कि तू जलों की हिसा मत कर, ओषधियो की हिंसा मत कर—*मापो मौषधीर्हिंसीः*—यजु 6 22। जलो की हिसा से अभिप्राय है उन्हें प्रदूषित करना तथा ओषधियों की हिंसा का तात्पर्य है उन्हें विनष्ट करना।

अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त मे कहा गया है कि हे भूमि! तेरे वृक्षों को मैं इस तरह काटूँ कि शीघ्र ही वे पुन अंकुरित हो जाएँ, संपूर्ण रूप से काटकर मैं तेरे मर्मस्थल पर या हृदय पर प्रहार न कर बैठूँ

---

1. वानस्पत्यः फलै पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पति। ओषध्य फलपाकान्ता। अमरकोष 2 4.6
2. द्रष्टव्य निरुक्त 8 17

यत् ते भूमे विश्वनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
- *मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।।* —अथर्व 12.1.35

इससे वेद सूचित करता है कि वृक्ष-वनस्पतियों को समूल नष्ट कर देना मानो भूमि के मर्म पर या हृदय पर प्रहार है। साथ ही 'विमृग्वरि' संबोधन द्वारा यह सूचना दी गई है कि भूमि वृक्ष-वनस्पतियो द्वारा वायुमंडल के शोधन का कार्य करती है।

वेद में कहा गया है कि तुम पीपल के नीचे बैठो, पलाश (ढाक) के पेडों के समीप बस्ती बसाओ—*अश्वत्थे वो निषदन पर्णे वो वसतिष्कृता* —ऋ 10.97.5, यजु 12 79, 35.4 तै सं 4 2 6 2। इससे सूचित होता है कि पीपल दिन मे कार्बन-द्विओषिद लेता है, तथा ओषजन छोडता है, अत दिन में उसके नीचे बैठना हितकर है, रात्रि को वह भी कार्बन-द्विओषिद छोडता है, इस कारण उसके नीचे या समीप लेटना, शयन करना या बस्ती बसाना उचित नहीं है। यद्यपि दिन में ओषजन सभी वृक्ष छोडते हैं, तथापि पीपल मे यह गुण विशेष होने से उसका नाम लिया गया है। कितु पलाश (ढाक) का पेड दिन-रात हितकर गंध ही छोडता है, अत उसके निकट बस्ती बसाना उचित कहा गया है। वैज्ञानिको को इस पर परीक्षण करना चाहिए, जिससे यह ज्ञात हो सके कि वेदमत्र की हमारी उक्त व्याख्या प्रामाणिक है या नहीं।

अथर्ववेद के एक मत्र मे ओषधियों के पॉच वर्ग बताए गए हैं--सोम, दर्भ (कुश), भंग, यव और सह, तथा यह भी कहा गया है कि ये हमे प्रदूषण (अंहस्) से छुडाए।

पञ्च राज्यानि वीरुधा सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः।
दर्भो भंगो यव सहस्ते नो मुञ्चन्त्वहस।। —अथर्व 11 6 15

इसका भी परीक्षण किया जाना चाहिए कि दर्य, भग, यव आदि में अन्य वनस्पतियों की अपेक्षा विशेष प्रदूषण-निवारण की शक्ति है या नहीं।

वेद घरो के बाहर आने-जाने के रास्तो के दोनों ओर फूलोंवाली दूब घास लगाने और मैदान मे फव्वारा एवं कमलो से अलंकृत सरोवर बनाने का निर्देश करता है

आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणीः।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान्।। —अथर्व 6.106.1

काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च।। —यजु 13 20

पुष्पिणी दूब घास, फव्वारे एवं कमल-फूलों से न केवल शोभा बढ़ती है, अपितु ये

प्रदूषण-निवारण में भी सहायक होते हैं। अन्यत्र भी वेद में घरों के समीप कमल-पुष्पों से अलकृत छोटे-छोटे सरोवर बनाने का विधान मिलता है—*उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः*,—अथर्व 4.34 5-7 फव्वारों का विधान इस हेतु किया गया प्रतीत होता है कि ऊपर उठती तथा चतुर्दिक् फैलती जल-धाराओं पर जब सूर्य-किरणें पडती हैं, तब उनमें प्रदूषण को हरने की विशेष शक्ति आ जाती है।

यजुर्वेद में राष्ट्र की ओर से वृक्षों, ओषधियों एवं अरण्यों के रक्षक नियुक्त करने तथा उन रक्षकों को उचित सम्मान देने का निर्देश मिलता है—*बनानां पतये नमः*,—यजु 16.18, *वृक्षाणां पतये नमः, ओषधीना पतये नमः*,—यजु 16.19, *अरण्याना पतये नमः*,—यजु. 16.20।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में भूमि को कहा गया है कि तेरे जंगल हमारे लिए सुखदाई हो—*अरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु*—अथर्व. 12.1.11। भूमि को ओषधियों की माता *मातरम् ओषधीनाम्*—अथर्व 12.1.17, बताते हुए स्थापना की गई है कि इसमें वृक्ष और वानस्पत्य स्थिर रूप से रहते हैं—*यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा*—अथर्व. 12.127।

ऋग्वेद में एक वनवासिनी जंगल के विषय में कहती है कि यहाँ अंजन वृक्ष के फूलो की सुगध व्याप्त रहती है, बिना किसानों के प्रचुर अन्न उपजता है, मृगों की यह माता है। ऐसे जंगल की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करती हूँ .

> *आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।*
> *प्राह मृगाणा मातरमरण्यानिमशंसिषम्।।* —ऋ 10.146.6

यव, धान, गेहूँ, उडद, मूँग, चना, ज्वार, बाजरा आदि की खेती भी प्रदूषण को दूर करने मे सहायक होती है। आज बढती हुई जनसंख्या को निवास देने के लिए खेती की भूमि को भी ग्रामों और नगरो में बदला जा रहा है। इससे भी प्रदूषण बढा है। वेद खेती के लिए प्रेरणा करता हुआ कहता है ·

> *युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।*
> *विराजः श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमायवन्।।*
> —अथर्व 3.17.2

अर्थात् हे मनुष्यो, तुम हल जोडो, बैलों के कंधों पर जुए रखो, भूमि जोतकर उसमें बीज बोओ। अन्न की बालियाँ खूब भरी हुई हों, दरातियों से पके अन्न को काटो।

आज भूमि, जल एवं वायु के प्रदूषण के कारण तथा दूषित खादों के प्रयोग से अन्न भी प्रदूषित उत्पन्न हो रहा है। परंतु वेद इसके लिए भी सतर्क है कि अन्न दूषित एवं रोगोत्पादक न होकर बलदायक हो : *अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः*—यजु. 11.83।

2. जल

शुद्ध जलों का महत्त्व

शुद्ध जलों के अंदर अमृत होता है, ओषध का निवास रहता है—*अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्*—ऋ. 1.23.19, *अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा*—वही, मंत्र 20। शुद्ध जलों में स्नान एवं उनका पान शरीर के मलों को बाहर निकालता है : *इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि*—वही, मंत्र 22। शुद्ध जल के सेवन से मनुष्य रसवान् हो जाता है—*आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि*—वही, मंत्र 23। अतएव मनुष्य की कामना है कि शुद्ध जल ही हमारे शरीर के लिए क्षरित हो—*शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु*—अथर्व. 12.1.30। शुचि, निर्मल, कान्ति को सींचनेवाले, मधुर जलों का ही हम उपयोग करें—*तं वो वयं शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुषं मधुमन्तं वनेम*—ऋ. 7.47.1। शुद्ध जल आरोग्यदायक होते हैं, शरीर में ऊर्जा उत्पन्न करते हैं, वृद्धि प्रदान करते हैं, कण्ठस्वर को ठीक करते हैं तथा दृष्टि-शक्ति बढ़ाते हैं :

> *आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।*
> *महे रणाय चक्षसे।।* —ऋ. 10.9.1

जैसे संतान का हित चाहनेवाली माताएँ संतान को अपना शिवतम रस दूध पिलाती हैं, वैसे ही शुद्ध जल सेवनकर्ता को अपना शिवतम रस प्रदान करते हैं :

> *यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।*
> *उशतीरिव मातरः।।* —वही, मंत्र 2

शुद्ध जलों का पान करके एवं उन्हें अपने चारों ओर बहाकर अर्थात् उनमें डुबकी लगाकर या कटि-स्नान करके हम अपना स्वास्थ्यरूप अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं :

> *शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।*
> *शं योरभिस्रवन्तु नः।।* —वही, मंत्र 4

शुद्ध जल माताओं के तुल्य हमारे शोधक होते हैं। वे अपने अंदर विद्यमान विद्युत् से हमें पवित्र करते हैं। वे समस्त प्रदूषण को बहा ले जाते हैं। उनसे पवित्र होकर मनुष्य उद्यमी हो जाता है :

> *आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।*
> *विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवी रुदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि।।*
> —ऋ. 10.17.10

शुद्ध जल जीवनदायी हैं, उनके उपयोग से मनुष्य पूर्ण आयु जीवित रह सकता

है—*जीवाः स्थ जीव्यास सर्वमायुर्जीव्यासम्*—अथर्व 19.69.1। शुद्ध जल शिव होते हैं, उनके उपयोग से रोग दूर हो जाते हैं—*ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मंकरणीरपः*—अथर्व. 19.2.5 शुद्ध जलों मे ऊर्जा, अमृत, तेज एव पोषक रस का निवास होता है—*ऊर्जं वहन्तीरमृत घृत पयः कोलाल परिस्रुतम्*—यजु 2.34।

शुद्ध जल पान किए जाने पर पेट के अदर पहुँचकर पाचन-क्रिया को तीव्र करते हैं। वे दिव्यगुणयुक्त, अमृतमय, स्वादिष्ठ जल रोग न लानेवाले, रोगों को दूर करनेवाले, शरीर के प्रदूषण को दूर करनेवाले तथा जीवन-यज्ञ को बढानेवाले होते हैं

> *श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवा ।*
> *ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ।।*
> —यजु 4.12

सेवन करने पर शुद्ध जल शरीर को भली भाँति वहन करते हैं—*देवीरापः शुद्धा वोड्ढ्वम्*—यजु 6.13। शुद्ध जल मन, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, आत्मा, प्रजा, पशु तथा जनगणो को तृप्ति प्रदान करते हैं

> *मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत*
> *चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत*
> *प्रजां मे तर्पयत पशून् मे तर्पयत गणान् मे तर्पयत,*
> *गणा मे मा वितृषन् ।।* —यजु 6.31

शुद्ध जल शरीर के अदर जो निन्दनीय रोग तथा मल है उसे बाहर निकाल देते हैं—*इदमापः प्रवहतावद्य च मलं च यत्*—यजु 6.17। वे ही जल मानव, अन्य प्राणिवर्ग एव वनस्पति-जगत् के रक्षक हो सकते हैं, जो मधुस्रावी, पवित्र एव पवित्रतादायक हो—*मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु*,—ऋ 7.49.3।

जलों के प्रकार

वेदों में जल कई प्रकार के वर्णित किए गए हैं और उनके संबंध में यह कहा गया है कि वे सबके लिए प्रदूषणशामक एव रोगशामक हों

> *शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः ।*
> *शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः ।।*
> *शं त आपो धन्वन्याः शं ते सन्त्वनूप्याः ।*
> *शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः ।।* —अथर्व 19.2.1–2

इन मंत्रों में जलों के निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख हुआ है :

1. हिमालय के जल (हैमवतीः आपः)—ये हिमालय पर बर्फ-रूप में रहते हैं अथवा चट्टानों के बीच में बने कुंडों में भरे रहते हैं, अथवा पहाड़ी झरनों के रूप मे झरते रहते हैं। इनमें पर्वतों के खनिज द्रव्य तथा ओषधियों के रस मिश्रित रहते हैं।

2. स्रोतों के जल (उत्स्याः आपः)—ये पहाडी या मैदानी भूमि को फोडकर चश्मो के रूप में निकलते हैं। इनमें भूमि के अदर विद्यमान खनिज पदार्थ मिले रहते हैं। कई चश्मों में गधक होता है। गधक का एक चश्म देहरादून के समीप सहस्रधारा में है।

3. सदा बहते रहनेवाले जल (सनिष्यदाः आपः)—ये सदा बहते रहने के कारण अधिक प्रदूषित नहीं हो पाते हैं।

4. वर्षाजल (वर्ष्याः आपः)—वर्षा से मिलनेवाले जल शुद्धि तथा ओषधि-वनस्पतियो एवं प्राणियों को जीवन देनेवाले होते हैं। अथर्ववेद के प्राण-सूक्त (11 4 5) मे कहा है कि जब वर्षा के द्वारा प्राण पृथिवी पर बरसता है तब सब प्राणी प्रमुदित होने लगते हैं।

5. मरुस्थलों के जल (धन्वन्याः आपः)—मरुस्थलो की रेती मे अभ्रक, लोहा आदि पाए जाते हैं, उनके संपर्क से वहाँ के जलो मे भी ये पदार्थ विद्यमान होते हैं। ये जल अपने-अपने शरीर की प्रकृति के अनुसार किसी के लिए लाभकारी और किसी के लिए हानिकारी हो सकते हैं।

6. आर्द्र प्रदेशों के जल (अनूप्याः आपः)—जहाँ जल की बहुतायत होती है वे प्रदेश अनूप कहलाते हैं, तथा उन प्रदेशों में होनेवाले जल अनूप्य। यहाँ के जल कृमि-दूषित भी हो सकते हैं।

7. भूमि खोदकर प्राप्त किए जल (खनित्रिमाः आप)—कुएँ, हाथ के नलो आदि के जल इस कोटि में आते हैं। जिस स्थान की भूमि में जो तत्त्व अधिक होते हैं उनका प्रभाव वहाँ के जलो मे भी आ जाता है, इसीलिए किसी कुएँ का पानी मीठा, किसी का खारा आदि होता है।

8. घडों में रखे जल (कुम्भेभिः आभृताः आपः)—घडे विभिन्न प्रकार की मिट्टी के तथा सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओ के भी हो सकते हैं। इनमे पानी रखने से उस मिट्टी का प्रभाव तथा उन धातुओं का प्रभाव पानी में आ जाता है। किस रोग में कैसी मिट्टी के घडे में या किस धातु के घड़े मे रखा पानी उपयोगी होता है, यह जानकर उन-उन घडो के पानी का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। घडे जल-शोधन के काम मे भी लाए जाते हैं। ऊपर-नीचे तीन घडे रखे जाते हैं। ऊपर के तथा बीच के घडों की तली में पतला-सा छिद्र कर दिया जाता है। सबसे ऊपर के घडे में अशुद्ध पानी भरा जाता है, जिसे शुद्ध करना अपेक्षित होता है। बीच के घडे में कोयला, चूना, रेत आदि भर दिया जाता है। ऊपर के घडे का पानी टपक-टपककर निचले घडे मे आता रहता है तथा कोयले, चूने आदि

के संपर्क से शुद्ध होकर सबसे नीचे के घड़े में जमा होता चलता है।

जल-शोधन

जलो को प्रदूषित न होने देने तथा प्रदूषित जलों को शुद्ध करने के कुछ उपायो का संकेत भी वेदों में मिलता है। एक मंत्र में कहा गया है कि वे दिव्य जल हमारे लिए सुखदायक हों, जिनमे वरुण, सोम, विश्वेदेवाः तथा वैश्वानर अग्नि प्रविष्ट हैं ·

यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वेदेवा यासूर्जं मदन्ति।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु।। —ऋ 7 49.4

यहाँ वरुण शुद्ध वायु या कोई जलशोधक गैस है, सोम चद्रमा या सोमलता है, विश्वेदेवा· सूर्यकिरणें हैं तथा वैश्वानर अग्नि सामान्य आग या विद्युत् है। इनके द्वारा अशुद्ध जल को शुद्ध किया जा सकता है, यह तात्पर्य है। यंत्रों द्वारा या प्राकृतिक रूप से सूर्यताप को जल मे पहुँचाना जल-शोधन का एक विशिष्ट उपाय वेदो मे कहा गया है, साथ ही कुशा घास को भी जल-शोधक कहा गया है।

सवितुर्व प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
—यजु 1.12 31

तालाब आदि मे स्थिर रहनेवाले जल प्रदूषित हो जाते हैं, अत वेद में बहते हुए जलों को अपेक्षाकृत अच्छा माना गया है। बहती हुई नदियाँ अपने जल को मधु से ससृष्ट कर लेती हैं ·

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्।
पृञ्चतीर्मधुना पयः। —ऋ 1 23.16

बिना रुके बहनेवाले जल पवित्रतादायक होते हैं—*समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात् पुनाना यन्त्यनिविशमाना*—ऋ 7 49 1। दिन-रात बहनेवाले जलो का वेद में उत्सुकता के साथ आह्वान किया गया है

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः।
वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये।। —अथर्व. 6.23 1

हिमालय से बहकर आनेवाले जलों को हृदयदाह दूर करनेवाले बताया गया है ·

हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह सगमः।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम्।। —अथर्व 6.24.1

नदियों के जल यदि अशुद्ध पदार्थों से प्रदूषित हो जाएँ, तो विशाल स्तर पर उन्हें

शुद्ध करने के अभियान का संकेत भी वेद में मिलता है। *यद्वो स्शुद्वाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि*।—यजु. 13.13। अर्थात् अशुद्ध वस्तुओं ने यदि तुम्हें अपवित्र कर दिया है, तो तुम्हें मैं शुद्ध कर लेता हूँ। ऋग्वेद में लिखा है कि यदि नदियों में विष उत्पन्न हो गया है तो सब विद्वान जन मिलकर उसे दूर कर लें—*यन्नदीषु.. परिजायते विषम्। जायते विषम्। विश्वेदेवा निरितस्तत् सुवन्तु*—ऋ. 7.50.3। इस प्रकार सब नदियाँ प्रदूषण-रहित हो जाएँ—*शिवा देवीरशिपदा भवन्तु, सर्वा नद्यो अशिमिदा भवन्तु*—वही, मंत्र 4।

3. भूमि

भूमि माता है

भूमि को वेद में माता कहा गया है—*माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः*—अथर्व 12.1.12, उपहूता *पृथिवी माता*—यजु. 2.10। वेद की दृष्टि में भूमि विश्वंभरा है, धन की खान है, प्रतिष्ठा है, हिरण्यवक्षा है, जगत् को अपने ऊपर बसानेवाली है—*विश्वभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी*—अथर्व. 12.1.6। वेद कहता है कि जिस भूमि की सेवा करनेवाली नदियाँ दिन-रात समान रूप से बिना प्रमाद के बहती रहती हैं वह भूरिधारा भूमिरूप गौ माता हमें अपना जलधार-रूप दूध सदा देती रहे :

> *यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।*
> *सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।* —अथर्व 12.1.9

भूमि की हिंसा न करें

वेद में भूमिवासी जन भूमिमाता को संबोधन करके कहते हैं कि हे भूमि माता, तुम हमारी हिंसा मत करो, हम तुम्हारी हिंसा न करें—*पृथिवी मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम्*—यजु. 10.23। वेद मनुष्य को प्रेरित करता है कि तू उत्कृष्ट खाद आदि के द्वारा भूमि को पोषक तत्त्व प्रदान कर, भूमि को दृढ कर, भूमि की हिंसा मत करे—*पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह, पृथिवीं मा हिंसीः*—यजु. 13.8। भूमि की हिंसा करने का अभिप्राय है उसके पोषक तत्त्वों को लगातार फसलों द्वारा इतना अधिक खींच लेना कि फिर वह उपजाऊ न रहे। भूमि पोषकतत्त्वविहीन न हो जाए एतदर्थ एक ही भूमि में बार-बार एक ही फसल को न लगाकर विभिन्न फसलों को अदल-बदलकर लगाना, उचित विधि से पुष्टिकर खाद देना आदि उपाय हैं। आजकल कई रासायनिक खाद ऐसे चल पड़े हैं, जो भूमि की उपजाऊ-शक्ति को चूस लेते हैं या भूमि की मिट्टी को दूषित कर देते हैं। कीटनाशक दवाओ के अनुचित प्रयोग से, उद्योग-धन्धों के ठोस तथा जलीय दूषित पदार्थों की भूमि में

निकासी से एवं कूड़ा-करकट, मल-मूत्र आदि के अनियंत्रित विसर्जन से भूमि प्रदूषित हो रही है। इस प्रकार वेद की परिभाषा में हम भूमि की हिंसा कर रहे हैं। भूमि की हिंसा का दूसरा अभिप्राय भूमि का अनुचित कटान भी लिया जा सकता है। आज पहाड़ों पर एवं मैदान में नदी-तटों पर वृक्षो तथा जंगलों के काटे जाने के कारण भूमि की दृढता समाप्त हो रही है, परिणामस्वरूप वर्षा के साथ या नदी की बाढों के साथ वह कट-कटकर बह रही है। यदि हम वृक्षो को नहीं काटते हैं तथा नवीन वृक्ष उगाते हैं, तो भूमि दृढ रहती है, एव उसकी हिसा नहीं होती।

भूमि में या भूतल की मिट्टी में यदि कोई कमी आ जाए तो उस कमी को पूर्ण किए जाने की ओर भी वेद ने ध्यान दिलाया है कि प्रजापति राजा विभिन्न उपायों द्वारा उस कमी को पूरा करे—*यत् त ऊनं तत् त आपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य*,—अथर्व. 12 1.61। वेद की दृष्टि मे भूमि को ऐसा बनाए रखना भूमिवासियों का कर्तव्य है कि वह अन्नादि को उत्पन्न करनेवाली—ओषधियों की माता एवं विश्वधात्री बनी रहे—*विश्वस्वं मातरमोषधीनाम्*—वही, मंत्र 17, *पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छ वदामसि*—वही, मत्र 27। वेद कहता है कि भूमि की गोद अर्थात् उसका धरातल एव अंदर के अवयव हमारे लिए कीटाणुयुक्त तथा रोगोत्पादक न हो—*उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः*—वही, मत्र 62। इसका अभिप्राय भी यही है कि भूमि या भूमि की मिट्टी प्रदूषित न हो।

यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि उत्तान लेटी हुई भूमि का हृदय यदि क्षतिग्रस्त हो गया है तो मातरिश्वा वायु उसमें पुन शक्ति-संधान कर दे—*स ते वायुर्मातरिश्वा दधातु—उत्तानाया हृदय यद् विकस्तम्*—यजु 11 39। प्रथम तो जड भूमि में चेतनत्व का आधान करके वेद के कवि ने एक सुदर काव्य की सृष्टि कर दी है, दूसरे इससे यह सूचित होता है कि भूमि की उपजाऊ-शक्ति यदि न्यून या समाप्तप्राय हो गई है, तो कुछ समय उसमें खेती न करके उसे खाली छोडे रखने से शुद्ध वायु, सुर्यरश्मि, वर्षा आदि के द्वारा उसमें पुन शक्ति आ सकती है। मातरिश्वा वायु का अर्थ है अंतरिक्षसंचारी पवन, जो जल, तेज आदि अन्य प्राकृतिक तत्त्वों का भी उपलक्षक है। परंतु यदि जल, वायु आदि ही प्रदूषित हो गए हों तो उनसे भूमि की क्षति-पूर्ति कैसे हो सकेगी ?

4. अग्निहोत्र द्वारा पर्यावरण-शोधन

वैदिक संस्कृति में अग्निहोत्र या यज्ञ का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के करने योग्य पंच यज्ञों में अग्निहोत्र का भी स्थान है, जिसे देवयज्ञ कहा जाता है। अग्निहोत्र यज्ञाग्नि मे शुद्ध घृत एवं सुगंधित, वायुशोधक, रोगनिवारक पदार्थों की आहुति द्वारा सपन्न किया जाता है। एक अग्निहोत्र वह

है जो धार्मिक विधि-विधानों के साथ मंत्रपाठपूर्वक होता है, दूसरे उसे भी अग्निहोत्र कह सकते हैं जिसमें मंत्रपाठ आदि न करके विशुद्ध वैज्ञानिक या चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से अग्नि में वायुशोधक या रोगकृमिनाशक पदार्थों का होम किया जाता है। आयुर्वेद के चरक, बृहन्निघण्टुरत्नाकर, योगरत्नाकर, गदनिग्रह आदि ग्रंथों में ऐसे कई योग वर्णित हैं, जिनकी आहुति अग्नि में देने से वायुमंडल शुद्ध होता है तथा श्वास द्वारा धूनी अंदर लेने से रोग दूर होते हैं। वेद में अनेक स्थानों पर अग्नि को पावक, अमीवचातन, पावकशोचिष, सपत्नदंभन आदि विशेषणों से विशेषित करके उसकी शोधकता प्रदर्शित की गई है।[1] यज्ञ का फल चतुर्दिक् फैलता है—*यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा*--यजु 8.62। अग्निहोत्र ओषध का काम करता है—*अग्निष्कृणोतु भेषजम्*--अथर्व 6.106.3। अग्निहोत्र से शरीर की न्यूनता पूर्ण होती है—*अग्ने यन्मे तन्वा ऊन तन्म आपृण*, यजु. 3.17। अग्नि वायुमंडल से समस्त दूषक तत्त्वों का उन्मूलन करता है—*अग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि*--ऋ. 10.80.2। वेद मनुष्यों को प्रेरणा करता है कि तुम अग्नि में शोधक द्रव्यों की आहुति देकर वायुमंडल को शुद्ध करो—*आ जुहोता हविषा मर्जयध्वम्*—साम 63।

अग्निहोत्र की अवश्यकर्तव्यता की ओर संकेत करते हुए वेद कहते हैं—*स्वाहा यज्ञं कृणोतन*--ऋ. 1.13.12, स्वाहापूर्वक यज्ञ करो। *समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्*--यजु 3.1, समिधा से अग्नि का सत्कार करो, घृत की आहुतियों से उस अतिथि को प्रबुद्ध करो। *सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन*—यजु 3.2, सुसमिद्ध अग्निज्वाला पर पिघले घी की आहुति दो। *अग्निमिन्धीत मर्त्यः*--साम. 82, मनुष्य को चाहिए कि वह अग्नि प्रज्वलित करे। *सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत*--अथर्व 3 30.6, सब मिलकर अग्निहोत्र किया करो।

अग्निहोत्र का समय सायं और प्रातः है। सायं किया हुआ अग्निहोत्र प्रातःकाल तक वायुमंडल को प्रभावित करता रहता है और प्रातः किए गए अग्निहोत्र का प्रभाव सायंकाल तक वायुमडल पर पडता है :

सायं साय गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता।।
प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता।।
—अथर्व. 19.55.3,4

अग्निहोत्र ऐसी विशाल, दिव्य, दीप्तिमयी, निश्छिद्र, कल्याणदायिनी, अखंडित, निश्चित रूप से आगे ले जानेवाली, विधिविधानरूप सुंदर चप्पुओंवाली, निर्दोष, न चूनेवाली नौका है जो सदा यजमान की रक्षा ही करती है :

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहस सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये।। —यजु. 21.6

1. यथा, पावक ऋ. 1 12 18,19, अमीवचातन अथर्व 19 58.1, पावकशोचिष् ऋ. 3.9.8, सपत्नदम्भन यजु. 3 18।

अग्निहोत्र-रूप यज्ञ से आयु बढ़ती है, प्राण सबल होता है, चक्षु सशक्त होती है, श्रोत्र और वाणी सामर्थ्ययुक्त होते हैं, मन और आत्मा बलवान् बनते हैं :

> *आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पतां, चक्षुर्यज्ञेन कल्पता,*
> *श्रोत्रयज्ञेन कल्पतां, वाग् यज्ञेन कल्पता, मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पताम्।।* —यजु 18.29

अग्नि में होमी हुई हवि वायुमंडल के रोगकृमि-रूप यातुधानों को वैसे ही विनष्ट कर देती है जैसे नदी झागों को—*इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्*—अथर्व 1.8.2। भोजन, दूध, पानी, कच्चे-पक्के अन्न आदि मे प्रविष्ट होकर जो रोगजन्तु हानि पहुँचाते हैं उन्हें अग्निहोत्र नष्ट कर देता है। (द्रष्टव्य · अथर्व 5.29.6-9)। अग्निहोत्र की हवि सिर की पीडा, खाँसी आदि को हर लेती है—*मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एन परुषपरुराविवेशा यो अस्य*—अथर्व 1.12 3। वेद का वैद्य क्षयरोग को ललकारकर कहता है कि तू उसे कैसे मार सकता है, जिसके घर में हम अग्नि में हवि देते हैं—*कथ ह तत्र त्व हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे*—अथर्व 7.76.5। वैद्य रोगी को सबोधन करके कहता है कि अग्निहोत्र की हवि द्वारा मैं तुझे अज्ञात रोग से, यहाँ तक कि राजयक्ष्मा के पजे से भी छुडा दूँगा, यदि तुझे वातव्याधि ने भी जकड लिया है तो भी मेरे द्वारा प्रयुक्त विद्युत् और अग्नि तुझे उससे छुडा देंगे। अग्नि मे डाली हुई हवि तेरी इंद्रियों को सहस्रगुणित शक्ति देगी, आयु के सौ वर्ष तुझे निर्विघ्न पार कराएगी। सर्वहितकारी यज्ञाग्नि से मैं तेरे रोग को दूर कर दूँगा।

> *मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।*
> *ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेन तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्।।*
> *सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।।* —अथर्व. 3.11.1,3
>
> *तेना ते अग्निना यक्ष्म वैश्वानरेण वारये।* —अथर्व 6 85.3

जो अग्निहोत्र करता है उसे सुवीर्य प्राप्त होता है, वह पुष्ट होता है—*सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति*—ऋ 3.10 3।

वायु, जल आदि की शुद्धि के लिए अग्नि में गोघृत एवं गूगल, पिप्पली, अजशृंगी आदि ओषधियों की आहुति की चर्चा वेदों में मिलती है। गूगल के संबंध में अथर्ववेद में लिखा है कि जिसे गूगल ओषध की सुगंध प्राप्त होती है उसे रोग पीड़ित नहीं करते :

> *न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।*
> *यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते।।* —अथर्व. 19.38.1

अग्निहोत्र की अग्नि में डाली हुई घृत, गूगल आदि की हवि प्रदूषित वायुमंडल

के प्रदूषण को दूर करके उसे स्वच्छ, सुगंधित, रोगहर वायु में परिणत कर देती है। गोघृत में प्रदूषण को दूर करने की अद्भुत क्षमता है।

अग्निहोत्र के विषय में एक शंका यह उठाई जाती है कि उसमें समिधाएँ एवं हवन-सामग्री जलाने से कार्बन-द्विओषिद गैस उत्पन्न होती है, जबकि इस गैस की मात्रा दूषित वायमंडल में पहले ही पर्याप्त अधिक विद्यमान है। शुद्ध वायुमंडल में अग्निहोत्र करना तो लाभदायक हो सकता है, क्योंकि उस स्थिति में जो कार्बन-द्विओषिद गैस उत्पन्न होगी वह सह्य होगी; परंतु अशुद्ध वायमुंडल में अग्निहोत्र करना हानिकारक ही है। इस शंका का उत्तर यह है कि अग्निहोत्र यदि ठीक विधि से किया जाए तो कार्बन-द्विओषिद गैस अत्यल्प उत्पन्न होती है तथा उसकी तुलना में घृत, केसर, कस्तूरी, कपूर आदि के जलने से जो प्राणदायक सुगंध उठती है वह अधिक हितकर होती है, जिससे अंततः अग्निहोत्र लाभदायक ही सिद्ध होता है। अग्नि में जो हवि हम डालते हैं उसकी सुगंध वायु के माध्यम से सर्वत्र फैलकर प्रदूषण को दूर करके रोगहर होती है।

आजकल हम अग्निहोत्र में समिधाएँ अधिक जलाते हैं, वे भी उन वृक्षों की जो हवन में विहित नहीं हैं, तथा घृत की मात्रा अतिन्यून रखते हैं। हवन-सामग्री भी, जिसमें प्रायः लाभप्रद ओषधियाँ नहीं होती हैं, प्रत्युत नि.सार द्रव्य ही अधिक होते हैं, पर्याप्त मात्रा में डाली जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि धुआँ एवं कार्बन-द्विओषिद गैस ही अधिक उत्पन्न होते हैं, जो दूषित वायमुंडल को और भी अधिक दूषित कर देते हैं। अतः इस ओर सावधानी रखनी आवश्यक है।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने स्वलिखित 'संस्कारविधि' ग्रंथ के सामान्य प्रकरण में होम के चार प्रकार के द्रव्य लिखे हैं—प्रथम सुगंधित कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेत चंदन, इलायची जायफल, जावित्री आदि। द्वितीय पुष्टिकारक घृत, दूध, फल, कंद, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि। तीसरे मिष्ट शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि। चौथे रोगनाशक सोमलता, गिलोय आदि ओषधियाँ। स्वामीजी ने होम के घृत को भी ओषधियों से सुगंधित करने के लिए लिखा है। वे लिखते हैं—"सेर भर घी के मोहनभोग में रत्ती भर कस्तूरी, मासे भर केशर, दो मासे जायफल-जावित्री, सेर भर मीठा सब डालकर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खीचड़ी, मोदक आदि होम के लिए बनावें। प्रत्येक आहुति कम से कम 6 मासा भर घृत की देवें। अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो अधिक से अधिक छटाँक भर की आहुति देवें। यही आहुति का परिमाण है।" यज्ञसमिधा पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि की होनी चाहिए। वे शीघ्र जलती हैं, धुआँ भी नहीं होता तथा विषैली गैसें भी उत्पन्न नहीं होती हैं, प्रत्युत स्वास्थ्यकर एवं रोगहर गंध उठती है।

अग्निहोत्र वायु, जल, मिट्टी, वनस्पति आदि सभी के प्रदूषण को दूर करने में सहायक होता है। अग्निहोत्र की हवि की सुगंध को चतुर्दिक् फैलानेवाला वायु

है। वायु को वेद में हविर्गन्ध स्थानांतर पर पहुँचाने के लिए निमंत्रित किया गया है—*उपयाहि वीतये, वायो हव्यानि वीतये* —ऋ. 1.135.3। सूर्य-रश्मियों के साथ मिलकर वायु अग्नि में आहुत हवियों को और भी अधिक लोकोपयोगी बना देता है—*तवाय भाग ऋत्वियः सरश्मि सूर्ये सचा*—वही, मंत्र 3। वायु अग्नि में डाली गई हवियाँ हमें प्रदान करता है—*वायवा याहि वीतये जुषाणो हव्यदातये*—ऋ. 5.51.5। यदि वायु प्रदूषित भी है तो भी हविर्गन्ध से युक्त होकर वह शुचि हो जाता है—*आ वायो भूष शुचिपा उप नः*—ऋ. 7.92.1। वायु हविर्गन्ध से शुद्ध होकर हमारे प्राण, अपान एवं व्यान की रक्षा करता है—*प्राण मे पाह्यपानं मे पाहि व्यान मे पाहि*—यजु 14.8। हविर्गन्ध से अनुप्राणित होकर वायु हमारा पिता, भ्राता और सखा बनकर हमें दीर्घ जीवन प्रदान करता है :

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि।। —ऋ. 10.86.2

हवि की सुगंध से समन्वित पवमान वायु अपने पवित्रतादायक गुण से हमें पवित्र करता है :

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु मा।। —यजु. 19 42

जो दिन में या रात्रि में हम विभिन्न प्रकार के प्रदूषण उत्पन्न करते रहते हैं, उनसे हविर्गन्धयुक्त वायु हमें छुड़ाता है

यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि चकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः।। —यजु 20 15

वनस्पतियों में उत्पन्न घातक कीटाणुओ को नष्ट करने के लिए तथा वनस्पतियों की यथोचित वृद्धि के लिए उन्हें यज्ञिय हवि देने का संकेत भी वेदों में मिलता है। 'होता' को कहा गया है कि तू यज्ञ कर, जिससे वनस्पतियाँ हवि को ग्रहण करें—*देवो वनस्पतिर्जुषतां हविर्होतर्यज,* यजु 21.46। जड़, शाखा, वनस्पति, फल, ओषधि सबको स्वस्थ रखने के लिए स्वाहापूर्वक हविर्दान की प्रार्थना वेद में की गई है :

मूलेभ्यः स्वाहा, शाखाभ्यः स्वाहा, वनस्पतिभ्यः स्वाहा,
फलेभ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा। —यजु 22.28

पर्यावरण पर अग्निहोत्र का इतना अधिक प्रभाव होने पर भी इसके प्रयोग के विषय में सावधानी बरतने की आवश्यकता है। एक अग्निहोत्र तो नित्यकर्म है, जिसका शास्त्रों में प्रातः-सायं दोनों समय करने का विधान है। वह तो नित्यकर्म होने से

अवश्य ही करणीय है। उससे आंशिक रूप से वायुमडल स्वच्छ होता है तथा आध्यात्मिक लाभ भी मिलता है। परंतु नित्यकर्म-रूप अग्निहोत्र के अतिरिक्त प्रदूषण-निवारण के लिए यदि हम अनेक दिन चलनेवाले वेदपारायण-यज्ञों या गायत्री-यज्ञों का आयोजन करते हैं, तो उससे पूर्व आय-व्यय का लेखा-जोखा तैयार कर लेना आवश्यक है। उस बृहद् यज्ञ मे जितना व्यय होगा उससे पर्याप्त कम व्यय में अन्य किसी सस्ते साधन से यदि प्रदूषण दूर किया जा सकता हो, तो यज्ञ के स्थान पर उस साधन को अपनाना श्रेयस्कर होगा। साथ ही यदि हम यज्ञ के आयोजन का निश्चय करते भी हैं तो हमें आयुर्वैदिक दृष्टि से इसका ज्ञान भी प्राप्त कर लेना होगा कि किस प्रदूषण के निवारणार्थ किन-किन ओषधियों की आहुति देनी उपयुक्त है। जिस परिसर मे यज्ञ करना है उस परिसर की यज्ञ आरभ करने से पूर्व भरपूर स्वच्छता भी कर लेनी होगी। कहने का अभिप्राय यह है कि विशाल यज्ञों का आयोजन करना है तो केवल श्रद्धावश नहीं, प्रत्युत वैज्ञानिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण भी सम्मुख रखा जाना नितांत आवश्यक है।

5. आँधी, वर्षा और सूर्य द्वारा पर्यावरण-शोधन

प्राकृतिक रूप से आँधी, वर्षा और सूर्य द्वारा कुछ अंशों में स्वत· प्रदूषण-निवारण होता रहता है। वायु मे रथ का आरोप करके वेद का कवि झझावात का वर्णन करता हुआ कहता है ·

> *वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।*
> *दिविस्पृग् यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन्॥*
> —ऋ 10 168 1

देखो, वायु-रथ की महिमा को देखो। यह बाधाओ को तोडता-फोडता हुआ चला आ रहा है। कैसा गरजता हुआ इसका घोष है! आकाश को छूता हुआ, दिक्प्रांतों को लाल करता हुआ, भूमि की धूल को उडाता हुआ वेग से जा रहा है।

मरुतों के नाम से भी वेद क्वचित् ऑधियों का और क्वचित् मानसून पवनों का वर्णन करता है। झझावात्-रूप मरुत् पर्वतो को कँपा देते हैं, वनस्पतियो को चीर देते हैं—*प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्*—ऋ 1.39.3। इन मरुतों के घोष से जड पदार्थ काँप उठते हैं, मनुष्य भी काँप उठते हैं—*अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम्। अरेजन्त प्र मानुषाः*—ऋ 1 38.10। जब ये वेग से चलते हैं तब अडिग पहाड और वृक्ष-वनस्पति गूँज उठते हैं, भूमि थर्रा जाती है—*अच्युता चिद् वो अज्मन्ना नानदति पर्वतासो वनस्पतिः। भूमिर्यामेषु रेजते*—ऋ 8.20.5। झंझावात-रूप मरुत् प्रदूषण को बहा ले जाकर हमें उपकृत तथा रक्षित करते हैं, रोगकृमि-रूप राक्षसों को जकडकर पीस डालते हैं—*अनवद्यासः शुचयः पावकाः*—

ऋ. 7.57.5, *गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन*—ऋ. 7.104.18, *शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनाः। ते नो मुञ्चन्त्वंहसः*—अथर्व 4.27.3।

दूसरे मानसून पवन रूप मरुत् मेह बरसाते हैं—*वपन्ति मरुतो मिहम्*—ऋ. 8.7.4। ये वर्षा द्वारा प्रदूषण को दूर करते हैं। ये समुद्र से जलों को ऊपर उठाते हैं तथा बादल बनाकर वृष्टि कराते हैं। जब इनकी वृष्टि होती है तब रँभाती हुई गाय के समान बिजली गड़गड़ाती है

> *अपः समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति।*
> *ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥* —अथर्व 4.27.4
>
> *वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति।*
> *यदेषां वृष्टिरसर्जि॥* —ऋ. 1.38.8

मरुतों द्वारा बरसाए हुए बादल जब भूमि तथा पहाड़ों पर बरसते हैं तब अजगरों-जैसे प्रवाह बहने लगते हैं, दिशा-दिशा में बिजलियाँ चमकती हैं, दिशा-दिशा में हवाएँ चलती हैं, ओषधियाँ ऊँची हो जाती हैं, सब प्राणियों के लिए अन्न उत्पन्न हो जाता है

> *स वो ऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।*
> *मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु॥*
> *आशामाशा विद्योतता वाता वान्तु दिशो दिशः।*
> *मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु॥* —अथर्व 4.15.7,8
>
> *प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।*
> *इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति॥*
> —ऋ. 5.82.4

बादल की वृष्टि से हम उत्कृष्ट स्थिति को पा लेते हैं, सब पेड़-पौधे, पर्वत, भूप्रदेश धुलकर स्वच्छ हो जाते हैं, रोग दूर हो जाते हैं, प्राणियों की आयु लंबी हो जाती है

> *आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम्।*
> *व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥* —अथर्व. 3.31.11

प्रकृति में सूर्य भी प्रदूषण का निवारक है। वह अपने रश्मिजाल से तथा अपने द्वारा की जानेवाली वर्षा से पवित्रता प्रदान करता है :

> *उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।*
> *मां पुनीहि विश्वतः॥* —यजु. 19.43

सूर्य अमृत बरसाता है—*स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि*—अथर्व 6.1.3। सूर्य क्षितिज में उदित होता हुआ तथा ऊर्ध्वाकाश में चढता हुआ रोगों को, द्वेषी रोगकृमियों को तथा पर्यावरण के प्रदूषण को दूर करता है :

> *उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।*
> *हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।।*
> *उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।*
> *द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम्।।* —ऋ. 1.50.11,13

सूर्य अपनी ज्योति से अंधकार को बाँधता है, समस्त अन्नाभाव को, अनाहुति को, रोग को और दुःस्वप्न को दूर करता है

> *येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।*
> *तेनास्मद् विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्यं सुव।।* —ऋ. 10 37 4

पर्वत-शिखरों की ओट में से सूर्य को ऊपर उठता हुआ देखकर मानव पुकार उठता है—देखो, यह पर्वतों के पीछे से विश्वदृष्ट आदित्य ऊपर उठ रहा है, जो न दीखनेवाले रोगकृमियों को तथा प्रदूषण, रोग आदि राक्षसों को विनष्ट कर रहा है :

> *उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्।*
> *आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा।।* —अथर्व. 6.52.1

हे सूर्य, जो तेरा ताप है उससे तू उसे तपा डाल जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं :

> *सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।।*
> —अथर्व. 2.21.1

प्रदूषणनाशक प्राकृतिक पदार्थों की गणना करता हुआ वेद कहता है कि सोम आदि ओषधियाँ जिनके पृष्ठ पर उगी हैं ऐसे पर्वत, उत्तान लेटी हुई नदियाँ, वायु बादल, अग्नि, सूर्य, विद्युत् ये सब प्रदूषणों को शांत करनेवाले हैं :

> *ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः।*
> *वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्।।* —अथर्व. 3.21.10
>
> *वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः।*
> *आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः।।* —अथर्व 11.6.6
>
> *शमग्निरग्निभिः करच्छं नस्तपतु सूर्यः।*
> *शं वातो वात्वरपा अप स्रिधः।।* —ऋ. 8.18.9

शं नो वातः पवतां शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु।। —यजु. 36.10

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः।। —ऋ. 10.158.1

अंत में उपसंहार-रूप में हम कह सकते हैं कि वायु, जल, भूमि, आकाश, अन्न आदि पर्यावरण के सभी पदार्थों की शुद्धि के लिए वेद हमें जागरूक करता है तथा आई हुई अस्वच्छता को दूर करने के लिए प्रेरित करता है। पर्यावरण की शुद्धि के लिए वेद वनस्पति उगाना, अग्निहोत्र करना, विद्युत्, अग्नि, सूर्य एवं ओषधियों का उपयोग करना आदि उपायों को सुझाता है।

[सन् 1995]

परिशिष्ट

आप स्वामी श्रद्धानंद के पुत्र हो जो निर्भीक संन्यासी थे

डॉ. ओलेग उलत्सिफेरोव

अमरहुतात्मा वीतराग संन्यासी स्वामी श्रद्धानंद जी द्वारा संस्थापित राष्ट्रीय शिक्षण सस्था गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के इस पवित्र प्रांगण में उपस्थित होकर मुझे परम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। यह संस्था विद्या और तप की स्थली रही है। स्वामी श्रद्धानंद जी के तप ने और ब्रह्मचारियों की देशभक्ति ने महात्मा गांधी जी को इस तपःस्थली की ओर आकृष्ट करके उनके मन में आशा और विश्वास का भाव उत्पन्न किया था। वह वही पावन भूमि है, जहाँ हमारे देश के सर्वमान्य नेताओं ने समय-समय पर पदार्पण करके स्वयं को गौरवान्वित किया था। स्वामी श्रद्धानंद जी के संरक्षण में जो आचार्यगण अपने अंतेवासियों को राष्ट्रभक्ति के गीत सुनाया करते थे, वे स्वयं उसी उत्तरीय वस्त्र को धारण करते थे, जिसका ताना और बाना देशभक्ति, स्वाधीनता, स्वावलंबन, सच्चरित्रता, निश्चछलता तथा निर्भीकता के धागों से बुना जाता था। यह वही संस्था है जिसके ब्रह्मचारी गंगा तट पर बैठकर गंगा की उठती हुई तरंगों में देशभक्ति के गीतों की तान को खोजा करते थे। इस संस्था के इतिहास को पढ़कर ऐसा विदित होता है कि यहाँ शिक्षा का उद्देश्य केवल जीविकोपार्जन के लिए न होकर मानव के सर्वांगीण विकास के लिए था। शिक्षा वही है जो मानव को सही जीवन का दर्शन देकर उसे उन्नति की ओर अग्रसर करे। नैतिक आदर्श, मानव मूल्य, सद्भाव, राष्ट्रियता, विश्वबंधुत्व, हठ और दुराग्रह का परित्याग सिखाने वाली विद्या ही शिक्षा का रूप है।

मुझे बताया गया था कि गुरुकुल कांगडी जिन आदर्शों को सामने रखकर खोला गया था, वे वैदिक आदर्श हैं जिनमें संकीर्णता का लेश भी नहीं है। वहाँ न सांप्रदायिकता है, न संकीर्णता है, न कोई वाद पनपा है, न स्वार्थपरता

है, न निरंकुशता है, वहाँ तो केवल सच्ची मानवता है, परमार्थ की भावना है, विश्वबंधुत्व का उद्घोष है तथा समूचे विश्व को मित्र दृष्टि से देखने का आदर्श है। वेदों में मानव को उन्नत होने के लिए भौतिक एवं आत्मिक, दोनों ही संपत्तियों से भरपूर होने का उपदेश है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य-मानव की आंतरिक तथा बाह्य शक्तियों का विकास करना है। आज मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्राचीन एवं नवीन विषयों के अध्ययन-अध्यापन की समुचित व्यवस्था है। भारतीय संस्कृति के परिचायक एवं पोषक प्राच्यविद्या सङ्काय में वेद, संस्कृत, दर्शन, योग, प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग कार्य कर रहे हैं। मानविकी सङ्काय में हिंदी, अंग्रेजी, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि नवीन विषयों के अध्यापन की व्यवस्था है। इसी प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति करने के लिए विज्ञान सङ्काय तथा जीव विज्ञान सङ्काय में गणित शास्त्र, रसायनशास्त्र, भौतिकी तथा कम्प्यूटर विज्ञान, जन्तुविज्ञान, पर्यावरण विज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, सूक्ष्मजीवविज्ञान की व्यवस्था है। आधुनिक आवश्यकता का अनुभव करते हुए यहाँ प्रबंधन सङ्काय की व्यवस्था भी हो चुकी है। महिला शिक्षा को उन्नत करने के लिए यहाँ प्राचीन एव नवीन तथा विज्ञान विषयों के अध्यापन की व्यवस्था कर दी गई है। यह जानकर मुझे हर्ष हो रहा है कि यहाँ विज्ञान के छात्रों के लिए धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की शिक्षा भी अनिवार्य रूप से दी जाती है।

यह जानकर मुझे प्रसन्नता है कि गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों ने यहाँ से शिक्षा प्राप्त करके विद्यास्नातक तथा व्रतस्नातक के रूप में दीक्षित होकर देश-विदेश में जाकर जो कार्य किया है, वह प्रशंसनीय है। अपने हृदय में विश्वबंधुत्व का भाव सँजोकर कार्य करने वाले स्नातकों ने विदेशों में भी शिक्षा, धर्म, राजनीति तथा व्यवसाय के क्षेत्र में विशिष्ट मानदंड स्थापित किए हैं। पं. अमीचंद विद्यालंकार ने फिजी में जाकर अनेक शिक्षण संस्थानों की स्थापना की। वे वहाँ संसद के सदस्य भी बने। आचार्य रामदेव, पं. सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, पं. बुद्धदेव विद्यालंकार, पं. मदनमोहन, श्री विद्यासागर विद्यालंकार, पं. सत्यपाल सिद्धांतालंकार, पं. ईश्वर दत्त विद्यालंकार, श्री सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार, श्री धर्मेंद्रनाथ वेदालंकार, श्री देवनाथ विद्यालंकार, श्री रणधीर वेदालंकार, श्री अमृतपाल वेदालंकार, पं. श्यामसुंदर स्नातक ने बर्मा, अफ्रीका, कीनिया, युगांडा, टांगानीका, सिंगापुर, मलाया, यूरोप में जाकर वैदिक सिद्धांतों एवं हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार किया। मोजांबिक में पं. रविशंकर सिद्धांतालंकार, पं. सुमंतराय विद्यालंकार, पं. मतिमान् विद्यालंकार ने तथा रोडेशिया में पं. हरिदेव वेदालंकार ने अध्यापन कार्य किया। दक्षिण अफ्रीका में सुधीर कुमार विद्यालंकार, श्री अरुण

कुमार विद्यालंकार, श्री हरिशंकर आयुर्वेदालंकार, पं. नरदेव वेदालंकार ने सराहनीय कार्य किया। इस समय भी अनेक स्नातक अमेरिका और यूरोप के देशों में गुरुकुल का नाम उज्ज्वल कर रहे हैं। अपने देश में रहते हुए जिन्होंने संपूर्ण जीवन देशहित, वेद प्रचार तथा अनुपम ग्रंथों के लेखन में समर्पित कर दिया उनमें पं. अमरनाथ विद्यालंकार, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार, पं. क्षितीश वेदालंकार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

समाचार-पत्रों से मुझे ज्ञात हुआ है कि इस वर्ष गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय स्तर के सात सम्मेलनों का आयोजन किया गया है जिनमें विश्वविद्यालय को पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। प्रौढ़ शिक्षा में, सूक्ष्मजीवविज्ञान में, दर्शनशास्त्र में तथा विश्वविद्यालय प्रशासक संघ के संरक्षण में यहाँ होने वाले सम्मेलनों में बाहर से पधारे हुए विद्वान् प्रभावित हुए, जिनमें मैं भी हूँ।

सभी ने अनुभव किया कि यह एक राष्ट्रीय शिक्षण संस्था है जिसका भारत के विश्वविद्यालयों में देश की भाषा, रक्षा, पारस्परिक संबंध तथा देशप्रेम की दिशा में विशेष स्थान है।

भारतवर्ष ने जिसकी तपस्या, विद्वत्ता, सहृदयता, अनुरागिता विश्वजनीनता तथा संभावना के बल पर विश्व गुरु के पद को प्राप्त किया था। वे इस देश के महर्षि, मुनि, योगी और आचार्य ही थे। यहाँ का आचार्य अपने हृदय में ब्रह्मचारी के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता था, जिस प्रकार माता के गर्भ में स्थित शिशु माता की आँखों से देखता है उसके कानों से सुनता है, उसकी रसना से खाता है, उसके चिंतन से सोचता है, उसी प्रकार आचार्य के द्वारा निर्देशित होकर उसका अंतेवासी आचार्य की आज्ञानुसार सुनता है, पढ़ता है, देखता है, क्रीड़ा करता है, सोता है, जागता है और जीवन का विकास करता है। आचार्य अपने छात्र को इस प्रकार बनाता है कि वह विद्या के क्षेत्र में, राष्ट्रीयता के क्षेत्र में, सामाजिकता के क्षेत्र में व्यवसाय के क्षेत्र में, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में, देशांतर के संबंधों के क्षेत्र में, लेखन कला में, वाक्कला में पूर्ण निष्णात होकर अपनी रुचि के अनुसार कर्तव्य का पालन करता हुआ प्रगति पथ पर अग्रसर होता है। देश के अभ्युत्थान में आचार्य की भूमिका बलवत्तर होती है क्योंकि आचार्य केवल किताबी ज्ञान से ही छात्र को विकसित नहीं करता वह तो आचार एवं सदाचार की शिक्षा देकर छात्र का निर्माण करता है।

आप अवश्य जानते हैं कि महर्षि दयानंद सरस्वती जी ने अपने अमर ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में मानव शिक्षा के उन मूलभूत सिद्धांतों की ओर संकेत किया है जो शिक्षा जगत् के प्राण भूत हैं। अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंद जी

ने अपने गुरुवर महर्षि दयानंद के अनुसार ही देश में गुरुकुल पद्धति का पुनरुद्धार करके महान् कार्य किया। आज आपका देश शिक्षण की दिशा में पुरुषों एवं महिलाओं के लिए समान रूप से सभी साधन जुटाने में लगा है, नारी शिक्षा की अनिवार्यता के विषय में महर्षि दयानंद स्मरणीय हैं। स्वामी जी ने अछूतोद्धार, नारी शिक्षा, स्वराज्य की भावना को जगाकर पाखंडो का खंडन करके संपूर्ण मानवजाति को उन्नति करने के अधिकार की बात कही है। आज आपके देश में अनेक विश्वविद्यालयों में शिक्षण कार्य चल रहा है, चिकित्सा के क्षेत्र में तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी शिक्षण संस्थानों की कमी नहीं है, तथापि अभी और आवश्यकता का अनुभव हो रहा है। आज अच्छे-से-अच्छे इंजीनियर तैयार हो रहे हैं, डॉक्टर प्रतिवर्ष शिक्षित होकर कार्य में लगे हैं, तकनीकी विद्या के पारंगत विद्वान् आज उपलब्ध हो रहे हैं, परंतु भारत और संसार के सभी देशों का एक पक्ष अभी निर्बल हो रहा है, वह है नैतिकता का पक्ष। इसका एक मात्र कारण मैं समझता हूँ कि अध्यापकों ने शिक्षा को अधिकतर किताबी ज्ञान तक सीमित कर लिया है, जबकि शिक्षा का संबंध मानवीय शुद्ध व्यवहार के साथ जुड़ा हुआ है। आज पारस्परिक सौहार्द की भावना स्वाध्याय की प्रवृत्ति, स्वावलंबन की भावना, पुरुषार्थ की तत्परता, दूसरे के संकट को दूर करने की भावना तथा एक साथ चलने की प्रवृत्ति का प्रायः ह्रास होता जा रहा है। आज का मानव, लगता है, केवल स्वयं में केंद्रित होकर ही विकास का स्वप्न साकार करना चाहता है। वह अपनी उन्नति को उन्नति मानता है, अपने सुख को बढाने में ही उसकी शक्ति का अपचय होता है। उसका अपने पडोसी के प्रति, अपने समाज के प्रति, दीनों और अनाथों के प्रति, जो साक्षर नहीं हैं उनके प्रति, जो मार्ग से भटक गए हैं उनके प्रति तथा जो निर्धनता के कारण वस्त्र तथा भोजन भी यथोचित प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं उनके प्रति क्या नैतिक दायित्व हैं इस विषय में उसका चिंतन शून्य है उसकी वाणी मौन है तथा पैरों की गति अवरुद्ध है।

मैं रूस देश से आया हूँ जो वर्ष में सात महीने हिमाच्छादित होता है जिसके कारण हमारे छात्रों के सामने कम प्रलोभन है। रूस में पाँच सौ से अधिक विश्वविद्यालय हैं जिनमें बीस लाख से अधिक विद्यार्थी हैं। मैं भाषा का अध्यापक हूँ, हिंदी भाषा का।

मानव के जीवन में भाषा का अनुपम महत्त्व है। भाषा न होती तो हम एक-दूसरे को कैसे समझ सकते? आज की दुनिया में हजारों भाषाएँ हैं और प्रत्येक भाषा में भिन्न-भिन्न जातियों की स्नेह और सुख की आशा, मैत्री और शांति की इच्छा, बच्चों और बडों से प्यार का स्वर गूँजता है। इन भाषाओं में ताल्स्ताय के 'युद्ध और शांति' की पुकार झनझनाती है, दोस्ताएस्की का 'गरीबों

का रूस' कराहता है, पुश्किन की मधुर कविताएँ अमर प्रेम के गीत गाती हैं। इनमे प्रेमचंद की निर्मला का करुण जीवन रुदन करता है, अश्क के पंजाब की हँसमुखता तथा जिंदादिली चहचहाती है, जयशंकर प्रसाद की मधूलिका की देशभक्ति और आत्मबलिदान चिल्लाता है, वृंदावनलाल बर्मा की 'झाँसी की रानी' का 'हर हर महादेव' का गगनभेदी नाद गरजता है।

मेरे लिए यह बडी गौरव की बात है कि रूस देश मे भी अनेक हिंदी प्रेमी हैं। अभी तक ये लोग हिंदी में उपन्यास या कहानियाँ नहीं लिखते, किंतु वे दूसरे क्षेत्रों मे हिंदी की सेवा करते हैं। सर्वप्रथम यह हिंदी भाषा तथा इसके साहित्य का प्रचार है। हिंदी से रूसी मैं प्रायः सब प्रसिद्ध हिंदी लेखकों की कृतियों का अनुवाद किया गया है जिनमें प्रेमचंद, जयशकर प्रसाद, राहुल सांकृत्यायन, सुमित्रानंदन पत, निराला, अज्ञेय, उपेंद्रनाथ अश्क, कृशन चदर, यशपाल, वृंदावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, जैनेंद्र कुमार और रांगेय राघव के नाम विशेषकर उल्लेखनीय हैं। इस बात का श्रीगणेश श्री वारान्निकोव द्वारा अनूदित 'रामायण' ने किया था।

अनुवाद के अतिरिक्त हमारे यहाँ हिंदी का अध्ययन-अध्यापन का काम किया जा रहा है। केवल मास्को में पाँच ऐसे सस्थान हैं जिनमें हिंदी पढाई जाती है। इनमें शोधकार्य भी हो रहा है। हमारे हिंदीवेत्ताओ ने केवल हिंदी में ही इस भाषा के पाँच व्याकरण लिखे हैं जिनमें श्री दीम्शित्स द्वारा रचित सात सौ पृष्ठों वाला 'हिंदी व्याकरण' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कोशकार्य में भी काफी बडा काम हो रहा है। हिंदी-रूसी और रूसी-हिंदी बारह शब्दकोशों का संकलन हुआ है जिनमें दो खडों का हिंदी-रूसी शब्दकोश विशेषकर उल्लेखनीय हैं। इनमे दो खडो वाला रूसी हिंदी शब्दकोश भी सकलित किया है। पर रूस देश मे हुए परिवर्तन के कारण उसका प्रकाशन लंबी दराज में रखा गया।

हिंदी को पढाने के लिए हमने नौ पाठ्यपुस्तकों को लिखा है। एक के लिए तीन रूसी विद्वानों को उन्नीस सौ उनहत्तर में इडो-सोवियत मैत्री का नेहरू पुरस्कार दिया गया था। मगर हम पुरस्कारों के लिए काम नहीं करते। हिंदी भाषा हम हिंदीवेत्ताओ की जिंदगी हो गई है। यह हमारा भाग्य है और भारत इसका विधाता है।

एक अन्य बात है जिसका आज उल्लेख करना अत्यावश्यक है। पचास वर्ष हुए इसी १३ अप्रैल को हमारे दोनों देशों के बीच राजनीतिक संबध स्थापित हुए थे। अब हम इन संबंधों की स्वर्ण जयंती मना रहे हैं। आशा है कि हम ऐसी अनेक जयतियाँ आने वाले दशकों मे मनाएँगे।

प्रिय नव स्नातको!

आज आप लोग गुरुकुल के पवित्र प्रांगण में विद्या निष्णात होकर दीक्षित हो रहे हैं। ये सारा देश आप लोगो से कुछ विशेष अपेक्षा करता हुआ आपकी ओर निहार रहा है। आपके जीवन को इस देश की परंपरा ने पाला है, आपकी शिक्षा मे गौतम, कपिल, कणाद, जैमिनि के जीवन दर्शन का समावेश है, राष्ट्रीयता की भावना के गीतो को आपने जीवन मे उतारा है। आप उस अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंद के पुत्र हो जो निर्भीक संन्यासी थे, आपने उस महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र पढा है, जो युगो-युगों में एक अद्‌भुत क्रांति के अग्रदूत थे। प्रकृति के उस सुरम्य वातावरण मे आपकी शिक्षा हुई है जहॉ प्रातःकाल वेद मंत्रो की ऋचाओ का गान होता है। जहॉ प्रतिदिन यज्ञ की सुगंध वातावरण को मोहक बनाती है। आपको वे विचार दिए गए हैं जिनमें विनय, नम्रता, शालीनता, गुरुभक्ति, सच्चरित्रता, उदारता और देशप्रेम का निवास रहता है।

आज भारत के सामने अनेक चुनौतियॉ हैं। आप नव स्नातकों को इन चुनौतियों का सामना करना है। आपके सामने अनेक प्रकार की बाधाएँ आएँगी, अनेक प्रलोभन आपको दिए जाएँगे, समय-समय पर अनेक यातनाएँ भी आपको दी जा सकती हैं, किंतु आपको सबका सामना करते हुए अपने कर्तव्य पथ पर अडिग रहना है। हमारा आशीर्वाद-शुभकामनाएँ आपके साथ हैं। आपका मार्ग प्रशस्त हो, आपकी विद्या बलवती हो, आपका भविष्य उज्ज्वल हो, देश के विभिन्न प्रकार के तामस को दूर करने मे आपकी विद्या प्रकाशस्तंभ का कार्य करे। अंत में मैं समस्त कुलवासियों के प्रति अपनी सद्‌भावना व्यक्त करता हूँ।

ओ३म् शांति: शांतिः शांतिः

[13 अप्रैल, 1997]

भारत पर विश्वास रखें। अपने पर विश्वास रखें।

•

डॉ. सुमतीन्द्र राघवेन्द्र नाडिग

गगा के पावन तट पर पूज्य स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज द्वारा संस्थापित गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के ९८वें वार्षिकोत्सव एवं दीक्षान्त समारोह के इस अवसर पर आपके सामने दो शब्द कहते हुए मुझे अत्यंत प्रसन्नता हो रही है।

आप अपने अध्ययन की महत्त्वपूर्ण अवस्था में पहुँच चुके हैं। आपने योग्यता प्राप्त कर ली है। अब स्वय अपने-आप आगामी अध्ययन करने के लिए आप सक्षम बन चुके हैं। जो कुछ अब तक आपने सीखा है, वह अध्ययन का केवल एक अश था।

आचार्यात् पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण च।

जो कुछ आपने अब तक सीखा है उसका एक चौथाई अंश अपने अध्यापकों से सीखा, एक चौथाई अपनी बुद्धिमत्ता का प्रयोग करके अपने आप सीखा तथा एक चौथाई अपने संगी-साथियो से सीखा। बाकी बचा एक चौथाई भाग आप समय के साथ सीखेंगे। जो कुछ आप समय के साथ सीखेंगे, वही आपकी शिक्षा का सबसे प्रमुख और श्रेष्ठ अंश होगा।

आइए, मैं आपको अध्ययन के कुछ भेद (मर्म) बताता हूँ। यह मत सोचिए कि आप उन्हें जानते हैं, क्योंकि आप उन्हे केवल अभ्यास के द्वारा जानेंगे। सर्वप्रथम, मैं चाहूँगा कि आप 'योगी' बनें। मैं 'राजयोग' या 'हठयोग' की सलाह नहीं देने जा रहा हूँ। मैं जिस योग की सलाह देने जा रहा हूँ, वह सबसे व्यावहारिक है, सबसे यथार्थ है, सबसे फलदायी है, लेकिन साथ ही सब योगों से कठिन है—अर्थात् 'कर्मयोग'।

श्रीकृष्ण कहते हैं—योगः कर्मसु कौशलम्/कौशल दक्षता है, शिल्पकारिता

है, पूर्णता है, और वह सब है जो प्रत्येक को खुशहाल बनाता है।

कर्म में कौशल प्राप्त करने के लिए योग जरूरी है। कर्म वह कोई भी कार्य है, जो आप करते हैं। वह चाहे आप लिपिक बनें या अधिकारी, अध्यापक बनें या मैनेजर। यदि आप अपना कार्य उचित तरीके और लगन के साथ करते हैं तो आप योगी हैं। लेकिन किसी भी कार्य को उचित ढग से करना तभी सभव है जब आपमे एकाग्रता हो। हमारा मन निष्क्रिय कभी नहीं रहता। वह एक चीज से दूसरी चीज, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करता रहता है। वह हमेशा भटकता रहता है। बारहवीं सदी में कर्नाटक के संतकवि बासवन्ना ने कहा है--"मन बदर की भाँति एक डाली से दूसरी डाली पर कूदता रहता है।"

यदि आपमे कौशल है तो कार्य करते हुए आपका मन भी आपके कार्य में लीन होगा। और अब आप श्रेष्ठ अथवा सर्वश्रेष्ठ कार्य करते हैं तो आपको 'आनद' की अनुभूति होती है। यदि आप अपना कार्य उत्तम ढग से करते हैं तो इससे दूसरो को खुशी होगी, और वे आपकी प्रशसा किए बिना नहीं रह सकेंगे। यद्यपि गीता का संदेश है कि कर्म करते रहिए और फल की इच्छा मत कीजिए। लेकिन विश्वास रखिए, उत्तम कर्म का पुरस्कार आपको अवश्य मिलेगा।

लेकिन हाँ, कर्म का फल मिलने मे देरी हो सकती है। अतः धैर्य रखें। इस सदर्भ में मैं आपको एक और परामर्श देना चाहूँगा कि आप सादा जीवन व्यतीत करें। सादे जीवन का अर्थ है कि आपके पास रहने की जगह होनी चाहिए, भोजन होना चाहिए, नींद होनी चाहिए और साथी होना चाहिए। रहने की जगह जरूरी नहीं कि महल हो। भोजन का अर्थ पाँच सितारा होटलों में मिलने वाला वरिष्ठ भोजन नहीं है। और नींद का अर्थ कदापि वह नहीं है जिसका आनद फ्रांस या इटली से आयातित गद्दो पर लिया जाए।

समय को आपके लिए कुछ करने का समय दीजिए। जब तक समय आपके लिए कुछ करने के लिए आए, तब तक कर्म के लिए हमेशा तत्पर रहिए। और निश्चय ही, बुरा समय आपके पास कभी नहीं आएगा।

एक अन्य भेद अथवा रहस्य के बारे मे मैं आपके साथ बात करना चाहूँगा। वह भेद उस शत्रु के बारे मे है, जो आपके भीतर रहता है। उस शत्रु को आप स्वयं ही अपने से दूर रख सकते हैं। और वह शत्रु है--'आलस्य'।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यम समो बंधुः यं कृत्वा नावसीदति।।

आलस्य नामक यह शत्रु राक्षस है, जो आपके पास कई रूपों में आता है। वह आपके पास नींद, थकान, मित्रों, प्रलोभन और बहानेबाजी के नाना

रूपों में आता है। वह आपसे झूठ बोलने को कहेगा, वह आपसे काम में देरी करने को कहेगा, या फिर काम से बिल्कुल ही जी चुराने को कहेगा। इस शत्रु से हमेशा सावधान रहिए।

अब मैं आपको एक और मंत्र बताता हूँ। भाषा वह शक्तिशाली हथियार है जिससे आप पूरे संसार पर विजय पा सकते हैं। आपको किसी भी भाषा के अधिक से अधिक शब्दो को जानने की कोशिश करनी चाहिए। 'शब्द' को जानने का मतलब यह जानना है कि शब्द का प्रयोग कैसे होता है, उसके वाच्यार्थ और सूच्यार्थ क्या हैं, तथा उसकी व्युत्पत्ति कैसे हुई। आपको शब्द का उच्चारण इस प्रकार करना चाहिए कि आपके मस्तिष्क का अर्थ और वह शब्द दोनो सुनने वाले को साक्षात् दिखाई देने लगें।

बहुत पहले मैंने एक बच्चे को 'रोशनी' शब्द को दोहराते हुए सुना। वह बार-बार 'रोशनी-रोशनी-रोशनी' कह रहा था, और एक अवस्था ऐसी आई कि शब्द स्वयं रोशनी बन गया। मैं शब्द की चमक को देख सकता था। किसी भी चीज को स्मरण करने की दक्षता आप भी अर्जित कर सकते हैं ताकि वह चीज सुनने वाले के बिल्कुल सामने प्रत्यक्ष हो जाए। यह अंधेरे में रखी किसी चीज पर रोशनी डालने के समान है। इस योग्यता को 'काव्य मीमांसा' में 'उद्दीपन' कहा जाता है। आप सबको ऐसी जादुई शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब मैं आपसे शिक्षण माध्यम के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ। मैं आपको बधाई देता हूँ कि आप स्वामी श्रद्धानन्दजी के सपने का एक भाग बने, जो मातृभाषा को शिक्षण माध्यम बनाना चाहते थे। भारत मे स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भी हमने बच्चों को अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देने की गलत शिक्षानीति को जारी रखा। हमने डॉक्टरों, इंजीनियरों और वैज्ञानिकों को प्रशिक्षित करने के लिए करोड़ों रुपए खर्च कर दिए। और ये विकसित मस्तिष्क अमेरिका, इंग्लैण्ड, कनाडा तथा दूसरे देशों में नौकरी करने चले गए। शिक्षा में लगाए हमारे पैसे का लाभ दूसरे देशों ने उठाया। यह राष्ट्रीय हानि है। यदि हमने बच्चों को उनकी मातृभाषा में शिक्षित करने में इस धन को लगाया होता तो हमारे देश में ऐसे डॉक्टर और इंजीनियर बनते जो ग्रामीण भारत में काम करने को तैयार हों। लेकिन इसकी बजाय हमने अपने बच्चों को अग्रेजी में शिक्षा दी और उन्हें अमेरिका या इंग्लैण्ड जाकर खूब पैसा कमाने के सपने दिखाए। मैं कहना चाहता हूँ कि जो विदेशों में गए, उनमें से अधिकांश के पास आज पैसा तो खूब है, लेकिन खुशी नहीं है, क्योंकि अब उनके बच्चे भारत लौटना नहीं चाहते। उनके बच्चे न भारतीय रहे हैं, और न ही अमेरिकन या कनाडियन बन पाए हैं। क्या आप उस तरह का 'त्रिशंकु-जीवन' चाहते हैं?

अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षण का एक और खतरा है। सभी शिक्षित व्यक्ति तो विदेश नहीं जा सकेंगे। चूँकि अंग्रेजी भारतीय भाषा नहीं है, इसलिए यह हमें हमारी ही सस्कृति से बेगाना कर देती है। इस प्रकार भी हम 'त्रिशंकुओं' की संख्या ही बढा रहे हैं। मातृभाषा के साथ हमारा जीवन इतने अधिक भावात्मक रूप से जुडा होता है कि हमारी अभिव्यक्ति जितनी सशक्त मातृभाषा में होती है, उतनी अंग्रेजी में हो ही नहीं सकती। मातृभाषा बाह्य संसार के साथ ही आंतरिक संसार को भी समझने में हमारी सहायता करती है। यह न केवल हमें अपनी भावनाओं को जानने में मदद करती है, बल्कि अपने आपको जानने-समझने में भी सहायक सिद्ध होती है। यह हमारी संस्कृति है, हमारा जीवन है, हमारी माँ है।

दूसरी ओर, अग्रेजी भारत में बनने वाले विभिन्न व्यंजनों का नाम तक नहीं बता सकती। और हमारे संबंध? हमारे सभी संबंधों को अभिव्यक्त करने में भी अग्रेजी असमर्थ है। अंग्रेजी हमें आम बनाती है, विशिष्ट नहीं। इसीलिए अंग्रेजी में लिखने वाला कोई भी भारतीय लेखक उतना ऊँचा नहीं हो पाया, जितने कि भारतीय भाषाओं में लिखने वाले लेखक ऊँचे और विशिष्ट हो पाए। अंग्रेजी में लिखने वाला कोई भी भारतीय लेखक आज टैगोर, तकाषि शिवशंकर पिल्ले, प्रेमचन्द्र, अज्ञेय, बेंद्रे, मौणी, शिवराम कारंत, सच्चिदानन्द राउतराय (आदि) नहीं बन पाया।

अंग्रेजी शिक्षा ने हमें भारी नुकसान पहुँचाया है। फिर भी हम अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलो के प्रति अपना आकर्षण कम नहीं कर पाए हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी, गाँधी जी और टैगोर जैसे महापुरुषों ने पश्चिमी जीवन की पद्धति के पर्याय के बारे में सोचा था, लेकिन भारत में आज भी पश्चिमी सोच का बोलबाला है। यदि हमें स्वयं को बचाना है, तो तुरंत पूरे भारत में शिक्षण का माध्यम मातृभाषाओं को बना देना चाहिए। हमारी भाषाएँ इस चुनौती का सामना करने में पूर्णतः सक्षम हैं। इसलिए मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ कि आपने अपनी शिक्षा हिंदी के माध्यम से ग्रहण की।

अंग्रेजी से घृणा मत करें। जिस प्रकार विभिन्न भाषाओं के शब्दों को लेकर अंग्रेजी समृद्ध हुई है, उसे जानने की कोशिश करें। अंग्रेजी को पुस्तकालीय भाषा बना रहने दें। हमें पुस्तकालीय भाषाओं के रूप में चीनी, जापानी, रूसी, अरबी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि भाषाओं को भी अपनाना चाहिए। उनके लिए हमारे शिक्षण का माध्यम बनना जरूरी नहीं है। उसी प्रकार अंग्रेजी के लिए भी नहीं।

मैं हमेशा सकारात्मक रूप से सोचता रहा हूँ। अतः मेरा अनुरोध है कि आप भी सकारात्मक रूप से सोचिए। अपने पर विश्वास रखिए। ऐसा कुछ

है जिसे दूसरों की अपेक्षा आप ही श्रेष्ठ ढग से संपन्न कर सकते हैं। उस अनोखी प्रतिमा और उसके द्वारा दूसरों को दिए जा सकने वाले लाभों को जानने की कोशिश करें। हमारे इस संसार में अधिकांश लोग कुछ लेना ही चाहते हैं, और वे इस बात को जानने की कोशिश नहीं करते कि वे दूसरों को क्या दे सकते हैं। उन लोगों की तरफ मत देखिए जिनसे आप सहायता ले सकते हैं, बल्कि उन लोगों की तरफ देखिए जिनकी आप सहायता कर सकते हैं। अपने आपको कमी बेल की तरह कमजोर न समझें। कमजोर लोगों को दूसरों के सहारे की आवश्यकता होती है। बेल को भी पेड़ का सहारा लेना पडता है। लेकिन यदि आप अपने भीतर शक्ति का सचार करें तो आप सहारा खोजने की बजाय दूसरों का सहारा बनेंगे। अगर आप पेड की तरह हैं तो दूसरे लोग बेलों की तरह आपका सहारा पाने के लिए आपके पास आएँगे।

दूसरों की सहायता करने के लिए किसी का धनी होना जरूरी नहीं हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी भले ही रुपयों से धनी व्यक्ति नहीं थे, लेकिन वे सपनों के संसार के धनाढ्य व्यक्ति थे। अपने एक सपने में (मेरे कुछ असिद्ध स्वप्न) उन्होंने एक गुरुकुल को देखा। वे शिक्षा का प्रचार-प्रसार ग्रामीणो मे करना चाहते थे। उन्होंने कृषि संबंधी संकाय के बारे में सोचा जहाँ छात्र कृषि के सभी पहलुओं की जानकारी प्राप्त कर सकें। उन्होंने आयुर्वेद और वाणिज्य के संकायों के बारे में भी विचार किया। वे किताबी ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक अनुभव को महत्त्व देते थे। वे चाहते थे कि छात्र परिश्रम का अर्थ समझें। जो परिश्रम से प्यार करता है, वह कभी जीवन की सुविधाओ में अपना समय नष्ट नहीं करता। उन्होंने गुरुकुल के लिए निजी संपत्ति कोठी, प्रैस, स्वत्व एवं परिवार अर्पित कर दिया।

जो भी व्यक्ति परिश्रम करता है, वह निश्चित रूप से समाज के कल्याणार्थ कार्य करता है। जो दूसरों का सहारा बनना चाहता है, वह समय नष्ट करने की सोच भी नहीं सकता। उसे अपना जीवन सार्थक लगता है, क्योंकि अनेक लोग उससे मदद माँगने के लिए आते हैं। आप दूसरों की मदद तभी कर सकते हैं, अगर आप उन्हें प्यार करते हों या स्वयं को उनसे जुड़ा हुआ अनुभव करते हों। जब आप दूसरों से प्यार करते हैं और उनकी मदद करते हैं तो आप महसूस करेंगे कि वे लोग भी आपसे प्यार करते हैं। तब आपको अनुभव होगा कि आपने बहुत कुछ पा लिया है। आपमें कुछ लेने की अपेक्षा कुछ देने की क्षमता अधिक होनी चाहिए।

आप पूछ सकते हैं कि एक निर्धन व्यक्ति क्या दे सकता है? मैं बताता हूँ। वह आपके होंठों पर एक सुंदर मुस्कान ला सकता है। यदि आप उदासी के अथाह सागर में डूबे हुए हैं, तो वह आपमें आनंद का संचार कर सकता

है। यदि आप किसी वाहन आदि से टकरा जाएँ तो वह आपको उठने में सहायता कर सकता है, या आपको अस्पताल ले जा सकता है। किसी घर में चोर को घुसता देखकर वह लोगों को सचेत कर सकता है। संक्षेप में, ऐसी अनेक चीजें हैं, जो वह कर सकता है। इसलिए यह मत सोचिए कि आपके पास दूसरो को देने के लिए कुछ नहीं है। अपने भीतर खोजकर देखिए कि आप कितना कुछ दे सकते हैं। आप आश्चर्यचकित रह जाएँगे।

जो कुछ दूसरे कहें, उसे तत्काल स्वीकार न करें। उस सब पर विचार करें। सत्य के परिप्रेक्ष्य में उनके कथन को नकारने के लिए प्रमाण अथवा तर्क तलाश करने की कोशिश करे। जब आप इन्हें तलाश करने मे असफल हो जाएँ तो जो कुछ वे कहते हैं, उसे स्वीकार कर लें—कम से कम तब तक के लिए, जब तक उनके कथन की पूर्ण सत्यता अथवा असत्यता को जानने का आपमें अनुभव न आ जाए।

ज्ञान अर्जित कीजिए। सर्वव्यापी ज्ञान। सितारों, ग्रहों तथा अन्य खगोलीय पिंडों के बारे मे केवल पढना काफी नहीं है। आकाश में देखिए। यात्राएँ कीजिए। पशु-पक्षी व वनस्पति जगत् पर ध्यान दीजिए। हर चीज को देखने-जानने के प्रति जिज्ञासु बनिए। छोटी से छोटी चीज में भी जानने के लिए बहुत कुछ होता है—अब चाहे वह कीटाणु हो अथवा जीवाणु। यह संसार एक रहस्य है, तथा इसमें पाई जाने वाली प्रत्येक वस्तु भी उतनी ही रहस्यमय है। इस रहस्य के बारे में चिंतन करना सीखिए। अनुभव कीजिए। किसी भी चीज को समझने के लिए उसका अनुभव करना ही एकमात्र रास्ता है।

भारत एक महान् देश है। संसार के किसी भी और देश में इतनी भिन्नता देखने को नहीं मिलती, जितनी कि इस देश में है। इतने वेद-पुराण, इतना समृद्ध लोक-साहित्य, इतने देवी-देवता, इतने रीति-रिवाज और तीज-त्योहार, इतने प्रकार का भोजन, इतनी अधिक भाषाएँ, इतने भाँति-भाँति के लोग, इतने भिन्न प्रकार का प्राकृतिक सौंदर्य। क्या आप इस देश को एक निर्धन देश कहना चाहेंगे? क्या आपको इस देश में रहते हुए शर्म आती है? क्या आप समझते हैं कि किसी भी भारतीय को अमेरिका या इंग्लैण्ड या कनाडा में नौकरी मिलना एक महान् उपलब्धि है? मैं स्वयं अमेरिका में फिलेडेल्फिया स्थित टैम्पल यूनिवर्सिटी में अंग्रेजी में पी-एच.डी. कर रहा था। तीन वर्ष पूरे होते-होते मैं वहाँ रहते हुए इतना अधिक अमेरिकन बन गया था कि मुझे अपनी भारतीय पहचान खो जाने का डर लगने लगा। अगर मैं तीन महीने और वहाँ रहता तो मेरी पी-एच.डी. पूरी हो जाती और मुझे वहाँ पक्की नौकरी मिल जाती। अमेरिकी डालर मुझे वहीं रहने के लिए ललचा रहे थे, लेकिन पीएच.-डी. पूरी करने से पहले ही मैंने निर्णय लिया और भारत लौट आया।

मुझे मालूम था कि लौटने पर मुझे कर्नाटक मे प्राध्यापक की नौकरी नहीं मिलेगी। गुजारे के लिए मेरे पास न धन था और न जायदाद। मैं अपनी मातृभाषा का कवि रहना चाहता था। अत: मैंने कोई भी काम करने का निर्णय किया। मैंने सोचा कि किराने की दुकान या प्रिंटिंग प्रेस शुरू की जाए। और यदि यह सभव न हो पाए तो मुझे पटरी पर बैठकर पकौडे या समोसे बेचने मे भी सकोच नहीं था। तभी कुछ दोस्तों ने मुझे बगलौर मे पुस्तकों की दुकान खोलने के लिए प्रेरित किया। और मैं एक पुस्तक-विक्रेता बन गया।

यह सब मैं इसलिए बता रहा हूँ क्योंकि मैं चाहता हूँ कि आप आत्मनिर्भर बने। सरकारी नौकरी पाने को महान् उपलब्धि मत समझें। ध्यान से नलसाजी, बिजली का काम सीखे। किसान की तरह जीवन बिताने के विषय मे भी आप सोच सकते हैं। या फिर सीधे गॉव में जाकर समाज कल्याण सबधी कार्य कीजिए। किसी न किसी प्रकार के स्वरोजगार के द्वारा आप निस्संदेह जीवन-यापन कर सकते हैं।

स्नातक बनने जा रहे प्रिय छात्रो! यदि भारत शक्तिहीन होगा तो कोई भी देश उसकी परवाह नहीं करेगा। २७ वर्ष पहले जब मैं अमेरिका में था तो किसी भी समाचार-पत्र ने भारत के संबंध मे कभी कोई समाचार प्रकाशित नहीं किया। लेकिन जब भारत ने बम का परीक्षण किया तो एकाएक भारत समाचार-पत्रों की सुर्खियो मे था। मुझे यह देखकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि भारत एक शक्तिशाली देश है। मैं यह नहीं कहता कि हमारे पास परमाणु बमो और हाइड्रोजन बमों का एक बडा भण्डार होना चाहिए। लेकिन हमारे पास क्षमता अवश्य होनी चाहिए। कुछ ही समय पहले की बात है, जब अमेरिका ने भारत को सुपर-कम्प्यूटर बेचने से इनकार कर दिया। लेकिन उसके दस-पन्द्रह दिन बाद ही यह समाचार प्रकाशित हुआ कि हमारे वैज्ञानिकों ने स्वय एक सुपर-कम्प्यूटर विकसित कर लिया है। अब बमों का परीक्षण अनुरूपण प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है। अब वास्तव में अपने सामने बम का विस्फोट करने की आवश्यकता नहीं है। इससे क्या प्रकट होता है? इससे स्पष्टत: सिद्ध होता है कि ज्ञान शक्ति है। भारत में इतनी प्रतिभाएँ हैं कि हमें किसी से भी डरने की आवश्यकता नहीं है। भारत पर विश्वास रखें। अपने पर विश्वास रखें। इस बात का पता लगाएँ कि आपमें से प्रत्येक में कितनी ऊर्जा है। आपके पास शारीरिक ऊर्जा है, मानसिक ऊर्जा है, आध्यात्मिक ऊर्जा है, दैवी ऊर्जा है।

अत: इस ऊर्जा के अन्वेषक बनें।

ईश्वर आपके साथ है।

[सन् 1998]

अपनी विद्या और बुद्धि से संसार को सुवासित करो

श्री सोमपाल

आज गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के दीक्षात समारोह के अवसर पर अमरहुतात्मा स्वामी श्रद्धानद जी महाराज की तपस्थली मे आकर मैं स्वयं को धन्य मानता हूँ। गुरुकुल कांगडी के रूप मे राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व प्रवर्तन करके स्वामी जी ने भारतीय सस्कृति के सरक्षण के कार्य को सशक्त किया था। गुरुकुल के आचार्यों, ब्रह्मचारियो तथा कर्मचारियों ने स्वाधीनता, चरित्र निर्माण तथा सस्कृति की रक्षा के लिए अनवरत कार्य किया। इस ऐतिहासिक सस्था मे पधारने वाले युगपुरुषो की एक लबी शृखला है। महात्मा गाधी, प० मदन मोहन मालवीय, साधु टी. एल. वासवानी, आचार्य नरेंद्र देव, पं. जवाहरलाल नेहरू, पं. गोविद बल्लभपत, डॉ. सपूर्णानद, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, डॉ. राजेंद्र प्रसाद, महात्मा आनद स्वामी श्री, चद्रभानु गुप्त, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, श्री अनत शयनम् आयंगर, श्री मोरार जी देसाई, बाबू जगजीवन राम, श्रीमती इंदिरा गाधी, डॉ. बलराम जाखड, श्री ज्ञानी जैल सिंह, श्री वीर बहादुर सिंह, श्री चीमनभाई मेहता, श्री चंद्र शेखर, डॉ. शिवराज पाटिल सदृश विभूतियाँ यहाँ पधार चुकी हैं।

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के साथ मेरा सबंध बहुत पुराना है। मैंने यहाँ के आचार्यों का अनुकरण करके अपने जीवन को सँवारा है। मेरे पूज्य पिता जी डॉ रघुवीर सिह शास्त्री यहाँ के कुलपति तथा कुलाधिपति रहे हैं। मैं स्वय भी यहाँ की विभिन्न शासी-समितियों का सदस्य रहा हूँ। मेरा तो परिवेश ही गुरुकुलमय है। स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज, युग प्रवर्तक, आर्य समाज के संस्थापक, वेदोद्धारक महर्षि दयानद सरस्वती के अनन्य शिष्य थे।

उन्होने महर्षि दयानद सरस्वती द्वारा प्रतिपादित निम्न सिद्धातो के आधार पर गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रवर्तन का अदम्य साहस एव उत्साह दिखलाया था—

1. यह राजनियम और जाति नियम होना चाहिए कि आठवे वर्ष से आगे, कोई अपने लडके-लडकियो को घर मे न रखे। पाठशाला मे अवश्य भेज देवे, जो नहीं भेजे, वह दण्डनीय हो।
2. लडको और लडकियो के गुरुकुल पृथक्-पृथक् हो।
3. विद्यार्थी लोग गुरुकुलो में ब्रह्मचर्य का पालन करे।
4. गुरुकुल मे सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिए जाएँ, चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र के सतान हो। सबके साथ एक जैसा व्यवहार किया जावे।
5. गुरुकुलो मे गुरु और शिष्य पिता और पुत्र के समान रहे।
6. विद्या पढने के स्थान, गुरुकुल शहर व ग्रामो से दूर एकात मे हो।
7. शिक्षा मे वेदाग तथा सत्य शास्त्रो का प्रमुख स्थान दिया जाए। साथ ही राज विद्या, सगीत नृत्य, शिल्प विद्या, गणित, ज्योतिष, भूगोल-खगोल, भूगर्भ विद्या, यत्र कला, हस्त क्रिया, चिकित्सा शास्त्र आदि का भी यथोचित रूप से अभ्यास कराया जावे।

निस्सदेह ऋषिवर के ये विचार शिक्षा के क्षेत्र मे भविष्य की शिक्षानीति को प्रभावित करने वाले, अत्यत क्रातिकारी विचार थे। आर्यसमाज के नेताओ मे अग्रणी स्वामी श्रद्धानद ने इन आदर्शों, सिद्धातो एव मान्यताओ को कार्यरूप मे परिणत करने का शुभ सकल्प लिया और उसी का जीता जागता स्वरूप गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय है।

स्वामी श्रद्धानद का वैदिक सस्कृति को सरक्षण तथा राष्ट्रीय विचारधारा के प्रचार-प्रसार का स्वप्न साकार हुआ। उनके निर्देशन मे जो आचार्यगण अपने अंतेवासियो को राष्ट्रभक्ति का पाठ पढाया करते थे, वे स्वय भी उन्हीं विचारधाराओ से ओत-प्रोत होते थे। वे उस उत्तरीय को धारण करते थे, जिसका ताना और बाना देशभक्ति स्वाधीनता, स्वावलबन, सच्चरित्रता निश्छलता तथा निर्भीकता के धागो से बुना जाता था। आचरण की भाषा मौन होती है। आचार्यों का आचरण ही ब्रह्मचारियों को सही दिशा मे चलने का मार्ग प्रशस्त करता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन:।
स यत्प्रमाण् कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

महाजन, श्रेष्ठ, जन, सुधीजन, नेता और सन्यासी जिस प्रकार का आचरण करते हैं, अनुवर्ती लोग उसी प्रकार का आचरण करते हैं। हमारा कर्तव्य है

कि हम मनसा वाचा कर्मणा एक सा व्यवहार करे। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली वेदो पर आधारित है। वैदिक शिक्षा मे सकीर्णता का लेश भी नहीं है। यहॉ पर सकीर्णता, साम्प्रदायिकता, स्वार्थपरता, निरकुशता, वादपरता नहीं है। यहॉ पर है—सच्ची मानवता, परमार्थ की भावना, विश्वबधुत्व का उद्‌घोष और समूचे विश्व को मित्र की दृष्टि से देखने का आदर्श। वेदो मे मानव की उन्नति के, भौतिक एव आत्मिक, दोनो ही सम्पत्तियो को प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। शिक्षा का उद्देश्य मानव की आंतरिक तथा बाह्य शक्तियो का विकास करना है। मुझे प्रसन्नता है कि गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय मे प्राचीन एव नवीन विषयो के अध्ययन, अध्यापन एव अनुसंधान की समुचित व्यवस्था है। भारतीय सस्कृति के परिचायक एव पोषक विषयों-वेद, सस्कृत, दर्शन, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एव सस्कृति तथा योग आदि विषयो के साथ-साथ हिदी, अग्रेजी, मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि नवीन विषयो के अध्यापन की भी व्यवस्था है। छात्राओं के लिए संगीत, चित्रकला, गृहविज्ञान आदि की व्यवस्था है। मुझे स्मरण है, भारत के प्रथम प्रधानमत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने गुरुकुल कागडी के विज्ञान महाविद्यालय का उद्‌घाटन करते हुए कहा था—"मैंने गुरुकुल को देखा तथा यहॉ की कार्यप्रणाली की जानकारी ली। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह सस्था अच्छा कार्य कर रही है। इस अवसर पर मैं इस बात पर जोर देना चहाता हूँ कि देश के सास्कृतिक आदर्शो की रक्षा के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान विज्ञान को भी तरजीह देनी चाहिए, क्योकि आज की दुनिया को इनकी बडी जरूरत है। इन्हीं दोनो के समन्वय से हमारा भाग्य सुरक्षित रह सकता है।" गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय ने विज्ञान के क्षेत्र मे भी अध्ययन, अध्यापन एवं शोध की व्यवस्था की है, यह हर्ष का विषय है। यहॉ पर गणित, रसायन, भौतिकी, साख्यिकी, जतु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, पर्यावरण विज्ञान तथा सूक्ष्मजीव विज्ञान आदि विषय पढ़ाए जा रहे हैं। स्वामी श्रद्धानद जी महाराज का स्वप्न था कि ऐसे विषयो मे अध्यापन कराया जाए तो ब्रह्मचारियो को आत्मनिर्भर बनाएँ तथा उनके सामने आजीविका की समस्या न रहे। कम्प्यूटर और प्रबंधन ऐसे ही विषय हैं, जिनमें यहॉ पर उच्च शिक्षा की व्यवस्था है।

नवस्नातको, मैं यह कहना चाहता हूँ कि आने वाली शताब्दी सूचना प्रौद्योगिकी के विकास की शताब्दी होगी। भारत वर्ष ने इस दिशा में अभूतपूर्व उन्नति की है। कम्प्यूटर के सोफ्टवेयर के विकास में भारत किसी भी पाश्चात्य देश से कम नहीं है। कम्प्यूटर जगत् में प्रतिदिन नए आविष्कार और विकास हो रहे हैं। विश्वभर में कम्प्यूटर की दुनिया की मौजूद टेक्नोलोजी अब बीते दिनों की बात हो जाएगी। कम्प्यूटर का सिलिकोन आधारित माइक्रो प्रोसेसर

अपना समय पूरा कर चुका है। अब इसमे बदलाव किए जाने की जरूरत है। भारतीय विज्ञान सस्थान मे इन दिनो एक ऐसी बायो चिप तैयार करने की दिशा मे काम चल रहा है, जो जीवन के बुनियादी अग कोशिका पर आधारित है। इसका अर्थ है कि एक जीवित माइक्रो प्रोसेसर तैयार किया जा रहा है। सस्थान के वैज्ञानियो के सामने यह बात आई है कि सोलरियम बैक्टीरिया और हालो बैक्टीरियम मे पाए जाने वाले प्रोटीन लेजर के प्रभाव से कुछ खास गुणो को प्रकट करते हैं। इनके आधार पर एक त्रि आयामी चिप तैयार की जा सकती है, जिसमे काफी ज्यादा ऑकडो को सुरक्षित रखा जा सकता है। अब तक कम्प्यूटर सिलिकोन चिप पर चलते थे पर अब कम्प्यूटर बायोचिप पर चलने लगेगे। बायोचिप की स्मृति सिलिकोन चिप की अपेक्षा एक हजार गुणा अधिक होगी। मुझे विश्वास है कि यहॉ पर कम्प्यूटर विज्ञान विभाग भी इस दिशा मे प्रवृत्त होगा। आज देश का पर्यावरण प्रदूषित हो चुका है। इसको सुधारने का उत्तरदायित्व भी आपका है। वायु, जल, ध्वनि सभी मे प्रदूषण है। पर्यावरण विज्ञान विषय आपके विश्वविद्यलय मे पढाया जा रहा है। वैदिक ऋचा है–"उपह्वरे गिरीणा सगमे च नदीनाम्, धिया विप्रो अजायत।" पर्वतो की उत्पत्यकाओ मे तथा नदियो के सगम पर ब्राह्मणो की मेघा उद्‌बुद्ध होती है। गुरुकुल की स्थापना ऐसे ही प्रदूषणरहित स्थान पर हुई थी। आप इसे सँभाल कर रखिए। हमारी पारपारिक मर्यादा मे धरती, जल, आकाश ब्रह्माण्ड सभी कुछ शुद्ध रखने के आदेश हैं। वृक्षो, वनस्पतियो और पशु पक्षियो को रक्षणीय बनाया गया है। नदियो को शुद्ध रखने की बात कही गई है। आप सब मिलकर वनो की रक्षा कीजिए। नदियो को प्रदूषण मुक्त रखिए। वैदिक ऋचाओ मे वर्णित आश्रम व्यवस्था के अनुकूल ही हमारे ब्रह्मचारियो एव राष्ट्र के भावी कर्णधारो की शिक्षा, स्वास्थ्य-सौष्ठव एवं चरित्र निर्माण की शालाएँ, विद्यालय एव विश्वविद्यालय इसी प्रकार के सुशांत, सुरम्य प्रदूषण रहित वातावरण मे होने चाहिए।

इस विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करके अनेक स्नातकों ने देश-विदेश मे जाकर जो कार्य किया है, वह सराहनीय है। अपने हृदय मे विश्व बंधुत्व का भाव लेकर स्नातको ने विदेशो मे भी शिक्षा, धर्म, राजनीति तथा व्यवसाय के क्षेत्र में विशिष्ट मानदण्ड स्थापित किए हैं। पं. अमीरचंद विद्यालकार ने फिजी मे जाकर अनेक शिक्षण संस्थाएँ प्रारभ की। वे वहाँ के संसद सदस्य भी बने। आचार्य रामदेव, प. सत्यव्रत सिद्धांतालकार, प बुद्धदेव विद्यालंकार, प मदन मोहन, श्री विद्यासागर विद्यालंकार, प. सत्यपाल सिद्धांतालंकार, प. ईश्वरदत्त विद्यालकार, श्री सत्यदेव भारद्वाज वेदालकार, श्री धमेन्द्र नाथ वेदालंकार, श्री देवनाथ वेदालकार, श्री रणधीर वेदालंकार, श्री अमृतपाल

वेदालकार प श्याम सुदर स्नातक ने बर्मा, अफ्रीका, केन्या, युगाण्डा, टागानीका, सिगापुर, मलाया, यूरोप मे जाकर वैदिक सिद्धातो एव हिंदी भाषा का प्रचार प्रसार किया। मोजाबीक मे प रविशकर सिद्धान्तालकार, प सुमन्त राय विद्यालकार, प. मतिमान् विद्यालकार तथा रोडेशिया मे प हरिदेव वेदालकार और दक्षिण अफ्रीका मे प सुधीर कुमार विद्यालकार, श्री अरुण कुमार विद्यालकार, श्री हरिशकर आयुर्वेदालकार, प नरदेव वेदालकार ने सराहनीय कार्य किया। इस समय भी देश विदेश मे अनेक स्नातक गुरुकुल का नाम उज्ज्वल कर रहे है।

विश्वविद्यालय की रिपोर्ट मे पढा गया कि इस वर्ष विश्वविद्यालय मे राष्ट्रीय स्तर की १२ गोष्ठियो तथा क्षेत्रीय स्तर की चार खेलकूद की प्रतियोगिताएँ तथा अन्य अनेक शैक्षणिक एव सास्कृतिक कार्यक्रम सपन्न हुए। भारत वर्ष ने जिनकी, तपस्या, विद्वत्ता, सहृदयता, अनुरागिता, विश्वजनीनता तथा सद्भावना के बल पर विश्वगुरु का स्थान प्राप्त किया, वे इस देश के ऋषि और आचार्य ही थे।

एत्तद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ।।

पृथ्वी के सभी मनुष्य, इस देश मे उत्पन्न अग्रणी लोगो के जीवन व्यवहार के अनुरूप अपने आचरण एव चरित्र को ढालते थे। अत इन विशिष्ट कार्यक्रमो के आयोजन के लिए मैं आचार्यो का साधुवाद करता हूँ। देश के अभ्युत्थान में आचार्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। क्योकि वह केवल प्रस्तरीय ज्ञान प्रदान नहीं करता, बल्कि आचार एव सदाचार की शिक्षा देकर छात्र का निर्माण करता है।

गुरुकुल कागडी फार्मेसी के अधिकारियो से मैं यह कहना चाहता हूँ कि देश से लुप्त होती जा रही, जडी बूटियो का सरक्षण आवश्यक है। देश के आयुर्वेदिक और कास्मेटिक उद्योग मे जिस तेजी से दुर्लभ जडी बूटियो की मॉग बढती जा रही है, उससे उनके लुप्त होने का खतरा पैदा हो गया। हिमालय के 'टैक्टस' नामक पौधे का इस्तेमाल कैंसर की दवा बनाने मे होता है। यह पौधा बहुत धीरे विकसित होता है। इस सपदा की रक्षा हमे करनी चाहिए। भारत कृषि प्रधान देश है। अन्न और जल के यहॉ भण्डार हैं। इसको और विकसित करने की आवश्यकता है। राष्ट्रीय स्तर पर कृषि प्रौद्योगिकी की अनेक ऐसी योजनाएँ बनाई जा रही हैं, जिनसे इस क्षेत्र मे और अधिक उन्नति होगी तथा कृषि क्षेत्र मे सलग्न कृषको तथा मजदूरों का जीवन सुरक्षित हो सकेगा। गुरुकुल कागडी के कृषि फार्म को भी नवीन तकनीकों के आधार पर विकसित किया जाना चाहिए। युवा शक्ति के सम्मुख सामाजिक दायित्व

की कुछ चुनौतियाँ हैं। देश मे, समाज मे साक्षरता अभियान को चलाने मे अपूर्व योगदान दे सकते हैं। हमारे देश की लगभग आधी जनता साक्षर नहीं है। आप लोगो को विश्वविद्यालय स्तर तक अध्ययन करने का सौभाग्य मिला है। आप साक्षारता के राष्ट्रीय कार्यक्रम से जुडकर अपने कर्तव्य को पूरा कीजिए। शिक्षा का प्रसार केवल राजकीय प्रयत्नो से पूरा नहीं किया जा सकता। स्वैच्छिक रूप से कार्य करने वाले महानुभावो तथा सस्थाओ के सहयोग से साक्षरता के लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त किया जा सकता है। साक्षरता के अतिरिक्त कृषि के क्षेत्र मे बजर भूमि का विकास, भूमि रक्षा और जल ससाधनो का प्रबध, खेलकूद और सस्कृति का विकास, पर्यावरण और वनो की रक्षा, स्वास्थ्य एव परिवार कल्याण, जनसख्या नियत्रण की शिक्षा, नशीली वस्तुओं के उपयोग पर नियत्रण, एड्स सबधी शिक्षा और महिलाओ का विकास जैसे कार्यों को भी आगे बढाने की आवश्यकता है।

मुझे यह कहने मे गौरव की अनुभूति हो रही है कि भारत ने आज परमाणु शक्ति के क्षेत्र मे विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। पोखरन मे किए गए परमाणु विस्फोट ने हमे आत्म बल और गौरव प्रदान किया है। सर्वत्र जय जवान, जय किसान और जय विज्ञान का नाद गूँज रहा है। भारत को उन्नत करने मे आज नई पीढी को आगे आने की आवश्यकता है। युवा शक्ति को राष्ट्र को सँवारने मे अपने नए विचारो के साथ, नई ऊर्जा के साथ, सत्यासत्य पर आधारित चितन के साथ, अदम्य साहस के साथ आगे आना चाहिए। उपनिषद्कार ने कहा है—

सहनाववतु, सहनौ भुनक्तु
सहवीर्यं करवावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषा वहै।

हम दोनो आचार्य और शिष्य स्वय मिलकर अपनी परस्पर रक्षा करें, अपने परिश्रम के फलो का साथ साथ उपभोग करें, अपनी ऊर्जा का सदुपयोग करे, हमारी शिक्षा हमे मेधा तथा तेजस्विता प्रदान करे और हम परस्पर ईर्ष्या-द्वेष से रहित हो।

प्रिय नवस्नातको,

मैं अत मे तैत्तिरीय उपनिषद् के उसी उपदेश को दुहराता हूँ, जो आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को समावर्तन सस्कार के अवसर पर दिया जाता है।

सत्य वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमद।
स्वाध्याय प्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम्।।
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

आज आप लोग गुरुकुल के पवित्र प्रागण मे विद्यानिष्णात होकर दीक्षित

हो रहे हैं। सारा देश आपसे अपेक्षा करता है कि आप इस देश के सुयोग्य नागरिक बनकर, इसके निर्माण में तथा उत्थान में योगदान करेंगे। अपनी बुद्धि और विद्या से इस संसार को सुगधि से भर देंगे। दया, ममता, करुणा, न्यायप्रियता, समता सद्भावनों का अजस्त्र स्रोत आपके हृदय से झर झर बह उठेगा। आर्य संस्कृति के उच्चतम आदर्श की छाया मे, इस विश्वविद्यालय में आपने शिक्षा प्राप्त की है। आप अपने जीवन से उन सभी कलुषों को दूर करना जो मानव की आत्मा को दूषित और अपवित्र करते हैं। आपने ऋषियों की उस पवित्र होमाग्नि को प्राप्त किया है, जो समस्त मलिनता को भस्म करके इस विश्व में आपको समृद्धि प्रदान करेगी तथा आपके भविष्य को कटकाकीर्ण होने से बचाएगी। हमारा आशीर्वाद आपके साथ है। आपका कल्याण हो।

लोकाः समस्ता सुखिनो भवंतु।
सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्।।

ओ३म् शांतिः शांति शांतिः

[31 मार्च 1999]

समय को पढ़ो

•

श्री जयसिंगराव गायकवाड पाटील

मुझे आज बडी खुशी हो रही है कि इतने सारे पढे लिखे, ज्ञानी-मानी, ऋषि, सत सन्यासी आचार्य धर्म मार्तंडों के बीच मे विचार रखने जा रहा हूँ। मैं खुद को खुश-नसीब मानता हूँ। आप शायद जानते नहीं मेरा राजनीतिक जन्म ही इन स्नातको की कोख से हुआ है, आप ही के मतो पर मैं दो बार महाराष्ट्र विधान परषिद् पर चुना गया हूँ। तीन वर्ष तक महाराष्ट्र शासन में राज्य मंत्री भी स्नातकों के आशीर्वाद पर ही रहा हूँ।

सयोग की बात है कि मुझे केंद्रीय मंत्री परिषद् में स्थान मिला। विभाग भी शिक्षा का मिला। दिल्ली में पहला सत्कार हुआ वह भी अध्यापकों ने किया। आज आप स्नातको के बीच आ खड़ा हूँ।

शिक्षा क्षेत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। इस क्षेत्र की सेवा श्रेष्ठ सेवा है। वैसे तो सभी क्षेत्र की सेवाएँ श्रेष्ठ हैं। लेकिन First among equals सभी समान श्रेष्ठ सेवाओ मे प्रथम सेवा शिक्षा क्षेत्र की है। शिक्षा राष्ट्र के रचनात्मक विकास में योगदान देती है। राष्ट्रीय चरित्र का, राष्ट्रीय मानस का व राष्ट्र धर्म पर मर मिटने वाले सुजान नागरिको का निर्माण करने में, समाज मे समता व समरसता स्थापित करने मे सबसे बडा योगदान देने वाला क्षेत्र अगर कोई है तो वह है शिक्षा क्षेत्र। अन्य क्षेत्र मे होने वाली क्षति की परिपूर्ति बाद मे भी की जा सकती है, लेकिन शिक्षा क्षेत्र में क्षति होती है तो उसकी कमी को पूरा नहीं किया जा सकता। उससे कम से कम एक पीढी बरबाद हो जाती है।

इस महान् क्षेत्र को प्राथमिकता देना, प्रोत्साहित करना, उसे शक्ति प्रदान करना, यह विद्यमान सरकार की नीति है। सरकार चाहती है कि इस क्षेत्र में बहुत सारे सुधार व सुविधा हों। इतना ही नहीं, शिक्षा क्षेत्र में "भारतीय संस्कृति की आत्मा कायम रहे व उसे अत्याधुनिकता से जोड दें" यह सरकार की आतरिक भावना है।

इस भावना से जुडकर काम करने वालो की समस्याएँ कम हो, उनकी साधन सामग्री बढे इसके लिए हमारा निरतर प्रयास रहा है, रहेगा। क्योंकि आप आचार्य, अध्यापक जो विद्या का धन विद्यार्थियो में वितरित कर रहे हो, ज्ञान से उन्हे ओतप्रोत कर रहे हो—उसकी कोई तुलना नहीं है। हमारे शास्त्रो मे सबसे बडा धन विद्याधन माना गया है। उसके दाता आप आचार्यगण हैं।

न चौरहार्य न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्य
विद्याधन सर्वधनप्रधानम्।।

विद्या यह एक ऐसा धन है, जिसको चोर या राजा लूट नहीं सकता। जिसका सगे भाई बँटवारा नहीं माँग सकते। यह धन व्यय करने से कभी कम नहीं होता, अपितु वह निरंतर बढता ही जाता है। इसलिए सभी धनों में विद्याधन को श्रेष्ठ धन, प्रधान धन माना गया है।

जब महर्षि दयानंद सरस्वती सत्य को आत्मसात् कर उसके प्रचार-प्रसार में देश के कोने-कोने मे जाकर प्रबोधन कर रहे थे। तब वे भी ताड गए कि देश, समाज को सही दिशा में गतिमान् करना है, सत्य से अवगत कराना है, तो शिक्षा मे सुधार होना चाहिए। सत्य इतिहास समाज के सामने आना चाहिए। समाज मे नैतिकता का स्तर ऊँचा होना चाहिए। उनसे हमारे धर्म संस्कृति, संस्कारों के प्रति आदर भाव उत्पन्न होना चाहिए। सन्मार्ग पर चल उनमें देश व समाज के प्रति कर्तव्य की भावना पनपे, फूले फले। उन्होंने इस अज्ञान के अंधकार से समाज को बाहर निकालने का पूरा पूरा प्रयास किया। उनके इस महान् प्रयास को किसी आर्यसमाजी, भजनोपदेशक ने शब्दांकित किया है।

सोया था भारत जगाया ऋषि ने, नाद वेदों का जग में जगाया ऋषि ने
थी छायी अविद्या अँधियारी, आया अद्भुत ब्रह्मचारी
सत्यार्थ प्रकाश के द्वारा, चमका दी दिशाएँ सारी
सुपथ सनातन दिखलाया ऋषि ने, नाद वेदों का..

महर्षि दयानंद सरस्वती को अधकार मिटाकर ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित करने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाया। उनके सारे सपने अपने मन में सँजोए हुए स्वामी श्रद्धानंद जी ने १९०० में गुरुकुल स्थापना की और आज तक इस गुरुकुल से उच्च विद्याविभूषित ज्ञानी, गुणी ब्रह्मचारियों की टोलियों पर टोलियाँ निकलती रहीं हैं, जो समाज को दिशा देने में आज भी अग्रसर दिखाई देती है।

आज यह विश्वविद्यालय अपने आप मे एक मिसाल है। जिस विश्वविद्यालय

के छात्र अपनी पढाई की शुरुआत गायत्री मंत्र से करते हों और पूरा परिसर वेद ऋचाओं से गूँज उठता हो, जहाँ धर्म व संस्कृति की जय-जयकार होती हो, वह गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय अतुलनीय है। इसका आदर्श देशभर में लिया जा सकता है।

आज भारत मे हर प्रकार का प्रदूषण बढता जा रहा है। हम अपने स्वत्व को भूल रहे हैं। विदेशी संस्कृति का आक्रमण दिन-प्रतिदिन गतिमान हो रहा है। युवा पीढी खोखली होती दिखाई दे रही है।

नौजवान भारत का दिवाना हो गया।
पश्चिमी तहजीब का निशाना बन गया।।

नौजवान हमारे देश की सम्पत्ति है। लेकिन हमें ध्यान रहे कि वे युवा हैं। कहा जाता है कि "युवावस्था–यह सद्‌गुणो दुर्गुणों दोनों की जननी है। यह उपजाऊ भूमि जैसी है। इसमें जैसा बीज पड़ेगा वैसी फसल उत्पन्न होगी"। हमने गत ५० वर्षों मे इस उपजाऊ भूमि मे कौन से बीज बोए और कौन सी फसल पैदा की। दुर्भाग्य है इस देश का, कि नौजवानों की जितनी बरबादी इस देश मे हुई है उतनी अन्य किसी देश में नहीं।

आज सस्कार व सद्‌गुण दूरबीन से देखने पड़ रहे हैं। व्यक्ति व्यक्ति को पहचान नहीं रहा है। आतकवादी तैयार हो रहे हैं। गांजा, अफीम व आम्ली पदार्थ बेचने वाले तैयार हो रहे हैं। भ्रष्टाचारी, अनाचारी व बलात्कारी तैयार हो रहे हैं। कहाँ है सस्कार व सद्‌गुण। कोई भी अखबार खोलकर देखिए बलात्कार की वार्ता, आप पढेगे। बूढा बच्ची पर व बच्चा बूढ़ी पर बलात्कार कर रहा है। कहाँ है संस्कार? हमारी नैतिकता का स्तर कितना गिर चुका है। यह चिंता का विषय है।

आप इस प्रदूषण युक्त वातावरण को प्रदूषण मुक्त कराने की प्रक्रिया मे बहुत बडा योगदान दे रहे हैं। यह सराहनीय है। आप चरित्र संपन्न, देशभक्त, समाज सेवी नागरिक तैयार कर रहे हैं, इसलिए आपको धन्यवाद देता हूँ। सस्कार व सद्‌गुण के तलाश में आज हर एक राजनीतिज्ञ है। लेकिन उसे समझना चाहिए कि संस्कार व सद्‌गुण इंग्लैण्ड, अमेरिका से आयात नहीं किए जा सकते, वह गुरुकुलों में तैयार होते हैं।

इसलिए हम यह मानते हैं कि शिक्षा का क्षेत्र जाति, पंथ, मजहब व राजनीति से ऊपर है। शिक्षा में राजनीति नहीं होनी चाहिए, राजनीति में शिक्षा होनी चाहिए। यह देश के हित में, संपन्न भारत के हित में हैं, यह हमें समझना होगा।

भाषण तो मैं बहुत देर तक कर सकता हूँ, क्योंकि मैं आर्यसमाजी हूँ। सभी स्नातकों से मैं यही कहूँगा कि आप आगे बढ़ें सारा देश और समाज आप पर आस लगाए हुए है। जाइए समाज में घुलमिल जाइये। समाज

के प्रति श्रद्धा आदरभाव रखते हुए भ्रष्टाचार वाम मार्ग से बचकर चरित्र सपन्न जीवन देश व समाज की सेवा में लगाइए। आपकी एक अलग से पहचान बनी रहे। आपके जीवन में आपकी हर कृति पर आपके आचार्य प्रसन्न रहे व गर्व से कहे कि यह मेरा शिष्य है। कहीं आपके हाथ से ऐसा काम न हो कि जिससे आपके आचार्य को आपको परिचय से मुँह फेरना पडे। उन्हे आपके कार्यों पर मर्व महसूस हो यही उनके लिए बडी गुरु-दक्षिणा होगी।

जब भी कोई गलत काम करता है तो हलचल मच जाती है—चाहे वह सार्वजनिक सभा हो या लोकसभा। धर्म का पालन सब जगह अत्यंत आवश्यक है। क्या लोग चाहते हैं कि हम अधर्मी बनें, झगडे करवाएँ, समाज समाज में झगडे करवाएँ, हमारी आध्यात्मिकता ढीली हो? धर्म का सबध किसी प्रक्रिया से नहीं है। मैं ऐसा मानता हूँ।

आप धार्मिक हैं सहीं धर्म को मानते हैं। यह बहुत अच्छी बात है। आज तो धर्म का नाम लेते ही उथल-पुथल होती है। टीका-टिप्पणी होती है। धर्म के माने केवल कर्मकाण्ड नहीं। धर्म माने अच्छे बर्ताव के नियम। भाई का भाई से, पिता का पुत्र से, पुत्र का माता से, सास का बहू से, पडोसी का पड़ोसी से, देहात का देहात से, प्रात का प्रांत से, देश का अन्य देशो से, ताल का त्रिताल से। अच्छे बर्ताव के नियमो का समुच्चय माने-धर्म व इन नियमों का प्रामाणिक पालन माने—धर्म का पालन। इसमे क्या गलत है। हम धार्मिक बनना चाहेंगे या अधार्मिक।

हम जब भी धर्म माने अच्छे बर्ताव के निमयों का प्रमाणिक पालन करेंगे तो लड़ाई झगडों का सवाल ही पैदा नहीं होगा, उल्टे हम एक-दूसरे का धार्मिक आचरणों से ही रक्षण करेंगे व ऐसा सुदृढ व नैतिकता से परिपूर्ण समाज हो तो फिर राजा की या रक्षकों की जरूरत नहीं पडेगी वह तो केवल भटके हुए व अज्ञानी को ठीक ठाक करने की बनाई हुई व्यवस्था है।

न राज्यं न च राजशासितं
न च दण्ड्यो न च दाण्डिकः
धर्मेणैव प्रजा सर्वा
रक्षंति स्म परस्परम्

जब सभी लोग धर्म के नियमों का पालन करते हैं तो उस देश या समाज मे न राजा की ना राजसिंहासन की जरूरत होती है। वहाँ दण्ड देने वाला या पाने वाला कोई नहीं, सभी धर्माचरण से ही एक दूसरे का रक्षण करते हैं।

विद्यार्थियो! मेरा कहना है कि केवल लिखाई व पढ़ाई इतना ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं है। आपका सही मायने में व्यक्तित्व विकास होना चाहिए, आपका ज्ञान बढ़ना चाहिए। पढ़ाई के साथ-साथ आपके व्यक्तित्व विकास के

लिए आपकी शारीरिक, आर्थिक, मानसिक बौद्धिक व आध्यात्मिक उन्नति होना अत्यावश्यक है। PEMIS का सिद्धांत ध्यान मे रखना Physical, Economical, Mental, Intellectual, Spirtual इससे आप परिपूर्ण मानव बन सकते हैं। इस सूत्र को सामने रखते हुए गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय काम कर रहा है।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय एक कुंभ की तरह है। दूर से इसमें क्या है यह कोई समझ नहीं पाएगा लेकिन जो नजदीक से देखेगा तो इस कुम्भ मे अमृत भरा है यह महसूस करेगा। युग युग से बहते आते इस गंगा के पुण्य प्रवाह के किनारे स्वामी श्रद्धानंद जी ने यह विश्वविद्यालय खोला है। वहाँ गंगा का पावन प्रवाह है, यहाँ ज्ञान की अमृतधारा है। वहाँ हरि की पैडी है। दोनो प्रवाह एक दूसरे के समानातर गत सौ साल से प्रवाहित हैं। आप गंगा की पवित्र धारा मे गोता लगाएँगे तो आपका तन साफ हो जाएगा। आप गुरुकुल की ज्ञान की अमृतधारा में गोता लगाओगे तो मन साफ हो जाएगा।

हरि की पैड़ी जाकर नमस्कार करोगे तो अतीत को याद करोगे और गुरु की पैडी को नमस्कार करोगे तो ऋषियों, मुनियो व देश धर्म पर मर मिटने वालों के सपनों का भारत का भविष्य देखोगे। क्या चाहते हो आप अतीत पर रोना या भारत का उज्ज्वल भविष्य।

विद्यार्थी! मित्रो! अब आप ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थ आश्रम की ओर जा रहे हो। जीवन में हर पल हर घडी आपकी परीक्षा होने वाली है। गुरु द्वारा दिए हुए ज्ञान, दिए हुए सस्कार के बल पर आप आगे बढ़ते जाए। परिपूर्ण बनिए और अपना फूला-फला व्यक्तित्व समष्टि में विलीन कीजिए ताकि उसमें से सर्वांग सुंदर सृष्टि का निर्माण हो।

आज देश के लिए मर मिटने की जरूरत नहीं है, परिपूर्ण जीवन बनाकर समर्पित होने की जरूरत है। फाँसी के फंदे को गले लगाने की जरूरत नहीं, आज तो समता व समरसता निर्माण में लगे रहने की जरूरत है। आप सौभाग्यशाली हैं कि आप स्वतंत्र भारत में जन्मे हैं। आज हमारी लड़ाई अज्ञान से है, अंधकार से है, विषमता से है, दुर्गुणियों से है, असामाजिक तत्त्वों से है, भ्रष्टाचारियों से है। ऐसी परिस्थितियों का अभ्यास करो व निरंतर कार्यरत रहो, किसी कवि ने अपने कविता में कहा है–

अमन भरा है चमन तुम्हारा, पवन भोर का देता नारा।
सूरज भेज रहा संदेश, इस मौसम में सोना कैसा?
निर्माणों के राजकुमारो उठो पतझड़ में लाओ बहार को
समय को पढ़ो जवानो, समय को पढ़ो

इन्हीं शब्दों के साथ वंदेमातरम्

[24 दिसंबर 1999]

शिक्षित भारत और विकसित भारत का सपना साकार करें

•

श्री सुरजीत सिह बरनाला

भारत की इस प्रसिद्ध शिक्षा सस्था गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय मे आज यहाँ आयोजित इस दीक्षात समारोह में भाग लेकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। यह हम सब के लिए बडे वर्ग की बात है कि यह वर्ष इस राष्ट्रीय शिक्षा सस्था का शताब्दी वर्ष भी है। इस अवसर पर मैं सबसे पहले गुरुकुल के सभी पदाधिकारियो आचार्यों और छात्रो को हार्दिक बधाई देता हूँ।

जैसा कि आप सभी जानते हैं कि इस गुरुकुल कागडी की स्थापना मशहूर महात्मा मुशीराम जी ने जो बाद मे स्वामी श्रद्धानद बने ०४ मार्च १९०२ को की थी। उनके प्रयास से लाहौर की आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा इस शिक्षा सस्था की स्थापना उस समय की गई थी जब भारत पराधीन था। महात्मा मुशीराम जी ने महर्षि दयानद सरस्वती के आदर्शो को सामने रखकर इस गुरुकुल की स्थापना करते समय यह साफ शब्दो मे कहा था कि 'मैंने यह सस्था अग्रेजी सरकार के गुलाम डिप्टी कलेक्टर या कलेक्टर बनाने के लिए नहीं खोली है। इस सस्था को जन्म देने और इसके लिए अपने जीवन का सर्वोच्च भाग लगा देने का मेरा उद्देश्य तो ऐसे स्नातको को जन्म देना है जो अपनी मातृभूमि को एक बार पुन ससार का सिरमौर बनाने के लिए सिर धड की बाजी लगा दे।

सन् १९१९ की बात है जब बैशाखी के दिन अमृतसर के जलियाँवाला बाग में एकत्र मासूम और बेगुनाह देशवासियों को जनरल डायर के आदेश पर बडी बेदर्दी के साथ गोलियों से भून डाला गया था। यह एक ऐसी दिल को दहला देने वाली और रोंगटे खडे कर देने वाली घटना थी जिससे महात्मा मुशीराम की आत्मा तडप उठी और वे देशवासियों को साथ लेकर पूरी शक्ति

के स्वतंत्रता आदोलन मे कूद पडे। उन्होंने देश को आज़ाद कराने के लिए इस बात पर बल दिया कि हमें सभी धर्म एवं वर्ग के लोगो को, चाहे वे हिंदू हो या मुसलमान, सिक्ख हो या ईसाई तथा दलित हो या पिछडे, एक साथ लेकर अग्रेजो के खिलाफ सघर्ष करना होगा।

यही वह जमाना था जब महात्मा गाधी की अपील पर अग्रेजी वस्तुओ के खिलाफ़ एक बडा जन-आदोलन प्रारभ हुआ। यहाँ तक कि असहयोग आदोलन के दौरान हमारे छात्रो ने अग्रेजी शिक्षा सस्थाओ मे पढना छोडकर काशी विद्यापीठ, शाति निकेतन, जामियाँ मिल्लिया और गुरुकुल कागडी जैसी आदर्श राष्ट्रीय शिक्षा सस्थाओ मे पढना शुरू कर दिया। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र मे एक इकिलाबी बदलाव आया और नौजवानो मे देश की आजादी के लिए एक नई ललक और लहर दौड गई। उनकी तडप अत मे भारत की स्वतत्रता के रूप मे हमारे सामने आई और हमे आजाद माहौल मे साँस लेने का सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ।

आजाद भारत मे हमारे देश के चोटी के नेताओ ने अमेरिका, रूस, जापान और ब्रिटेन जैसे विकसित देशो की ही तरह भारत को एक खुशहाल और आदर्श देश बनाने का महा-अभियान शुरू किया। हमारे सविधान निर्माता यह बात जानते थे कि ससार के सभी विकसित देश विकास की ऊँचाइयो तक केवल इसी कारण पहुँचे हैं कि वहाँ के सभी नागरिक पढे-लिखे हैं और देश के विकास मे अपनी भागीदारी निभाने की जिम्मेदारी पूरी तरह समझते हैं। यह एक ऐसी सच्चाई है जिसे ध्यान मे रखकर ही भारतीय सविधान मे १४ वर्ष तक के सभी बच्चो को सविधान लागू होने के १० वर्षो के अदर ही मुफ्त अनिवार्य शिक्षा देने का जिक्र किया गया। इसके अलावा महात्मा गाधी, विनोबा भावे, गुरुदेव रवींद्र नाथ ठाकुर तथा डॉ. जाकिर हुसैन आदि जैसे अनेक महापुरुषो ने बुनियादी शिक्षा को बढावा देने की आवश्यकता पर जोर दिया, जिससे पठन-पाठन का एक अच्छा सिलसिला शुरू हुआ। हमारे शिक्षा विशेषज्ञो ने देश की शिक्षा-नीति की बुनियाद डाली। इसके बाद प्राइमरी शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा मे बेहतर से बेहतर बदलाव लाने के ठोस प्रयास शुरू हुए। लेकिन यह दु:ख की बात है कि शिक्षा के क्षेत्र मे हमें जितना कुछ अच्छे से अच्छा करना था वैसा हम नहीं कर सके।

हमारे देश में वर्ष १९५१ मे १८.३३ प्रतिशत साक्षरता थी, जो १९९१ मे केवल ५२.१६ प्रतिशत तक की बढ़ सकी। इधर वर्ष २००१ की जनगणना के अनुसार देश की साक्षरता कुछ थोडी बहुत बढी जरूर है, किन्तु हम शत-प्रतिशत साक्षरता प्राप्त करने के लक्ष्य से अभी बहुत दूर हैं। इसके लिए हमारे आचार्यों तथा छात्र एव छात्राओ को नियोजित ढंग से मन लगाकर ठोस और कठोर

प्रयास करने होगे। तभी हम "शिक्षित भारत" और "विकसित भारत" का अपना सपना साकार करने मे सफल हो सकेगे।

भारत मे वैदिक काल से ही शिक्षा का अपना एक विशेष धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व रहा है। इसी कारण छात्रो को हमेशा अच्छी से अच्छी शिक्षा देने के साथ ही उन्हे होनहार, सुशील, चरित्रवान् और आदर्शवान् बनाने के प्रयास बराबर जारी रहे हैं। गुरुकुल शिक्षा व्यवस्था में तप, ज्ञान, त्याग और श्रम पर सबसे अधिक बल दिया गया है। वास्तव मे शिक्षा का उद्देश्य यह नहीं होता कि छात्रो के लिए हम पठन-पाठन की व्यवस्था कर दे, जिससे वे कुछ विद्वान् बन जाएँ और वे स्वय अपने और अपने परिवार के लिए रोजी-रोटी कमाने लगें। शिक्षा का वास्तव मे यही उद्देश्य है कि देश के लिए ऐसे शिक्षित आदर्श नागरिक तैयार किए जाएँ, जिनके मन में अपने समाज के उत्थान और राष्ट्र के विकास का दर्द हो। वे इतने उदार मन के भी हो कि वे धर्म, जाति, वर्ग, क्षेत्र और भाषा की मानसिकता से ऊपर उठकर अपने सभी साथियो को साथ लेकर एकजुट होकर आगे बढे और समाज के दलित, गरीब और पिछडे वर्ग के लोगो को गले से लगाकर उनमे कर्मशील बनने की भावना जागृत करे। क्योकि धर्म और जाति के खानों मे बटने से न तो खुद किसी व्यक्ति, परिवार और समाज का भला होता है और न ही देश का कल्याण। इस सबध में सीमात गाधी खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने वर्ष १९३७ मे इसी गुरुकुल कागडी के एक समारोह मे दो-टूक शब्दो में कहा था–

> *"मेरे जीवन का ध्येय ही खुदा की खिदमत करना है।*
> *जब मैं कहता हूँ कि खुदा की खिदमत करनी चाहिए।*
> *तो कई लोगो को इससे भ्रम पैदा हो सकता है।*
> *खुदाई ख़िदमत यह नहीं है कि हम सदा–सर्वदा*
> *उसके नाम का वजीफा पढते रहें। खुदा की असली*
> *खिदमत तो उसकी मखलूक (प्राणियों) की खिदमत है।*
> *...सेवा करते हुए क्षण भर के लिए भी हमारे मन में*
> *यह विचार नहीं आना चाहिए कि यह हिंदू,*
> *मुसलमान या ईसाई है।"*

हमें प्रसन्नता है कि यह विश्वविद्यालय अपने छात्रों को अच्छी शिक्षा देने के साथ ही उन्हें चरित्रवान्, दयावान् और आदर्शवान् बनाने में पूर्ण रूप से सक्रिय है। इस शिक्षा सस्था को केंद्र सरकार द्वारा शत-प्रतिशत अनुदान मिलता है और इसका संचालन आर्य समाज द्वारा भली-भाँति हो रहा है। यहाँ शोध कार्य भी जारी है। यहाँ नैतिक शिक्षा के साथ ही प्राचीन और आधुनिक

विज्ञान और टेक्नौलॉजी की शिक्षा भी दी जा रही है। आज ससार में शिक्षा के साथ ही आर्थिक क्षेत्र मे ग्लोबलाइजेशन पर अधिक बल दिया जा रहा है। इसी बात को दृष्टि मे रखकर इस संस्था के छात्र विदेशो मे पढने के लिए जाते हैं तथा विदेशो के छात्र यहाँ पढने के लिए आते रहे हैं। इससे ससार मे इस सस्था की लोकप्रियता काफी बढी है।

यह गर्व का विषय है कि आज हमारे छात्र अपनी प्रतिभा से साइस एव टेक्नोलॉजी, विशेषकर इफारमेशन टेक्नोलॉजी के क्षेत्र मे काफी महारत हासिल करके संसार मे अपना सिक्का जमा रहे हैं। केवल इतना ही नहीं, हमारे छात्र इलेक्ट्रानिक्स, बायो-टेक्नोलॉजी, ई-कामर्स तथा मैनेजमेट आदि विषयो मे अन्य देशो के मुकाबले मे कहीं आगे हैं। जापान, कोरिया, मलेशिया और आस्ट्रेलिया आदि देशो मे हमारे विद्वान् छात्रों को वर्क परमिट मिलने शुरू हो गए हैं। यू. के., जर्मनी, कनाडा और अमेरिका आदि देशो ने भी वर्क परमिट की सख्या बढा दी है। इससे यह साबित होता है कि हम शिक्षा के इस क्षेत्र मे किसी से पीछे नहीं हैं।

गुरुकुल शिक्षा-व्यवस्था मे छात्रो को अपनी शिक्षा पूरी करने पर दीक्षा देने की एक अच्छी परपरा रही है। शिक्षा समाप्त करने के बाद शिष्य जब अपनी शिक्षा सस्था से विदा लेता है तो उसके आचार्य उसे अपने जीवन मे सदैव गुरुकुल आदर्शों का पालन करने की दीक्षा देते हैं। मैं गुरुकुल के सभी छात्र एव छात्राओ से चाहूगा कि वे उपनिषद् के "सत्यम् वद् धर्मम् चर" के अनुसार जीवन मे सदैव सच बोले और धर्म का पालन करे।

मैं अपनी बात समाप्त करने से पहले इस विश्वविद्यालय के चांसलर, प. हरवशलाल जी शर्मा और कुलपति, डॉ. धर्मपाल जी को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होने इस दीक्षात समारोह मे मुझे भाग लेने का अवसर प्रदान किया। इस विश्वविद्यालय की भारत में अपनी एक खास पहचान रही है। मुझे विश्वास है कि इस विश्वविद्यालय के सभी विभाग तेजी से तरक्की करते रहेगे तथा इसकी लोकप्रियता दिनो-दिन बढेगी। यहॉं से पढकर निकलने वाले छात्र एव छात्राएँ जीवन के हर क्षेत्र मे बराबर कामयाबी हासिल करके इस विश्वविद्यालय का नाम रोशन करते रहें, इसके लिए मैं हार्दिक शुभकामना व्यक्त करता हूँ।

[सन् *2000*]

●●●